भारतीय अर्थशास्त्र
का
विवेचन

लेखक
ओमप्रकाश केला

प्रकाशक
भारतीय ग्रंथमाला, दारागंज, इलाहाबाद

१९५२] [मूल्य दस रुपया

दो शब्द

हिन्दी के राष्ट्र भाषा पद पर आसीन होने और विभिन्न भारतीय विश्व विद्यालयों द्वारा उच्च कक्षाओं में हिन्दी माध्यम स्वीकार किये जाने के फलस्वरूप हिन्दी में उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रन्थों एवं उच्च कक्षाओं के लिये उत्तम कोटि की पाठ्य पुस्तकों की रचना आवश्यक हो गई है। प्रस्तुत पुस्तक उसी दिशा में एक प्रयत्न मात्र है।

इधर अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष पर तो हिन्दी में उच्च कक्षाओं के लिये कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, किन्तु भारतीय अर्थशास्त्र पर अब तक शायद एक ही पुस्तक प्रकाशित हुई है। आवश्यकता तो विभिन्न विषयों पर बीसियों पुस्तकें लिखी जाने की है।

प्रस्तुत पुस्तक विभिन्न विश्वविद्यालयों के बी० ए० के पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर लिखी गई है, और इस बात का पूर्ण प्रयास किया गया है कि न तो विषय से सम्बन्धित कोई अंश छूट पावे और न किसी विश्व विद्यालय के पाठ्यक्रम का कोई अंश। भाषा और पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में जहाँ तक बन पड़ा है क्लिष्टता एवं दुरूहता से बचने का प्रयास किया गया है।

पुस्तक के कार्य में श्री कृष्ण प्यारे दुबे का पर्याप्त सहयोग मिला है, जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है विद्वान अध्यापकगण पुस्तक को विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त एवं उपयोगी पावेंगे और इसे उनके लिये स्वीकृत करेंगे।

ओमप्रकाश केला

विषय-सूची

१—विषय और क्षेत्र

२—भारत की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधन

३—जन-संख्या

४—सामाजिक और धार्मिक संस्थायें और उनका आर्थिक जीवन पर प्रभाव

५—कृषि

१३—भारत में सहकारिता आन्दोलन

१४—राज्य और कृषि

१५—दुर्भिक्ष तथा हमारी खाद्य समस्या

१६—मालगुजारी प्रथा

१७—भारतीय उद्योग-धन्धे

१८—कुछ सङ्गठित उद्योग-धन्धे

१९—बड़े पैमाने के उद्योग

२०—औद्योगिक पूँजी व प्रबन्ध

२१—औद्योगिक श्रम

२२—यातायात—रेलें

२३—भारत में यातायात—सड़कें

२४—भारत में यातायात—जल तथा वायुमार्ग

२५—भारत का व्यापार

२६—भारत की अर्थनीति

२७ बैंकिंग और साख

२८—मुद्रा तथा विनिमय

२६—मुद्रा तथा विनिमय

३७—बेकारी की समस्या

परिशिष्ट

प्रथम परिच्छेद

विषय और क्षेत्र

प्राक्कथन—'भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया जाना चाहिये और उसका वास्तविक अर्थ क्या है ?' यह एक बहुत लम्बे समय तक विवाद और मतभेद का प्रश्न रहा है। इस मतभेद के मूल में प्रमुख कारण यह है कि भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग अपने सही अर्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य भ्रमात्मक एवं गलत अर्थों में किया जाता रहा है, और आज भी जब कि इसका वास्तविक और सही अर्थ सर्वमान्य हो चुका है, कुछ ऐसे व्यक्ति जो अर्थशास्त्र के विषय से अनभिज्ञ हैं, इस शब्द का प्रयोग गलत अर्थों में करते हैं।

अतएव भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है कि वे भारतीय अर्थशास्त्र के प्रमुख-प्रमुख प्रचलित अर्थों में से वास्तविक और सही अर्थ समझ लें और उसी को आधार मानकर भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करें क्योंकि यदि किसी गलत अर्थ को भारतीय अर्थ-शास्त्र का वास्तविक और सही अर्थ मानकर अध्ययन किया गया तो वह मूल विषय का अध्ययन न होकर किसी अन्य विषय का ही अध्ययन होगा।

इस परिच्छेद में हम भारतीय अर्थशास्त्र के लगभग सभी प्रचलित अर्थों का विचार करेंगे। सर्वप्रथम उसके वास्तविक और सही अर्थ का विचार किया जावेगा और तत्पश्चात् उसके भ्रमात्मक और गलत अर्थों का। भारतीय अर्थशास्त्र के भ्रमात्मक अर्थों पर विचार करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जावेगा कि उन अर्थों में भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग करना भूल है और भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग अपने सही और वास्तविक अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

भारतीय अर्थशास्त्र का वास्तविक और सही अर्थ—"भारत की आर्थिक स्थित को पृष्ठभूमि में रखकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भारतीयों के आर्थिक जीवन तथा भारत की आर्थिक समस्याओं तथा उनको हल करने सम्बन्धी उपायों एवं योजनाओं के अध्ययन को भारतीय अर्थशास्त्र कहा जावेगा।"

इस भाँति भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत देश की आर्थिक स्थिति का विचार करते हुए देश की भौगोलिक स्थिति, खनिज पदार्थ, शक्ति के साधन, प्राकृतिक साधन आदि का विचार किया जायगा। भारतीयों के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हुए भारतीयों के सामाजिक संगठन, राजनैतिक वातावरण, जनसंख्या आदि का विचार किया जायगा। भारत की आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए भारतीय खेती, खेती सम्बन्धी समस्यायें, ग्रामीण कर्जदारी, सहकारिता की कमी, सरकार की खेती सम्बन्धी नीति, भू राजस्व, भारतीय उद्योग धन्धे, उद्योग धन्धों सम्बन्धी समस्यायें, भारतीय मजदूर, उनकी समस्यायें, राष्ट्रीय धन, यातायात के साधन, व्यापार, आयात-निर्यात, मुद्रा, विनिमय, वित्त व्यवस्था, बेकारी आदि की समस्यायें आदि सभी बातों का विचार किया जायगा।

आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में विचार करने के साथ ही जहाँ आवश्यक होगा भारत की आर्थिक स्थिति की विदेशों से तुलना भी की जावेगी और यह जानने का प्रयत्न किया जावेगा कि भारत आर्थिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ क्यों है ? आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के साथ ही साथ उनको हल करने सम्बन्धी योजनाओं पर भी विचार किया जायगा। योजनाओं के सम्बन्ध में

विचार करते समय यह भी विचार किया जायगा कि सरकार ने उन समस्याओं को हल करने में क्या-क्या कार्य किए हैं और वह भविष्य में क्या करने का विचार रखती है। देश की आर्थिक स्थिति पर सरकारी नीति का भारी प्रभाव होता है क्योंकि समस्याओं के हल सम्बन्धी योजनाओं को पूर्ण करने के लिए सरकार की सहायता अपेक्षित ही नहीं होती वरन् कुछ समस्याओं का निराकरण तो सरकारी सहायता के बगैर हो ही नहीं सकता।

इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि विषय के अध्ययन में राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अभाव में न तो आर्थिक समस्याओं को भली-भाँति समझा जा सकता है और न उनको हल करने सम्बन्धी योजनाओं का विधिवत निर्माण ही किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' व्यवहारिक अर्थशास्त्र का ही एक भाग है, क्योंकि इसके अन्तर्गत देश की भौगोलिक स्थिति, सामाजिक और राजनैतिक संगठन तथा देश के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन आवश्यक होगा। उपरोक्त विषयों के अध्ययन के बगैर न तो आर्थिक समस्याओं को विधिवत समझा जा सकता है और न देश की आर्थिक स्थिति का सही चित्रण ही हो सकता है। भारतीय अर्थशास्त्र केवल व्यवहारिक अर्थशास्त्र का ही भाग नहीं है, वह व्यवहारिक अर्थशास्त्र के अतिरिक्त आदर्श अर्थशास्त्र के एक भाग को भी अपने में सन्निहित करता है क्योंकि देश की वास्तविक स्थिति के चित्रण के अतिरिक्त भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत यह भी विचार किया जाता है कि भारतीय जनता आर्थिक दृष्टि से कैसे सुखी, सम्पन्न और समृद्धशाली हो।

भारतीय अर्थशास्त्र के कुछ अन्य भ्रमात्मक अर्थ—परिच्छेद के प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र शब्द अपने सही अर्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य गलत अर्थों में भी प्रयुक्त किया जाता है। इस स्थल पर हम उन अर्थों पर बारी-बारी से प्रकाश डालेंगे और यह बताने की चेष्टा करेंगे कि भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग अपने सही अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में प्रयुक्त करना गलत है।

भारतीय अर्थशास्त्र: भारतीय विचारकों के आर्थिक विचारों का इतिहास नहीं है—अब से कुछ समय पूर्व तक भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय विचारकों एवं शासकों के आर्थिक विचारों और आर्थिक पद्धतियों के इतिहास से लिया जाता था। भारत में प्राचीन और मध्ययुग में अर्थशास्त्र को विचारकों और शासकों द्वारा पर्याप्त महत्त्व दिया जाता रहा है और अर्थशास्त्र संबन्धी बहुत से सफल, असफल सभी प्रकार के प्रयोग भी हुए हैं। उदाहरणतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, ब्राहस्पति अर्थशास्त्र तथा कुछ अन्य प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन काल में अर्थशास्त्र पर काफी मनन तथा अध्ययन किया गया था और इस विषय का पर्याप्त विकास हो चुका था। मध्ययुग में कुछ मुसलमान शासकों द्वारा अर्थशास्त्र संबन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग भी किए गए थे। उदाहरणतः अलाउद्दीन खिलजी द्वारा अनाज, वस्त्र, शक्कर, गोंद, तेल, पशु और गुलामों के क्रय-विक्रय पर नियंत्रण (Control) स्थापित किया गया था। मुहम्मद तुगलक द्वारा अपने राजकोष के घाटे की पूर्ति के लिए सांकेतिक मुद्रा (Token currency) का प्रयोग भी किया गया था। अलाउद्दीन, शेरशाह तथा अकबर द्वारा भू-राजस्व (Land-revenue) सम्बन्धी अनेक सुधार किए गए थे। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य मुगल शासकों ने वित्त व्यवस्था (Public Finance) में महत्त्वपूर्ण सुधार किए थे। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने संसार के सम्मुख सर्वोदयवाद के अंतर्गत पूंजीवादी और समाजवादी दो विपरीत आर्थिक विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित कराने वाली 'खादी अर्थशास्त्र' नामक एक नई ही आर्थिक विचार-धारा को जन्म दिया है जो कि संसार में अपने तरह की अद्वितीय है।

उपरोक्त विचारधाराओं एवं ऐतिहासिक तथ्यों में कोई निश्चित विकास क्रम नहीं है। एक शताब्दी के विचार लगभग दूसरी शताब्दी के विचारों सरीखे ही हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय इतिहास में आर्थिक तथ्यों का ठीक निरूपण न होने के कारण कई स्थलों पर हम अज्ञान के कारण विकास का क्रम अथवा विचारों का तारतम्य बैठा भी नहीं पाते।

यदि उपर्युक्त समस्त विचारधाराओं, प्रयोगों तथा आर्थिक तथ्यों का विधिवत् तारतम्य बैठा भी लिया जावे और भारतीय आर्थिक विचारधाराओं का इतिहास प्रतिपादित भी कर लिया जावे तो भी आर्थिक विचारधाराओं के इतिहास को भारतीय अर्थशास्त्र कहना उचित न होगा। इसे भारतीय आर्थिक विचारधाराओं का इतिहास अथवा भारतीय विचारकों के आर्थिक विचारों का इतिहास कहना ही उचित और उपयुक्त होगा।

भारतीय अर्थशास्त्र किन्हीं मौलिक आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं है—यदि कोई भारतीय अर्थशास्त्र के संबन्ध में यह कल्पना करे कि इसके अंतर्गत ऐसे नूतन एवं मौलिक आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है, जो पश्चिम में प्रचलित और मान्य आर्थिक सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न होंगे तो यह उसकी भारी भूल होगी। ऐसा होना केवल उसी दशा में संभव हो सकता था जब कि भारतीय परिस्थितियाँ पश्चिमी देशों की परिस्थितियों से इतनी भिन्न होती कि वर्तमान अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भारत में लागू ही न होते वरन् उन परिस्थितियों के अनुसार नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना होता। किन्तु भारतीय परिस्थितियों और पश्चिमी परिस्थितियों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है इस कारण भारतीय परिस्थितियों के आधार पर वर्तमान में तो किसी नवीन अर्थशास्त्र की रचना की ही नहीं जा सकती, भविष्य में भी ऐसे किसी मौलिक अर्थशास्त्र की कल्पना करना दुराशा मात्र है क्योंकि भारत या कहीं और इस भूतल पर सर्वत्र मनुष्य की प्रकृति एक सी है और जब मनुष्य की प्रकृति एक सी है तो उनके आर्थिक प्रयत्न भी एक से ही होंगे और जो अर्थशास्त्र के सिद्धान्त यहाँ लागू होंगे वही उन परिस्थितियों में कहीं और लागू होंगे। उदाहरणतः जिस भांति पश्चिम में लोग अपने स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं, उसी भाँति भारत में भी ऐसी कल्पना करने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि भारत के निवासी आर्थिक कार्यों को स्वार्थ की भावना से प्रेरित न होकर परमार्थ की भावना से प्रेरित होकर करते हैं। स्वतन्त्र व्यापारिक स्पर्धा, श्रम और पूँजी के स्थानान्तर सम्बन्धी नियम पश्चिम की ही भाँति कम और अधिक रूप में भारत में भी लागू होते हैं। पश्चिमी उदाहरणों से हम भारत की समस्याओं को समझने और उन्हें हल करने में बहुत हद तक सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन मनुष्य की प्रकृति से किया जाता है, और सर्वत्र मनुष्य की प्रकृति एक सी है, इस कारण संसार में केवल एक ही अर्थशास्त्र हो सकता है, जिस भाँति संसार में एक भौतिक विज्ञान, एक रसायन विज्ञान, एक गणित है। भारतीय अर्थशास्त्र कोई नवीन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन न होकर साधारण अर्थशास्त्र के नियमों के आधार पर प्रतिपादित किया गया व्यवहारिक अर्थशास्त्र का ही एक भाग है।

भारतीय अर्थशास्त्र : भारतीय आर्थिक जीवन के विकास का इतिहास मात्र नहीं है—भारतीय अर्थशास्त्र का आशय भारतीय आर्थिक जीवन के विकास के इतिहास से लेना भी भूल होगी। भारतीय आर्थिक जीवन का विकास क्रम बिठाना एक कठिन कार्य है क्योंकि भारतीय आर्थिक जीवन में विकास नाम की वस्तु प्राप्य नहीं है। प्राचीन और मध्य युग में एक शताब्दी के आर्थिक जीवन में और दूसरी शताब्दी के आर्थिक जीवन में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता, जब तक कि हम आधुनिक युग के समीप तक नहीं पहुँच जाते। इसके साथ ही साथ जैसा कि पहिले बताया जा चुका है आर्थिक जीवन सम्बन्धी पूर्ण तथ्य भी उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर विकास

क्रम स्थिर किया जा सके। यदि आर्थिक-विकास का इतिहास प्रतिपादित कर भी लिया जावे तो उससे हम अपनी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए कोई नवीन हल अथवा योजना का निर्माण नहीं कर सकते, क्योंकि अन्य देशों की भांति भारत के भी प्राचीन कालीन आर्थिक तथ्य एक सीमित क्षेत्र की वस्तु हैं, उनसे भविष्य संबन्धी योजनाओं का निर्माण नहीं किया जा सकता। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र को भारतीय आर्थिक जीवन के विकास के अर्थ में प्रयुक्त करना भी भूल होगी।

भारतीय अर्थशास्त्र : अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय उदाहरणों द्वारा निरूपण मात्र ही नहीं—भारतीय अर्थशास्त्र का आधुनिक सर्वमान्य अर्थ तो न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा १९ वीं शताब्दी के अन्त में प्रतिपादित किया गया था। इसके पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय अर्थशास्त्र का आशय अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय उदाहरणों द्वारा चित्रण और निरूपण मात्र करने से ही लिया जाता था। न्यायमूर्ति रानाडे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सन् १८९२ ई० में दक्षिण कालेज पूना में भाषण देते हुए भारतीय अर्थशास्त्र के आधुनिक अर्थ पर प्रथम बार प्रकाश डाला।

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को यदि उदाहरणों द्वारा समझाया जावे तो वह निश्चित रूप से अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने में भारतीय विद्यार्थी को सहूलियत प्रदान करेगा। किन्तु इस प्रकार के अध्ययन को भारतीय अर्थशास्त्र नहीं कहा जा सकता। भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत तो भारतीय आर्थिक तथ्यों और भारतीय आर्थिक समस्याओं का विवेचन ही किया जावेगा। तथ्यों और समस्याओं को समझने के लिये यदि किसी स्थल पर सैद्धान्तिक विवेचन की आवश्यकता पड़े तो वह किया जा सकता है किन्तु सैद्धान्तिक विवेचन को प्रधानता नहीं दी जा सकती। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र और भारतीय अर्थशास्त्र में मौलिक भेद यही है कि अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन में सिद्धान्तों का विवेचन प्रधान है, और आर्थिक समस्यायें तथा उन सम्बन्धी हल गौण हैं, किन्तु भारतीय अर्थशास्त्र में इसके विपरीत भारतीय आर्थिक तथ्य और आर्थिक समस्यायें प्रधान हैं, सैद्धान्तिक चर्चा गौण है।

क्या भारतीय अर्थशास्त्र अध्ययन का एक स्वतन्त्र विषय है? भारतीय अर्थशास्त्र के विषय में अभी जैसा कि बताया गया कि वह व्यवहारिक अर्थशास्त्र का ही भाग है। उपरोक्त आधार पर ही स्वभावतया यह प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय अर्थशास्त्र को अध्ययन का एक स्वतंत्र विषय माना जा सकता है? वस्तुतः उपरोक्त प्रश्न नया नहीं है। इस प्रश्न पर काफी मतभेद अर्थशास्त्रियों के मध्य रह चुका है। और इसी प्रश्न पर उनके दो मत हो गए हैं। प्राचीन अर्थशास्त्रियों का मत है कि अर्थशास्त्र एक सैद्धान्तिक विषय है। इसके सिद्धान्त सर्वदेशीय और सर्वकालीन हैं अर्थात् सब देशों में, सब कालों में समान रूप से लागू होने वाले हैं। आगे वे कहते हैं—जब सब देशों में अर्थशास्त्र के सिद्धान्त समान रूप से लागू होते हैं तो स्वाभाविक है कि सब देशों की आर्थिक समस्यायें भी लगभग एक सी ही होंगी। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र या इंगलैंड का अर्थशास्त्र पृथक-पृथक नहीं हो सकते, और इस कारण न तो उनको अध्ययन का एक पृथक विषय माना जा सकता है और न उसके अध्ययन की ही कोई आवश्यकता है।

अर्थशास्त्रियों का एक दूसरा वर्ग भी है जो भारतीय अर्थशास्त्र या इंगलैंड के अर्थशास्त्र को अध्ययन का एक स्वतन्त्र और पृथक विषय मानता है। इस मत के प्रतिपादक जर्मन अर्थशास्त्री 'लिस्ट' थे। इस मत का दूसरा नाम ऐतिहासिक मत भी है। इस मत के समर्थकों के अनुसार अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सर्वदेशीय एवं सर्वकालीन नहीं हैं। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर बदलती हुई एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। विभिन्न देशों की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधन, सामाजिक संगठन, राजनैतिक परंपराएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और उनका प्रभाव भी देशों की आर्थिक व्यवस्था एवं आर्थिक समस्याओं पर भिन्न-भिन्न रूप से पड़ता है। इसी कारण प्रत्येक

देश की आर्थिक समस्यायें दूसरे देश की आर्थिक समस्याओं से भिन्न होती हैं। एक नीति एक देश के लिये लाभकारी सिद्ध हो सकती है तो दूसरे देश के लिए हानिकर। उदाहरण स्वरूप मुक्तद्वार व्यापार नीति इंगलैंड के लिये १६वीं शताब्दी में लाभकारी सिद्ध हो रही थी किन्तु वही नीति उसी समय में भारत के लिए आर्थिक शोषण का काम कर रही थी।

इस भाँति यह सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सर्वदेशीय एवं सर्वकालीन नहीं हैं। वस्तुतः वे समान परिस्थितियों में समान रूप से लागू होने वाले हैं। भारत की भौगोलिक स्थिति, सामाजिक संगठन, इतिहास एवं राजनैतिक परम्पराएँ अन्य देशों से भिन्न हैं, फलस्वरूप उसकी आर्थिक समस्यायें भी भिन्न हैं। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र अध्ययन का एक स्वतन्त्र विषय है।

भारतीय अर्थशास्त्र के जनक श्री रानाडे और उनका महत्वपूर्ण कार्य—

श्री रानाडे को भारतीय अर्थशास्त्र का जनक कहा जा सकता है। उन्होंने ही दक्षिण कालेज पूना में भारतीय अर्थनीति पर भाषण देते हुए सन् १८६२ ई० में प्रथम बार भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का उस अर्थ में प्रयोग किया था जो आज भारतीय अर्थशास्त्र का सर्वमान्य अर्थ बना हुआ है। वस्तुतः इस शब्द के प्रयोग के पीछे भी एक संक्षिप्त इतिहास है।

भारत का आर्थिक शोषण करने के हेतु अंग्रेजों ने उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के लिए अहस्तक्षेप नीति (Laissez faire policy) अपनाई। इससे उन्हें दोहरा लाभ था। प्रथम तो यह कि इस नीति के अपनाए जाने से भारत का औद्योगिक विकास नहीं हो सकता था और भारत पूर्णतया एक खेतिहर देश रह जाता। फलस्वरूप भारत ब्रिटेन के कल-कारखानों को कच्चा माल देने वाला देश ही बना रहता और इससे ब्रिटेन के कारखानों को कच्चे माल की कभी भी कमी न होती। दूसरे यह कि भारत ब्रिटेन के लिए एक विशाल बाजार बना रहता जहाँ निर्बाध रूप से ब्रिटेन का पक्का माल बिका करता। अपनी उपरोक्त नीति के समर्थन में अंग्रेज शासक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की अकसर दुहाई दिया करते थे। उनका कहना था कि अहस्तक्षेप नीति इंगलैंड के लिए लाभप्रद है अतएव वह भारत के लिये भी लाभदायक सिद्ध होगी।

भारतीय अर्थशास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने उपरोक्त नीति का जोरदार शब्दों में विरोध किया। उनका कहना था कि अङ्गरेजों ने उपरोक्त नीति को अपनाने में पूर्णतया ब्रिटेन के हितों का ध्यान रखा है और भारत के हितों की पूर्णतया उपेक्षा की है। भारत के हित के लिए उपरोक्त नीति का अपनाना रोका जाना चाहिये। आयात, निर्यात, मुद्रा आदि के संबंध में नीति स्थिर करने में सरकार को भारतीय आर्थिक हितों को प्रधानता प्रदान करनी चाहिये।

भारतीय राजनीतिज्ञों और अर्थशास्त्रियों ने भारत की आर्थिक दुरावस्था के कारणों को अवश्य मालूम कर लिया था किन्तु वे अपने विचारों को उपयुक्त तर्कों से सुसज्जित नहीं कर पाये। श्री गोखले ने उपरोक्त कार्य को अपनी विद्वता एवं प्रतिभा से पूर्ण किया। उन्होंने अनेक तथ्यों एवं तर्कों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि अर्थशास्त्र के बहुत से सिद्धान्त भारतीय परिस्थितियों में उस भांति लागू नहीं होते जैसे कि इंगलैंड में होते हैं। अतएव भारतीय सरकार को किसी भी प्रकार की अर्थनीति को स्थिर करते हुए भारत की विशेष परिस्थितियों का अवश्य ध्यान रखना चाहिये और इंगलैंड का अन्ध-विश्वास के रूप में अनुकरण नहीं करना चाहिए। अपनी पुस्तक (Essays on Indian Economics) में उन्होंने सिद्ध कर दिया कि व्यक्तिवाद, स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा, पूँजी और श्रम की गतिशीलता सम्बन्धी सिद्धान्त आर्थिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों में भी पूर्णरूपेण लागू नहीं होते और भारत सरीखे पिछड़े देश में तो वे बिलकुल ही लागू नहीं होते। भारतीय समाज का संगठन पश्चिमी देशों के सामाजिक संगठन से सर्वथा भिन्न है। भारत में व्यक्ति के व्यक्तित्व की अपेक्षा उसकी जाति और परिवार को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है और उसका सामाजिक पद भी उपर्युक्त दोनों बातों

पर आधारित होता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारत में मनुष्य व्यक्तिगत आर्थिक हितों की भावना से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते किन्तु यह अवश्य है कि उनके जीवन का वही एक मात्र लक्ष्य नहीं होता। भारत में रीति-रिवाज एवं प्रथाएँ अधिक प्रभावशाली हैं। प्रतिस्पर्धा सम्बन्धी नियम, पूँजी तथा श्रम की गतिशीलता सम्बन्धी नियम भारतीय समाज में बहुत हद तक नहीं लागू होते। जनसंख्या यहाँ तेजी से बढ़ती है और उत्पादन लगभग एक सा ही रहता है। उपरोक्त प्रकार के अनेक तथ्यों एवं तर्कों द्वारा रानाडे ने यह सिद्ध कर दिखाया कि भारत में केवल अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को आधार मानकर सरकार द्वारा आर्थिक नीति स्थिर करना भूल है। यहाँ की सरकार को सरकार की आर्थिक नीति स्थिर करने में भारतीय परिस्थितियों का पूर्णरूपेण ध्यान रखना चाहिये।

यह निर्विवाद है कि रानाडे के उपर्युक्त कार्य से द्वारा देश को भारी लाभ पहुँचा। उन्होंने भारत के हित के लिए एक प्रकार से वही कार्य किया जो फ्रेडरिक लिस्ट ने योरोपीय देशों के लिये किया था। इस स्थल पर यह बताना अप्रासांगिक न होगा कि श्री गोखले अपना मत स्थिर करने में बहुत अंश तक फ्रेडरिक लिस्ट से प्रभावित हुये थे। इस स्थल पर हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अब दोनों दिशाओं में परिवर्तन हो गया है। एक ओर भारतीय परिस्थितियाँ भी काफी बदल गई हैं और बहुत कुछ पश्चिमी देशों सरीखी होती जा रही हैं। दूसरी ओर अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं में भी काफी परिवर्तन हो गया है। अब अर्थशास्त्रियों ने यह दावा करना छोड़ दिया है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सर्वदेशीय और सर्वकालीन हैं और सब परिस्थितियों में समान रूप से लागू होते हैं। अब अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में व्यवहारिकता और यथार्थता को भी पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया जाने लगा है।

भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र—भारतीय अर्थशास्त्र की परिभाषा से उसके क्षेत्र का काफी आभास मिल जाता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उसकी आर्थिक समस्याओं एवं तत्सम्बन्धी हलों के सम्बन्ध में विचार किया जायगा। भारतीय अर्थशास्त्र का मुख्य विषय-वास्तविकताओं का अध्ययन करना होगा। सैद्धान्तिक चर्चा का स्थान उसमें नगण्य होगा। इस भाँति भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत भारतीय खेती, भारतीय व्यापार, वाणिज्य, भारतीय उद्योगों, विनिमय, भारतीय मुद्रा, भारतीय लेन-देन प्रथा आदि सम्बन्धी सभी समस्याओं पर विचार किया जायगा। भारतीय मजदूर आन्दोलन एवं भारतीय सहकारिता आन्दोलन आदि का अध्ययन भी भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही सम्मिलित होगा। प्राकृतिक साधनों एवं सामाजिक वातावरण का पर्यावेक्षण एवं उनका आर्थिक प्रभाव भी विषय के पूर्ण अध्ययन के लिए आवश्यक होगा। इन सब बातों के अतिरिक्त भू-राजस्व पद्धति, यातायात के साधन तथा भारत की वित्त व्यवस्था का भी सूक्ष्म निरीक्षण करना आवश्यक होगा। ग्रामीणों की कर्जदारी सम्बन्धी समस्याओं, विदेशी पूँजी आदि का भी विवेचन भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत शामिल है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत और भारतीयों के आर्थिक जीवन का प्रत्येक पहलू भारतीय अर्थशास्त्र का एक अङ्ग है।

भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र काल और समय की सीमाओं से बँधा हुआ नहीं है। भूतकालीन आर्थिक स्थिति एवं समस्याओं का अध्ययन तथा वर्तमानकालीन आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के अतिरिक्त भविष्य की ओर भी यह देखता है। आर्थिक समस्याओं का अध्ययन उन्हें जान लेने से ही समाप्त नहीं हो जाता। आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के अन्तर्गत उनके मूल कारणों का प्रत्येक पहलू से विश्लेषण तथा उन्हें भविष्य में हल करने के उपायों को भी समस्याओं के अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। इसके साथ ही साथ यह भी विचार करना आवश्यक होता है

कि उन समस्याओं को हल करने के लिए अपनायी गई नीति का अन्य बातों पर क्या असर हो सकता है। इस भाँति भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत ही गहन और व्यापक है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य—भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक मात्र उद्देश्य भारतीयों के आर्थिक जीवन को उन्नतशील बनाना है। हमें गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा कि हम इतने गरीब क्यों हैं? हम किस प्रकार अपनी आर्थिक दुरावस्था एवं गरीबी को दूर करके समृद्ध एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो सकते हैं। भारतीय अर्थशास्त्र का उद्देश्य भारतीय आर्थिक हितों को प्रधानता अवश्य प्रदान करना है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह ऐसा किसी अन्य देश का शोषण करके करना चाहेगा। भारतीय अर्थशास्त्र का विद्यार्थी राष्ट्रीय दृष्टिकोण अवश्य रखेगा किन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता को भी आवश्यक महत्त्व अवश्य प्रदान करेगा, क्योंकि आधुनिक जगत में कोई भी देश या राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से न तो पूर्णरूपेण स्वावलम्बी हो सकता है और न आर्थिक दृष्टि से एकाकी जीवन ही बिता सकता है। भारत की अन्न की कमी का प्रभाव अमेरिका और रूस को प्रभावित किए वगैर नहीं रह सकता। संसार के किसी एक देश की कोई भी बड़ी आर्थिक समस्या अन्य देशों को प्रभावित किसी न किसी रूप में अवश्य करती है। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थी का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुए अपने देश को अधिक से अधिक आर्थिक दृष्टि से संपन्न बनाने की चेष्टा करे।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता—भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यवहारिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं लोकहित की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

व्यवहारिक दृष्टिकोण से यदि हम विचार करें तो पावेंगे कि भारतीय समाज में कोई भी व्यक्ति भले ही वह किसी भी पेशे में क्यों न लगा हो, उसके लिए भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन बहुत आवश्यक एवं उपयोगी है। उदाहरणतः खेती सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन भारतीय किसान के लिये बहुत लाभकारी सिद्ध होगा। उद्योगपति भारतीय उद्योग धन्धों सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन से बहुत कुछ सीख सकते हैं। व्यापारी तथा वाणिज्य में लगे हुये लोग भी भारतीय व्यापार आदि के अध्ययन से काफी लाभ उठा सकते हैं। लेन-देन का काम करने वाले तथा बैंकिंग व्यवसाय में लगे हुये लोग भारतीय बैंकिंग के अध्ययन से अपने व्यवसाय में काफी उन्नति कर सकते हैं। भारतीय मज़दूर नेता मजदूरों की आर्थिक समस्याओं का हल उनकी वास्तविक स्थिति को जानकर ही कर सकते हैं, और इसके लिये उन्हें भारतीय अर्थशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। इन सब बातों के अतिरिक्त सर्वोपरि बात यह है कि भारत की दरिद्रता और आर्थिक हीनता का निराकरण भी भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से ही किया जा सकता है।

शैक्षिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता पर विचार करें तो पावेंगे कि भारतीय अर्थशास्त्र के अंतर्गत हम इतनी पेचीदा एवं विभिन्न प्रकार की आर्थिक समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं जो मस्तिष्क को विकसित करने में एवं ज्ञानवर्धन में बहुत सहायक सिद्ध होता है। प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिये आवश्यक है कि वह भारत की मौजूदा आर्थिक समस्याओं से अवगत रहे और उन्हें दूर करने के हेतु एक भारतीय नागरिक होने के नाते पूर्ण सहयोग प्रदान करे। यह उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य वह भारतीय अर्थशास्त्र के ज्ञान के वगैर सम्पन्न नहीं कर सकता।

सांस्कृतिक और शैक्षिक दृष्टि के अतिरिक्त राजनैतिक दृष्टि से भी भारतीय अर्थशास्त्र का महत्त्व किसी दशा में कम नहीं है। भारत सदियों की गुलामी के पश्चात् स्वतन्त्र हो चुका है। ऐसी दशा में शासकों एवं विधि निर्माणकर्ताओं के लिये आवश्यक है कि वे ऐसे कानून बनावें और

इस भाँति शासन करें जिससे कि भारतीयों का आर्थिक जीवन उन्नत हो सके और भारत की आर्थिक समस्याओं का शीघ्र से शीघ्र निराकरण हो जावे। इस महान कार्य को तब तक सफल रूप से सम्पन्न नहीं किया जा सकता जब तक कि भारतीय संसद एवं राज्यों के विधान मंडल के सदस्य तथा विभिन्न राज्यों की सरकार तथा संघ के मन्त्रिमंडल के सदस्य भारतीय अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन न किये हुये हों। देश की आर्थिक अवस्था पर, सरकार की वित्त व्यवस्था, कर निर्धारण संबंधी नीति, मुद्रा के चलन तथा विनिमय सम्बन्धी नीति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अतएव शासकों एवं विधि निर्माताओं के लिये राजनैतिक दृष्टि से भी भारतीय अर्थशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। आर्थिक दृष्टि से सन्तुष्ट एवं सुखी जनता ही सुदृण एवं स्थाई राष्ट्र का आधार होती है। आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हुये वगैर राजनैतिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं होता। भारत का आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होना, भारत की आर्थिक समस्याओं के हल हुये वगैर संभव नहीं है। अतएव स्वतन्त्रता के मधुर फलों का रसास्वादन हम आर्थिक समस्याओं का अन्त करके ही कर सकते हैं, जिसके लिये भारतीय अर्थशास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन में सही आंकड़ों की उपलब्धि सम्बन्धी कठिनाई—भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन में कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ भी हैं जिनके सम्बन्ध में विभिन्न स्थलों पर प्रकाश डाला जायगा। देश की आर्थिक स्थिति के सही चित्रण के लिए सही आंकड़ों (Statistics) की बहुत आवश्यकता होती है। भारत में सही आंकड़ों की भारी कमी है। सही आंकड़ों के वगैर आर्थिक स्थिति और समस्याओं का सही चित्रण नहीं हो सकता और वास्तविक स्थिति के अभाव में समस्याओं के निराकरण और देश की उन्नति के लिये सही योजनायें नहीं बनाई जा सकती। उदाहरणवत् आज देश के सम्मुख खाद्य-समस्या प्रधान है। भारत सरकार का अनुमान है कि भारत में आवश्यकता के अनुपात में खाद्य-पदार्थों का उत्पादन १०% कम है। किन्तु यह १०% की कमी का आंकड़ा विश्वस्त आधार पर नहीं है। मेरे और अन्य अर्थशास्त्रियों की सम्मति में उत्पादन १०% से कहीं अधिक कम है। यदि यह मान लिया जाय कि वस्तुतः उत्पादन खपत के मुकाबले में १०% से अधिक कम है तो जो भी योजना इस कमी को पूरा करने के लिए बनाई जावेगी वह यदि पूर्णतया सफल भी हो जावे तो भी समस्या का हल नहीं हो पावेगा। समस्या का वास्तविक हल उसी दशा में संभव होगा जब कि उत्पादन और खपत के आंकड़े सही हों। इस भाँति यह स्वयं सिद्ध है कि भारतीय अर्थशास्त्र के सही अध्ययन में आंकड़ों सम्बन्धी कठिनाई एक बड़ी कठिनाई है। सरकार को आर्थिक नीति प्रतिपादन करने में तथा देश की आर्थिक समस्यायों को हल करने संबंधी सफल योजनाओं को बनाने और कार्यान्वित करने में सही आंकड़ों के अभाव के कारण भारी कठिनाई अनुभव होती है।

द्वितीय परिच्छेद

भारत की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधन

भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधनों का महत्व—प्रत्येक देश का आर्थिक उत्थान या पतन, उस देश के निवासियों का आर्थिक जीवन बहुत कुछ उस देश की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधनों द्वारा निश्चित होता है। किसी भी देश की जलवायु, उसके धरातल की बनावट, उसकी खनिज सम्पत्ति, उसकी वनस्पति आदि का प्रभाव उस देश के निवासियों के आर्थिक जीवन पर बहुत गहरा पड़ता है। इस प्रकार किसी भी देश की भौगोलिक परिस्थिति वह धुरी है जिस पर उसका सम्पूर्ण आर्थिक जीवन चक्कर लगाता है। यह वह आधार-स्तम्भ है जिस पर देश के आर्थिक संगठन का भव्य-भवन स्थिर रहता है।

यदि किसी देश के जलवायु का प्रभाव उस देश के श्रम की कुशलता पर, श्रमिक की कार्यक्षमता पर पड़ता है, तो प्राकृतिक साधन देश के औद्योगिक स्तर को निश्चित करते हैं, वहाँ की प्राकृतिक परिस्थिति देश के वाणिज्य-व्यवसाय को प्रभावित करती है। उस देश की समस्त आर्थिक समस्याएँ भी बहुत अंश तक प्राकृतिक साधनों पर ही निर्भर रहती हैं।

प्राकृतिक परिस्थिति का देश के व्यवसाय, उद्योग धन्धे तथा कृषि पर तो प्रभाव पड़ता ही है, उसका देश के आर्थिक संगठन पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि देश के उद्योग-धन्धे अपने प्राकृतिक साधनों के अनुरूप होने के कारण उन्नत अवस्था में है, यदि देश के प्राकृतिक साधनों की स्थिति अच्छी है तो उसके आयात-निर्यात में सन्तुलन रहेगा जिसका देश की आर्थिक स्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। यदि देश की कृषि प्राकृतिक परिस्थिति के कारण अच्छी स्थिति में है तो उसका प्रभाव देश के राजस्व पर पड़ेगा। सरकार को राजस्व के रूप में अच्छी रकम प्राप्त होगी। इसके विपरीत यदि ये आर्थिक साधन अनुरूप नहीं हैं, आर्थिक साधनों की दृष्टि से कोई देश निर्धन है तो उस देश की कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि भी अच्छी स्थिति में नहीं होंगे, जिनका प्रभाव राज्य या सरकार की आय पर, उसकी आर्थिक स्थिति पर भी बुरा ही पड़ेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि किसी भी देश का आर्थिक जीवन उसकी भौगोलिक स्थिति, और उसके प्राकृतिक साधनों द्वारा नियंत्रित होता रहता है।

वैसे तो आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान की सहायता से मानव ने किसी सीमा तक प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है। मानव ने वायु को अपनी मुट्ठी में कर लिया है, दुर्गम पर्वतों को काटकर यात्रा के योग्य बना लिया है, विशाल और अथाह समुद्र पर उसकी विजय-वैजयन्ती फहरा रही है। विद्युत के द्वारा उसने तमसावृत्त रात्रि को जगमगाते दिवस में परिवर्तित कर दिया है। वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से उसने ग्रीष्म ऋतु की तपतपाती गर्मी और शरद के कंपकपाते शिशिर को अपनी सुविधानुसार सहनशील बनाने में सफलता प्राप्त कर ली है।

किन्तु कुछ भी हो चाहे मनुष्य कितने ही वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार कर ले, वह प्रकृति के प्रभावों का, प्राकृतिक साधनों का किसी न किसी सीमा तक दास बना ही है, वह अपने देश की भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक साधनों के महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकता।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि किसी भी देश के आर्थिक जीवन पर उसके प्राकृतिक साधनों का, भौगोलिक स्थिति का गहरा प्रभाव पड़ता है। फलतः भारत के आर्थिक जीवन पर भी इस देश की भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक साधनों का काफी प्रभाव पड़ा है। देश के उत्तर में स्थित हिमालय की उत्तुङ्ग श्रेणियाँ वर्षा पर अपना प्रभाव डालती हैं, वर्षा समस्त देश की कृषि को

निश्चित करती है। देश के समुद्री तटों तथा सीमान्त प्रदेशों ने यहाँ के वाणिज्य-व्यवसाय को प्रभावित किया है। यहाँ की खनिज सम्बन्धी स्थिति ने खनिज सम्पत्ति को निर्धारित किया है, उससे भारतीय उद्योग-धन्धों के संचालन के लिए शक्ति-साधन भी प्राप्त हुए हैं। भारतीय जलवायु ने यहाँ की बन-सम्पत्ति पर तो अपना प्रभाव डाला ही है, साथ ही यहाँ के श्रमिकों की कुशलता पर भी अपना गहरा असर डाला है। इस भाँति भारत की कृषि, उसके उद्योग-धन्धे उसका व्यापार, उसका राजस्व आदि सभी कुछ यहाँ के प्राकृतिक साधनों तथा भौगोलिक स्थिति द्वारा प्रभावित हुए हैं। अतः भारत के आर्थिक जीवन के किसी भी अंग की कल्पना देश की भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधनों का विचार किए बगैर नहीं की जा सकती।

इस परिच्छेद में हम देश की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधनों एवं उनके आर्थिक प्रभाव का विचार करेंगे।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति—भारतवर्ष एक विशाल भूखंड है। इसके उत्तर में हिमालय की ऊँची, बर्फ से ढकी दीवार है; बाकी तीन तरफ यह समुद्र से घिरा हुआ है। जुदा-जुदा जल-वायु, तरह-तरह की भूमि, विचित्र-विचित्र दृश्य और भांति-भांति की पैदावार देकर मानों प्रकृति ने इसे जगत की प्रदर्शिनी या नुमायश बना दिया है। ऐसी कोई मुख्य चीज़ नहीं, जो यहाँ पैदा न हो सकती हो। कच्चे पदार्थों का भंडार होने के कारण इसे औद्योगिक पदार्थों की आवश्यकता पूरी करने के लिए खास प्राकृतिक सुविधा प्राप्त है। पूर्वी गोलार्द्ध का केन्द्र होने से इसकी स्थिति एशिया, योरप और अफ्रीका से व्यापार करने के लिए बहुत अनुकूल है। हाँ, इसे एक बड़ी बाधा का सामना करना पड़ता है, यहाँ अच्छे बन्दरगाहों की कमी है। करीब तीन हजार मील लम्बा समुद्र-तट होते हुए भी, यहाँ व्यापार के लिए अच्छे उपयोगी बन्दरगाह इने-गिने हैं। इस विषय का विशेष विचार व्यापार के सिलसिले में किया जायगा। भीतरी आमदरफ्त के विचार से दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारत की स्थिति अच्छी है; कारण कि वहाँ पर एक तो ऐसी नदियाँ हैं, जिनमें नाव अच्छी तरह आ-जा सकती हैं, दूसरे, वहाँ सड़कें और रेलें बनाने में बहुत सुविधा रहती है, जब कि दक्षिण में पहाड़ या पथरीली भूमि होने से इसमें बड़ी कठिनाई होती है।

विस्तार—विभाजन (सन् १९४७) से पूर्व भारतवर्ष का क्षेत्रफल १५,८१,४१० वर्गमील था। पीछे सिन्ध, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पश्चिमी पंजाब, बिलोचिस्तान, पूर्वी बंगाल और सिलहट तथा इन प्रदेशों से मिली हुई रियासतों का पाकिस्तान राज्य बन गया; और बम्बई, उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल पूर्वी पंजाब, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग और इन प्रदेशों से मिली हुई रियासतें भारतीय संघ में रह गईं। इस प्रकार भारतीय सङ्घ का क्षेत्रफल १२,२०,०९९ वर्ग-मील रह गया, इसमें से ५,८७,८८८ वर्गमील रियासतों का था। सन् १९४८ में छोटी-बड़ी २१९ रियासतें अपने पास के प्रान्तों में मिल गईं, इनका कुल क्षेत्रफल ८४,७७४ वर्ग मील था। इस प्रकार अब भारतीय संघ के सवा बारह लाख वर्गमील से अधिक क्षेत्रफल में के पाँच लाख वर्गमील क्षेत्रफल देशी रियासतों में है। पाकिस्तान और उसकी रियासतों का क्षेत्रफल ३,६१,३११ वर्गमील है। विभाजित होने के पश्चात् भी भारत एक महाद्वीप ही है। इसका मौजूदा क्षेत्रफल ग्रेटब्रिटेन का बारह गुना है और फ्रान्स, यूनाइटेड किंगडम, बेलजियम, हालैंड, जर्मनी, डेनमार्क, आस्ट्रिया, हंगरी, स्विटजरलैंड, स्पेन, पुर्तगाल, इटली और रूमानिया के सम्मिलित क्षेत्रफल के बराबर है।

भारतवर्ष के प्राकृतिक भाग—भारतवर्ष एक विशाल देश है। यहाँ पर उत्तुंग हिम-शृंग, सुन्दर पर्वतीय उपत्यकाएँ, नदियों की सुन्दर घाटियाँ, उर्वरा भूमि वाले समतल मैदान, सघन वन, निर्जन उजाड़ मरु प्रदेश आदि सभी स्थित हैं। इस प्रकार भारत में विभिन्न प्रकार की भौगोलिक

स्थिति, प्राकृतिक छटा वाले प्रदेशों के दर्शन होते हैं। भू-रचना के अनुसार, अर्थात् पृथ्वी की बनावट की दृष्टि से भारत को हम मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) हिमालय का पर्वतीय प्रदेश।
(२) सिन्ध और गंगा का मैदान।
(३) पूर्वीय तथा पश्चिमीय किनारों से युक्त दक्षिण का पठार।

हिमालय का पर्वतीय प्रदेश—भारतवर्ष के उत्तर में एक विशाल पर्वत श्रेणी है, जो १५०० मील लम्बी तथा १०० से २५० मील तक चौड़ी है। हिमालय की यह पर्वत श्रेणी पामीर से प्रारम्भ होती है। इस उत्तरी पर्वतीय प्रदेश में हिमालय की एक ही श्रेणी नहीं है। वास्तव में यहाँ कई पर्वत श्रेणियाँ हैं। ये पर्वत श्रेणियाँ संसार की सबसे ऊंची पर्वत श्रेणियों में से हैं। इसकी सबसे ऊँची चोटी गौरीशंकर या माउंट एवरेस्ट है जो संसार की सबसे ऊँची चोटी है। इसके बाद धवला-गिरि तथा किंचिंगिा अन्य ऊँची चोटियाँ हैं। ये पर्वत श्रेणियाँ पूर्व से पश्चिम को न जाकर उत्तर से दक्षिण तक सीधी चली गई हैं। इनके प्रधान दर्रे नैनीताल, तथा दार्जिलिंग से तिब्बत जाने वाले मार्गों पर पड़ते हैं। लेह से आगे जाने पर कराकोरम का प्रसिद्ध दर्रा है जो पश्चिमी तिब्बत के लिए रास्ता खोलता है। शिमला के आगे सतलज की कन्दरा के ऊपर शिपकी दर्रा पड़ता है। नैनीताल और अलमोड़ा के आगे भी हिमालय में माना और नीति दर्रे हैं। हिन्दू यात्री इसी मार्ग से मानसरोवर को जाया करते हैं। उत्तर में पेशावर और काबुल के बीच खैबर तथा दक्षिण में शिकारपुर और कन्धार के बीच में बोलन दर्रे हैं। इन थोड़े से दर्रों को छोड़ कर अन्य कोई आवागमन का रास्ता नहीं है। इस प्रकार उत्तर का यह हिमागार एक चाहार-दीवारी का, एक सुदृढ़ दुर्ग की दीवार का काम करता है।

आर्थिक प्रभाव—ये पर्वत-श्रेणियाँ, जल वृष्टि में हमारी सहायता करती हैं। कितनी ही नदियाँ जिनसे हजारों एकड़ भूमि की सिंचाई होती है, इन्हीं पर्वतों से निकलती हैं। यह हिमागार धुर उत्तर से प्रवाहित होने वाली शीतल और शुष्क वायु से हमें बचाता है। इसके अतिरिक्त उसकी अमूल्य वन-सम्पत्ति, बहुमूल्य चरागाह भी हमारे लिए काफी महत्त्व रखते हैं। काश्मीर के समान रम्य, मनोरम, बहुमूल्य घाटी हमें हिमालय से ही प्राप्त हुई है। अतः हमारे आर्थिक जीवन पर इस हिमागार का जो प्रभाव है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसने भारत के आर्थिक जीवन पर ही नहीं, वरन् उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन पर भी अपनी मौलिक छाप डाली है।

गंगा और सिन्ध का मैदान—हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के दक्षिण में सिन्ध और गंगा का विशाल मैदान है। यह मैदान संसार के सबसे उपजाऊ समतल मैदानों में से है। इसका क्षेत्रफल पांच लाख वर्गमील है। इसमें सिन्ध का अधिकांश भाग, उत्तरी राजपूताना, समस्त पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और आधा आसाम सम्मिलित है। इस प्रकार पश्चिम में सिन्ध नदी से लेकर पूर्व में गंगा के डेल्टा तक यह प्रदेश फैला हुआ है। इसका पश्चिमीय प्रदेश शुष्क है और उतना उपजाऊ नहीं है जितना पूर्वीय। जैसे-जैसे हम पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ते जाते हैं, हमें गन्ने और गेहूँ के लहलहाते खेतों से लेकर बांस, ताड़ और केले के सुन्दर पौधों से भरे हुए मैदानों के दर्शन होते हैं। सुदूर पूर्व में अपने हरे-भरे चाय के खेतों वाला आसाम का रमणीय प्रदेश हमारे मन को आकर्षित कर लेता है। इस मैदान का पश्चिमी प्रदेश मरु प्रदेश है, किन्तु पूर्वीय प्रदेश की मिट्टी अत्यन्त उर्वरा है, नदियों ने इस प्रदेश को और भी उपजाऊ बना दिया है। यह प्रदेश अन्न का भंडार है, भारतीय कृषि का केन्द्र है। इसी भूमि पर प्राचीन काल में सर्वोच्च सभ्यता का उदय हुआ था। गंगा, सिन्ध, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों द्वारा सिंचित यह स्थल भारत का एक गौरवपूर्ण प्रदेश है।

दक्षिण का पठार—गंगा-सिन्ध के विशाल मैदान के दक्षिण में भारत का प्रायः समस्त भाग त्रिभुजाकार पठारी प्रदेश है जो कि अपने तीनों ओर से पहाड़ों से घिरा है। उत्तर में विंध्या और सतपुड़ा पर्वत श्रेणियाँ तथा पूर्व और पश्चिम में क्रमशः पूर्वीय तथा पश्चिमीय घाट हैं। इस पठारी प्रदेश का धरातल बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। इसमें प्रवाहित होने वाली नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं और प्रायः बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। समुद्र की सतह से इस पठार की औसत ऊँचाई दो हजार फीट है। इस पठार के ऊँचे-ऊँचे पश्चिमीय और पूर्वीय सिरे, पश्चिमीय और पूर्वीय घाट कहलाते हैं। पश्चिमीय घाट, पूर्वीय घाट की अपेक्षा अधिक ढालू है। दक्षिण की बहुत सी नदियाँ इसी ओर प्रवाहित होती हैं, जिन नदियों का प्रवाह पूर्व की ओर है, वे नदियाँ लम्बी तथा मन्दगामी हैं। कृष्णा और कावेरी तथा गोदावरी के डेल्टे बहुत उपजाऊ हैं। यहाँ की काली मिट्टी कपास के लिए बहुत उपयोगी है। देश के आर्थिक जीवन के उत्थान में इस प्रदेश ने भी अच्छा हाथ बँटाया है।

जलवायु—वे तथ्य जो किसी देश के आर्थिक जीवन को निश्चित करते हैं, उनमें से जलवायु का विशेष महत्त्व है। प्राकृतिक वनस्पति, मानव की कार्यकुशलता, उसकी कार्यक्षमता, उसकी आवश्यकताएँ, उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण तथा विभाजन आदि बहुत कुछ जलवायु पर ही निर्भर होते हैं।

हम कह चुके हैं कि भारतवर्ष एक विशाल देश है, अतः यह आशा करना कि यहाँ पर सारे प्रदेश में एक सी ही जलवायु पाई जायगी, भूल होगी। कुल मिलाकर भारत की जलवायु मानसूनी है। ऋतुओं तथा जल वृष्टि के विचार से भारत को कई प्रदेशों में विभाजित किया जा सकता है। पर्वतीय प्रदेशों में ठंडी जलवायु है, जब कि मैदानों में शुष्क और गर्म जलवायु रहती है। किन्तु जलवायु की इस विभिन्नता में भी एक एकता है। अपनी इस जलवायु के बल पर ही हम अपने इस देश में विभिन्न प्रकार की फसलें उत्पन्न कर सकने में समर्थ हुए हैं। अपनी इस जलवायु की सहायता से ही हम देश में अच्छे उद्योग-धन्धों की स्थापना कर सकते हैं। इस जलवायु के द्वारा ही हम अपने अन्य आर्थिक उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं। किन्तु इस स्थल पर हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि कुछ लोगों का मत है कि भारत की जलवायु ने ही भारतीयों को अशक्त, बलहीन, आलसी और सुस्त बना दिया है। हमें इस बात को इतना अधिक महत्त्व न देना चाहिए और इसे अपनी आर्थिक अवनति का मुख्य कारण न समझ लेना चाहिए। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इसी जलवायु में प्राचीन काल में भारतीय समाज कला-कौशल, साहित्य, वाणिज्य-व्यवसाय, उद्योग-धन्धों आदि का विकास कर उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच गया था। अतः हमारे देश के आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होने का कारण यह नहीं वरन् कुछ और ही है, जिसके कारण हमारा देश विशेष उन्नति नहीं कर सका।

जल वृष्टि—भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ कि ७० प्रतिशत जनता कृषि पर ही निर्भर करती है, जल वृष्टि का विशेष महत्त्व है। जलवृष्टि उचित समय पर, उचित रूप में, उचित मात्रा में होनी चाहिए। यदि वर्षा आवश्यकता से अधिक होती है या कम होती है अथवा कुसमय होती है तो उसका परिणाम भारतीय कृषक को भुगतना पड़ता है। यदि वर्षा न हुई तो उससे केवल भारतीय कृषक को ही हानि नहीं उठानी पड़ेगी, वरन् उसका प्रभाव देश व्यापी होगा, वस्तुओं का अभाव हो जायगा, दैनिक जीवन के आवश्यक उपकरणों के मूल्य में वृद्धि हो जायगी, सरकार के राजस्व में कमी हो जायगी। इस भाँति जलवृष्टि देश के आर्थिक जीवन में तारतम्य बनाए रखने के लिए, और उसके आर्थिक ढाँचे को सुसंगठित बनाए रखने के लिए बड़ी आवश्यक है।

भारत में वर्षा—भारतवर्ष के विभिन्न भागों में जल-वृष्टि विभिन्न मात्रा में होती है। वर्षा के विचार से हम भारतवर्ष को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) **अधिक वर्षा वाले प्रदेश**—जैसे पश्चिमी तट, गंगा का डेल्टा, आसाम, सुरमाघाट आदि जहाँ १०० इंच से ऊपर वर्षा होती है।

(२) **अच्छी वर्षा के प्रदेश**—जैसे गंगा की घाटी में प्रयाग तक, पूर्वी तट तथा ब्रह्मा से उत्तरी-पूर्वी पहाड़ी प्रदेश। यहाँ ४० से ८० इंच तक वर्षा होती है।

(३) **शुष्क प्रदेश**—जैसे दक्षिण, मध्यभारत के पठार तथा माँडले के दक्षिण-ब्रह्मा का मध्य भाग जहाँ २० से ४० इंच तक वर्षा होती है।

(४) **अधिक शुष्क प्रदेश**—जैसे सिन्ध, कच्छ, उत्तरप्रदेश का कुछ भाग, खानदेश, बरार, हैदराबाद, मध्यभारत, गुजरात, मैसूर, राजपूताना, पंजाब उड़ीसा तथा उत्तरी मदरास। यहाँ १ से १० इंच तक वर्षा होती है।

जल वृष्टि के विचार से हम वर्ष को दो और भागों में बाँट सकते हैं—एक तो वे महीने जिनमें वर्षा बिल्कुल नहीं होती, इन्हें हम सूखे महीने कह सकते हैं। इन दिनों प्रायः हवाएँ पृथ्वी से समुद्र की ओर चला करती हैं, ये महीने नवम्बर से मई तक के होते हैं। वर्षा के महीने जून से नवम्बर तक के होते हैं। इन दिनों समुद्र से पृथ्वी की ओर चलने वाली हवाओं की प्रधानता रहती है। यह हवा काफी नम होती है और तापक्रम पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। गरमी के दिनों में तापक्रम में विशेष उतार-चढ़ाव हुआ करता है।

भारत में वर्षा प्रायः मानसून हवाओं (अरब सागर की तथा बंगाल की खाड़ी की मानसूनी हवाओं) द्वारा होती है। भारत की ९०%वर्षा प्रायः इन्हीं हवाओं द्वारा होती है। जब काफी गर्मी पड़ने लगती है तो हिन्द महासागर से मानसूनी हवाएँ उठती हैं और पर्वतों से टकरा कर खूब बरस जाती हैं। अरब सागर की मानसूनी हवाएँ पश्चिमीय घाट को पार करती हुई पश्चिमी ढाल पर खूब जलवृष्टि करती हैं। इस मानसून की एक शाखा उत्तर में काठियावाड़, सिंध, और राजपूताना की ओर भी बह जाती है किन्तु इस प्रदेश में कोई पर्वत न होने के कारण तथा तापक्रम के अधिक ऊंचे होने से बर्षा नहीं होती। इसलिए इस हवा से कोई लाभ नहीं होता। उधर बङ्गाल की खाड़ी से प्रवाहित होने वाली मानसून आसाम की पहाड़ी से टकरा करके मूसलाधार वर्षा करती हैं। ये हवाएँ पश्चिम की ओर मुड़कर बङ्गाल को भी खूब सिंचित कर देती हैं। अरब मानसून की एक शाखा बाद में बङ्गाल की खाड़ी की मानसून से मिलकर उत्तरी भारत में खूब वर्षा करती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष के विभिन्न भागों में वर्षा समान रूप से नहीं होती, कहीं अधिक वर्षा कहीं कम और कहीं बिल्कुल वर्षा नहीं होती।

नीचे दी हुई तालिका से भारत के विभिन्न भागों में होने वाली जलवृष्टि का हमें अनुमान हो जायगा।

प्रदेश	भाग	वर्षा
सिन्ध...		६.३″
बङ्गाल...		७४·३″
उत्तर प्रदेश...		३८″
उड़ीसा ..		५७″
आसाम ...		१००″
उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त		१५·९″
बिहार ..		५०″
मध्य प्रदेश...		४८″
बरार ...		३२″
मदरास	मालाबार	१००″
	दक्षिण-पूर्व	३५·६″
	उत्तरी तट	३७·९″
	दक्षिण	२४·९″
बम्बई	गुजरात	३२·५″
	कोंकण	१०७″
	दक्षिण	३०·४″
पंजाब	उत्तर-पूर्व	२३·३″
	दक्षिण-पश्चिम	१०·०″

भारत में वर्षा की विशेषताएँ—भारत की वर्षा के विषय में बहुत-कुछ प्रकाश ऊपर डाला जा चुका है। भारतीय वर्षा की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) यहाँ वर्षा मौसम में ही होती है। इंगलैण्ड में वर्ष में किसी समय वर्षा की आशा की जा सकती है। परन्तु भारत में यह निश्चय रहता है कि वर्षा निश्चित समय या मौसम में ही होगी।

(२) भारत में वर्षा की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ निश्चय नहीं रहता कि वर्षा कितनी मात्रा में होगी। कभी मूसलाधार पानी बरसता है तो कभी धीमा। तेज वर्षा का पानी मिट्टी नहीं सोखती उल्टे यह अपने साथ बहुत सी मिट्टी बहाकर ले जाता है। जिससे कोई विशेष लाभ नहीं होता, इससे नमी और तरी का अभाव हो जाता है।

(३) पश्चिम की अपेक्षा यहाँ पर पूर्व में अधिक वर्षा होती है।

(४) सब भागों में एक समान वर्षा नहीं होती।

(५) अरब सागर की ओर से आने वाली मानसून की मात्रा बङ्गाल की खाड़ी की मानसून से अधिक रहती है। बङ्गाल की खाड़ी की मानसून का विस्तार अधिक हो जाता है, इस हवा से इरावदी के डेल्टा, ब्रह्मा के पश्चिमी तट और गंगा के डेल्टा में प्रबल वर्षा होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में वर्षा अनिश्चित सी रहती है, जिसके कारण भारतीय किसान को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वर्षा की इन विशेषताओं के कारण हमारे कृषक और कृषि को कभी-कभी बड़ी हानि उठानी पड़ती है। यही कारण है कि आज सिंचाई पर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है, सिंचाई की अच्छी से अच्छी व्यवस्था की जा रही है, देश की मिट्टी को अधिक उपजाऊ बनाने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। नीचे हम भारत की मुख्य-मुख्य मिट्टी की किस्मों पर प्रकाश डालेंगे।

मिट्टी विशाल देश होने के कारण, भारत में मिट्टी कई प्रकार की पाई जाती है। भारतीय मिट्टी को स्थूल रूप से हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी (Alluvial Soil)—भारत में यह सबसे उर्वरा मिट्टी होती है। यह मिट्टी उत्तर में सिन्ध-गंगा के विस्तृत मैदानों तथा दक्षिण प्रायद्वीप के दोनों तटों पर मिलती है। अधिकांश सिंध, उत्तर राजपूताना, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और आसाम के आधे भाग में यही मिट्टी पाई जाती है। इस मिट्टी वाले प्रदेश का क्षेत्रफल तीन लाख वर्गमील है। यह मिट्टी मुलायम गहरी है और नमी को रख सकती है। इस मिट्टी की गहराई का ठीक-ठीक पता नहीं है किन्तु बोरिंग करने से यह मिट्टी १६०० फीट नीचे तक मिलती है।

सिंध और गंगा के मैदानों की मिट्टी में पोटाश और फासफोरिक एसिड की मात्रा अधिक है परन्तु नाइट्रोजन कम है। दक्षिण की भी इस मिट्टी में नाइट्रोजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता, उसमें फासफोरिक एसिड और बनस्पति का अंश कम है किन्तु पोटाश और चूना काफी मात्रा में मिलता है।

लाल मिट्टी—यह मिट्टी मदरास, मैसूर, दक्षिण-पूर्व बम्बई, हैदराबाद और मध्यप्रदेश के पूर्व, छोटा नागपुर, उड़ीसा और बंगाल के दक्षिण में पाई जाती है। लोहा मिला होने के कारण इस मिट्टी का रंग लाल होता है। विभिन्न प्रकार की चट्टानों से बनी होने के कारण यह मिट्टी गहराई और उर्वरा शक्ति में विभिन्न प्रकार की होती है। जो लाल मिट्टी ऊँचे मैदानों में मिलती है, वह इतनी उर्वरा नहीं होती जितनी नीचे मैदानों में पाई जानेवालीहोती है। इस मिट्टी में नाइट्रोजन, फासफोरिक एसिड और वनस्पति का अंश कम होता है, परन्तु पोटाश और चूना यथेष्ट मात्रा में मिलता है।

काली मिट्टी—यह मिट्टी प्रायः सारे दक्षिण ट्रैप में दो लाख वर्गमील के क्षेत्र में फैली हुई है। बम्बई राज्य के अधिकांश भाग में, समस्त बरार; मध्यप्रदेश और हैदराबाद के पश्चिमी भाग में यह मिट्टी फैली हुई है। यह मिट्टी कई प्रकार की होती है, पहाड़ियों की ढालों पर यह मिट्टी पतली

है, अतः उतनी उर्वरा नहीं है जितनी नदियों की घाटियों की। नदियों की घाटियों की मिट्टी काफी गहरी और उर्वरा है। इस मिट्टी में धातुओं के अधिक होने के कारण उसका रंग काला हो गया है। यह मिट्टी कपास के लिये बहुत उपयुक्त होती है।

लैटेराइट मिट्टी—अन्य मिट्टियों की भांति यह मिट्टी भी कई प्रकार की होती है। इस मिट्टी में फासफोरिक एसिड, पोटास और चूना तो कम होता है किन्तु इसमें वनस्पति का अंश पर्याप्त होता है। यह मिट्टी मुख्यतया मध्य-भारत (ग्वालियर, कोटा, भूपाल, पन्ना और रींवा राज्यों में) आसाम और वर्मा तथा पूर्वी और पश्चिमी घाटों के समीपवर्ती प्रदेश में पाई जाती है।

इसके अतिरिक्त रेगिस्तानी मिट्टी भी होती है जो राजस्थान तथा दक्षिण पंजाब के प्रदेशों में पाई जाती है, पंजाब में रेह या कलार नाम की मिट्टी भी पाई जाती है। परन्तु यह मिट्टी खेती के योग्य नहीं होती।

अभी हाल में मिट्टी की किस्मों तथा उसकी उर्वरा शक्ति के विषय में काफी खोजपूर्ण कार्य किया गया है। भारत की अन्य आर्थिक समस्याओं के समान भारतीय मिट्टी की समस्या भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। हमारी मिट्टी का अधिकांश भाग शुष्क है जब कि अन्य देशों की मिट्टी नम और तर रहती है। अतः हमें यहाँ की मिट्टी की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के काफी प्रयत्न करने होंगे।

भारत के वन—भारत की भूमि विभिन्न प्रकार के वृक्षों की उत्पत्ति के लिये अनुकूल है, यहाँ पर प्रायः वृक्ष उन्हीं स्थानों में प्राप्त होते हैं जहाँ पर वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती है।

भारत में मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रकार के वन पाये जाते हैं :—

(१) समुद्र तट के वन—इनकी लकड़ी अधिक उपयोगी नहीं होती, वह केवल ईंधन के ही काम आती है।

(२) पर्वतीय वन—ये वन हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में पाए जाते हैं। इनमें देवदार, पाइन, स्प्रूस, सफेद सनोवर, बलूत, सुनहली लकड़ी वाले, लारेल आदि वृक्ष मिलते हैं।

(३) सदा हरे रहने वाले वन—ये वन हिमालय के पूर्वीय प्रदेश, आसाम के उस भाग में जहाँ वर्षा अधिक होती है, पाए जाते हैं। ये जंगल बाँस और बेंत से भरे हैं। इनमें वनस्पति बहुत पाई जाती है।

(४) पतझड़ वाले वन—ये वन भारत में बहुतायत से पाए जाते हैं। इन वनों के वृक्षों की पत्तियाँ साल के थोड़े से दिनों तक झड़ जाती हैं। इनमें साल, सागवन, शीशम आदि के वृक्ष मिलते हैं।

(५) सूखे वन प्रदेश—इस प्रकार के वन राजपूताना, सिंध, दक्षिणी पंजाब, और बिलोचिस्तान में पाए जाते हैं। इन वनों में बबूल बहुतायत से होता है।

एक समय था जब भारत की समस्त भूमि सुन्दर हरे-हरे वृक्षों से आवृत्त थी, सर्वत्र हरे-भरे वृक्षों का पुञ्ज प्रदर्शित होता था। परन्तु बाद में इसकी बड़ी उपेक्षा की गई, सहस्रों वृक्ष और सैकड़ों जंगल काट डाले गए। जंगलों के इस प्रकार नष्ट करने का क्रम आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व तक चलता रहा, इसके पश्चात् कुछ वैज्ञानिकों के अन्वेषणों के फलस्वरूप लोगों ने वनों का, वृक्षों का महत्व समझा। यह बात स्पष्ट हो गई कि यदि वनों को नष्ट कर दिया जायगा तो बहुत से उद्योग-धन्धे जो वनों पर निर्भर हैं, नष्ट हो जायँगे, दूसरे वृक्षों के कट जाने से जलवायु पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः लोग जंगलों के महत्त्व को भलीभांति समझ गए, लोगों का ध्यान वनों को सुरक्षित रखने की ओर आकर्षित हुआ। सब देशों के लोग वनों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करने लगे।

वनों से लाभ—वन या जंगल किसी भी राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति होते हैं, फिर भारत जैसे देश के लिए जहाँ पर कि प्रायः फसल में कमी हो जाती है, अन्नाभाव हो जाता है, वृक्षों का जिनसे फल, तेल, वनस्पति इत्यादि प्राप्त होती है, महत्त्व बहुत अधिक है।

वनों से होने वाले लाभ को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :—

(अ)—अप्रत्यक्ष लाभ।

(ब)—प्रत्यक्ष लाभ।

अप्रत्यक्ष लाभ—(१) वन पानी के बादलों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं जिससे वर्षा होती है। वन्य प्रदेश में वर्षा अधिक और निश्चित होती है।

(२) वृक्षों की जड़ें बरसात के पानी को खूब सोख लेती हैं, जिसके द्वारा मिट्टी में कुछ नमी बनी रहती है और पृथ्वी के नीचे बहने वाले जलस्रोत में पूरे वर्ष भर पानी मिलता रहता है।

(३) ये वन बरसात के तथा नदियों के जल को मनमाने ढंग से नहीं बहने देते। यदि पर्वतों पर वन न हों तो बरसात का जल तेज प्रवाह में मैदानों की ओर बहे जिसका परिणाम बुरा हो। वनों के न होने पर बरसात का पानी अपने तेज प्रवाह के साथ पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानों को अपने साथ बहा ले जाए, ये चट्टानें लुढ़क कर बड़ी हानि पहुँचाती हैं।

(४) ये वन नित्यप्रति वायु द्वारा बहुत सा जल देते रहते हैं, जिससे वनों के निकटवर्ती प्रदेश बड़े ठंढे रहते हैं।

प्रत्यक्ष लाभ—(१) वनों से हमें इमारती तथा घरों में आग जलाने की लकड़ी प्राप्त होती है।

(२) वनों से उत्पन्न होने वाले पदार्थों पर ही कागज़, दियासलाई, खिलौने, तेल तथा वार्निश आदि के व्यवसाय चलते हैं।

(३) वनों से ही हमें बहुत प्रकार की वनस्पति तथा फल जो दवाइयों के काम आते हैं, मिलते हैं।

(४) वृक्षों की छाल जो चमड़ा कमाने के काम में आती है, तथा जड़ें भी जो बहुमूल्य होती हैं वनों द्वारा ही प्राप्त होती हैं।

इसके अतिरिक्त वन देश के नैसर्गिक सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायता देते हैं।

हमारी वन सम्पत्ति—वनों से उत्पन्न होने वाले पदार्थों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रधान उत्पत्ति वाले पदार्थ—(Major Products)

(२) गौण उत्पत्ति वाले पदार्थ—(Minor Products)

वनों से उत्पन्न होने वाले प्रधान पदार्थों में इमारती लकड़ी तथा घरों में जलाने वाली लकड़ी है। जलाने की लकड़ी का उत्पादन लगभग ३७५ लाख घन फीट तथा इमारती लकड़ी लगभग २६० लाख घन फीट प्रतिवर्ष उत्पादित होती है। इमारती लकड़ी में साल, देवदार, महोगनी, तथा शीशम मुख्य हैं। इमारती लकड़ी की प्रायः ३० किस्में देखने को मिलती हैं।

छोटी उत्पत्ति वाले पदार्थों में लाख, तारपीन का तेल, बाँस, डल्ता और सबाई घास, चमड़ा कमाने वाली वस्तुएँ, जड़ी बूटियाँ आदि हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि लगभग ३५,००० टन बाँस का गूदा तथा २५००० टन सबाई घास कागज बनाने में लग जाती है। लाख तो भारत के

वनों की मुख्य उत्पत्ति है। यह प्रायः मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार, मध्यभारत, हैदराबाद तथा आसाम के मध्यभाग में पैदा की जाती है। भारत में जितनी लाख उत्पन्न होती है उसका ९८ प्रतिशत भाग विदेशों को भेजा जाता है। मीरबालन भी बहुत उपयोगी वृक्षों में से है। यह मुख्यकर रंगने तथा चमड़ा कमाने के काम में प्रयुक्त किया जाता है। इसकी लकड़ी कितने ही युरोपीय देशों को भेजी जाती है। बाँस भी बड़े लाभ की वस्तु है।

इतने बड़े वन्य प्रदेश में से केवल थोड़ा सा ही भाग हम लोगों के काम में आता है। बहुत से ऐसे जंगल हैं जो हम लोगों की पहुँच के बाहर हैं। अपने जंगलों के विकास में सबसे बड़ी बाधा आवागमन के साधनों का अभाव है। भारतवर्ष के विभाजन ने इन कठिनाइयों में और वृद्धि कर दी है। कश्मीर से इमारती लकड़ी आसानी से नदियों द्वारा बहाकर लाई जा सकती थी किन्तु जिन नदियों में बहाकर उसे भेजा जाता था, वे नदियाँ पाकिस्तान के हाथ में चली गई हैं। इस प्रकार कश्मीर की वन-सम्पत्ति से हम पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

इन दिनों जंगल की गौण उत्पत्ति ने, छोटी-छोटी पैदावारों ने अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया है। उदाहरण के लिए सन्दल का तेल इत्र इत्यादि के काम में बहुत आता है। मारगोसा (नीम) साबुन बनाने में प्रयुक्त किया जाता है। बहुत सी ऐसी वनस्पतियाँ तथा जड़ी बूटियाँ हैं जो औषधियाँ तैयार करने में प्रयुक्त होती हैं। इन सब बातों के होते हुए भी हम अपनी वन-सम्पत्ति का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं कर पाये हैं। अभी करोड़ों रुपए की इमारती लकड़ी हमें बाहर से ही मँगवानी पड़ती है। गत महायुद्ध ने तो यह स्पष्ट कर दिया कि हम अपनी वन सम्पत्ति का पूरा-पूरा लाभ उठाने में असमर्थ रहे हैं। यह हमारे लिए बड़े खेद की बात है कि अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी हम विदेशों पर ही निर्भर हैं। अभी हाल में देहरादून के फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने वन सम्पत्ति का अच्छा उपयोग करने की दिशा में अच्छा कार्य किया है। वर्त्तमान समय में हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम जंगलों की लकड़ी का सस्ता कागज बनाने, वायुयान निर्माण करने तथा बिजली के सामान को बनाने आदि में प्रयोग करें। इस दिशा में कुछ प्रगति की जा चुकी है। वन सम्पत्ति का पूर्ण उपयोग होने के लिए औद्योगिक उन्नति तथा वन सम्पत्ति का सम्बन्ध होना बहुत अनिवार्य है।

हमारी सरकार और वन-विभाग—हम ऊपर यह कह चुके हैं कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व तक जंगलों की ओर लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, कितने ही जंगल काट डाले गए। जिसका परिणाम हमारे आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा पड़ा।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में सरकार का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। प्रत्येक प्रान्त या राज्य में वन विभाग की स्थापना की गई। वन विभाग ने जंगलों का इस प्रकार वर्गीकरण किया—

(१) सुरक्षित वन—(Reserved Forests)
(२) रक्षित वन—(Protected Forests)
(३) श्रेणीरहित वन—(Unclassed Forests)

सुरक्षित वनों पर सरकार का पूर्ण अधिकार है। सरकार इन वनों पर इसलिए पूरा नियन्त्रण नहीं रखती कि ये वन बहुमूल्य सम्पत्ति वाले हैं वरन् उन्हें इसलिए सुरक्षित रखा गया है कि उनके कट जाने पर जलवायु पर बुरा प्रभाव न पड़े। रक्षित वन भी सरकार के अधिकार में रहते हैं। इन वनों से बहुमूल्य व्यापारिक लकड़ी मिलती है। जनता इस प्रकार के वनों का उपयोग करने में किसी सीमा तक स्वतन्त्र है। श्रेणी रहित जंगलों में सरकारी नियंत्रण बहुत कम रहता है। वन प्रदेश

का यह वर्गीकरण उपयुक्त नहीं है। आर्थिक दृष्टि से इसका एक अच्छा वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) वे क्षेत्र जो इमारती तथा जलाने की लकड़ी देते हैं।
(२) चारेवाले क्षेत्र।
(३) वे क्षेत्र जिन्हें आसानी से खेतों में परिवर्तित किया जा सकता है।

निष्कर्ष—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि भारत की वन सम्पत्ति अतुल है किन्तु यह होते हुए भी अभी हमें विदेशों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। हमारे वन हमें बहुमूल्य सम्पत्ति देते हैं, उनसे हमें उत्तम वस्तुएँ प्राप्त होती हैं किन्तु जितना दूसरे देशों में वनों की सम्पत्ति का उपयोग किया जाता है वैसा हम लोग नहीं कर पाते। सरकारी वन-विभाग वनों की सम्पत्ति को अधिक से अधिक तथा अच्छे से अच्छे ढंग से प्रयुक्त करने में प्रयत्नशील हैं किन्तु अभी इस दिशा में बहुत काम करना बाकी है। देश में बहुत से तो ऐसे वन हैं जिनसे हमारे वन-विभाग परिचित ही नहीं हैं। बहुत से ऐसे वन हैं जिनमें गमनागमन की सुविधा ही नहीं। ऊँचे स्थानों पर स्थित जंगलों से मैदानों में लकड़ी लाने की कोई व्यवस्था नहीं। अभी तो हमारा वन-विभाग बहुत सी लकड़ियों के विषय में यह नहीं जानता कि उनका प्रयोग किस विषय में होना चाहिए। हमारे वनों में प्रायः वे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं जिनकी हमें उद्योग-धन्धों के विकास में काफी आवश्यकता है। अब आवश्यकता इस बात की है कि वनों की उन्नति में यथेष्ट ध्यान दिया जावे। जैसा कि अभी वन प्रदेश का क्षेत्र पर्याप्त नहीं है, नए वनों की स्थापना की जानी चाहिये। वनों की उन्नति करने से हम अपने कई उद्योग-धन्धों की उन्नति कर सकेंगे।

भारत के खनिज पदार्थ—देश के अधिकांश व्यक्तियों की अपनी खनिज सम्पत्ति के विषय में भ्रमपूर्ण धारणा है। कुछ लोग यहाँ से उत्पन्न होने वाले खनिज पदार्थों की उत्कृष्टता, तथा उसकी बहुलता का बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अनुमान लगाते हैं। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारी खनिज सम्पत्ति इतनी अतुल और अनन्त नहीं है जितना कि लोग प्रायः अनुमान लगाते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि हमारे यहाँ खनिज पदार्थों की उत्पत्ति कम या अपर्याप्त है। यह हमारे लिए गौरव की बात है कि अपना देश इस क्षेत्र में भी धनी है।

वी० बाल महोदय ने अपनी 'एकनामिक ज्योलाजी (Economic Geology)' नामक पुस्तक में मेगस्थनीज के भारत के खनिज पदार्थ सम्बन्धी विचार वर्णित किए हैं जिसके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है भारत के भूगर्भ में सब प्रकार की धातुएँ यथेष्ट मात्रा में विद्यमान हैं। बाल महोदय ने मेगस्थनीज के इस कथन का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त १९१८ में स्थापित औद्योगिक आयोग (Industrial Commission of 1918) की रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो गया है कि भारत में खनिज सम्पत्ति पर्याप्त मात्रा में है, जिसके द्वारा यहाँ के मूल उद्योग-धन्धों को सरलता से चलाया जा सकता है। हाँ वे उद्योग जो निकल, वैंडम आदि पर निर्भर करते हैं। उनके लिए अवश्य हमें दूसरे देशों पर ही निर्भर रहना होगा।

वर्तमान अन्वेषणों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि यद्यपि भारत की खनिज सम्पत्ति अतुल और अनन्त नहीं है किन्तु वह इतनी अवश्य है जो हमें बहुत से उद्योग-धन्धों के चलाने में अच्छी सहायता प्रदान कर सकती है।

भारत में प्रायः सभी प्रकार के खनिज पदार्थ प्राप्य हैं। कहना न होगा यदि इस दिशा में और प्रयत्न किया जावे तो भारत अपनी खनिज पदार्थ की सभी आवश्यकताओं के लिए स्वावलम्बी हो सकता है। भारत में निम्नलिखित मुख्य खनिज पदार्थ पाए जाते हैं—

(१) लोहा (Iron)
(२) तांबा (Copper)
(३) मैंगनीज (Manganese)
(४) सोना (Gold)
(५) चाँदी (Silver)
(६) शीशा (Lead)
(७) क्रोमाइट (Chromite)
(८) अबरख (Mica)
(९) कोयला (Coal)
(१०) तेल (Petroleum)
(११) जिप्सम (Gypsum)
(१२) फुलर्स अर्थ (Fullers Farth)
(१३) बाक्साइट (Bauxite)
(१४) हीरा (Diamond)
(१५) वेल्सफार (Felspar)
(१६) नीला थोथा
(१७) मैंगनेसाइट (Magnesite)
(१८) टंग्स्टन (Tungsten)
(१९) ग्रेफाइट
(२०) अस्बैस्टस (Asbestos)
(२१) नमक (Salt)

भारत के विभाजन से हमारी खनिज सम्बधी स्थिति को विशेष हानि नहीं पहुँची है, हाँ पाकिस्तान के हाथ से अवश्य मुख्य-मुख्य खनिज पदार्थ निकल गए हैं। लोहा, ताँबा, मैंगनीज, अभ्रक जैसे महत्त्वपूर्ण खनिज पदार्थ अब उसके क्षेत्र में नहीं रहे हैं।

अभी तक भारत के खनिज धन्धों का सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि यहाँ की खानों से खनिज पदार्थों को अच्छे ढंग से निकाला नहीं गया है। यद्यपि गत दो महायुद्धों ने लोगों का कुछ ध्यान इस ओर आकृष्ट किया परन्तु अभी इस दिशा में बहुत ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त यहाँ से कच्चे माल का बराबर निर्यात होता रहा है, इसका प्रभाव देश की आर्थिक दशा पर अच्छा नहीं पड़ा। आवश्यकता इस बात की है कि हम विदेशों को खनिज पदार्थ भेजने के प्रलोभन में न पड़ें, ऐसा करने से हमारे यहाँ इन पदार्थों की कमी हो सकती है, दूसरे यदि विदेशों को काफी खनिज सम्पत्ति भेज दी गई तो यहाँ की खानें काफी खाली हो जायँगी। एक बार खानों के खाली हो जाने पर उन्हें भरा नहीं जा सकता। इसलिये इस ओर बड़ी सावधानी से कार्य करना है। हमें उतने ही पदार्थ खानों से निकालने चाहिये जिनकी हमें आवश्यकता हो। खनिज पदार्थों का हमें दुरुपयोग नहीं करना चाहिये।

भारत में उत्पन्न होने वाली खनिज सम्पत्ति का औसत मूल्य प्रायः ४० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष होता है। यहाँ हम देश के मुख्य-मुख्य खनिज पदार्थों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

लोहा (Iron)—यदि कोई देश अपनी औद्योगिक उन्नति के लिये किसी देश का दास नहीं रहना चाहता तो उसे यंत्रादि बनाने वाली धातुओं में स्वावलम्बी होना अनिवार्य है। इस दृष्टि से लोहे का महत्त्व काफी है। एशिया भर में भारत लोहे की दृष्टि से काफी धनी देश है। भूगर्भवेत्ताओं का तो यहाँ तक कहना है कि भारत में संसार के सभी देशों से अधिक तथा बढ़िया लोहा विद्यमान है। भारत के बहुत से भागों में लोहे की खाने पाई जाती हैं किन्तु बंगाल, बिहार, उड़ीसा में लोहे की बहुत सी खानें हैं। सिंह भूमि, क्योंझर, बोनाई, मयूरगंज, बंगाल, मैसूर आदि में लोहा अनन्त राशि में भरा पड़ा है। ये खानें संसार की लोहे की खानों में से अत्यन्त धनी खानें हैं। सौभाग्यवश लोहे की खानों के समीप ही कोयले की खानें हैं जिससे हमें लोहा गलाने में काफी सुविधा होती है। भारत वर्ष की लोहे की खानें भारत में ही हैं, पाकिस्तान में लोहे की खानें नहीं हैं। सिरिल फाक्स के अनुसार भारत की खानों का लोहा गुण तथा परिमाण दोनों में संयुक्त राज्य अमरीका से श्रेष्ठ है। सन् १९४७ में भारत में साधारण लोहा ६.६२ करोड़, फौलाद २१.२८ करोड़ तथा फेरो मैंगनीज ५७ लाख रुपये के मूल्य का उत्पन्न हुआ था।

तांबा—ताँबा मुख्य रूप से छोटा नागपुर, सिंह भूमि, राजपूताना, सिक्किम, कुलू तथा गढ़वाल में पाया जाता है। प्राचीन वृत्तान्तों से यह पता चलता है कि प्राचीनकाल में भारत में ताँबे का व्यवसाय बहुत उन्नत अवस्था में था। आजकल तो बहुत सी ताँबे की खानों का हम उपयोग ही नहीं कर पाते। बहुत सी खानें तो अनाज के खेतों के नीचे फैली हुई हैं। भारत का ताँबा उत्पन्न करने वाले देशों में तेरहवाँ नम्बर है। सन् १९४७ में लगभग ६० लाख रुपया के मूल्य का ताँबा भारत में उत्पन्न हुआ था।

मैंगनीज (Manguese)—एक समय सर्वोत्कृष्ट मैंगनीज उत्पन्न करने में भारत ही अगुआ था परन्तु वर्त्तमान काल में उसे रूस तथा दक्षिण अफ्रीका की मैंगनीज की खानों से काफी होड़ लेनी पड़ रही है। मैंगनीज बड़ी उपयोगी धातु है, यह प्रायः हर धन्धे में काम आती है परन्तु इसका उपयोग स्टील निर्माण में बड़ा होता है। अभी देश में स्टील या फौलाद का धन्धा काफी उन्नत नहीं है, इसलिये देश में उत्पादित मैंगनीज का एक बड़ा भाग विदेशों को भेज दिया जाता है। फौलाद के निर्माण के अतिरिक्त इसका उपयोग अन्य रासायिनक पदार्थों जैसे प्लास्टिक, वार्निश, तथा चिकनी मिट्टी के वर्तनों के बनाने में होता है। रूस के पश्चात् मैंगनीज उत्पन्न करने में भारत की गणना दूसरी श्रेणी में आती है। सन् १९४८ में भारत में ४,६७०० टन मैंगनीज उत्पन्न हुई थी, उस वर्ष केवल ६० हजार टन मैंगनीज का ही प्रयोग हुआ शेष विदेशों को भेज दी गई। मैंगनीज नागपुर, बालाघाट, मद्रास, छिंदवाड़ा, बम्बई प्रदेश के कुछ भाग में, मैसूर, मद्रास, बिहार तथा उड़ीसा में पाया जाता है। पाकिस्तान में मैंगनीज बिल्कुल नहीं होता।

सोना (Gold)—प्राचीन काल में भारत अपनी बहुमूल्य खनिज सम्पत्ति के लिये संसार में प्रसिद्ध था। वह 'सोने की चिड़िया' के नाम से जगत में विख्यात था। वर्तमान काल में उसकी इन चीजों की उत्पत्ति बहुत नहीं हैं। सोना भी इन्हीं वस्तुओं में से है। संसार में जितना सोना उत्पन्न होता है उसका केवल दो प्रतिशत भारत में होता है। देश में उत्पन्न होने वाले सोने में से मैसूर की कोलार की सोने की खानों से हमें ९९ प्रतिशत सोना प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त, हैदराबाद मद-रास, अनन्तपुर, बिहार, छोटा नागपुर में तथा कुछ अंशों में आसाम में भी सोना मिलता है।

चाँदी—यद्यपि भारतवर्ष में अधिक चाँदी नहीं होती तो भी वह संसार में सबसे बड़ा चाँदी को प्रयुक्त करने वाला देश है। वर्ष में लगभग १०,०००,००० पौंड की चाँदी विदेशों से भारत में आती है। अभी चाँदी की कोई खान भारत में नहीं खोज निकाली गई है। भारत में यह सोने और शीशे के साथ उपोत्पत्ति के रूप में प्राप्त होती है।

शीशा—शीशा मद्रास, राजस्थान तथा बिहार के मनाभूम व हजारीबाग जिलों में पाया जाता है। कुल मिलाकर भारत में शीशे की उत्पत्ति बहुत थोड़ी है।

अबरख (Mica)—अबरख अजमेर, त्रावनकोर, मैसूर, हजारीबाग, मद्रास में नेलोर तथा नीलगिरी जिलों के क्षेत्र में पाया जाता है। आज के युग में जब कि दिनोंदिन बिजली का प्रचार प्रसार बढ़ता जा रहा है अबरख विशेष महत्त्व रखता है। बिजली के सामान बनाने में अबरख बड़ा उपयोगी होता है। यह रबर के धन्धे में, रेडियो तथा वायुयान-निर्माण में प्रयुक्त किया जाता है। संसार में जितना अबरख उत्पन्न होता है उसका ७५ प्रतिशत अबरख भारत में उत्पन्न होता है। परन्तु भारत में अबरख की खपत अधिक नहीं है, इसलिये अधिकांश अबरख का निर्यात कर दिया जाता है।

क्रोमाइट (Chromite)—प्रकृति ने भारत को यह भी अत्यन्त उपयोगी खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में प्रदत्त किया है। यह युद्ध में बहुत काम आता है। इसी क्रोमाइट से क्रोमियम नमक तैयार किया जाता है जो चमड़ा रंगने में प्रयुक्त होता है। हम लोग औद्योगिक दृष्टि से बहुत

पिछड़े हुए हैं, इसलिए भारत में इसकी खपत बहुत नहीं है। उसकी उत्पत्ति का एक बहुत बड़ा हिस्सा विदेशों को भेज दिया जाता है। हमारे यहाँ वर्ष में औसतन करीब ६,४६५ टन क्रोमाइट की खपत होती है। परन्तु जैसे-जैसे भारतवर्ष औद्योगिक उन्नति करता जायगा, भारत में मोटर-गाड़ियाँ और वायुयानों का निर्माण होता जायगा, क्रोमियम की खपत बढ़ती जायगी। भारत में सबसे अधिक क्रोमाइट मैसूर राज्य में पाया जाता है, इसके अतिरिक्त सिंह भूमि, मदरास तथा बम्बई के कुछ भागों में पाया जाता है।

बाक्साइट (Bauxite) अलमूनियम के धंधे में बाक्साइट का अत्यन्त उपयोग होता है। अलमूनियम का धन्धा तभी पनप सकता है जब कि देश में सस्ती जलविद्युत प्राप्त हो। भारत में यथेष्ट मात्रा में बाक्साइट प्राप्त होता है परन्तु अभी इसका उपयोग यहाँ अलमूनियम बनाने में विशेष रूप से नहीं किया गया है। बाक्साइट आसाम, मध्यप्रदेश, बड़ौदा, मदरास तथा बम्बई के कुछ भागों में हमें पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है।

अन्य खनिज पदार्थ—उपरोक्त खनिज पदार्थों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य पत्थर भारत के विभिन्न भागों में पाए जाते हैं, इनमें हीरा, पन्ना, नीलम मुख्य हैं। हीरा, अनन्तपुर बैलारी, क्रिश्ना, गंटूर तथा मदरास के गोदावरी डिवीजन में निकलता है। उड़ीसा, मध्यप्रदेश, बुन्देलखण्ड तथा मध्यभारत के कुछ भागों में भी हीरा निकलता है। इसके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के साधारण पत्थर जैसे ग्रेनाइट, बैसल, संगमरमर आदि होते हैं जिनका उपयोग इमारतें बनाने में होता है। भारतवर्ष में कई प्रकार की सुन्दर चिकनी मिट्टी भी पाई जाती है जो तरह-तरह के बर्तन तथा अन्य वस्तुएँ बनाने में प्रयुक्त की जाती है। चीनी मिट्टी उत्तरी गोंडवाना, बंगाल, सिंहभूमि, मैसूर, दिल्ली और जबलपुर में मिलती है। इसके पश्चात् हमें बड़ौदा तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में विभिन्न प्रकार की बालू मिलती है जो कांच की वस्तुएँ बनाने के काम में आती है।

देश की खनिज सम्पत्ति पर एक दृष्टि—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि भारत की प्रकृति काफी धनी है। उसके पृथ्वी के गर्भ अनेक बहुमूल्य धातुएँ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। हमारे प्राकृतिक साधन हमारे अनुकूल हैं। कहना न होगा कि निकट भविष्य में आर्थिक जगत में भारतवर्ष एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगा। कम से कम हमारे चार खनिज पदार्थ - अबरख, मैंगनीज, इलमेनाइट, और मोनोज़ाइट संसार के प्रमुख उद्योग-धंधों के लिए बड़े ही अनिवार्य तथा आवश्यक हैं। परन्तु खेद की बात है इन खनिज पदार्थों का अधिकांश कच्चे रूप में विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। हम अभ्रक (Mica Splittings) के टुकड़ों से माइकानाइट, मोनोजाइट से सीरियम तथा इलमेनाइटसे श्वेत टिटैनियम तैयार कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि हमारे उद्योग-धन्धे और विकसित हो जायँ तो हम ४३ विभिन्न प्रकार के कच्चे खनिज पदार्थों का अच्छा प्रयोग कर सकते हैं। बाक्साइट, क्रोमाइट, जिप्सम, चूना, टिटैन्टियम, टंगसटन तथा वैनडियम आदि का हम अपने उद्योग-धन्धों में अच्छा उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार हमारे प्राकृतिक साधन देश के औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त हैं। हम अपने इन प्राकृतिक साधनों की सहायता से देश के औद्योगिक नव-निर्माण में अच्छी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अब देश स्वतन्त्र है, हमारी राष्ट्रीय सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी खनिज सम्पत्ति का अधिक से अधिक मात्रा में उपयोग अपने देश में ही करें, विदेशों में अपने इन पदार्थों को कच्चे रूप में भेजने की अपेक्षा, उनका यहाँ पर सदुपयोग करना देश के लिए हितकर होगा।

अभी हाल में भूगर्भ विभाग को अधिक सुसंगठित करने की ओर सरकार ने क्रियात्मक कदम उठाया है जिसके द्वारा भारत की खनिज सम्पत्ति का और भी पता लगाया जा सके तथा देश का औद्योगिक और आर्थिक विकास किया जा सके। दिल्ली में एक खनिज सूचना ब्यूरो (Mineral

Bureau) की भी स्थापना की गई है। यह ब्यूरो खनिज पदार्थ सम्बन्धी प्रयोग करके औद्योगिकों को खनिज सम्पत्ति विषयक मामलों में उचित परामर्श देगा।

शक्ति के साधन—किसी भी देश का औद्योगिक विकास उस देश के शक्ति के साधनों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। अतएव हम इस दृष्टि से विचार करेंगे कि भारत में ये साधन किस सीमा तक तथा किस रूप में उपलब्ध हैं।

शक्ति प्राप्त करने के कई साधन हैं। जैसे लकड़ी, वायु, जल, अलकोहल, तेल और कोयला। वायु का प्रयोग यूरोप के नीदरलैण्ड में अधिक होता है, वहाँ की हवाई चक्कियाँ प्रसिद्ध हैं। भारत में शक्ति के रूप में इसका प्रयोग नहीं के बराबर है। शकर या चीनी के उद्योग में अलकोहल उपोत्पत्ति के रूप में उत्पन्न किया जाता है, परन्तु अभी इसका इस रूप में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। लकड़ी का प्रयोग प्राचीनकाल में बहुत होता था, परन्तु वनों का विनाश उसका भीषण परिणाम निकला। अतः औद्योगिकों को अन्य वस्तुओं की शरण लेनी पड़ी। अब हमें पेट्रोलियम, कोयला तथा जलशक्ति के ही साधन प्राप्त हैं।

पेट्रोलियम—भारतवर्ष से वर्मा के अलग हो जाने पर भारत में तेल बहुत कम रह गया है। पेट्रोलियम बहुत ही कम मात्रा में आसाम, बिलोचिस्तान, तथा पंजाब में मिलता है। आसाम से कुल ६८,०००,००० गैलन पेट्रोलियम प्राप्त होता है। १९४४ में कुल ९७.५ लाख गैलन पेट्रोलियम उत्पन्न हुआ था जिसमें १५.२ लाख गैलन पाकिस्तान के क्षेत्र में था। इस प्रकार हम देखते हैं भारत में पेट्रोलियम बहुत ही अपर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है। भारत अपनी आवश्यकता का केवल ५ प्रतिशत पेट्रोलियम ही उत्पन्न कर सकता है। विदेश से लगभग तीस करोड़ गैलन पेट्रोलियम प्रतिवर्ष आता है। विभाजन के परिणामस्वरूप पेट्रोलियम प्राप्त करने का हमारा हिमालय वाला स्रोत हमारे हाथ से निकल गया है। अब हमें केवल अपने पूर्वीय स्रोत—आसाम वाले प्रदेश—का ही सहारा है। इस प्रदेश में मुख्य तीन तेल स्रोत हैं—दिगबोई, बसापुंग, तथा हंसापुंग। सन् १९४८ में इसकी कुल उत्पत्ति ६५६ लाख गैलन हुई थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहाँ हमारी आवश्यकता से कितना कम पेट्रोलियम होता है। अभी हाल के अन्वेषणों से यह आशा की जाती है कि उत्तरी भारत में पेट्रोलियम के और स्रोतों के मिलने की सम्भावना है।

कोयला—कोयला हमारी यांत्रिक शक्ति का मुख्य साधन है। हमारे वर्त्तमान उद्योग धन्धों को कोयला कई प्रकार से सहायता पहुँचाता है। भारत में यह अनुमान लगाया गया है कि यहाँ लगभग ६०,०००,०००,००० टन कोयला है, परन्तु इसका ⅚ भाग इतने गहरे में है कि सरलता से नहीं निकाला जा सकता। सन् १९४९ में भारत में ३१,५००,००० टन कोयला उत्पन्न हुआ था जब कि अमरीका में ४५६,०००,००० टन तथा बेलजियम जैसे छोटे प्रदेश में २६,०००,००० टन की उत्पत्ति हुई थी। यद्यपि राष्ट्रमंडलीय देशों में कोयला उत्पन्न करने में भारतवर्ष का दूसरा तथा संसार में नवाँ नम्बर है तो भी देश की विशालता को देखते हुए हमारा यह साधन बहुत ही सीमित है। अपने देश के कोयले में नमी और राख अधिक होने के कारण वह अच्छे किस्म का नहीं होता। इसके अतिरिक्त कोयले का वितरण भी देश में ठीक नहीं है। कोयले की समस्या मुख्य कर उसके उत्पादन से सम्बन्ध नहीं रखती वरन् उसके वितरण से या उसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुविधापूर्वक भेजने से सम्बन्ध रखती है।

हमारे देश में न तो इंगलैण्ड की भाँति कोयले की खानें समुद्र के किनारे हैं और न जर्मनी की भाँति नदियों के बेसिन में। भारी पदार्थ होने के कारण कोयला रेल मार्ग द्वारा ही भेजा जा सकता है. परन्तु रेल द्वारा भेजने में काफी व्यय पड़ता है।

भारत में कोयला निम्नलिखित स्थानों में पाया जाता है—

बंगाल—रानीगंज।

बिहार-उड़ीसा—झरिया, गिरीडीह, राजमहल, पहाड़ियाँ, पालमऊ, रामगढ़ तथा उत्तरी व दक्षिणी कर्णपूर आदि।

मध्यभारत—उमरिया, सोहागपुर, सिंगरौली।

मध्यप्रदेश—मोहयानी, शाहपुर, पंचधारी, भूतमाल, बल्लालपुर।

हैदराबाद—शस्ती, तांदूर व सिंगरैनी।

राजपूताना—बीकानेर।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में कोयला का वितरण उचित रूप में नहीं है। इतने विशाल देश में कोयला थोड़े से ही भाग में हैं जहाँ से सरलता से वितरित नहीं किया जा सकता। कोयला एक भारी पदार्थ है अतः उसे औद्योगिक क्षेत्रों जैसे बम्बई तथा मद्रास में भेजने में बड़ा व्यय हो जाता है। इन क्षेत्रों में कोयले के अभाव के कारण वहाँ के उद्योग-धन्धों को आसानी से चलाने में कठिनाई पड़ती है।

इधर हम प्रायः इस बात को सुनते चले आ रहे हैं कि निकट भविष्य में भारत में कोयले का बड़ा अभाव हो जायगा। सन् १९३४ में डा० सी० एस० फाक्स ने यह अनुमान लगाया था कि भारत में सुरक्षित कोयला ५,०००० लाख टन है। १९३७ में भारतीय कोयला समिति (Indian Coal Committee) ने यह अनुमान लगाया कि भारत में अच्छा कोयला १२२ वर्ष तक तथा साधारण कोयला ६२ वर्ष तक चलेगा। एक अन्य विशेषज्ञ ने अभी हाल में यह कहा है कि नियंत्रणों के होते हुए भी इसी शताब्दी के अन्त में भारत में अच्छे कोयले का अभाव हो जायगा।

कुछ भी हो अभी हमें कोयले की वास्तविक स्थिति के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है, हमें यह ठीक से पता नहीं कि भारत में वास्तव में अभी कितना सुरक्षित कोयला है। इसके अतिरिक्त खानों से कोयला निकालने की वर्त्तमान प्रणाली से केवल ५० प्रतिशत कोयला ही निकाला जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि खानों से कोयला निकालने की अच्छी प्रणाली अपनाई जाय, जिससे कोयले की खानों का जीवन भी अधिक बढ़ सके और हमें अधिक कोयला भी प्राप्त हो सके। वैसे तो भूगर्भवेत्ताओं का विचार है कि भारत में कोयले की कुछ और खानें हैं जिनके द्वारा हमें पर्याप्त मात्रा में कोयला प्राप्त हो सकता है, परन्तु हमें इसी आशा के सहारे नहीं पड़े रहना है। यदि हम अपने औद्योगिक विकास में कोयले से अच्छी सहायता लेना चाहते हैं तो हमें शक्ति के इस सीमित साधन की ओर यथेष्ट ध्यान देने की आवश्यकता है। हमारे देश में लोहे की इतनी बहुलता होने पर यदि हमें कोयले की कमी का सामना करना पड़ा तो यह हमारे लिए बड़े खेद की बात होगी। अतः हमें कोयले के उद्योग-धन्धे को अच्छा बनाने की ओर बड़े सावधान रहने की आवश्यकता है।

जल-विद्युत—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि भारत में शक्ति के साधन सन्तोष-जनक नहीं हैं, न तो यहाँ पर्याप्त मात्रा में पेट्रोलियम है, न कोयला और न लकड़ी। लकड़ी के लिये हम देख चुके कि देश में वनों की, जंगलों की स्थिति ठीक नहीं। यदि हमने जंगलों से लकड़ी काटकर काम चलाया तो हमारे जंगल शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे जिसका प्रभाव हमारे आर्थिक और सामाजिक जीवन पर बुरा पड़ेगा। जहाँ तक कोयले का सम्बन्ध है, भारत में कोयला कम ही नहीं है वरन् वह अच्छे किस्म का भी नहीं है। इसके अतिरिक्त वितरण की दृष्टि से भी उसका वितरण ठीक नहीं है, जो कुछ कोयला हमारे पास है वह बहुत सीमित मात्रा में ही है। पेट्रोलियम भी अपर्याप्त ही है। परन्तु यदि प्रकृति से हमें ये वस्तुएँ, शक्ति के ये साधन उचित रूप और प्रकार में नहीं प्राप्त हुए तो हमें

हतोत्साहित होने की विशेष आवश्यकता नहीं है, उसने हमें जलशक्ति के साधन पर्याप्त मात्रा में प्रदान किये हैं।

भारत में जलविद्युत के विकास की बड़ी सम्भावनाएँ हैं और वे प्रदेश जो कोयले की खानों से काफी दूर हैं, वहाँ तो शक्ति के इस साधन से लाभ उठाने में तो और भी सुविधा है। ऐसा अनुमान किया गया है कि संसार भर की जलशक्ति ५००, ०००, ०००, अश्वशक्ति के बराबर है। संयुक्त राज्य अमरीका की जलशक्ति ३८० लाख तथा भारत की २७० लाख अश्वशक्ति के बराबर मानी गई है। पिछले दस वर्षों में भारत की जलशक्ति दुगुनी हो गई है। संसार के कितने ही देश जैसे जापान, आस्ट्रेलिया, रूस, चीन आदि देशों की औद्योगिक उन्नति का मूल कारण इन देशों की विद्युत शक्ति का विकास ही है। आज संसार में जल विद्युत का प्रयोग क्रमशः बढ़ता जा रहा है। इसका परिचय हमें निम्नलिखित आंकड़ों से मिल जायेगा—

शक्ति के साधन	१९१३	१९२०	१९२५	१९३१
कोयला	८८·५%	८२·१%	७५·१%	६६·५%
पेट्रोलियम	७·२%	११·७%	१६·१%	२१·१%
जल शक्ति	४·३%	६.२%	८·४%	१२·४%
योग	१००%	१००%	१००%	१००%

इस भाँति यह स्पष्ट है कि कोयले का महत्त्व दिनोदिन घटता जा रहा है, उसका स्थान विद्युत ले रही है। विद्युत औद्योगिक उन्नति की आधारशिला तो है ही, साथ ही हमारी सिंचाई की योजनाओं से भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। फ्रांस में ६५%, जापान में ९०% तथा हालैंड में शत्-प्रतिशत खेतों को बिजली द्वारा सींचा जाता है। उन देशों में जलशक्ति द्वारा सिंचाई में बड़ी सहायता मिल रही है। भारत में भी पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा मदरास के कुछ ग्रामों में बिजली का सिंचाई के लिए अच्छा उपयोग किया जा रहा है।

विद्युत से आर्थिक लाभ—आज के मानव समाज के लिये बिजली या विद्युत एक बड़ी देन है। वर्त्तमान सभ्यता की यह प्रतीक एवं द्योतक है। प्रकाश सम्बन्धी हमारी घरेलू कठिनाइयों को दूर कर इसने हमारे गृहों की शोभा बढ़ाने में अपना अच्छा हाथ बटाया है। इसके अतिरिक्त इसने हमें कई सुविधायें प्रदान की हैं। उद्योगपतियों को तो यह वरदान-स्वरूप ही सिद्ध हुई है। उन्हें बड़े सस्ते में यह शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे उद्योगों का चलाना सुलभ हो जाता है। जितना व्यय पेट्रोलियम, कोयला या अन्य उपायों द्वारा शक्ति प्राप्त करने में होता है, उतना व्यय बिजली में नहीं। कितने ही औद्योगिक कार्यों के विकास का मार्ग बिजली ने प्रशस्त कर दिया है। बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका निर्माण इसके बिना होना असम्भव है। उदाहरणार्थ बाक्साइट (Bauxite) को ही ले लीजिये। इससे अलमूनियम बनाने में बिजली का ही सहारा लेना पड़ता है। बिजली हमारे उद्योग-धन्धों के प्रसार में एक प्रकार से 'सफर मैना' का कार्य करती है। यह लगभग ढाई सौ मील की दूरी तक आसानी से पहुँचाई जा सकती है जिससे दूर-दूर पर स्थित उद्योग-धन्धे सुगमता से चलाए जा सकते हैं। बिजली के द्वारा ऋतु-परिववर्त्तन कर हम अपने दैनिक जीवन को अधिक सुखमय बना सकते हैं। हम शिशिर की निष्ठुरता, तथा ग्रीष्म की प्रचंडता को सहज ही सहनशीलता एवं आनन्दमय रूप में परिवर्तित कर लेते हैं जिससे हमारे श्रम की कुशलता में वृद्धि होती है।

यह तो रही बड़े-बड़े नगरों की बात, ग्रामों में भी ग्रामोद्योगों की स्थापना करने में, छोटे घरेलू उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए बिजली बड़ी उपयोगी है। यातायात में भी यह हमें अच्छी सहायता पहुँचा सकती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि बिजली ने सिंचाई में भी हमारी अच्छी सहायता की है।

इसके अतिरिक्त हम बिजली के द्वारा अपनी कृषि को उन्नत कर, कृषक के जीवन को सुखमय बनाकर, ग्रामोत्थान कर सकते हैं। इस प्रकार बिजली हमारे आर्थिक जीवन के लिए ही उपयोगी नहीं है। वरन यह हमारी आर्थिक उन्नति की आधार शिला है। यही कारण है कि आज उसका महत्त्व बढ़ता चला जा रहा है। आज संसार जितना शक्ति का प्रयोग करता है, उसका १२.५ प्रतिशत भाग जल विद्युत के द्वारा ही प्राप्त हो रहा है।

भारत में जल विद्युत—जल विद्युत के विचार से भारत काफी समृद्धशाली देश है। अभी तक भारत में जलशक्ति का अच्छा उपयोग कर उसे उन्नत करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। देश में जितनी जलशक्ति उत्पन्न हो सकती है उसका केवल दो प्रतिशत ही उत्पन्न किया जाती है।

यहाँ सबसे पहले १८९७-९८ में दार्जिलिंग में जलविद्युत शक्ति-गृह की स्थापना की गई। इसके पश्चात् मैसूर राज्य में कावेरी नदी के तट पर एक और शक्ति-गृह स्थापित किया गया। इस समय बम्बई राज्य में तीन जलशक्ति गृह हैं—लोनवला, आंध्र घाटी, तथा नीलमुला। इनसब की मिली हुई शक्ति २४६००० घोड़ों के बराबर है। इन शक्ति-गृहों द्वारा बम्बई की मिलों को बड़े सस्ते दाम पर बिजली प्राप्त होती है। दक्षिण में नीलगिरी पहाड़ियों में स्थित 'पायकरा' शक्ति-गृह, राष्ट्रमंडलीय देशों में सबसे बड़ा शक्ति-गृह है। इसके द्वारा यहाँ की मिलों को खूब बिजली प्राप्त हो रही है। ६० प्रतिशत विद्युत शक्ति तो यहाँ की कपड़ों की मिलों में ही खप जाती है। इसके पश्चात् मेतूर का जलविद्युत गृह है जो संसार में अपने प्रकार के गृहों में सबसे बड़ा है। इसके अतिरिक्त मद्रास में अनोली, कारतेरी, मुनार की जलविद्युत योजनाएँ भी चल रही हैं। पंजाब में मंडी का जलविद्युत गृह भी बड़ा कारखाना है। उत्तर प्रदेश में गंगा नहर की जलविद्युत योजना इस राज्य के प्रमुख नगरों को सहायता पहुँचा रही है। यहाँ जल-प्रपातों से बिजली उत्पन्न की जाती है। इसके अतिरिक्त मेरठ के निकट 'भोला' तथा बुलन्दशहर के पास 'पालरा' शक्ति गृह हैं। कश्मीर में झेलम नदी के तट पर बरामूला शक्ति गृह है जिसकी शक्ति २६,००० घोड़ों के बराबर है।

भारत में जलविद्युत का विकास और उसका भविष्य—भारत में अतुल जल-शक्ति होते हुए भी उसकी स्थिति संतोषजनक नहीं है। भारत में अधिकांश नगरों और ग्रामों में बिजली का प्रचार नहीं है। केवल थोड़े से नगरों और कस्बों में ही बिजली पहुँच सकी है। कलकत्ता तथा बम्बई जैसे नगरों में जहाँ कि देश की कुल जन संख्या का केवल एक प्रतिशत ही है वहाँ भारत में उत्पादित बिजली का ५० प्रतिशत बिजली खप जाती है, शेष ५० प्रतिशत भारत की ९९% जनता प्रयोग करती है। जब भारत में जलविद्युत योजना का श्रीगणेश हुआ था, उसके तीन वर्ष पश्चात् कैनाडा ने जलविद्युत का विकास करना प्रारम्भ किया। आज उसकी जलशक्ति हमसे १५ गुनी अधिक है, संयुक्त राज्य अमरीका की २९ गुनी, तथा सोवियत रूस की जलशक्ति यहाँ से ४५ गुनी अधिक है। फ्रान्स, स्विटजरलैण्ड, नार्वे, स्वीडेन और जापान जैसे छोटे-छोटे देशों की जलशक्ति ५ से लगाकर १० गुना तक है। भारत में वर्ष भर में जितनी बिजली का प्रयोग होता है, उतना अमरीका में एक सप्ताह में। जितनी शक्ति भारत में उत्पन्न की जाती है, उसका ४२ प्रतिशत कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद तथा कानपुर इन चार बड़े नगरों में जिनकी जन संख्या देश की जनसंख्या की कुल १½ प्रतिशत ही है, प्रयोग की जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस क्षेत्र में भी हम अभी काफी पिछड़े हुए हैं।

कुछ नवीन योजनाएँ—भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर हमारी राष्ट्रीय सरकार देश के आर्थिक उत्थान के लिए जलशक्ति उत्पादन की भी कई योजनाएँ बनाईं। इन योजनाओं को कार्य-

रूप में परिणित किया जा रहा है, आशा है निकट भविष्य में देश इस दिशा में अच्छी प्रगति कर लेगा। हम यहाँ पर इनमें से प्रमुख योजनाओं पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

दामोदर घाटी योजना—पश्चिमीय बंगाल में दामोदर घाटी योजना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके निर्माण में लगभग ५५ करोड़ रुपए व्यय होंगे, निर्मित हो जाने पर यह तीन लाख किलोवाट की बिजली उत्पन्न करेगी। इससे लगभग ७½ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई हो सकेगी। भारत सरकार ने एक कानून पास किया है जिसके द्वारा एक स्वतन्त्र दामोदर घाटी संस्था का निर्माण किया गया है।

तुंगभद्रा योजना (मदरास)—इस योजना का मुख्य कार्य तुंगभद्रा नदी के ऊपर १६० फीट लम्बा बाँध तैयार करना है। बाँध तैयार हो जाने पर यहाँ ७० हजार किलोवाट की बिजली उत्पन्न की जायगी जिसके द्वारा लगभग ५ लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी।

महानदी घाटी योजना (उड़ीसा)—इसके अन्तर्गत हीराकुण्ड बाँध, नार बाँध, तथा तिकरपारा बाँध की योजनाएँ आती हैं। इनमें से हीराकुण्ड योजना को आजकल कार्यान्वित किया जा रहा है। जिसके अनुसार सम्बलपुर के निकट लगभग डेढ़ सौ फीट ऊँचा एक बाँध बनाया जा रहा है जो महानदी के तेज प्रवाह को रोककर लगभग २ लाख किलोवाट की विद्युत उत्पन्न करेगा। इसके द्वारा क़रीब ५ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की व्यवस्था हो सकेगी।

भाकरा बाँध योजना (पूर्वी पंजाब)—इस योजना का मुख्य अंग, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है सतलज नदी के तट पर सीमेंट का विशाल एवं सुदृढ़ बाँध निर्माण करना है। इसके पूरा होने में लगभग ७ वर्ष लगेंगे। यह अनुमान किया गया है कि करीब ७० करोड़ रुपए इसमें व्यय हो जायँगे।

नांगल बाँध योजना (पूर्वी पंजाब)—यह योजना पूरी हो जाने पर पंजाब के ६७ नगरों को विद्युत शक्ति पहुँचायगी। यह भी आशा की जाती है कि इस विद्युत का उपयोग देहली से अमृतसर तक बिजली की गाड़ियाँ चलाने में भी हो सकेगा। योजना के पूर्ण हो जाने पर प्रायः ४,००,००० किलोवाट की बिजली उत्पन्न की जा सकेगी।

उत्तर प्रदेश में जलशक्ति के उत्पादन के लिए कई योजनाएँ निर्मित की गई हैं जिनमें से गढ़वाल जिले की मरोरा बाँध, तथा गंगा बाँध योजनाएँ तथा मिर्जापुर की रिहंड योजना मुख्य हैं। इनके द्वारा इस प्रदेश में विद्युत का यथेष्ट प्रसार हो सकेगा।

इनके अतिरिक्त कोसी बाँध योजना, ताप्ती घाटी योजना, नर्वदा घाटी योजना, साबरमती बाँध योजना, ब्रह्मपुत्र घाटी, उत्तर प्रदेश की नायर बाँध योजना आदि को पूर्ण करने की ओर क्रियात्मक कदम उठाया जा रहा है।

आशा है निकट भविष्य में हमारी ये योजनाएँ पूरी होकर भारत में जल-विद्युत का प्रचार और प्रसार करने में अच्छी सहायता प्रदान करेंगी। जल-विद्युत के प्रसार से बड़े-बड़े उद्योगों, तथा कुटीर उद्योगों का विकास हो सकेगा, इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा लाभ तो इन धन्धों के विकेन्द्रीकरण का होगा। इन योजनाओं के सफल हो जाने पर देश के औद्योगिक इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ जायगा, भारत भी अन्य देशों के समान अपना औद्योगिक विकास करने में समर्थ हो सकेगा, उसकी आर्थिक उन्नति का मार्ग खुल जायगा।

धनी देश में निर्धन मनुष्य—पिछले पृष्ठों में हमने देश की भौगोलिक परिस्थिति तथा प्राकृतिक साधनों पर प्रकाश डाला। देश के प्राकृतिक साधनों, खनिज पदार्थों, शक्ति के साधनों आदि को देखकर कोई व्यक्ति बिना किसी संशय या सन्देह के यह कह सकता है कि भारत की प्रकृति

धनी है, देश को प्रकृति द्वारा अच्छे साधन प्रदान किए गये हैं। प्रकृति की सबसे बड़ी देन हिमालय का पर्वतीय प्रदेश हमारी उन्नति का एक बहुत बड़ा साधन है। सिन्ध-गंगा के विशाल समतल मैदान की उर्वरा भूमि, अन्न का भंडार है। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में पाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की जलवायु हमारी आर्थिक उन्नति में सहायक हो सकती है। हमारी खनिज सम्पत्ति भी अतुल है, हाँ देश में कोयले का अभाव अवश्य है किन्तु प्रकृति ने हमें अच्छी जलशक्ति प्रदान कर हमारे उस अभाव की भी पूर्ति कर दी है। यहाँ मानवीय शक्ति का भी अभाव नहीं है, आए दिन हम अपनी जनसंख्या में वृद्धि देख रहे हैं। भौगोलिक दृष्टि से भी हमारा देश कोई बुरी स्थिति में नहीं है। इस प्रकार देखने से पता चलता है कि भारत एक बड़ा ही समृद्ध, एक बड़ा ही सम्पत्तिवान, एक बड़ा ही धनी देश है।

परन्तु हमारी वास्तविक स्थिति तो इससे कहीं भिन्न है। देश में दरिद्रता का साम्राज्य फैला हुआ है, निर्धनता ने अपना स्थान सर्वत्र स्थापित कर रखा है, संसार का कोई भी देश भारत की निर्धनता का सामना नहीं कर सकता। इन सब बातों को देखकर बड़ा आश्चर्य होने लगता है कि हम प्राकृतिक क्षेत्र में इतने वैभवशाली, इतने धनी होते हुए भी इस निर्धनता की गोद में करवटें ले रहे हैं। हमारे साधन अच्छे होते हुए भी हम दरिद्रता के विकराल पाश में आबद्ध हैं, भुखमरी, कंगाली हमारा गला घोंट रही हैं। यहाँ हमें अपने देश की इस समस्या पर विचार नहीं करना किन्तु यह देखना है कि हमारी प्रकृति इतनी धनी होते हुए भी देश निर्धन क्यों है, हमारी इस निर्धनता का क्या रहस्य है।

(1) सबसे पहली वस्तु जो हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करती है वह यह कि यहाँ के लोगों ने प्रकृति के इस महत्त्व को ठीक से नहीं समझा; प्रकृति की इस देन से हमने पूरा-पूरा और उचित लाभ नहीं उठाया है। हमने अपने प्राकृतिक साधनों को बुरी तरह नष्ट किया है, उनका दुरुपयोग किया है, इन सब बातों पर हम पिछले पृष्ठों में प्रकाश डाल चुके हैं। डा० आर० के० दास ने अपनी पुस्तक 'भारत की औद्योगिक कुशलता' (Industrial Efficiency of India) में देश के प्राकृतिक साधनों की बरबादी पर काफी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार हम अपनी भूमि का केवल ३० प्रतिशत भाग ही कृषि के उपयोग में लाते हैं, शेष ७० प्रतिशत बेकार पड़ी हुई है। हम अपने वनों से भी केवल २५% लाभ उठा पाते हैं, जब कि ७५% बरबाद हो जाता है। लोहे का भी उत्पादन हम ठीक से नहीं कर पाते, उसका उत्पादन ११ प्रतिशत से कुछ ही ऊपर कर पाते हैं, जबकि इससे कहीं अधिक होना चाहिये। जलशक्ति का तो ९९% भाग हम उपयोग में ही नहीं लाते, उसे यों ही नष्ट हो जाने देते हैं। सब मिलाकर हम अपने प्राकृतिक साधनों से केवल २५% लाभ उठा पाते हैं, जब कि ७५% नष्ट हो जाता है।

(2) यही नहीं यहाँ पर मानवीय शक्ति का भी पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो पाता। अस्वस्थता, अशिक्षा, मूर्खता, बेकारी ने यहाँ अड्डा जमा रखा है। यदि हम १९२१ की जनगणना के आंकड़ों पर एक दृष्टि डालें तो हमें पता चल जायगा कि १७८० लाख मनुष्यों (जिनमें ९२० लाख पुरुष तथा ८७० लाख स्त्री सम्मिलित हैं) में से भारत ११४० लाख मनुष्यों के श्रम का उपयोग नहीं कर पाता, दूसरे शब्दों में कुल मानवीय शक्ति का ६४% वर्ष में नष्ट हो जाता है।

भूमि, श्रम, पूँजी का लगभग दो-तिहाई से भी अधिक बरबाद हो जाता है। इस प्रकार हम अपनी उत्पादन-शक्ति का केवल एक तिहाई ही प्रयोग कर पाते हैं, फिर यदि हम निर्धन हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

हमारी उत्पादक शक्ति के विनष्ट होने के कई कारण हैं, उनका सम्बन्ध हमारे आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन से है। हमारी संकीर्ण जातीयता, मूर्खता, अशिक्षा आदि सभी बातों का इसमें कुछ न कुछ हाथ है। हमारी अब तक की राजनैतिक परतन्त्रता ने भी हमारी निर्धनता को बढ़ाने में हिस्सा बटाया है। इसके अतिरिक्त हमारा धार्मिक कट्टरपन, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली भी हमारे आर्थिक पतन का कारण रही है।

अब पराधीनता की शृंखलाएँ टूट चुकी हैं। आशा है निकट भविष्य में स्वतन्त्र भारत अपनी इन त्रुटियों को, अपनी इन भूलों को दूर कर, अपने इन अभावों की पूर्त्ति कर एक समृद्ध तथा उन्नत देश बनने में समर्थ हो सकेगा।

तृतीय परिच्छेद

जनसंख्या

जनसंख्या का महत्व—किसी भी देश का आर्थिक उत्थान मुख्य रूप से दो वस्तुओं पर आधारित होता है—(१) उस देश के प्राकृतिक साधनों तथा (२) श्रम साधन पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रकृति और मनुष्य ये दो ही प्रधान आधार-स्तम्भ हैं, जिन पर किसी देश का वैभव, उसका औद्योगिक विकास, उसका आर्थिक उत्थान निर्भर करता है। किसी भी देश का उत्थान उस देश में रहने वाले मनुष्यों पर इतना अवलम्बित होता है कि बिना उस देश की जनसंख्या के विभिन्न अंगों पर भलीभांति विचार किए हुए भविष्य में उसके विकास की कोई निश्चित योजना बनाना संभव नहीं है।

भारत एक निर्धन देश है, अन्य कोई भी देश उसकी निर्धनता से समता नहीं कर सकता। यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय कितनी कम है, यह सभी जानते हैं। संसार के सभी देशों से यहाँ के निवासियों के रहन-सहन का स्तर भी निम्नकोटि का है। इस प्रकार भारतीय जनसमुदाय का सर्वांगीण जीवन निर्धनता के कराल पाश से आबद्ध है। इस निर्धनता को दूर कर देश को समृद्धशाली बनाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता भारत के आर्थिक जीवन को एक अच्छे एवं वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना है। परन्तु बिना देश में निवास करने वाले लोगों की संख्या, उनकी अवस्था, उनके व्यवसाय, उनके स्वास्थ्य, तथा स्त्री-पुरुषों के बीच के अनुपात आदि का अध्ययन किए हुए हम अपनी इस समस्या का कोई अच्छा हल नहीं निकाल सकते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अन्य देशों की भांति भारत के आर्थिक जीवन में भी जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़े—ऊपर हम देख चुके कि भारतीय आर्थिक जीवन में जनसंख्या अपना अलग स्थान रखती है, अतः उसका सम्यक अध्ययन करना, उसके विभिन्न अंगों पर भलीभांति विचार करना हमारे लिए अतीव आवश्यक है। परन्तु भारतीय जनसंख्या सम्बन्धी समस्या पर अध्ययन करने के पूर्व हमें यह भलीभांति ध्यान रखना चाहिये कि भारत की जनसंख्या के अध्ययन में कई कठिनाइयाँ हैं। सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि भारत में जनसंख्या सम्बन्धी सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़े प्राप्त करने का केवल एक ही साधन है—जनगणना की रिपोर्ट। भारत में जनगणना प्रति दसवें वर्ष होती है। दसवें वर्ष के उपरान्त में प्रकाशित इसी रिपोर्ट के आधार पर ही भारत की जनसंख्या समस्या पर कुछ विचार किया जा सकता है। इस प्रकार हमें प्रतिवर्ष की जनसंख्या की जानकारी का ज्ञान नहीं हो पाता, केवल दसवें वर्ष में कार्य करने वाली शक्तियों एवं प्रवृत्तियों के निष्कर्ष ही हमें प्राप्य होते हैं। इसके अतिरिक्त इन आँकड़ों के पूर्ण रूपेण सही होने में भी सन्देह रहता है। अन्य देशों में जनसंख्या के सब आँकड़े उचित रूप में प्राप्त होते हैं, वहाँ जन्म, मृत्यु तथा विवाह सम्बन्धी सब आँकड़े सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु भारत में ये आँकड़े या तो मिलते ही नहीं और यदि मिलते भी हैं तो वे इस योग्य नहीं होते कि उन्हें जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन का आधार बनाया जाय।

जनसंख्या सम्बन्धी समस्या को अध्ययन करने में हमारी दूसरी कठिनाई भारत की विशालता है। इसमें विभिन्न प्रकार की भौगोलिक परिस्थिति वाले प्रदेश पाए जाते हैं, जो अन्य बहुत सी बातों में एक दूसरे से भिन्न हैं। फलतः समस्त देश को ध्यान में रखते हुए हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते।

हैं, वे सब प्रदेशों के लिये पूर्ण रूपेण लागू नहीं हो सकते। अतएव भारत की जनसंख्या का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को देश की जनगणना सम्बन्धी इन दो कठिनाइयों को भलीभांति समझ कर, यहाँ की जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना चाहिये।

यों तो भारतवर्ष की जनगणना अभी हाल में सन् १९५१ में हुई है, किन्तु उसके अभी तक केवल प्रारंभिक आँकड़े ही आए हैं। अतएव अधिकांश स्थलों पर हम १९४१ की जनगणना के अङ्कों को ही आधार मानकर जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं का विचार करेंगे। सन् १९५१ की जनगणना के प्रारम्भिक आँकड़ों के अनुसार भारत की जनसंख्या ३६१८ लाख के लगभग है। इन आँकड़ों में जम्मू एवं काश्मीर तथा आसाम के कबायली क्षेत्र की अनुमानित जनसंख्या जो (क्रमशः ४३ लाख ७० हजार, तथा ५ लाख ६० हजार के लगभग आँकी गई है) भी सम्मिलित है उक्त दोनों क्षेत्रों को छोड़कर शेष भारत का क्षेत्रफल ११,३८,८१४ वर्गमील है औ जनसंख्या ३५,६८,९१,६२४ है, जिसमें १८,३३,८४,८०७ पुरुष हैं और १७,३५,०६,८१७ स्त्रियाँ हैं। सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार अविभाजित भारतवर्ष की जनसंख्या ३८,८९,९७,९५५ थी। विभाजन होने से जितना क्षेत्र भारत के हिस्से में आया है उसकी जनसंख्या सन् १९४१ में ३१,४८,३०,१९० ही थी। इस भांति गत दश वर्षों (१९४१ से १९५१ तक) में जनसंख्या में लगभग सवा चार करोड़ की वृद्धि अर्थात् १३·४ प्रतिशत जनसंख्या बढ़ी है।

जनसंख्या में वृद्धि—ऊपर हम बता चुके हैं कि विभाजन होने से जितना क्षेत्र भारत के हिस्से में आया है उसकी जनसंख्या सन् १९४१ में ३१,४८,३०,१९० थी और सन् १९५१ में यह बढ़कर ३५,६८,९१,६२४ हो गई। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि जनसंख्या की दृष्टि से भारत काफी संपन्न है। समस्त संसार की जनसंख्या का पाँचवाँ भाग भारत का है। दूसरे शब्दों में संसार का प्रत्येक पाँचवाँ व्यक्ति भारतीय है। पिछली अर्द्धशताब्दी में तो भारत की जनसंख्या में अनवरत वृद्धि हुई है। यह बात नीचे दी हुई तालिका से और स्पष्ट हो जायगी।

वर्ष	जनसंख्या (लाखों में)	घटी या बढ़ोतरी	घटी या बढ़ोतरी प्रतिशत में
१९०१	२३५५·०	...	...
१९११	२४९०·५	+१३५·५	+५·८
१९२१	२४८१·८	—८·७	—०·३
१९३१	२७५५·२	+२७३·४	+११
१९४१	३१४८·३	+३९३·१	+१४·३
१९५१	३५६८·९	+४२०·६	+१३·४

उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक दशाब्द से दूसरे दशाब्द तक की जनसंख्या में वृद्धि मन्द तथा अनियमित रही है। १८९१-१९०१ तक लाखों आदमी भुखमरी और महामारी के कारण काल के ग्रास बन गए, इससे जनवृद्धि में काफी अवरोध हुआ। १९०१-११ तक का समय कृषि की दृष्टि से काफी समृद्ध काल था। इसमें कृषि की खूब उन्नति हुई अतः जनता को अकाल आदि भयंकर प्राकृतिक दुर्घटनाओं का शिकार नहीं बनना पड़ा, फलतः जनसंख्या की वृद्धि का स्रोत अबाध गति से प्रवाहित होता रहा, उसमें कोई बाधा नहीं पहुँची। इसके पश्चात् १९११-२१ तक के समय में पुनः संक्रामक रोगों का दौर-दौरा हो गया, लाखों मनुष्य काल के गाल में चले गए। अतः इस दशाब्द में भी जनवृद्धि का स्रोत मन्द गति से बहा। १९२१ के पश्चात् से हम जनसंख्या की वृद्धि में उत्तरोत्तर विकास पा रहे हैं। इन दशाब्दों में जनसमुदाय प्रकृति के रोमांचकारी प्रकोपों का शिकार नहीं बना,

प्रकृति हमारी ओर कृपा-दृष्टि बनाए रही। इसके परिणाम स्वरूप १९३१-४१ में हमें जनसंख्या में १४.३ प्रतिशत की वृद्धि मिलती है। यह वृद्धि भारतवर्ष के विभिन्न भागों में प्रायः समान रही है। इस प्रकार गत बीस वर्षों में हमारी जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। गत दो दशाब्दों में हमारे देश की जनसंख्या में इतनी वृद्धि क्यों हुई इस पर हम आगे विचार करते हैं।

जनवृद्धि के कारण—भारत की जन संख्या में इस तीव्रगामी वृद्धि के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) १९३१ की जनगणना उस समय हुई थी जब कि देश में राजनैतिक अशान्ति फैली हुई थी, अतः कितने ही व्यक्ति जनगणना से छूट गए थे, और उनकी गणना नहीं हो सकी थी।

(२) सन् १९४१ की जनगणना के समय सारा देश जनगणना की ओर आकर्षित था, कोई भी व्यक्ति जनगणना से छूट नहीं जाना चाहता था।

(३) कुछ प्रदेशों जैसे पंजाब आदि में सिंचाई की नई योजनाओं से कितने ही ऐसे क्षेत्र जो आबाद नहीं थे, उनमें नई बस्तियाँ बस गईं। इन प्रदेशों में जनसंख्या में दिनोंदिन वृद्धि होती चली जा रही है। पश्चिमी बंगाल में भी कृषि की उन्नति ने जनवृद्धि में अच्छी सहायता पहुँचाई है।

(४) यद्यपि भारत में चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ अच्छी प्रकार सुलभ नहीं हैं। यहाँ पर औषधालयों, प्रसूति गृहों आदि का भारी अभाव है फिर भी पिछले वर्षों में इस दिशा में काफी प्रगति हुई और जनता को इस क्षेत्र में अच्छी सहायता प्राप्त हुई। फलतः मृत्यु संख्या आदि में भी कमी हुई।

(५) पिछले वर्षों में दैवी दुर्घटनाएँ, अकाल आदि के भीषण आघातों से जन समुदाय को विशेष हानि नहीं पहुँची जिससे मृत्यु संख्या में एक दम से वृद्धि नहीं हुई।

(६) उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त हमारे सामाजिक संगठन ने, हमारी धर्मान्धता ने, हमारी सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों ने भी हमेशा की तरह, बिना किसी रुकावट के जनवृद्धि में हाथ बँटाया है।

इन सब कारणों से पिछले दशाब्दों में हमारी जन संख्या में अनवरत वृद्धि हुई है।

जनसंख्या का घनत्व—जनसंख्या के घनत्व से हमारा तात्पर्य मनुष्य के प्रतिवर्ग मील निवास से है। एक वर्गमील क्षेत्रफल में जितने मनुष्य निवास करते हैं, वह संख्या जनसंख्या का घनत्व कहलाती है। भारतवर्ष एक विशाल देश है, यहाँ जनसंख्या का घनत्व एक राज्य से दूसरे राज्य में या एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में काफी भिन्न है। यदि एक प्रदेश में एक वर्गमील में काफी घनी आबादी है तो दूसरे में कम। उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश को ही ले लीजिए, वहाँ प्रति वर्गमील आप को केवल १६२ मनुष्य निवास करते हुए दिखलाई पड़ेंगे। इसके विपरीत यदि आप बंगाल की ओर बढ़ें तो वहाँ प्रतिवर्ग मील ८४० व्यक्ति बसे हुए मिलेंगे। यह भिन्नता क्यों है, एक ही प्रदेश की जनसंख्या में इतना अन्तर क्यों है? इसके कई कारण हैं। किसी भी देश की जनसंख्या का घनत्व कई बातों द्वारा प्रभावित होता है।

(१) सर्वप्रथम तो उस देश की जलवायु का जनसंख्या के घनी या बिखरी हुई होने पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अनुकूल तथा स्वस्थ जलवायु वाला प्रदेश अधिक लोगों को अपनी ओर आकर्षित करेगा, फलतः वहाँ की आबादी भी घनी होगी। यदि जलवायु प्रतिकूल है, जैसे कि आसाम में है तो वहाँ की जनसंख्या का घनत्व कम होगा, वहाँ की आबादी घनी नहीं होगी।

(२) जनसंख्या के घनत्व पर दूसरा प्रभाव वर्षा का होता है। भारत में जनसंख्या का घनत्व (जैसा कि अन्य देशों में भी है) वर्षा के वितरण पर भी निर्भर करता है। यदि वर्षा पर्याप्त मात्रा में, उचित समय पर उचित रूप में होती है, तो उसका प्रभाव चावल जैसे अन्न के उत्पादन पर

पड़ेगा और चावल एक उपयोगी अन्न है अतः यह एक बड़ी जनसंख्या के भरण-पोषण में सहायता पहुँचा सकता है। किन्तु हम वर्षा को ही सब कुछ नहीं मान सकते, देहरादून, शिमला, अल्मोड़ा जैसे पर्वतीय प्रदेशों में वर्षा पर्याप्त मात्रा में वर्ष में ६० से ८५ इंच तक होती है, परन्तु वहाँ प्रति वर्गमील जन संख्या का घनत्व कम है। उसी प्रकार आसाम में भी जहाँ वर्षा काफी होती है, वहाँ प्रति वर्गमील जनसंख्या का घनत्व केवल १८६ है। यही बात काश्मीर के सम्बन्ध में कही जा सकती है जहाँ की जनसंख्या का घनत्व केवल ४६ है।

ऐसे प्रदेशों में जहाँ वर्षा तो पर्याप्त मात्रा में होती है। किन्तु धरातल पर्वतीय तथा वनों से ढका हुआ है वहाँ चावल जैसे खाद्यान्न का अच्छा उत्पादन नहीं हो सकता। इस प्रकार कोई एक ही कारण का हम जनसंख्या के घनी या बिखरी हुई होने के लिए माप दण्ड नहीं मान सकते। वस्तुतः जनसंख्या को घनत्व कई कारणों द्वारा निश्चित होता है।

(३) सिंचाई की सुविधाओं से जिनके द्वारा कृषि का स्थायीकरण होता है, जनसंख्या की वृद्धि में आबादी के घनी होने में अच्छी सहायता पहुँची है। पंजाब की नहरों वाली बस्तियाँ अन्य जिलों की अपेक्षा अधिक घनी बसी हैं।

(४) यदि कोई देश आर्थिक दृष्टि से उन्नत अवस्था में है तो वहाँ आबादी घनी होगी, इसके विपरीत स्थिति वाले प्रदेश में जनसंख्या बिखरी हुई होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यापार तथा उद्योगधन्धों वाले प्रदेशों की आबादी काफी घनी होती है। बंगाल में जनसंख्या का घनत्त्व अधिक होने का मुख्य कारण यही है।

(५) इसके अतिरिक्त मिट्टी की उर्वराशक्ति का भी जनसंख्या के घनत्व पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। वे प्रदेश जहाँ की मिट्टी उर्वरा है, वहाँ घनी आबादी पाई जाई जाती है, इसके विपरीत जहाँ की मिट्टी उपजाऊ नहीं है जैसा कि राजस्थान में है वहाँ जनसंख्या बिखरी हुई होगी।

(६) जनसंख्या के घनत्व को निश्चित करने में सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण कारण पृथ्वी के धरातल का आकार-प्रकार है। भारत के उत्तर-पूर्व या उत्तर-पश्चिम वाले प्रदेश बिखरी हुई और कम आबादी वाले प्रदेश हैं, दूसरी ओर पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के समतल मैदान अच्छी तरह से घने रूप में आबाद हैं।

(७) इसके अतिरिक्त वे प्रदेश, जहाँ पर जन-धन की सुरक्षा की सुविधा है, वहाँ भी आबादी घनी होगी। वनों, सीमान्त प्रदेशों आदि में जहाँ जन-धन की सुरक्षा की उचित व्यवस्था नहीं है, जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है।

(८) इन सब कारणों के अतिरिक्त मानव का अपनी मातृभूमि के प्रति स्नेह भी जनसंख्या के घनत्व पर प्रभाव डालता है। मनुष्य जहाँ जन्म लेता है, उसे वहीं अच्छा मालूम पड़ता है, भले ही वहाँ जीवनयापन के लिए आवश्यक उपकरण प्राप्त हों अथवा नहीं। उसके अन्दर तो 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादीपि गरीयसी, की भावना कार्य करती है, जिसके कारण वह अपने जन्म स्थान के प्रति एक प्रकार का मोह सा अनुभव करता है, उसकी यह भावना उसे अपनी जन्मभूमि के छोड़ने में बाधा खड़ी करती है।

इस प्रकार किसी भी देश की जनसंख्या का घनत्व उपरोक्त बातों पर निर्भर रहता है।

भारत की जनसंख्या के घनत्व की अन्य देशों से तुलना—यदि हम भारत की जनसंख्या के घनत्व की तुलना कुछ अन्य देशों की जनसंख्या के घनत्व से करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत में ही नहीं वरन् अन्य देशों की जनसंख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। गत चार शताब्दियों में संसार की जनसंख्या में जो वृद्धि हुई, उसका परिचय हमें कार सान्डर्स के दिए हुए संसार की जनसंख्या सम्बन्धी आंकड़ों से लग जावेगा।

जनसंख्या (दस लाख में)

सन्	१६५० ई०	१७५० ई०	१८०० ई०	१८५० ई०	१९०० ई०	१९३३ ई०	१९३८ ई०
यूरोप	१००	१४०	१८७	२६६	४०१	५१९	४००
उत्तरी अमरीका	१	१·३	५·७	२६	८१	१३७	१४२
मध्य तथा दक्षिणी अमरीका	१२	११·१	१८·९	३३	६३	१२५	१०२
अफरीका	१००	९५	९०	१९५	१२०	१४५	१५५
एशिया	३३०	४७९	६०२	७४९	९३७	१,१२१	१,१३४

नीचे कुछ देशों में प्रति वर्गमील निवास करने वाले व्यक्तियों की जनसंख्या का घनत्व दिया जा रहा है—

देश	घनत्व	वर्ष
यू० के०	६८५	१९३१
बेलजियम	६५४	
जापान	३५१	
जर्मनी	४४३	
भारत	२४६	१९४१

ऊपर दी हुई इस तालिका में जिन देशों का नाम अङ्कित है वे औद्योगिक क्षेत्र में काफी बढ़ चुके हैं। अतः यदि वहाँ जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्गमील अधिक है तो उसके लिये विशेष चिन्ता की बात नहीं। यदि हम भारत की तुलना कृषि उद्यम वाले देशों से करें तो हमें अपनी जनसंख्या सम्बन्धी इस समस्या की गम्भीरता का पता चल जायगा। नीचे दिये हुये आंकड़े ऐसे ही देशों से सम्बन्धित हैं—

देश	घनत्व	वर्ष
फ्रान्स	१८४	१९३१
संयुक्त राष्ट्र अमरीका	४१	
न्यूजीलैण्ड	१२	
ईजिप्ट	३४	
भारत	२४६	१९४१

इस तालिका में दिए हुये देश मुख्यतः कृषि प्रधान देश हैं, इन देशों में भारत की जनसंख्या का घनत्व सबसे अधिक है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ भूमि के भार में भी वृद्धि होती चली जा रही है। इधर देश के कृषि के साधनों में कोई वृद्धि या विकास नहीं हुआ है। १९०१ से लेकर १९४१ के बीच में जनसंख्या में ३२ प्रतिशत की वृद्धि हुई है जब कि अन्नोत्पादन वाले क्षेत्र में केवल १३ प्रतिशत ही वृद्धि हुई। गत महायुद्ध (१९३९-४५) में हमें भयंकर खाद्य संकट का सामना करना पड़ा। इस जनसंख्या की वृद्धि के परिणाम स्वरूप और कृषि में कोई विशेष प्रगति न होने के कारण आज भी भारत में खाद्य संकट मूकवाचक प्रश्न के रूप में हमारे सन्मुख खड़ा है।

जनसंख्या के घनत्व का देश की समृद्धि से सम्बन्ध—ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि जहाँ तक हमारी जनसंख्या के घनत्व का सम्बन्ध है, हम संयुक्त राष्ट्र, बेलजियम, जर्मनी, जापान जैसे देशों की तुलना में आते हैं। इन देशों की भाँति भारत में भी प्रति वर्गमील जनसंख्या का घनत्व काफी है। इस महती जनसंख्या के होने से यह कहा जा सकता है कि इतनी बड़ी जनसंख्या अपने देश के प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग कर उनकी समृद्धि में सहयोग प्रदान

करेगी। परन्तु यदि कोई देश घना बसा हुआ है तो उसका यह तात्पर्य नहीं कि वह बड़ा वैभववा , बड़ा समृद्धशाली होगा। जनसंख्या के घनत्व को आर्थिक उत्थान का मापदंड नहीं माना जा सकता। यद्यपि संयुक्तराज्य अमरीका बहुत समृद्धशाली देश है किन्तु उसकी जनसंख्या का घनत्व तो बहुत ही कम केवल ४१ व्यक्ति प्रति वर्गमील ही है। न्यूजीलैण्ड में प्रति वर्गमील १२ व्यक्ति निवास करते हैं, किन्तु वहाँ के निवासी काफी धनी हैं। इसी प्रकार ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका की जनसंख्या के घनत्व में काफी असमानता है किन्तु दोनों देश समृद्धि के समान स्तर पर हैं। सब कृषिवाले देशों में भारत ही ऐसा देश है जिसकी जनसंख्या का घनत्व सबसे अधिक है। किन्तु इसकी अपेक्षा कि यह महान जनसंख्या हमारे ऐश्वर्य या वैभव में सहयोग प्रदान करे उल्टे हमारे सामने एक संकट उपस्थित किए हुये है।

नगरों तथा ग्रामों में जनसंख्या का वितरण—संतुलित आर्थिक स्थितिवाले देश में ग्रामों तथा नगरों में जनसंख्या का बंटवारा उचित रूप में होता है। नगरों या ग्रामों में से किसी एक ही स्थान में जनसंख्या के एकत्रीकरण से अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारत में जनसंख्या का वितरण बड़ा उपयुक्त था। उस समय हमारे गाँव स्वावलम्बी तथा स्वतंत्र थे, प्रत्येक ग्राम एक इकाई के रूप में अपने क्षेत्र का कार्य संचालन पंचायतों द्वारा करता था। नगर उद्योग-धन्धों, व्यापार तथा वाणिज्य के केन्द्र थे, इन नगरों में अपने अनुचरों अपने सहायक अधिकारियों से युक्त छोटे-बड़े राजा शासन किया करते थे। राजाओं द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त कर इन्हीं नगरों में ललितकलाएँ आदि विकसित हुआ करती थीं। इन नगरों को ग्रामों द्वारा खाद्यान्न प्राप्त होता रहता था और ग्रामों को यहाँ से कुछ तैयार माल मिल जाता था। ऐसे थे हमारे गाँव और नगर।

इधर युग ने अपनी करवट बदली, काल-चक्र ने अपनी गति में परिवर्त्तन किया। छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों, घरेलू धन्धों का स्थान बड़े-बड़े कारखानों ने ले लिया। नए-नए आविष्कारों से, अन्वेषणों, वैज्ञानिक यंत्रों से बड़े-बड़े यंत्रालयों की स्थापना से समाज के आर्थिक जीवन का ढाँचा बदल गया। पश्चिम की औद्योगिक क्रान्ति का सूर्य पूर्व में भी उदय हुआ, भारत भी झोपड़ियों से उठकर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं की ओर बढ़ने लगा। पराधीनता काल में यहाँ की शिल्पकला का, यहाँ के कुटीर उद्योग-धन्धों का गला घोंट दिया गया। अब यहाँ की जनता का मुख्य अवलम्ब कृषि ही रह गया। भारत एक कृषि-प्रधान देश कहलाने लगा, उसकी शिल्पकला की अलौकिकता का नाम-निशान भी न रहा।

सन् १६२१ में भारत की १०·२ प्रतिशत जनता नगरों में निवास करती थी, १६३१ में ११ प्रतिशत जब कि १६४१ में १२·८ प्रतिशत जनता नगरों की निवासी थी। विभाजन के पश्चात् १६४१ की जनगणना के आंकड़ों के आधार पर भारतीय संघ (जिसमें हैदराबाद तथा कश्मीर भी सम्मिलित है) के नगरों में देश की १३·६ प्रतिशत जनता रहती है तथा पाकिस्तान के नगरों में केवल ८.३ केवल प्रतिशत जनता रहती है। इस प्रकार भारत की लगभग ८७ प्रतिशत जनता अब भी गाँवों में रहती हैं। इसके विपरीत पश्चिमी देशों में नगरों की जनसंख्या ग्रामों की जनसंख्या से कहीं अधिक हैं। फ्रान्स में ५२ प्रतिशत जनता, तथा इंगलैण्ड में ८० प्रतिशत जनता नगरों में निवास करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनसंख्या का नगरों तथा ग्रामों में वितरण भी अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। किसी भी देश का आर्थिक उत्थान उस देश के नगरों की बढ़ती हुई जनसंख्या द्वारा काफी निर्देशित हुआ है। हमारी जनसंख्या का कितना कम भाग नगरों में निवास करता है, यह हमारी आर्थिक अवनति का द्योतक है। इससे यह पता चलता है कि हमारा देश

अन्य सभ्य देशों की तुलना में कितना पिछड़ा हुआ है। हमारा व्यवसाय, हमारा उद्योग, हमारे यातायात के साधन अन्य देशों से कितने पीछे हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

जनसंख्या का ग्रामों तथा नगरों के अनुसार वितरण का एक और महत्त्व है। उससे लोगों के राष्ट्रीय चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। कहना न होगा कि हमारे देश के गाँवों में निवास करने वाले लोग सुस्त, आलसी, काहिल, प्राचीनता के उपासक, नवीनता के शत्रु तथा दकियानूसी होते हैं। हमारे गाँव ऐसे केन्द्र हैं जहाँ पर सभ्यता जाने से डरती है, जहाँ मानवता दबी पड़ी है जहाँ व्यक्तित्व अपने वास्तविक मूल्य से अपरिचित है।

दूसरी ओर नगरों के निवासी चुश्त, उद्योगी व साहसी होते हैं। नगरों से ही सभ्यता अन्य स्थानों को प्रस्थान करती है। नगरों से ही नवीन विचारों की लहर चारों ओर फैलती है। हमारे देश में कितने कम नगर हैं, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे आर्थिक विकास की गति मन्द है। हमारी विशाल ग्रामीण जनता हमारे विकास में बाधा खड़ी करती है। कोई भी देश अपने निवासियों द्वारा ही बनता और बिगड़ता है।

इन सब बातों पर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्राम तथा नगरों की जनसंख्या का एक सन्तुलित वितरण होना आवश्यक है। हमारे नगरों और ग्रामों की जन-संख्या का वितरण असन्तुलित तो है ही साथ ही साथ हम लोग इस दिशा में सुधार का कोई प्रयत्न भी नहीं कर रहे हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि १६२१ में हमारी जनता का १०.२ प्रतिशत भाग ग्रामों में रहता था, १६४१ में यह संख्या १२.८ प्रतिशत पहुँच गई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमने इस दिशा में कितनी मन्द प्रगति की है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे नगरों की जनसंख्या की वृद्धि मन्दगामी रही है, किन्तु इधर कुछ वर्षों से नगरों में जनसंख्या में थोड़ी-बहुत वृद्धि होती जा रही है। १६४१ की जनगणना में ५७ नगर ऐसे थे जिनकी जनसंख्या एक लाख से ऊपर थी और केवल ७ नगर ऐसे थे जिनकी जनसंख्या ५ लाख से ऊपर थी। किन्तु साथ ही साथ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि १६२१ से १६४१ तक के दो दशाब्दों में नगरों की जनसंख्या में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए।

सन् १६२१ की जनगणना के अनुसार ५०,००० से १०,०००० तक जनसंख्या रखने वाले नगर केवल ६५ थे जब कि १६४१ में इनकी संख्या बढ़कर ६५ हो गई। सन् १६२१ में १०,००० से २०००० तक की जनसंख्या वाले नगर केवल ५४३ थे, सन् १६४१ में यह संख्या बढ़कर ७३३ होगई। इसी भाँति ५,००० से १०,००० की जनसंख्या वाले नगर १६२१ में ६८७ थे, इनकी संख्या बढ़कर सन् १६४१ में ३०१७ हो गई। उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि देश की जनसंख्या नगरों में, ग्रामों की अपेक्षा उत्तरोत्तर बढ़ रही है। यदि इस दृष्टि से भारत की समस्त जनसंख्या पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि नगरों में जनसंख्या की वृद्धि ग्रामों की अपेक्षा बहुत तीव्रगति से हो रही है। उदाहरणार्थ १६३१ में भारत के समस्त नगरों की जनसंख्या ३ करोड़ ७० लाख के लगभग थी किन्तु सन् १६४१ में यह बढ़कर ५ करोड़ हो गई। जब कि इसके विपरीत सन् १६३१ में भारत के कुल ग्रामों की जनसंख्या ३० करोड़ १० लाख के लगभग थी, १६४१ में यह ३३ करोड़ ६० लाख तक ही पहुँच पाई। इस भाँति उस एक दशाब्द में नगरों की जनसंख्या में ५४.८ प्रतिशत का अन्तर पड़ा। जब कि ग्रामों की जनसंख्या में यह वृद्धि केवल १२.३ प्रतिशत ही रही।

नगरों की जनसंख्या की इस वृद्धि के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) नगरों में औद्योगीकरण बड़ी तीव्रगामी गति से हो रहा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि नगर निवासियों के स्वास्थ्य, स्वच्छता आदि का ध्यान रखना चाहिए नहीं तो इस अनियंत्रित वृद्धि का जनता के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ेगा।

(२) नगरों का जीवन ग्रामों की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक है। वहाँ का चमक-दमक का जीवन, यातायात आदि की सुविधाएँ, लड़के-लड़कियों के लिए शिक्षण-संस्थाएँ, पुस्तकालय, सिनेमा आदि ने भी ग्रामीण जनता को इधर आकर्षित किया है।

भारतीय संघ के समस्त राज्यों में बम्बई राज्य में नगरों की संख्या सबसे अधिक है ? यहाँ १६ प्रतिशत जनता नगरों में निवास करती है, आसाम में नगरों में सबसे कम जनसंख्या निवास करती है। केवल २.८ प्रतिशत जनता का निवास नगरों में है।

उत्तरप्रदेश में नगरों की संख्या सबसे अधिक है। बंगाल में कलकत्ते को मिलाकर केवल चार बड़े नगर हैं। बंगाल की जलवायु नगरों के लिये उपयुक्त नहीं है। बङ्गाली लोग कारखानों का जीवन पसन्द नहीं करते, वे स्वच्छ वातावरण ही पसन्द करते हैं। उत्तर प्रदेश के बाद पंजाब में भी नगरों में अच्छी जनसंख्या है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रिटेन, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका जैसे देशों में नगरों में लोगों की संख्या काफी है और भारत इस क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। परन्तु इसका कारण एक दूसरा है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। भारत एक मानसूनी प्रदेश वाला देश है। एक विशिष्ट जलवायु के होने के कारण यहाँ पर जनसंख्या का नागरीकरण होना उतना सुविधाजनक और सुलभ नहीं है। अभी जब कि केवल १२.८ प्रतिशत जनता ही नगरों में रहती है, इतने पर भी कुछ नगरों की आबादी इतनी घनी है कि अब उनकी स्वच्छता आदि की बड़ी विकट समस्या खड़ी हो रही है। ऐसे नगरों में बड़ी-बड़ी भयंकर बीमारियाँ फैल रही हैं क्षय तथा मूत्राशय सम्बन्धी बीमारियाँ अपना अड्डा जमा रही हैं।

पिछली जनगणना के चीफ आयुक्त श्री ईट्स महोदय का कथन है कि भारत में नागरीकरण के सम्बन्ध में कई कठिनाइयाँ हैं, बड़े-बड़े नगरों की दशा दिन ब दिन बिगड़ती जा रही है, हजारों आदमियों को नगरों में रहने के लिए घर नहीं मिलते। यहाँ के बड़े से बड़े नगरों को ले लीजिये चाहे वह देहली हो, या कलकत्ता सभी जगह मकानों की जो दुरावस्था है उससे सभी परिचित हैं। बम्बई कलकत्ता, देहली के कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के रहने के लिए छोटी-छोटी कोठरियाँ हैं, जिसमें न तो हवा ही पहुँचती है और न प्रकाश। इससे श्रमिकों के स्वास्थ्य तथा चरित्र पर बड़ा बुरा असर पड़ता है।

इस प्रकार हम भारत में नागरीकरण को विशेष महत्त्व नहीं दे सकते। इस बात में हमारा पश्चिम का अनुकरण करना, अहितकर होगा। इसके लिए हमें नगरों की एक सुयोजित योजना के आधार पर व्यवस्थित करना होगा। हमें तो स्वच्छ, हवादार, स्वस्थ नगरों की आवश्यकता है। भारत में तो आवश्यकता ग्रामों के नागरीकरण तथा नगरों के ग्रामीकरण की है।

पेशों के अनुसार जनसंख्या का वितरण—जनसंख्या का पेशों के अनुसार बंटवारे सम्बन्धी आंकड़े भी अपना बड़ा महत्त्व रखते हैं। इन आंकड़ों से हमें उस देश की सामाजिक स्थिति, उसके औद्योगिक या आर्थिक स्तर का परिचय मिलता है।

नीचे दी हुई तालिका से भारतीय जनता का पेशों के अनुसार बँटवारे का परिचय मिल जायगा। यह आँकड़े १९३१ की जनगणना के अनुसार है :—

जनसंख्या—पेशों के अनुसार

साधारण पेशे		प्रतिशत	कुल प्रतिशत
(अ) कच्चे माल की उत्पत्ति	(१) पशु आदि में	६५.६०	६५.८४
	(२) खानों में	०.२४	

(आ) कुछ वस्तुओं की तैयारी तथा उनका व्यवसाय	(१) उद्योग	१०.३८	१७.५६
	(२) यातायात	१.६५	
	(३) व्यापार	५.८३	
(इ) शासन, सरकारी नौकरी आदि में		२.८६	२.८६
(ई) अन्य पेशे	(१) वे व्यक्ति जो अपनी आय पर ही निर्भर हैं	.१६	१३.७४
	(२) घरेलू कामों में लगे हुए	७.५१	
	(३) जिनका कोई निश्चित पेशा नहीं है।	५.०३	
	(४) अनुत्पादक कार्यों में लगे हुए	१.०४	

ऊपर की तालिका को देखने से हमें यह पता चल जाता है कि १९३१ में ६६ प्रतिशत व्यक्ति कृषि में लगे हुए थे जब कि केवल १०% उद्योग में थे। तथा ६ प्रतिशत व्यापार में। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस दिशा में अभी तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

हमारे देश की जनता के विभिन्न पेशों के असमान बँटवारे को देखकर किसी भी व्यक्ति को आश्चर्य हो जायगा। यदि देश का उचित आर्थिक विकास हुआ होता तो हमारी जन संख्या का यह वितरण और अच्छा होता।

आज तीन प्रतिशत से भी कम व्यक्ति शासन आदि कार्यों में लगे हुए हैं। इससे यह पता चलता है कि कितने कम लोग इस धन्धे में लगे हुए हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि यहाँ पर अशिक्षा का काफी प्रसार है। आवश्यकता इस बात की है कि लोगों में शिक्षा का काफी प्रचार किया जाय। नागरिक शासन, पोलिस, फौज आदि में केवल एक प्रतिशत जनता ही लगी हुई है। यदि इस अनुपात को दुगना भी कर दिया जाय तो समस्या का हल नहीं हो सकता। उसका कारण यह है कि लोगों को अन्य धन्धे तो मिलते नहीं हैं।

यद्यपि उद्योग-धन्धों में केवल १०.३८ प्रतिशत जनता लगी हुई है किन्तु संगठित उद्योगों में केवल १.५ प्रतिशत व्यक्ति ही लगे हुए हैं। जब हम यह देखते हैं कि हमारे $\frac{1}{5}$ से भी कम व्यक्ति व्यापार, उद्योग, यातायात में तो लगे हुए हैं तो हमें यह पता चल जाता है कि हमारा देश इतना निर्धन क्यों है। यहाँ की अधिकांश जनता अनुत्पादक श्रम में लगी हुई है जिससे कि देश की समृद्धि में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होती।

देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए हमें अपने देश के औद्योगीकरण की ओर ध्यान देना होगा। कृषि के ही पुनरुत्थान से हमारा काम नहीं चलेगा, इससे हम निर्धनता से छुटकारा नहीं पा सकते। वास्तव में हमारे पेशों के सम्बन्ध में सबसे बड़ा दोष यह है कि यहाँ की अधिकांश जनता कृषि पर निर्भर करती है। बंगाल, बिहार, उड़ीसा जैसे औद्योगिक प्रदेशों में की भी अधिकांश जनता खेती में लगी हुई है। यही हाल पंजाब और उत्तर प्रदेश का भी है। भारत में संसार में सबसे अधिक व्यक्ति खेती के धंधे में लगे हुए हैं तो भी दुख की बात यह है कि हम इस उद्योग का कोई विकास नहीं कर सके है। अब भी हमें विदेशों से खाद्यान्न मंगाना पड़ता है।

लाभ की दृष्टि से कृषि में सबसे कम लाभ होता है। किसी देश का अच्छा आर्थिक विकास उस देश के व्यापार, यातायात या उद्योग के विकास पर ही हो सकता है। इंगलैण्ड आदि देशों में बहुत कम जनता कृषि में लगी हुई है, वहाँ की अधिकांश जनता व्यापार, या उद्योग आदि में ही लगी हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी निर्धनता का कारण हमारी अधिकांश जनता का कृषि में

लगा होना ही है। देश की निर्धनता को दूर करने के लिए इस दिशा में सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है। हमारा कृषि पर निर्भर रहना अत्यन्त हानिकारक है। इस संबन्ध में १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने भी काफी प्रकाश डाला था। देश के विभाजन ने हमारी कृषि सम्बन्धी स्थिति को और भी खराब बना दिया है।

उपरोक्त आँकड़ों से यह पता चल जाता है कि एक दशाब्द से लेकर दूसरे दशाब्द तक हमारी जनसंख्या का पेशों के अनुसार वितरण प्रायः एक सा रहा। गत ४० वर्षों में इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ है, हाँ यातायात तथा शिक्षा, आदि में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है।

भारत के स्वतन्त्र होने से वह समय आ गया है जब कि हमें अपने देश की समस्त जनसंख्या का पेशों की दृष्टि से उपयुक्त वितरण कर डालना चाहिये जिससे कि हमारी आर्थिक उन्नति में निश्चित रूप से तत्काल सुधार हो सके।

जनसंख्या का जातियों के अनुसार बँटवारा—सन् १९४१ की जनगणना के पूर्व की जनगणनाएँ धर्म के अनुसार ही अङ्कित की जाती थीं। १९४१ से सरकार ने कुछ कारणों से अपनी यह नीति बदल दी। इस बार की गणना कुछ अच्छे वैज्ञानिक आधारों पर ली गई। इस बार धर्म के आधार को छोड़कर जाति के आधार पर जनसंख्या का वर्गीकरण किया गया।

भारतवर्ष का विभिन्न जातियों की जनसंख्या का प्रतिशत नीचे दिया जा रहा है—

वर्ष	हिन्दू	मुस्लिम	सिक्ख	ईसाई	जैन	ट्राइब्स	अन्य जातियां
१९३१	६८·२	२२·१	१·२	१·८	·४	२·४	३·९
१९४१	६५·९	२३·८	१·५	१·६	·४	६·६	०·२

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में प्रत्येक १०० मनुष्य पीछे, ६६ व्यक्ति हिन्दू, २४ मुसलमान, ७ आदिम जातियों के, शेष लोगों में आधे सिक्ख तथा आधे ईसाई थे।

भारत के मध्यभाग तथा दक्षिण में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी, मुसलमानों की अधिकता उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त, काश्मीर, बिलोचिस्तान, सिंध, पंजाब तथा बंगाल में थी। सिक्ख लोगों का निवास-स्थान मुख्यतया पंजाब है किन्तु अन्य राज्यों में भी वे फैले हुए हैं। आदिम जातियाँ आसाम, बिहार तथा उड़ीसा में प्रमुख रूप से पाई जाती हैं। ईसाई लोग मदरास में अधिकता से बसे हुए हैं।

इधर भारतवर्ष के विभाजन ने जनसंख्या के जातियों के अनुसार बँटवारे के महत्त्व को काफी कम कर दिया है। पाकिस्तान एक मुस्लिम राज्य है जब कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है, इससे यहाँ के किसी भी जाति विशेष, वर्ग विशेष के व्यक्ति को कोई विशेष सुविधाएँ नहीं मिल सकतीं, सब धर्म के अनुयायी, सब जातियों के व्यक्तियों को समान अधिकार प्राप्त हैं। अतएव अब यहाँ जनसंख्या के जातिगत वर्गीकरण का कोई महत्त्व नहीं। यह हर्ष की बात है कि मुस्लिम लीग द्वारा प्रचारित संकुचित जातीयता के सिद्धान्तों का भारत से अन्त हो गया है, भेद-भाव की वह दीवार दूर हो गई है।

स्त्री-पुरुष के अनुसार जनसंख्या का विभाजन—जनसंख्या का स्त्री-पुरुषों में विभाजन का आर्थिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है, क्योंकि भारत में स्त्रियों की एक बहुत बड़ी संख्या का उत्पादन में कोई हाथ नहीं रहता। हमारा सामाजिक सङ्गठन कुछ इस प्रकार का है जिसके कारण

मुख्य रूप से उच्च तथा मध्यमवर्ग की स्त्रियों का उत्पादन में कोई हाथ नहीं रहता। भारत में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक रहती है, यहाँ पुरुषों और स्त्रियों की संख्या में क्रमशः १०८ : १०० का अनुपात है। १६११ की जनगणना के अनुसार भारत में प्रति हजार पुरुष पीछे स्त्रियों की संख्या ६५४ थी। सन् १६२१ में यह ६४६ हुई और सन् १६३१ में यह ६४० ही रह गई। सन् १६४१ की जनगणना के अनुसार यह ६४५ थी और १६५१ की जनगणना के अनुसार ६४६। इससे यह स्पष्ट है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या में पिछले ४० वर्षों में ह्रास ही हुआ है। नीचे दी हुई तालिका द्वारा यह बात और स्पष्ट हो जायगी।

प्रति एक हजार पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या

सन्	संख्या
१६११	६५४
१६२१	६४६
१६३१	६४०
१६४१	६४५
१६५१	६४६

अभी हाल में १६५१ की जो जनगणना हुई है उससे पता चलता है कि इस बार भी स्त्रियों संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई है। इस जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार भारत के चार राज्यों मद-रास, उड़ीसा, ट्रावनकोर-कोचीन तथा मनीपुर—में स्त्रियों की संख्या १००० पुरुषों पीछे क्रमशः १००४, १०२३, १००७, और १०३४ नारियाँ हैं। कुर्ग में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या सबसे कम है अर्थात् वहाँ १००० पुरुष के पीछे ८२६ नारियाँ। इसी प्रकार पटियाला और पूर्वी पंजाब में १००० पुरुषों के पीछे ८५२ स्त्रियाँ और पश्चिमी बंगाल में ८६१ हैं।

वैसे तो भारत में सब मिलाकर स्त्रियों की जन्मसंख्या पुरुषों से अधिक रहती है परन्तु स्त्रियों के जीवन की अवधि अन्य देशों की अपेक्षा भारत में कम है। कुछ वर्षों पूर्व राष्ट्र सङ्घ (League of Nations) ने एक सूचना प्रकाशित की थी। इस सूचना में दिए हुए आँकड़ों का तुलनात्मक अध्य-यन करने से पता चलता है कि भारत को छोड़कर अन्य देशों में स्त्रियों की आयु या जीवनावधि पुरुषों से अधिक रहती है। भारत में बालिकाओं कीमृत्यु संख्या में १२-१३ साल की अवस्था तक कोई विशेष अन्तर नहीं आता। इस अवस्था तक बालकों की मृत्यु संख्या ही अधिक रहती है, किन्तु इस अवस्था के पश्चात् स्त्रियों की मृत्यु संख्या में उत्तरोत्तर-वृद्धि होने लगती है। बारह-तेरह साल से लेकर ४५ साल तक की अवस्था में स्त्रियों की मृत्यु संख्या काफी बढ़ती जाती है। स्त्रियों की इस अवस्था में मृत्यु के कारणों को ढूढ़ने जाने की आवश्यकता नहीं। यहाँ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ के रहन-सहन का स्तर बड़ा गिरा हुआ है।इसी बीच की अवस्था में स्त्रियों की मृत्यु संख्या का मुख्य कारण उन्हें अच्छी प्रसूति सहायता का न प्राप्त होना है। यहाँ का अधिकांश स्त्री वर्ग प्रसवावस्था में ही परलोक सिधार जाता है।

अभी हाल में कुछ चिकित्सकों ने देश के तीन प्रमुख नगरों—मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई—में इस विषय सम्बन्धी जाँच-पड़ताल की। इससे यह पता चला कि इन नगरों में क्रमशः १६.६, २४.४ तथा ८.६ प्रति हजार के हिसाब से स्त्रियों की इस दशा में मृत्यु हो जाती है। १६३३ में सर जान भीगो की जाँच के अनुसार प्रसवावस्था में २४.५ प्रति हजार स्त्रियों की मृत्यु होती थी। कुल मिलाकर भारत में प्रसूति अवस्था में १००० पीछे प्रायः २० स्त्रियों की मृत्यु होती है जब कि इंगलैण्ड तथा वेल्स में १००० में केवल २.६ माताएँ इस अवस्था में काल की ग्रास

बनती हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारत में स्त्रियों को उचित प्रसूति सहायता नहीं प्राप्त होती। ग्रामों की तो बात ही छोड़िये कुछ नगरों में भी स्त्रियों की प्रसव सहायता की कोई अच्छी व्यवस्था नहीं है। ग्रामों में तो बहुत से स्थानों पर दाइयाँ हैं ही नहीं, या हैं तो बहुत कम और अकुशल। इस प्रकार भारत में उचित प्रसव-सहायता का प्राप्त होना भी स्त्रियों की मृत्यु संख्या में वृद्धि का एक कारण है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर बच्चियों के लालन-पालन की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। अधिकांश लोग इस दिशा में उदासीन रहते हैं। कुछ समय पूर्व तो यहाँ की कुछ जातियों में बच्चियों को मार ही डाला जाता था, परन्तु अब इस प्रथा का प्रायः अन्त हो चुका है। इनके अलावा हमारी निर्धनता, बालविवाह, पर्दा प्रथा आदि कई कारणों से भी कितनी ही स्त्रियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। भारत में तो लोग स्त्रियों की ओर से प्रायः उदासीन ही रहते हैं। बड़े-बड़े घरों में भी उनके स्वास्थ्य का उचित ध्यान नहीं दिया जाता। इन्हीं कारणों से यहाँ स्त्रियों की संख्या में उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में कुल मिलाकर स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम रहती है। उसके मुख्य कारणों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। आवश्यकता इस बात की है कि यहाँ पर स्त्रियों की चिकित्सा, उनकी प्रसूति-सहायता आदि की उचित व्यवस्था की जाय, गाँवों में शिक्षित तथा कुशल दाइयों का प्रबन्ध किया जाय जिससे मानव समाज का यह उपेक्षित वर्ग व्यर्थ में मृत्यु का ग्रास न बने।

भारतीयों की आयु—भारतीय जनसंख्या की समस्या पर विचार करते समय यहाँ के निवासियों की जीवनावधि के विषय में, अर्थात् भारतीयों के आयु की विषय में कुछ कह देना अनुचित न होगा। जहाँ भारत अन्य कई बातों में दूसरे देशों से पिछड़ा है, वहाँ भारतीयों की औसत आयु भी अन्य देशों के निवासियों से कम ही रही है। अन्य किसी भी देश के निवासियों की आयु भारतीयों की आयु से कहीं अधिक होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि यहाँ पर लोगों के रहन-सहन का स्तर बड़े निम्नकोटि का है। जहाँ अन्य देशों के लोगों के रहन-सहन के स्तर में उत्तरोत्तर विकास हुआ है, वहाँ भारतीयों के रहन-सहन में उत्तरोत्तर ह्रास। लोगों के रहन-सहन का स्तर, उनका भोजन, उनका स्वास्थ्य, आदि का प्रभाव आयु की वृद्धि या ह्रास पर अवश्य पड़ता है। कहना न होगा कि हमारे देश के निवासियों को किस प्रकार का भोजन प्राप्त होता है। यहाँ के निवासी जिस प्रकार का भोजन करते हैं, वह आवश्यक पौष्टिक तत्वों से वंचित रहता है, उसमें जीवन-रक्षक पदार्थों का अभाव रहता है। पौष्टिक भोजन तो दूर रहा यहाँ पर कितने ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें पेट भर भोजन भी नहीं मिल पाता। ऐसी दशा में यह आशा करना कि भारतीयों की आयु अधिक होगी दुराशा मात्र है।

नीचे दी हुई तालिका से हमें कुछ अन्य देशों के निवासियों की आयु के विषय में थोड़ा परिचय मिल जायगा।

देश	औसत आयु (वर्ष में)	सन्
न्यूजीलैण्ड	६७	१६३४-३८
ब्रिटेन	६२	१६३७
जापान	४८	१६३५-३६
सं० रा० अमरीका	६५	१६४०-४१
सोवियत रूस	४४	१६२६-२७
ब्रिटिश भारत	२७	१६३१

इंगलैण्ड में गत वर्षों में, वहाँ के निवासियों की औसत आयु में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। इसका आभास नीचे दिए हुये आंकड़ों से लग जायगा—

सन्	औसत आयु
१८६१	४४.१३ वर्ष
१६३१	५५.६२ वर्ष
१६३७	६२ वर्ष

उन लोगों की आयु में इस वृद्धि का मुख्य कारण उनके रहन-सहन के स्तर का ऊँचा होना तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधा की सुलभता है। राष्ट्र सङ्घ ने संसार के निवासियों की आयु सम्बन्धी जो आंकड़े एकत्रित किए, उससे यह पता चलता है कि भारत में लोगों की औसत आयु कितनी कम होती जा रही है। किसी भी देश के निवासियों की आयु का सम्बन्ध वहाँ के आर्थिक जीवन से होता है। भारतीयों की आयु के कम होने का प्रभाव यहाँ के भी आर्थिक जीवन पर पड़ा है। आयु के कम होने के कारण यहाँ के निवासियों के श्रम का भारत के लिए उचित तथा पूरा उपयोग नहीं हो सका है। कितने ही मनुष्य जब श्रम के योग्य होते हैं, युवक होते हैं, तो काल के ग्रास बन जाते हैं, जिससे उनका कुछ उपयोग नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त यहाँ की स्त्रियों की मृत्यु संख्या भी अधिक है, एक तो अपने सामाजिक सङ्गठन, दूसरे उनकी आयु के कम होने के कारण हम उनके श्रम का अच्छा उपयोग नहीं कर पाते। हम ऊपर स्त्रियों की मृत्यु संख्या की अधिकता के विषय में प्रकाश डाल चुके हैं। हमने देखा कि यहाँ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम है। उनकी संख्या ही कम नहीं है वरन् उनकी आयु भी पुरुषों से कम है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में स्त्रियों की औसत आयु ६८·६१, पुरुषों की ६३·६५, जब कि भारत में स्त्रियों की औसत आयु केवल २६·५६ और पुरुषों की २६·६१ है।

इधर भारतीयों के भोजन में पौष्टिक आहार की कुछ अधिकता तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं की सुलभता के परिणाम-स्वरूप भारतीयों की आयु में कुछ वृद्धि हुई है। १८८१ में यहाँ के निवासियों की औसत आयु २३·६३ वर्ष थी, १६१३ में यह बढ़कर २७·वर्ष हो गई। परन्तु इस वृद्धि से हमें सन्तोष कर लेने की आवश्यकता नहीं, हमें भारत में चिकित्सा सम्बन्धी सहायता की अच्छी से अच्छी व्यवस्था करनी है, लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा कर, भारतीयों की आयु में वृद्धि करनी है।

आयु के अनुसार जनसंख्या का विभाजन—जनसंख्या का आयु के अनुसार वर्गीकरण एक पिरामिड—जिसका कि आधार सबसे चौड़ा तथा सिरा बिल्कुल पतला होता है—के रूप में किया जा सकता है। जितने बालक-बालिकाएँ उत्पन्न होते हैं वे सबके सब जीवित नहीं रहते। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते हैं उनकी संख्या कम होती जाती है। दूसरे शब्दों में जनसंख्या का यह पिरामिड ज्यों-ज्यों ऊपर को बढ़ता जायगा त्यों-त्यों सङ्कुचित होता जायगा। संसार के अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जन्म तथा मृत्यु दोनों संख्याएँ अधिक हैं। इस प्रकार भारतीय जनसंख्या का इस पिरामिड का आधार बहुत विस्तृत तथा सिरा बहुत सङ्कुचित है। यहाँ सबसे अधिक बच्चों का जन्म होता है, परन्तु वृद्ध स्त्री-पुरुषों की संख्या अत्यन्त अल्प होती है। यहाँ ५० वर्ष की अवस्था के उपरान्त बहुत थोड़े व्यक्ति जीवित बचते हैं। इस प्रकार हम इन व्यक्तियों के जीवन के अनुभवों का कुछ उपयोग नहीं कर पाते। यूरोप में मनुष्य कम से कम ६०-६५ वर्ष की अवस्था तक जीवित रहक अपने अनुभव से देश को लाभ पहुँचाता है। वहाँ वह इस अवस्था तक बराबर कार्य करता रहता है जब कि भारत में ५५ वर्ष की अवस्था में ही वह अवकाश प्राप्त कर लेता है। साधारणतया यहा

१५ से ४० वर्ष तक की अवस्था वालों का उत्पादन कार्य में सहयोग प्राप्त होता है जब कि यूरोप तथा अन्य पश्चिमीय देशों में १५ से लेकर ६५ वर्ष तक मनुष्य काय करता रहता है। नीचे १६३१ की जनगणना के अनुसार विभिन्न अवस्थाओं के स्त्री पुरुषों की संख्या दी जाती है—

सन् १६३१ की जनगणना के अनुसार आयु-समूह

अवस्था	पुरुष	स्त्री
०	२६·६१	२६·५६
१०	३६·३८	३६·६१
२०	२८·६७	२७·०८
३०	२३·६०	२२·३०
४०	१८·६०	१८·२३
५०	१४·३१	१४·६५

जन्म तथा मृत्यु संख्या—भारतवर्ष में जन्म तथा मृत्यु ये दोनों संख्याएँ सब देशों से अधिक हैं। विवाह संस्कार की व्यापकता के कारण यहाँ जन्म संख्या सर्वाधिक है। यहाँ के अधिकांश लोग अशिक्षित, मूर्ख, तथा दकियानूसी हैं। वे अपने कुटुम्ब की बढ़ती हुई संख्या को रोकने में बिल्कुल असमर्थ हैं। यहाँ पर प्रत्येक विवाहित पुरुष पुत्रवान, प्रत्येक नारी सन्तानवती होने की कामना रखती है। पुत्र उत्पन्न करना धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता है। यहाँ के लोग 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' की भावना को आगे रखकर चलने वाले हैं। अधिकांश भारतीयों के रहन-सहन का स्तर इतना निम्न है कि यदि बच्चों की संख्या अधिक बढ़ जाती है, कुटुम्ब बड़ा हो जाता है तो उनको इन सन्तानों के के पालन-पोषण में विशेष आर्थिक संकट नहीं उठाना पड़ता। सन्तति निरोध के नियमों तथा संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली आदि के कारण भी यहाँ जन्म संख्या अधिक रहती है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि जितनी अधिक संख्या में यहाँ बालक-बालिकाओं का जन्म होता है, उतनी ही अधिक संख्या में उनकी मृत्यु भी होती है।

यहाँ जितने बच्चे उत्पन्न होते हैं उसका पाँचवाँ भाग एक वर्ष की अवस्था में पहुँचते-पहुँचते मृत्यु का ग्रास बन जाता है। बालकों की इतनी बड़ी मृत्यु संख्या का मुख्य कारण बाल विवाह, कुशल दाइयों का अभाव, माताओं की मूर्खता आदि है। निर्धनता के कारण हमारे बच्चों को उचित आहार नहीं प्राप्त हो पाता। जब बालक रोग ग्रसित होते हैं, उस समय भी उनकी चिकित्सा की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती। हमारे घरों में स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके कारण अनेक बीमारियाँ जन्म लेती हैं, और मृत्यु संख्या की वृद्धि में हाथ बँटाती हैं। इसके अतिरिक्त ये माताएँ जो किसी उद्योग-धन्धों में लगी रहती हैं, वे काम में व्यस्त होने के कारण बच्चों का उचित पालन-पोषण नहीं कर पातीं।

यह तो हुई बच्चों की बात। हम ऊपर देख चुके हैं कि यहाँ स्त्रियों की भी मृत्यु संख्या अधिक है। यहाँ १५ से लेकर ४० वर्ष की अवस्था तक स्त्रियों की मृत्यु संख्या में अधिकता रहती है। इसी विशेष अवस्था में स्त्रियों की अधिकतर मृत्यु होने के कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) बाल-विवाह या अपरिपक्व अवस्था में विवाह होने के कारण स्त्रियों की एक बड़ी संख्या को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। क्षयी रोग तथा प्रसवावस्था के कारण कितनी ही स्त्रियाँ विवाह के दस वर्षों के अन्दर ही परलोक सिधार जाती हैं।

(२) प्रसव काल के पूर्व तथा उपरान्त की अवस्था में स्त्रियों को उचित विश्राम नहीं मिलता।

(३) प्रसव काल में स्त्रियों को उचित प्रसव-सहायता नहीं प्राप्त होती। भारत में कुछ अच्छे घरों को छोड़कर शेष स्त्रियों का प्रसव या तो उनकी पड़ोसिन स्त्रियों द्वारा होता है, या अशिक्षित व अकुशल दाइयों द्वारा।

प्रसिद्ध जनसंख्या विशेषज्ञ डा० ज्ञानचन्द्र के अनुसार जीवन यात्रा करने वाले मनुष्यों ४५ प्रतिशत तो १० वर्ष की अवस्था के पूर्व, तथा ६५ प्रतिशत ३० वर्ष की अवस्था के अन्दर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर परलोक सिधार जाता है। सन् १९४० में जब कि प्रति एक हजार में जन्म संख्या ३२ थी तो मृत्यु संख्या २२ थी। १९४० से इधर जन्म तथा मृत्यु संख्या में एक भारी उतार हुआ है। इसका परिचय नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा।

जन्म तथा मृत्यु संख्या (प्रति हजार)

समय	जन्म संख्या	मृत्यु संख्या	मूल जन्म संख्या
१९०१-१०	३८	३४	४
१९२१-३०	३७	३४	३
१९३१-४०	३५	२६	९
१९४१	३२	२२	१०
१९४२	२९	२१	५
१९४३	२६	२३	३
१९४४	२५.८	२४.५	१.३
१९४५	२८	२२	६
१९४६	२९	१९	१०.*
१९४७	२७	२०	७+
१९४८	२५	१७	८
१९४९	२६	१६	१०

जन्म तथा मृत्यु संख्या सम्बन्धी जो विवरण ऊपर दिया जा चुका है उससे हमारी जन-संख्या सम्बन्धी समस्या की विभीषिका का परिचय मिल जाता है। हमें यह पता चल जाता है कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत में कितने अधिक बच्चों का जन्म तथा उनकी मृत्यु होती है। प्रो० कार्वे ने अपनी पुस्तिक 'भारतीय नज संख्या' (In ian Population) में लिखा है कि यदि भारत में दुर्भिक्ष और महामारी आदि भयंकर दुर्घटनाओं का भीषण प्रकोप न हुआ तो यहाँ की जन्म संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी इसके इसके अतिरिक्त भारतीय चिकित्सा सेवा (Indian medi-cal service) के एक विशेष अधिकारी का भी ऐसा विचार है कि बच्चों की मृत्यु में उतार के परिणामस्वरूप यदि मृत्यु संख्या में और अधिक कमी न हुई तो १९५१ तथा १९६१ की जन संख्या में क्रमशः ६५ लाख तथा एक करोड़ दस लाख की और अधिक वृद्धि होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९४४ के उपरान्त से भारत की जन्म तथा मृत्यु दोनों संख्याओं में उतार हुआ है। यदि हम भारत के जन्म-मृत्यु सम्बन्धी आँकड़ों की तुलना पश्चिमीय देशों से करें तो हमें यह पता चल जायगा कि भारत में मृत्यु तथा जन्मसंख्या की क्या स्थिति है।

---

*पूर्वी पाकिस्तान को छोड़कर

+केवल भारतीय संघ का

जन्म तथा मृत्यु संख्या (१६४०)

देश	जन्म संख्या	मृत्यु संख्या
हालैण्ड	२३	६
यू० के०	१७	१२
जर्मनी	१७	११
इटली	२७	१४
फ्रान्स	१८	१६
भारत	३३	२२

इस प्रकार अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जन्म तथा मृत्यु दोनों संख्याएँ अधिक हैं। हमारे देश में ये दोनों संख्याएँ क्यों अधिक हैं, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हमारा सामाजिक संगठन, हमारी चरम सीमा पर पहुँची हुई निर्धनता, हमारे रहन-सहन के स्तर का नीचा होना, स्वास्थ्य के नियमों की अनभिज्ञता, चिकित्सा का अभाव, स्वच्छता के नियमों का उल्लंघन आदि कितनी बातें हैं जिनके कारण यहाँ की जन्म तथा मृत्यु दोनों संख्या अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है। हमें अपनी जनसंख्या सम्बन्धी समस्या को हल करने के लिए इन दोषों को दूर करना आवश्यक है।

वास्तविक उत्पत्ति की गति—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि भारत में जन्म तथा मृत्यु दोनों संख्याएँ अधिक हैं। निकट भविष्य में इस दिशा में कोई विशेष सुधार होने के लक्षण भी नहीं दिखाई पड़ते। अतः हमें जनसंख्या की भावी गति विधि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जनसंख्या की भावी गति विधि मालूम करने के लिये कुछ दिनों पूर्व तक कोई निश्चित वैज्ञानिक ढंग नहीं था। अभी तक रेमन्ड पर्ल्स आदि के सिद्धान्त के अनुसार जन्म संख्या में से मृत्यु संख्या को घटा कर जन संख्या के भावी निष्कर्षों का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। परन्तु डा० क्यूजयुस्किस की वास्तविक उत्पत्ति की नवीन प्रणाली से इस दिशा में काफी परिवर्तन हो गया है। उसकी इस पद्धति से हम जन संख्या के भावी निष्कर्षों का सही एवं निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सके हैं। उसकी वास्तविक उत्पत्ति सम्बन्धी स्थिति आज सर्वमान्य एवं प्रचलित है। परन्तु क्यूजयुस्किस के इस सिद्धान्त का उपयोग भारत में नहीं किया जा सकता। यहाँ की जनसंख्या की पुस्तकों में पूर्ण तथा सही आँकड़े नहीं दिए रहते, इसलिए बिना सही आंकड़ों की प्राप्ति के वास्तविक उत्पत्ति के निष्कर्षों को निकालने के लिए क्यूजयुस्किस की वैज्ञानिक प्रणाली नहीं अपनाई जा सकती। किन्तु इससे हमें कोई विशेष असुविधा नहीं है। क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न आयु के मनुष्यों के अनुपात में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो रहा है जो कि जनसंख्या पर विशेष प्रभाव डाल सके। अतः यदि हम यहाँ जन्म तथा मृत्यु के आकड़ों पर निर्भर रह कर जनसंख्या के भावी निष्कर्षों को निकालें तो कोई विशेष भूल न होगी। जन्म संख्या से मृत्यु संख्या को घटाकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत की जनसंख्या में प्रतिवर्ष लगभग ५० लाख की वृद्धि होती रहेगी।

देशान्तर गमन तथा प्रवास—(Migration)—किसी भी देश की जनसंख्या पर जिन वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है उनमें देशान्तर गमन का, देश परिवर्तन का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है- आन्तरिक या अन्तर्देशीय तथा विदेशी या बाह्य। अन्तर्देशीय प्रवास आकस्मिक, अस्थाई या स्थाई हो सकता है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में, एक जिले से दूसरे जिलों में कुछ लोग थोड़े समय के लिए जाकर बस जाते हैं। यह निवास सामयिक होता है। स्थाई रूप से देश-परिवर्तन बहुत ही कम हुआ करता है। लोगों का अपनी मातृभूमि के

प्रति प्रेम, उनकी रूढ़िवादी विचार धारा, उनकी निर्धनता, देश के अन्य भागों में श्रम सम्बन्धी स्थिति आदि कुछ ऐसी बातें होती हैं जो प्रवास में रोड़ा अटकाती हैं, जिनके कारण लोग कूप-मण्डूक बने पड़े रहते हैं।

यूरोप के इतिहास में प्रवास ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। एक जर्मन अर्थशास्त्री के अनुसार चार सौ वर्षों के इस युग में जब से अमरीका का पता चला तब से कुछ नहीं तो १०५ लाख लोग यूरोप से देश परिवर्तन कर चुके हैं। १६ वीं शताब्दी में ३१ लाख आदमी अमरीका तथा अन्य स्थानों में जा बसे हैं। १८५० से १६०० तक में संयुक्त राष्ट्र के कम से कम १५ लाख आदमी इस प्रकार विदेशों में जाकर बस चुके हैं।*

इस प्रकार हम देखते हैं अन्य देशों में जनसंख्या की समस्या को सुलभ करने के लिए 'प्रवास' ने अपना अच्छा सहयोग प्रदान किया है। भारतीय जनसंख्या की गतिविधि भी प्रवास द्वारा प्रभावित या निश्चित हुई है। साधारणतया भारत के तीन लाख लोग राष्ट्रीयमण्डल के अन्य देशों में निवास कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त १००,००० के लगभग लोग डच पूर्वी द्वीपसमूह, डचगिनी, मैडागस्कर, अमरीका आदि देशों में प्रवास कर रहे हैं। प्रायः दो प्रकार के लोग भारत से जाकर विदेशों में निवास कर रहे हैं—(अ) वे श्रमिक जो कि शर्तबन्दी कुली प्रथा के अनुसार, फिजी, नैटाल, मारिशश तथा पूर्वी द्वीप समूह में ले जाए गए, अथवा विशेष रूप से लंका तथा मलाया को भेजे गये (ब) दूसरे प्रकार के वे लोग हैं जो किसी व्यापार व्यवसाय शिल्प कला आदि में अन्य देशों में लगे हुए हैं, जो यहाँ से धन प्राप्त करने के लिए विदेशों में गए हैं।

हम देख चुके हैं कि पिछले दशाब्दों में यहाँ जनसंख्या में अनवरत वृद्धि हुई है किन्तु जहाँ तक प्रवास का प्रश्न है, उससे हमें अपनी जनसंख्या की समस्या को हल करने में कोई विशेष सहायता नहीं प्राप्त हुई। यहाँ से विदेशों को बहुत कम लोग जाकर बसे हैं। यहाँ से विदेशों को लोग क्यों कम जाना पसन्द करते हैं, उसके कुछ कारणों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त विदेशों में भारतीयों के साथ अच्छा व्यवहार न होना भी एक कारण है। दक्षिण अफ्रीका की वर्ण-विद्वेष की नीति इस बात की द्योतक है कि विदेशों में भारतीयों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता। विदेशों में भारतीयों को नागरिकों के उचित अधिकार नहीं प्राप्त होते, उसके साथ अन्य नागरिकों की भाँति समान व्यवहार नहीं किया जाता। कोई भी देश भारतीयों को अपने यहाँ बसने आदि की सुविधाएँ नहीं देना चाहता। अतः प्रवास के द्वारा हम अपनी जनसंख्या की समस्या को सुलझाने में समर्थ नहीं हो सकते।

यह तो हुई विदेशों में प्रवास की बात। अब अन्तर्देशीय प्रवास को ले लीजिये। आजकल आवागमन के साधनों के बढ़ जाने से जनता का एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाना सुगम हो गया है किन्तु सर्वसाधारण में अपना निवास स्थान छोड़ने की प्रवृत्ति बहुत कम है। इसका एक कारण तो यही है कि यहाँ कितने ही आदमी कृषि आदि का कार्य करते हैं। जिसे सहसा छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु आर्थिक आवश्यकताएँ कुछ लोगों को अपने घर का मोह छोड़कर अन्य स्थानों में अर्थोपार्जन के हेतु जाने के लिए वाध्य करती हैं। कुछ व्यक्ति नौकरी आदि के लिए बाहर जाते रहते हैं, इनमें से अधिकांश की पहुँच अपने निकटवर्ती नगर या कस्बे तक ही होती है। कुछ आदमी अपने प्रान्त को छोड़कर दूर किसी दूसरे प्रान्त में जाकर बस जाते हैं। उदाहरण के लिए मारवाड़ी लोग इस समय बंगाल, आसाम, हैदराबाद आदि में बसे हुए है। इसी प्रकार बंगाली, पंजाबी, गुजराती आदि भी प्रवास में खासे उद्योगी रहे हैं। यद्यपि अन्तर्प्रान्तीय प्रयास का क्षेत्र बहुत कम है

*देखिये भारत की आर्थिक समस्या—रामास्वामी पृष्ठ ४५

फिर भी उसने कुछ क्षेत्रों के आर्थिक जीवन में अच्छा कार्य किया है। आसाम के चाय के बगीचे बिहार, मदरास, तथा मध्यप्रदेश के श्रमिकों से भरे पड़े हैं। ब्रह्मपुत्र की उर्वरा घाटी में मैमनसिंह तथा पूर्वीय बंगाल के कितने ही व्यक्ति जा बसे हैं। बंगाल के कितने ही उद्योग-धन्धे, बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश के पूर्वीय भाग के श्रमिकों द्वारा चल रहे हैं। बम्बई में भी कितने ही अन्य प्रान्तों के लोग जाकर बस गए हैं।

भारतवर्ष के विभाजन के परिणामस्वरूप लाखों की संख्या में शरणार्थी भारत के विभिन्न भागों में आ गए हैं। हिन्दू और सिक्ख लोग पाकिस्तान से यहाँ आए हैं और यहाँ से कुछ मुसलमान पाकिस्तान को चले गए हैं। यह एक असामयिक घटना थी परन्तु इसने भारत की जनसंख्या की समस्या को और भी जटिल बना दिया है।

जन स्वास्थ्य—जनसंख्या की समस्या का अध्ययन करते समय हमारा ध्यान उस प्रदेश या देश की जनता के स्वास्थ्य की ओर स्वभावतः आकर्षित हो जाता है। स्वास्थ्य का प्रभाव जनसंख्या की कुशलता, उसकी कार्यक्षमता पर पड़ता है। भारत की अधिकांश जनता अशिक्षित है। वह स्वास्थ्य तथा स्वच्छता के नियमों से बहुत कम विज्ञ है। यहाँ के कुछ प्रदेशों की जलवायु भी इस प्रकार की है जिससे अनेकों दूषित तथा छूत की बीमारियाँ जैसे हैजा, महामारी, चेचक, मलेरिया आदि आसानी से अपना अड्डा जमा लेती हैं। तपेदिक या क्षयरोग की तो बात ही क्या है। आज हजारों युवक इस भयंकर रोग से ग्रस्त हैं। भारत में बहुत कम ऐसे भाग हैं जो इस प्रकार की दूषित बीमारियों से बचे हुए हैं, जिनमें मलेरिया आदि का प्रकोप नहीं है।

अतएव यहाँ के जनसमुदाय के स्वास्थ्य की उचित व्यवस्था करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता स्वास्थ्य के नियमों का प्रचार तथा चिकित्सालयों का उचित प्रबन्ध करना है। जब तक साधारण आदमी शिक्षित नहीं हो जाता, उसे स्वास्थ्य तथा स्वच्छता के नियमों का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक यहाँ की जनता के श्रम का हमें पूरा पूरा लाभ नहीं प्राप्त हो सकता।

हमें आज अपने स्वास्थ्य इत्यादि को अच्छा करने के लिए सरकार का ही मुंह नहीं ताकना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है हमारे देश का प्रत्येक नागरिक अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए कमर कस ले, वह राष्ट्र की आय बढ़ाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाय। वह अपने कर्त्तव्य को अच्छी तरह समझे, स्वास्थ्य रक्षा के आवश्यक नियमों का पालन करे तथा दूसरों को ऐसा करने के लिए वाध्य करे। ऐसा कि बिना देश के समृद्धि और शक्तिवान होने की आशा करना दूराशा मात्र होगी।

भारत में विवाह का प्रश्न—भारत में शादी या विवाह की व्यापकता किसी से छिपी नहीं है। विवाह करने के लिए धर्म पथ-प्रदर्शित करता है, तो हमारी सामाजिक रीतियाँ, उसको कार्य-रूप में परिणित करती हैं। कोई भी पुत्रहीन हिन्दू मुक्ति की तब तक आशा नहीं कर सकता जब तक कि उसके सन्तान नहीं होती, अतः यह विवाह समाज का एक अनिवार्य बन्धन माना गया है। विवाह से हमारे आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा, हमारी निर्धनता में कहाँ तक वृद्धि होगी, इस बात का कोई ध्यान नहीं रखता। शादी होना आवश्यक है इसलिए वह होती है, स्त्री आती है फिर जीवन संगिनी के रूप में न वरन् एक भोजन बनाने वाली सेविका या दासी के रूप में। पुत्र भार स्वरूप नहीं होता इसलिए कि उसका होना आवश्यक है; व्यय का भार बढ़ा हुआ इसलिए नहीं मालूम पड़ता क्योंकि यहाँ रहन-सहन का स्तर निम्न है। १६३१ की जनगणना में अनुसार यहाँ ४७ प्रतिशत पुरुष तथा ४६ प्रतिशत स्त्री विवाहित थे। ये आंकड़े संसार के अन्य देशों से कहीं अधिक बड़े हैं।

जहाँ तक विवाह का सम्बन्ध है, उसे किसी सीमा तक मान्य समझा जा सकता है किन्तु हमारे विवाह-विषयक ऐसी बुराइयाँ एवं कुरीतियां हैं जिनसे हमारा सामाजिक जीवन जर्जर हो गया

है। यहाँ पर अपरिपक्व अवस्था में विवाह की प्रथा अत्यन्त प्रचलित है। इस बाल विवाह का प्रभाव जन समुदाय के स्वास्थ्य पर बहुत गहरा पड़ता है। बाल्यावस्था में विवाह हो जाने के कारण कितनी ही बाल नारियाँ मृत्यु का ग्रास बन जाती हैं। कितनी नारियाँ पति विहीन हो जाती हैं। यहाँ विधवाओं की संख्या कुछ कम नहीं। आज यहाँ १५ से ४० वर्ष की अवस्था की ६ लाख से भी अधिक महिलाएँ वैधव्य जीवन व्यतीत कर रही हैं। हिन्दुओं में मुसलमानों से विधवाओं की संख्या अधिक है। यहाँ प्रति एक हजार में १५ से ४० वर्ष की अवस्था की १२४ विधवाएँ हैं जब कि मुसलमानों में केवल ६१। हिन्दुओं में पुनर्विवाह धर्म के द्वारा मान्य नहीं इसलिए अन्य देशों की अपेक्षा हिन्दू-विधवाओं की संख्या अधिक है।

पश्चिम में जनसंख्या का प्रश्न—ऊपर हम जनसंख्या सम्बन्धी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाल चुके। अब हम यहाँ पश्चिमीय देशों की जन संख्या विषयक कुछ प्रश्नों पर विचार करेंगे। गत महायुद्ध के पूर्व के दिनों में पश्चिमीय देश अपनी जनसंख्या में वृद्धि चाह रहे थे। अँग्रेज विचारकों का ऐसा अनुमान था कि यहाँ पर सन्तान की भारी कमी पड़ जायगी। फ्रान्सीसी लोग भी इस दिशा में प्रयत्नशील थे। वे जनवृद्धि के लिए लोगों को बराबर प्रोत्साहित करते थे। फ्रांस में जिन लोगों के घर में अधिक सन्तानें होती थीं उन्हें कर, शिक्षा, रेलवे-टिकटों आदि में अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती थीं। जर्मनी में हिटलर ने जनवृद्धि के कितने ही उपायों का प्रचार किया था। इटली में मुसोलिनी ने अपने जनता का ध्यान जनवृद्धि की ओर आकर्षित कर रखा था। वहाँ जिन माताओं के अधिक सन्तान होती थी उन्हें पुरस्कृत किया जाता था। उस समय इस बात पर प्रायः जोर दिया जाया करता था कि बिना अच्छी जनसंख्या के कोई भी देश साम्राज्य स्थापित करने में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।

इस प्रकार ये सब यूरोपीय शक्तियाँ जनवृद्धि की ओर बड़ी प्रयत्नशील थीं। फलत्वरूप १८७० से १९३० तक में इन देशों की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। इसका परिचय नीचे दी हुई तालिका से चल जायगा।

देश	सन् १८७०	सन् १९३०	६० वर्ष में वृद्धि
जर्मनी	४१० लाख	६४० लाख	५६%
इटली	२७० ,,	४१० ,,	५२%
फ्रान्स	३७० ,,	४०० ,,	८%
इंगलैंड तथा वेल्स	२३० ,,	४०० ,,	७४%
यूरोप	३०८० ,,	५०६० ,,	६४%
भारत	२६५० ,,	३५३० ,,	३३%

प्रथम महायुद्ध के काले बादलों के मंडराने के बावजूद भी फ्रान्स को छोड़कर अन्य, पश्चिमीय देशों में १९११-२७ के बीच जनसंख्या में बड़ी अबाध गति से वृद्धि हुई। जहाँ तक यूरोप का सम्बन्ध है, माल्थस का सिद्धान्त गलत सिद्ध हो चुका है। यूरोप की जनसंख्या की वृद्धि ज्यमितिक रूप में नहीं हुई है।

[मालथस नामक अर्थशास्त्री का यह सिद्धान्त है कि यदि कोई बाधा उपस्थित न हो तो देश की जनसंख्या की वृद्धि ज्यमितिक अर्थात् १, २, ४, ८, १६, ३२ या १, ३, ९, २७, ८१, २४३ आदि के हिसाब से बढ़ती है। यदि जनता की यह वृद्धि नियमित रूप से न रोकी जाय तो दरिद्रता या ईश्वरीय प्रकोप द्वारा उसका ह्रास होता है। राज्यों में परस्पर युद्ध छिड़ जाता है, भांति-भांति के रोग फैलते हैं और बालकों की मृत्यु संख्या बढ़ जाती है।

आज अधिकतर विद्वान् आदर्श जनसंख्या के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, मालथस के सिद्धान्त के अनुसार इसका आधार भी केवल आर्थिक ही है]

आज से सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा यूरोप अधिक समृद्ध है। वहाँ के निवासियों के रहने का स्तर काफी ऊँचा हो गया है। लोगों की आयु में भी वृद्धि हो गई है। अब लोगों की यह भावना कि उनके अधिक सन्तानें हों, समाप्त हो गई है, अब तो वे कम से कम सन्तान चाहते है। इसी कारण से फ्रान्स, जर्मनी, यू० के०, स्वीडेन, आस्ट्रिया में आज वास्तविक उत्पत्ति की संख्या एक से भी कम है।

डा० क्यूकजिन्स्की के अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि यूरोप के सब औद्योगिक दृष्टि से प्रधान नगरों में जनसंख्या की उत्पत्ति में कमी हो गई है। आस्ट्रेलिया में भी डा० चार्ल्स का अनुमान है कि जनसंख्या का ह्रास हो रहा है, उसके उत्पादन में कमी हो रही है। उनका कथन है कि चाहे मृत्यु संख्या में कितनी ही कमी हो किन्तु ब्रिटेन तथा अन्य स्थानों से जनसंख्या की कमी को रोका नहीं जा सकता। ब्रिटेन की जनसंख्या में इस पतन या ह्रास का करण न तो कोई दैवी प्रकोप है और न पुरुषों की शिथिलता ही। प्रो० हैरड्ड के अनुसार वहाँ जनसंख्या के ह्रास के मुख्य रूप से दो कारण हैं—सबसे पहला कारण तो यह है कि वहाँ के निवासियों के रहन-सहन के स्तर में काफी वृद्धि हो गई है। लोग सन्तान उत्पत्ति की अपेक्षा वैभवशाली जीवन व्यतीत करना अधिक पसन्द करते हैं। इसके अतिरिक्त अब लोग यह अच्छी तरह समझ गए हैं कि अधिक सन्तानोत्पत्ति का स्वास्थ्य तथा सम्पत्ति दोनों पर बुरा असर पड़ता है। परिवार के सुख और शान्ति में बाधा पड़ती है। इन्हीं कारणों से यूरोप आदि देशों में जनसंख्या की वृद्धि का स्रोत मन्दगामी हुआ है।

भारत में जनसंख्या की समस्या—ऊपर भारतीय जनसंख्या की स्थिति सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला गया। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भारत में अत्यधिक जनसंख्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह समझ लेना चाहिये कि वास्तव में अत्यधिक जनसंख्या का तात्पर्य क्या है। अत्यधिक जनसंख्या की समस्या का आदर्श जनसंख्या के विचार से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक देश के लिए एक आदर्श जनसंख्या हो सकती है जो कि उस देश के साधनों के अनुकूल होती है, ऐसी आदर्श जनसंख्या की कुशलता, पूर्णता, उसका भरण पोषण, उसका स्वास्थ्य आदि सरलता से चलाया जा सकता है। यह आदर्श जनसंख्या कोई एक निश्चित जनसंख्या नहीं होती। उसका सम्बन्ध उस देश के प्राकृतिक साधनों तथा उनके विकास के क्षेत्र से सम्बन्धित रहता है। यदि किसी देश में इन साधनों का पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ है तो यहाँ छोटी से छोटी जनसंख्या का भी निर्वाह होना सरल नहीं होगा। इसके विपरीत यदि इन साधनों का पूर्ण विकास हो चुका है तो वहाँ बड़ी से बडी जनसंख्या भी सरलता से अपना जीवन-यापन कर सकती है।

एक निश्चित जनसंख्या अपने देश के साधनों का अच्छा से अच्छा उपयोग कर देश को समृद्धशाली बना सकती है। यदि यह संख्या आदर्श जनसंख्या से कम होगी तो प्रति व्यक्ति आय वास्तव में जितनी आय होनी चाहिये उससे कम होगी, क्योंकि वह जनसंख्या अपने देश के प्राकृतिक साधनों का यथेष्ट विकास करने के लिए पर्याप्त न होगी। यह तो कम जनसंख्या की बात हुई। इसके विपरीत यदि जनसंख्या अत्यधिक है तब भी प्रति व्यक्ति आय जितनी होनी चाहिये उससे कम होगी। ऐसा होने का मुख्य कारण जनसंख्या का आदर्श जनसंख्या से अधिक होना होगा।

अत्यधिक जनसंख्या की दशा में तथा अत्यधिक जनसंख्या की ओर अग्रसित होने वाली प्रवृत्तियों में कुछ अन्तर होता है। अत्यधिक जनसंख्या की स्थिति में कोई भी देश पहले से ही अत्यधिक जनसंख्या से युक्त होता है, और वहाँ प्रति व्यक्ति आय जितनी होनी चाहिये उससे कम होती है। ऐसी स्थिति में यदि जनसंख्या में कुछ भी कमी हुई तो प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि हो जायगी।

यदि किसी देश की जनसंख्या में उत्तरोत्तर अत्यधिक वृद्धि होती चली जा रही है और प्रति व्यक्ति आय में कमी हो रही है तो ऐसी स्थिति को यह कहा जायगा कि वहाँ अत्यधिक जनसंख्या की प्रवृत्ति है। भारत की तरह अन्य कुछ देशों में अत्यधिक जनसंख्या की प्रवृत्ति या अत्यधिक जन-संख्या की स्थिति हो सकती है। प्रोफेसर कार सान्डर्स ने अत्यधिक जनसंख्याको ऐसे अधिक लोगों की जनसंख्या कहा है जिनकी संख्या कुल उत्पत्ति से कम होती है।

क्या भारत में अत्यधिक जनसंख्या है ?—अब हमें यह देखना है कि क्या भारत में अत्यधिक जनसंख्या है ? इस विषय पर विभिन्न विद्वानों के मतों में काफी अन्तर है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि भारत में अत्यधिक जनसंख्या नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि भारत में जनसंख्या का घनत्व कतिपय यूरोपीय देशों से कम है तथा यहाँ प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में हैं। परन्तु यह धारणा उपयुक्त नहीं। निसन्देह हमारे प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में हैं परन्तु उनका उपयोग भलीभाँति नहीं किया गया है। जब हम यह विचार कर रहे हों कि किसी देश की जनसंख्या अत्यधिक है या नहीं तो हमें वहाँ के वास्तविक प्राकृतिक साधनों के आधार पर ही अपना निष्कर्ष निकालना चाहिए न कि सम्भावित साधनों पर। यदि हम अपने वर्त्तमान प्राकृतिक साधनों का विचार करें तो हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि हमारी इस वर्त्तमान जनसंख्या का घनत्व भी भारस्वरूप है। वे देश जिनकी जनसंख्या का घनत्व हमारे देश से अधिक है, वे हमसे अधिक समृद्ध हैं और वे और भी अधिक जनसंख्या का भार वहन कर सकते हैं जितना हम नहीं कर सकते। यदि हमारे देश में इतनी अधिक जनसंख्या न होती तो यह कहा जा सकता है कि यहाँ प्रति व्यक्ति आय आज की अपेक्षा अधिक होती। यहाँ लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या कुछ भी उत्पादन नहीं करती। यदि भविष्य में भारत किसी प्रकार प्रति एकड़ भूमि में अधिक अन्न उत्पन्न करने लगे, कारखानों में सस्ते दामों पर वस्तुओं का निर्माण करने लगे, अपनी खनिज सम्पत्ति को और अधिक निकाल कर उनका भली प्रकार उपयोग करने लगे तो वह भी अधिक जनसंख्या के भार को वहन कर सकेगा अपने निवासियों के रहन-सहन के स्तर को भी अधिक ऊंचा कर सकेगा। परन्तु हमें यह स्वीकार करना होगा कि आज भारत में जनसंख्या उस संख्या से कहीं अधिक है जिसका वह आसानी से भार-वहन कर सकता है।

इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह भी कहा करते हैं कि हम दिनोंदिन प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि पा रहे हैं तो फिर ऐसी दशा में अत्यधिक जनसंख्या का प्रश्न ही कहाँ उठता है। इस विषय में हम यह कहकर उपरोक्त मत का खण्डन कर सकते हैं कि यदि हमारी जनसंख्या में इतनी अधिक वृद्धि न होती तो हमारी प्रति व्यक्ति आय आज से कहीं अधिक रहती। हमारी राष्ट्रीय आय में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, पर साथ ही साथ हमारी जनसंख्या भी घट नहीं रही है। इसके अतिरिक्त हमारे रहन-सहन के स्तर में भी कोई वृद्धि नहीं हुई है तो फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि हमारी यह जनसंख्या अत्यधिक नहीं है।

इस सम्बन्ध में तीसरी बात यह भी कही जाती है कि भारत में चिरकाल से श्रम या श्रमिकों का अभाव रहा है। एक अत्यधिक जनसंख्या वाले देश में श्रम का अभाव होना सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में यह उत्तर दिया जा सकता है कि यहाँ अकुशल श्रमिकों का अभाव नहीं, अभाव तो कुशल या दक्ष श्रमिकों का है। ऐसे देश में जहाँ पर श्रमिकों को उचित शिक्षा देने की व्यवस्था न हो तो वहाँ यदि कुशल श्रमिकों का अभाव है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। श्रम के अभाव वाली बात तो आज की बात नहीं वह कई साल पहले की है। इस प्रकार जो लोग श्रम के अभाव वाली बात का सहारा लेकर यह कहते हैं कि भारत में अत्यधिक जनसंख्या नहीं है, उनका कथन उचित नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जा रही है। यहाँ जितनी सन्तानोत्पत्ति हो सकती है उतनी बिना किसी रुकावट के होती है। यहाँ के लोग सन्तानों की इस उत्पत्ति को रोकने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते। संतति-निग्रह के न तो वे प्राकृतिक और न कृत्रिम उपायों को ही काम में लाते हैं। हमारे यहाँ जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि होती चली जा रही है इस बात का एक और प्रमाण है। हम ऊपर प्रसिद्ध अर्थशास्त्री माल्थस के सिद्धान्त पर थोड़ा सा प्रकाश डाल चुके हैं। उसके अनुसार जब किसी देश की जनसंख्या की वृद्धि का स्रोत अबाधित गति से प्रवाहित होता है तो उसको इस प्रवाह में कुछ प्राकृतिक रुकावटें आती हैं। मृत्यु संख्या में वृद्धि होने लगती है, बाढ़, दुर्भिक्ष तथा महामारी आदि प्रकृति के भीषण प्रकोप अपना आतंक जमाने लगते हैं, खाद्य पदार्थों का अभाव हो जाता है। हम यह देख चुके हैं कि माल्थस का यह सिद्धान्त पाश्चात्य देशों के लिए तो सही नहीं सिद्ध हुआ किन्तु उसका यह सिद्धान्त भारत के लिए उपयुक्त ठहरता है। आज यहाँ खाद्याभाव की विभीषिका, हैजा, चेचक, महामारी आदि प्रकृति के भीषण प्रतिनिधियों का साम्राज्य छाया हुआ है जिसके कारण मृत्यु संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है।

भारत में मृत्यु संख्या से जन्म संख्या की अधिकता यह स्पष्ट करती है कि यहाँ जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जा रही है। १९३१ की जनगणना के आयुक्त डा० हट्टन ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि "इस देश की जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। यहाँ की जनसंख्या की वृद्धि इतनी अधिक हुई है कि केवल वृद्धि ही फ्राँस या इटली की कुल जनसंख्या से अधिक हो जाती है। इसके पश्चात् श्री ईटस महोदय ने भी हमारा ध्यान जनसंख्या की इस अत्यधिक वृद्धि की ओर आकर्षित किया था। इसका विशेष परिचय पीछे दिए हुए आँकड़ों से लग गया होगा। यहाँ पर स्त्रियों तथा बच्चों की मृत्यु संख्या की अधिकता, लोगों की आयु का कम होना, प्रति व्यक्ति आय का कम होना आदि बातें इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि भारत की जनसंख्या अत्यधिक है। प्रसिद्ध विद्वान डा० राधाकमल मुकर्जी, श्री पी० के० वन्तल तथा डा० ज्ञानचन्द्र के अनुसार भारत की जनसंख्या अपने खाद्योत्पादन से कहीं अधिक बढ़ती चली जा रही है। डा० राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है *कि जब देश में साधारणतया फसल ठीक रहती है तब भी उस वर्ष बारह प्रतिशत जनता के लिए भोजन का अभाव रहता है। श्री पी० के० वन्तल ने भी यह हिसाब लगाया था कि १९१३-१४ से १९३५-३६ तक के समय में जनसंख्या में प्रतिवर्ष एक प्रतिशत की वृद्धि हुई जब कि अन्नोत्पादन में प्रतिवर्ष ०·६५ के हिसाब से औसत वृद्धि हुई। इससे यह पता चलता है कि हमारी जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ हमारे अन्नोत्पादन में उसी गति वृद्धि नहीं है।

इसके विपरीत डा० पी० जे० टामस का कहना है कि १९२०-२१ तथा १९३०-३१ में जब कि जनसंख्या में १०.४ प्रतिशत वृद्धि हुई तब अन्नोत्पादन में १६ प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन में ५१ प्रतिशत वृद्धि हुई।

इस विषय में हम कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल सकते क्योंकि इस सम्बन्ध में हमारी सबसे बड़ी कठिनाई सही आंकड़ों का न प्राप्त होना है। यदि डा० थामस का मत सही है तो हम कह सकते हैं कि माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार भारत में अत्यधिक जनसंख्या नहीं है। यदि डा० मुकर्जी के विचारों को सही मान लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि भारत में अत्यधिक जनसंख्या है। इन दिनों की खाद्य परिस्थिति की भीषणता से हम सभी लोग परिचित हो चुके हैं। देश में खाद्याभाव

* देखिए राधाकमल मुकर्जी कृत 'फूड प्लैनिंग फार फोर हंड्रेड मिलियन्स।'

जिस सीमा पर पहुँच चुका है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जनसंख्या की वृद्धि के हिसाब से हमारे खाद्योत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई है।

कुछ भी हो हम यह निःसन्देह कह सकते हैं कि देश की जनसंख्या अत्यधिक है और यदि इस वृद्धि पर कोई नियन्त्रण न रखा गया, तो उसका परिणाम भयंकर होगा।

जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के उपाय—हम यह देख चुके हैं कि भारत की जन-संख्या अत्यधिक है। अब प्रश्न उठता है कि हम अपनी इस समस्या को कैसे सुलझावें, इस रोग से ग्रस्त समाज को कैसे मुक्त करें। अपनी जनसंख्या की इस समस्या को हल करने के लिए हमारे सामने दो ही मुख्य उपाय है—(१) राष्ट्र की आय में वृद्धि की जाय, देश का औद्योगिक सङ्गठन किया जाय, अपने प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग कर उनका विकास किया जाय और इस प्रकार अपने देश को जन-संख्या के अधिक से अधिक भार को वहन करने योग्य बनाया जावे।

इसके अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि की इस समस्या को हल करने के लिए, कुछ अन्य प्रति-बन्धक उपाय भी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत में जनसंख्या की अतिवृद्धि को रोकने के लिए जैसा कि माल्थस ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, कुछ प्राकृतिक उपाय स्वतः चल रहे हैं। परन्तु इससे हमारी समस्या का हल होना हितकर नहीं। हमारा देश निर्धनता के विकराल पाश में आबद्ध है। इस निर्धनता को दूर करने के लिए, हमें अपनी जनसंख्या की इस अतिवृद्धि के नियं-त्रण के लिए कुछ नैतिक उपायों का सहारा लेना पड़ेगा।

कुछ विचारशील व्यक्तियों का यह कथन है कि जनसंख्या की इस वृद्धि को रोकने के लिए सबसे अच्छा तरीका संयम और ब्रह्मचर्य का पालन है। किन्तु हम प्रत्येक साधारण मनुष्य से यह आशा नहीं कर सकते कि वह सदा-सर्वदा अपना जीवन संयम से ही व्यतीत करेगा। यह उपाय केवल उच्च विचार वालों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है, सर्वसाधारण के लिए यह व्यवहारिक नहीं। इसके अतिरिक्त चिकित्सा शास्त्र विज्ञों तथा आज के मनोवैज्ञानिकों का भी यह कथन है कि यदि विवाहित स्त्री-पुरुष लगातार एक लम्बे अर्से तक इन्द्रिय-निग्रह करें तो इसका उनके मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि संयम-नियम के नैतिक नियमों से हम जनसंख्या की इस अति-वृद्धि को रोकने में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकते इसके लिए हमें कृत्रिम उपायों का ही सहारा लेना पड़ेगा। सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपायों का प्रचार पाश्चात्य देशों में बहुत है। इन कृत्रिम उपायों के विषय में कुछ लोगों का प्रबल विरोध है। सबसे पहले तो यही कहा जाता है कि यह उपाय अनैतिक है, साथ ही साथ यह अप्राकृतिक भी है। इस प्रकार के कृत्रिम उपायों के प्रचार से योनि सम्बन्धी व्यभिचार का प्रसार होगा।

इसके अतिरिक्त चिकित्सा विज्ञों का यह विचार है कि इस प्रकार के उपायों से स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा असर पड़ेगा। इस प्रकार के कृत्रिम उपायों का प्रयोग केवल थोड़े से शिक्षित और पैसे वाले व्यक्ति ही कर सकेंगें, निर्धन मनुष्यों को इस प्रकार के उपायों से कोई लाभ नहीं होगा। परन्तु हमें इस प्रकार के विरोधी विचारों की विशेष चिन्ता न करनी चाहिये। इस प्रकार के विचारों और अभावों के होते हुए भी हमें ऐसे चिकित्सालयों की स्थापना करनी चाहिए जो कि सन्तति निग्रह के उपायों को जन समुदाय के सामने रखते हुए, उनका प्रचार और प्रसार करें। तथापि प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे प्रचार का दुरुपयोग ही होगा किन्तु बाद में इसका प्रभाव काफी अच्छा पड़ेगा। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता नहीं है जिसके द्वारा जनवृद्धि को रोका जा सके। भारत सरकार के प्लानिंग और डेवलपमेन्ट (Planning and Development) के भूत पूर्व सदस्य सर अर्देशिर दयाल ने १८ जौलाई १९४५ में कनाडा के एक भाषण में यह कहा था कि भारत के आर्थिक जीवन के स्तर

को ऊँचा उठाने के लिए, राष्ट्रीय आय की वृद्धि करने के लिये सन्तति निग्रह की नीति का पालन करना अतीव आवश्यक है।

अमरीका की प्रसिद्ध सन्तति निग्रह व्याख्यात्री श्रीमती मारगरेट सैंगर ने भारत में सन्तति-निग्रह की आवश्यकता बतलाते हुए यह कहा था कि सन्तति-निग्रह के नियमों का अनुकरण किये बिना, भारत के लोगों के रहन-सहन के स्तर को उच्च बनाने तथा वहाँ के लोगों की प्रति-व्यक्ति आय की वृद्धि करने का विचार निष्फल होगा। जनसंख्या के प्रसिद्ध विद्वान् डा० ज्ञानचन्द्र ने भी इस बात पर जोर दिया है कि बिना सन्तति-निग्रह के नियमों का प्रचार किए तथा औषधियों या दूसरे शब्दों में कृत्रिम उपायों का प्रयोग किए बिना भारत में उत्पादन की वृद्धि असम्भव होगी।

इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपायों के प्रचार की अतीव आवश्यकता है। हाँ, यह अवश्य है कि पहले सन्तति-निग्रह का प्रचार शिक्षित समाज में ही किया जावे, ऐसे ही लोगों में उसका प्रसार किया जावे जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है और जो प्रगतिशील विचारों के हैं। इस वर्ग के लोगों के इन उपायों को अपना लेने का प्रभाव साधारण श्रमिक और कृषक वर्ग पर भी होगा। वे लोग भी ऐसे नियमों का पालन करने लगेंगे।

जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिये बाल-विवाह तथा प्रवास के विषय में पीछे कह चुके हैं। बाल-विवाह की प्रथा को रोकने के लिए हमें स्वयं प्रयत्नशील होना चाहिये। बाल-विवाह का जन्म तथा मृत्यु दोनों संख्याओं पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रवास के विषय में भी हम पिछले पृष्ठों पर सम्यक प्रकाश डाल चुके हैं। हम यह देख चुके हैं कि देश परिवर्तन के लिए भारतीयों को विदेशों में सुविधा प्राप्त नहीं है। अन्य देश यह नहीं चाहते कि यहाँ वाले वहाँ जाकर बसें। दूसरे भारतीयों की संकुचित मनोवृत्ति, उनका अपने देश के प्रति मोह भी इस दिशा में बाधक है। जहाँ तक अन्तर्देशीय प्रवास का सम्बन्ध है वहाँ हमें इस ओर बड़े सावधान रहने की आवश्यकता है। स्वतंत्र भारत में सरकार ने नदियों के विकास की बहुमुखी योजनाएँ बनाई हैं। इन योजनाओं के तैयार हो जाने से जनसंख्या के समान वितरण में सहायता मिल सकेगी।

प्रारम्भ में हमें सन्तति-निग्रह के प्रचार में, जनसंख्या की समस्या को सुलझाने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। यहाँ के लोगों की रूढ़िवादिता; कट्टरता, उनका संकुचित दृष्टिकोण इस दिशा में बाधक होगा। किन्तु हमें इन सब बातों की विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिये। सरकार को भी इस दिशा में जोरदार क्रियात्मक कदम उठाने की आवश्यकता है।

एक आयोजित जनसंख्या (A Planned Population)—ऊपर हम यह देख चुके कि न तो प्रवास से और न अन्य नैतिक उपायों से ही हम जनसंख्या की इस समस्या को सुलझा सकते हैं। अतः हमें अपने प्राकृतिक साधनों के अनुरूप ही जनसंख्या का वितरण करना होगा। इस समस्या को अपने प्राकृतिक साधनों के आधार पर ही सुलझाना होगा। स्वतंत्र भारत की सरकार ने १९५० में एक आयोजना आयोग (Planning Commission) की नियुक्ति की है। इस आयोग का कार्य देश के आर्थिक साधनों का उचित ज्ञान प्राप्त कर देश का नवनिर्माण करना होगा। यदि जनसंख्या की समस्या के सुलझाने का कार्य भी यह आयोग अपने हाथ में ले ले तो यह अत्युत्तम होगा। अच्छे निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हमें दस वर्षों में होने वाली जनगणना की रिपोर्ट ही पर्याप्त न होगी, इसके लिए हमें विस्तृत आंकड़ों की आवश्यकता है।

सन् १९५१ की जनगणना के आधार पर हम कह सकते हैं कि इस दशाब्द में (१९४१—१९५१) में जन्म संख्या के वृद्धि-क्रम में उतार हुआ है, किन्तु साथ ही साथ मृत्यु संख्या में भी कमी हुई है। इस प्रकार जनसंख्या की कमी का कोई विशेष लाभ नहीं। दोनों जनसंख्याओं में समान रूप से कमी होने के कारण उसका कोई महत्व नहीं रह जाता। इससे यह समस्या हल नहीं होती।

जनसंख्या का अत्यधिक होना तथा कम होना दोनों एक ही समस्या के दो रूप हैं। आज की जन-संख्या में जो वृद्धि हो रही है वह आज के समाज के लिए एक चुनौती है। अतः इस समस्या को सुलझाने के लिए बड़ी सावधानी से कार्य करना होगा। भारतीय जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए, देश के आर्थिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम जनसंख्या की इस समस्या को सुलझाने की एक सुव्यवस्थित आयोजना बनावें। इसके लिए हमें निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना होगा।

जन-स्वास्थ्य—किसी भी देश की जनसंख्या भले ही वह परिमाण में कम हो, किन्तु यदि उसका स्वास्थ्य अच्छा है, सारी जनसंख्या स्वस्थ है तो वह एक अस्वस्थ अल्पायु किन्तु परिमाण में अधिक जनसंख्या की अपेक्षा कहीं अच्छी है। यदि हमारे देश की जनता का स्वास्थ्य अच्छा है, उसकी आयु अधिक होगी, वह देश के विकास में अधिक सहायता दे सकेगी। अतः जनता के स्वास्थ्य को उत्तम बनाने के लिए हमें सदा सावधान रहना चाहिए। उत्तम स्वास्थ्य वाली जनसंख्या का प्रदेश एक क्षीण एवं दुर्बल जनसंख्या वाले प्रदेश से कहीं अच्छा है। जन स्वास्थ्य को उत्तम बनाने के लिए हमें निम्नलिखित प्रयत्न करते रहना चाहिए।

(अ) अधिक औषधालयों तथा चिकित्सालयों की स्थापना—भारत में सुशिक्षित-चिकित्सकों तथा सुव्यवस्थित औषधालयों की बड़ी कमी है। आज कल भारत के नगरों में ४०,००० व्यक्तियों के बीच केवल एक औषधालय है। गावों में तो इससे भी गिरी हुई दशा है। इसके अतिरिक्त रोगियों के निवास के लिए भी उचित व्यवस्था नहीं है। चिकित्सालयों में स्थान पाने के लिए रोगी को हफ्तों और महीनों प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः चिकित्सालयों के वृद्धि की एक निश्चित योजना की बड़ी आवश्यकता है। गावों में चलते-फिरते औषधालयों से बड़ी सहायता पहुँच सकती है। आयुर्वेदिक, यूनानी, तथा होम्योपैथिक चिकित्सा प्रणालियों को वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित कर उनसे अच्छा लाभ उठाया जा सकता है।

अन्वेषण—कुछ भयंकर छूत की बीमारियों को दूर करने के लिए अन्वेषण कार्य की भी अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसे अन्वेषणों से हमें काफी लाभ होगा। सबसे पहले तो हमें कुछ भयंकर बीमारियों से मुक्त होने के लिए सस्ती औषधियाँ प्राप्त हो जायँगी, दूसरे आज करोड़ों रुपयों की जो औषधियां हम विदेशों से मंगाते हैं उससे हमें छुट्टी मिल जायगी, देश का धन देश में ही रह जायगा। प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्रीय सरकार इस ओर काफी प्रयत्नशील है।

स्वच्छता—ग्रामों तथा नगरों दोनों स्थानों में लोगों को सफाई तथा स्वच्छता आदि की शिक्षा देना भी अत्यन्त आवश्यक है आज हमारे ग्रामों और नगरों में जिस तरह से स्वच्छता का लोप हो रहा है, उससे सभी लोग परिचित हैं। इसके लिए यदि हम सरकार पर ही निर्भर रहते हैं तो हमारा काम नहीं चलेगा, हमें स्वयं अपनी स्वच्छता का ध्यान रखना होगा। इस विषय में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों को समझकर अपने उत्तरदायित्व का पालन करना होगा। ग्रामों में मैजिक लैन्टर्न, प्रदर्शि-नियों तथा चलचित्रों द्वारा यह कार्य करना होगा। स्वाच्छता के लिए पारितोषिक आदि का प्रलोभन दे लोगों को स्वच्छता-प्रिय बनाना होगा। ग्रामों में शिक्षित तथा कुशल दाइयों की भी व्यवस्था रखनी होगी।

पौष्टिक भोजन—जनसंख्या को कुशल एवं उत्तम बनाने के लिए हमें उसके लिए सन्तुलित भोजन का भी ध्यान रखना आवश्यक है। आज जो भोजन हमारी अधिकांश जनता को प्राप्त होता है, उसमें जीवन को स्वस्थ एवं दीर्घायु बनाने वाले पदार्थों का अभाव रहता है। उस भोजन में विटामिन, तथा प्रोटीन आदि जीवन रक्षक पदार्थ पर्याप्त मात्रा में नहीं पाए जाते। उत्तम स्वास्थ्य उत्तम आहार पर आधारित रहता है। यदि देश की जनता को सदा-सर्वदा पौष्टिक एवं सन्तु-

लित आहार प्राप्त होता जाता है, तो उसकी कार्य कुशलता में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी। आज भारतीय जनता का अधिकांश निर्धनता के कारण पौष्टिक आहार प्राप्त करने में अपने को असमर्थ पाता है। अतएव देश की जनसंख्या को कार्य कुशलता तथा उसकी कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए, उसको उचित तथा पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी होगी।

उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता—कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी देश के निवासियों के रहन-सहन का स्तर उस देश की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्थिति का पारचायक होता है। रहन-सहन के स्तर के उच्च या निम्न होने का सम्बन्ध उस देश की जनसंख्या से होता है। हमारे सन्मुख आज यूरोप का उदाहरण है। हम देखते हैं कि वहाँ के लोगों के रहन-सहन के स्तर ऊंचे उठ जाने से यहाँ की जनसंख्या की वृद्धि पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। यदि भारतीय जनता के रहन-सहन के स्तर में भी वृद्धि हो जाय तो सम्भवतः उसका भी यहाँ की जनसंख्या की वृद्धि पर अच्छा प्रभाव ही पड़ेगा। यहाँ के व्यक्तियों के सहन-सहन के स्तर को तभी उच्च किया जा सकता हैं जब कि यहाँ के कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो जाय।

कृषि-उत्पादन—कृषि के उत्पादन में वृद्धि तभी हो सकती है जब कि नहरों, नदियों या बाँधों के द्वारा सिंचाई की अच्छी व्यवस्था हो जाय। यही नहीं इसके लिये हमें कृषि की उन्नति के लिए वैज्ञानिक यंत्रों की भी आवश्यकता होगी। उसके लिए अच्छी वैज्ञानिक खाद, तथा फस्लों के उलट-फेर से भी कृषि का उत्पादन अच्छी तरह बढ़ाया जा सकेगा। कृषि के उत्पादन के विषय में यहाँ पर हमें अधिक नहीं कहना, इस विषय में अगले पृष्ठों में प्रकाश डाला जायगा पर इतना अवश्य है कि हमें इस ओर सतर्क रहना होगा, इस ओर उपेक्षा करने से हमारी जनसंख्या की समस्या जटिल होती जायगी।

औद्योगिक उत्पादन—जनसंख्या की समस्या को सरलता से सुलझाने के लिए लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा करने के लिए, हम अपने कृषि उत्पादन पर ही निर्भर नहीं रह सकते, हमें भारत का औद्योगिक नव निर्माण भी करना होगा। कृषि उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ, औद्योगिक उत्पादन में भी यथेष्ट विकास करना होगा। आज भारत का करोड़ों रुपया विदेशों से आने वाली वस्तुओं के क्रय में व्यय हो जाता है। अब उसे अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपने ही हाथों से काम चलाना होगा। यदि हम अपने देश के औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करेंगे तो हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वावलम्बी तो होंगे ही साथ ही साथ हमारी बेकारी की समस्या का भी कुछ न कुछ हल हो जायगा, जनसंख्या की यह अत्यधिक वृद्धि हमें उस समय नहीं खटकेगी।

शिक्षा—हम यह कह चुके हैं कि भारत की अधिकाँश जनता अशिक्षित तथा मूर्ख है। भारत शिक्षा की दृष्टि से भी अन्य सब देशों से पिछड़ा हुआ है। इसके लिए जनता को स्वयं ही प्रयत्नशील होना चाहिए, बिना जनता के सहयोग के सरकार कुछ नहीं कर सकती। जब तक शिक्षा का यथेष्ट प्रचार नहीं होता तब तक हमारा यह आशा करना कि भारत में जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के उपाय सफलता प्राप्त करेंगे, व्यर्थ है। यहाँ पर प्रारंभिक अनिवार्य शिक्षा की आवश्यकता तो है ही साथ ही प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार की भी बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति भी यह अच्छी तरह समझ ले कि उसके शिक्षित हो जाने का तब तक कोई महत्त्व नहीं है जब तक वह कुछ अन्य अशिक्षितों को शिक्षित नहीं बनाता। इस दिशा में रूस ने एक अच्छी योजना द्वारा यथेष्ट प्रगति की है। अब देश के स्वतंत्र हो जाने पर यह आशा की जाती है कि राष्ट्रीय सरकार अपने इस अभिशाप को दूर करने में कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़ेगी।

उपसंहार—भारत की जनसंख्या सम्बन्धी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर ऊपर विचार किया जा चुका है। ऊपर के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत की जनसंख्या अत्यधिक है, उसकी इस अतिवृद्धि को रोकने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए नैतिक तथा कृत्रिम उपायों पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। परन्तु हमें जनसंख्या की इस वृद्धि को रोक कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री न समझ लेनी चाहिए। देश के नव-निर्माण, राष्ट्र के आर्थिक सङ्गठन की रूप रेखा को स्थिर करते समय हमें जन संख्या के महत्व को भी न भूलना चाहिए। आशा है निकट भविष्य में हमारी राष्ट्रीय सरकार अन्य योजनाओं के साथ ही साथ इस ओर भी क्रियात्मक कदम उठाकर भारत के समृद्धि के पथ पर अग्रसित करने में सहायता पहुँचाएगी।

— ———

चतुर्थ परिच्छेद

सामाजिक और धार्मिक संस्थायें और उनका आर्थिक जीवन पर प्रभाव

आर्थिक जीवन में सामाजिक संस्थाओं का महत्त्व—प्रत्येक देश के सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं का, सामाजिक तथा धार्मिक सङ्गठन का मानव के आर्थिक जीवन पर, उसके आर्थिक क्रियाकलापों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक क्रियाकलाप सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधार पर आधारित रहते हैं। मानव का चरित्र उसकी नित्य की धार्मिक सामाजिक तथा आर्थिक क्रियाओं द्वारा चित्रित होता रहता है। दूसरे शब्दों में मानव ने आर्थिक क्षेत्र में जो कुछ भी विकास किया है, वे सब उसकी सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप ही है। इस प्रकार किसी भी समाज का औद्योगिक एवं व्यावसायिक जीवन, उस देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक सङ्गठन का प्रतिबिम्ब होता है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार के धार्मिक तथा सामाजिक वातावरण में मनुष्य निवास करता है, उसी प्रकार उसका आर्थिक जीवन-चक्र भी सञ्चालित होता है।

इससे यह स्पष्ट है कि किसी भी देश की आर्थिक स्थिति का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उस देश की सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। अतः इस परिच्छेद में हम भारत की धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों पर विचार करेंगे।

भारतीयों का धार्मिक जीवन—भारतीय लोगों के जीवन में धर्म का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है। उसने भारतीय समाज में एकसूत्रता स्थापित करने वाली शृंखलाओं को उसके सङ्गठन के मूलस्रोतों को, भारतीय इतिहास की मूल प्रवृत्तियों की गतिविधि को निश्चित करने में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है। भारतीय जीवन का अंग-प्रत्यङ्ग इसी धार्मिक भावना से अनुप्राणित होता रहता है। भारतीय जीवन का कोई भी अंग चाहे वह सामाजिक हो या आर्थिक, धर्म द्वारा अवश्य प्रभावित हुआ है।

प्रायः धर्म के वास्तविक रूप से लोग अपरिचित हो जाते हैं, उसे भूल जाते हैं, और उसके वाह्य रूप को ही अपना कर उसी में वास्तविकता का अनुभव कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। धर्म की विशालता उनकी दृष्टि से लोप हो जाती है, उनका विशाल दृष्टिकोण एक सङ्कुचित धर्मान्धता में परिवर्त्तित होकर उनके सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन के क्रियाकलापों को निर्धारित करने लगता है। ठीक यही बात भारतीयों के धर्म के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यहाँ भी एक मूल धर्म की शाखाएँ, उपशाखाएँ अपने नवीन रूप में प्रदर्शित होती हैं। ऊपर से देखने पर पता चलता है, कि इनमें विभिन्नता की मात्रा अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी है किन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो हमें धर्म की इस विभिन्नता या विविधता में एकता के दर्शन होने लगेंगे। यदि हम इन धर्मों पर पड़े हुए बाहरी आवरण को अलग कर दें तो हमें इनके मूल में एक ही प्रमुख भाव सूत्र कार्य करता हुआ, दृष्टिगोचर होगा।

भारतीयों के धर्म की या यूँ कह लीजिये कि यदि हिन्दू धर्म के मूलसिद्धान्तों का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उसका लक्ष्य लौकिक सुखों का परित्याग कर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर, स्वर्ग की प्राप्ति करना है। इस प्रकार भारतीय धर्म के मूल सिद्धान्तों तथा पाश्चात्य भौतिक-

वादी सिद्धान्तों में आकाश पाताल का अन्तर है। आज की पाश्चात्य सभ्यता भौतिकता को ही सब कुछ मानती है। यही कारण है कि उनकी इस भावना ने उनके आर्थिक जीवन को अधिक सुखमय बना दिया है। पश्चिमीय देशों में, वैज्ञानिक और आर्थिक विकास ने उनकी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बना दिया है। परन्तु वास्तव में न तो उन्होंने पूर्ण प्रसन्नता की ही प्राप्ति की है और न पूर्णरूप से दरिद्रता को ही दूर करने में सफल हुए हैं। इसके विपरीत भारतीय धर्म में भौतिकता के लिए कोई विशेष स्थान नहीं हैं। परन्तु आज भारतीय धर्म के विरुद्ध कितने व्यक्ति अपनी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। आज के शिक्षित समाज का अधिकांश भारतीय धर्म के प्रति विरोधी भावना रख रहा है। इसका उत्तरदायित्व हमारे धर्म के ठेकेदारों पर ही है। कुछ लोगों का यह कहना है कि भारतीयों के निराशावादी दृष्टिकोण के लिए यहाँ की धार्मिक रूढ़िवादिता ही उत्तरदायी है। परन्तु ऐसी धारणा उपयुक्त नहीं। भारतीय आध्यात्मिकता देश की दरिद्रता तथा निराशावादिता के लिये उत्तरदायी नहीं है। हमारा सच्चा धर्म हमें एक अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए, पुरुषार्थ करने के लिए, उद्योगी जीवन बिताने के लिए, परिश्रम करने के लिए पथ-प्रदर्शित करता है। वह हमें यह नहीं सिखलाता कि **'तुम सदैव दरिद्रता के ही पाश में पड़े रहो, निराशपूर्ण भावनाओं में कुढ़ते रहो।' वह यह नहीं कहता कि 'तुम परिश्रम से अपना मुख मोड़ लो, पुरुषार्थ की ओर पीठ फेर कर खड़े हो जाओ।'** हाँ वह यह अवश्य सिखलाता है कि अपने जीवन को भौतिकता में ही मत डाले रहो, धन के आगे अपने कर्त्तव्य का बलिदान मत करो, धर्म के नाम पर अमानवीय कृत्यों को मत करो। संसार में रहकर सम्पत्ति का उत्पादन करो किन्तु उसका उपयोग समाज सेवा के लिये ही करो। इस प्रकार तुम अपने लौकिक तथा पारलौकिक जीवन का निर्माण करो।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में निर्धनता तथा निराशावादिता ने अपना अड्डा जमा रखा है। पर हम अपने इन अभावों के लिए सारा दोष धर्म के सर पर ही नहीं मढ़ सकते। इन कारणों के लिये यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति तथा यहाँ की जलवायु भी उत्तरदायी है। विदेशी शासन व हमारी अशिक्षा ने हमारी इस निर्धनता को बढ़ाया है, भारतीयों के दृष्टिकोण को निराशावादी बनाया है, न कि धर्म ने। कहना न होगा कि भविष्य में भारतीय धर्म ही भारत में ही नहीं वरन् समस्त विश्व में आर्थिक विषमता का नाश कर विश्व को शान्ति, प्रसन्नता और समृद्ध के पथ पर अग्रसित करेगा।

सामाजिक संस्थाएँ, जाति प्रथा—भारतीय समाज की दूसरी महत्वपूर्ण संस्था यहाँ की जाति प्रथा है। यह एक बहुत प्राचीन संस्था है परन्तु यह कहना कि इसका जन्म कब हुआ, सम्भव नहीं। इसका प्रारम्भ आज से कितने ही वर्ष पूर्व हुआ था, परन्तु भारतीय समाज का संगठन आज भी उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है।

कतिपय विद्वानों ने इस जाति या वर्ण व्यवस्था के जन्म के विषय में निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की, परन्तु वे कोई पूर्णरूप से सत्य एवं विश्वसनीय परिणाम पर नहीं पहुँच सके। इस विषय में डा० मार्शल का विचार है कि आदिकाल में जब कि समाज का वर्गीकरण धार्मिक, राजनैतिक, सैनिक तथा औद्योगिक समूहों में होता गया तो ये सभी वर्ग बाद में जाकर जातियों में परिवर्तित होते गए। जेम्स मिल का विचार है कि श्रम की आवश्यकता के अनुसार ही समाज का यह वर्गीकरण हुआ, जो बाद में जाकर जाति-प्रथा के नाम से प्रचलित हुआ।

इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिये कि भारतीय ऋषि-मुनि तथा विचारक धार्मिक चिन्तन-मन्थन में ही व्यस्त रहते थे, वे राजनीति के पचड़े में बहुत कम पड़ते थे। जहाँ तक सामाजिक व्यवस्था का सम्बन्ध था, उनका उद्देश्य एक सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ समाज का संगठन करना था, इस उद्देश्य की पूर्ति वे धार्मिक रीति से करना चाहते थे। अतः प्राचीनकाल में समाज की व्यवस्था के

लिए सम्पूर्ण जन समुदाय चार वर्णों में विभक्त कर दिया गया। ये वर्ण वस्तुतः सामाजिक जीवन के अनेक पेशों और कार्यों पर निर्भर थे।

जो व्यक्ति जिस वर्ण का कार्य करता था, वह उसी वर्ण में गिना जाता था। पुरोहित और उपाध्याय, ब्राह्मण कहलाते थे। इनका कार्य पढ़ना, पढ़ाना, दान लेना और दान देना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना था। शासक और योद्धा क्षत्रिय कहलाते थे। इनका कार्य समाज और देश की शत्रुओं से रक्षा करना था। कृषकों तथा व्यापारियों की गिनती वैश्यों में होती थी। इन पर समाज के भरण-पोषण का कार्य था; ये कृषि, गो-रक्षा और व्यापार करते थे। शिल्पकार, श्रमिक और श्रमजीवी लोग शूद्र कहलाते थे, ये अन्य तीन वर्णों की नाना प्रकार से सेवा करते थे। इस प्रकार वर्णगुण-कर्मानुसार थे। जो जिस कार्य को करता था, वह इस वर्ण का माना जाता था। एक वर्ण के परिवार में जन्में हुए व्यक्ति के लिए, दूसरे वर्ण में प्रविष्ट होने में कोई बाधा नहीं थी। प्रत्येक वर्ण की समाज के लिए, उपयोगिता थी, अतः सभी का समाज में सम्मान था, ऊँच-नीच का भेदभाव न था। धीरे-धीरे वर्णों में अन्तर हो गया, कर्म का सिद्धान्त लुप्त हो गया और जन्म से इसका निश्चय किया जाने लगा। एक वर्ण के लोग कोई भी कार्य करते हुये जन्म के कारण उसी वर्ण के गिने जाने लगे। इससे कई हानियाँ हुईं, हमारे समाज में कई दोष, कई बुराइयाँ, कई कुरीतियाँ आ घुसीं। हमारे ऋषियों और महर्षियों ने वर्ण-व्यवस्था की जो सुन्दर योजना बनाई उसका रूप विकृत हो गया। यहाँ पर हम यह विचार करेंगे कि इस वर्ण व्यवस्था से कौन-कौन मुख्य लाभ थे।

इससे मुख्य-मुख्य लाभ ये थे :—

(१) **सामाजिक उन्नति**—इस प्रथा के कारण समाज में कुछ ऐसे भिन्न-भिन्न वर्ग बन गए जो पूर्ण रूप से संगठित थे जिनमें श्रम का विभाजन भली-भांति होता था। एक वर्ग के लोग आपस में अधिक प्रेम और सहानुभूति रखते थे। प्रत्येक वर्ग अपने कार्य को सम्मान की दृष्टि से देखता और दूसरे के कार्यों में बाधा नहीं डालता था। प्रत्येक वर्ण के लोग दूसरे की सहायता करना अपना परम धर्म समझते थे। एक वर्ण के लोग अपनी सुविधा के लिए अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद के केन्द्र, धर्मशाला, मन्दिर, सार्वजानिक कुएँ इत्यादि बनवाते थे।

(२) **कार्यकुशलता**—प्रत्येक वर्ण अपने कार्य में पूर्णरूपेण अभ्यस्त और अनुभवी होता था। प्रत्येक वर्ण के लोग अपना निर्दिष्ट कार्य करते थे। पुत्र अपने पिता से अपना परम्परागत पेशा सीखता था, इससे उसे वंशागत कार्य-कुशलता प्राप्त होती थी, इसका उस समय और महत्त्व था जब कि इस प्रकार की शिक्षण संस्थाओं का अभाव था। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण के लोग अपने-अपने कार्यों में दक्ष तथा प्रवीण होते थे।

(३) **व्यक्तित्व का विकास**—प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह धनी हो या निर्धन, छोटा हो या बड़ा बराबर समझा जाता था। प्रत्येक जाति के व्यक्तियों का एक सङ्घ होता था, यह संघ प्रत्येक छोटे से छोटे व्यक्ति के लिए शिक्षा तथा काम-काज की व्यवस्था करता था। लोग छोटे-छोटे असहाय बच्चों, परिवारों या निर्धन कुटुम्बों की सहायता करना अपना प्रधान धर्म समझते थे।

(४) **जनतन्त्र का विकास**—समाज के इस प्रकार वर्गों में विभाजित होने के कारण ही ग्रामों में स्वतन्त्र संस्थाओं का विकास हुआ था। इसने अशान्ति पूर्ण वातावरण में शान्ति की स्थापना की और लोगों के आर्थिक विकास में सहायता पहुँचाई।

(५) **विदेशी आक्रमण से समाज की रक्षा**—जाति प्रथा से एक और लाभ था वह यह कि विदेशियों के आक्रमण से सामाजिक संगठन को विशेष हानि नहीं पहुँच पाती थी। समाज में भय, निराशा और अशान्ति नहीं फैलने पाती थी।

इस प्रकार प्राचीन काल में इस वर्ण व्यवस्था से, जाति प्रथा से कितने लाभ थे, यह ऊपर की बातों से सिद्ध हो चुका। परन्तु धीरे-धीरे यह वर्ण व्यवस्था जटिल रूप धारण करती गई, उसमें अनेक भेद हो गए। आज हमारे देश में लगभग तीन हजार से भी अधिक जातियाँ हो गई हैं, उनमें अनेक कुरीतियाँ और कुरूढ़ियाँ घुस आई हैं। जहाँ इससे इतने लाभ थे, वहाँ इसकी हानियों ने उन पर परदा डाल दिया।

इस जाति-पाँति से जो हानियाँ हुई हैं, उनमें से मुख्य-मुख्य का उल्लेख नीचे दिया जा रहा है—

१—जाति भेद से समाज छिन्न-भिन्न हो गया है। राष्ट्रीय एकता की भावना को इससे गहरा धक्का लगा है। इसी कारण हिन्दू और भारतीय राष्ट्र की शक्ति काफी क्षीण हुई है।

२—प्रत्येक जाति का दृष्टिकोण संकुचित हो गया है। पारस्परिक ईर्षा और द्वेष की वृद्धि हुई। अपने फूट और असंतोष के कारण ये लोग राजनैतिक क्षेत्र में कभी एक न हो सके और विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध एक संयुक्त और सुसंगठित मोर्चा न बना सके, इससे विदेशियों को भारतीयों पर विजय प्राप्त करने में कोई विशेष कठिनाई न हुई।

३—इसके कारण समाज की आर्थिक उन्नति में भी बाधा पड़ती है। प्रत्येक जाति का भिन्न-भिन्न पेशा होने के कारण उनका स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता।

४—इस प्रथा के अनुसार समाज के श्रम का विभाजन ठीक नहीं है। कुछ लोग दिन भर परिश्रम करते हैं तब भी उन्हें पेट भर भोजन नहीं मिल पाता और दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो बिना परिश्रम किए या थोड़े परिश्रम से ही आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं।

५—सामाजिक सुधार में जाति-पांति के इस भेद ने सदा रोड़ा अटकाया है।

६—इससे स्त्रियों के सामाजिक विकास में काफी धक्का पहुँचा है। इसके अनुसार स्त्रियों को स्वतन्त्र रूप से पाणिग्रहण करने का तो कोई स्थान ही नहीं है।

७—इस प्रथा ने उच्च जातिवालों में व्यर्थ का दम्भ तथा घमण्ड उत्पन्न किया है, जिससे उन लोगों ने अन्य जाति वालों को हमेशा नीची दृष्टि से देखा है।

८—इसके अस्पृश्यता जैसे दूषित रोग को समाज के गले लगाकर उसके विकास में बाधा पहुँचाई है।

६—जाति प्रथा ने श्रम और पूँजी की गतिशीलता में भी बाधा पहुँचाई है।

१०—इसके कारण समाज के श्रमिक, पूँजीवादी तथा बुद्धिवादी वर्ग में सामञ्जस्य नहीं स्थापित हो सका है जिससे बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में बाधा पहुँची है।

विशेष वक्तव्य—आज संसार के सभी देशों का वह विषम अन्तर दूर हो गया है। यातायात के साधनों के विकास से एक देश का दूसरे देश से सम्बन्ध स्थापित होने में, एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति से सामञ्जस्य स्थापित करने में, शिक्षा का प्रचार बढ़ने के कारण लोगों की विचार धारा में कुछ परिवर्तन हुआ है। पाश्चात्य देशों की सभ्यता के प्रभाव ने भारत पर भी अपना सिक्का जमाया है। लोगों के विचारों की संकीर्णता दूर हो रही है, उनके विचार उदार तथा दृष्टिकोण विशाल हो रहे हैं। जाति-पाँति के कारण लोग जिन पेशों को करते थे, वे आज के समाज की मांगों को पूरा करने में असफल हुए हैं। आज का शिक्षित वर्ग जाति-पाँति के इन संकुचित बन्धनों में बाँधना नहीं पसन्द करता, वह प्रत्येक वर्ग के साथ उठने बैठने में, प्रत्येक जाति के व्यक्ति के साथ भोजन आदि करने में कोई हानि नहीं समझता। इस कारण जाति-पांति का यह भेद और भी ढीला हो रहा है। छुआछूत को दूर करने में यातायात के आधुनिक साधनों ने भी काफी सहायता पहुँचाई है। उच्च तथा नीच वर्ण के व्यक्ति एक गाड़ी या ट्राम के एक डिब्बे में साथ-साथ बैठते हैं। एक ही डिब्बे

में वे खान-पान भी करते हैं। जाति-पाँति के इस भेद-भाव को दूर करने के लिए हिन्दू समाज में भी समय-समय पर सुधारकों ने लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' ने भी जाति-पाँति के इस भेद को दूर करने में अच्छा हाथ बँटाया है। इस्लाम धर्म के प्रचार के कारण, तथा उत्तर भारत में सिक्ख सम्प्रदाय की उदार भावनाओं के कारण भी जाति-पाँति के बन्धनों के ढीले होने में सहायता पहुँची है।

अभी हाल में भारतीय संविधान निर्माताओं ने ऊँच-नीच के भेद-भाव को दूर करने के लिए, जाति प्रथा के बंधनों को ढीला करने के लिए संविधान में यह स्पष्ट कर दिया है कि समाज में कोई भी व्यक्ति किसी विशेष वर्ग में जन्मित होने के कारण छोटा नहीं समझा जायगा। उसे अन्य नागरिकों की भाँति समान अधिकार प्राप्त होंगे।

आशा है निकट भविष्य में हमारे सामाजिक मानस-पटल से कलंक का यह धब्बा छूट जायगा, और भारतीय समाज एक स्वस्थ्य, सुसंगठित समाज बनाने में समर्थ हो सकेगा।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली—भारत में समाज की इकाई व्यक्ति न हो कर कुटुम्ब है। यहाँ कुटुम्ब अविभाजित और संयुक्त होता है। पश्चिमीय देशों में कुटुम्ब के अन्दर साधारणतया पति-पत्नी तथा छोटे बच्चे होते हैं, परन्तु भारत में एक कुटुम्ब में कई व्यक्ति मिलकर रहते हैं। ये कुटुम्ब प्रायः पितृ प्रधान होते हैं। जिस प्रकार जाति-व्यवस्था विशेषकर हिन्दुओं तक ही सीमित है, उसी प्रकार संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली भी हिन्दुओं में ही पाई जाती है।

संयुक्त कुटुम्ब में पति, पत्नी, पिता, माता, पितामह, मातामही, चाचा, चाची, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्रबधू, पुत्री, दामाद, पौत्र—आदि सब सम्मिलित होते हैं। सब का भोजन एक स्थान पर बनता है और सब सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं। परिवार की सम्पत्ति भी सम्मिलित समझी जाती है। सब से वयोवृद्ध और ज्येष्ठ पुरुष कुटुम्ब का स्वामी होता है। उसी के द्वारा परिवार का आयव्यय होता है। सब कमाने वालों की आय उसी के पास एकत्र होती है। परिवार के सब प्राणी उसी की आज्ञानुसार कार्य करते हैं। कुटुम्ब की मर्यादा, उसकी आर्थिक स्थिति तथा अन्य बातों का वह पूरा-पूरा ध्यान रखता है।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली से जहाँ पर अनेक लाभ हैं, वहीं उससे कई हानियाँ भी हैं। यहाँ पर पहले हम उससे होने वाले लाभों का वर्णन करते हैं :—

(१) नागरिकता का प्रथम महाविद्यालय कुटुम्ब ही होता है, इसमें देश के भावी नागरिकों को अच्छी शिक्षा मिल जाती है। यहीं बच्चों को मिल जुलकर, एक दूसरे की सहायता करने और पारस्परिक प्रेम भावना की शिक्षा मिल जाती है।

(२) इससे अनाथों की शिक्षा एवं रक्षा में कुछ सुविधा होती है, तथा बीमारी या वृद्धावस्था में अच्छी सहायता मिल जाती है।

(३) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली से घर की प्रतिष्ठा, आदर सम्मान अधिक रहता है।

(४) सम्मिलित सम्पत्ति होने के कारण आय के मार्ग भी अधिक होते हैं। भोजन की व्यवस्था एक स्थान पर होने से व्यय कम होता है।

(५) आज का युग पूँजीवादी परम्परा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द कर रहा है। सोवियत रूस की समाजवादी विचारधारा की ओर लोग आकर्षित हो रहे हैं। परन्तु यह सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। हिन्दुओं की संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में हमें इसी सिद्धान्त के बीज मिलते हैं, जहाँ कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करता तथा आवश्यकता के अनुसार उपभोग करता है।

(६) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली निस्वार्थ भाव से सेवा करने तथा सहकारिता की भावना की वृद्धि करने में सहायता पहुँचाती है। 'सब कुछ एक के लिए और एक समस्त के लिए' वाली भावना इसका उद्देश्य रहता है।

इस प्रकार संयुक्त कुटुम्ब सामाजिक गुणों के लिए, शिक्षण क्षेत्र, बेकारी की समस्या का हल, अपंगों तथा निर्धनों को सहायता देने में राज्य का समकक्ष, तथा अनाथों एवं विधवाओं का शरण गृह है। यह एक प्रकार से सामाजिक बीमे की व्यवस्था करता है जिसका प्रबन्ध हमारी सरकार करने में असमर्थ है।

परन्तु आज के आर्थिक तनातनी के इस युग में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में अनेक दोष या दुर्गुण भी आ घुसे हैं, उससे कई हानियाँ भी हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

हानियाँ—परिवार के भरण-पोषण का सारा उत्तरदायित्व घर के सबसे बड़े व्यक्ति पर होने के कारण, कुछ सदस्य अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण अनुभव नहीं करते।

(२) परिवार के कतिपय सदस्यों में आत्म निर्भरता और स्वयं कुछ करने की इच्छा का विनाश हो जाता है।

(३) संयुक्त परिवार का कोई व्यक्ति अपनी सन्तान के लिए ही अपनी सब संपति नहीं छोड़ सकता अतः धनोपार्जन में उसे विशेष उत्साह नहीं रहता।

(४) कुटुम्ब में आदमियों के अधिक होने और आय कम होने के कारण निर्धनता अपना अड्डा जमा लेती है।

(५) ऐसे कुटुम्बों में प्रायः छोटी-छोटी बातों पर झगड़े हुआ करते हैं, विशेषकर स्त्रियों में इस प्रकार के कलह अधिक हुआ करते हैं और पारिवारिक जीवन एक कटु अभिशाप सा बन जाता है।

(६) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में प्रायः परदा-प्रथा रहती है जिससे पति-पत्नी के ऐसे मिलने के अवसर कम आते हैं जिससे एक दूसरे को बौद्धिक, सांस्कृतिक या आत्मिक विकास की सुविधा हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली आज के युग में सामाजिक प्रगति में कदम से कदम मिलाकर चलने में असमर्थ है। यह प्रथा आजकल धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। आवागमन के साधनों में वृद्धि होने के कारण कुटुम्ब के लोग जीविका की खोज में नगरों में जाने लगे हैं। आजकल लोगों में वैज्ञानिक विचारों की वृद्धि होती जा रही है। पहले प्रायः एक परिवार के सब आदमी एक ही प्रकार के उद्योग-धन्धों से आजीविका प्राप्त करते थे। अब यातायात के साधन अनेक होने तथा जीवन संग्राम की कठिनाई के दिनोदिन बढ़ने से परिवार के जिस आदमी को जहाँ जिस प्रकार कार्य करने का अवसर मिलता है, वह उसे करने लगता है। इस तरह परिवार के सदस्यों के दूर-दूर रहने का प्रसंग बढ़ता जाता है। परन्तु सम्मिलित कुटुम्ब से होने वाले लाभों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके अन्दर यदि एक ओर कुछ दुर्गुण हैं तो गुणों की संख्या कुछ न्यून नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली के दोषों का निवारण करें और उसके गुणों को ग्रहण कर अपने सामाजिक जीवन को सुखमय बनावें, सामाजिक उन्नति के लिए हमें इससे पारस्परिक सहानुभूति, सहयोग और त्याग के भावों की शिक्षा लेनी चाहिए और अपने समाज को सुदृढ़ बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

उत्तराधिकार के नियम—ऊपर संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के विषय में प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ पर भारतीय समाज की एक दूसरी विशेषता उत्तराधिकार के नियमों पर विचार करेंगे।

इन उत्तराधिकार के नियमों का भी हमारे आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस समय हमारे देश में उत्तराधिकार के दो प्रमुख नियम 'दायभाग' तथा 'मिताक्षरा' प्रचलित हैं। दायभाग की प्रथा बंगाल में लागू होती है। मिताक्षरा भारत के अन्य भागों में लागू होता है।

(अ) मिताक्षरा—इस पद्धति के अनुसार परिवार के सभी सदस्य, यहाँ तक कि पिता के जीवन काल में पुत्र भी, परिवार की सम्पत्ति के स्वामी होते हैं। कुटुम्ब का बड़ा-बूढ़ा केवल प्रबन्धक का ही कार्य करता है। परिवार के अन्य सदस्यों की सलाह बिना वह परिवार की सम्पत्ति का विक्रय आदि नहीं करता है। कुटुम्ब एक प्रकार से समिति या संस्था का कार्य करता है जिसके सदस्यों के व्यक्तिगत अधिकारों की अलग व्याख्या नहीं की जाती। किसी भी सदस्य की मृत्यु के पश्चात् उसके भाग के विभाजन का साधारणतया कोई प्रश्न नहीं उठता। वह अपने आप ही परिवार के शेष सदस्यों द्वारा प्रयुक्त किया जाने लगता है। जब तक संयुक्त परिवार का विभाजन नहीं होता यही क्रम चलता रहता है, यदि कोई सदस्य बँटवारा चाहता है तो सम्पत्ति का बँटवारा हो जाता है।

(ब) दाय भाग—इस प्रथा के अनुसार परिवार का अध्यक्ष जीवन भर परिवार की संपत्ति का पूर्ण अधिकारी रहता है और परिवार की भलाई के लिए जब वह सम्पत्ति का क्रय या विक्रय करना चाहता है स्वेच्छानुसार कर देता है। इस नियम के अनुसार संयुक्त सम्पत्ति का उत्तराधिकार कुटुम्ब के अध्यक्ष के पश्चात् आनेवाले के हाथ में चला जाता है। यहाँ पिता और पुत्र के हिस्सों का कोई बँटवारा नहीं होता, हाँ यह बँटवारा भाई-भाइयों में अवश्य होता है।

इन दोनों नियमों के अनुसार स्त्रियों को अपनी पूर्वजों की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहता।

दोनों नियमों के अनुसार कुटुम्ब का अध्यक्ष ही सम्पत्ति का प्रधान होता है। भारत में ज्येष्ठता के अनुसार सम्पत्ति के उत्तराधिकार की प्रथा नहीं है, हाँ यह प्रथा राज्यों के शासकों के सम्बन्ध में अवश्य चलती है जिसमें बँटवारा नहीं होता और सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी ज्येष्ट पुत्र ही होता है। परन्तु साधारणतया संयुक्त सम्पत्ति की प्रथा पूर्व में तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा पश्चिम में है।

(स) मुसलमानों में—इस्लामी कानून सम्पत्ति का अधिकार पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को देता है। परन्तु व्यवहार में अधिकांश राज्यों में मुसलमानों में हिन्दुओं की ही उत्तराधिकार पद्धति का प्रचलन है।

उत्तराधिकार के नियमों का आर्थिक प्रभाव—इस प्रकार हिन्दुओं तथा मुसलमानों के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों में बहुत कुछ साम्य हैं। सम्पत्ति के विभाजन में ज्येष्ठ या कनिष्ठ का भेद नहीं रहता। इस प्रकार लोगों के दिलों में विषमता की भावना की उत्पत्ति नहीं होती। इन नियमों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ करने में अच्छी सहायता मिल जाती है, और एक स्वाभिमानी मध्यम वर्ग का जन्म होता है। यह मध्यम वर्ग समाज तथा सरकार दोनों की रीढ़ के समान होता है। ग्रामों में इससे स्वतन्त्र कृषक-भू-स्वामी वर्ग की उत्पत्ति होती है जो विदेशियों से अपनी रक्षा करने तथा आन्तरिक शान्ति की स्थापना करने में सहयोग प्रदान करता है। हाँ यहाँ अवश्य है कि इसमें व्यक्ति का भाग बहुत थोड़ा रहता है किन्तु उससे प्रत्येक व्यक्ति को कठिन परिश्रम की प्रेरणा मिलती है, उनमें स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न होती है। पूँजीवाद के दोषों से समाज बचा रहता है, सम्पत्ति का समान वितरण होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उत्तराधिकार के इन नियमों में सब गुण ही गुण भरे हैं। इसमें अनेक दोष भी हैं इससे भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाती है, जिससे उत्पादन पर बुरा असर पड़ता है। इस नियम से मुकदमेंबाजी आदि को बड़ा बल मिलता है। इसमें धन-दौलत का बड़ा नाश होता है।

भारत में पञ्चायतें—यहाँ पर यदि पंचायतों को विषय में भी कुछ विचार कर लिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। प्राचीन काल में पंचायतें भारतीय समाज के संगठन की सुदृढ़ दीवारें थीं। भारत में विदेशी शासन सत्ता के स्थापित हो जाने से, शासन का केन्द्रीयकरण हो जाने से, स्वतंत्रता

का अपहरण हो गया, फलतः इन संस्थाओं का भी पतन हो गया। देश के पराधीनता की शृंखलाओं से मुक्त हो जाने से, दासता के बन्धनों के टूट जाने से, पञ्चायतों की पुनः स्थापना करने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। अभी १९४९ में उत्तर प्रदेश में तथा अन्य राज्यों में पञ्चायत राज कानून पास हुआ है जिसके अनुसार इस राज्य के बहुत से ग्रामों में पञ्चायतों की स्थापना हुई है, तथा अभी हो रही है। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र भारत के राज्यों की सरकारें अधिक से अधिक पञ्चायतों की स्थापना कर रही हैं। यह बात स्पष्ट हो गई है कि सरकार की स्थिरता तथा दृढ़ता पञ्चायतों पर ही निर्भर है।

हम पञ्चायतों के कार्य, अधिकार और आय आदि की बातों को स्पष्ट करने के लिए उत्तर प्रदेश की पंञ्चायतों की मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करते हैं। अन्य राज्यों की पञ्चायतों सम्बन्धी स्थिति इससे मिलती-जुलती है। उत्तर प्रदेश में कुछ ग्रामों तथा ग्राम-समूहों के लिए तीन संस्थाएँ हैं—(१) ग्राम सभा (२) ग्राम पञ्चायत (३) पञ्चायती अदालत।

(१) **ग्राम सभा** - साधारणतया लगभग एक-एक हजार जनसंख्या वाले गाँव या ग्राम समूह में ग्राम सभा स्थापित की जाती है। यदि किसी ग्राम की जनसंख्या एक हजार से कम हो और उसे निकटवर्ती गाँव या गाँवों में न मिलाया जा सके, तो उसमें एक पृथक ग्राम सभा होती है। ग्राम क्षेत्र के सब प्रौढ़ व्यक्ति ग्राम सभा के आजीवन सदस्य होते हैं। ग्राम सभा की प्रतिवर्ष दो बैठकें होती हैं—खरीफ की बैठक और रबी की बैठक। ग्राम सभा अपने सदस्यों में से एक सभापति और एक उपसभापति चुनती है जो तीन-तीन वर्ष तक अपने पद पर रहते हैं। सभा के सदस्यों की कार्य-निर्वाहन संख्या उनकी कुल संख्या का पाँचवा भाग होती है।

ग्राम पंचायत—प्रत्येक ग्राम सभा अपने सदस्यों में से एक कार्यकारिणी समिति निर्वाचित करती है। उसकी यह समिति ग्राम पंचायत कहलाती है। पंचायतें अपने क्षेत्र के अन्दर प्रायः वे ही कार्य करती हैं जो कि नगर पालिकाएँ नगरों में। वे गाँवों के कृषि, व्यापार, उद्योग, स्वास्थ्य, यातायात आदि की व्यवस्था करती हैं। वे अपने क्षेत्र के बाजारों, मेलों, हाटों को नियन्त्रित करती, पशु गणना, मनुष्य गणना, और ऐसे दूसरे आंकड़ों के सम्बन्ध में निर्धारित विवरण रखतीं, गावों में सहकारिता सम्बन्धी कार्यों की उन्नति और उत्तम बीज तथा औजारों आदि के भंडार स्थापित करती हैं। इस प्रकार पंचायतें सारे गाँव का प्रबन्ध करती हैं।

इसके अतिरिक्त पंचायतों को कुछ न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं। पंचायती अदालतों को दीवानी, फौजदारी तथा माल के निर्धारित अधिकार प्राप्त हैं। जो मुकदमा पंचायती अदालत के अधिकार का होता है, उसे कोई दूसरी अदालत नहीं करती। पंचायती अदालत को दीवानी के १००) तक की मालियत का मुकदमा करने का अधिकार होता है। सरकार इस अधिकार को ५००) तक बढ़ा सकती है। फौजदारी के कुछ मुकदमों के उदाहरण ये हैं—सार्वजनिक मार्ग पर लड़ाई, सम्मन तामिल न करना, अश्लील क्रिया या गीत, मारपीट, हमला, किसी को बन्द करने के लिए हमला, जबरदस्ती, बेगार, ५०) से कम मूल्य की चोरी, आदि। पंचायती अदालत को कैद की सजा देने का अधिकार नहीं है, वह केवल १००) तक जुर्माना कर सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे सामाजिक जीवन में इन ग्राम पंचायतों का बड़ा महत्त्व है। आशा है निकट भविष्य में पंचायतें ग्रामीण जीवन के स्तर को उच्च करने में, गावों का आर्थिक पुनर्निमाण करने में अच्छी सहायता पहुँचायंगी।

———

पाँचवाँ परिच्छेद

कृषि

देश के आर्थिक जीवन में कृषि का महत्व—पिछले परिच्छेदों में हमने भारत की भौगोलिक तथा सामाजिक पृष्ठ भूमि पर प्रकाश डाला, अब हम देश की कृषि सम्बन्धी स्थिति पर विचार करेंगे। भारत में लगभग ७५% जनता कृषि में व्यस्त रहती है, अतएव उसके लिए कृषि तथा तद्जनीन समस्याएँ अपना क्या महत्त्व रखती हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ प्रत्येक तीन में से दो व्यक्ति ऐसे हैं जिनका कि मुख्य धन्धा कृषि है, शेष व्यक्ति भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसके द्वारा अपना जीवन-यापन करते हैं। देश की जनता जो कुछ भोजन करती है, वह अब यहीं के खेतों में उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त कृषि द्वारा उत्पादित अनेक वस्तुएँ हमारे कतिपय उद्योग-धन्धों के लिए कच्चा माल देती हैं। कृषि के द्वारा कितने ही आदमियों को काम मिलता है, कितने ही व्यापारियों को व्यापार मिलता है तथा सरकार को इससे एक बड़ी आय मिलती है।

इस प्रकार हम देखते है कि हमारे आर्थिक जीवन में कृषि का महत्व काफी है। कृषि की उन्नति से, उसके विकास से हमारे देश का उत्थान है, उसकी उन्नति है। देश की इतनी बड़ी जन-संख्या के कृषि में लगे रहने से कोई भी व्यक्ति यह सोचेगा कि भारत कृषि की दृष्टि से सबसे आगे बढ़ा हुआ देश होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश हमारी कृषि की वास्तविक स्थिति इससे कहीं विपरीत है। आखिर हमारी यह स्थिति क्यों हैं, इस पर हम यहाँ विचार करेंगे।

सबसे पहले हम इस धन्धे में लगी हुई जनसंख्या की ही बात लें। इस उद्योग में देश का कितना बड़ा जनसमूह लगा हुआ है, इस विषय में हम ऊपर कह ही चुके हैं। दिनोंदिन इस उद्योग में लगी हुई जनसंख्या में वृद्धि होती चली जा रही है। सन् १९०१ में केवल ६७.४% लोग कच्चे पदार्थों के उत्पादन में लगे हुए थे, १९२१ में यह संख्या बढ़कर ७३% हो गई। उधर भूमि पर भी जनसंख्या का भार बढ़ता ही जा रहा है, इस बात का स्पष्टीकरण १९११ के आंकड़ों से लग जायगा, इस समय हमारे उद्योगों में केवल १७.५% जनता ही लगी हुई थी, १९२१ में यह संख्या और घट कर १६.३% हो गई। इस ह्रास का यही कारण है कि उद्योग-धन्धों की अपेक्षा कृषि की ओर जनता का झुकाव अधिक है। भूमि पर इस प्रकार के भार के बढ़ जाने से अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। भूमि के कितने छोटे-छोटे टुकड़े हो गये हैं, जिससे उत्पादन पर बड़ा गहरा असर पड़ा है, एक ही धन्धे पर इतने अधिक लोगों के झुक जाने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है, उनकी निर्धनता में बजाय ह्रास होने के वृद्धि ही हुई है।

अपर्याप्त उत्पादन—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि यहाँ की अधिकांश जनता कृषि में लगी हुई है और यहाँ की कुल भूमि का ८०% भाग खाद्यान्न उत्पन्न करने में ही काम आता है किन्तु फिर भी भारत में इतना भी अन्न नहीं उत्पन्न हो पाता जिससे देशवासियों को पूरा और पर्याप्त भोजन प्राप्त हो सके। कुछ देशों में कृषि की स्थिति इतनी अच्छी है, और उत्पादन इतना अच्छा होता है कि वहाँ एक कुटुम्ब इतना खाद्यान्न उत्पन्न कर लेता है जिससे पाँच कुटुम्बों का पालन-पोषण हो जाता है, जब कि भारत का एक कुटुम्ब इतना भी उत्पादन नहीं कर सकता जिससे वह अपना व दूसरे कुटुम्ब के आधे सदस्यों का पेट भर सके। १९१४ के पूर्व भारत अन्य देशों को खाद्यान्न भेजता था जब कि आज बीस से लेकर तीस लाख टन तक अनाज उसे विदेशों से मंगाना पड़ता

है। जनसंख्या सम्बन्धी कुछ आंकड़ों के देखने से पता चलता है कि १९३१ में २५७० लाख तथा १९४१ में २९६० लाख की वृद्धि जनसंख्या में हुई उस समय कुल खाद्योत्पादन में ह्रास हुआ। १९२९-३० में ४९१ लाख टन खाद्यान्न उत्पन्न हुआ था, १९३९-४० में यह और घट गया, उस वर्ष केवल ४७२ लाख टन ही खाद्यान्न उत्पन्न हुआ।

भारतीयों के भोजन में आवश्यक पदार्थों का अभाव—भारत में जो कुछ अन्न उत्पन्न होता है वह अपर्याप्त तो होता ही है, साथ ही साथ उसकी पोषक शक्ति भी सन्तोषजनक नहीं होती। यहाँ लोगों का आहार असन्तुलित होता है, उनके भोजन में आवश्यक पोषक तत्त्वों का अभाव रहता है, भारतीयों के भोजन में दूध, फल, सब्जी तथा अण्डे जैसे पोषक तत्व बहुत ही कम मात्रा में रहते हैं, कितने ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें ये वस्तुएँ देखने तक को नहीं मिलतीं। यही कारण है कि अधिकांश भारतीय रोगग्रस्त रहते हैं उनकी आयु कम होती है, और उनकी मृत्यु संख्या अधिक रहती है। इन सब बातों का प्रभाव भारतीय कृषक की कुशलता पर पड़ता है, उसकी निर्धनता में वृद्धि होती है। १९३१-३२ में भारतीयों की औसत आय का अनुमान ६५ रु० वार्षिक लगाया गया था और उसमें भारतीय कृषकों की आय तो इससे भी कम आँकी गई थी। आजकल जब कि खाद्यान्नों का मूल्य इतना अधिक बढ़ा हुआ है तब भी उसकी आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। इस व्यापक निर्धनता का परिणाम यह हुआ है कि अधिकांश भारतीय ऋण-ग्रस्त हैं, भारत में ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं जिनकी आर्थिक स्थिति काफी अच्छी है। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर क्या कारण है कि हमारे देश के लोग इतने निर्धन हैं, कृषि कार्य में लगे हुए लोग इतना कम उत्पादन क्यों कर पाते हैं, संसार के अन्य निवासियों का आहार भारतीयों की अपेक्षा क्यों उत्तम होता है। अगले पृष्ठों में हम इन्हीं सब बातों पर प्रकाश डालेंगे।

राज्य का कार्य—कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय कृषकों की निर्धनता का एक मुख्य कारण उनका अशिक्षित होना है। यहाँ की अधिकांश जनता अशिक्षित है परन्तु जब हमारी जनता अशिक्षित होने के कारण निर्धन है, तो राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसको शिक्षित कर, उसके अभावों की पूर्त्ति कर उसे समृद्धि के पथ पर अग्रसित करे किन्तु जब हम अपने इतिहास के स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले के पृष्ठों को उलटते हैं तो हमें यह पता चल जाता है कि हमारी तत्कालीन सरकार ने इस दिशा में कोई सन्तोषजनक कार्य नहीं किया, यह वह समय था जब कि भारत में अंग्रेज शासन-यन्त्र सञ्चालित कर रहे थे और भारतीय जनता दासता के कठोर बन्धनों में जकड़ी हुई थी। ऐसे समय में इस दिशा में बहुत अच्छा कार्य हो यह आशा करना व्यर्थ था। अंगरेजों ने सदैव अपने स्वार्थ के लिए भारतीय हितों का बलिदान किया, उन्होंने ऐसी नीति अपनाई जिससे हमारे यहाँ के कितने ही घरेलू उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए और किसानों को कृषि के अतिरिक्त और किसी चीज़ का सहारा न रहा। कृषि के विकास इत्यादि की ओर उन्होंने जरा भी ध्यान न दिया, हाँ समय-समय पर होने वाले दुर्भिक्षों के कारण तथा अपनी भू-राजस्व सम्बन्धी आवश्यकता से बाध्य होकर उस सरकार ने कुछ उपाय अवश्य किए जिससे कृषि को कुछ सहारा मिला। सरकार की ओर से अच्छे बीजों, अच्छी खाद आदि का प्रचार किया गया, पशुओं की नस्ल सुधारने का भी प्रयत्न किया गया। सिंचाई के साधनों में भी वृद्धि हुई। ग्रामीणों के ऋण सम्बन्धी भार को भी दूर करने की कोशिश की गई, उनको महाजनों के चंगुल से बचाने के लिए गाँव में सहकारी ऋण और क्रय-विक्रय समितियों की स्थापना की गई। ग्रामों के आर्थिक पुनर्निमाण की भी योजना बनाई गई। परन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद भी ग्रामीणों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ, उनके रहन-सहन के

स्तर में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह था, कि रोग के मूल कारणों को दूर करने की अपेक्षा, उसके लक्षणों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इससे किसानों को एवं कृषि को विशेष लाभ नहीं हो सका।

मूल समस्या—भारतीय कृषि की मूल समस्या का सम्बन्ध भू-स्वामित्व तथा भूमि के उचित रूप से वितरण से है। यहाँ की भूमि का अधिकांश ऐसे व्यक्तियों के हाथ में है, जिनका कार्य केवल लगान वसूल करना है, उनको कृषि के विकास आदि के कार्यों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। दूसरे हमारी कृषि का एक बड़ा दोष यह भी है कि इस धन्धे में आवश्यकता से अधिक आदमी लगे रहते हैं। इसका भी हमारी कृषि पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। हमारे उत्तराधिकार के नियमों के फल स्वरूप खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में भी बँटे हुए हैं। यहाँ कितने ही खेत इतने छोटे हैं जिनका क्षेत्रफल एक-एक एकड़ भी नहीं, बहुत से खेत आधे एकड़ से भी कम हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से किसानों के पास एक से अधिक खेत होते हैं जो प्रायः एक दूसरे से दूर-दूर रहते है। इससे काश्तकारों की बहुत हानि होती है, बहुत दूर-दूर होने के कारण उनमें अच्छी प्रकार खेती भी नहीं की जा सकती, दूसरे आने-जाने में भी उनका बहुत समय नष्ट हो जाता है, उन्हें वैज्ञानिक यंत्र आदि का प्रयोग करने में बहुत असुविधा होती है, और वे उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते। इस प्रकार प्रति एकड़ भूमि की उत्पत्ति बहुत कम होती है। हमारी १६ प्रति सैकड़ा ऐसी भूमि है जिसमें फसल पैदा करना सम्भव है पर की नहीं जाती। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रतिवर्ष १० प्रति सैकड़े भूमि ऐसी होती है, जिस पर एक फसल बोकर बाद में उसे परती छोड़ दिया जाता है, जिससे वह आराम कर ले और उसके जो-जो तत्व फसल बोने से चले गए हैं, वह वायु-मंडल द्वारा उसमें आ जायँ। विचारपूर्वक फसलों को हेर-फेर से बोने का सिद्धान्त काम में लाने से परती भूमि पर खेती की जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी कृषि अनेकों दोषों से पूर्ण हैं। कृषि पर जनसंख्या का भार अधिक होते हुए भी उत्पत्ति पर्याप्त मात्रा में नहीं होती।

ये दोष कैसे दूर हों ?—उपरोक्त वर्णन से हमें अपनी कृषि के दोषों का थोड़ा सा परिचय मिल गया। हमने देखा कि इस व्यवसाय में हमारी जनसंख्या का कितने प्रतिशत भाग लगा हुआ है, फिर भी न तो उत्पादन में ही कोई विशेष प्रगति होती है और न लोगों के रहन-सहन के स्तर में ही। उत्पादन की वृद्धि के विशेष में तो आगे प्रकाश डाला जायगा। यहाँ हम कुछ मुख्य दोषों के दूर करने के उपायों पर ही विचार करेंगे।

सबसे पहली बात जो हमें इस विषय में कहनी है, वह यह है कि जो वास्तविक कृषक है, जो स्वयं अपने हाथों से कृषि का कार्य करता है, खेत जोतता-बोता तथा काटता है, उसे उसके श्रम का पूर्ण पुरस्कार प्राप्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य या जमींदारों की मांगें निश्चित तथा तर्कसंगत होनी चाहिए। इस बात का ध्यान रखा जाय कि कहीं जमींदार कृषक से अनुचित कर इत्यादि तो नहीं लेता, या कहीं ऐसा तो नहीं होता जिससे कृषक को अपने श्रम का पूरा-पूरा पारिश्रमिक नहीं मिलता। हर्ष की बात है कि स्वतंत्र भारत के कुछ राज्यों में किसानों को जमींदारों के अत्याचारों से बचाने के लिए जमींदारी उन्मूलन विधियाँ निर्मित की गई हैं जिनके अनुसार किसान भूमिधर बनकर अपनी भूमि के पूर्णरूप से स्वामी हो जायँगे, जमींदार का उसमें कोई हाथ नहीं रहेगा।

दूसरी बात यह है कि हमें कृषि की इकाई में वृद्धि करनी होगी। खेतों को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होने से बचाना होगा। यदि हम देश में वैज्ञानिक पद्धति से कृषि करना चाहते हैं, उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं तो इसके लिये हमें खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होना रोक कर, उन

विशाल क्षेत्र में परिवातत कर कृां ी होगी। इसके लिए यदि सहकारिता के आधार पर खेती की जायगी तो उससे हमें और भी अधिक लाभ होगा।

कृषि पर से जनसंख्या के भार को कम करने के लिये हमें नगरों तथा ग्रामों में लोगों के लिये नए-नए काम धन्धे देने होंगे। इसका तात्पर्य यह है कि हमें छोटे तथा बड़े दोनों पैमानों पर देश औद्योगीकरण करना होगा।

एक निश्चित आर्थिक योजना की आवश्यकता—यदि हम देश में उद्योग-धन्धों का पूर्ण रूप से संगठन नहीं करते, उनका विकास नहीं करते तो हमारी यह आशा करना कि हमारी कृषि में विकास होगा, उत्पादन में विशेष वृद्धि होगी, कृषि पर से जनसंख्या का भार हलका होगा, लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा, व्यर्थ है। कृषि तथा उद्योग-धन्धों के विकास के साथ ही साथ यातायात, वाणिज्य-व्यवसाय, बैंकिंग, करेन्सी इत्यादि के विकास, उनकी उन्नति का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। हमें इन सब की ओर सम्यक ध्यान देना होगा। इसके लिए हमारी केन्द्रीय सरकारों तथा राज्य की सरकारों को विशेष रूप से सतर्क रहना होगा। देश के सारे आर्थिक ढाँचे के पुनर्निमाण करने की, देश के आर्थिक नवनिर्माण करने की अतीव आवश्यकता है। भारत को स्वतंत्रता की प्राप्ति हो जाने से, देश में राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जाने से इस दिशा में क्रियात्मक कदम उठाया जा रहा है। हम यहाँ भारत की कृषि की वर्तमान असन्तोषजनक स्थिति पर प्रकाश डालेंगे।

भूमि का वर्गीकरण—हम प्रथम परिच्छेद में यह कह चुके है कि भारत की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए सबसे बड़ी कठिनाई विश्वसनीय, तथ्यों या आंकड़ों के प्राप्त होने में है। यह अभाव कृषि सम्बधी समस्या के अध्ययन करने में और भी अधिक खटकता है। इस कमी के होने काकारण हमारे ग्रामीण भाइयों की अशिक्षा तथा अधिकारियों की अकुशलता या अयोग्यता है। विश्वसनीय तथा सही आँकड़ों के प्राप्त करने की ओर प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है निकट भविष्य में हमारा यह अभाव दूर हो जायगा। भारत में कुल भूमि का वर्गीकरण इस प्रकार है—

भूमि का वर्गीकरण
(दस लाख एकड़ों में)

देश का नाम	वर्ष	कुल भूमि	वन	भूमि जो खेती के लिये प्राप्त न हो	बिना जुती भूमि जिस पर खेती हो सके	परती	कुल भूमि जो जोती गई	भूमि जो सींची गई
भारत वर्ष (देशी राज्यों को छोड़ कर)	१९४५—१९४६	४०३	६२.५	६२.४	६८.५	३७.९	१७०.८	३९.२
प्रतिशत	——	१००	१५.५	१५.५	१७	९	४२.४	२३
भारतीय संघ	१९५०	७८१	१०९	२५५	८८	५४	२७५	५५
प्रतिशत	——	१००	१४	३२.७	११	७	३५	२०

भारत सरकार के कृषि विभाग से प्रकाशित १९४५-४६ के आँकड़ों के अनुसार हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

(१) १९४५-४६ में कुल भूमि का ३१ प्रतिशत खेती के लिए प्राप्त नहीं था और यदि इसके अन्दर परती भूमि को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो इस वर्ग के अन्तर्गत ४० प्रतिशत भूमि भाग आ जाता है।

(२) भारतवर्ष की कुल भूमि का १७ प्रतिशत भाग ऐसा था जिस पर कृषि की जा सकती थी परंतु जो बिना जोती बोई पड़ी रही।

(३) भारत में कुल बोई हुई भूमि का २३ प्रतिशत भाग ही सींचा जा सका शेष भाग को जल वृष्टि पर ही निर्भर रहना पड़ा।

(४) भारत वर्ष में कुल भूमि भाग जो जोता गया था वह १७१० लाख एकड़ था जो कि १९४१ की जनगणना के अनुसार ग्रामीण आबादी का एक एकड़ प्रति व्यक्ति होता है, तथा कुल जनसंख्या के प्रति व्यक्ति के विचार एक एकड़ का ३/४ भाग ही होता है। यदि आज की अनुमानित जनसंख्या (३६ करोड़ १८ लाख) तथा कुल भूमि जो जोती गई, उसको लें तो प्रति व्यक्ति एक एकड़ का ३/४ भाग प्रत्येक के हिस्से में आता है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि १९५० में भारतीय संघ (राज्यों सहित) का कुल क्षेत्रफल ७८१० लाख एकड़ है जिसमें से १७५० लाख एकड़ भूमि में मकान, जंगल, पर्वत, नदियाँ आदि हैं। यदि हम उस भूमि को छोड़ दें जिसमें खेती नहीं हो सकती तो भारत में कृषि के योग्य भूमि ४१७० लाख है जिसमें से ५४० लाख एकड़ परती, २७५० लाख एकड़ में फसलें उत्पन्न होती हैं और शेष ८८० लाख एकड़ ऐसी भूमि है जिसमें खेती की जा सकती है पर की नहीं जाती।*

भारत की फसलें—सन् १९४०-४१ में कुल भूमि जो जोती गई (इसके अन्दर वह भी क्षेत्र सम्मिलित है जो एक बार से अधिक जोता गया) कुल २४८० लाख एकड़ थी। इसमें से ८० प्रतिशत में खाद्य फसलें उत्पादित की गई शेष २० प्रतिशत में अखाद्य पदार्थ उत्पन्न हुए। कुल उत्पादन का ७५ प्रतिशत खाद्य पदार्थ उत्पन्न हुआ। १९४८ में कुल भूमि जिसमें खाद्योत्पादन हुआ (इसमें गन्ना भी सम्मिलित है किन्तु तेलहन नहीं) वह १८०२ लाख एकड़ थी और अखाद्य पदार्थ (इसमें मसाले और तेलहन भी सम्मिलित हैं) उत्पन्न करने वाली भूमि का कुल-क्षेत्रफल ३६६ लाख एकड़ था। इससे हमारी आर्थिक स्थिति की असन्तोषजनक दशा का परिचय प्राप्त हो जाता है। हमारी जनसंख्या का ३/४ और हमारी जोती हुई भूमि का ४/५ भाग अन्नोत्पादन करने में लगा हुआ है, परन्तु इतना होने पर भी हमारे यहाँ पर्याप्त मात्रा में भोजन या खाद्य पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, जिनसे हम अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति कर लें। भारतीय संघ को अपनी इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए विदेशों से खाद्य-पदार्थ मंगाने पड़ते हैं। सन् १९४८ में २८लाख टन तथा १९४९ में ३७ लाख टन गेहूं और चावल विदेशों से आया। भारत सरकार ने आज से कुछ समय पूर्व यह घोषणा की थी कि भारत शीघ्र ही अन्नोत्पादन में स्वावलम्बी हो जायगा, अपनी यह आवश्यकता वह अपने आप ही पूरी कर लेगा, किन्तु आज भी हम देख रहे हैं कि हमारी खाद्य-सम्बन्धी समस्या दिनोंदिन उग्र रूप धारण करती चली जा रही है, आए दिन हम यहाँ खाद्याभाव पा रहे हैं। यह सब क्यों है? इसके विषय में विस्तारपूर्वक आगे लिखा जायगा।

यहाँ पर नीचे दी हुई तालिका से १९४७-४८ तथा १९४८-४९ में भारत तथा पाकिस्तान की फसलों का तुलनात्मक परिचय मिल जायगा।

खाद्य फसलें (लाख टनों में)

भारत	चावल	गेहूँ	ज्वार	बाजरा	मक्का	रागी	जौ	चना	कुल	गन्ना
१९४७-४८	१९६	५४	६०	६०	२१	१५	२६	४५	४४५	५८
१९४८-४९	१८६	५४	४८	४८	१८	१४	२३	४६	४१४	५०

*देखिये भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'अन्नोत्पादन में स्वावलम्बन' पृष्ठ ८

पाकिस्तान	चावल	गेहूँ	ज्वार	बाजरा	मक्का	रागी	जौ	चना	कुल	गन्ना
१६४७-४८	८२	३३	२	२	४	—	१.३	६	१३१	६
१६४८-४६	नो०[1]	४०	२	२	४	—	२	८	१४२	१०

अखाद्य फसलें (लाखों में)

	तिलहन खाने वाला टनों में			तिलहन न खाने वाला टनों में		कपास और जूट आदि (गाँठ में)		पेय पदार्थ (पौन्डों में)			अन्य वस्तुएँ
	तिल	मूँगफली	सरसों आदि	अलसी	अंडी	कपास	जूट	चाय	काफी	तम्बाकू	रबर (पौण्ड में)
भारत											
१६४६-४७	३.२	३६	८	३.३	१.२	२१	१६	—	—	२.७	३७०
१६४७-४८	३.४	३४	८	४.३	१.२	२२	१७	५६१७	३८६	२.४	३५०
१६४८-४६	२.८	३१	७	४.४	१.१	१६	२१	५६०७	३३६	—	३५०
पाकिस्तान											
१६४७-४८	·३५	—	२·५	२.५	.१	११	६८	—	—	—	—
१६४८-४६	·२६	—	२·६	.१	.१	१०	५५	—	—	—	—

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि भारत खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने वाली फसलें विशेषकर गेहूँ और चावल उत्पादन की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। आगे चल कर हम देखेंगे कि कपास, जूट, चाय, तिलहन आदि निर्यात की दृष्टि से अपना कितना अच्छा महत्व रखते हैं।

खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने वाली फसलें—यहाँ पर हम भारत की मुख्य-मुख्य फसलों पर संक्षेप में विचार करते हैं।

(१) चावल—भारतीयों के बड़े भाग के निवासियों का मुख्य भोजन चावल है। यह भारत की सबसे महत्वपूर्ण फसल है। चावल उत्पन्न करने के लिए ऐसी उर्वरा भूमि की आवश्यकता होती है, जिसमें जल को सुरक्षित रखने की शक्ति हो। पानी के अन्दर रहने से चावल का पौदा खूब पनपता है, अतएव चावल के लिए पानी की बड़ी आवश्यकता होती है। अतः यह निचले, पानी वाले मानसूनी प्रदेश में बहुतायत से उत्पन्न होता है। भारत में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार का चावल उत्पन्न होता है।

भारत में चावल उत्पन्न करने वाले प्रदेशों में बंगाल, मदरास, बिहार, आसाम, उड़ीसा, बम्बई उत्तरप्रदेश और मध्य प्रदेश मुख्य हैं। भारत में चावल की फसल उत्पन्न करने वाली भूमि का क्षेत्रफल १६४५-४६ में ५८० लाख एकड़ था जिसमें १८० लाख टन चावल उत्पन्न हुआ था। १६४७-४८ में यह ६१० लाख एकड़ था जिसमें १६६ लाख टन तथा १६४८-४६ में ६०१ एकड़ था जिसमें १८६ लाख टन चावल उत्पन्न हुआ।

भारत से बर्मा के अलग हो जाने पर भारत में चावल की कमी हुई और भारत को विदेशों से चावल मंगाना पड़ा। १६३६-४० में १८ लाख टन चावल बाहर से विशेषकर बर्मा से भारत में आयात हुआ। इन दिनों सारे संसार में चावल की कमी हो गयी है। युद्ध के पूर्व सारे संसार में कुल २००० लाख टन चावल उत्पन्न हुआ था जबकि १६४५ में १६८० लाख टन ही हुआ: चावल के

नो० १—जितना पिछले वर्ष योग लिया गया।

उत्पादन तथा वितरण की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए युद्ध के पश्चात् एक खाद्यान्न तथा कृषि संघ (Food and Agricultural Organisation) की स्थापना की गई थी।

अन्न तथा कृषि संघ की अन्तर्राष्ट्रीय चावल आयोग की बैठक मार्च १६४६ में हुई जिसमें दक्षिण पूर्वी एशिया के चावल के उत्पादन, वितरण तथा उसके उपभोग आदि के विषय में विचार किया। इस आयोग ने इस विषय में अपने कई सुझाव पेश किए। इनमें से कुछ सुझाव निम्न-लिखित थे :—(१) चावल का उचित उत्पादन, (२) फसलें तथा बीजों के रोगों पर नियंत्रण रखना, (३) खेती का यन्त्रीकरण, (४) चावल की कृषि के लिए मिट्टी जलवायु, खाद तथा सिंचाई आदि के विषय में जानकारी रखना, (५) वस्तुओं के प्रमाणीकरण (Standardiyation) की व्यवस्था, (६) भूसा इत्यादि उपोत्पत्ति का उपयोगों, (७) एक अन्तर्राष्ट्रीय आंकड़ों सम्बन्धी नियमों का संग्रह तथा मेट्रिक प्रणाली का प्रयोग आदि करना। इस अन्न तथा कृषि संघ ने भारत के हिस्से में पर्याप्त मात्रा में चावल रखा है, परन्तु यह चावल काफी मंहगा पड़ता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत में १६४६ में २८ लाख टन चावल विदेशों से आया जिसका मूल्य ११० करोड़ था, जब १६४६ में १५० करोड़ रुपए की कीमत का चावल विदेशों से आया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत संसार में सबसे अधिक चावल उत्पन्न करने वाला देश होते हुए भी उसे विदेशों से काफी मात्रा में चावल मंगाना पड़ता है। आज तो देश में चावल ही नहीं, अन्य खाद्यान्नों का भी बड़ा अभाव है।

गेहूँ—चावल के उपरान्त देश की दूसरी महत्त्वपूर्ण फसल गेहूँ है। भारत के प्रत्येक प्रान्त में गेहूँ किसी न किसी मात्रा में अवश्य उत्पन्न होता है। यह उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब, बिहार, मध्य प्रदेश तथा राजपूताना में अधिकता से उत्पन्न होता है। १६४५-४६ में कुल २४४ लाख एकड़ भूमि में गेहूँ की फसल बोई गई जिसमें कुल छै लाख टन गेहूँ उत्पन्न हुआ। पाकिस्तान में प्रति एकड़ ८ मन गेहूँ उत्पन्न होता है जब कि भारत की एक एकड़ भूमि में केवल ७ मन ही। यही नहीं यहाँ प्रत्येक राज्य की गेहूँ की फसल में भिन्नता है। बिहार में ८८२ पौंड प्रति एकड़, ७२८ पौंड प्रति-एकड़ पंजाब में तथा २३१ पौंड प्रति एकड़ हैदराबाद में। इसके मुकाबले में योरप में ११४० पौंड प्रति एकड़, कनाडा में ६७२ पौंड तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका में ८४६ पौंड औसतन प्रति एकड़, उत्पादन हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि हम आधुनिक वैज्ञानिक, प्रणाली के आधार पर कृषि करें तो हम देश के गेहूँ के उत्पादन में और वृद्धि कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि सिंचाई की और व्यवस्था की जाय, अच्छी खाद का प्रबन्ध किया जाय और फसलों का हेर-फेर किया जाय तो हम गेहूँ के उत्पादन में यथेष्ट मात्रा में वृद्धि कर सकते हैं।

१६१४ के युद्ध के पूर्व भारत विदेशों को कुछ गेहूँ भेजा करता था पर उसके पश्चात् तथा देश के विभाजन के उपरान्त उसे विदेशों से काफी गेहूँ मंगाना पड़ता है। १६४६ में भारत में विदेशों से २२ लाख टन गेहूँ का आयात हुआ। इधर भारत सरकार अन्नोत्पादन की दिशा में बड़ी प्रयत्नशील है। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि यहाँ प्रति एकड़ गेहूँ के उत्पादन में वृद्धि की जाय। सरकार की ओर से रासायनिक खाद के वितरण की व्यवस्था की जा रही है, वे प्रदेश जो अभी तक बर्बाद पड़े थे, अब उनमें ट्रैक्टर तथा हारवेस्टर आदि के द्वारा गेहूँ के उत्पादन की व्यवस्था की जा रही है। ट्यूबवेल तथा अन्य सिंचाई के कार्यों का प्रबन्ध किया जा रहा है। आशा है अगले कुछ वर्षों में भारत अपनी प्रति एकड़ भूमि में गेहूँ के उत्पादन तथा उसकी किस्म में उन्नति कर लेगा, और इस आवश्यकता के लिए वह आत्मनिर्भर हो जायगा।

जौ—भारत की ७५ लाख एकड़ भूमि में जौ का उत्पादन होता है। भारत में जितना जौ उत्पन्न किया जाता है उसका ⅔ भाग उत्तरप्रदेश में होता है, शेष बिहार तथा पंजाब में। भारत में प्रतिवर्ष लगभग २५ लाख टन जौ उत्पन्न होता है जब कि पाकिस्तान में केवल १६ लाख टन। जौ पशुओं तथा मनुष्यों दोनों के खाने के काम में आता है। परन्तु इसका मुख्य प्रयोग शराब बनाने में किया जाता है। विभाजन से पूर्व विदेशों को भी कुछ जौ भारत से भेजा जाता था, किन्तु विभाजन के उपरान्त देश में खाद्याभाव के कारण इसका निर्यात बन्द कर दिया गया है। १६४६ में तो हमने ही विदेशों से १,८८००० टन जौ मंगवाया था। इसका उपयोग मुख्य अन्नाभाव की पूर्त्ति के लिए ही किया गया था।

ज्वार-बाजरा तथा रागी जुआर—ज्वार, बाजरा आदि प्रायः भारत के सभी भागों में उत्पन्न होते हैं, परन्तु ये शुष्क प्रदेशों जैसे बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, मध्य प्रदेश, तथा उत्तरप्रदेश में मुख्य रूप में उत्पन्न किया जाता है। ये खरीफ की फसलें हैं और इन्हें विशेष पानी की आवश्यकता नहीं होती। नागपुर, इन्दौर तथा कोयम्बटूर में किए गए प्रयोगों के फलस्वरूप अब यहाँ इनकी फसलों में काफी उन्नति हो गई है। कुल क्षेत्रफल जिनमें ये फसलें उत्पन्न की जाती हैं, नीचे दिया जा रहा है :—

(दस लाखों में)

फसल	क्षेत्रफल (एकड़ों में)		उत्पत्ति (टनों में)	
	१६४७-४८	१६४८-४६	१६४७-४८	१६४८-४६
ज्वार	३६.२	३५.४	६.०	४.८
बाजरा	२०.७	१६.६	२.८	२.२
रागी	५.१	५.१	१.४	१.४
कुल	६२.०	६०.१	१०.२	८.४

भारत में विषम खाद्य स्थिति के उत्पन्न हो जाने से हमें विदेशों से इन मोटे अनाजों को भी मंगाना पड़ा। १६४६ में विदेशों से ३,६०,००० टन मोटे अनाज का आयात भारत में हुआ था।

मक्का—यह बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में अधिकता से उत्पन्न होता है। जितने क्षेत्रफल में जिस परिमाण में मक्के का उत्पादन गत दो वर्षों में हुआ, उसका परिचय नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

मक्का (लाख में)

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ में)	उत्पादन (टनों में)
१६४७-४८	७८ लाख	२१ लाख
१६४८-४६	७५ लाख	१८ लाख

अपने देश के बुभुक्षित निवासियों की क्षुधा की पूर्त्ति के लिए भारत को मक्का भी विदेशों से मंगानी पड़ती है। उत्तरी भारत के अधिकांश निर्धन मनुष्यों का मुख्य भोजन मक्का ही है। इसका डंठल चारे में उपयोग किया जाता है।

दालें—भारतीयों के भोजन में दालों का मुख्य स्थान है। भारत में कई प्रकार की दालें उत्पन्न होती हैं। इनमें से अरहर, चना, मसूर, उरद, मूँग मोट आदि मुख्य हैं। दालों की फसलें उत्तर प्रदेश तथा बिहार में मुख्य रूप से होती हैं। चने की दाल भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग होती है। यह उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब, बिहार आदि में मुख्य रूप से उत्पन्न होता है। १६४८ में भारत की भूमि के १६३ लाख एकड़ भाग में चना उत्पन्न किया गया, १६४६ में १६७ लाख एकड़

भूमि में चना बोया गया जिसमें ४६ लाख टन चना पैदा हुआ। विभिन्न प्रदेशों में चना विभिन्न मात्रा में उत्पन्न होता है। बम्बई में ५० पौंड, गुजरात में ५०० पौंड, तथा पंजाब में १२०० पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से चना उत्पन्न होता है।

गत दो वर्षों में सब दालें कुल नीचे लिखे क्षेत्रफल तथा मात्रा में उत्पन्न हुईं :—

(लाखों में)

वर्ष	क्षेत्रफल	पैदावार (टनों में)
१९४७-४८	८५.६	११.६
१९४८-४९	८७.२	११.८

भारत की दालों पर खोज करने तथा उसके उत्पादन में विकास करने के लिए १९४० में शाही कृषि अन्वेषण परिषद (Imperial Council of Agricultural Research) ने एक विशेष समिति की नियुक्ति की थी, परन्तु अभी इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। कुछ दालें विदेशों को भी भेजी जाती हैं।

गन्ना (Sguarcane)—गन्ना उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का प्रमुख स्थान है। एक समय भारत शकर के उद्योग में सबसे अग्रणी था। परन्तु बाद में यूरोप में चुकन्दर से शकर बनाई जाने लगी, दूसरी ओर जावा में भी अच्छे ढंग से चीनी का निर्माण होने लगा। इससे भारत के चीनी या शकर के उद्योग को बड़ा धक्का पहुँचा। प्रथम महायुद्ध के बाद के वर्षों में तो भारत चीनी के लिए पूर्णरूप से जावा पर ही निर्भर रहने लगा। १९१९-२१ में भारतीय शकर समिति (Indian Sugar Committee) ने भारत में जावा की तरह चीनी उत्पन्न करने का अनुरोध किया। सरकार ने भी इस दिशा में क्रियात्मक कदम उठाया और संरक्षण नीति के आधार पर भारतीय चीनी के धन्धे को पनपाने का प्रयत्न किया। द्वितीय महायुद्ध के समय इस वस्तु पर सरकार का भारी नियंत्रण रहा। प्रांतीय सरकारों ने चीनी पर भारी कर लगाकर लाभ उठाने का प्रयत्न किया। इससे देश में शकर का धन्धा बढ़ने लगा, यहाँ भी अच्छी चीनी का निर्माण होने लगा। शकर के इस धन्धे का प्रभाव गन्ने के उत्पादन पर पड़ा। १९४८-४९ में ३६ लाख एकड़ भूमि में गन्ना उत्पन्न किया गया जिसमें कुल ५० लाख टन गन्ना उत्पन्न हुआ।

उत्तरप्रदेश तथा बिहार की सरकारों ने गन्ने के उत्पादन, उसके विक्रय आदि पर समय-समय पर नियंत्रण रखा है, जिससे इस धन्धे पर काफी प्रभाव पड़ा है।

भारत में सबसे अच्छी किस्म का गन्ना बिहार के कुछ जिलों, उत्तर प्रदेश तथा बंगाल में होता है। अभी हाल में हमारी राष्ट्रीय सरकार ने गन्ने की किस्म तथा परिमाण को बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया है। मदरास के कोयम्बटूर नामक स्थान में एक केन ब्रीडिंग (Cane Breeding) स्टेशन खोला गया है। इसके अतिरिक्त राज्यों के कृषि विभागों ने गन्ने की विभिन्न किस्मों के उत्पादन का प्रचार किया है, जिससे प्रति एकड़ गन्ने की उत्पत्ति में काफी वृद्धि होगी।

अखाद्य फसलें (Non-Food Crops)—खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने वाली फसलों के अतिरिक्त भारत में रुई, जूट, चाय, काफी, तम्बाकू, अफीम, रबर, मसाले आदि भी पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किए जाते हैं। कुल क्षेत्रफल जिसमें १९४८ में अखाद्य फसलें (जिसके अन्दर सभी प्रकार का तिलहन भी सम्मिलित है) हुई थीं, वह ३६६ लाख एकड़ था जब कि खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने वाली फसलों के नीचे १८०२ लाख एकड़ भूमि थी। दूसरे शब्दों में कुल उत्पादक भूमि का १७ प्रतिशत भाग अखाद्य फसलों तथा ८३ प्रतिशत खाद्य फसलों के लिए उत्पन्न किया गया था। नीचे हम अखाद्य फसलों के मुख्य-मुख्य पदार्थों पर विचार करते हैं।

चाय—भारत में चाय की खपत दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। यही नहीं यह संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य देशों में भी लोकप्रिय होती जा रही है। चाय के इतने लोकप्रिय तथा ख्याति प्राप्त करने का मुख्य श्रेय इंडियन टी असोशियेशन को है। १९४८ में भारत में चाय उत्पन्न करने वाला क्षेत्र ७,६७००० एकड़ था, जिसमें ५६१० लाख पौण्ड चाय उत्पन्न हुई। जिसमें से ३४८० लाख पोन्ड चाय का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ५६ करोड़ रुपये था। १९४९ में ४९३० लाख पौण्ड चाय जिसका मूल्य ७८ करोड़ रुपया था विदेशों को भेजी गई। चाय आसाम, दार्जिलिंग, जलपाई गुड़ी जिलों में, मद्रास के नीलगिरी, उत्तरप्रदेश के देहरादून, तथा पूर्वी पंजाब की कांगड़ा घाटी में होती है। चाय की कुल पैदावार का लगभग ७० प्रतिशत भाग विदेशों को भेज दिया जाता है।

कहवा (Coffee)—काफी की पैदावार भारत के केवल दक्षिणी भारत में होती है। भारत में १९४८ में १९८००० एकड़ भूमि में कहवा ३४ लाख पौण्ड उत्पन्न हुआ। पिछले बीस वर्षों में भारत में कहवे की उत्पत्ति में २० से लेकर ४०,०००,००० पौण्ड में वृद्धि हुई किन्तु फिर भी भारत का स्थान संसार के कहवा उत्पन्न करने वाले देशों में, प्रमुख नहीं है। ब्राजील तथा जावा की तुलना में भारत का स्थान नगण्य ही है। भारत में उत्पन्न होने वाले कहवे का आधा भाग विदेशों को भेज दिया जाता है। १९४६ में भारत से एक लाख हंडरवेट काफी जिसका मूल्य एक करोड़ रुपए था विदेशों को भेजी गई। १९३५ से इंडियन काफी कमेटी इस पेय पदार्थ के प्रचार और प्रसार में काफी प्रयत्नशील है किन्तु भारत में काफी के उत्पादन में वृद्धि करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

कपास (Cotton)—भारत की कृषि सम्बन्धी उत्पादन में कपास का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। संसार में कपास उत्पन्न करने वाले प्रदेशों में भारत का दूसरा नम्बर है। परन्तु भारत में जो कपास उत्पन्न होती है वह घटिया तथा छोटे फूल वाली होती है। भारत की कपास के घटिया होने के कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो इस कपास के किस्म में विकास करने की ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया गया, क्योंकि यहाँ से ऊन के साथ मिलाने के लिए कपास विदेशों को भेज दी जाती है, उसके बदले में अच्छी रकम प्राप्त हो जाती है, अतः उसकी किस्म की उन्नति करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे घटिया किस्म की कपास इसलिए अधिकता से बोई जाती है क्योंकि यह हवा के झोंके का अच्छी तरह सामना कर सकती है। इसके अतिरिक्त इसके औटने में विशेष असुविधा नहीं होती, इसका बीज जिनिंग कारखानों में औटते समय मिल जाता है।

भारतीय रुई की किस्म को बढ़िया बनाने के प्रयत्न किए गये हैं। भारत के राज्यों के कृषि विभाग अच्छी किस्म की कपास उत्पन्न करने में व्यस्त हैं।

भारतवष में जितनी कपास उत्पन्न होती है उसका आधे से भी अधिक भाग विदेशों को भेज दिया जाता है। जापान में हमारे कपास की अच्छी खपत होती है। कुल उत्पत्ति का ४० प्रतिशत भाग हमारे देश की मिलों में खप जाता है, शेष १० प्रतिशत का प्रयोग हमारे घरेलू उद्योग-धन्धों में होता है।

भारत के विभाजन के फल स्वरूप हमारी कपास की खेती को बड़ा धक्का लगा है। हमारी ३७ लाख एकड़ कपास उत्पन्न करने वाली भूमि पाकिस्तान में चली गई है। भारतीय मिलों को जिस अच्छी किस्म की रुई की आवश्यकता होती है, उसका उत्पादन पाकिस्तान में ही होता है। १९४९ में कपास उत्पन्न करने वाला कुल क्षेत्रफल ११,५५,००० एकड़ था कि जिसमें १८,६४,००० गाँठें कपास उत्पन्न हुई थी जब कि १९४८ में २१,८८,००० गाँठें हुई थीं। १९५० में कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र में कुछ वृद्धि हुई है। प्रति एकड़ भूमि में अधिक कपास उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। सरदार दातारसिंह का ऐसा अनुमान है कि भारत में १९५० में कपास की आठ लाख अधिक गाँठें उत्पन्न होंगी। १९४८ में भारत ने ५२ करोड़ रुपये मूल्य की अच्छे रेशे

वाली कपास का आयात किया और बीस करोड़ रुपए की घटिया किस्म की या छोटे रेशे वाली कपास का विदेशों को निर्यात किया जब कि १९४९ में उसने लगभग १६ करोड़ रुपये के मूल्य की कपास का निर्यात किया तथा ७७ करोड़ का आयात।

भारत सरकार अच्छी किस्म की तथा अधिक परिमाण में कपास उत्पन्न करने के लिये क्रियात्मक कदम उठा रही है।

जूट—भारत की अखाद्य फसलों में जूट का भी बड़ा महत्त्व है। विभाजन से पूर्व जूट उत्पन्न करने वाले प्रदेशों में बंगाल का एकाधिकार था। परन्तु विभाजन के परिणाम-स्वरूप जूट उत्पन्न करने वाले बंगाल के मुख्य जिले अब पूर्वीय पाकिस्तान में चले गए हैं। अतः भारत पाकिस्तान से कच्चा जूट लेनेवालों में सबसे प्रधान हो गया है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र का ३/४ भाग पाकिस्तान में चला गया है जब कि जूट की सब मिलें भारतीय सीमा में ही हैं। भारत को जूट की लगभग ५० लाख गाँठों के लिए पाकिस्तान पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। अतः भारत में जूट उत्पन्न करने की अतीव आवश्यकता हो गई है।

अब भारत सरकार जूट के क्षेत्र तथा उसकी उत्पत्ति बढ़ाने के लिए कतिपय प्रयत्न कर रही है। जूट आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा मदरास में भी कुछ-कुछ मात्रा में होती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि पाकिस्तान ७२ प्रतिशत जूट उत्पन्न करता है जब कि भारत में केवल २८ प्रतिशत ही होता है।

कई अन्य देश पैकिंग आदि के कार्यों के लिए जूट के स्थान पर अन्य वस्तुओं का उपयोग करने का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु अभी तक इस दिशा में कोई सन्तोषजनक कार्य नहीं हुआ है।

नील (Indigo)—भारतीय नील के धन्धे का भी इतिहास एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक समय था भारत का यह धन्धा बड़ी उन्नतावस्था में था भारत से करोड़ों रुपए की नील का निर्यात होता था। परन्तु १९ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जर्मनी में रासायनिक रंगों का आविष्कार हो जाने से भारत के नील के निर्यात को बड़ा धक्का पहुँचा। भारत में नील उत्पन्न करने वाले क्षेत्र में बड़ी कमी हो गई। १८९६-९७ में लगभग १७ लाख एकड़ भूमि में नील की फसल हुई, १९४०-४१ में केवल ६५,००० एकड़ भूमि में नील के पौधे बोए गए। इस प्रकार भारत में नील की खेती में दिनोंदिन कमी होती गई। आजकल मदरास, उत्तरप्रदेश, बिहार, पंजाब तथा बंगाल में यह फसल उत्पन्न की जाती है। भारत में नील की खेती का भविष्य उज्वल नहीं है क्योंकि भारत निर्यात या अपनी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसका उसका उपयोग रंगों के बनाने में नहीं कर सकता।

अफीम—अफीम स्वयं कोई वृक्ष नहीं होता, यह एक पोश्ता नामक वृक्ष से बनाई जाती है। १९०७ के पूर्व भारत से अफीम का निर्यात बहुत बड़ी मात्रा में होता था, अफीम का सबसे अधिक प्रयोग चीन में किया जाता था। परन्तु तत्कालीन विदेशी सरकार की नीति के परिणाम स्वरूप हमारी अफीम की कृषि को भी बड़ा धक्का पहुँचा। १९०७ के एक समझौते के फलस्वरूप भारत से चीन को अफीम का भेजा जाना स्थगित हो गया। ब्रिटिश भारत में १९०६-०७ में ६१४,८७९ एकड़ भूमि में अफीम की खेती होती थी। १९४०-४१ में यह संख्या और भी गिर गई और इस समय केवल ५८१६ एकड़ भूमि भाग में इसकी खेती सीमित रह गई। आजकल अफीम या पोश्ते की खेती का सारा दारोमदार सरकार के हाथ में है। पोश्ता मुख्यकर मालवा तथा उत्तर प्रदेश में उत्पन्न किया जाता है। इससे भारत सरकार को समय-समय पर अच्छी आय हुई है।

तम्बाकू—संयुक्त राज्य अमरीका तथा चीन के पश्चात् संसार के तम्बाकू उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का तीसरा नम्बर है। १९४८ में ७.८४ लाख एकड़ भूमि में २,४२,००० टन तम्बाकू उत्पन्न हुई। तम्बाकू प्रायः भारत के सभी भागों में पैदा की जाती है किन्तु मदरास के गन्टूर, कृष्णा तथा गोदावरी जिलों में अत्युत्तम तम्बाकू उत्पन्न की जाती है जिसका उपयोग सिगरेट बनाने में बहुत होता है। सेन्ट्रल रिसर्च स्टेशन होने के नाते गन्टूर तम्बाकू का मुख्य बाजार है। १९४८ में ८,७९ लाख रुपयों तथा १९४९ में १०,३२ लाख रुपयों के मूल्य की तम्बाकू का निर्यात हुआ था।

नीचे दी हुई तालिका से भारत तथा अमरीका व चीन में तम्बाकू उत्पन्न करने वाले क्षेत्र तथा तम्बाकू की कुल पैदावार का परिचय मिल जायगा :—

(हजारों में)

वर्ष	भारत		संयुक्त राज्य अमरीका		चीन
	पौण्ड	एकड़	पौण्ड	एकड़	पौण्ड
१९३४-३५	१,१९१६८०	१३०८	१२९७१५५	१४३७	१३८९९३८
१९३५-३६	१,०९३११२०	१२५३	१,१५५३२८	१४३८	१३९४,००८
१९३६-३७	१,१११०४०	१,१८३	१५६२८८६	१७५१	प्राप्त नहीं
१९३७-३८	१,१३१,२००	१२८८	१३७५८२३	१५९९	,,
१९३८-३९	१,०९३,१२०	१२९०	१८७४,४०७	२००५	,,

भारत में तम्बाकू उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों में बंगाल, मदरास, बम्बई, बिहार, उत्तरप्रदेश तथा पंजाब मुख्य हैं। भारत को अपने यहाँ अच्छी पत्तियों वाली तम्बाकू उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। अभी सिगरेट, सिगार आदि के प्रयोग के लिए अच्छे किस्म की तम्बाकू विदेशों से मंगाई जाती है। यदि भारत अपने सिगरेट, सिगार आदि के व्यवसाय में स्वावलम्बी होना चाहता है तो उसे अपने देश में अच्छे किस्म की तम्बाकू का उत्पादन करना होगा। इधर विदेशों से तम्बाकू के आयात पर सरकार काफी नियंत्रण रख रही है। आशा है कुछ वर्षों में भारत का तम्बाकू का धन्धा उन्नति कर जायगा।

सिंकोना—सिंकोना उत्पन्न करने वाले भारत में मुख्य दो प्रदेश हैं—दार्जिलिंग और नीलगिरी पहाड़ियाँ। इस पदार्थ के उत्पादन में गवर्नमेंट का एकाधिकार है। इस देश में यह पदार्थ अपर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होता है। युद्ध के समय में सिंकोना का अभाव काफी खटकने लगा। अब सरकार सिंकोना की खेती बढ़ाने तथा उसके उत्पादन में वृद्धि करने के लिए काफी प्रयत्नशील है।

रबर (Rubber)—रबर का आर्थिक महत्व दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। इसका उपयोग बहुत सी वस्तुओं के निर्माण में होता है। भारत में रबर मुख्य रूप से दक्षिण मदरास, कुर्ग और मैसूर राज्य में होता है। १९४९ में भारत की १,६२,००० एकड़ भूमि में ३५० लाख पौण्ड रबर का उत्पादन हुआ था। युद्ध के पूर्व रबर के मूल्य में भारी उतार हो जाने के परिणाम स्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना के अनुसार रबर के उत्पादन तथा निर्यात पर नियंत्रण रखा गया था। इससे रबर के बाजार के क्षेत्र पर काफी प्रभाव पड़ा। युद्ध के दिनों में रबर के उत्पादन में वृद्धि करने पर काफी जोर दिया गया, साथ ही इस बात का भी प्रयत्न किया गया कि रबर के स्थान पर किसी अन्य वस्तु का उपयोग किया जाय जिससे रबर के अभाव से विशेष प्रभाव न पड़े। भारत को प्रतिवर्ष सैकड़ों टन रबर का आयात करना पड़ता है। रबर के इस अभाव की पूर्ति के लिए इंडियन रबर बोर्ड ने एक नई योजना कार्यान्वित की है जिसके अनुसार बीस वर्ष के अन्त तक आज के **१५,५०० टन से लेकर, ४१,००० टन तक** उत्पादन पहुँच जायगा। इस योजना के अनुसार

कम पैदावार वाले रबर के वृक्षों के स्थान पर अधिक पैदावार कर सकने वाले वृक्षों को लगाया जा रहा है। भारत में प्रतिवर्ष करीब १६५०० टन रबर का उत्पादन प्रतिवर्ष होता है जो कि संसार के रबर के उत्पादन का केवल एक प्रतिशत से कुछ ही अधिक है। इसलिये रबर के उत्पादन में वृद्धि करने की बड़ी आवश्यकता है।

तिलहन—भारत में दो प्रकार का तिलहन उत्पन्न होता है—(१) खाद्य तिलहन (२) अखाद्य तिलहन। दूसरे शब्दों में एक वह तिलहन जिसका प्रयोग खाने में होता है। दूसरा वह जो खाने योग्य नहीं होता, जिसका प्रयोग अन्य कुछ वस्तुओं के बनाने में होता है। खाने वाले तिलहन में मुख्य मूंगफली तथा सरसों आदि हैं। अंडी तथा अलसी आदि अखाद्य तिलहन के अन्तर्गत आते हैं। खाद्य तिलहन में मूंगफली सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मूंगफली के महत्व का रिचय नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा।

मूंगफली (Groundnuts)

वर्ष	क्षेत्र (एकड़ों में)	उत्पत्ति (टनों में)	निर्यात (करोड़ रुपयों में)
१९४७-४८	१०,०७६०००	३४११०००	१२०
१९४८-४९	९०७८०००	३०७३०००	१७५
१९४९-५०	९,६२५०००	३२७६००० (अनुमानित)	१४० (अनुमानित)

भारत में मूंगफली उत्पादन करने वाला सबसे अधिक क्षेत्रफल मद्रास में है। मद्रास में करीब चार लाख एकड़ भूमि में, बम्बई में दो लाख एकड़ में, हैदराबाद में १५ लाख तथा मध्य प्रदेश व बरार में ६ लाख एकड़ भूमि में मूंगफली पैदा की जाती है। मुद्राअवमूल्यन (Devaluation) के पश्चात् संसार की अपेक्षा भारतीय तिलहन का मूल्य अधिक था। अतएव भारतीय तिलहन समिति (Indian Oil seeds Committee) ने तिलहन के उत्पादन के व्यय को कम करने का प्रयत्न किया। उसकी खेती तथा उसके विक्रय की अच्छी व्यवस्था की गई। १९४९ में अप्रैल से लेकर सितम्बर तक में भारत ने २८,००० टन मूंगफली का निर्यात किया, जब कि १९४८ में केवल १७,२०० टन का ही निर्यात हुआ था। इन छः महीनों के बीच में उसने २६ लाख गैलन तेल का भी निर्यात किया। तिलहन का उपयोग स्विरज़रलैण्ड, नार्वे इटली, आदि में बहुत होता है, ये देश भारत से काफी तिलहन मँगाते हैं। तेल का प्रयोग यू० के०, बर्मा, मारिशस तथा इटली में अधिकता से होता है। बीजों की अपेक्षा भारत सरकार तेल के निर्यात करने में अधिक प्रयत्नशील है।

अन्य तिलहन (अंडी, तिल, सरसों, नारियल, बिनौला आदि) को कुल भूमि का क्षेत्रफल, १९४९ में १३३ लाख एकड़ था जिसमें १६ लाख टन का उत्पादन हुआ जब कि १९४८ में १४ लाख एकड़ भूमि में १७ लाख टन तिलहन का उत्पादन हुआ था। इन सब तिलहनों में अलसी का भी काफी महत्व है। १९४८-४९ में ४,३९,००० टन अलसी का उत्पादन हुआ था। इस वर्ष करीब २३ लाख टन अलसी के तेल का निर्यात हुआ। अलसी के तेल की खपत सबसे अधिक आस्ट्रेलिया में होती है। इसके अतिरिक्त इटली, मराशिस, मिश्र, न्यूजीलैण्ड, यू० के० तथा पाकिस्तान को भी अलसी के तेल का निर्यात किया जाता है।

अंडी तथा उसके तेल (Castor oil) के निर्यात में इधर काफी उतार हो गया है। इसके उत्पादन की किस्म को अच्छा बनाने की ओर सरकार प्रयत्नशील है। सरसों की मुख्य पैदावार उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार तथा बंगाल में होती है। सरसों का निर्यात इटली, बेलजियम तथा फ्रान्स को होता है। भारत में प्रायः तीन लाख एकड़ भूमि में इसका उत्पादन होता है। सरसों के तेल की खपत सबसे अधिक पाकिस्तान में होती है। बिनौले के तेल का भी अच्छा उपयोग होता है। नारियल मान-

तूनी प्रदेश में अच्छी तरह से पैदा होता है। भारत से करीब बीस लाख गैलन नारियल का तेल विदेशों को भेजा जाता है।

उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता—कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे गाँवों की अधिकांश जनता जितना उत्पादन करती है, वह इतना ही होता है जिसमें उसका किसी प्रकार जीवन-निर्वाह हो जाय। हमारी ग्रामीण जनता के रहन-सहन का स्तर बड़ा निम्न है। डा० वी० के० आर० वी० राव के अनुसार १६३१ में नगर निवासियों की प्रति व्यक्ति आय १६२ रु० थी और ग्राम निवासियों की केवल ४८ रु०। 'ईस्टर्न एकनामिस्ट्स' (Eastren Economists) ने ऐसा अनुमान लगाया है कि १६४८-४६ में की प्रारम्भिक साधनों से प्रति व्यक्ति आय १४८ रु० तथा उद्योग-धन्धों से ३८५ रु० है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामीण लोगों की आय बढ़ाने का एक मात्र मार्ग खेती की पैदावार बढ़ाना ही है।

उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता केवल इसीलिये ही नहीं कि हमें आय में वृद्धि करनी है। हम यह देख रहे हैं कि भारत में खाद्य संकट अपना भीषण रूप धारण करता जा रहा है, यहाँ हम आए दिन अन्नाभाव पा रहे हैं। अन्न की यह कमी हमें आज ही नहीं ज्ञात हुई वरन् इसका पता हमें गत महायुद्ध के समय में ही हो गया था। इधर भारत के स्वतंत्र हो जाने पर, राष्ट्रीय सरकार के 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन से यह आशा की गई थी कि थोड़े समय में भारत अपनी आवश्यकतानुसार अन्नोत्पादन कर लेगा। परन्तु इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। हमारी यह आशा केवल आशा ही रह गई। इन दिनों जब कि वस्तुओं का इस प्रकार अभाव हो रहा था तो उधर हमारी जनसंख्या में भी ४० लाख प्रति वर्ष के हिसाब से वृद्धि हो रही थी। फलतः भारत सरकार को विदेशों से खाद्यान्न मंगाने के लिये बाध्य होना पड़ा। अब इधर हमारी राष्ट्रीय सरकार खाद्याभाव की समस्या को हल करने के लिए पूर्णरूप से प्रयत्नशील है। सरकार ने यह घोषणा की है कि १६५२ के मार्च तक वह अपने खाद्याभाव की पूर्ति कर लेगा तथा विदेशों से अन्न का मंगाना बन्द कर देगा। किन्तु आजकल की परिस्थितियों के अनुसार यह आशा नहीं की जाती कि हमारा खाद्यसंकट इतनी जल्दी हल हो जायगा।

भारत सरकार ने निम्नलिखित उपायों द्वारा भारत में उत्पादन बढ़ाने का विचार किया है :—

(१) मशीनों के द्वारा कृषि कर के भूमि को उपयोगी बनाना।

(२) गहरी खेती तथा प्रति एकड़ भूमि के उत्पादन में वृद्धि करना।

(३) देश के जल-साधन का अच्छा उपयोग कर सिंचाई की अच्छी व्यवस्था करना।

हम नीचे इनमें से प्रत्येक उपायों पर भलि-भांति विचार करेंगे।

भूमि का उपादेयकरण (Land Reclamation)—भारत में कुल भूमि जिसका क्षेत्रफल ७८१० लाख एकड़ है, उसमें से ८८० लाख एकड़ ऐसी भूमि है जिस पर खेती की जा सकती है पर की नहीं जाती तथा जो भूमि बरबाद पड़ी हुई है। एक करोड़ एकड़ ऐसी भूमि है जिसमें किसी समय अच्छी खेती होती थी किन्तु अब वह भूमि कांस आदि से भरी पड़ी है और वहाँ पर हल चलाने का नाम भी नहीं लिया जाता। यही नहीं, इसके अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी की ऐसी भूमि है जिसमें खेती करना सम्भव नहीं, इसे ऊसर या बंजर कहा जा सकता है।

ऊपर हमने कहा कि यहाँ ८८० लाख एकड़ भूमि ऐसी है जिसमें कृषि की जा सकती है पर की नहीं जाती, परन्तु इसके तात्पर्य यह नहीं कि इसमें से समस्त भूमि को आसानी से कृषि के योग्य बनाया जा सकेगा। इसमें से लगभग २५० लाख एकड़ भूमि ऐसी है जिसे कृषि के योग्य बनाना आय की दृष्टि से उपादेय नहीं होगा। वास्तव में ऐसी भूमि का प्रयोग तो देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के

निवास के लिए ही करना होगा। हम द्वितीय परिच्छेद में देख चुके हैं कि विभाजन के उपरांत भारतीय भूमि पर जनसंख्या का घनत्व दिनोंदिन बढ़ता ही गया है। यद्यपि भारत की जनसंख्या अविभाजित भारत की कुल ८२ प्रतिशत थी, फिर भी विभाजन के पश्चात् उसे केवल ७७ प्रतिशत ही भूमि भाग प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि इस समय भारत की भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ता ही जा रहा है। हम यह देख चुके हैं कि यहाँ ४० लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से जनसंख्या में वृद्धि होती जा रही है। अतः अब यह अनिवार्य हो गया है कि हम कृषि के लिए भूमि का विस्तार करें, कृषि के क्षेत्रफल में वृद्धि करें। आइए हम उस विषय पर विचार करें, हम देखें कि यहाँ कृषि के क्षेत्रफल तथा उत्पादन के बढ़ाने में कहाँ तक सम्भावनाएँ हैं।

वह भू-भाग जो जंगलों वाला है वह केवल १०६० लाख एकड़ है, दूसरे शब्दों में कुल क्षेत्रफल का केवल १४ प्रतिशत है। हम प्रथम परिच्छेद में यह देख चुके हैं कि हमारी वन सम्पत्ति पर्याप्त नहीं है। इस क्षेत्रफल के विस्तार करने के लिए, उसे कम से कम २५ प्रतिशत तक बढ़ाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इसके बढ़ने से हम वन सम्पत्ति का अच्छा उपयोग कर सकेंगे। अतः यह सोचना कि वन-भूमि को कम कर दिया जाय या, वन-प्रदेश में कृषि की जाने लगे, ऐसे विचार उपयुक्त नहीं।

अगले सात वर्षों में सरकार ६२ लाख एकड़ भूमि-भाग को कृषि के योग्य बनाने का प्रयत्न कर रही है। आशा है हमारी कृषि के योग्य भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि हो सकेगी। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वे भूमि भाग जहाँ पर आज कांस, हरिया, या दूब के पौधे दिखलाई पड़ते हैं कृषि के योग्य सर्वोत्कृष्ट भूमि है, किन्तु इन पौधों के उग आने से ऐसे भूमि भाग में आसानी से खेती करना सम्भव नहीं। इनमें साधारण हल बैलों से खेती नहीं की जा सकती केवल बड़े-बड़े टैक्टरों से ही यहाँ खेती की जा सकती है और क्योंकि ये प्रदेश पहले से ही बसे हुए हैं, अतः वहाँ पर आबादी बसाकर विशेष व्यय करने की आवश्यकता नहीं। इस दस लाख क्षेत्रफल की भूमि को उपादेयकरण का तात्पर्य हमें तीन लाख टन अन्न का प्राप्त हो जाना है।

नए भू-भागों के उपादेयकरण में और भी अधिक कठिनाई होती है। यहाँ पर बहुत से ऐसे प्रदेश हैं जहाँ पर मलेरिया आदि दूषित रोग-कीटाणु अपना अड्डा जमाए हुए हैं। ऐसे प्रदेशों में न तो आबादी है, न गाँव ही हैं और न पीने के पानी की कोई व्यवस्था है। अतः ऐसे प्रदेश को साफ करके वहाँ के इन अभावों को दूर कर उन्हें कृषि के योग्य बनाना है। ऐसे प्रदेशों में बड़े-बड़े ट्रैक्टरों आदि के प्रयोग से खेती करना है। सरकार ने ऐसे प्रदेशों को कृषि योग्य बनाने के लिए बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाई हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार ने नैनीताल की तराई में तथा गंगा खादर में ऐसे प्रयोग किए हैं जिससे उसको बड़ा लाभ पहुँचा है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने अमरीका से ३७५ बड़े ट्रैक्टर तथा अन्य यंत्रों के मंगाने के लिए दस लाख डालर की स्वीकृति दी है। इनमें से कुछ ट्रैक्टर भारत में आ गए हैं, इनके द्वारा उत्तर प्रदेश, मध्य-प्रदेश तथा मध्य-भारत व भोपाल आदि में कृषि की जा रही है।

भारत सरकार ने भी यंत्रों के द्वारा भूमि के उपादेयकरण के लिए कुछ ऋण देने की व्यवस्था की है। कुछ प्रयोगों से यह पता चला है कि इस प्रकार के प्रदेशों के उपादेयकरण से हमें अच्छा आर्थिक लाभ होगा। ऊसर भूमि को कृषि के योग्य बनाने का कार्य और भी दुष्कर है, परन्तु उन्हें भी थोड़े समय में कृषि के योग्य बनाया जा सकेगा।

ऐसा अनुमान किया गया है कि सन् १६५१ के अन्त तक भूमि का इतना उपादेयकरण हो जायगा, जिसमें लगभग तीन लाख टन अन्नोत्पादन होगा।

प्रचलित परती भूमि भी कोई कम परिमाण में नहीं है। वर्ष में करीब ५५ लाख एकड़ ऐसी भूमि रहती है जिसका उपयोग नहीं किया जाता। परती भूमि से हमें उन दिनों का स्मरण हो आता है जब कि खेतों को परती छोड़ देना ही केवल एक ऐसा उपाय था जिसके द्वारा पृथ्वी को अपनी शक्ति के पुनः प्राप्त करने का अवसर मिलता था। उत्तम वैज्ञानिक खादों के प्रयोग तथा फसलों के हेर-फेर से परती भूमि का भी अच्छा उपयोग किया जा सकता है। पश्चिमीय देशों में कुछ अन्य वस्तुएँ बीच-बीच में बोकर ऐसी भूमि का प्रयोग कर लिया गया है। हमें भी भारत में ऐसी भूमि का उपयोग उसकी शक्ति के अनुसार ही फसलों को बोकर करना है।

गहरी खेती का क्षेत्र--(Scope for Intensive Cultivation)—हम यह देख चुके हैं कि भारत में प्रति व्यक्ति के हिसाब से एक एकड़ का केवल ३/४ भाग ही जोता जाता है। जापान में खेती वाला क्षेत्र प्रति व्यक्ति १/३ से भी कम है। किन्तु जहाँ तक उत्पादन का प्रश्न है जापान की उत्पादक शक्ति भारत से कहीं अधिक है। गहरी खेती की पद्धति के प्रचलन के फलस्वरूप वहाँ पर सफल में कोई कमी नहीं होती। भारत में प्रति एकड़ पैदावार संसार के अन्य देशों से कितनी कम है। यह बात नीचे दिए हुए आंकड़ों से और भी स्पष्ट हो जायगी।

फसलों का तुलनात्मक अध्ययन (पौण्ड प्रति एकड़)

		१९४७
१—रुई—	भारत	९६
	पाकिस्तान	१४१
	ईजिप्ट	४८२
	संयुक्त राज्य अमरीका	२६८
२—चावल—	भारत	७१६
	चीन	२२५७
	जापान	३१८५
	श्याम	१,१२४
३—गेहूँ—	भारत	५८८
	पाकिस्तान	८८५
	आस्ट्रेलिया	९६४
	कनाडा	८३९
	संयुक्त राज्य अमरीका	१,१०६
४—गन्ना—	भारत	३४,९४४
	जावा	११३,५७०
	संयुक्त राज्य अमरीका	४३,२७०

इन आँकड़ों से पता चल जाता है भारत में प्रति एकड़ उत्पादन कितना कम है। हम यह देखते हैं कि पाकिस्तान की प्रत्येक वस्तु की फसल प्रति एकड़ उत्पादन की दृष्टि से भारत से कहीं अधिक है। जब भारत की सिंचाई आदि की समस्त योजनाएँ पूर्ण हो जायँगी तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह भी अपनी फसलों के उत्पादन में काफी वृद्धि कर लेगा और अन्य देशों की तुलना में पीछे नहीं रहेगा।

भारत के लिए जापान का उदाहरण बड़ा शिक्षाप्रद है। यह प्रदेश बहुत थोड़े कृषकों का है जो भारत की तरह आधुनिक वैज्ञानिक यंत्रों का बहुत कम प्रयोग करते हैं। हाँ, वहाँ सिंचाई के साधनों

की इतनी कठिनाई नहीं है जितनी कि भारत में। कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राज्य अमरीका में कृषि आदि के इतने विकसित होने तथा फसलों के अधिक होने का मुख्य कारण वहाँ पर वैज्ञानिक साधनों के द्वारा विशाल क्षेत्रों में कृषि करना है। प्रति एकड़ उत्पादक शक्ति की वृद्धि का अर्थ है प्रति व्यक्ति उत्पादक शक्ति में वृद्धि। परन्तु भारत जैसे देश में जहाँ की जनसंख्या अधिक हो, और जहाँ बेकारी आदि की समस्या हो यह सिद्धान्त ठीक नहीं। जहाँ तक भूमि पर जनसंख्या के भार का प्रश्न है, उसे हल करने के लिये सबसे अच्छा तरीका गहरी खेती करने का है जिसमें भूमि तथा पूँजी का तो कम काम पड़ता है किन्तु श्रम की आवश्यकता अधिक होती है।

गहरी खेती की भारत में अनेक सम्भाव्यताएँ हैं। यहाँ पर कुल मिलाकर फसल ही नीची नहीं है बल्कि यहाँ एक राज्य से दूसरे राज्य की परिस्थितियों में बड़ी विभिन्नता है। उदाहरण के लिये चावल की फसल को तो लीजिये। १९४८-४९ में मदरास में ९९१ पौंड, जब कि बिहार में ५८९ पौंड प्रति एकड़ चावल उत्पन्न हुआ था। इसी प्रकार पंजाब में ८०९ पौंड जब कि हैदराबाद में १२२ पौंड गेहूँ प्रति एकड़ उत्पन्न हुआ था। बम्बई में ७,३९५ पौंड तथा पंजाब में २,२७२ पौंड गुड़ प्रति एकड़ हुआ था। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के उत्पादन में भी भिन्नता रही। ये विभिन्नताएँ कुछ तो प्राकृतिक साधनों के, कुछ मिट्टी तथा कुछ वर्षा के कारण हैं परन्तु विशेष करके ये विभिन्नताएँ भिन्न-भिन्न भागों में होने वाली खेती की विभिन्न पद्धतियों के फलस्वरूप हैं।

आज भारत की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। उसकी जनसंख्या तो दिनोंदिन बढ़ती जा रही है किन्तु उसका कुल उत्पादन ज्यों का त्यों बना है, उसमें कोई वृद्धि नहीं हुई। उसके व्यापार का भी संतुलन सन्तोषजनक नहीं है। इसका मुख्य कारण देश में खाद्याभाव तथा विदेशों से काफी मात्रा में खाद्यान्नों का मँगाना है। इस अभाव को दूर करने के लिए भारत को खाद्य तथा अखाद्य (मुख्यकर कपास तथा जूट) पदार्थों के उत्पादन में यथाशीघ्र वृद्धि करना है। हम यह देख चुके हैं कि सरकार भूमि भागों के उपादेयकरण की योजना कार्यान्वित कर रही है किन्तु हमारी यह योजना मशीनों या कृषि यंत्रों के प्राप्त होने पर ही निर्भर है। इस उपाय द्वारा अपने खाद्याभाव को दूर करने में काफी समय लगेगा। हमें तो शीघ्रातिशीघ्र अपने उत्पादन में वृद्धि करनी होगी, इसके लिए हमें कृषि करने के तरीकों में परिवर्त्तन करना होगा। केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारें देश के उत्पादन की वृद्धि करने में क्रियात्मक कदम उठा रही हैं।

भारत में फसल अच्छी न होने के कारण तथा उनके दूर करने के उपाय–

किसी भी रोग को दूर करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात का ज्ञान प्राप्त करने की होती है कि वह रोग क्यों हुआ, उस रोग के होने के मुख्य कौन से कारण हैं। रोग के कारणों का उचित परिचय प्राप्त किए बिना उसे समूल नष्ट करना सम्भव नहीं। ठीक यही बात हमारे देश की कृषि की अवनति के लिए भी कही जा सकती है। हमें यह देखना है कि वास्तव में हमारी खेती की यह दयनीय दशा, हमारी कृषि की यह अवनति क्यों है। वे कौन से कारण हैं जिनकी वजह से हमारी कृषि की यह स्थिति हुई, हमारे देश में यह रोग फैल गया, और लाख चिकित्सा करने पर भी हम इस रोग से मुक्त न हुये।

भारत में कृषि की अवनति का यही कारण नहीं कि यहाँ हजारों और लाखों एकड़ भूमि बेकार पड़ी है, वह कृषि के योग्य नहीं है, उसमें फसल पैदा नहीं की जा सकती। यह तो कारण है ही, साथ ही कई अनेक कारण हैं जिनकी हम उपेक्षा भी नहीं कर सकते। भारत में कृषि की अवनति के मुख्य कारण ये हैं :—

(१) खेतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होने के कारण अलाभकारी जोत (Uneconomic

holdings)। यहाँ अधिकांश किसानों के पास इसी प्रकार के खेत हैं। भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा होना अच्छे ढंग से कृषि करने में बाधक होता है।

(२) घटिया किस्म के बीजों का प्रयोग तथा प्राचीन पद्धति के अनुसार खेती करना। भारतीय किसान खेतों को बोने में प्रायः बीजों की ओर विशेष ध्यान नहीं देता, वह साधारण घटिया किस्म के बीजों का प्रयोग करता है। इन बीजों की उर्वराशक्ति अच्छी नहीं होती।

(३) खेती में अच्छे औजारों का प्रयोग न करना। भारतीय किसान अशिक्षित है। वह खेती के आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों आदि के प्रयोग से अनविज्ञ ही है। वह अपने उन्हीं पुराने औजारों के सहारे खेती करता है जिनका प्रयोग आज से कितने ही वर्ष पूर्व होता था।

(४) अच्छी खाद तथा सिंचाई का अभाव। भारत की अधिकांश खेती वर्षा पर ही निर्भर रहती है। बहुत से ऐसे स्थान हैं जहाँ सिंचाई की कोई व्यवस्था नहीं है अतः ऐसे स्थानों में फसल का अच्छा या न अच्छा होना वर्षा द्वारा ही निश्चित होता है। दूसरे हमारे किसान जिस खाद का प्रयोग करते हैं, वह बहुत अच्छी नहीं होती। गोबर इत्यादि का खाद के रूप में वे बहुत ही कम प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की अच्छी खादों से भी वे परिचित नहीं हैं। हर्ष की बात है कि इधर भारत सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप किसानों के लिए अच्छी खाद की व्यवस्था की गई है।

(५) पूँजी का अभाव। हमारे किसान बड़े निर्धन होते हैं, यह सभी जानते हैं। इसके अतिरिक्त हमारा सामाजिक संगठन भी ऐसा है जिससे उनकी निर्धनता को और बल मिलता है। वे स्वयं भी अनेक रीति-रिवाजों के पचड़े, अपनी मूर्खता या अशिक्षावश निर्धनता को आमन्त्रित कर लेते हैं। पूँजी के अभाव के कारण वे कृषि में नवीन यंत्रों का उपयोग नहीं कर पाते।

(६) यहाँ की मिट्टी भी बहुत अच्छी किस्म की नहीं है। भारतीय मिट्टी बहुत सूखी है। भारत के बहुत से भागों में वर्षा होती ही नहीं और यदि होती है तो बहुत कम।

(७) यहाँ कृषि के उत्पादन की बिक्री का ढंग भी दोषपूर्ण है। इससे किसान के उत्साह पर बड़ा गहरा असर पड़ता है।

(८) भारतीय किसान ऋण के भार में दबा रहता है। वह ऋण में जन्म लेता, ऋण में पलता तथा ऋण में ही मर जाता है।

(९) हमारे किसान को पुष्टिकारक तथा उचित भोजन नहीं प्राप्त होता, इससे उसके श्रम की कुशलता पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है।

(१०) भारतीय किसान की अशिक्षा तथा उसकी धार्मिक कट्टरता एवं दकियानूसी विचारधारा भी हमारी कृषि की उन्नति में रोड़ा अटकाती है।

(११) भारतीय कर वसूल करने की व्यवस्था भी दोष पूर्ण है।

उपरोक्त कारणों के फल स्वरूप ही हमारी कृषि की यह दशा हुई है। इन सब बातों—भारतीय मिट्टी, कर व्यवस्था, कृषि करने की पद्धति, सिंचाई आदि पर विशेष विचार अगले परिच्छेदों में करेंगे। यहाँ पर प्रतिएकड़ भूमि में फसलों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए नीचे लिखी बातों की ओर हमें अवश्य ध्यान देना होगा :—

(१) फसलों का अच्छा हेर-फेर।
(२) विभिन्न प्रदेशों में मिट्टी के अनुरूप कृषि का विशेष प्रसार करना।
(३) उत्तम तथा उत्कृष्ट बीजों का उपयोग।
(४) अच्छी खाद, अच्छी खेती तथा अच्छी सिंचाई की व्यवस्था।
(५) मनुष्य, पशुओं के स्वास्थ्य का उचित ध्यान रखकर इस क्षति को रोकना।

जहाँ तक फसलों के हेर-फेर का सम्बन्ध है जब तक कि खेत बड़े नहीं होते, इस दिशा में

विशेष प्रगति नहीं हो सकती। विभिन्न प्रदेशों में फसलों के अत्यधिक विशेषीकरण की कोई आवश्यकता नहीं। एक ही गाँव में कई प्रकार की फसलों के उत्पन्न करने से मूल्य की घटा-बढ़ी, तथा अनावृष्टि इत्यादि का बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

जहाँ तक अच्छे बीजों का प्रश्न है, भारत सरकार के केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कृषिविभागों ने इस दिशा में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली है। गेहूं, कपास, गन्ना आदि के उत्तम बीजों का जहाँ भी प्रयोग किया गया है, वहाँ प्रति एकड़ फसल में काफी वृद्धि हुई है। परन्तु अभी इस दिशा में और कार्य करने की आवश्यकता है।

सिंचाई के साधनों का प्रसार करने, अच्छी खाद की व्यवस्था करने की ओर भी ध्यान दिया गया है। हमारी राष्ट्रीय सरकार नदियों की उन्नति की बहुमुखी योजनाएँ कार्यान्वित करा रही है। अगले कुछ वर्षों में सिंचाई की साधनों की अच्छी व्यवस्था हो जायगी। हमारे कृषि, सहकारिता तथा ग्रामोद्योग विभाग किसानों को खाद का अच्छा उपयोग करने तथा गोबर आदि को नष्ट न करने का ज्ञान करा रहे हैं।

सरकारी कृषि विभागों द्वारा सस्ते कृषि-यंत्रों का आविष्कार किया गया है, परन्तु अभी इन यंत्रों का विशेष प्रचार नहीं हो पाया है।

खेतों की चकबन्दी की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। खेतों की इस छोटी जोत के दोष को दूर करने के लिए सम्मिलित कृषि से बड़ी सहायता प्राप्त की जा सकती है। जहाँ तक फसलों के रोगों का सम्बन्ध है, हमारे कृषि विभागों ने इस दिशा में भी बड़ा अच्छा कार्य किया है, फसलों को इन रोगों से बचाने के उपायों का प्रचार किया गया है। परन्तु अभी इस दिशा में और कार्य करने की आवश्यकता है, इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि कृषकों को कृषि सम्बन्धी अच्छी शिक्षा की व्यवस्था की जाय, तभी हम अपनी खाद्यान्न सम्बन्धी समस्या के हल करने में सफल हो सकते हैं।

इस दोषों के दूर करने का मुख्य उपाय—हमने ऊपर भारतीय कृषि की अवनति को दूर करने के कुछ उपायों पर विचार किया परन्तु जब तक भारत में छोटे-छोटे खेत जोतने की प्रथा है, तब तक उपरोक्त उपायों से कोई लाभ नहीं होगा। आर्थिक जोत (Economic holding) की समस्या भारत के लिए कोई नई समस्या नहीं है। यदि हम अन्य देशों के औद्योगिक इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो हमें पता चल जायगा कि फ्रान्स, डेनमार्क, जर्मनी आदि देशों में भी आर्थिक जोत का प्रश्न उठा था। उन देशों ने इन समस्या का बड़ी सफलतापूर्वक हल किया। यदि भारत में भी कृषि का विकास करना है तो यहाँ के कृषकों की जोत को, खेतों के क्षेत्रफल को बढ़ाना होगा। सोवियत रूस ने इस समस्या का हल भूमि का राष्ट्रीयकरण करके, कृषि को राष्ट्र का उद्योग घोषित करके किया था। इगलैण्ड की भाँति कुछ देशों में बड़े-बड़े जमींदार हैं जिनके हाथ में बड़े-बड़े खेत हैं। किन्तु भारत में न तो हम रूस का और न इंगलैण्ड का अनुकरण करके कोई योजना कार्यान्वित कर सकते हैं। रूस की भाँति हम कृषि का राष्ट्रीयकरण नहीं कर सकते क्योंकि उसका भारतीय विचार धारा, भारतीय प्रवृत्तियों से मेल नहीं बैठता। हम यहाँ बड़े-बड़े जमींदारों के हाथ में कृषि को नहीं रख सकते क्योंकि ऐसा करना सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं। यहाँ की अधिकांश जनता तो जमीदारों तथा जमींदारी प्रथा की विरोधी ही है। कांग्रेसी सरकारें इस अभिशाप का अन्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसलिए अब एक ही रास्ता रहता है वह है सहकारिता के आधार पर कृषि करना। संसार के कतिपय देशों मेक्सिको, पैलेस्टाइन, यू० एस० ए० आदि में सहकारिता के आधार पर ही कृषि की जाती है। इन देशों ने सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार कृषि करके इस दिशा में अच्छी उन्नति प्राप्त कर ली है।

भारत में भी सहकारिता के आधार पर कृषि करने के लिए काफी क्षेत्र है। यहाँ से जमींदारी प्रथा का यथाशीघ्र अन्त कर देना चाहिए तथा राज्य को भूमि पर अपना अधिकार जमा लेना चाहिए। समस्त भारतीय भूमि को आर्थिक जोतों में विभक्त कर ऐसे काश्तकारों को देना चाहिए जो स्वयं उन खेतों को जोतें। इस प्रकार के खेतों को काश्तकारों के सिवाय और कोई न जोत सके, इस बात की व्यवस्था कानून द्वारा कर देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त लगभग ८८ लाख एकड़ वह भूमि जिस पर खेती सम्भव है, उसका भी उपादेयकरण हो जाने के पश्चात् सहकारिता के आधार पर जोतने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस सहकारिता का प्रयोग कृषि के सभी अंगों में होना चाहिए। रैयत-वारी प्रथा वाले क्षेत्र में भी सहकारिता का काफी क्षेत्र है इस प्रकार के क्षेत्रों में ऐसी व्यवस्था हो जिससे व्यक्तिगत भूमि पर स्वामित्व तो रहे किन्तु सब लोगों को मिलकर कार्य करना अनिवार्य कर दिया जाय। और खेती की पैदावार का बँटवारा, प्रत्येक सदस्य द्वारा भूमि, श्रम और कृषि यंत्रों के रूप में दी गई सहायता के अनुपात में हो। इससे किसानों का भूमि पर अपना स्वत्व भी बना रहेगा और सहकारिता की खेती के समस्त लाभ भी किसानों को उपलब्ध हो जावेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में सहकारिता द्वारा कृषि करने पर अच्छी सफलता प्राप्त की जा सकती है।

छठा परिच्छेद

भूमि स्वत्व पद्धतियाँ

(System of Land Tenure)

पिछले परिच्छेद में भारत में उत्पन्न होने वाली फसलों, खेतों की जोत की रूप-रेखा, किसान की कृषि सम्बन्धी कुछ समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इस परिच्छेद में हम भारत में प्रचलित भूमि-स्वत्व की, भूमि के बन्दोबस्त की प्रणालियों या पद्धतियों पर विचार करेंगे। भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए भूमि स्वत्व का महत्व कितना है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। भारतीय भूमि स्वत्व की पद्धति की महत्ता त्रिमुखी है। सर्व प्रथम राज्य की दृष्टि से, दूसरे भूमि-स्वत्व का प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है, उस विचार से, तीसरे इस पद्धति के द्वारा देश के अधिकांश लोगों के रहन-सहन के स्तर के विचार से। इस प्रकार भूमि के बन्दोबस्त में, भूमि-स्वत्व में मुख्य तीन शक्तियाँ कार्य करती हैं- कृषक, भू-स्वामी (जमींदार इत्यादि) तथा राज्य। भू-स्वामी भूमि के विकास के लिये आर्थिक सहायता देता है, कृषक कृषि करता है, तथा राज्य इन दोनों शक्तियों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि इस भूमि-स्वत्व का महत्त्व त्रिमुखी है। राज्य समस्त देश की भूमि की व्यवस्था के लिए उस भूमि को या किसी निश्चित भू-भाग को किसी व्यक्ति, या व्यक्ति समूह के हाथ में देता है। इसके बदले में उसे निश्चित राजस्व या लगान आदि प्राप्त होता है। भूमि स्वत्व का प्रभाव कृषि के उत्पादन पर भी पड़ता है, इस दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्व है। उदाहरण के लिये वह काश्तकार या कृषक जिसकी निज की भूमि है या जिसका अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार है तो वह कृषक अन्य काश्तकारों की अपेक्षा भूमि को अधिक उत्साह से, अधिक लगन से जोते-बोवेगा। भूमि-स्वत्व की पद्धतियों का प्रभाव देश के निवासियों के रहन-सहन के स्तर पर भी पड़ता है। अतएव कृषि की उन्नति के लिये, समाज में सन्तोष तथा शांति की स्थापना के हेतु एक उचित तथा न्याययुक्त भूमि-स्वत्व पद्धति की आवश्यकता है। भूमि-स्वत्व की सबसे अच्छी पद्धति वही होती है जिसके द्वारा एक ओर तो सम्पत्ति का सबसे अधिक उत्पादन हो, दूसरे उस उत्पादन का उचित वितरण।

भूमि-स्वत्व की विभिन्न प्रणालियाँ—भारतवर्ष में भूमि-स्वत्व की कई पद्धतियाँ या प्रणालियाँ प्रचलित हैं। इनमें से नीचे लिखी तीन प्रणालियाँ मुख्य मानी जाती हैं :—(१) जमींदारी भूमि स्वत्व या बन्दोबस्त (२) ग्राम्य या महलवारी बन्दोबस्त (३) रैयतवारी भूमि-स्वत्व या बन्दोबस्त।

सन् १९३७-३८ के आंकड़ों के अनुसार इन तीन प्रमुख पद्धतियों के अनुसार भूमि का वर्गीकरण नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जायगा :—

नाम व बन्दोबस्त	क्षेत्रफल (लाख एकड़ में)	कुल प्रतिशत	वे मुख्य राज्य जहाँ ये पद्धतियाँ प्रचलित हैं
रैयतवारी	१८३०	३६%	मदरास, बम्बई, सिंध, तथा आसाम
जमींदारी (स्थाई बन्दोबस्त,	१३००	२५%	बंगाल, बिहार, मदरास
जमींदारी तथा महलवारी प्रथा (अस्थाई बंदोबस्त)	१९९०	३९%	मध्य प्रदेश, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश

जमींदारी प्रथा के अनुसार जमींदार सब खेतों का स्वामी होता है, उसे यह अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त होता है। वह राज्य को निश्चित मालगुजारी देता है। वह स्वयं खेती न करके अपनी भूमि किसानों को उठा देता है और किसानों से भूमि के उपयोग के बदले 'लगान' वसूल करता है। राज्य और किसानों का सीधा सम्बन्ध नहीं होता। ग्राम्य या महलवारी प्रथा के अनुसार गाँव की भूमि

के सब स्वामी मिलकर राज्य को मालगुजारी चुकाने के लिये उत्तरदायी होते हैं। रैयतवारी प्रथा के अनुसार किसान अपनी-अपनी भूमि की मालगुजारी चुकाने के लिये स्वयं जिम्मेदार होते हैं। उनके और राज्य के मध्य में कोई तीसरा आदमी नहीं रहता।

इस प्रकार भारत में मुख्य ये तीन पद्धतियाँ प्रचलित हैं। हम इन पद्धतियों पर अलग-अलग विचार करेंगे। किन्तु इससे पूर्व हमें इन पद्धतियों के संक्षिप्त इतिहास, तथा इनके विस्तार क्षेत्र के विषय में, उन गाँवों के विषय में जहाँ इन प्रणालियों का प्रचलन है कुछ ज्ञातव्य बातें मालूम कर लेना आवश्यक है।

भारत वर्ष में अति प्राचीन काल से, कृषि के उत्पादन में कुछ न कुछ भाग राज्य का रहता था। मनुस्मृति में राज्य को कृषि उत्पादन का $\frac{1}{6}$ भाग प्राप्त करने का अधिकार था, युद्ध या अन्य विषम परिस्थितियों में राज्य को $\frac{1}{3}$ भाग तक प्राप्त करने का अधिकार था। धीरे-धीरे सभ्यता का विकास हुआ, जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ कृषि के विस्तार में भी वृद्धि हुई। अतः भूमि के उचित वितरण की, आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभ्यता के इन प्रारम्भिक युगों में भूमि की सारी व्यवस्था ग्राम संस्थाओं के हाथ में थी। उस समय किसान ही भूमि का स्वामी होता था उसके ऊपर कोई भू-स्वामी या जमींदार आदि नहीं था, किसान का सीधा संबंध उस प्रदेश के शासक से होता था। ग्राम संस्थाएँ किसानों से भूमि कर वसूल कर राज्य को देती थीं। यवनों के शासन काल के पूर्व तक यही व्यवस्था चलती रही। जब भारतवर्ष में यवनों के पैर जम गए तो उन्होंने भूमि के स्वत्व या बन्दोबस्त तथा मालगुजारी आदि की अनेक नवीन व्यवस्थाओं का प्रचलन किया। इस दिशा में शेरशाह तथा अकबर ने काफी सुधार किये। मुसलमानी शासन काल के प्रारम्भ होने से देश की भूमि के बन्दोबस्त पर भी प्रभाव पड़ा। उस समय समस्त भूमि मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित थी---एक खालसा दूसरी जागीरी। खालसा भूमि का वह भाग था जो कि बादशाह की, उसके परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सुरक्षित रखा जाता था। जागीरी भूमि का विभाजन ताल्लुकेदारों तथा सूबों में होता था। ये सूबा तथा ताल्लुकेदार अपनी भूमि को अपने अधीनस्थ सामन्तों या जागीरदारों में बाँट देते थे। यह जागीरदारी प्रथा कहलाती थी। बाद में इस प्रथा का स्थान ठेकेदारी ने ले लिया। इसके अनुसार गाँव की मालगुजारी वसूल करने का ठेका ठेकेदारों को मिल जाता था जो एक निश्चित रकम राज्य कोष में दे दिया करते थे। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुग़ल शासन छिन्न-भिन्न हो गया, यहाँ अंगरेजों के पैर जमने लगे। अंगरेजों के शासन काल में ग्राम संस्थाओं की बड़ी उपेक्षा की गई। इस समय एक नया भू-स्वामी वर्ग—जमींदार उत्पन्न हो गया। जैसे-जैसे अंगरेजों के शासन की नींव यहाँ जमने लगी, यहाँ की भूमि-स्वत्व पद्धतियों में परिवर्तन होने लगा। अंगरेजों के शासन काल में भूमि के बन्दोबस्त के विषय में कई कानून पास हुए जिनके अनुसार अभी तक कार्य चल रहा है। इन बन्दोबस्तों पर हम आगे विचार करेंगे।

भारतवर्ष के स्वतन्त्र हो जाने पर कितने ही राज्यों के ग्रामों में ग्राम संस्थाएँ स्थापित की गई हैं साथ ही साथ भूमि के बन्दोबस्त में भी कुछ परिवर्तन किया गया है, उत्तरप्रदेश जैसे राज्यों में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो चुका है।

उपरोक्त विवरण से देश में भूमि के बन्दोबस्त के इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला गया। अब हम यहाँ पर भूमि स्वत्व या बन्दोबस्त की प्रचलित प्रणालियों पर विस्तार से विचार करेंगे।

रैय्यतवारी बन्दोबस्त—(Ryotwari Tenure) ब्रिटिश भारत में रैय्यत-वारी भूमि-स्वत्व प्रणाली का प्रचलन बम्बई, मद्रास के अधिकांश भाग में, बरार, सिंध, तथा आसाम में था। इस प्रथा की मुख्य विशेषताएँ ये हैं :—

(१) इसके अनुसार समस्त भूमि पर (जिसमें ऊसर बंजर भूमि भी सम्मिलित है) राज्य का पूरा अधिकार होता है।

(२) ऐसी भूमि के काश्तकार को अपनी जोत का स्वयं प्रयोग करने का, किसी दूसरे को दे देने का तथा छोड़ देने का पूरा अधिकार होता है। जब तक वह लगान देता रहता है तब तक भूमि पर उसका पूरा अधिकार रहता है।

(३) प्रत्येक काश्तकार को व्यक्तिगत रूप से सरकार को लगान देने का अधिकार है।

(४) इस प्रकार की भूमि को जोतने वाले काश्तकार का सरकार से सीधा सम्बन्ध रहता है। उसके तथा सरकार के बीच में किसी व्यक्ति की मध्यस्थता नहीं रहती।

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि रैय्यतवारी प्रथा के अनुसार सारी शक्ति राज्य के ही हाथ में निहित रहती है, सरकार ही जमींदार होती है। इसके समर्थन में यह कहा जाता है कि यदि सरकार को निश्चित समय में लगान नहीं प्राप्त होता तो वह काश्तकार को अधिकार-च्युत कर उस भूमि पर अपना अधिकार जमा सकती है। दूसरे सारी ऊसर बंजर या नष्ट-भ्रष्ट भूमि पर सरकार का अधिकार होता है। यदि काश्तकार उस भूमि को नहीं जोतना चाहता तो वह उसे छोड़ देता है और उस पर राज्य या सरकार अपना अधिकार जमा लेती है। इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि राज्य का रैय्यतवारी प्रथा में कितना अधिकार रहता है।

इसके विपरीत रैय्यतवारी प्रथा के समर्थकों का कथन है कि ऐसी प्रथा के अनुसार राज्य का भूमि पर जो अधिकार रहता है, वह कोई निरंकुश अधिकार नहीं है। सारी जायदाद यदि नागरिक लगान देते रहते हैं तो उनके हाथ में बनी रहती है। राज्य तो उसी दशा में भूमि पर अधिकार कर सकेगा जब कि मांगने के पश्चात् भी उसे निश्चित लगान प्राप्त नहीं होता।

बंजर या ऐसी भूमि जो खेती के योग्य नहीं है, उस पर राज्य का अधिकार हो सकता है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जोती जाने वाली भूमि में भी राज्य का अधिकार, उसका पूर्ण स्वामित्व है। पंजाब में प्रचलित महलवारी प्रथा के अनुसार बंजर या ऊसर भूमि का स्वत्वाधिकार उस गाँव के निवासियों के ही हाथों में सामूहिक रूप से होता है।

इसके अतिरिक्त यदि काश्तकार यह ठीक नहीं समझता कि वह भूमि जोती जाय, या वह उस भूमि पर लगाए लगान को अधिक समझता है और यह सोचता है कि उसके जोतने बोने में उसे विशेष आर्थिक लाभ नहीं होगा तो वह उसे छोड़ सकता है। इस नियम से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य कोई इसमें अनुचित अधिकार नहीं रखता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह पद्धति जहाँ तक कृषकों का सम्बन्ध है, काफी सुविधाजनक एवं उपयोगी है। रैय्यतवारी प्रथा के काश्तकार की स्थिति एक छोटे मोटे जमींदार की तरह होती है। इस पद्धति में सबसे बड़ी सुविधा यह होती है कि इसके द्वारा किसान तथा सरकार के बीच के दलालों के लिए कोई स्थान नहीं रहता, किसान तथा सरकार का सीधा सम्बन्ध रहता है। परन्तु काश्तकारों के अन्य किसानों के हाथ में भूमि उठा देने के कारण उस पद्धति की उपयोगिता काफी कम हो गई है, उसमें कई दोष आ गए हैं किन्तु वे दोष इतने नहीं हैं जितने की जमींदारी प्रथा में। यही नहीं इस प्रथा में लगान निश्चित करने की पद्धति में भी दोष हैं।

महलवारी बन्दोबस्त (The Mahalwari Tenure) इस प्रथा का प्रचलन उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा मध्यप्रदेश में है। इस प्रकार की प्रथा के अनुसार गांव की भूमि का स्वामी कोई एक व्यक्ति नहीं होता जो सारे गाँव की मालगुजारी के लिए सरकार के सामने उत्तरदायी हो। इस प्रणाली के अनुसार सारे गाँव वाले मिल कर सरकार को मालगुजारी देने के लिए उत्तरदाता होते हैं। यहाँ पर हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि गाँव वालों से तात्पर्य गाँव के सब

आदमियों के नहीं वरन् उन लोगों से है जो कि ग्राम की समस्त भूमि के एक न एक भाग के स्वामी होते हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल उन्हीं लोगों से है जो गाँव की भूमि के किसी भाग के वास्तविक स्वामी हैं, न कि उन लोगों से जो भू-स्वामियों से भूमि किराए पर लेकर काश्त करते हैं। इस प्रकार के ग्रामों की समस्त ऊसर बंजर भूमि ग्राम की सम्मिलित सम्पत्ति समझी जाती है।

इस प्रकार के ग्रामों में मुख्यतः तीन प्रकार से भूमि का विभाजन होता है। दूसरे शब्दों में महलवारी प्रथा वाले ग्रामों में भूमि के हिस्सेदारों में विभाजन का मुख्य तीन प्रणालियाँ हैं। सबसे पहले तो हमें पैतृक सिद्धान्त के अनुसार विभाजन वाले ग्राम (Ancestral or Family share system) इसके अनुसार भूमि का हिस्सेदार वंशानुगत की दृष्टि से भूमि का स्वामी होता है। इसको दूसरी प्रकार से यूँ कहा जा सकता है कि गाँव की समस्त भूमि का या उसके उत्पादन आदि का विभाजन पैतृक सिद्धान्त के आधार पर होता है। एक कुटुम्ब में जिस व्यक्ति का जो स्थान होता है, उसी हिसाब से भूमि में उसका प्रभुत्व माना जाता है, उसी स्थिति के अनुसार गाँव की भूमि में उसका भाग निश्चित कर दिया जाता है। इस पैतृक प्रणाली वाले गाँवों के तीन प्रकार होते हैं—वे गाँव जो एक संयुक्त कुटुम्ब की भाँति एक सम्मिलित समूह द्वारा अधिकृत माने जाते हैं, जिन पर कुछ व्यक्तियों को सामूहिक अधिकार होता है। पैतृक प्रथा के अनुसार जो ग्राम विभाजित होते हैं। उन्हें पट्टीदारी पद्धति वाले ग्राम कहा जाता है। इसी प्रथा वाले ग्राम जो अंशतः विभाजित होते हैं उन्हें अधूरी पट्टीदारी (Imperfect Pattidari) कहा जाता है।

इसके पश्चात् दूसरे प्रकार के गाँव अपैतृक प्रणाली वाले होते हैं। ऐसे गाँवों में सच्चे 'भाई चारे' के सिद्धान्त के अनुसार भूमि के विभाजन की विशेष रीतियाँ प्रचलित होती हैं। भूमि का यह विभाजन कई प्रकार से हो सकता है—बराबर-बराबर हिस्सों में जितने जिसके पास हल हों उसके अनुसार, या पानी अथवा कुओं में हिस्से के अनुसार। इस प्रकार के विभाजन के हो जाने के पश्चात् भी भूमि सामूहिक सम्पत्ति मानी जाती है।

इन दो प्रकार के गाँवों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार के वे गाँव होते हैं जहाँ पर भूमि के विभाजन के कोई विशेष नियम प्रचलित नहीं होते, जो आदमी जितने भूमि-भाग में पहले से खेत जोता-बोता रहता है, उतनी भूमि पर उसका अधिकार मान लिया जाता है।

इनमें से प्रत्येक प्रकार के गाँवों में भूमि का बँटवारा इस बात पर आधारित होता है कि अमुक सम्मिलित प्रथा वाले ग्राम का जन्म किस प्रकार हुआ, उसकी उत्पत्ति किन सिद्धान्तों पर हुई। इन गाँवों का निर्माण नीचे लिखे प्रकारों या प्रणालियों में से किसी एक के आधार पर हुआ था :—

वंशानुगत पैतृक ग्रामों का निर्माण किसी एक व्यक्ति के द्वारा हुआ होगा जो उस गाँव का संस्थापक, या एक मालगुजारी देनेवाला काश्तकार या जमींदार हो सकता है।

दूसरे, भूमि के स्वामी किसी ऐसे वर्ग के हो सकते हैं जिन्होंने किसी प्रदेश को जीतकर उसे अपने यहाँ के रीति-रिवाजों के अनुसार आपस में बाँट लिया।

तीसरे, भूमि के स्वामी ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जो उस भू-भाग या प्रदेश में आबाद हो गए तथा वहाँ पर मिश्रित पूँजी के आधार पर कृषि करना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्मिलित प्रणाली वाले ग्रामों का निर्माण उपरोक्त तीन आधारों पर ही हुआ होगा। एक आदर्श महलवारी भूमि-स्वत्व वाले ग्राम में भूमि के स्वामी स्वयं काश्तकार होते हैं। कुछ स्थानों पर भूमि के स्वामी भूमि को किसानों को दे देते हैं, और उसके बदले में किसान उसको या तो नकदी या माल के रूप में लगान दे देता है। इस प्रथा को बटाई प्रथा कहा जाता है। कुछ स्थानों पर भूमि का स्वामी जिसके पास काफी भूमि है, किसानों को कृषि करने के लिए दे देता है, अपने वास्ते वह थोड़ी सी जमीन रख लेता है। वास्तव में महलवारी प्रथा वाले ग्रामों में, इस

प्रथा का सबसे अच्छा फल उसी समय देखने को मिलता है जब कि भू-स्वामी के पास इतनी ही भूमि होती है जितनी कि वह स्वयं जोत-बो सकता है। ऐसा काश्तकार कृषि के उत्पादन में, अपनी भूमि का विकास करने में बड़ा उत्साह दिखलाता है। यदि इस प्रणाली वाले ग्रामों के भू-स्वामी मिलकर सहकारिता के आधार पर कृषि करने लगें तो उन्हें उससे और भी अधिक लाभ मिल सकता है।

जमींदारी बन्दोबस्त (Zamindari Tenure)—ऊपर हमने भूमि-स्वत्व या भूमि के बन्दोबस्त की मुख्य दो प्रणालियों पर प्रकाश डाला। यहाँ पर इन पद्धतियों में सबसे प्रधान जमींदारी प्रथा पर विचार करेंगे।

भारत में अंगरेजों के आगमन के पूर्व, शासनसत्ता के हस्तान्तरित होने, शासन-तंत्र के परिवर्तित होने का प्रभाव भूमि-स्वत्व की विभिन्न पद्धतियों पर लेशमात्र भी नहीं पड़ता था। राज्यों के, राजाओं के आने जाने का प्रभाव जमीन के बन्दोबन्त पर बिल्कुल नहीं पड़ता था। भारत में अंगरेजों के पैर जमने के कारण इस दिशा में भी शनैः-शनैः परिवर्तन होने लगा। सन् १७६५ में ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हो गई। इस प्रकार इन प्रदेशों की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार अंगरेजों के हाथ में आ गया। कुछ वर्षों तक इन क्षेत्रों में लगान या राजस्व की प्राचीन व्यवस्था के आधार पर ही वह मालगुजारी वसूल करती रही। इसके पश्चात् इस दिशा में कम्पनी ने कई प्रकार के प्रयोग किए, कई नवीन पद्धतियों के अनुसार जमीन का बन्दोबस्त किया, परन्तु इनमें से कोई भी प्रयोग सफल न हुआ। अन्त में १७९३ में लार्ड-कार्नवालिस ने भूमि के स्थाई बन्दोबस्त (Permanent Settlement)* की व्यवस्था की। इसी स्थाई बन्दोबस्त के परिणाम स्वरूप जमींदार-वर्ग का जन्म हुआ। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों अंगरेजों के राज्य का विस्तार होता गया, जमींदार वर्ग में भी वृद्धि होती गई। नीचे इस प्रथा की मुख्य-मुख्य बातों पर विचार करेंगे।

इस प्रथा के अनुसार अपने समस्त क्षेत्र (गाँव के किसी भाग, एक गाँव या कई गाँवों) की मालगुजारी देने का सारा उत्तरदायित्व जमींदार पर होता है। लगान के बन्दोबस्त की दृष्टि से जमींदारी बन्दोबस्त दो प्रकार का होता है—स्थाई बन्दोबस्त वाले प्रदेश (Permanantly Settled Estates) जहाँ पर कि मालगुजारी की दर सदैव के लिए निश्चित कर दी जाती है जैसा कि बंगाल तथा मदरास के कुछ भागों में है। दूसरे अस्थाई बन्दोबस्त वाले प्रदेश (Temporarily Settled Estates) जहाँ पर कुछ साल बाद सम्भवतः ३० या ४० साल के पश्चात् मालगुजारी की दर में हेर-फेर हुआ करता है।

जमींदार के भूमि स्वामित्व सम्बन्धी अधिकारों में समय-समय पर वृद्धि होती रही। प्रारम्भ में भूमि पर उन्हीं लोगों का अधिकार रहता था जो कि सारी भूमि की मालगुजारी सरकार को दे सकते थे, बाद में यह रीति समाप्त हो गई, कुछ लोगों का जिनको सरकार से भू-स्वमित्व के अधिकार प्राप्त हो गए और जिन्होंने उसके बदले में सरकार को उचित मालगुजारी देने की प्रतिज्ञा कर ली, वे लोग जमींदार बने रहे।

जमींदार लोगों के पास भूमि काफी रहती है इसलिए वे स्वयमेव उस समस्त भूमि पर कृषि नहीं कर सकते अतः उन्होंने उस भूमि को किसानों को दे दी। परन्तु ये जमींदार ही किसानों से अपना सीधा सम्बन्ध नहीं रख सके, उनके बीच में कई दूसरे छोटे छोटे मालगुजार भी आ गए। ये मालगुजार एक प्रकार से छोटे जमींदारों का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त बंगाल के पट्टीदार तथा उत्तर प्रदेश के ताल्लुकेदार आदि भी किसान तथा सरकार के बीच में मध्यस्थता का कार्य करते हैं।

---

*स्थाई बन्दोबस्त के विषय में विशेष प्रकाश अगले पृष्ठों में डाला गया है।

जमींदारी प्रथा के गुण तथा दोष—हम ऊपर कह चुके हैं कि जमींदारी प्रथा का जन्म अंगरेजों के शासनकाल में उन्हीं के हाथों द्वारा हुआ। यह पद्धति अंगरेजों ने अपने देश में प्रचलित भू-स्वामी प्रणाली के अनुरूप ही प्रचलित की। वे लगान देने वाले काश्तकार जिनका कार्य अपने क्षेत्र में लगान वसूल कर सरकार को देना था, उन्हें भूमि स्वामित्व के कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हो गए। यह मालगुजारी स्थाई या अस्थाई बन्दोबस्त द्वारा सरकार द्वारा निश्चित कर दी गई। उस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी का मुख्य ध्येय अधिक से अधिक मालगुजारी प्राप्त करना था, उनका कृषि के विकास से या भूमि के सुधार से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार धीरे-धीरे अंगरेजी सरकार ने एक ऐसा वर्ग खड़ा कर लिया जो सरकार को अधिक से अधिक मालगुजारी देने के साथ-ही साथ भारत में अंगरेजी शासन की नींव जमाता रहा।

भारत में जमींदारी प्रथा की स्थापना का चाहे जो कुछ भी कारण हो, परन्तु इतना अवश्य है कि जमींदारों से जमींदारी प्रथा से भारत के किसानों को किंचित मात्र भी लाभ नहीं हुआ। स्थाई बन्दोबस्त के साथ ही साथ जमींदारी प्रथा ने भारतीय कृषि और कृषकों को खूब तबाह किया है। जमींदारी बन्दोबस्त से भारत के किसानों के आर्थिक जीवन का विकास रुका ही नहीं वरन् उससे भारतीय कृषि को भी बड़ा धक्का लगा है। जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत भूमि का बन्दोबस्त अनिश्चित और अरक्षित रहा है। जमींदारों ने किसानों से मनमानी लगान वसूल किया। पहले जमींदारों से यह आशा की गई थी कि वे किसानों को अपने परिवार का अंग समझेंगे और देश-हित के लिए समाज का नेतृत्व ग्रहण करने वाले होंगे। खेद है कि जमींदारों के अधिकांश वर्ग ने इस ओर घोर उपेक्षा की। उन्होंने अपनी उपयोगिता का परिचय नहीं दिया। प्रायः वे आरामतलबी और कुछ दशाओं में तो विलासिता का जीवन व्यतीत करते रहे। भूमि के सुधार से, कृषि के विकास से उनका कोई काम न रहा। कहने की आवश्यकता नहीं कि कितने ही जमींदार अपने गाँवों को छोड़कर, अपना शौक पूरा करने के लिए नगरों में जा बसे। इसका जो दुष्परिणाम निकला उसे कौन नहीं जानता। अब यह बिल्कुल सिद्ध हो चुका है कि जमींदारों ने कृषि और कृषकों के आर्थिक प्रगति में रोड़ा अटकाया है, उनकी प्रगति में बाधा उपस्थित की है। १९४० के बंगाल मालगुजारी कमीशन के इन शब्दों में "ये जमींदार किसानों की प्रगति में बाधक हैं, उन्हें कोई भी ठोस कार्य करने का अवसर नहीं दिया जाता, जहाँ तक कृषि के विकास का सम्बन्ध है, जमींदारों ने (इस दिशा में) कुछ भी कार्य नहीं किया है।" जमींदारों की अनुपयोगिता बिल्कुल सिद्ध हो जाती है।

जमींदारी प्रथा के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों की सरकारों का क्या रुख रहा है, इस बात का परिचय नीचे दिए हुए कुछ अवतरणों से लग जायगा। १९४५ में बंगाल दुर्भिक्ष जाँच कमीशन ने कुछ सरकारों से तत्सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे थे। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में इन सरकारों ने जमींदारी प्रथा के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला था। उड़ीसा की सरकार ने लिखा था, "साधारणतया जमींदारी प्रथा वाले प्रदेशों में चाहे वे स्थाई या अस्थाई बन्दोबस्त वाली हों, कृषि के विकास के लिए, फसल अच्छी करने के लिए कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता, बाढ़ से खेतों की रक्षा की ओर भी कुछ ध्यान नहीं रखा जाता, हाँ किसानों से लगान लेने वाली प्रत्येक बात पर जमींदार अच्छा ध्यान देते हैं, किसानों से चाहे वे जैसी स्थिति में हों लगान आदि वसूल करने में कुछ भी नहीं हिचकिचाते।" बिहार सरकार ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये थे। आसाम सरकार ने कहा था कि 'जब कि रैय्यतवारी प्रथा में उत्पत्ति की वृद्धि पर यथेष्ट ध्यान दिया जाता है, जमींदारी में उसका बिल्कुल उल्टा होता है। जमींदारी पद्धति में लोगों की प्रायः यह भावना रहती है कि उनकी स्थिति सुरक्षित नहीं है, उनके (किसानों के) अधिकार सुरक्षित नहीं हैं। यह स्थिति सुधारने के लिए जमींदारी उन्मूलन के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।' मदरास के रेवन्यू बोर्ड ने भी जमींदारी प्रथा को दोषयुक्त ठहराया था। मदरास के

कृषि-विभाग के डायरेक्टर का कहना था कि यदि जमींदारी प्रथा के स्थान पर रैय्यतवारी प्रथा आ जाती है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ पर सिंचाई आदि की व्यवस्था में विकास हो जायगा, कृषि-विभाग के कार्यों के क्षेत्र में विस्तार हो जायगा और सहकारिता के आधार पर कृषि करने की सुविधा मिल जायगी।

जमींदारी प्रथा सम्बन्धी राज्यों के उपरोक्त विचारों से चाहे कोई सहमत हो या न, किन्तु इतना अवश्य है कि इस प्रथा से हमें कोई लाभ नहीं हुआ है। उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त जमींदारी प्रथा में कुछ अन्य दोष और भी रहे हैं। इनमें से मुख्य ये हैं :—

(१) जमींदार बिना श्रम किए धन पाते हैं, और उसका उपयोग वे अधिकांश अपने व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं, समाजहित के विचार से नहीं।

(२) जमींदार गैर मौरूसी काश्तकारों से मनमाना लगान वसूल करते और उन्हें पट्टा होने के समय बेदखल करने की धमकी देते हैं।

(३) जमींदार त्योहारों तथा विवाह-शादी के अवसरों पर किसानों से नज़राना तथा अन्य कर लेते हैं।

(४) जमींदार किसानों से रसद तथा बेगार लेते हैं।

(५) प्रायः किसान जमींदारों के गुमाश्तों या कारिन्दों के अत्याचारों के शिकार होते हैं तथा उन्हें मुकदमेंबाज़ी आदि में फँसना पड़ता है।

(६) अधिकांश जमींदार प्रतिक्रियावादी और सुधार विरोधी होते हैं।

काश्तकारी प्रथा के दोष (Defects of Tenancy Cultivation)—जमींदारी प्रथा के अनुसार जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि काश्त स्वयं जमींदार नहीं करता वह अपनी भूमि को किसानों को देता है, जो उसको उसके बदले में लगान दिया करते हैं। परन्तु कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि इस प्रथा से कृषि को उतना लाभ नहीं पहुँचता, उत्पादन उतनी अच्छी तरह नहीं होता जितना कि रैय्यतवारी प्रथा में या उस पद्धति में जिसके अनुसार किसान का अपनी भूमि पर पूर्ण स्वामित्व होता है। आर्थर मूर ने लिखा था कि 'किसी आदमी को एक पथरीले प्रदेश का पूर्ण स्वामित्व प्रदान कर दीजिए, उस प्रदेश के बोने-जोतने के पूर्ण अधिकार उसको दे दीजिये, आप देखिएगा कि चन्द दिनों में ही वह अनुर्वरा भूमि सुन्दर लहलहाते खेतों में परिवर्त्तित हो जायगी। इसके विपरीत यदि आप नौ वर्ष के लिए किसी को सुन्दर से सुन्दर उपजाऊ भू-भाग पट्टे पर दे दीजिये तो यह पट्टेवाली भूमि आपको कुछ समय पश्चात् नष्ट-भ्रष्ट स्थिति में मिलेगी।' इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी काश्तकारी विशेष उपयोगी नहीं होती। पंजाब के काश्तकारों के सम्बन्ध में कैलवर्ट साहब ने लिखा था* कि ये काश्तकार साधारणतया फसल आदि के उत्पादन में बहुत कम दिलचस्पी लेते हैं, प्रायः कम बार खेत जोतते हैं, और भू-स्वामियों की अपेक्षा कृषि करने में कम औजारों का प्रयोग करते हैं। वे कम मूल्य वाली सस्ती फसलें पैदा करते हैं, अपने खेतों का विकास करने के लिए वे विशेष ध्यान नहीं देते, खेत जोतने आदि के लिए वे अच्छे पशु नहीं रखते, वृक्षों आदि की ओर भी वे यथेष्ट ध्यान नहीं देते। इस प्रकार हम देखते हैं कि जमींदारी प्रथा के काश्तकार भूमि आदि के सुधार में लापरवाह ही रहते हैं।

यह तो रही रकम में लगान देने की बात, जहाँ किसान बँटाई प्रथा के अनुसार लगान किस्म में (अन्न के रूप में) देता है वहाँ की स्थिति तो और भी बुरी है। ऐसा काश्तकार कृषि के उत्पादन का आधा भाग भू-स्वामी को दे देता है, शेष आधे में उसका परिश्रम तथा पूँजी आदि सब

---

*देखिये कैलवर्ट की 'वेल्थ ऐन्ड वेलफेयर आफ पंजाब' पृष्ठ २०६--७

सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार उसको अपने श्रम का बहुत कम भाग मिल पाता है। कुछ लोगों का विचार है कि बँटाई प्रथा के अनुसार भू-स्वामी तथा काश्तकार के सम्बन्धों में विशेष गड़बड़ी नहीं होती, इससे लगान आदि में काफी सुविधा हो जाती है। परन्तु ये सुविधाएँ बड़ी मँहगी पड़ती हैं। इसके अनुसार कुल उत्पादन का लगभग १८ प्रतिशत भाग ही काश्तकार को मिलता है, शेष भाग भू-स्वामियों की जेब में चला जाता है। इस प्रकार भारत में काश्तकारी (Tenancy) में बड़े दोष हैं। परन्तु यह काश्तकारी सदा बुरी ही नहीं रहती इसमें सब दोष ही दोष नहीं हैं। संसार में सबसे अच्छी कृषि इंगलैण्ड में होती है जहाँ पर यही प्रथा प्रचलित है। इस पर सन्देह किया जा सकता है, यह पूछा जा सकता है कि यह कैसे सम्भव हो सकता है? एक ही प्रथा जो यहाँ के लिये अनुपयोगी है, वह इंगलैण्ड के लिए उपयोगी होगी। इस अन्तर का मुख्य कारण यहाँ के और वहाँ (इंगलैण्ड) के जमींदारों का अन्तर है। इंगलैंड का जमींदार (Land Lord) काश्तकारों को अपना ही आदमी समझता है, वहाँ की भूमि आदि को सुधार करने के लिए उसे जो कुछ लगान प्राप्त होता है, उसका एक-तिहाई से भी अधिक वह इस सम्बन्ध में खर्च कर देता है। अतः जमीन के बन्दोबस्त को ही हम सब कुछ नहीं मान सकते। जमींदार तथा काश्तकार का भी इस सम्बन्ध में बड़ा महत्त्व रहता है। जब जमींदार का ध्यान सदैव लगान वसूल करने की ओर ही रहेगा, वह भूमि-सुधार के लिए किसान को सुविधाएँ आदि नहीं प्रदान करेगा तो किसान स्वभावतः इस ओर उदासीन हो जावेगा। परन्तु जब जमींदार किसान को भूमि सुधार के लिए, कृषि के विकास के लिए सुविधाएँ देगा, उसको इस कार्य के लिए कुछ आर्थिक सहायता देगा, किसान को अपने अधिकारों की सुरक्षा का भरोसा रहेगा, तो निश्चय ही यह प्रथा अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

सरकार की कृषि सम्बन्धी नीति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय सरकार को देश की खाद्यान्न सम्बन्धी स्थिति की विभीषका का पता चल गया। इन दिनों देश में भयंकर खाद्य संकट उपस्थित था, अन्नोत्पादन में वृद्धि करने के लिए सरकार ने अनेक प्रयत्न किए। इन प्रयत्नों का सरकार को थोड़ा बहुत फल अवश्य प्राप्त हुआ, परंतु वह यह भलीभाँति समझ गई कि बिना इस समस्या पर सुव्यवस्थित ध्यान दिये, उसका सुलझाना सम्भव नहीं। अतः सरकार इस दिशा में एक निश्चित नीति को अपना कर देश की कृषि की अवनति के मूलकारणों को दूर करने का प्रयत्न कर रही हैं। हमारी सरकार की मुख्य नीति देश में कृषि संबन्धी ऐसे सुधार करने हैं जो रैय्यतवारी तथा जमींदारी दोनों प्रकार के भूमि-स्वत्व वाले ग्रामों में प्रति व्यक्ति प्रति एकड़ अधिक से अधिक उत्पादन में सहायता पहुँचायेंगे। इस उद्देश्य को क्रियात्मक रूप देने के लिए कांग्रेस ने कृषि सुधार समिति की (१९४८ में) स्थापना की थी। इस समिति का मुख्य कार्य सरकार को भारत के विभिन्न राज्यों सम्बन्धी कृषि की स्थिति के विषय में सलाह देना था। जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् ग्रामों की कृषि व्यवस्था कैसी हो, गाँवों में सहकारिता के आधार पर कृषि कैसे की जाय, कृषि उत्पादन में वृद्धि कैसे हो, छोटी काश्तवाले किसानों का तथा खेत-मजदूरों की स्थिति में किस प्रकार सुधार किया जाय, आदि बातें समिति के विचाराधीन थीं। इस समिति ने सरकार के सन्मुख कुछ सुझाव पेश किये। इन सुझावों को केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित नेशनल प्लानिंग कमीशन ने स्वीकार कर लिया है। इस समिति ने जो मुख्य सिद्धान्त प्रतिपादित किए उनमें कुछ ये हैं :—

(१) हमारी कृषि सम्बन्धी आर्थिक नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कृषक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके।

(२) कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग का शोषण न कर सके।

(३) उत्पादन में अधिक से अधिक पूर्णता लाने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

(४) तथा सुधारों की योजनाएँ ऐसी होनी चाहिए जो सुगमता से व्यवहार में लाई जा सकें।

इन सिद्धान्तों के आधार पर हमारी कृषि और कृषकों की स्थिति में एक गौरवपूर्ण परिवर्त्तन हो जायगा। इन सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणित करने के लिए काश्तकारों की स्थिति को कानून द्वारा सुधार कर निश्चित कर दिया जायगा, जमींदारी प्रथा का जब भी सम्भव हो उन्मूलन कर दिया जावेगा, खेतों की जोत या इकाई में वृद्धि करनी होगी, कृषि की उन्नति करने के लिये वैज्ञानिक यंत्रों आदि का प्रयोग करना होगा, जल विद्युत द्वारा सिंचाई की व्यवस्था का उचित प्रबन्ध करना होगा। यहाँ पर केवल काश्तकारी कानून तथा जमींदार उन्मूलन पर ही विचार करेंगे।

काश्तकारी कानून (Tenancy Legislation)—जमींदारी प्रथा आदि के सम्बन्ध में भारत के काश्तकारों की स्थिति पर हम कुछ विचार कर चुके हैं। जब भूमि का स्वामी स्वयं खेती करता है तो काश्तकारी की समस्या का कोई प्रश्न नहीं उठता। यह प्रश्न तभी उठता है जब कि भू-स्वामी किसी दूसरे व्यक्ति को किराए पर भूमि को दे देता है। जब स्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में सरकार ने मालगुजारी देनेवाले किसानों को भूमि का स्वत्वाधिकार (Proprietary Rights) दे दिए, उस समय यह प्रश्न लोगों के सन्मुख आ खड़ा हुआ। इस प्रकार भूमि के वास्तविक स्वामियों की स्थिति नीची हो गई। अतः कानून द्वारा सरकार ने काश्तकारों तथा जमींदारों के अधिकार निश्चित किए। सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् सरकार ने अवध की विद्रोही जनता की भावनाओं को कुचलने के लिए तालुकेदारों की स्थापना की, इस प्रकार राजनैतिक कारणों के फलस्वरूप अवध में काश्तकारी कानून का जन्म हुआ। आगरे में भूमि का प्रारम्भिक बन्दोबस्त बिना किसी जाँच पड़ताल के जमींदारों द्वारा होता था। ये जमींदार अधिक से अधिक लगान वसूल करने के चक्कर में रहते थे। इस प्रकार वहाँ के काश्तकार की स्थिति केवल एक ग़ैर-मौरूसी काश्तकार (Tenant at will) की रह गई थी, उसकी स्थिति बड़ी डाँवाडोल थी। अनुपस्थित जमींदारी प्रथा की कुरूतियों ने सब जगह इस प्रकार जोर पकड़ा, लगान वसूल करने की बुराइयाँ इस प्रकार बढ़ गईं कि राज्य को कानून द्वारा काश्तकारों के हितों की रक्षा करनी पड़ी।

जब से शिकमी पट्टेदारी की प्रथा (Subletting) का प्रचलन हुआ तब से रैय्यतवारी प्रथा में भी यही दोष आ गया। दक्षिण के कुछ जिलों में वास्तविक खेती करने वाले किसान भू-स्वामियों की संख्या काश्तकारों (Tenants) से कहीं अधिक है। यहाँ के काश्तकार की स्थिति बड़ी खराब हो गई है, उनकी दशा एक बिना भूमिवाले खेत मजदूर के समान हो गई है। इस प्रकार जमींदारी प्रथा वाले क्षेत्रों में ही नहीं वरन् रैयतवारी प्रथावाले प्रदेशों में भी काश्तकारों को अन्य दूसरे वर्गों के शोषण से बचाने की बड़ी आवश्यकता है। हम इस समस्या पर प्रान्त या राज्यवार विचार करेंगे, क्योंकि हरएक प्रान्तों की ये परिस्थितियाँ एक सी नहीं हैं। उनमें काफी भिन्नता है।

स्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्र; बंगाल—स्थाई बन्दोबस्त के विषय में कुछ प्रकाश पिछले पृष्ठों में डाला जा चुका है। बंगाल में १७९३ में स्थाई बन्दोबस्त की व्यवस्था के अनुसार जमींदारों को किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त हो गया। यद्यपि इस व्यवस्था के प्रारम्भिक दिनों में ही लार्ड कार्नवालिस ने यह चेष्टा की थी कि काश्तकारों के अधिकारों पर विशेष आघात न पहुँचे, परन्तु उनकी यह इच्छा पहले पूरी न हुई, अन्त में १८५९ में बंगाल में एक लगान कानून पास हुआ, आगे चलकर १८८५ में इसमें पुनः संशोधन हुआ। इसके अनुसार बारह वर्ष तक एक ही भूमि को जोतने-बोने वाले काश्तकारों के हितों की कुछ रक्षा हो गई। बिना किसी अच्छे न्यायालय की आज्ञा के इन काश्तकारों को भूमि से अलग नहीं किया जा सकता था और ५ वर्ष के पूर्व उनके लगान में ही किसी प्रकार की वृद्धि की जा सकती थी। १९०७ में इस कानून में और संशोधन हुआ तथा अन्य कठिनाइयों को दूर करने की चेष्टा की गई। सन् १९२८ में दूसरा काश्तकारी कानून (Tenancy Act) पास हुआ, जिसके अनुसार काश्तकार को एक निश्चित फीस देने के पश्चात्

अपनी काश्त को दूसरे लोगों को देने का अधिकार प्राप्त हो गया, जमींदारों को भी इस कानून के अनुसार भूमि का पूर्वक्रयाधिकार (Pre-emption right) प्राप्त हो गया। १६३८ में जब राज्य में कांग्रेस मन्त्रिमंडल की स्थापना हुई तो उसने जमींदारों द्वारा लगाए गये अतिरिक्त करों को समाप्त कर दिया, और काश्तकारों पर बकाया लगान में ६३ प्रतिशत की कमी कर दी। जमींदारों से भूमि का पूर्व-क्रयाधिकार लेकर बराबर के साझेदार काश्तकारों को दे दिया गया। लगान आदि के अनेक दोषों को दूर करने के लिये १६३६-४० में इस कानून में पुनः संशोधन हुआ। इन कानूनों से रैय्यतों के नीचे तथा मौरूसी काश्तकारों के हितों की कुछ रक्षा हो गई परन्तु इससे बरगदारों की स्थिति में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ। बंगाल में ये बरगदार लोग भूमि का ⅙ भाग जोतते बोते हैं, ये लोग इन खेतों को फसलों के बँटाई के आधार पर जोतते हैं। इन लोगों की स्थिति बड़ी दयनीय है। बंगाल के रेवन्यू कमीशन ने इनकी स्थिति ठीक करने के लिये इन्हें कुछ सीमित मौरूसी अधिकार देने की सिफारिश की थी।

मदरास में—मदरास में काश्तकारों के अधिकारों की रक्षा १९०६ के मदरास इस्टेट लैण्ड एक्ट को पास कर की गई थी। वे काश्तकार जो इस्टेट की भूमि जोतते-बोते थे, उन्हें मौरूसी अधिकार दे दिये गए। वे जब तक निश्चित लगान देते रहते थे तब तक उन्हें बेदखल नहीं किया जा सकता था। केवल कुछ विशेष स्थानों या स्थितियों पर ही लगान में वृद्धि की जा सकती थी। १६३६ में कांग्रेस सरकार ने काश्तकारों को और अधिकार देने चाहे पर वह कानून पास नहीं हो सका। १६४६ में काश्तकारों की बेदखली को रोकने के लिए कानून पास किया गया। १६४७ में लगान में कमी का कानून पास हुआ। इसने इस बात का प्रस्ताव रखा कि काश्तकारों का लगान निश्चित कर दिया जाय, वे लोग वह ही लगान दें जो १८०२ में दिया गया था। इसके द्वारा स्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों के रैयतों को मौरूसी अधिकार प्राप्त हो गए। उनके ये अधिकार पैतृक थे तथा वे उनको दूसरों को दे सकते थे।

बिहार में—बिहार में १६३४ के कानून ने अबवाब और सलामी जैसे भारी करों को गैर कानूनी घोषित कर दिया, परन्तु ये कर एकदम से बन्द नहीं हुए। १६३८ में कांग्रेस मंत्रिमण्डल ने बिहार काश्तकारी कानून (Bihar Tenancy Act) पास किया जिसके अनुसार काश्तकारों को अपनी काश्त के दूसरे को देने का पूर्ण अधिकार मिल गया। अबवाबों के लेने वालों की सजा बहुत कड़ी रख दी गई। कोई भी जमींदार लगान में उसी समय वृद्धि कर सकता था जब कि वह भूमि में सुधार करना चाहता। उसी वर्ष बाकी लगानमें कमी का भी कानून पास हुआ। रैय्यतों की दशा में भी सुधार किया गया। छोटे नागपुर के रैय्यतों को इसी प्रकार की कुछ सहायता दी गई। परन्तु इन उपायों से ग़ैर मौरूसी काश्तकारों की दशा में कुछ सुधार न हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थाई बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में किसानों की दशा में कुछ सुधार के प्रयत्न किये गये, किन्तु उनकी स्थिति में पूर्ण सुधार तभी हो सकता है जब कि उन्हें जमींदारों के चंगुल से पूरा छुटकारा मिल जाय।

अस्थाई बन्दोबस्त के जमींदारी वाले क्षेत्र, उत्तर प्रदेश में—१८५६ के बङ्गाल के काश्तकारी कानून का अधिकार क्षेत्र आगरा भी हो गया। इस कानून के अनुसार आगरे के प्रदेश में भी उन किसानों को जो बारह वर्ष या इससे अधिक समय तक खेती करते रहे हों, उन्हें मौरूसी अधिकार प्राप्त हो गए। १६०१ के आगरा-काश्तकारी कानून के अनुसार यह व्यवस्था की गई कि मौरूसी काश्तकारों के लिए सात या इससे अधिक साल के पट्टे हो सकते हैं। १६२६ में गैर मौरूसी काश्तकारों को भी आजीवन भूमि-स्वत्व का अधिकार मिल गया और इसके बदले में सीर और खुद-काश्त के विस्तृत क्षेत्र पर जमींदारों को भी अधिकार रहा। १६३६ में कांग्रेसी मंत्रिमन्डल ने काश्त-

कारी कानून पास किया जिसके अनुसार मौरूसी काश्तकारों को वंशानुगत एवं पैतृक अधिकार प्राप्त हो गए, इसके अनुसार जमींदारों के सीर सम्बन्धी अधिकार सीमित कर दिए गये। इस कानून के द्वारा लगान की दर की वृद्धि पर भी नियंत्रण रख दिया गया। बाकी लगान के सूद की दर में ६$\frac{1}{4}$% की कमी कर दी गई। १६४७ में जमींदारों के अत्याचारों से किसान को बचाने के लिये काश्तकारी कानून में एक और संशोधन हुआ जिसके अनुसार जमींदार को भूमि प्राप्त करने के अधिकारों पर और रोक लगा दी गई, इसके अनुसार काश्तकारों को यह आज्ञा मिल गई कि वे चाहें तो अपना लगान जमींदार को सीधा दे दें, या पोस्टल मनीआर्डर द्वारा दे दें, या किसी न्यायालय में जमा कर दें। इसमें यह भी व्यवस्था कर दी गई कि यदि बेदखली के एक मास के अन्दर में किसान बाकी लगान दे देता है, तो उसका अपनी उस काश्त पर अधिकार पुनः हो जायगा। अब तो उत्तरप्रदेश में जमींदार उन्मूलन कानून पास हो गया है, इसके अनुसार यहाँ पर जमींदारी प्रथा का अन्त कर दिया गया है।

मध्य प्रदेश में—अन्य स्थानों की अपेक्षा मध्य प्रदेश में किसानों की स्थिति सदैव अच्छी रही है। यहाँ जमीन के बन्दोबस्त के अवसर पर अधिकारियों ने मालगुजारी की रकम ही नहीं निश्चित कर दी वरन् उन्होंने काश्तकारों के लगान की दर भी निश्चित कर दी। मौरूसी के अधिकार वंशानुगत या पैतृक थे, काश्तकार को अपनी भूमि दूसरों को देने का अधिकार था, हाँ इस सम्बन्ध में जमींदार को पूर्व क्रयाधिकार प्राप्त थे। यदि उपकाश्तकारों के पास लगातार कोई जमीन रहती तो उन्हें मौरूसी काश्तकार के अधिकार प्राप्त हो जाते।

उड़ीसा में—उड़ीसा एक अस्थाई बन्दोबस्त वाला प्रान्त है। जब १६३८ में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल शक्ति में आए तो उन्होंने बिहार काश्तकारी कानून पास किया जिसके अनुसार काश्तकारों को अपनी काश्त के हस्तान्तरण का अधिकार प्राप्त हो गया, अबवाब लेना यहाँ भी अवैध घोषित कर दिया गया, बाकी लगान की सूद की दर पर यहाँ भी ६$\frac{1}{4}$% कटौती कर दी गई। १६४६ में इस्टेट्स लैंड एक्ट में संशोधन किया गया जिसके अनुसार इनामदारों के काश्तकारों को मौरूसी अधिकार प्राप्त हो गए, इसके पश्चात् १६४७ में इस कानून में और संशोधन हुआ जिसके अनुसार रैय्यत के बन्दोबस्त या भूमि स्वत्व की सुरक्षा की व्यवस्था की गई। १६४७ में इस्टेट लैंड एक्ट में भी पुनः संशोधन किया गया जिसके अनुसार लगान में कुछ कमी की गई।

रैय्यतवारी क्षेत्र में—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि बंबई और पंजाब में रैय्यतवारी बन्दोबस्त की प्रथा है। अविभाजित पंजाब में कुल मिलाकर ४२ प्रतिशत भूमि ऐसी है जिसके जोतने-बोने वाले स्वामी स्वयं किसान ही हैं। कुल भूमि का ८ प्रतिशत मौरूसी काश्तकारों के अधिकार में था और शेष ५० प्रतिशत गैर मौरूसी काश्तकारों के हाथ में थी। मौरूसी काश्तकार वह काश्तकार है जिसने दो पुश्त से न तो लगान दिया है और न भूमि के स्वामी को अन्य किसी प्रकार से ही सहायता दी है, वह केवल सरकार द्वारा निर्धारित कर कुछ भाग देता है। मौरूसी काश्तकार को काफी अधिकार प्राप्त होते हैं। जब तक कि वह सरकार द्वारा निर्धारित लगान देता जाता है तब तक उसका भूमि पर बराबर अधिकार बना रहता है। उसे अपने वंशजों को खेत के हस्तान्तरण का अधिकार रहता है। उसमें और भूमि के स्वामी में इतना ही अन्तर रहता है कि जब कि वास्तविक स्वामी अधिक मालगुजारी देता है, मौरूसी काश्तकार के लगान की रकम थोड़ी होती है। भूमि का स्वामी सरकार को लगान देने का जिम्मेदार होता है।

भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप, सारी हिन्दू और सिक्ख जनता पूर्वी पंजाब को चली आई। पश्चिमी पंजाब में उनकी भूमि का बहुत भाग छूट गया। जितनी भूमि पश्चिमी पंजाब में रह गई, उतनी उनको पूर्वी पंजाब में नहीं प्राप्त हुई। इस प्रकार भू-स्वामियों को उनके हिस्से का पूरा-पूरा कोटा नहीं प्राप्त हो सका। अब सरकार ने इन विस्थापित किसानों को कुछ सिद्धान्तों के आधार पर भूमि बांट

दी है। इन किसानों को सहकारिता के आधार पर कृषि करने के लिए सरकार ट्रैक्टर आदि की सहायता देने का प्रयत्न कर रही है।

बम्बई में—बम्बई में काश्तकारों का संरक्षण भी कानून द्वारा ही किया गया। वहाँ भी काश्तकारों की स्थिति ठीक नहीं थी। अतएव जब वहाँ १६३६ में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना तो इस मंत्रिमंडल ने बम्बई काश्तकारी कानून (Bombay Tenancy Act) पास किया। यह कानून १६४१ से लागू किया गया। इस कानून की मुख्य बातें ये थीं—

(१) इसके अनुसार काश्तकारों की एक नई श्रेणी बनाई गई। इस श्रेणी के किसानों की बेदखली से रक्षा की गई। यदि कोई भी किसान १६३८ के ६ वर्ष पूर्व से किसी भूमि को अपने आप जोत बो रहा था, उस भूमि पर उसका अधिकार था तो उसे बेदखल नहीं किया जा सकता था।

(२) भूमि स्वत्व की रक्षा के लिए निम्नलिखित बातों की व्यवस्था की गई—(अ) जमींदारों को अपनी भूमि स्वयं जोतने का प्रबन्ध, (ब) काश्तकारों द्वारा ठीक समय पर निश्चित लगान का चुका देना तथा अपने सिवाय अन्य किसी को भूमि जोतने के लिए न देना। परन्तु यदि इतने पर कोई किसान अपनी भूमि के अधिकार से वंचित हो जाता तो उसे वह हर्जाने की रकम मिलने की व्यवस्था की गई जो कि उसने भूमि के सुधार के लिए लगाया था।

(३) काश्तकार के लगान की दर निश्चित करने का भी प्रबन्ध कर दिया गया।

(४) काश्तकारों की सभी श्रेणियों को कुछ न कुछ लाभ की व्यवस्था कर दी गई। कुछ क्षेत्रों में लगान की ऊँची-से-ऊँची दर का निर्धारण सरकार के हाथ में था। अवैध लगान आदि वसूल करने के लिए जमींदारों को सजा की व्यवस्था कर दी गई। काश्तकारों को अपने लगाए हुए पेड़ों पर पूरा अधिकार दे दिया गया। यदि उन वृक्षों के अधिकार से किसानों को वंचित किया जाता, तो उन्हें उसका पूरा हर्जाना मिलता।

(५) दस वर्ष से कम के लिए कोई भी खेती का पट्टा नहीं लिखा जा सकता। इससे किसानों को भूमि के विकास करने का काफी बल मिला।

इधर इस दिशा में बम्बई सरकार ने कानून निर्माण करके किसानों की दशा को और भी अच्छा करने का प्रयत्न किया है। इन नए कानूनों के अनुसार अब किसी भी काश्तकारको, जिसके पास ५० एकड़ से अधिक भूमि है, उसे जमींदार बेदखल नहीं कर सकता। अब किसान को, जिस भूमि को वह जोत रहा है उसे खरीदने का भी अधिकार मिल गया है। वह इस प्रकार भूमि तभी क्रय कर सकेगा जब कि उसके पास ५० एकड़ से कम जमीन होगी। इस जमीन का मूल्य एक ट्रिब्यूनल द्वारा निश्चित किया जायगा। यदि किसान अच्छी तरह से खेती नहीं करता तो उसे उसके अधिकारों से वंचित कर दिया जायगा। यदि ऐसी कोई भी भूमि जो दो ऋतुओं तक बिना जोती बोई पड़ी रही है तो सरकार उसका हर्जाना देकर भूमि को अपने अधिकार में कर लेगी।

काश्तकारी कानूनों की सफलता—भारतवर्ष में काश्तकारी कानूनों के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित रहे हैं—लगान की वृद्धि को रोकना, किसानों की मनमानी बेदखली को समाप्त करना, काश्तकारों को मौरूसी अधिकार प्रदान करना, बकाया लगान के सूद की दरों में कमी करना, काश्तकारों को हर्जाना (जो कि रकम उन्होंने भूमि आदि के विकास के लिए लगायी है) मिलने की व्यवस्था, तथा जमींदारों के अत्याचारों से, सलामी और अबवाब जैसे करों से काश्तकारों की रक्षा करना इत्यादि।

इस प्रकार हम देखते हैं सरकार ने किसानों की, काश्तकारों की स्थिति सुधारने के लिए कई कानून पास किए हैं। किसान इस दिशा में सफल भी हुए हैं। सरकार ने जमींदारों के विशेषाधिकारों

को किसी सीमा तक बहुत कुछ कम कर दिया है। परन्तु दुर्भाग्यवश इससे किसानों की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ है। वास्तव में खेत जोतने वाले किसान केवल बंटाई प्रथा के अनुसार गैर मौरूसी किसान हैं। काश्तकारी कानून से वास्तव में उसे कोई लाभ नहीं हुआ, वह पहले की भाँति अब भी लगान के बोझ से दबा हुआ है। जनसंख्या का भूमि पर भार इतना अधिक है, उसमें इतना संघर्ष है कि काश्तकार को विशेष आर्थिक लाभ नहीं हो पाता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन कानूनों में कुछ ऐसे अभाव हैं, न्यायालय में कुछ कानूनी पेचीदगी ऐसी है, जिससे साधारण किसान को कोई विशेष लाभ नहीं मिल पाता।

बंगाल की अकाल जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में जाँच पड़ताल करके ये निष्कर्ष निकाले कि काश्तकारी सम्बन्धी स्थिति में मुख्य तीन प्रवृत्तियाँ हैं—अनुपस्थित स्वामित्व की वृद्धि, काश्तकारों के लगान में वृद्धि, भूमि के पहले स्वामियों के अधिकारो के छिन जाने से काश्तकारों की संख्या में वृद्धि हो रही है। इस प्रकार काश्तकारी कानूनों के आगमन से उपरोक्त इन तीन प्रवृतियों में वृद्धि होती चली जा रही है। फसलों की बँटाई की रिवाज प्रायः सभी राज्यों में पायी जाती है। जहाँ तक आधी-आधी बँटाई का प्रश्न है, यदि मिट्टी उर्वरा है, बन्दोबस्त सुरक्षित है, और काश्त बड़ी है तो इसका किसान की आर्थिक स्थिति पर विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु हर जगह पर ऐसी ही परिस्थितियाँ नहीं पाई जातीं। हर स्थान की मिट्टी उपजाऊ नहीं है, हर एक बँटाई वाले खेत का क्षेत्रफल बड़ा नहीं है। प्रत्येक स्थान पर भूमि का बन्दोबस्त सुरक्षित नहीं है। हमने देखा है कि उत्तर प्रदेश के शिकमी काश्तकारों तथा बंगाल के बरगदारों की स्थिति अच्छी नहीं है, उन्हें इन कानूनों से कोई लाभ नहीं मिला है। अतः इस दिशा में अभी और कार्य करने की आवश्यकता है। देश की कृषि के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता जमीन का उचित बन्दोबस्त तथा इस बन्दोबस्त की उचित सुरक्षा है।

क्या जमींदारी का उन्मूलन होना चाहिये ?—पिछले सौ वर्षों के किसानों के आर्थिक जीवन पर, कृषि के इतिहास पर यदि एक दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि गत शताब्दी के पूरे भाग में भारत के कृषक की कथा दुखभरी रही। इस युग के किसान की कल्पना करने से आँखों के सन्मुख एक क्षीणकाय, दुर्बल, निर्धन, अशिक्षित, बुभुक्षित प्रतिमा का विकराल चित्र आँखों के सन्मुख आ जाता है। इन दिनों में किसान को जिन विपत्तियों का सामना करना पड़ा है, उसे जो यातनाएँ सहनी पड़ीं हैं, उनका पूरा वर्णन करना असम्भव है। गत शताब्दी में किसान की स्थिति दिनोंदिन पतन की ओर अग्रसित हुई है। उसका शोषण अच्छी तरह हुआ है। जमींदारों ने तथा अन्य भू-स्वामियों ने उससे लगान वसूल करने में, कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़ी। किसानों के लगान न देने पर उन्हें उनकी भूमि के अधिकार से किस प्रकार वंचित कर दिया जाता था, यह सभी जानते हैं। ऐसे उदाहरण कम नहीं जब लगान न देने पर किसान की सम्पत्ति, उसके गृहस्थी की छोटी-मोटी चीजें, उसके पशु, उसकी झोंपड़ी आदि को नीलाम कराकर जमींदारों ने लगान की रकम वसूल की। यह दशा स्थाई बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में ही नहीं रही, वरन् अस्थाई भूमि-स्वत्व वाले क्षेत्र भी जमींदारों की इन काली करतूतों के अड्डे बने रहे। हम पिछले पृष्ठों में जमींदारों के अनुत्तरदायित्व पूर्ण अवैध कार्यों पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। हमने देखा कि जमींदारी प्रथा का उपयोग किसानों की स्थिति सुधारने में, भूमि का सुधार करने में, कृषि का विकास करने में, कुछ भी नहीं हुआ। जिस बात की आशा जमींदारों से की गई थी, वह पूरी न हुई। जमींदारों ने अपना ध्यान केवल लगान वसूल करने में, किसानों से बेगार लेने की ओर ही रखा। उन्होंने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री यहीं से समझ ली। जमींदारों की इस नीति का जो परिणाम निकाला वह किसी से छिपा नहीं है। बंगाल के अकाल कमीशन के एक सदस्य सर मनी लाल नानावती ने इन्हीं कारणों से अपनी रिपोर्ट में जमींदारों की अनुपयोगिता के विषय में लिखते

हुए जमींदारी प्रथा के अन्त का समर्थन किया था। सर नानावती का विचार था कि बिना जमींदारी प्रथा में आमूल परिवर्तन किये हुये, उसका अन्त किये हुए, स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में एक कुशल लैन्ड रेवन्यू विभाग की स्थापना करना असम्भव है। क्योंकि जमींदार ऐसी किसी भी योजना का जिसके अनुसार उनकी भूमि का नवीन आधारों पर बन्दोबन्त हो, और जिससे उन्हें कोई विशेष आर्थिक लाभ न हो कभी समर्थन नहीं करेंगे, तीसरी बात जो इस सम्बन्ध में कही जा सकती है कि आजकल के युग में जब राज्य का कार्य-क्षेत्र दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा, राज्य के इस सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग (लैण्ड रेवन्यू डिपार्टमेन्ट) को किसी गैर सरकारी संस्था के हाथ में रखना आर्थिक एवं राजनैतिक दोनों दृष्टियों से उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त भूमि सुधार की, कृषि के विकास की, अन्नोत्पादन में वृद्धि की, किसानों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने वाली कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि जमींदारी प्रथा का अन्त नहीं होता।

राजनैतिक दृष्टि से भी जमींदार प्रथा का समर्थन नहीं किया जा सकता। आज के जनतंत्रवादी युग में जब कि शासन सत्ता धीरे-धीरे जनता के हाथों में आती जा रही है, ऐसी स्थिति में किसानों और सरकार के बीच में अन्य किसी तीसरे आदमी-जमींदार, तालुकेदार, मालगुजार आदि—की कोई आवश्यकता नहीं। अतः इन श्रेणियों के आदमियों से भूमि लेकर उसका मुआवजा देकर इस प्रकार के मध्यस्थों का अन्त कर देना ही हितकर है। जमींदारों के हाथ से सारी शक्ति लेकर, इस अभिशाप का अन्त कर देना ही उचित है। बिना इस प्रथा का अन्त किये हुये कृषि में विकास करने की आशा करना व्यर्थ है।

जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के समर्थन में कुछ विचार—राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया है कि उसका उद्देश्य खेत जोतने वालों तथा सरकार के बीच के मध्यस्थों का पूर्ण रूप से अन्तर कर देना है। जमींदारी क्षेत्रवालों प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों ने इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने के लिये राज्य की सरकारें प्रयत्नशील हैं। राज्य जमींदारों के भूमि-स्वामित्व अधिकारों को खरीद लेगी, जमींदार केवल खेत जोतने वाले ही रह जायेंगे। इस प्रकार सरकार तथा किसानों के बीच के दलालों का अन्त हो जायगा और एक स्वावलम्बी, सुदृढ़ तथा स्वतंत्र वर्ग का उदय होगा। इस वर्ग को अपने श्रम का पूरा लाभ मिल सकेगा। इस प्रकार ग्रामीणों के जीवन के स्तर में वृद्धि के साथ ही साथ कृषि के उत्पादन में भी वृद्धि होना सम्भव हो जायगा। परन्तु किसानों के हाथ में भूमि के स्वामी होने के पूर्ण अधिकारों के समर्पित हो जाने से कुछ अन्य प्रश्न उठ खड़े होंगे। भारत में तो किसानों के भू-स्वामी होने में और भी खराबियाँ हैं। यहाँ पर उत्तराधिकार के विशेष प्रकार के नियमों के प्रचलित होने के कारण भू-स्वामी की भूमि उसके उत्तराधिकारियों में टुकड़े-टुकड़ों में विभाजित हो जाती है। इस प्रकार छोटे-छोटे खेतों के हो जाने से, उनका आर्थिक दृष्टि से महत्त्व कम हो जाता है। किसानों की जोत का अधिक से अधिक क्षेत्रफल सरकार द्वारा निश्चित कर देने से इस दोष से छुटकारा मिल सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे किसान को कृषि करने की अच्छी से अच्छी सुविधाएँ देने की भी व्यवस्था करनी चाहिये।

अभी हाल में यूरोप में भी, जमींदारी या भू-स्वामी प्रथा को अन्त कर किसानों के हाथों में भूमि स्वामित्व के अधिकार दिये गये हैं। ग्रेट-ब्रिटेन में भी जो कि जमींदारी प्रथा का अड्डा रहा है, वहाँ भी जमींदारी प्रथा के अन्त तथा किसानों के भू-स्वामी बनाने की दशा में प्रगति हो रही है। इंगलैण्ड में ऐसे किसान जो अपने जोतने-बोने वाले खेतों के स्वयं स्वामी हैं उनकी संख्या १९१३ में १०.६ प्रतिशत थी, १९२७ में यह संख्या बढ़कर २६ प्रतिशत हो गई। फ्रान्स में १८९२ में भू-स्वामियों द्वारा जोती हुई भूमि का क्षेत्रफल ५३ प्रतिशत था १९२९ में ६० प्रतिशत हो गया। कतिपय

यूरोपीय प्रदेशों में काश्तकार ही अपनी भूमि के स्वामी होते हैं। वहाँ के राज्य बड़ी-बड़ी भू-सम्पत्ति या जायदाद खरीद कर उनको आर्थिक जोत में परिवर्तित कर कृषि के धन्धे को और अच्छा बनाने का प्रयत्न कर रही है।

भारत में भी कुछ विद्वानों जैसे डा० राधाकमल मुखर्जी तथा प्रो० काले ने इसी प्रकार की नीति अपनाने का समर्थन किया है। उनका विचार है कि सब खेतों पर राज्य का अधिकार होना चाहिये, इन खेतों को आर्थिक जोत में बाँट देना चाहिये। इन आर्थिक जोतों का अधिक से अधिक क्षेत्रफल सरकार द्वारा निश्चित कर देना चाहिये। उनका ऐसा विचार है कि ऐसी आर्थिक जोतों का और उपविभाजन न हो, इस बात की कानून द्वारा व्यवस्था कर देनी चाहिये। इन विद्वानों की यह भी राय है कि जितनी भूमि का उपादेयकरण सरकार द्वारा हुआ हो, उस समस्त भूमि पर राज्य के अधिकार के अतिरिक्त अन्य किसी का अधिकार न रहना चाहिए ऐसे प्रदेशों में सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली के आधार पर कृषि की व्यवस्था करनी चाहिए।

जमींदारी उन्मूलन में कठिनाइयाँ—इसमें कोई संदेह नहीं कि जमींदारी प्रथा का अन्त हो रहा है, परन्तु उसके अन्त होने में अभी कुछ समय लगेगा। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन में मुख्य रूप से दो कठिनाइयाँ हैं। इनमें से सबसे बड़ी बाधा तो आर्थिक कठिनाई है। बंगाल के लैण्ड रेवन्यू कमीशन ने यह अनुमान लगाया था कि १५ गुना मुआवजा के हिसाब से जमींदारों को देने के लिए करीब १३७ करोड़ रु० लगेंगे। जमींदारों को मुआवजा देने के लिए अन्य राज्यों में भी काफी धन की आवश्यकता होगी। जमींदारी प्रथा को समूल हटाने में सम्भवतः ३५० करोड़ रुपया लग जायँगे। आर्थिक समस्या के कारण कुछ लोगों ने यह सोचा कि जमींदारी प्रथा का एकदम से अन्त करना सम्भव नहीं। परन्तु यदि हम इस प्रथा को अन्त करने के लिए पूर्ण रूप से दृढ़-प्रतिज्ञ हो जायँ तो हम इस कठिनाई को भी आसानी से हल कर लेंगे। सर नानावती का कहना था कि आर्थिक कठिनाई ऐसी नहीं है जिसके द्वारा जमींदारी उन्मूलन असम्भव है। सबसे पहली बात तो यह है कि जमींदारों को सारा का सारा मुआवजा एक साथ ही नहीं देना है, उस मुआवजे को २० से लेकर ३० साल तक में किश्तों के द्वारा चुका दिया जाय। इसके अतिरिक्त सरकार को बहुत से रुपया किसानों से ही मिल जायगा। इस प्रकार आर्थिक कठिनाई को दूर कर दिया जा सकेगा।

जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् दूसरी कठिनाई शासन सम्बन्धी है। यह कठिनाई उन क्षेत्रों में जो स्थाई बन्दोबस्त वाले हैं वहाँ और भी अधिक हो जाती है। इन प्रदेशों में भूमि के बन्दोबस्त में कुछ समय लगेगा। इस प्रकार जमींदारी प्रथा का अन्त करने के लिए हमें इन मुख्य दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। परन्तु ये दोनों कठिनाइयाँ ऐसी नहीं हैं जिन्हें आसानी से दूर न किया जा सके।

अभी तक जमींदारी प्रथा के उन्मूलन में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। देश के छै राज्यों में जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी मसविदा तैयार कर लिया गया किन्तु अभी इस ओर विशेष कार्य नहीं हुआ है। मदरास का इस्टेट्स एक्ट तथा बिहार का जमींदारी उन्मूलन एक्ट (१९४८) को केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुमति नहीं मिली है। अनुमति न मिलने का मुख्य कारण मुआवजे का प्रश्न है। नए भारतीय संविधान के अनुसार जमींदारों को मुआवजा देना अनिवार्य है। इन दोनों राज्यों में मुआवजे की उचित व्यवस्था नहीं की जा सकी, इसलिए अभी वहाँ पर यह कानून रोक लिया गया है। ऐसा अनुमान किया गया है कि मदरास, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा तथा बम्बई इन छै राज्यों की जमींदारी उन्मूलन में लगभग ३४१ करोड़ रुपया लगेगा। उन्मूलन के पश्चात् इन सरकारों को ६.५ करोड़ रुपया वार्षिक लगान प्राप्त होगा।

आजकल भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है अतः सब का सब मुआवजा एक दम से

नकदी में दे देना सम्भव नहीं है। केवल मदरास में जहाँ सिर्फ १७ करोड़ रुपया मुआवजा है, वहाँ पर तो आसानी से सारा का सारा मुआवजा चुकाया जा सकता है। किन्तु अन्य स्थानों में मुआवजे की सारी रकम एक-मुश्त चुकाना संभव नहीं। अतः अन्य स्थानों में जमींदार को मुआवजा चुकाने के लिए कोई न कोई दूसरा उपाय अपनाना होगा।

जमींदारी प्रथा का अन्त—हम ऊपर कह चुके हैं कि काँग्रेस सरकार जमींदारी प्रथा का अन्त करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ है। लोगों का ऐसा विचार है कि यदि स्वराज्य से वास्तविक लाभ उठाना है तो जमींदारी प्रथा का अन्त आवश्यक है। जब तक देश में सब किसानों को भूमि स्वामित्व के अधिकार नहीं प्राप्त होते तब तक पंचायत राज का कोई अर्थ नहीं। जब तक हमें इस दासता से छुटकारा नहीं मिल जाता, जब तक हमारी यह आर्थिक कमी दूर नहीं कर दी जाती तब तक सामाजिक और आर्थिक विकास असम्भव है। अब देश का किसान जाग्रत हो चुका है, अतः इस दिशा में विशेष ढील-ढाल करने का परिणाम भयंकर होगा। नीचे हम जमींदारी उन्मूलन के विषय में जो विभिन्न राज्यों में प्रगति हुई है, उस पर प्रकाश डालेंगे।

फ्लाउड कमीशन—जब से फ्लाउड कमीशन ने अपनी रिपोर्ट उपस्थित की तब से इस विषय पर काफी वाद-विवाद चला कि जमींदारी प्रथा का अन्त किस प्रकार किया जाय। फ्लाउड कमीशन की नियुक्ति १९३८ में हुई थी। इस कमीशन ने जमींदार प्रथा का अन्त कर उसके स्थान पर रैय्यतवारी प्रथा की व्यवस्था का सुझाव रखा था। इसके पश्चात बंगाल की प्रान्तीय असेम्बली में एक लैण्ड एक्यूजीशन तथा टिनैन्सी बिल पेश किया गया। इस बिल का उद्देश्य केवल खेतीवाले प्रदेशों के भू-स्वामियों के अधिकारों को खरीदना था। इस योजना के पूरी होने में कम से कम दस वर्ष लगेंगे। इस योजना के प्रारम्भिक कार्यों में (अ) मुआवजे की भुगतान की दर, बाकी लगान तथा जमींदारों के ऋण का विचार, राज्य का भूमि पर अधिकार हो जाने के पश्चात् काश्तकारी कानून, तथा बरगा पद्धति को बन्द करना है।

फ्लाउड कमीशन ने मुआवजे की जो दर प्रस्तावित की थी, वह ८ से लेकर १५ गुनी तक थी। धार्मिक तथा अन्य धर्मार्थ ट्रस्टों को उनको उनकी वर्ष की कुल आमदनी के बराबर एक वार्षिक रकम प्राप्त होती रहेगी। इस बिल में छोटे जमींदारों के ऋणों के भुगतान की पूरी व्यवस्था रखी गई है, उन्हीं के लिए सरकार ने यह निश्चय किया है कि किसानों पर जो बकाया लगान है उसे वसूल कर लिया जायगा। इस बिल में यह प्रस्ताव रखा गया है कि यहाँ केवल एक वर्ग रैय्यत काश्तकारों का रहेगा जिन्हें मौरूसी अधिकार प्राप्त होंगे। खेतों की जोत का अधिक से अधिक क्षेत्रफल ६० बीघे भी निश्चित कर दिया गया है। इसके अनुसार प्रत्येक सम्मिलित कुटुम्ब को ६० बीघे भूमि निश्चित की गई है, अलग-अलग व्यक्तियों को ५ बीघे प्रति व्यक्ति के हिसाब से भूमि मिलेगी। यहाँ पर यद्यपि काश्तकारों को मौरूसी अधिकार ही प्रदान किए गए हैं किन्तु व्यवहारिक रूप से ये किसान अपनी भूमि के पूर्ण रूप से स्वामी होंगे।

मदरास में स्थाई बन्दोबस्त वाली भू-सम्पत्तियों का अन्त करने के लिए एक बिल पेश किया गया है जो केन्द्रीय सरकार के विचाराधीन है। इस बिल के अनुसार सरकार का अधिकार २,८०० जमींदारी प्रथा वाली जायदादों तथा ३,५०० इनाम वाली रियासतों पर सरकार का अधिकार हो जायगा। इस प्रकार करीब १२.५ करोड़ रुपया मुआवजा देकर सरकार के हाथों में लगभग १४ लाख एकड़ भूमि प्राप्त हो जायगी। बिहार के जमींदारी उन्मूलन बिल को वापस लौटा दिया गया है। १९५० में वहाँ पर बिहार भूमि-सुधार बिल पेश किया गया है। इस बिल के अनुसार काश्तकारों की स्थिति में कुछ सुधार हो जायगा।

मध्य प्रदेश की सरकार ने मालगुजारी प्रथा का अन्त करने के लिए एक बिल पेश किया है

भूमि के स्वामी बन जायँगे। इनके अतिरिक्त जो काश्तकार होंगे उन्हें सीरदार कहा जायगा। इन्हें भूमि के स्थाई अधिकार प्राप्त होंगे। खेतों का छोटे-छोटे भागों में बाँटा जाना कानून द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया है। कुछ विशेष दशाओं में छोड़कर किसी भी व्यक्ति के पास ३० एकड़ से अधिक भूमि नहीं रह सकेगी।

जमींदारी प्रथा के पूर्णरूप से उन्मूलित हो जाने के पश्चात् सरकार किसानों को सहकारिता के आधार पर कृषि करने के लिये अनेक सुविधायें प्रदान करेगी। ऐसे किसानों को ऋण की व्यवस्था, लगान में कमी, सिंचाई की अधिक से अधिक सुविधाएँ आदि देने को तैयार है। यदि एक गाँव के भूमिधरों की ६६ प्रतिशत संख्या सहकारिता के आधार पर कृषि करने की इच्छा प्रकट करती है, उसके लिए प्रयत्न करती है तो उस जिले के अधिकारी अन्य काश्तकारों को भी ऐसा करने के लिए बाध्य कर सकते हैं। यदि कोई भूमिधर सहकारी कृषि समिति में सम्मिलित नहीं होना चाहता, तो उसकी भूमि समिति के लिए ले ली जावेगी, उसके लिए उसे उचित क्षतिपूर्त्ति मिल जावेगी। भूमिधर लोग व्यक्तिगत तथा सम्मिलित रूप से सरकार को लगान देने के लिए उत्तरदायी होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि इस योजना पर अच्छे ढंग से सहयोग के साथ कार्य किया जायगा इस प्रदेश की ग्रामीण जनता के स्थिति में आमूल परिवर्त्तन हो जायगा, कृषि के उत्पादन में वृद्धि हो जायगी, ग्रामीणों के रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा हो जायगा।

आशा है निकट भविष्य में अन्य प्रदेशों की सरकारें भी इस दिशा में क्रियात्मक कदम उठाकर, देश की कृषि में सुधारकर, उसमें विकास कर भारत की समृद्धि का पथ प्रशस्त करेंगी।

———

सातवाँ परिच्छेद

कृषि; भूमि और उसकी समस्याएँ

हम कृषि के उत्पादन तथा भूमि के बन्दोबस्त के विषय में पिछले परिच्छेद में प्रकाश डाल हैं। यहाँ पर कृषि की भूमि सम्बन्धी समस्या पर विचार करेंगे।

कृषि के विकास के लिए मुख्य रूप से तीन बातों का होना आवश्यक है (१) कृषि की आर्थिक ज़ोत (Economic Holding), (२) कृषि के उचित साधनों की सुविधा, (३) प्रयत्न तथा परिश्रम की भावना या प्रेरणा। किसान को जिस प्रकार के कृषि करने के साधन--खेती के औजार, खाद, सिंचाई—आदि प्राप्त होंगे उसी प्रकार उसका उत्थान भी हो सकेगा। हम बाद में इस समस्या पर विचार करेंगे। यहाँ पर हम कृषि की इकाई 'जोत' (Holding) पर ही प्रकाश डालेंगे। कृषि की इकाई का या जोत का कोई कम महत्व नहीं है। इसी इकाई के क्षेत्रफल या विस्तार पर ही यह निर्भर रहता है कि कृषक किस प्रकार के खेती के औजारों का उपयोग करे। यदि खेत की जोत बड़ी है तो उसमें कृषि के आधुनिक बड़े-बड़े यंत्रों से खेती करना सम्भव होगा। यदि खेत की जोत छोटी है तो उसमें इस प्रकार से खेती करना सम्भव नहीं हो सकेगा। यदि खेत की जोत छोटी है तो भले ही उस भूमि को जोतने वाला किसान ही स्वामी क्यों न हो, उसको विशेष लाभ नहीं होगा।

जोत—(The Holding) जोत से हमारा तात्पर्य उस सारे भू-भाग से है, जिस पर केवल एक व्यक्ति का स्थायी तथा पैतृक अधिकार रहता है। जोत शब्द का प्रयोग कभी-कभी एक व्यक्ति के द्वारा जोती जाने वाली भूमि को ही कह दिया जाता है। परन्तु इन दोनों व्याख्यों में काफी भिन्नता है। जोत शब्द का प्रयोग केवल पहली श्रेणी वाले भू स्वामियों के लिए ही प्रयुक्त किया जायगा, दूसरी श्रेणी के काश्तकारों की भूमि के लिए भूमि या जमीन कहना ही उपयुक्त होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'जोत' का प्रयोग उन्हीं लोगों की भूमि के लिए ही किया जा सकता है जिनकी निज की भूमि है, और उस पर वे कृषि करते हैं। यह जोत वास्तव में प्रारम्भ में बहुत बड़ी हो सकती है जैसी कि जमींदारी में रहती है किन्तु बाद में काश्तकारों या खेत जोतने वालों में यह छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाती है, इस प्रकार खेती की इकाई छोटी हो जाती है। कभी-कभी स्वामी स्वयं अपनी 'जोत' में खेती करता है। वह अपनी जोत के कुछ भाग को किसी दूसरे को हस्तान्तरित कर सकता है या पास की भूमि को लगान पर ले सकता है।

भारत में एक किसान की औसत जोत केवल क्षेत्रफल में ही कम नहीं होती, वह कितने ही छोटे- छोटे टुकड़ों में बँटी होती हैं। ये टुकड़े सारे गाँव भर में बिखरे होते हैं। इस प्रकार के छोटे-छोटे खेतों के टुकड़ों में अच्छे ढंग पर खेती करना सम्भव नहीं हो सकता।

आर्थिक जोत--(Economic Holding) उपरोक्त विवरण से 'जोत' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो गया, अब हमें यह देखना हैं कि आर्थिक जोत किसे कहते हैं? उसका हमारी कृषि पर क्या प्रभाव पड़ता है, कृषि की दृष्टि से उसका क्या महत्व है? आर्थिक जोत किसी निश्चित क्षेत्रफल वाले प्रदेश को ही नहीं कहा जा सकता। विभिन्न प्रदेशों की आर्थिक जोत एक सी नहीं रहती, सभी देशों की आर्थिक जोत का क्षेत्रफल समान नहीं होता। यदि कोई एक क्षेत्रफल एक स्थान पर आर्थिक जोत समझा जाता है तो यह आवश्यक नहीं कि दूसरे स्थान पर भी वही क्षेत्रफल आर्थिक जोत समझा जावेगा। किसी देश की आर्थिक जोत का क्षेत्रफल मुख्यतया निम्नलिखित बातों पर निर्भर रहता है :—

(अ) **कृषि की प्रणाली पर**--यदि किसी प्रदेश में खेती वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से की जाती है, उसमें आधुनिक यंत्रों का प्रयोग किया जाता है, तो उस प्रदेश में साधारणतया कृषि का या खेतों का क्षेत्रफल दो सौ या इससे अधिक एकड़ हो सकता है। इसके विपरीत यदि कृषि प्राचीन प्रणाली पर ही हो रही है तो वहाँ की आर्थिक जोत दस से लेकर पचीस एकड़ ही रहेगी।

(ब) **फसलों पर**--गेहूँ आदि अन्नों का अच्छी फसलों के लिए जोत का क्षेत्रफल काफी विस्तृत होना आवश्यक होता है। फल तथा सब्जियों आदि के उत्पादन के लिए, इसकी अपेक्षा कम भूमि की आवश्यकता होगी।

मिट्टी की उर्वरा शक्ति पर--जब कि किसी प्रदेश की भूमि की मिट्टी उपजाऊ है तो वहाँ पर किसी कुटुम्ब का आसानी से पालन-पोषण करने के लिए भूमि का छोटा सा क्षेत्र ही पर्याप्त होगा। परन्तु यदि मिट्टी उर्वरा नहीं है, वहाँ पर सिंचाई के साधनों आदि का अभाव है तो काफी विस्तृत क्षेत्रफल की आवश्यकता होगी। उदाहरण के लिए पंजाब के जलंधर जिले की छै एकड़ भूमि से पाँच आदमियों के एक कुटुम्ब का पालन हो सकता है जब कि हिसार में १५ एकड़ से।

कृषि का संगठन--यदि कई कुटुम्ब मिलकर सहकारिता के आधार पर कृषि करते हैं, तो वहाँ पर बड़ी जोत की आवश्यकता होगी और इस बड़ी जोत से अच्छा उत्पादन हो सकेगा, परन्तु यदि सहकारिता के आधार पर कृषि नहीं की जाती, अलग-अलग व्यक्ति अलग खेत जोतते हैं तो वहाँ पर छोटी जोत से ही काम चल जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक जोत का विस्तार या क्षेत्रफल कई बातों द्वारा निश्चित होता है। कुटुम्ब के छोटे-बड़े होने का, उसके साधनों की पूर्णता या अपूर्णता का आर्थिक जोत के क्षेत्रफल पर कितना प्रभाव पड़ता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। मिट्टी, वर्षा, सिंचाई के साधनों की व्यवस्था, उत्पादित पदार्थों की बिक्री की सुविधा आदि बातों के आधार पर, आर्थिक जोत का क्षेत्रफल विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग है। भारत के विभिन्न भागों में आर्थिक जोत एक समान ही नहीं है। अर्थशास्त्र के कुछ विद्वानों ने विभिन्न क्षेत्रों के लिए 'आर्थिक जोत' का क्षेत्रफल अलग-अलग निश्चित किया है। डा० मेन्न का विचार है कि दक्षिण में एक साधारण कुटुम्ब के लिए बीस एकड़ भूमि पर्याप्त होगी। कीटिंग के अनुसार अच्छी तरह से रहने के लिए, ४० से ५० एकड़ अच्छी भूमि एक कुटुम्ब के लिए उपयुक्त होगी। सर विजय राघवाचार्य का अनुमान है कि कम से कम एक छोटे कुटुम्ब के लिए ४ से लेकर ६ एकड़ क्षेत्रफल की जोत का होना अनिवार्य है।

बुनियादी जोत--(Bacic Holding) कांग्रेस कृषि सुधार समिति ने अपने रिपोर्ट में यह लिखा है कि आर्थिक जोत का क्षेत्रफल ऐसा होना चाहिए जिससे रहन-सहन का स्तर अच्छा रह सके, एक साधारण कुटुम्ब के सब सदस्यों को काम-काज मिल सके, तथा उस प्रदेश के कृषि के आर्थिक संगठन में सामंजस्य स्थापित हो सके। इस समिति ने सामाजिक दृष्टि से आर्थिक जोत से भी छोटी जोत की सिफारिश की है। इस जोत को इस समिति के शब्दों में बुनियादी जोत (Baosic Holding) कहा जा सकता है। इसके लिए समिति ने यह सुझाव रखा कि बुनियादी जोत की खेती व्यक्तिगत आधार पर की जा सकती है।

आदर्श जोत--(Optimum Holding) इस कृषि समिति का विचार है कि किसी व्यक्ति की जोत की अधिकतम सीमा होनी चाहिए। भारत में साधारण किसान के पास एक बड़ी या असीम जोत के लिए न तो प्रचुर साधन ही सुलभ हैं और न अभी उसमें इतनी क्षमता है कि एक बहुत बड़ी जोत का भार वह सुगमता से वहन कर सके। इसके अतिरिक्त किसी के पास बहुत बड़ी जोत होने का प्रभाव समाज पर भी बड़ा बुरा पड़ेगा। इससे शोषण आदि को बल मिलेगा तथा पूँजीवादी वर्ग की वृद्धि होगी। अतः इस समिति का यह सुझाव है कि अधिकतम जोत आर्थिक जोत

से कभी भी तीन गुने से अधिक नहीं होनी चाहिए। हाँ सम्मिलित कुटुम्बों तथा दातव्य संस्थाओं के लिए कुछ छूट दी जा सकती है।

भारतीय भू-स्वामी की जोत का क्षेत्रफल—(The Size of an Indian Owners Holding) आर्थिक जोत की चाहे जो कुछ परिभाषा हो, भारत में अधिकांश जोतें, भले ही वे स्वत्वाधिकारी या मालिकाना (Propietory, हों या काश्तकारों की, उन्हें आर्थिक जोतें नहीं कहा जा सकता। सम्मिलित पंजाब में श्री कैलबर्ट महाशय ने भू-स्वामियों की जोतों (owners holdings) की जाँच की थी। इस जाँच के पश्चात् वे निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि :—

(१) भू-स्वामियों की लगभग १७·६ प्रतिशत जोतें ऐसी हैं जो एक एकड़ से कम हैं। और इस प्रकार की जोतों वाला क्षेत्रफल कुल क्षेत्रफल का केवल १ प्रतिशत है।

(२) लगभग ४०·४ प्रतिशत भू-स्वामियों के पास एक से लेकर पांच एकड़ तक की जोतें हैं। इस प्रकार का जोतों को क्षेत्रफल कुल का ११ प्रतिशत है।

(३) लगभग २६·२ प्रतिशत भू-स्वामियों के पास ५ से लेकर १५ एकड़ तक की जोतें हैं। इस प्रकार की जोतों का क्षेत्रफल कुल का २६·६ प्रतिशत है।

(४) लगभग ११·८ प्रतिशत के पास १५ से लेकर ५० एकड़ तक की ही जोते हैं। इस प्रकार की जोतों में लगी हुई भूमि कुल की ३६·६ प्रतिशत है।

(५) लगभग ३·७ प्रतिशत के पास ५० या इससे अधिक एकड़ भूमि है जो कि मोटे रूप से कुल की २५·७ प्रतिशत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ अधिकांश कृषकों की जोतें कितनी छोटी-छोटी हैं। ऐसे बहुत ही थोड़े व्यक्ति हैं जिनकी जोतें आर्थिक दृष्टि से लाभदायक कही जा सकती हैं।

यह दोष कोई एक ही प्रदेश या राज्य में ही नहीं वरन् भारत के सभी भागों में पाया जाता है। बिहार और उड़ीसा के घने बसे हुए प्रदेशों में काश्तकारों की औसत जोत आधे एकड़ से भी कम है, यद्यपि वहाँ प्रति काश्तकार की जोत का औसत ३·१ एकड़ पड़ता है। बंगाल में भी खेतों की जोत प्रति कृषक ३·१ एकड़ पड़ती है। परन्तु कुल मिलाकर बंगाल में ४६ प्रतिशत ऐसे किसान हैं जिनकी जोतें प्रति किसान दो एकड़ से भी कम बैठती हैं, २१ प्रतिशत किसानों के पास दो से लेकर चार एकड़ प्रति किसान के हिसाब से है। आसाम में औसत जोत ३ एकड़ से अधिक नहीं है जब कि उत्तर प्रदेश में यह औसत २·५ एकड़ ही है। इस संबंध में पंजाब के २,३९७ गाँवों की विशेष जाँच की गई थी। इस जाँच समिति के भी अध्यक्ष कैलबर्ट महाशय थे। इस जाँच के अनुसार यह पता चला कि १७·६ प्रतिशत जोतें एक एकड़ से भी कम हैं, २५·५ प्रतिशत जोतें एक एकड़ तथा तीन एकड़ के बीच में हैं, १४ प्रतिशत चार से लेकर ५ तक तथा १८ प्रतिशत जोतें ५ से लेकर १० एकड़ के बीच में हैं। एक एकड़ वाली जोतों की विशेष जाँच की गई थी और इससे यह पता चला था कि इसकी अधिकांश जोतें खेती वाली जोतें हैं। मदरास तथा बम्बई में जोत का औसत क्षेत्रफल काफी कम है ऐसी कितनी ही जोते हैं जो २·३ एकड़ से भी कम हैं। बम्बई में सर चुन्नीलाल मेहता ने यह दिखला दिया था कि जोतें कितनी छोटी होती चली जा रही हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी जोतों सम्बन्धी समस्या कितना महत्व रखती है। इस ओर हमें यथाशीघ्र अपना ध्यान आकर्षित करना चाहिये तथा इस दोष को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

किसान की जोत (Cutlivator's Holding) जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि किसान जितनी भूमि पर खेती करता है, वह बहुत ही छोटी होती है, जब कि भू-स्वामियों के पास इससे कहीं अधिक भूमि रहती है। ऐसे भू-स्वामी लोग जिनके पास काफी बड़ी जोतें हैं, उसे वे किसानों को दे देते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि प्रत्येक किसान के हिस्से में छोटी जोत

ही आती है। श्री कैलवर्ट महोदय ने किसानों की जोतों के परिणाम व उसके वितरण के सम्बन्ध में जो जाँच की थी, उससे यह पता चला था कि वहाँ २२ प्रतिशत काश्तकार ऐसे थे जो एक या एक से कम एकड़ भूमि पर खेती करते थे, ३३ प्रतिशत काश्तकार १ से लेकर ५ एकड़ की भूमि में खेती करते; ३१.६ प्रतिशत काश्तकार ५ से लेकर १५ एकड़ तक में १२.६ प्रतिशत काश्तकार १५ से लेकर ५० एकड़ के बीच के क्षेत्रफल वाली भूमि में खेती करते। केवल एक प्रतिशत ही काश्तकार ऐसे थे जिनमें से प्रत्येक के पास ५०--५० एकड़ भूमि थी। पंजाब की अपनी दोनों जाँचों के परिणामों की तुलना करने के पश्चात् श्री कैलवर्ट महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला था कि लगभग ५००,००० ऐसे काश्तकार है जिनके पास निज की कोई भूमि नहीं है, यही वास्तव में खेतिहर वर्ग है। वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि एक एकड़ से कम खेतों वाले काश्तकारों कीसंख्या अत्यधिक है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी निष्कर्ष लगाया कि एक से लेकर ५ एकड़ वाले छोटे भू-स्वामी लगान पर और अधिक खेतों के लेने का प्रयत्न कर रहे हैं जिससे कि वे और आगे बढ़ सकें। उनका एक निष्कर्ष यह भी था कि १५ एकड़ से अधिक वाले भू-स्वामी बहुत कम हैं। आगे उन्होने यह तथ्य निकाला कि बैलों की एक जोड़ी लगभग १४ एकड़ भूमि जोतने के लिये ठीक होती है, परन्तु यहाँ के अधिकांश कृषक अपनी जोत को हम सीमा तक बढ़ाने में असफल हुये हैं, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ लगान आदि की दरों के अधिक होने के कारण कृषक ऐसा करने में असफल रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अविभाजित पंजाब में अधिकांश जोतें आर्थिक स्तर से कहीं नीचे थीं। अब विभाजित पंजाब में अविभाजित पंजाब की अपेक्षा जोतों का क्षेत्रफल और कम है। इसका एक कारण तो है कि पश्चिमी पंजाब का नहरों से सींचा जाने वाला क्षेत्र अब पाकिस्तान में चाल गया है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी पंजाब में हिन्दुओं द्वारा खाली की गई भूमि का कुल क्षेत्रफल ५९ लाख था जब कि पूर्वी पंजाब में मुसलमानों ने केवल ४५ लाख एकड़ भूमि ही खाली की। पूर्वी पंजाब में जोतों के छोटा होने का यह भी एक कारण है।

विभिन्न राज्यों के किसानों की जोत का परिचय नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

(१६३१ के आँकड़ों के अनुसार)

राज्य	प्रति किसान द्वारा जोती भूमि (एकड़ों में)	जोतों की औसत माप (एकड़ों में)
आसाम	३.४	लगभग २.०
उत्तर प्रदेश	३.३	६.०
पंजाब	८.८	७.२
बम्बई	१६.८	११.७
बंगाल	३.६	२.५
मध्य प्रदेश	२०.०	८.५
मदरास	५.६	४.५
बिहार-उड़ीसा	२.६	४ व ५ के बीच में

यह तालिका स्थाई अधिकार वाले कृषकों की परिस्थितियों पर ही प्रकाश डालती है, वास्तविक स्थिति तो इससे भी बुरी है क्योंकि बहुत से छोटे-छोटे किसान बिल्कुल ही छोटे खेतों को जोतते हैं। यदि हम भारतीय परिस्थितियों की, भूमि सम्बन्धी भारतीय समस्याओं की तुलना विदेशों से करते हैं तो हमें पता चलता है कि फ्रान्स में प्रति किसान १५½ एकड़, जर्मनी में १६ एकड़, इंग्लैण्ड में २७ एकड़, संयुक्तराष्ट्र अमरीका में १४० एकड़ से ऊपर ही भूमि प्रति किसान के जोत में आती है। इस सम्बन्ध में कनाडा, अर्जेन्टाइना, तथा आस्ट्रेलिया की स्थिति और भी अच्छी है।

उन देशों में जहाँ कि जोतें छोटी हैं, सम्मिलित तथा सहकारिता के आधार पर कृषि करने की पद्धति का प्रचलन किया गया है। ऐसे प्रदेशों में गहरी खेती करने के भी उपाय काम में लाए गए हैं। पैलेस्टाइन के क्वाजा कोआपरेटिव सेटिलमेंट, मेक्सिको के इलजिदो, इटली की ज्वाइन्ट फार्मिंग सोसाइटीज आदि ने इस दिशा में अच्छी प्रगति की है। पाकिस्तान से लाखों की संख्या में विस्थापितों के आ जाने से तथा भारत में भयकर खाद्याभाव हो जाने से भारत सरकार भी किसानों को अच्छी तथा बड़ी जोत देने की व्यवस्था का प्रयत्न कर रही है।

भूमि का टुकड़ों में बिखरा होना (Fragmentation of Foolding)—भूमि के या यूँ कह लीजिये जोतों के टुकड़ों में बिखरे होने का परिणाम यह होता है कि एक किसान के पास जोती जाने वाली भूमि धीरे-धीरे कम होती जाती है। यद्यपि किसी व्यक्ति के बिखरे हुए खेतों के स्वामी होने का तात्पर्य यही होता है कि उसकी कृषि भी बिखरी हुई होगी। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं कि हमेशा यही बात हो। कोई भी किसान जमीन के कई टुकड़ों को खेती करने के लिए लगान पर ले सकता है, हो सकता है कि इन टुकड़ों का स्वामी कोई एक व्यक्ति न होकर कई व्यक्ति हों। इसके विपरीत यह भी संभव है कि एक भूस्वामी ने अपनी जोत को कई काश्तकारों में विभाजित कर दिया हो। परन्तु यदि हम इस विषय पर आर्थिक दृष्टि से विचार करें तो हमें यह पता चल जायगा कि जब तक भूमि का स्वामी स्वयं ही खेती नहीं करता तब तक भू-स्वामित्व के एकत्रीकरण की अपेक्षा जोतों का, भूमि का या कृषि का एकत्रीकरण अथवा चकबन्दी विशेष महत्व रखता है।

साधारणतया भूमि टुकड़ों में उसी समय विभाजित होती है जब कि किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का कई आदमियों में बँटवारा होता है। इनमें से हर एक आदमी यह चाहता है कि उसे अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ न कुछ भाग अवश्य मिले। भारतवर्ष में यह रोग बड़े भयंकर रूप से फैला हुआ है। कभी-कभी तो भूमि के इस प्रकार के विभाजन का ऐसा परिणाम होता है, भूमि इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाती है कि उस पर खेती करना सम्भव ही नहीं होता, और यदि किसी प्रकार खेती की भी जाती है तो उसमें लगे हुए पूँजी श्रम आदि के हिसाब से उत्पादन की मात्रा कुछ भी नहीं होती। पिम्पला सौदागर नामक ग्राम में डा० हैरल्ड मैन ने देखा कि वहाँ १५६ भू स्वामियों के बीच में कुल ७२६ प्लाट थे जिनमें से ४६३ तो ऐसे थे जिनका क्षेत्रफल एक एकड़ से कम था, और २११ प्लाट तो ऐसे थे जिनमें से प्रत्येक चौथाई एकड़ से भी कम था। रत्नगिरि में भी साधारणतया प्रत्येक प्लाट इतना छोटा होता है कि उसका क्षेत्रफल कुल ०.००६१५ एकड़ ही है। पंजाब में भी कुछ ऐसे क्षेत्र पाए गए जिनमें से कई एक तो एक मील से भी अधिक लम्बे तथा कुछ गज चौड़े थे तथा कुछ इतने छोटे थे कि उनमें खेती करना बिल्कुल सम्भव ही नहीं था। पंजाब के वैरामपुर नामक गाँव में श्री भल्ला महोदय ने काफी पूँछ-ताँछ के बाद पता लगाया कि वहाँ ३४.४% किसानों में से प्रत्येक के पास प्रायः २५-२५ भूमि के अलग-अलग टुकड़े हैं। पिम्पला सौदागर में ६२ प्रतिशत से भी अधिक खेत इस प्रकार के थे जिनका क्षेत्रफल एक एकड़ से भी कम था। जाटगाँव में इस प्रकार के ३१ प्रतिशत खेत थे। बम्बई के सम्बन्ध में श्री कीटिंग महोदय ने लिखा था कि यहाँ भूमि टुकड़ों में इस प्रकार बिखरी हुई है कि किसी प्रकार का सुधार करना या वहाँ के किसानों को सुविधाएँ देने का कोई लाभ नहीं हो सकता।

यह दोष उन स्थानों में और भी भीषण रूप में मिलता है जहाँ पर किसान स्वयं भूमि के स्वामी हैं तथा जहाँ के काश्तकारों को बहुत दिनों से मौरूसी अधिकार प्राप्त हैं।

भूमि के विभाजन तथा उसके टुकड़े-टुकड़ों में बिखरे होने के कारण—भूमि के विभाजन तथा उसके टुकड़े-टुकड़ों में बिखरे होने के मुख्य कारण ये हैं :—

(१) **जनसंख्या की वृद्धि**—ज्यों-ज्यों जनसंख्या में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों भूमि

अधिक से अधिक आदमियों में बँटती चली जाती है। इसके परिणाम स्वरूप एक औसत जोत का आकार या विस्तार छोटा हो जाता है।

(२) **उत्तराधिकार के नियम**—हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के उत्तराधिकार के नियम इस प्रकार के हैं जिससे भूमि के विभाजन को काफी बल मिलता है। जब कोई भी व्यक्ति उत्तराधिकारी होता है उस समय वह इस प्रकार की भूमि का (जो कि उसकी पैतृक सम्पत्ति होती है) कुछ न कुछ भाग अवश्य माँगता है। इसका फल यह होता है कि भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होने के साथ ही साथ दूर-दूर पर बिखर भी जाती है।

(३) **शिल्पकारी का ह्रास**—हम पीछे कह चुके हैं कि भारत में एक समय शिल्पकला उन्नति के उच्च शिखर पर थी, परन्तु ज्यों-ज्यों मशीनों का आविष्कार होता गया, मशीनों से बने हुए माल की वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों यहाँ के घरेलू उद्योग धन्धों का विनाश होता गया। इसके साथ ही साथ जनसंख्या का कृषि पर भार अधिकाधिक होता गया। इससे भी भूमि के विभाजन को सहायता मिली।

(४) **अचल सम्पत्ति से प्रेम**—भारत में लोगों को अपनी अचल संपत्ति, भूमि, वन, वाटिकाएँ आदि से बड़ा मोह होता है। अचल संपत्ति का होना लोगों के लिए गर्व की बात होती है। इससे उनके आदर-सम्मान में वृद्धि होती है, इसलिये साधारणतया कोई भी व्यक्ति अपनी भूमि को या अपने खेतों आदि को चाहे वे छोटे हों या बड़े, बेचना नहीं पसन्द करता प्रत्येक आदमी अपनी भूमि आदि को सदा अपनाए ही रहता है, जिससे उसके विभाजन को और सहारा मिलता है।

(५) **अंगरेजी शासन का प्रभाव**—भारत में अंगरेजी शासन की स्थापना से भी भूमि के विभाजन पर कुछ प्रभाव पड़ा है। अंगरेजों ने यहाँ अपनी शासन-सत्ता की दृढ़ता के लिए, शांति और सुरक्षा के लिये भूमि के सम्बन्ध में लोगों को कुछ अधिकार दे दिये तथा महाजनों व अन्य मध्यम श्रेणी के आदमियों को भूमि में रुपया लगाने के लिये उत्साहित किया।

(६) **किसानों का ऋण**—किसानों की निर्धनता ने, उनके ऋण ने भी इसमें हाथ बँटाया है। किसानों के ऋणी होने के कारण कितनी ही बड़ी-बड़ी भूसम्पत्तियाँ छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गईं।

(७) **संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का ह्रास**—संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के पतन तथा व्यक्तिवादी विभक्त कुटुम्ब प्रणाली के प्रचलन से भी भूमि के विभक्त होने तथा खेतों के दूर-दूर बिखरने को सहायता पहुँची है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का पतन, किसानों का ऋण, अंगरेजी शासन, अचल सम्पत्ति के प्रति मोह, भारतीय शिल्पकला का ह्रास, उत्तराधिकार के नियम तथा जनसंख्या की वृद्धि आदि के कारणों से भूमि के विभक्त होने तथा टुकड़ों में बिखरे होने को सहायता मिली है। इन सब कारणों में से जनसंख्या की वृद्धि का भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। आज जनसंख्या का अधिकाधिक भार कृषि पर है। कृषि पर इतना भार होने का मुख्य कारण यहाँ की बेकारी की समस्या है। यहाँ के निवासियों के लिए केवल कृषि ही ऐसा सहारा है जिसके द्वारा उनका गुजर-बसर आसानी से हो जाता है।

भूमि के विभाजन तथा टुकड़ों में बिखरे होने से हानियाँ—कुछ लोग इस बात के आधार पर जोतों के इस विभाजन का समर्थन करते हैं कि इससे भूमि के सब उत्तराधिकारियों को समान अधिकार प्राप्त हो जाते हैं तथा इससे बिना भूमि के श्रमिकों की श्रेणी का अन्त होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है इसके अनुसार हर एक किसान के पास खेत होते हैं, कोई ऐसा नहीं होता जिसके पास उसकी भूमि न हो। ऐसा होने से समाज की आर्थिक नींव दृढ़ होती

है। इसके अतिरिक्त इस पक्ष में एक और बात कही जाती है, वह यह कि किसान के पास कई प्रकार की मिट्टी वाली जोत होने के कारण वह विभिन्न फसलें पैदा कर लेता है, उसे मौसम की अनिश्चितता का कुफल नहीं भोगना पड़ता। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि इस प्रकार की जोतों में फसलों को हेर-फेर में और सुविधा मिल जाती है। परन्तु इस प्रथा में या जोतों के इतने टुकड़ों में बँटे होने में जितने गुण हैं उनसे कहीं अधिक दोष हैं।

भूमि के विभाजन, तथा उसके टुकड़ों में बँटे होने का प्रभाव मानवी शक्ति तथा प्राकृतिक साधनों पर बड़ा बुरा पड़ता है, इससे कृषि के विकास में बहुत हानि पहुँचती है। इससे होने वाली मुख्य हानिआँ ये हैं :—

(१) सर्वप्रथम छोटी जोतों में कृषि के अच्छे यन्त्रों के सहारे खेती नहीं की जा सकती।

(२) इससे कुएँ, तालाब आदि के सुधार आदि में (जिससे कि आदमियों के श्रम की अधिक आवश्यकता न हो) बाधा पड़ती है।

(३) इससे बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करना असम्भव है।

(४) जितना व्यय बड़े खेतों के जोतने बोने में पड़ता प्रायः उतना ही व्यय इनमें भी पड़ता है। प्रति इकाई उत्पादन में यहाँ उससे भी अधिक व्यय होता है।

(५) पशुओं आदि से फसल की उचित सुरक्षा न होने के कारण, इसके कृषक का उत्साह मारा जाता है।

(६) छोटी जोतों के चारों ओर खाई, रास्ते आदि बनाने में बहुत सी भूमि व्यर्थ में नष्ट हो जाती है।

(७) जब जोत दूर-दूर पर स्थित होती हैं तो इससे समय, शक्ति, खाद, फसल आदि को बड़ी हानि पहुँचती है।

(८) कुछ जोतें इतनी छोटी होती हैं कि उनमें खेती करना सम्भव ही नहीं; इसलिये वे बेकार पड़ी रहती हैं।

(९) ऐसे जोतों के रास्ते, तथा चौहद्दी आदि के विषय में किसानों में प्रायः झगड़ा हुआ करता है।

(१०) इससे किसान का समय, शक्ति, पूँजी आदि का बड़ा नुकसान होता है।

इन दोषों के दूर करने का उपाय – भारतीय भूमि के विभाजन तथा उसके टुकड़ों में बिखरे होने के इस दोष के दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ विद्वानों ने अपने सुझाव पेश किए हैं जिनसे आशा की जाती है कि ये दोष अधिक न बढ़ सकेंगे। इनमें से मुख्य उपायों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :—

(१) **आर्थिक जोतों की व्यवस्था**—भूमि के विभाजन को दूर करने का एक सबसे अच्छा तरीका तो यह हो सकता है कि समस्त भूमि पर राज्य का अधिकार हो जाय। राज्य के हाथ में समस्त भूमि के आ जाने से सम्मिलित खेती की भी व्यवस्था हो सकेगी। इस प्रकार भूमि का छोटे-छोटे भागों में विभाजन न हो सकेगा। इस तरह की व्यवस्था सोवियत रूस में है। अथवा सहकारिता के आधार पर कृषि करने की व्यवस्था की जाय। इटली राज्य की सरकार रुपया चुकाकर पुरानी गिरवी रखी हुई जोतों को आर्थिक जोत में परिवर्तित कर देती है। परन्तु भारत में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की जा सकती क्योंकि यहाँ अनार्थिक जोतें इतनी अधिक हैं तथा लोगों में स्वामित्व की भावना इतनी प्रबल है कि वे इस प्रकार की योजना को सफल नहीं होने देंगे और यदि ऐसा यहाँ किया भी गया तो उसमें व्यय काफी पड़ जायगा।

आर्थिक जोतों का रक्षण—भविष्य में सरकार इस बात का ध्यान रखे कि आर्थिक जोतों के अनार्थिक टुकड़े न हों। इस प्रकार आर्थिक जोतों की रक्षा की जानी चाहिये और उसके अनार्थिक जोतों में परिवर्तित होने पर रोक लगाई जाती चाहिये। यह रोक कई प्रकार से लगाई जा सकती है।

(अ) सबसे पहले उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन करके यह व्यवस्था कर दी जाय कि अचल सम्पत्ति का अधिकारी सबसे बड़ा पुत्र ही होगा। इससे यह भी एक बुरा परिणाम निकल सकता है कि ऐसे व्यक्तियों की अधिकता हो जाय जो भूमि रहित हों। परन्तु हमें इन सबकी इतनी चिन्ता नहीं करना चाहिए। यदि इस प्रकार की व्यवस्था हो गई तो कृषि पर जनसंख्या का भार भी कम हो जायगा, उद्योग-धन्धों का विकास होने पर, कुछ आदमी उनमें भी लग जायँगे।

(ब) जब भूमि बँटते-बँटते किसी एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाय तो उसका विभाजन रोक दिया जाय। मिश्र में इस प्रकार का कानून पास हुआ है, वहाँ पर सब उत्तराधिकारियों में भूमि का विभाजन तो कर दिया जाता है, परन्तु यह विभाजन केवल नाम मात्र के लिए ही होता है, वास्तव में इस सारी भूमि का प्रबन्ध केवल एक ही आदमी या कुछ ट्रस्टियों के हाथ में होता है। कीटिंग महोदय ने भारत के लिए यह सुझाव रखा था कि जब एक किसान को आर्थिक जोत के अधिकार प्राप्त हो जायँ तो उसका विभाजन होना कानून द्वारा अवैध ठहरा दिया जाय। इस ओर क्रियात्मक कदम उठाने के लिये मदरास में एक बिल पास हुआ था, बम्बई में भी इसी प्रकार का एक कानून पास हुआ था जिसके अनुसार जोतों और टुकड़ों में विभक्त होना अवैध घोषित कर दिया गया था। परन्तु इन योजनाओं का जनता ने स्वागत नहीं किया, फलतः ये निष्फल रहे।

(स) पूर्वीपंजाब का जोतों या खेतों की चकबन्दी का कानून १६४८ में पास हुआ जिसके अनुसार चकबन्दी को अनिवार्य ठहरा दिया गया तथा भूमि के टुकड़ों में बिखरे होने की कानून द्वारा मनाही कर दी गई। यह कार्य वहाँ के सहकारी तथा माल विभाग द्वारा कार्यान्वित किया गया था, परन्तु इस कार्य की गति बहुत मन्द तथा धीमी रही। १६३६ के कानून में इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया, पंजाब की नहरों वाली बस्तियों में भूमि के अधिक टुकड़ों में न बँटे होने की कुछ व्यवस्था की गई थी।

(द) कुछ अन्य देशों में सहकारी कृषि, तथा सम्मिलित जोताई-बोआई से काफी अच्छे परिणाम निकले हैं। भारत में भी इस प्रकार के प्रयोग किए जा रहे हैं। ये प्रयोग अभी उन प्रदेशों में जहाँ की भूमि उपादेयकरण किया गया है, तथा जिन प्रदेशों में जमींदारी का उन्मूलन हुआ है, वहाँ किये जा रहे हैं। इन प्रयोगों से यह पता चला है कि भारत में सम्मिलित खेती का बहुत बड़ा क्षेत्र है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि भारत में भूमि के विभाजन को रोकने तथा आर्थिक जोतों की व्यवस्था करने में कई कठिनाइयाँ है किन्तु कुछ भी हो हमें इस ओर प्रयत्न किये बिना भारतीय कृषि की सफलता की आशा करना दुराशा मात्र है।

भूमि की चकबन्दी—(Consolidation of Holdings) हम यह देख चुके कि भारतीय भूमि की इस समस्या का सुलझाना कोई सरल काम नहीं है किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि यह समस्या सुलझाई ही नहीं जा सकती। हमारे सन्मुख इस समस्या के हल के लिए मुख्य तीन साधन हैं—(१) भूमि की चकबन्दी (२) आर्थिक जोत की सरकार द्वारा उचित परिभाषा तथा भविष्य में उसके और टुकड़े न होने देने के लिए कानून द्वारा रुकावट (३) उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्त्तन। उपरोक्त तीनों साधन एक दूसरे से इतने सम्बद्ध हैं कि एक को छोड़कर हम दूसरे

की कल्पना नहीं कर सकते, वास्तव में ये एक ही प्रश्न के तीन पहलू हैं, जिनमें से एक को भी छोड़कर उसको आगे ले जाना असम्भव है। पिछले पृष्ठों में हम उत्तराधिकार के नियमों के परिवर्त्तन तथा कानून द्वारा आर्थिक जोतों के विभाजन न होने के लिए कह चुके हैं। अब हम यहाँ भूमि या जोतों की चकबन्दी के विषय में विचार करेंगे। 'रायल कमीशन' ने भारतीय भूमि के टुकड़े-टुकड़ों में विभाजित होने तथा दूर-दूर बिखरे होने के दोष को दूर करने के लिए कहा था कि केवल चकबन्दी के द्वारा ही, इस बुराई को रोका जा सकता है, इसके दूर करने का अन्य कोई भी उपाय इससे अच्छी तरह सफल नहीं हो सकता। इस प्रणाली या उपाय द्वारा प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान—एक चक—में कर दिए जायँ या विभिन्न प्रकार की मिट्टी वाले खेतों को कुछ समूहों में बाँट दिया जाय। इस प्रकार चकबन्दी के द्वारा किसान को बिखरे हुये टुकड़ों के स्थान पर एक ही जगह में उसकी सारी भूमि प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में उसके पास जितनी भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरी हुई होती है, उसके क्षेत्रफल के बराबर ही भूमि एक स्थान पर दे दी जाती है।

भारत में सबसे पहले (१९२०-२१ में) पंजाब में चकबन्दी की योजना को कार्यान्वित किया गया था। वहाँ पर यह कार्य सहकारी समितियों द्वारा प्रचलित किया गया था। १९४३ में वहाँ पर इस प्रकार की कुल १,८०७ समितियाँ थीं। इन समितियों द्वारा कुल जोती जाने वाली भूमि (जिसका क्षेत्रफल तीन सौ लाख एकड़ था) में से साढ़े चौदह लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हुई थी। इस योजना को सफल बनाने के लिये सरकार ने भी एक कानून पास किया था जिसके अनुसार कुछ लोगों को जो कि इस कार्य में बाधा डालते चकबन्दी के लिये कानून द्वारा वाध्य किया जा सकता था। चकबन्दी से पंजाब को काफी लाभ पहुँचा है, वहाँ पर जोती जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल काफी बढ़ गया, क्षेत्रफल के बढ़ने के साथ ही उत्पादन में भी अच्छी खासी वृद्धि हुई है। इससे किसानों में होने वाली मुकदमेंबाजी में भी कमी हुई है। परन्तु भारत के अन्य भागों में चकबन्दी को अच्छी सफलता नहीं प्राप्त हुई है।

किसी भी प्रदेश में चकबन्दी की व्यवस्था के प्रचलन के लिये दो सबसे बड़ी कठिनाइयाँ हैं। पहली भूमि की उर्वराशक्ति की भिन्नता तथा सिंचाई के साधन या जल।

भारत में कृषि की फसल का अच्छा या बुरा होना बहुत कुछ वर्षा पर निर्भर रहता है, और फिर जहाँ पर कि सिंचाई के साधन पर्याप्त नहीं हैं वहाँ तो वर्षा का महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। हमारी कितनी ही चकबन्दी की योजनाओं की असफलता का एक यह भी कारण रहा है कि किसान यह समझता था कि जो भूमि उसको अपनी भूमि के बदले में मिल रही है वहाँ पर पानी की व्यवस्था ठीक नहीं है, वहाँ पर सुविधापूर्वक जल नहीं मिल सकता। इसके अतिरिक्त किसान अपनी परिस्थितियों के अनुकूल यह आवश्यक समझता है कि वह भिन्न-भिन्न खेतों में भिन्न-भिन्न फसलें पैदा करे जिससे कि यदि एक फसल खराब हो जावे तो दूसरी तो कम से कम नष्ट न हो। इस प्रकार इन दो मुख्य बाधाओं के कारण हमारी चकबन्दी योजना अच्छी तरह सफल नहीं हो सकी है।

जहाँ तक पंजाब का प्रश्न है वहाँ चकबन्दी योजना की सफलता में मुख्य रूप से दो बातों ने हाथ बँटाया है एक तो सिंचाई की अच्छी व्यवस्था ने या जल के आसानी से प्राप्त हो जाने की सुविधा ने तथा भूमि के बहुत से छोटे-छोटे टुकड़ों के बँटे होने की न्यूनता ने। विभाजन के पश्चात् भी पूर्वी पंजाब ने इस दिशा में अच्छी प्रगति की है। इस समय देहली में करीब ५३ ऐसी समितियाँ हैं। १९३९-४० में संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में १८२ ऐसी सहकारी समितियाँ थीं जिन्होंने उस समय तक लगभग ७७६,७८ पक्के बीघे भूमि की चकबन्दी कर ली थी। परन्तु १९४७ में कुछ कारणों से ये समितियाँ टूट गईं। अब यहाँ इस ओर फिर ध्यान दिया जाने लगा है। मध्य प्रदेश में भी चकबंदी

योजनाएँ १९२६ से चल रही हैं। वहाँ पर लगभग छत्तीसगढ़ के २,४७६ गाँवों में चकबन्दी की योजना पूरी हो चुकी है। मद्रास में १९४७-४८ में केवल २२ ही चकबन्दी समितियाँ थीं। वहाँ की सरकार ने अभी इस योजना को इसलिये छोड़ दिया है कि जब तक कि भूमि के विभाजन को नहीं रोका जाता तब तक चकबन्दी का कोई विशेष उपयोग न होगा।

सन् १९२७ में बम्बई में भी चकबन्दी की योजना को प्रोत्साहन देने के लिए एक कानून प्रस्तावित हुआ था, जिसके अनुसार भूमि को और टुकड़ों में विभाजित न होने की व्यवस्था की गई थी, परन्तु इस बिल का काफी विरोध हुआ, इसलिए वह स्थगित कर दिया गया था। अभी हाल में भूमि की चकबन्दी तथा उसके टुकड़ों में विभक्त होने को रोकने के लिए कानून पास हुआ है, परन्तु अभी इस दिशा में बहुत थोड़ी प्रगति हुई है। बंगाल, आसाम, बिहार तथा उड़ीसा में चकबन्दी की कोई क्रियात्मक योजना का परिचलन नहीं हुआ है।

रायल कमीशन ने लिखा था कि राज्यों की सरकारों को चकबन्दी योजना का प्रचार करते समय बड़ी सावधानी से कार्य करना चाहिए। इसके पूर्व कि लोगों को योजना को मानने के लिए बाध्य किया जाय, कुछ भू-भाग को इस योजना के कार्य-क्षेत्र के रूप में चुन लिया जाना चाहिए। राज्य को इसके प्रचार और प्रसार का काफी प्रयत्न करना चाहिए, प्रारम्भ में चकबन्दी की योजना में लगने वाले व्यय-भार को राज्यों को ही सहन करना चाहिए।

चकबन्दी की योजना को क्रियात्मक रूप देने के लिए सावधानी की आवश्यकता जितनी आज से कुछ वर्षों पूर्व थी, उतनी आज नहीं है। हमारा ऐसा विचार है कि अब वह समय आ गया है जब कि चकबन्दी को प्रत्येक ग्राम में अनिवार्य कर दिया जाय, क्योंकि जबतक खेत टुकड़े-टुकड़ों में बँटे रहेंगे तब तक कृषि में सुधार करना संभव नहीं। जब जमींदारी प्रथा का पूर्ण रूप से अन्त हो जाय, किसानों को भूमि सम्बन्धी यथेष्ट अधिकार प्राप्त हो जायें तो कानून द्वारा भूमि के टुकड़ों में बिखरे होने तथा जोतों को एक सीमा से अधिक न विभाजित होने देने के लिए कानून बना दिए जायँ। इस प्रकार हम अपनी कृषि का यथेष्ट विकास करने में सफल हो सकेंगे।

सामूहिक खेती—ऊपर हमने चकबन्दी की आवश्यकता तथा उसके महत्त्व के विषय में कुछ विचार किया परन्तु चकबन्दी ही समस्त समस्याओं का हल नहीं कर सकती, इसी से कृषि का संपूर्ण विकास नहीं किया जा सकता। यदि किसी छोटी जोत की एक चक में चकबन्दी कर दी जाय और उसे विभाजित होने से रोक दिया जाय तो वह इस समय भी एक छोटी जोत ही बनी रहेगी और यदि उसका क्षेत्रफल आर्थिक जोत के क्षेत्रफल से कम है तो उसमें भी पूँजी तथा श्रम दोनों की काफी बरबादी होगी। इसके लिए एक दूसरा उपाय जो कि काफी क्रान्तिकारी है, प्रयोग में लाया जाता है। इसके द्वारा व्यक्तिगत या निजी स्वामित्व के अधिकार का अन्त कर देना है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि देश की समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिए, इसके पश्चात् उसे बड़े-बड़े टुकड़ों में बाँटकर उस पर आधुनिक यंत्रों की सहायता से कृषि की जानी चाहिए। इसमें काम करने वाले श्रमिकों को उनकी आवश्यकता के अनुसार उचित पारिश्रमिक मिल जाना चाहिए।

इस प्रकार की सामूहिक कृषि का भारत में प्रचलन का तात्पर्य देश के सामाजिक संगठन में आमूल परिवर्तन करना है। परन्तु भारत में धर्म तथा परम्पराओं या रीति रिवाजों ने निजी संपत्ति की आज्ञा दी है, इसके अतिरिक्त यहाँ के किसानों के मस्तिष्क में निजी भूमि को रखने की, उसके स्वामी होने की भावना ने काफी घर कर लिया है। इस भावना को आसानी से हटाया नहीं जा सकता। जब तक अन्य क्षेत्रों में इस प्रकार का कार्य नहीं किया जाता तब तक केवल भूमि के राष्ट्रीयकरण से काम नहीं चलेगा। इससे लोगों के हृदय में राज्य के प्रति विरोध की भावना

अपना उग्र रूप धारण कर सकती है। अतएव रूस की भाँति यहाँ पर सामूहिक खेती का प्रचलन असम्भव है।

सहकारी कृषि (Cooperetive Farming)—सहकारी कृषि तथा सामूहिक कृषि कृषक के भू-स्वामित्व के बीच की वस्तु है, जिसके द्वारा इन दोनों पद्धतियों में,या इन दोनों प्रकार के सिद्धान्तों में एक प्रकार का संतुलन या सामञ्जय स्थापित होता है। इसके द्वारा बिना निजी संपत्ति का अन्त किए बड़े पैमाने पर खेती करने में सुविधा होती है। इसके अनुसार भू-स्वामियों को सहकारी-कृषि समितियों की स्थापना के लिए उत्साहित किया जाता है। समस्त ग्राम की कृषि के योग्य भूमि को सहकारिता के आधार पर जोता बोता बोया जाता है, परन्तु उसमें व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकारों पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने पाती। इस प्रकार राज्य के द्वारा प्रदत्त सभी सुविधाओं का उपयोग हो जाता है। कृषि के वैज्ञानिक यंत्रों से कृषि करना सुलभ हो जाता है क्योंकि बड़े-बड़े फार्मों में ही ट्रैक्टर हारवेस्टर आदि से खेती करना संभव है, छोटे-छोटे खेतों में न तो आधुनिक यंत्र की सहायता से खेती ही की जा सकती है और न उत्पादन में ही वृद्धि हो सकती है।

अतः भारत को कृषि के विकास के लिए किसी न किसी प्रकार की सहाकरी कृषि समितियों की स्थापना करना, सहकारिता के आधार पर खेती करना आवश्यक है। सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर भारत में क्रय-विक्रय समितियाँ, सहकारी बीज समितियाँ, ऋण समितियाँ आदि कार्य कर रही हैं, परन्तु अभी इनसे काफी लाभ नहीं प्राप्त हुआ है। इसका मुख्य कारण भारतीयों की अशिक्षा, निर्धनता तथा मूर्खता ही है। सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने के लिए लोगों में स्वावलंबन तथा एक दूसरे पर विश्वास की भावना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इसके लिए योग्य नेतृत्व की भी बड़ी आवश्यकता है। भारत में सहकारिता के विकसित न होने का सबसे बड़ा कारण लोगों में सहकारी भावना का न होना है। यहाँ की ग्रामीण जनता में तो यह दोष और भी अधिक है।

फिर भी भारत के विभिन्न भागों में जो प्रयोग हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर सहकारिता के लिये काफी क्षेत्र है। यहाँ पर लगभग साठ लाख एकड़ बंजर तथा नष्ट भूमि का उपादेयकरण हो रहा है। उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब, देहली आदि में सहकारिता के आधार पर कृषि की व्यवस्था की जा रही है। इन प्रदेशों के कुछ क्षेत्रों में सब लोग मिलकर खेती करेंगे। फार्म की सारी सम्पत्ति सम्मिलित सम्पत्ति समझी जायगी। उसमें काम करने वाले श्रमिकों को निश्चित पारिश्रमिक मिलेगा। जिन प्रदेशों में जमींदारी का उन्मूलन हो रहा है तथा जहाँ पर नदियों के उन्नति की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं, वहाँ पर भी सहकारिता के आधार पर कृषि करना सुलभ हो सकेगा।

भारत में जितनी भी कृषि के योग्य भूमि है, उसमें से इन प्रदेशों में केवल थोड़ी ही है। इस छोटे से भू भाग के भी अधिकांश के स्वामी ऐसे लोग हैं जिनका उस भूमि पर पूर्ण अधिकार है तथा जिनकी वह निजी सम्पति है।

अतः इन प्रदेशों में किसी न किसी प्रकार की सहकारी खेती का होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यकता इस बात की है कि यहाँ के निवासी किसानों को सहकारी कृषि समितियों के निर्माण के लिये अधिक से अधिक उत्साहित करना चाहिये, राज्य को इस प्रकार की खेती के लिये आवश्यक साधन आदि इन किसानों को देने चाहिये। इस प्रकार थोड़े समय में भारतीय किसान सहकारिता के महत्व को समझ जायँगे, तथा हमारे कृषि की अनेक कुरीतियाँ दूर होने में सहायता मिल जायगी।

ऊपर जिन पद्धतियों या प्रणालियों का, सहकारिता के आधार पर कृषि करने की योजना का सुझाव रखा गया है, वे ऐसे नहीं हैं जिन्हें आसानी से कार्य रूप में परिणत न किया जा सके, इनके व्यावहारिक होने में कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार की खेती से कृषक के व्यक्तित्व का विकास हो

सकेगा। कृषि सहकारी समिति के पश्चात् या साथ ही साथ यदि बहुउद्देश्यवाली समितियों का भी गाँव में प्रचलन किया गया तो किसानों के सर्वांगीण जीवन के विकास में काफी सहायता प्राप्त हो सकेगी। आशा है निकट भविष्य में हमारा देश इस पद्धति को अपना कर आर्थिक उत्थान की ओर अग्रसित हो सकेगा।

संयुक्त ग्राम व्यवस्था (Joint Village Management)—इस समस्या को सुलझाने के लिए अभी हाल में एक और सुझाव रखा गया है—वह है संयुक्त व्यवस्था या प्रबन्ध वाले गाँवों की स्थापना। इस योजना का प्रारम्भ करने के लिए प्रत्येक जिले में कुछ गाँवों को संयुक्त प्रबन्ध पद्धति द्वारा व्यवस्थित करके देखा जा सकता है।

गाँवों के संयुक्त प्रबन्ध से हमारा तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से है, जिसके अनुसार प्रत्येक भू-स्वामी के भू-स्वामित्व सम्बन्धी अधिकारों को यो मान्य समझा जाता है किन्तु भू-स्वामीगण संयुक्त प्रबन्ध के लिये अपनी-अपनी भूमि को दे देते हैं। इस सिद्धान्त को और अच्छी तरह समझने के लिये मान लीजिये कि हमारे पास ६० एकड़ भूमि है। इस सारी भूमि के दस स्वामी है जिनमें से प्रत्येक के पास क्रमशः दो, चार, छै, आठ या इससे अधिक एकड़ भूमि है। समझ लीजिये कि इनमें से चार मालिक ऐसे हैं जो वृद्धावस्था या नौकरी आदि के कारण स्वयं खेती नहीं करते हैं। वर्त्तमान प्रचलित व्यवस्था के अनुसार ऐसे लोग अपने-अपने हिस्से की भूमि को गैर मौरूसी काश्तकार को दे देते हैं। परन्तु हम ऊपर यह देख चुके हैं कि यह व्यवस्था अनुपयुक्त है, इसलिये हम यह मान लें कि उस ६० एकड़ भूमि का उसके दसों स्वामी मिलकर प्रबन्ध करते हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप से उसका प्रबन्ध छै ही आदमियों के हाथ में है क्योंकि चार आदमी तो काम करने में असमर्थ ही हैं।

अब उस भूमि से होने वाली आय को दो भागों में बाँट लीजिये एक वह आय जो कि खेत में काम करने के कारण होती है और एक वह जो भू-स्वामित्व के अधिकार के कारण होती है। यही गैर मौरूसी काश्तकार तथा भू-स्वामी में अन्तर है जो कि एक ही भूमि से दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। भूमि का यह विभाजन या तो किस्त में किया जा सकता है या उसे नकदी का रूप दिया जा सकता है। साधारणतया यह व्यवस्था रिवाजी होती है परन्तु इसे कभी-कभी प्रतियोगिता द्वारा भी निश्चित किया जा सकता है। इसको और स्पष्ट करने के लिये समझ लीजिये कि उपज का गैर मौरूसी काश्तकार तथा भू-स्वामी में रिवाज के अनुसार बँटवारा आधा-आधा होता है। अच्छा अब वे छै व्यक्ति जो ६० एकड़ भूमि जोतते हैं, वे अपने परिश्रम के बदले में उपज का आधा भाग लेने के अधिकारी हैं और ये ही छै व्यक्ति अन्य चार व्यक्तियों के साथ मिलकर उपज के बचे हुए आधे भाग के लेने के अधिकारी हैं, उनका यह अधिकार उनके स्वामित्व के कारण है। यदि सुविधा की दृष्टि से इस ६० एकड़ भूमि को ६ इकाइयों में विभाजित कर दिया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार में १०-१० एकड़ भूमि आयेगी। तब प्रत्येक श्रम-कर्त्ता अपने हिस्से की उपज के आधे भाग को रख शेष अर्द्ध भाग को साधारण बांट के लिए छोड़ देगा। इस संयुक्त बंटाई फार्म से अपना लगान, व अन्य महसूल देगा तथा अन्य आवश्यक कार्यों में रुपया खर्च करेगा। इन सब कार्यों के बाद जो कुछ बचेगा उसे स्वामियों के लाभांश के रूप में उन दसों स्वामियों में विभक्त कर दिया जायगा। इस लाभांश का बँटवारा इस हिसाब से किया जायगा कि जितने मूल्य की भूमि उन स्वामियों ने अपनी अलग-अलग दी है, उसी हिसाब से उन्हें लाभांश मिल जायगा।

इस प्रकार की व्यवस्था से बड़े पैमाने पर खेती की जाना सम्भव तो होगा ही साथ ही प्रत्येक भू-स्वामी के भूमि सम्बन्धी अधिकारों पर भी कोई आक्षेप नहीं आयेगा। इस व्यवस्था में स्वामित्व का तात्पर्य यह नहीं होगा कि स्वामीगण लगान के बदले में अपने अधिकार को गैर मौरूसी काश्तकार को दे दें, या व्यर्थ में ही बिना किसी परिश्रम के भूमि से मनमाना लाभ उठाते रहें। संयुक्त

प्रबन्ध में समदाय (Equal Inheritance) के सिद्धान्तों का भी पूर्ण रूप से निर्वाहन होगा। किसी भी भू-स्वामी के पुत्रों का किसी विशेष भूमि-भाग में हिस्सा नहीं रहेगा, हाँ उन्हें स्वामियों के लाभांश के रूप में लाभ प्राप्त होगा। इसके अनुसार उनमें से प्रत्येक को संयुक्त प्रबन्ध वाले ग्राम में कार्य करने का अधिकार होगा।

ऐसी व्यवस्था वाले ग्रामों की प्रबन्धक समिति का कार्य विभिन्न कार्यों को विभिन्न श्रम-कर्त्ताओं में बाँटना तथा लाभांश का वितरण करना होगा। इस समिति में गाँव के प्रत्येक कुटुम्ब के प्रतिनिधि होंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त प्रबन्ध एक सहकारी समिति द्वारा या गाँव के प्रतिनिधियों की एक समिति द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार की सभी वैज्ञानिक कृषि की पद्धतियों में एक सबसे महत्वपूर्ण समस्या उठ खड़ी होगी वह होगी अतिरिक्त श्रम की। यह अतिरिक्त श्रम लगभग १५० या २०० लाख लोगों तक का हो सकता है। ऐसे सभी लोगों को काम दिलाने का प्रबन्ध करना होगा।

प्रारम्भिक अवस्था में कृषि-कार्य के वितरण के लिये प्राथमिकता उन्हीं लोगों को दी जायगी जो वास्तव में खेती के कार्य में लगे हुए हैं, और जो कृषि कार्य में काफी दक्ष हैं। बाद में ज्यों-ज्यों कृषि को यन्त्रों के द्वारा किया जायगा त्यों-त्यों यह भेद-भाव कम होता जायगा। इसके बाद जो लोग बचेंगे उन्हें फलों के बगीचों, दुग्धशालाओं, तरकारियों के बाड़ों तथा अन्य कार्यों में लगाया जायगा। कुछ लोग तो उन पेशों में ही लगे रहेंगे या लगा दिये जायेंगे जो अब भी गाँवों में प्रचलित हैं जैसे जूता बनाना, बढ़ईगीरी, लोहारी तथा कुम्हारी आदि। शेष व्यक्तियों को गाँव के बाहर वाले उद्योग-धन्धों में लगाने की व्यवस्था की जायगी।

इस प्रकार सब लोगों को काम दिलाने के लिए तथा बेकारी को पूर्ण रूप से दूर करने के लिए हमें अपने आर्थिक जीवन की उन तमाम श्रृंखलाओं में एक सूत्रता स्थापित करनी होगी। इस प्रकार की व्यवस्था के प्रचलन से पूर्व यह आवश्यक है कि राज्य तथा कृषक के बीच वाले मध्यस्थों जैसे जमींदारों या मालगुजारों आदि के वर्गों को समाप्त कर दिया जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सहकारिता के आधार पर हमारी संयुक्त ग्राम व्यवस्था हमारी बहुत सी ग्रामीण समस्याओं को हल कर ग्रामों का आर्थिक विकास करेगी।

आठवाँ परिच्छेद

कृषक तथा कृषि के साधन

कृषि का उत्थान अथवा पतन जहाँ कृषक की सामाजिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक स्थिति पर निर्भर करता है, वहाँ उसके कृषि करने के साधनों, मिट्टी की उर्वरता अथवा अनुर्वरता तथा खेतों की जोत की परिधि पर भी निर्भर होता है। इस परिच्छेद में हम भारतीय कृषक, उसके कृषि के साधन, भूमि की मिट्टी, खेती के औजार, बीज, खाद, पशु आदि पर विचार करेंगे।

भारतीय कृषक—कृषि के सम्बन्ध में बहुत कुछ प्रकाश पिछले पृष्ठों में डाला जा चुका है। अब हमें देखना है कि आखिर भारतीय कृषि का संचालक उसका नायक कौन व्यक्ति है, उसकी क्या स्थिति है, वह कैसे वातारण में, किन परिस्थितियों के मध्य में कार्य करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी देश की सम्पत्ति, किसी भी राष्ट्र का आर्थिक उत्थान केवल इस बात पर नहीं निर्भर करता कि उस देश के प्राकृतिक साधन कैसे हैं, वरन् यह बहुत कुछ वहाँ के लोगों की प्रतिभा, कार्यक्षमता, बुद्धिमत्ता साहस आदि बातों पर भी निर्भर करता है। चाहे कोई अपने प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से कितना ही सम्पन्न हो, परन्तु जब तक उस देश के निवासी उचित रूप से, उचित ढंग से उनका उपयोग नहीं करना जानते, जब तक उनमें साहस, लगान, आदि का अभाव रहेगा तब तक उस देश का आर्थिक या अन्य किसी प्रकार का भी उत्थान होना सम्भव नहीं। परन्तु किसी भी देश के निवासियों की कार्यक्षमता या कार्यकुशलता पर उसकी भौगोलिक परिस्थितियों, उसके वाह्य वातावरण का प्रभाव काफी पड़ता है। किसी भी देश के निवासियों के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की गतिविधि पर उसकी परिस्थितियों का काफी प्रभाव पड़ता है। भारतीय कृषक भी अपनी इन परिस्थितियों का दास रहा है।

आज जिन परिस्थितियों में साधारण भारतीय कृषक कृषि करता है, उनमें कृषि का विकास करना, उसकी उन्नति का प्रयत्न करना, उसकी व्यवस्था करना कोई सरल कार्य नहीं है। भारतीय कृषि की अवनति का मुख्य कारण हमारा किसान नहीं वरन् उसकी वे परिस्थितियाँ, उसका वह वातावरण है, जिसके अन्तर्गत वह कार्य करता है। जहाँ पर कि उसकी परिस्थितियाँ उसके अनुकूल हैं, वहाँ पर हमारा किसान कृषि में अच्छी उन्नति करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। परन्तु जहाँ पर ये परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं, जहाँ वर्षा उचित मात्रा में नहीं होती, या जहाँ पर भूमि स्वत्व की पद्धति अच्छी नहीं है, जहाँ पर इसके द्वारा किसान का काफी शोषण हुआ है, वहाँ पर हमारे किसान की दशा शोचनीय ही रही है। वहाँ उसकी अवस्था सदैव दयनीय रही है। कुल मिलाकर तो हमारी ग्रामीण जनता का मानसिक एवं भौतिक विकास अन्य सभ्य देशों की अपेक्षा कहीं गिरा हुआ है। उसके रहन-सहन का स्तर, उसका नैतिक विकास, उसकी सामाजिक स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा निम्न-कोटि की रही है।

हमारी इस ग्रामीण जनता के पिछड़े होने का कारण कुछ तो ऐतिहासिक, कुछ राजनैतिक तथा कुछ भौगोलिक एवं कुछ सामाजिक रहा है। इनमें से हर एक कारण एक दूसरे से पूर्णरूप से सम्बद्ध हैं।

आज किसान की जो दशा है, चाहे वह जिन कारणों के फल स्वरूप हुई हो किन्तु उसकी भीषणता का, भयंकरता का, उसकी दुरावस्था की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय किसान स्वास्थ्य तथा शक्ति आदि में ग्रेट ब्रिट्रेन तथा अमरीका के किसानों से कहीं नीचे

है। उसका शरीर कितनी ही छूत की बीमारियों का अड्डा बना रहता है। इन बीमारियों से मृत्यु संख्या में ही अधिकता नहीं होती वरन् इनका प्रभाव हमारे किसान की कार्यकुशलता तथा निपुणता पर भी बड़ा गहरा पड़ता है। जिन मनुष्यों का शरीर बीमारी का अड्डा बना रहता है, वे मनुष्य सुस्त, काहिल, निकम्मे तथा निराशावादी हो जाते हैं। अतः हमारे कृषक की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए उसके स्वास्थ्य आदि का उचित ध्यान रखना होगा। इस क्षेत्र में सरकारी जन स्वास्थ्य तथा चिकित्सा-विभाग काफी कार्य कर रहे हैं, किन्तु उनसे जितना लाभ नगरनिवासियों को होता है उतना ग्रामीणों को नहीं।

हमारी ग्रामीण जनता का एक महान अभिशाप उसकी अशिक्षा भी है। भारत में केवल ८ प्रतिशत व्यक्ति ही शिक्षित हैं, इनमें से अधिकांश नगरों में निवास करते हैं, जो लोग शिक्षित हैं भी, वे किताबी कीड़े होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उनकीशिक्षा का कोई विशेष व्यावहारिक लाभ नहीं है। हमारे कृषि-कालेजों ने भी कुछ अच्छे व्यावहारिक, उत्साही कृषकों के उत्पन्न करने में कोई सहायता नहीं दी है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमें ऐसी शिक्षा दी जाय जो व्यावहारिक हो जिससे ज्ञानवृद्धि के साथ ही साथ समाज का आर्थिक और नैतिक विकास भी हो सके।

यदि कृषकों के स्वास्थ्य का अच्छा प्रबन्ध कर दिया जाता है, हमारी ग्रामीण जनता का अधिकांश भाग शिक्षित हो जाता है, तो हमारे गाँव का सारा ढाँचा बदल जायगा। इसका प्रभाव हमारे गाँव के आर्थिक विकास में भी काफी गहरा पड़ेगा। आज का भारतीय किसान साधारणतया अशिक्षित, तथा भाग्यवादी होता है। उसमें उत्साह का अभाव रहता है, वह अपने रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करने की जरा भी चिन्ता नहीं करता। हमारा कृषक वर्ग कई अन्य सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों का घर बना हुआ है। यदि उसे मूल्यवृद्धि आदि के कारण से कुछ अधिक पैसा मिल जाता है तो वह इसे व्यर्थ में ही मुकदमेबाजी आदि में नष्ट कर देता है। कुछ भी हो, उसके अन्दर जो ये त्रुटियाँ हैं, उन्हें आसानी से दूर किया जा सकता है। परन्तु उसकी इन बुराइयों को दूर करने के लिए, उसके रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करने के लिए, उसकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए एक सुसंगठित तथा सुविचारित राष्ट्रीय योजना के निर्माण की आवश्कता है।

अभी हमारा किसान अपनी संकीर्ण विचारधारा के कारण कृषि आदि के नवीन यंत्रों के प्रयोग करने में आनाकानी करता है परन्तु हमें उसको इन चीजों के प्रति कृषि की आधुनिक प्रणालियों के प्रति विश्वास पैदा करना होगा। इस प्रकार हमें कृषकों को शिक्षा, संगठन, विज्ञान के आधुनिक कृषि साधनों आदि से पूरी सहायता करनी होगी क्योंकि यदि किसान के व्यक्तिगत साधन अच्छे नहीं रहेंगे तो उसकी भूमि में उसकी, उपज आदि में कोई विकास नहीं हो सकेगा। अब हम यहाँ कृषि के मुख्य साधन भूमि के विषय में विचार करते हैं।

भारतीय मिट्टी की समस्या—हम यह देख चुके हैं कि खेत के आर्थिक जोत का बिस्तार मिट्टी की उर्वराशक्ति पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। जहाँ की मिट्टी उपजाऊ है, वहाँ पर एक कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए छोटी आर्थिक जोत ही पर्याप्त होगी। जहाँ मिट्टी की उर्वराशक्ति कम होगी वहाँ पर इस प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकती। मिट्टी ऐसी होनी चाहिये जिसमें की जड़ों को पकड़ने की क्षमता हो साथ ही उसे इतना मुलायम होना चाहिये जिसमें पानी आसानी से आ जा सके। इसके अतिरिक्त उसमें उन रासायनिक पदार्थों का भी होना आवश्यक है जिनके कारण उत्पादन में अच्छी सहायता मिलती है।

भारत में विभिन्न प्रकार की पाई जाने वाली मिट्टी के विषय में हम द्वितीय परिच्छेद में प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम यहाँ पर उसकी अन्य बातों पर विचार करेंगे।

भारतीय मिट्टी के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि उसकी उर्वरा शक्ति घट रही है ? इस प्रश्न पर अर्थशास्त्र के विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। १८६३ में डा० वोयलक्ट ने अपने प्रतिवेदन में लिखा था कि 'भारत में भूमि की उर्वराशक्ति के घटने के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने बन्दोबस्त अधिकारियों के इस विश्वास की कि भारतीय मिट्टी की उर्वरता का ह्रास हो रहा है, भ्रमपूर्ण बतलाया।

इसके पैंतीस वर्ष पश्चात सन् १९२८ में कृषि पर नियुक्त शाही कृषि कमीशन ने लिखा था कि ऐसे प्रयोगात्मक तथ्य जो कि हमें उपलब्ध हैं उनसे इस बात का समर्थन होता है कि जब मिट्टी में हर साल फसल बोई जाती है और फसल काटने के पश्चात् जब उसमें खाद नहीं डाली जाती तो भूमि स्थिरता की स्थिति को पहुँच जाती है। इस प्रकार अब इस दिशा में एक सन्तुलन स्थापित हो गया है और भविष्य में मिट्टी की उर्वरता में और अधिक ह्रास होने की सम्भावना नहीं है।

इसके विपरीत बंगाल प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समिति ने १९३० में यह कहा था 'अच्छी खाद की कमी के कारण खेती की भूमि की उर्वराशक्ति धीरे-धीरे कम होती जा रही है, विभिन्न फसलों की पैदावार धीरे-धीरे कम हो रही है।' इस विचार को पुष्ट करने के लिए समिति ने निम्नलिखित आँकड़े भी प्रस्तुत किए थे :—

बंगाल में प्रति एकड़ औसत पैदावार (पौंड में)

	गेहूँ	चावल	चना	सरसों आदि
१९०६-०७	८०१	१,२३४	८८१	४९२
१९११-१२	८६१	९८३	८८१	४९२
१९१६-१७	६९८	१,०३६	८६७	४६०
१९२१-२२	६८८	१,०२९	८२६	४८५
१९२६-२७	७२१	१,०२२	८११	४८३
बीस वर्षों में ह्रास	८०	२१२	७०	९

डा० राधाकमल मुखर्जी उत्तर प्रदेश के गेहूँ के पैदावार के सम्बन्ध में भी यही कहते हैं। उनका कथन है कि उत्तर प्रदेश में गेहूँ की पैदावार में धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ आंकड़े भी दिए हैं। ये आंकड़े नीचे दिये जा रहे हैं :—

गेहूँ की प्रति एकड़ औसत पैदावार (पौंड में)

अकबर के समय में	१,५५५
१८२७-४० में	१,००० (सींची हुई)
	६२० (गैर सींची हुई)
१९१७-२१	१२८:० (सींची हुई)
	८४० (गैर सींची हुई)
१९३१	१००० (सींची हुई)
	९०० (गैर सींची हुई)

इसी प्रकार पंजाब सरकार के कृषि रासायनिक डा० लैन्डर ने कहा था कि पंजाब में कितनी ऐसी भूमि है जो कृषि के योग्य नहीं रही है और दिनोदिन इस प्रकार की भूमि का क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है।

१९३७ में सर जान रसेल ने लिखा था कि "·········मुझे कई बार ऐसी सूचनायें मिलीं कि भारत में चावल की फसलों में ह्रास हो रहा है। इस सम्बन्ध में कोई अच्छे आंकड़े प्राप्त नहीं हैं

अतः कौंसिल के लिए यह अच्छा होगा कि वह इस सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करे, अच्छे आंकड़े एकत्रित करे।"

भारत के कृषि सलाहकार ने शाही कृषि कमीशन के समक्ष अपने विचार उपस्थित करते हुये कहा था कि 'भारत में खेतीवाली अधिकांश भूमि शताब्दियों से जोती जा रही है, और अब वह इतनी निर्धन हो गई है कि इसके आगे उसके निर्धन होने की कोई सम्भावना नहीं।

१९३९ में मध्य प्रदेश तथा बरार के कृषि रासायनिक राव बहादुर बाल महोदय ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हुये कहा था कि भारतीय मिट्टी की उर्वरता नष्ट हो गई है, इससे फसलें अच्छी नहीं हो रही हैं।

इस प्रकार यद्यपि हमारे सन्मुख पर्याप्त आंकड़े नहीं है तो भी साधारणतया लोगों का ऐसा विचार है कि भारतीय मिट्टी की उर्वराशक्ति काफी क्षीण हो गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकाधिक भूमि पर कृषि करने के साथ ही साथ किसान ने अधिक खाद उत्पन्न कर मिट्टी को खाद देने की ओर ध्यान नहीं दिया। कृषि की भूमि की अधिकता तथा उसकी तुलना में खाद के अभाव के कारण भूमि की पैदावार कम हो गई है।

मिट्टी का विलीनीकरण (Soil Erosion)—मिट्टी की उर्वरता के नष्ट होने के अतिरिक्त भारत में भूमि सम्बन्धी एक और समस्या आ खड़ी हुई है, वह है मिट्टी का विलीनीकरण वा कटाव। यह विलीनीकरण हानिकारक खाद पदार्थों के आ जाने या पानी के एकत्रीकरण से होता है। पहाड़ियों पर अत्यधिक वर्षा या नदियों की बाढ़ के कारण, जल के तेज रूप से प्रवाहित होने के कारण, जल के तेज रूप से प्रवाहित होने के कारण, मिट्टी की ऊपरी सतह का बहुत कुछ अंश उसके साथ बहकर निकट जाता है। इस अंश में मिट्टी के बहुत से उपजाऊ तत्त्व भी बहकर समुद्र में मिल जाते हैं। इस प्रकार इससे बड़ी हानि होती है, इसका प्रभाव उत्पादन पर बहुत गहरा पड़ता है। यह भूमि का कटाव या विलीनीकरण दो प्रकार का होता है—एक सतह का कटाव (sheet erosion) तथा गहरा कटाव (Gulley Erosion)। इस दूसरे प्रकार के कटाव में गहरे नाले बन जाते हैं, सतह के कटाव में पानी मिट्टी की सतह को धीरे-धीरे बहा ले जाता है। इन दोनों प्रकार के कटावों से मिट्टी की उर्वरता पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। वैसे तो इसका यह कुप्रभाव तुरन्त ज्ञात नहीं होता किन्तु बाद में इससे बड़ी क्षति पहुँचती है।

इससे भारत के कई प्रान्तों में बहुत सी भूमि बेकार हो गई है। उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल तथा पंजाब के अम्बाला व होशियारपुर जिलों में इस प्रकार के जमीन के कटाव का बुरा प्रभाव पड़ा है। पर्वतीय प्रदेशों में मुसलाधार पानी बरसने के कारण बम्बई तथा छोटा नागपुर के दक्षिण जिलों में भी मिट्टी का विलीनीकरण हुआ है। उत्तर प्रदेश की कुल ६८० लाख एकड़ भूमि का ८० लाख एकड़ भाग इस प्रकार नष्ट हो गया है। पंजाब के होशियारपुर जिले में मिट्टी के विलीनीकरण के कारण १००,००० एकड़ भूमि कृषि के योग्य नहीं रह गई है।

मिट्टी के विलीनीकरण की समस्या भारत के लिए ही कोई नई समस्या नहीं है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि संयुक्त राज्य अमरीका में लगभग १७५ लाख एकड़ भूमि, जिस पर एक समय खेती होती थी, पानी के गहरे कटाव से नष्ट हो गई है। वहाँ केवल १९४८ में विलीनीकरण से लगभग पाँच लाख एकड़ भूमि नष्ट हो गई परन्तु वहाँ पर भूमि की रक्षा के उपायों द्वारा उसकी उर्वराशक्ति में वृद्धि की जाती है। आज से कुछ वर्षों पूर्व भारत सरकार ने अमरीका के कृषि विभाग के प्रसिद्ध कृषि विशेषज्ञ डा० शुहर्ट को यहाँ आमंत्रित किया था, उनके अनुरोध पर यहाँ के वैज्ञानिकों का एक दल मिट्टी सम्बन्धी स्थिति का अध्ययन करने के लिए अमरीका गया था। यह दल १९४८ में वापस आया तब से राज्यों की सरकारें मिट्टी के विलीनीकरण को रोकने के लिये योजनायें कार्यान्वित

कर रही हैं। इस प्रकार की योजनायें उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि स्थानों में कार्यान्वित की जा रही है।

मिट्टी का विलीनीकरण मुख्य रूप से निम्नलिखित कारणों से होता है :—

(१) वृक्षों या बनों के काटे जाने से;

(२) वनस्पतियों आदि के हटा दिये जाने से, इससे वर्षा तथा वायु को खुला रास्ता मिल जाता है;

(३) भेड़-बकरियों आदि के अधाधुन्धी चरने के कारण, इससे भूमि का नग्नीकरण हो जाता है;

(४) पहाड़ी ढालों पर कृषि करने से।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त कारणों से मिट्टी का विलीनीकरण होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर यह विलीनीकरण दूर कैसे किया जाय ?' मिट्टी के इस विलीनीकरण को दूर करने के लिए इन्हीं कारणों के प्रतिरोध का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, बाँध नालियाँ आदि बनाकर वर्षा के प्रवाह को नियंत्रित कर, वृक्षारोपण कर, पशुओं के अंधाधुंधी चरने को नियंत्रित कर तथा भूमि के उपादेयकरण को करके हम इस रोग से छुटकारा पा सकते हैं।

पहाड़ी ढालों पर कुछ-कुछ फासले पर नालियां के खोदने से भी इस दिशा में कुछ रुकावट होती है। ऐसा करने से पानी का तेज प्रवाह अवरोधित हो करके बीच में ही समाप्त हो जाता है। इन नालों में यदि घास तथा पौधे आदि उगा दिये जायँ तो इससे भी काफी सहायता मिल सकती है। पानी को नीचे बहने से रोकने के लिए कृषक लोग बाँध बना कर भी विलीनीकरण को रोक सकते हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार वर्षा के दिनों में भूमि को एक प्रकार की गुद्देदार फली से ढककर विलीनीकरण को रोकने का प्रयत्न कर रही है। इस फली से भूमि की उर्वरा शक्ति में भी वृद्धि होगी। पंजाब सरकार ने मिट्टी के विलीनी करण को रोकने के लिए एक 'एन्टी इरोजन डिपार्टमेन्ट' खोला है। पंजाब में इस प्रकार का कानून भी है कि कुछ ऋतुओं में भूमि पर जानवरों के चरने को बन्द कर दिया जाता है। इसी प्रकार के प्रयत्न अन्य राज्यों की सरकारें भी कर रहीं हैं। आशा है कि निकट भविष्य में हम इस प्रकार से नष्ट होंने वाली भूमि को रोकने के समर्थ हो सकेंगे।

खाद—(Manures) पीछे कहा जा चुका है कि भारत में विभिन्न प्रकार की मिट्टी पाई जाती है साथ ही साथ यहाँ का जलवायु भी विभिन्न प्रकार का है। इस प्रकार विभिन्न जलवायु तथा मिट्टी की अनेकता के कारण भारत में प्रायः सभी प्रकार की फसलें बोई जा सकती हैं। किन्तु भारतीय मिट्टियों में नत्रजन (Nitrogen) तथा फासफेट आदि की बहुत कमी है। साथ ही हमारी भूमि की उर्वरा शक्ति भी कम होती जा रही है। अतः इस शक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, तथा देश की मिट्टी के इन कुछ आवश्यक अभावों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है, भूमि को अच्छी खाद दी जाय। इस प्रकार खाद की समस्या कृषि के लिए बड़े महत्व की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि किसी भी किसान को जल तथा खाद दे दीजिए तो वह पत्थर पर भी अच्छी पैदावार कर लेगा। प्राचीन काल में किसान प्रायः पशुओं की खाद या कूड़े-करकट की खाद से ही अपना काम चलाया करता था किन्तु वर्त्तमान काल में इस दिशा में भी काफी खोज की गई है, कई प्रकार की उपयोगी खादों का प्रयोग होने लगा है। अतः हम यहाँ पर इन्हीं खादों पर विचार करेंगे।

पशुओं की खाद—इस खाद के अन्तर्गत पशुओं का गोबर तथा मूत्रादि आता है। परन्तु हमारे किसान इन दोनों वस्तुओं का उपयोग नहीं करते। पशुओं के मूत्र को तो यों ही नष्ट हो जाने दिया जाता है और गोबर से उपली आदि बनाकर जलाने का काम ले लिया जाता है। जलाने के

लिए किसानों को अन्य सामग्री नहीं मिलती, इसलिए घरों में इसी का अधिक प्रयोग होता है। आवश्यकता इस बात की है कि किसान को गोबर आदि की खाद को बचाने के लिए कहा जाय, उसको इसका महत्व बतलाया जाय। जलाने की लकड़ी के लिए गांवों में नहरों आदि के किनारों पर अधिक से अधिक वृक्षों को लगाया जाय। गाँव का कूड़ा-ककरट, गोबर, पेशाब, चारा, घास या पत्ती आदि को सुरक्षित रखने के लिए गढ़े आदि खोद दिए जाएँ। इन्ही गढ़ों में इन सबको सुरक्षित रखा जाय। भारत में लगभग २,००० लाख पशु हैं। इनसे हमें पर्याप्त मात्रा में गोबर तथा उनका मूत्र प्राप्त हो सकता है। इससे हमें उपज में बड़ी सहायता मिल सकती है। भारतीय मिट्टी में बनस्पति तथा नत्रजन बहुत कम हैं। यदि हम पशुओं द्वारा मिलने वाली इस खाद तथा उनके मूत्र का उचित प्रयोग करें तो उससे हमें काफी लाभ मिल सकेगा।

आवश्यकता इस बात की है कि हम पशुओं की खाद की ओर अपना अच्छा ध्यान दें, गोबर को जलाकर नष्ट न करें तथा पशुओं के मूत्र को भी व्यर्थ में न बह जाने दें। पशुओं के मूत्र को सुरक्षित रखने के लिए भी हमें व्यवस्था करनी चाहिए यदि हम अपने देश के इन पशुओं के मूत्र को सुरक्षित रख लेंगे तो इससे हमें करीब ३० लाख टन नत्रजन मिल जायगा जो कि हमें मिट्टी की उर्वरता में वृद्धि करने में काफी सहायता देगा।

अभी तक जो प्रयोग हुए हैं उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि पशुओं से मिलने वाली खाद के प्रयोग से उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है। इसका कुछ परिचय नीचे दी हुई तालिका से मिल जायगा:-

फसल का नाम	प्रयोग	प्रति एकड़ औसत पैदावार (पौंड में)
कपास	बिना खाद के	३१८
	पशुओं की खाद द्वारा (ढाई टन प्रति एकड़ में)	५३२
ज्वार	बिना खाद के	६८०
	पशुओं की खाद द्वारा (ढाई टन प्रति एकड़ में)	७७६
धान	बिना खाद के	६६२
	पशुओं की खाद द्वारा (४०००-८००० पौंड प्रति एकड़)	१,६२३

कम्पोस्ट (Compsots)--कम्पोस्ट खाद तमाम प्रकार की सड़ी गली वस्तुओं तरकारी आदि से तैयार की जाती है। चीन में वनस्पति तथा इसी प्रकार की कुछ अन्य वस्तुओं से यह खाद तैयार की जाती है। गांवों में रहने वाले २७५० लाख आदमियों से हमें ५ करोड़ टन अच्छी खाद मिल सकती है।

मल की खाद (Night Soil)—अभी तक भारतवर्ष में मल की खाद का उपयोग बहुत कम हुआ है। इसको गाँवों में बहुत कम लोग छूना पसन्द करते है। हाँ शहरों में तरकारी आदि बोने में इसका उपयोग किया जाने लगा है। गाँवों में तो यह समय यह खाद बिल्कुल ही नष्ट हो रही है, कारण कि वहाँ के लोग घरों के बाहर इधर-उधर पाखाने जाते हैं जिससे वह एक जगह एकत्र नहीं हो पाता। यदि गाँवों में सार्वजनिक शौच कूप (Pit Latrines) बना दिये जावें तो इससे गाँवों को कुछ खाद तो मिल ही जायगी साथ ही गाँव की गन्दगी के भी दूर होने में काफी सहायता मिलेगी। अब बड़े-बड़े नगरों में मल एकत्रित कर गाँवों को भेजा जाने लगा है। यह काम

अभी सब नगरों में नहीं हुआ है। अभी हाल में मद्रास, बम्बई तथा पंजाब राज्यों ने इस प्रकार का कानून बनाया है जिससे नगर पालिकाओं को यह कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकेगा। परन्तु इससे केवल उन्हीं गाँवों को लाभ मिल सकेगा जो कि नगरों के समीप हैं।

जिन नगरों में गटर हैं उनके द्वारा ५००० लाख गैलन मल की खाद तथा दो लाख टन कीचड़ की खाद प्रति दिन प्राप्त हो सकती है। ऐसी आशा की जाती है कि १९५१ के प्रारम्भ तक लगभग आधी मल की खाद का प्रयोग उत्पादन में किया जा सकेगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यदि हम खाद का अच्छी तरह प्रयोग किया गया तो खाद्यान्न के उत्पादन में लगभग ३० लाख टन की वृद्धि होगी। भारत सरकार ने कम्पोस्ट के उत्पादन के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति भी की है।

हरी खाद (Green manures)—भारतीय कृषक हरी खाद की उपयोगिता में भली-भाँति परिचित है। कुछ पौधे ऐसे होते हैं जिन्हें उत्पन्न करके उन्हें खेत में ही जोतकर मिला देने से खेत उपजाऊ हो जाता है। ढैंचा, सन, मूंगफली, ज्वार आदि कुछ ऐसी ही फसलें हैं। किन्तु यह खाद तभी उपयोगी हो सकती है जब कि भूमि में नमी हो। वास्तव में हरी खाद पृथ्वी की उर्वरता को स्थाई रखने के लिए काफी आवश्यक है। इसके प्रयोग से पृथ्वी में स्थित नत्रजन आदि में वृद्धि होती है। हरी खाद के प्रयोग से मिट्टी के विलीनीकरण में भी रुकावट होती है। इसके अतिरिक्त इससे हल्की मिट्टी के पानी ग्रहण करने की शक्ति में भी वृद्धि होती है।

अभी तक जो प्रयोग हुए हैं उनसे यह पता चला है कि हरी खाद से फसल की पैदावार में अच्छी वृद्धि हुई है। भारत सरकार हरी खाद वाले पौधों के बीजों को मुफ्त में बाँटकर, इस प्रकार की खाद उत्पन्न करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित कर रही है।

खली की खाद (Oil cakes)—खली से भी बहुत अच्छी खाद तैयार की जाती है। किन्तु भारत से प्रति वर्ष लगभग चौदह करोड़ रुपए का तिलहन विदेशों को भेज दिया जाता है। यदि यहाँ पर उस सबका तेल बनाया जाने लगे तो खली जानवरों के खाने में भी प्रयुक्त होने लगे तथा इससे खाद भी बनाई जा सके। सरकार को इस दिशा में भी यथेष्ट ध्यान देना चाहिए।

रासायनिक खाद (Chemical Manures)—भारत में रासायनिक खाद तैयार करने के लिए पर्याप्त साधन प्राप्त नहीं है। इस प्रकार की खाद अमोनिया सलफेट तथा नाइट्रेट आदि से तैयार की जाती है। इन कृत्रिम खादों का आजकल भारत में काफी प्रयोग हो रहा है, परन्तु इसका अधिकांश भाग विदेशों से ही मंगाया जाता है, क्योंकि भारत में यह यथेष्ट मात्रा में नहीं उत्पन्न की जाती। हम यहाँ १९३९ में आने वाली खादों के कुछ आंकड़े दे रहे हैं। इससे हमें यह पता चल जायगा कि हम विदेशों से कितनी मात्रा में ये खाद मंगाते हैं।

आयात (खाद का)

	टन	मूल्य (रुपयों में)
सोडा नाइट्रेट	२,१३७	२,२३,८९१
अमोनिया सल्फेट	१७,७४८	८२,९९,१२६
म्यूरियट आफ पोटाश	१,८२९	१,८२,६०६
सुपर फास्फेट	२,५६९	३,९५,१६६
मछली की खाद	२,३,४९	७२,५३८
अन्य खाद	७०३२	७,७८,७५७
योग	९९,४५२	१०५,१७,३७४

इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशों में हम काफी मात्रा में ये खादें मंगा रहे हैं। ये खादें अन्य खादों की अपेक्षा काफी मंहगी हैं।

आमोनिया सल्फेट का मूल्य इतना अधिक है कि फलों और गन्ने की फसल को छोड़कर अन्य किसी फसल के लिये इसका उपयोग लाभदायक नहीं हो सकता। यही कारण है कि किसान लोग इसका उपयोग बहुत कम करते हैं। जो खाद हम विदेशों से अभी मंगा रहे हैं उनका अधिकांश यहाँ चाय के बगीचों में काम आ जाता है, भारतीय किसान उसका प्रयोग बहुत ही सीमित दशाओं में करता है।

१९४९-५० में ४ लाख टन अमोनिया सल्फेट के आयात करने का सरकार ने विचार किया था। इसके अतिरिक्त देश में भी ट्रावनकोर में ८०,००० टन अमोनिया सलफेट की खाद तैयार करने का विचार किया गया है। बिहार में धनबाद के निकट सिंदरी नामक स्थान में सरकार ने एक कारखाना खोला है, जिसमें १९५१ तक ३५०,००० टन अमोनिया सलफेट के तैयार करने का विचार किया गया है। ऐसी आशा की जाती है कि निकट भविष्य में भारत अपनी आवश्यकता भर के लिए रासायनिक खाद उत्पन्न करने में समर्थ हो सकेगा।

मछली की खाद (Fish Manures)—मछली की खाद बहुत उपयोगी होती है। परन्तु भारत में मछली इतनी अधिक मात्रा में नहीं मिलती कि उसका खाद के लिए उपयोग हो सके। हाँ, मदरास तथा बम्बई के समुद्र तट के निकटवर्ती प्रदेशों में यह आसानी से प्राप्त होती है। इसलिए इसका उपयोग इस प्रदेश के निकटवर्ती क्षेत्रों में आसानी से हो सकता है। देश के अन्य भागों में मछली का उपयोग खाद के रूप में सुगम नहीं है।

हड्डी की खाद—भारत में मृत-पशुओं की हड्डी की खाद का प्रयोग बहुत कम किया जाता है, इसका कारण यहाँ के लोगों की धार्मिक कट्टरता तथा दकियानूसी विचार धारा है। हड्डी की खाद के प्रयोग में एक और बाधा है, वह यह कि यहाँ पर हड्डियों के एकत्रित करने तथा उसके पाउडर बनाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, इसलिए वह सस्ते मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में प्राप्त भी नहीं होती। भारत से लगभग एक करोड़ रुपये से कुछ कम की हड्डी तथा उसका चूरा विदेशों को चला जाता है। जिस भूमि में फासफेट की कमी होती है, वहाँ पर हड्डी की खाद बहुत उपयोगी होती है। हड्डी की खाद फलों तथा सब्जियों के लिए बहुत उपयोगी होती है।

उपरोक्त खादों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार से भी खाद तैयार की जाती है, परन्तु अभी भारत में विदेशों से काफी मात्रा में खाद मंगाई जा रही है। भारत में खाद समस्या हल करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि हमें कौन सी खाद किस फसल के लिए अच्छी तथा उपयोगी होगी, इस विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त करें दूसरे हमें किसानों को जो बहुत सी गोबर आदि की खाद को बर्बाद कर देते हैं, उसकी उनको उपयोगिता समझा कर उस खाद को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करें। हमें इस दिशा में काफी कार्य करने की जरूरत है।

खेती के औजार—(Agriculturel Implemnets) अच्छी कृषि के लिए जहाँ मिट्टी की उर्वरता तथा अच्छी खाद की आवश्यकता होती है, वहाँ अच्छे औजारों का भी काफी महत्व है। आज भारत में जिन औजारों का प्रयोग होता चला जा रहा है, वे अत्यन्त प्रचीन हैं, उनमें कोई अच्छा सुधार नहीं हुआ है जिससे कृषि में उनके द्वारा अच्छी सहायता मिल सके। आज के भारतीय किसान के औजार खुरपी, हल, हँसिया इत्यादि वे ही हैं जिन्हें आज से हजारों वर्ष पूर्व का कृषक प्रयोग करता था। इतने समय के बीत जाने पर भी अभी उनमें कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। वैसे तो भारतीय कृषि तथा कृषक की परिस्थितियों के अनुसार उसके ये औजार भी अनुकूल

हैं। जैसी अभी यहाँ की परिस्थितियाँ हैं उनके अनुसार किसान के ये औजार काफी सुविधाजनक हैं। सबसे पहले तो ये औजार इतने मूल्यवान नहीं होते जितने कि आजकल के नवीन वैज्ञानिक कृषि यंत्र, दूसरे इन्हें आसानी से प्राप्त भी किया जा सकता है, उनके बनाने में कोई विशेष परेशानी नहीं उठानी पड़ती, टूट या बिगड़ जाने पर उनकी आसानी से मरम्मत भी की जा सकती है, उन्हें-सरलता से एक स्थान से दूसरे स्थान को ले भी जाया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय परिस्थितियों की दृष्टि से ये औजार हमारे किसान के लिए कोई असुविधाजनक नहीं हैं। परन्तु आधुनिक दृष्टिकोण से इन औजारों में कई दोष भी हैं जिनके कारण कृषि के उत्पादन में वृद्धि करना सुगम नहीं। जब तक इन दोषों को दूर कर, या इनके स्थान पर नवीन कृषि-यंत्रों का उपयोग नहीं किया जाता तब तक उत्पादन में विशेष वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती।

हमारे कृषि-विभाग ने भारतीय कृषक के औजारों के विकास के लिए कई प्रकार के नवीन सुधार उपस्थित किए हैं। इस विभाग ने कुछ नवीन औजार भी निर्मित किए हैं—जैसे लोहे का हल, गन्ने के रस निकालने की मशीन, पानी निकालने की मशीनें, चारा काटने की मशीन, तथा फावड़े आदि। गन्ने के रस को पकाने की भी उत्तम विधि अपनाई गई है। किन्तु कुल मिलाकर अभी नवीन औजारों का उतना प्रयोग नहीं होता जितना प्राचीन औजारों का। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १६३७-३८ में, लगभग ३२० लाख हलों का प्रयोग हुआ जिनमें नवीन प्रकार के हलों में से केवल ६,७१६ ही खरीदे गए। इन नवीन हलों के इतने कम प्रयोग करने के मुख्य कारण किसान की दकियानूसी विचारधारा तथा लकड़ी के हलों की अपेक्षा लोहे के हलों का मँहगा होना है। इन्हीं कारणों से लोहे के हलों का प्रयोग केवल सरकारी फार्मों में ही अधिक हुआ, किसानों ने उनका प्रयोग कम किया है। लोहे के हलों के प्रयोग करने के सम्बन्ध में एक और कठिनाई है, वह यह कि इनकी मरम्मत के लिए गांवों में विशेष सुविधा नहीं है। इन हलों को किसान आसानी से अपने कंधे पर लाद कर भी नहीं ले जा सकता। इसके अतिरिक्त इन हलों द्वारा जमीन गहरी जुत सकती है, जमीन के गहराई तक खुद जाने से उसके नीचे से चूना आदि ऊपर आ सकता है जिससे जमीन की नमी को हानि पहुँच सकती है। गहरी जुताई से खाद भी काफी परिमाण में लगती है। चावल की खेती के लिये जितनी सुविधा लकड़ी के हल को प्रयोग करने में है उतनी लोहे के में नहीं। इसी प्रकार की कुछ कठिनाइयाँ अन्य नवीन औजारों के प्रयोग करने में हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमें अपनी कृषि के विकास करने के लिए अच्छे और नवीन औजारों की जरूरत है किन्तु हमें इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि ये अच्छे औजार तथा यंत्रादि इतने बहुमूल्य न हों जिससे हमारा किसान उन्हें आसानी से न खरीद सके। दूसरे वे ऐसे भी न होने चाहिए कि जिनकी मरम्मत गाँव में आसानी से न हो सके जिनके लिए किसानों को शहरों को ही दौड़ना पड़े, जिसमें उनको व्यय के साथ ही साथ परेशानी भी उठानी पड़े। तीसरे इन औजारों का वजन भी अधिक नहीं होना चाहिए जिससे किसान उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को सुगमता से न ले जा सके।

इन सुधारों को आगे रखकर के ही हमें कृषि के नवीन यंत्रों तथा औजारों आदि का प्रयोग करना है।

यह तो रही छोटे-छोटे औजारों तथा यंत्रों की बात। अब हमें देखना है कि भारत में कृषि के बड़े-बड़े यंत्रों जैसे ट्रैक्टर, हार्वेस्टर आदि का कहाँ तक प्रयोग किया जा सकता है। हम भारतीय भूमि की समस्या का अध्ययन करते समय पीछे कह चुके हैं कि भारत की भूमि टुकड़े-टुकड़ों में विभक्त है, एक किसान की खेत की एक छोटी जोत यहाँ है तो दूसरी वहाँ और तीसरी उससे भी कुछ दूर। अतः बड़े यंत्रों के प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा इन खेतों का छोटा-छोटा होना है। जब तक हम अपनी

इन जोतों को आर्थिक जोतों में नहीं परिवर्तित करते अथवा गाँवों में सम्मिलित खेती की व्यवस्था नहीं होती, या सहकारिता के आधार पर कृषि नहीं की जाती तब तक इन बड़े-बड़े यंत्रों का प्रयोग सम्भव नहीं है। अतएव बड़े-बड़े कृषि यन्त्रों के प्रयोग के लिए पहले हमें उनके अनुकूल परिस्थिति बनानी होगी।

अभी हाल में स्वतन्त्र भारत की सरकार ने ट्रैक्टरों आदि बड़े कृषि यन्त्रों के प्रयोग के लिए एक ट्रैक्टर विभाग खोला है जिसके द्वारा इन बड़े यन्त्रों की सहायता से कृषि के उत्पादन में वृद्धि की जा सके। विभिन्न राज्यों की सरकारें भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। ये अपने-अपने प्रदेशों में खेती के योग्य भूमि के क्षेत्रफल को बढ़ाने में लगी हुई हैं, जो भूमि बेकार पड़ी है, जिसमें खेती करना सम्भव नहीं है, उसका उपादेयकरण किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त अब कई राज्यों में मालगुजारी, तालुकेदारी, जमींदारी आदि के उन्मूलन तथा नदियों की कई बहुमुखी योजनाओं से खेतों की बड़ी-बड़ी जोतें स्थापित की जायँगी, सहकारिता के आधार पर कृषि की व्यवस्था की जायगी, अतएव इन क्षेत्रों में निसन्देह ट्रैक्टर आदि का अच्छा उपयोग हो सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैङ्क ने भारत को ३७५ बड़े-बड़े ट्रैक्टर खरीदने के लिए, जिनके द्वारा भूमि का अच्छा उपादेयकरण हो सकेगा, १०० लाख डालर ऋण के रूप में स्वीकृत किए हैं। इन ट्रैक्टरों में से बहुत से ट्रैक्टर उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पूर्वी पंजाब, मध्य भारत तथा भोपाल आदि राज्यों में आ गए हैं। ऐसी आशा की जाती है कि इनसे १९५१ तक लगभग ९ लाख एकड़ भूमि का उपादेयकरण हो जायगा। इसके पश्चात् इन क्षेत्रों में सहकारी कृषि समितियों (Co-operative Farming Societies) की स्थापना की जायगी। इस प्रकार निकट भविष्य में भारत की कृषि की दशा के सुधारने तथा, खाद्योत्पादन बढ़ाने में काफी सुविधा हो जायगी।

अच्छे बीजों की व्यवस्था—हमने ऊपर अच्छी कृषि के लिए औजारों के अच्छे होने के सम्बन्ध में प्रकाश डाला परन्तु अच्छे औजारों के केवल प्रयोग या प्रचलनमात्र से ही हमारी खेती की सारी समस्या हल नहीं हो जायगी। अच्छी तथा उत्तम खेती के लिए, अच्छे औजारों के साथ ही साथ उत्तम बीजों तथा अच्छे पशुओं की भी आवश्यकता होगी। अतः हम यहां पर भारतीय अच्छे बीजों के प्रश्न पर विचार करेंगे। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यदि खेती में अच्छे बीजों का प्रयोग होने लगे तो हम उत्पादन में दस से लेकर बीस प्रतिशत तक की वृद्धि केवल बीजों के ही सहारे कर सकते हैं।

आज का किसान अपनी खेती की उन्नति के लिए अच्छे बीजों का भी प्रयोग नहीं कर पाता। साधारणतया किसान बीज साहूकार या महाजन से लेता है क्योंकि प्रायः किसानों की स्थिति इतनी अच्छी नहीं रहती कि वे अगले वर्ष के लिए बढ़िया बीज रख छोड़ें। वह तो जितना एक वर्ष में, या एक फसल में उत्पन्न करता है, सब की सब खर्च कर डालता है, अगले साल के लिए उसके पास कुछ नहीं बचता। अतः वह महाजन या साहूकारों से बोने के लिए सूद पर बीज उधार लेते हैं। ये महाजन या साहूकार किसान को, ड्योढ़े या सवाये पर बीज उधार देते हैं, जो कि फसल कटने के बाद उन्हें मिल जाता है। अतः महाजन इस बात की चिन्ता नहीं करता, वह यह ध्यान नहीं रखता कि किसान को बोने के लिए शुद्ध तथा उत्तम बीज दे, उसे तो केवल अपने लाभ का, अपने सूद का ध्यान रहता है। इस प्रकार बीजों के अच्छे न होने के कारण, उनकी मिलावट के कारण उसका प्रभाव फसल पर पड़ता है। इससे फसल उत्तम नहीं होती, दूसरे अशुद्ध तथा उत्तम बीज न होने के कारण फसल में कीड़े आदि भी लग जाते हैं जिससे किसान को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। इससे महाजन के बीज में शुद्धता का इसलिए भी अभाव रहता है कि उसके पास तो कई किसानों का बीज आता है, जिसमें सभी प्रकार का अच्छा-बुरा बीज सम्मिलित होता है। इस प्रकार लगातार एक ही प्रकार

का बीज बोने से, उसे मिलाकर लापरवाही से रखने से बीज के खराब होने के साथ ही साथ फसल भी खराब होने लगती है। ऐसे बीज में अच्छी फसल उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं रहती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय कृषि की अवनति में अच्छे बीजों के न होने ने भी अपना हाथ बँटाया है। अतएव कृषि की उन्नति के लिए हमें उत्तम बीज की भी व्यवस्था करनी होगी।

उत्तम प्रकार के बीज उत्पन्न करने के लिए मुख्य तीन विधियाँ हैं :—

(१) चुनाव द्वारा—(By Selection)

(२) दो बीजों के मिलाने या संसर्ग से (By Hybridisation) तथा

(३) विदेशी पौधे को अपनी जलवायु के अनुकूल बनाने से (By Acclimatisation)

उपरोक्त तीनों विधियों में से पहले प्रकार के उपाय से, अर्थात् चुनाव द्वारा बीज उत्पन्न करने में सबसे अधिक सुविधा होती है तथा इसके परिणाम का भी बहुत जल्दी पता चलता है। दूसरे प्रकार की विधि से बीज उत्पन्न करने में अधिक समय लगता है। भारत की परिस्थितियों के अनुसार यहाँ पर पहले प्रकार की चुनाव की विधि ही अधिक उपयुक्त होगी। परन्तु बीज को एक ही बार सुधार देने से काम नहीं चलेगा इस दिशा में हमें सदैव सावधान रहना होगा क्योंकि एक ही प्रकार का बीज सदैव एक ही प्रकार का उत्तम फल नहीं उत्पन्न करेगा।

अभी थोड़े दिनों से हमारे देश के विभिन्न राज्यों के कृषि विभाग ने किसानों को अच्छे बीज देने की दिशा में काफी कार्य किया है जिसके परिणामस्वरूप कुछ अच्छी श्रेणी के गेहूँ तथा चावल का उपयोग हो सका है। अब भारतीय किसान भी उत्तम बीज के महत्व को अच्छी तरह समझ गया है। सरकारी फार्म (Govt. Agricultural Farms) अच्छे से अच्छे बीज उत्पन्न करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। इन सबके परिणामस्वरूप अच्छे बीजों से बोई जाने वाली भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। यह बात नीचे दी हुई तालिका से और स्पष्ट हो जायगी :—

(दस लाख एकड़ में)

फसल	कुल एकड़ भूमि	उत्तम बीजों वाली भूमि का आसत	प्रतिशत
गन्ना	४.००	३.२२	८० प्रतिशत
जूट	२.१८	१.१२	५० ,,
कपास	२६.००	५.०४	१६.२ ,,
चावल	८३.५३	३.५८	४.३ ,,
मूँगफली	५.८६	०.२२	३.४ ,,
गेहूँ	३३.६१	६.६६	२०.६ ,,

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तम बीजों का प्रयोग कुछ मुख्य फसलों में ही हुआ है, वह भी कोई विशेष नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे कृषकों को सरकार उत्तम बीजों के प्रयोग की महत्ता को बतलावे, उन्हें उत्तम से उत्तम बीज दे। साथ ही किसानों को भी यह चाहिये कि अपने-आप उत्तम बीज उत्पन्न करने का प्रयत्न करें जिससे अच्छी से अच्छी फसलें उत्पन्न हो सकें।

फसलों के रोगों का नियंत्रण—उत्तम बीजों की समस्या के साथ ही साथ फसलों या पौधों की हानिकारक बीमारियों को रोकने का भी विशेष महत्त्व है। कुछ बीज तो ऐसे होते हैं जिनके बोने से फसलों की बीमारियों पर काफी रुकावट हो जाती है।

सब फसलों में से गन्ने की फसल को इस प्रकार के रोग से बड़ी हानि पहुँची है। १६३७ के आँकड़ों से यह पता चलता है कि कुल गन्ना जो बिहार के शकर के कारखानों के भेजा गया उसमें

से ३७ से लेकर ५३ प्रतिशत गन्ना रोग ग्रस्त था, जब कि १६३६ में केवल २० से लेकर ३५ % तक ही गन्ना रोगी था। यह अनुमान किया जाता है कि भारत में उत्पादन का १० से लेकर २० प्रतिशत तक इन बीमारियों, कीड़े-मकोड़ों, जंगली पशुओं आदि से नष्ट हो जाता है। इस प्रकार हमारे उत्पादन का खासा अच्छा भाग व्यर्थ में ही नष्ट हो जाता है, उसका कोई उपयोग नहीं हो पाता। इस प्रकार अपनी फसलों को उनके इन शत्रुओं से बचाने के लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये।

फसलों को नष्ट होने से बचाने के लिये हमें मुख्य रूप से इन बातों का ध्यान रखना चाहियेः—

(१) सबसे पहले तो हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि यदि एक स्थान में बीमारी फैल रही है तो ऐसी व्यवस्था की जाय कि यह बीमारी दूसरी जगह न फैले।

(२) यदि एक स्थान या क्षेत्र में रोग फैल जाता है तो हमें उस क्षेत्र से उसको मुक्त करने के लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

(३) फसलों को कीड़े-मकोड़ों आदि से रक्षा करने के लिए पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिये।

(४) जंगली पशुओं से भी फसलों की रक्षा के लिए अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए।

जहाँ तक पौधों के बीमारी फैलने का प्रश्न है, उसके लिये हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि बीमारी एक स्थान में फैल जाती है तो उस स्थान के रोगी पौधों को एक राज्य से दूसरे राज्य में भेजना बन्दकर दिया जाय। इसके लिए सरकार ने एक 'इन्सेक्ट्स एन्ड पेस्ट्स एक्ट' भी बना दिया है। इस कानून के द्वारा स्वस्थ पौधे ही एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को भेजे जा सकते हैं। यदि बीमारी एक ही क्षेत्र के अन्तर्गत फैल जाती है तो इस कानून के अनुसार उस रोग को दूर करनेवाली विधियों का निर्माण किया जा सकता है, और रोग का दमन हो सकता है।

यदि किसी क्षेत्र में रोग पूरी तरह से फैल जाता है तो उसके लिए इस बात का प्रबन्ध किया जाना चाहिये कि रासायनिक पदार्थों के द्वारा उन रोग फैलाने वाले कीड़ों को नष्ट कर दिया जाय, दूसरे खेत की जोत तथा मिट्टी आदि में परिवर्त्तन कर ऐसे बीजों को बोया जाय जिन पर उन कीड़ों का प्रभाव न पड़े।

इन रोग फैलाने वाले कीड़ों के अतिरिक्त टिड्डियों आदि से भी फसल को बड़ी क्षति पहुँचती है। टिड्डियों से भी बचने के लिये हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए सरकार कुछ विशेष व्यक्तियों को शिक्षित कर इस कार्य के लिए नियुक्त करती है। कीड़े-मकोड़ों तथा टिड्डियों के अतिरिक्त जंगली पशुओं से भी फसल को काफी हानि उठानी पड़ती है। इसके लिये यह आवश्यकता है कि ग्रामीणों को बन्दूकों के लाइसेन्स दिए जायँ जिससे वे बन्दूकों की आवाज से ऐसे पशुओं को डरा कर भगा दें। जब अन्न भण्डारों में जमाकर लिया जाता है तो वहाँ पर चूहों का भय रहता है। इसके लिए जहाँ तक हो सके सीमेन्ट के गोदाम बनाए जायँ और उनमें समय-समय पर डी० डी० टी० छिड़क दिया जाया करे।

किसान के पशु (Live Stock)—भूमि के अतिरिक्त, कृषि के साधनों में किसान के ढोर या पशु आदि का भी बड़ा महत्त्व है। किसान को खेतों के जोतने में, माल ढोने आदि में उसको उसके इन्हीं पशुओं से सहायता मिलती है। खेतों की जोत छोटी-छोटी होने के कारण भारतीय किसान कृषि के बड़े-बड़े यंत्रों का प्रयोग नहीं कर सकता, अतः उसे खेत जोतने के लिये, सिंचाई करने के लिये, खाद तथा पैदावार को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोने के लिए पशुओं या किसान के ढोरों का महत्त्व काफी बड़ा है।

इसके अतिरिक्त भारत जैसे शाकाहारी देश में इन पशुओं का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यहाँ की अधिकांश जनता मांसाहारी नहीं है, यदि उसे दूध और घी भी न मिले, तो इससे बुरा दुर्भाग्य और किसका हो सकता है। इसलिए हमारे इन पशुओं से दूध-घी का एक बहुत बड़ा सहारा

मिलता है। ये पशु जीवित रहने पर दूध, घी, खाद, उपली आदि तो देते ही हैं, मरने के पश्चात् भी इनके शरीर की बहुत सी ऐसी वस्तुएँ जैसे खाल, हड्डी, बाल आदि हमारे काम में आ जाती हैं।

इस प्रकार भारतीय किसान के आर्थिक जीवन में पशुओं का मुख्य रूप से गाय और बैलों का बड़ा महत्त्व है। संसार के अधिकांश भाग में पशुओं का उपयोग केवल भोजन तथा दूध आदि के लिये ही होता है, वहाँ इनसे खेती के कार्यों में कोई काम नहीं लिया जाता। प्राचीनकाल में इन देशों में खेती आदि के कार्यों के लिये घोड़ों का प्रयोग होता था, अब आजकल घोड़ों का स्थान मशीनों ने ले लिया है किन्तु भारत में पशुओं का उपयोग दूध-घी इत्यादि के लिये तो होता ही है साथ ही उनसे खेती में भी बड़ी सहायता मिलती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में पशुओं का बड़ा उपयोग होता है, वे बड़े लाभदायक हैं, उनका हमारे आर्थिक जीवन में बड़ा महत्त्व है परन्तु इन सब बातों के साथ ही साथ हमारे सन्मुख पशुओं की समस्या ने अपना एक असुविधाजनक रूप धारण कर लिया है। सबसे पहले तो ये पशु संख्या में इतने अधिक हैं कि आर्थिक दृष्टि से इतनी अधिक संख्या भारत के लिये उपयुक्त नहीं है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि स्वतंत्र भारत के क्षेत्रफल के अन्तर्गत १९४० में १७८० लाख पशु थे जब कि १९४५ में १७७० लाख ढोर ही रह गए इस प्रकार इस बीच में दस लाख पशु कम हो गए। इस समय में भेड़ बकरी तथा अन्य पशुओं की संख्या में भी भारी कमी हुई।

मोटे तौर पर यहाँ प्रति सौ एकड़ फसलों वाली भूमि में लगभग १०० पशु थे। हालैण्ड में जहाँ दूध आदि का धन्धा काफी उन्नतावस्था में है वहाँ प्रति सौ एकड़ भूमि में ३८ पशु तथा ईजिप्ट में २५ पशु हैं। इस प्रकार भारत में अन्य देशों की अपेक्षा पशुओं की संख्या काफी है। परन्तु, इस इतनी विशाल संख्या में सब के सब पशु हमारे उपयोग में नहीं आते, उपयोग में आने वाली पशुओं की संख्या केवल ५५० लाख है। इस प्रकार जो हाल हमारी मनुष्यों की विशाल संख्या का है, वही पशुओं का भी है। हमारे मनुष्यों की भाँति पशु भी क्षीण और हीन दशा में हैं।

जिस तरह मनुष्यों की जनसंख्या अधिक होने के कई कारण हैं, उसी तरह पशुओं की संख्या के भी अधिक होने के कई कारण हैं। सर्वप्रथम यहाँ हिन्दुओं में पशुओं के न मारने की भावना इतनी प्रबल है कि वे उन्हें चाहे चारा-पानी न दे सकें, उनकी इस प्रकार चाहे मृत्यु हो जाय परन्तु वे अपने हाथ से अनुपयोगी से अनुपयोगी पशु को मारना पाप समझते है, धर्म के विरूद्ध समझते हैं। दूसरे हमारे पशु इतने अकुशल होते हैं, वे इतने निर्बल होते हैं कि किसान को कई पशु रखने होते हैं जिससे उसका काम आसानी से चल सके। अधिक संख्या रखने का एक यह भी कारण होता है कि पशुओं की मृत्यु संख्या अधिक है। शाही कृषि कमीशन ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि एक जिले के अन्तर्गत पशुओं की संख्या इस बात पर निर्भर रहेगी कि वहाँ पर कितने बैलों की मांग है। बैलों की यह मांग जितनी भी अधिक होगी उतनी ही अधिक पशुओं की संख्या होगी। उत्तम पशुओं के पालने की जितनी ही बुरी परिस्थितियाँ होंगी, उनकी नस्ल जितनी बुरी होगी पशुओं की संख्या उतनी ही अधिक होगी।

भारत में पशुओं के अन्य देशों की तुलना में अशक्त तथा हीन होने के कई कारण हैं। सबसे पहले तो इन पशुओं का पालन-पोषण ही बहुत बुरा होता है, इसके बाद पशुओं को पर्याप्त भोजन नहीं मिल पाता तीसरे ये पशु अनेक बीमारियों के शिकार हुए रहते हैं, हर गाँव में इनके इलाज की कोई विशेष सुविधा नहीं होती, इसलिए बीमारी के कारण ये अत्यन्त हीनावस्था को पहुँच जाते हैं। इन सब कारणों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। इन्हीं सब बातों से हमारे अशु अन्य देशों की अपेक्षा

निर्बल तथा हीन रहते हैं। दूसरे देशों की अपेक्षा इन पशुओं की कार्य-शक्ति भी बहुत कम है। यहाँ साधारण गाय और बैल इतने निर्बल और छोटे होते हैं कि अब वे किसी काम के नहीं रहे। यहाँ साधारण गाय दिन में डेढ़ सेर दूध देती है। जब कि डेनमार्क में साधारण गाय अठारह सेर से कम दूध नहीं देती। सोलह सेर से कम दूध देने वाली गाय का डेनमार्क में पालना लाभदायक नहीं समझा जाता, अतः उसे मांस के कारखाने में भेज दिया जाता है। भारत में बैलों की नस्ल इतनी बिगड़ गई है, वे इतने छोटे और अशक्ति होने लगे हैं कि भारी हल तथा खेती के अन्य नए यन्त्रों को खींच ही नहीं पाते, हाँ शाईवाल, हरियाना, पंजाब के 'थरारकर', सिंध का सिंधी, गुजरात का कांकटेज, काठियावाड़ का गिर, मदरास का आंगलो, उत्तरप्रदेश का पंवार मध्य प्रदेश का गोलो तथा मध्य-भारत के मातवी बैल कुछ अच्छी नस्ल के हैं। यही हाल गायों का भी है यमुना पार के प्रदेशों, पंजाब के हिसार, हरियाना, मांटगोमरी, शाईवाल, सिंध तथा काठियावाड़ की गायों को छोड़ कर अन्य प्रदेशों की गायें अच्छी नस्ल की नहीं होतीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में पशुओं की नस्ल काफी बिगड़ गई है। उनकी इस हीनावस्था के मुख्य कारण जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं निम्नलिखित हैं—चारे का अभाव, गाय-बैलों के नस्ल को अच्छा बनाने की व्यवस्था का अभाव, उनका रोग ग्रस्त होना। अब हम यहाँ पर इन पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे।

(२) चारे का अभाव—हम पीछे कह चुके हैं कि एक समय भारत की जनसंख्या काफी कम थी, खेती पर लोगों का भार अधिक नहीं रहता था, उस समय पशुओं के लिए चरागाहों की भी काफी सुविधा थी। परन्तु ज्यों-ज्यों जनसंख्या का घनत्व बढ़ता गया पशुओं के लिए चारे का अभाव होता गया, चरागाह खेतों में परिवर्तित कर दिए जाने लगे। चरागाह तो कम हो ही गए, किन्तु इधर हमारे किसान ने भी पशुओं के पालने में, उनके पोषण में कोई विशेष ध्यान न दिया। इस प्रकार हमारे पशुओं को हीनावस्था में पहुँचाने पर मुख्यतया दो बातों ने हाथ बँटाया है एक तो चरागाहों के नष्ट हो जाने ने, दूसरे कृषक की असावधानी पूर्ण पालन-पोषण की पद्धति ने।

आज कितनी ही गायें जो दूध देने लायक नहीं रहतीं, या वे गायें जिनका थोड़े समय के लिए दूध देना बन्द हो जाता है, तथा कुछ वे पशु जो कृषि के काम लायक नहीं रहते, उनके चारे आदि की कोई विशेष चिन्ता नहीं की जाती। उन्हें अपने आप ही इधर-उधर से पेट भरने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार कितने ही पशु आधे पेट या भूखे रह जाते हैं। इस समस्या का हल मुख्य रूप से तीन उपायों द्वारा हो सकता है एक तो ऐसे पशु जो बेकार या अत्यन्त अशक्त हैं, उनकी संख्या में कमी की जाय, दूसरे उनके पालन-पोषण की उचित व्यवस्था की जाय, तीसरे उनके लिए चारे का उचित प्रबन्ध किया जाय। इस दिशा में किसानों को चारे की भी अच्छी व्यवस्था करने की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे चाहिए कि पशुओं को वह चरागाहों में घास चराने की अपेक्षा उसे काट कर घर पर खिलावे, ज्वार, बाजरा आदि का साइलेज बनावे, क्लोवर आदि घासों का उत्पादन करे। हमारे कृषि विभाग चारे की समस्या को हल करने के लिए बड़े प्रयत्नशील हैं। किसानों तथा इन कृषि-विभागों के सम्मिलित सहयोग से हम अपनी चारे की समस्या को आसानी से हल कर सकते हैं, और पशुओं को अशक्त तथा आधे पेट रहने से बचा सकते हैं।

पशुओं की अच्छी नस्ल—हम ऊपर कह चुके हैं कि यहाँ पर जो पशु हैं उनकी नस्ल अच्छी नहीं। इसलिए केवल चारे की व्यवस्था कर देने से ही हमारा काम नहीं चलेगा, हमें पशुओं की नस्ल को भी सुधारना होगा। हमारी गायें खुले रूप में चरागाहों में चरने के लिए चली जाती हैं, वहाँ उनका इस प्रकार के सांड़ों का जिनमें से अधिकांश अशक्त और क्षीण होते हैं सम्बन्ध हो जाता है।

इस समय भारत में लगभग ५० लाख इसी प्रकार के सांड़ हैं जब कि यहाँ केवल दस लाख सांड़ों से ही आसानी से काम चल सकता है। इस प्रकार के सांड़ों की अधिकता का कारण हिन्दुओं की धार्मिक प्रथा है। पहले हिन्दू लोग मृत व्यक्ति के लिए एक सांड़ खरीदकर उसे छुट्टा छोड़ देते थे, ये सांड़ प्रायः अच्छी कोटि के होते थे, इससे इनका पशुओं की नस्ल पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता था किन्तु अब तो लोग यह काम केवल पुण्य कमाने के लिए ही करते हैं, अतएव कमजोर तथा सस्ता सांड़ ही छोड़ देते हैं। इस प्रकार देश में कितने ही अशक्त सांड़ हो गए हैं, जिनका हमारे गाय-बैलों की नस्ल पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

आवश्यकता इस बात की है कि इन रद्दी सांड़ों को दूर किया जाय। दूसरे इस बात की व्यवस्था कर दी जाय कि अब कोई भी व्यक्ति धर्म के लिए इस प्रकार के अशक्त, दुर्बल सांड़ों को न छोड़ें, केवल स्वस्थ तथा अच्छे सांड़ों को ही छोड़ने दिया जाय। बिना अच्छे सांड़ों के गाय और बैलों की नस्ल नहीं सुधर सकती। उधर गायों के लिए भी यह प्रबन्ध किया जाय कि केवल अच्छी श्रेणी की उत्तम गायें ही नस्ल पैदा कर सकें।

हमारे देश के पशु तथा कृषि विभाग इस ओर काफी प्रयत्नशील हैं। हमारे जिला बोर्डों को सस्ते दामों पर सरकार द्वारा अच्छे नस्ल के सांड़ों के मिलने की व्यवस्था हो गई है। आशा है निकट भविष्य में हमारे देश में उच्च कोटि के पशुओं का मिलना सम्भव हो जायगा।

पशुओं के रोग—भारत में पशुओं की एक बहुत बड़ी संख्या कई दूषित बीमारियों का शिकार होकर काल ग्रास बन जाती है। इन बीमारियों में से रिन्डर-पेस्ट (Rinderpest) जो कि जानवरों का एक प्रकार का प्लेग होता है, जहरबाद (Septiceamia) तथा मुंह और पैरों की बीमारियाँ मुख्य हैं। इनमें से अधिकांश छूत की बीमारियाँ हैं और जब ये फैलती हैं तो अग्नि की लपटों की तरह सैकड़ों और हजारों पशुओं का नष्ट कर देती हैं। इन बीमारियों का मुख्य कारण स्वच्छता का अभाव, उनके निवास स्थान का गन्दा होना, तथा एक ही तालाब या पोखरे के बंधे हुए पानी का पीना है।

इन रोगों को दूर करने तथा रोकने के उपायों का प्रयत्न करना आवश्यक है। भारत सरकार द्वारा इन रोगों के दूर करने के उपायों का अन्वेषण हो रहा है, इस दिशा में काफी सफलता भी प्राप्त की जा चुकी है। हमारे किसानों को भी इस दिशा में बड़े सतर्क रहने की आवश्यकता है। छूत के रोग के फैलने पर किसानों को फौरन ही अपने पशुओं को टीका लगवाना चाहिए। गाँवों में ऐसे टीकों के लगाने की उचित व्यवस्था होनी चाहिये। अब ग्राम पंचायतों से इस दिशा में काफी सहायता मिल सकती है।

अभी हमारे देश में पशु चिकित्सालयों का काफी अभाव है। जो थोड़े-बहुत पशु चिकित्सालय हैं भी वे कुछ नगरों तथा कुछ बड़े-बड़े कस्बों में ही हैं। इसलिए उनसे गांवों की अधिकांश जनता को कोई विशेष लाभ नहीं हो पाता। आवश्यकता इस बात की है कि इस बात की व्यवस्था की जाय कि पशु चिकित्सा की सेवाओं का लाभ हमारे प्रत्येक गाँव को प्राप्त हो सके। प्रत्येक दस अथवा बीस गाँवों के बीच एक पशु चिकित्सक रखा जाय, इसके अतिरिक्त कुछ चलते फिरते पशु-चिकित्सालयों के प्रबन्ध की आवश्यकता है। गांव के पाठशालाओं, पटवारियों तथा ग्राम पंचायत के अधिकारियों को पशु की मुख्य तथा साधारण बीमारियों के इलाज का उपाय बतलाया जाय, उन्हें सीरम आदि के टीका लगाने का भी ज्ञान दिया जाय।

इस प्रकार ग्राम निवासियों तथा सरकार के सम्मिलित प्रयत्न से हम अपने पशुओं की स्थिति को अच्छा करने में सफल हो सकते हैं।

नवाँ परिच्छेद

कृषि श्रमजीवी

भारतीय कृषि, कृषक एवं उसके कृषि-साधनों के विषय में पीछे प्रकाश डाल चुके हैं। हमने देखा कि भारत की ७० प्रतिशत जनता इस धन्धे में लगी है, किन्तु जनसंख्या के इतने विशाल भाग के लगने के बावजूद भी भारतीय कृषि की दशा कोई अच्छी नहीं है, यहाँ इतना भी उत्पादन नहीं होता जिससे यहाँ के निवासियों को पेट भर भोजन मिल जाय, हमें अपनी खाद्य समस्या की गम्भीरता का आए दिन अनुभव होता रहता है, हम विदेशों से लाखों टन अन्न मंगाया करते हैं। उत्पादन अच्छा न होने के साथ ही साथ हमारे कृषकों का रहन-सहन का स्तर भी कोई अच्छा नहीं है। कृषि-श्रमजीवियों या देहाती मजदूर जो कृषि में लगे हुए हैं उनकी भी दशा अच्छी नहीं है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, कि हमारी कृषि तथा उससे सम्बन्धित कृषक एवं कृषि श्रमजीवी सभी की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इन कृषि श्रमजीवियों की दशा तो सम्भवतः अन्य सभी श्रमिकों से कहीं गई बीती है। इस परिच्छेद में हम इन्हीं खेत मजदूरों या कृषि श्रमजीवियों के विषय में विचार करेंगे।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत में सौ काश्तकारों के मध्य में २५ श्रमजीवी रहते हैं। ये कृषि-श्रमजीवी अत्यन्त हीनावस्था में हैं। इनका कोई भी ऐसा संगठन नहीं है जिससे वे अपनी स्थिति दूसरों के सामने रख सकें। फलस्वरूप बहुत कम ऐसे लोग हैं, जिन्हें इनकी दशा का वास्तविक ज्ञान है। भारत सरकार ने भी अभी तक अपना जो ध्यान दिया है, वह औद्योगिक श्रमिकों की ओर ही दिया है, इनकी उपेक्षा ही की गई है। अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार इस दिशा में कुछ कार्य कर रही है। अब इस ओर बिना यथेष्ट ध्यान दिए हुए कृषि सुधार की किसी भी योजना के सफलता की आशा करना व्यर्थ है। कांग्रेस भी इस समस्या के महत्व से भली-भाँति परिचित है, उसने कृषि श्रमजीवियों की स्थिति की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त की थी, इस समिति ने अपने प्रतिवेदन में कई आवश्यक सुझाव रखे हैं और सरकार के सन्मुख उपस्थित किए हैं।

हमारे ये कृषि श्रमजीवी संतोषी, परिश्रमी और सहनशील होते हैं। इनमें से किसी-किसी के पास बहुधा कुछ अपनी भूमि होती है, परन्तु वह इतनी नहीं होती जिससे उसका पूरा निर्वाह हो सके। अतः वह साधारणतया इसे अपने स्वामी की भूमि के साथ ही जोतता है। उसकी औरतें खेतों में निराई, कटाई आदि का कार्य करतीं, ईंधन बेचतीं, गोबर के उपले या कण्डे थापतीं, कपास लोढ़तीं, सूत कातती और दूसरे काम करती हैं। इस प्रकार कृषि श्रमजीवी का ध्यान कोई एक ही ओर न रहकर कई ओर रहता है।

कृषि श्रमजीवी के भेद—ऐसा अनुमान किया गया है कि भारत में कुल १६०० लाख काम करने वाली जनता में जिसमें कि काश्तकार, छोटे भूमिधर आदि सम्मिलित हैं ६८० लाख कृषि-श्रमजीवी हैं। यह बड़े दुःख की बात है कि श्रमजीवियों की इतने विशाल वर्ग के विकास की ओर अभी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। श्रमजीवियों की इस संख्या में दिनोंदिन वृद्धि होती चली जा रही है, यह और भी चिन्ता की बात है। इस वृद्धि का परिचय मदरास राज्य के इन आंकड़ों से और लग जायगा :—

ऐसे भू-स्वामी जो स्वयं कृषि करते हैं	१९०१ ४८४	१९३२ ३९०	प्रति १००० व्यक्तियों में
कृषि श्रमजीवी	३४५	४२६	

मदरास राज्य के इन आंकड़ों से हमें पता चल जाता है कि श्रमजीवियों की संख्या में कोई कमी नहीं हो रही है, उल्टे उसमें वृद्धि ही हुई है। इस प्रकार इस श्रमिक वर्ग की समस्या का महत्व और भी बढ़ जाता है। सुविधा की दृष्टि से हम इन श्रमजीवियों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :- (१) खेत-मजदूर जैसे हरवाहे, फसल काटनेवाले इत्यादि, (२) साधारण मजदूर जो अन्य छोटे-मोटे कार्य करते हैं, (३) कुशल श्रमजीवी या मजदूर जो राजगीरी, बढ़ईगिरी, लोहारी आदि का कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त चौथी श्रेणी के एक वे श्रमजीवी भी हो सकते हैं जिनके पास बहुत थोड़ी सी भूमि होती है जो उनके जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं होती अतः वे समय-समय पर कुछ और काम-धन्धा कर लिया करते हैं। इसके पश्चात् एक प्रकार के वे लोग भी होते हैं जो स्थाई पट्टे पर भूमि लेते फिर उसमें खेती करते हैं। वे अपने स्वामियों से फसल में कुछ साझा कर लेते हैं। भूमि में प्रतियोगिता होने के परिणामस्वरूप उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय रहती है।

इनका पारिश्रमिक अथवा मजदूरी—(Wages) हमें अन्य आंकड़ों की भांति इन श्रमजीवियों की मजदूरी के आंकड़ों को भी प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई है। हमें इस संबन्ध में कोई अनिश्चित तथा पूर्ण रूप से सही आंकड़े प्राप्त नहीं हैं। इस दिशा में डा० राधा कमल मुकर्जी ने आंकड़े एकत्रित करने में अच्छा प्रयत्न किया है। खेत मजदूरों को मजदूरी प्रायः अन्नादि के रूप में ही प्राप्त होती है। उनका फसल में कुछ हिस्सा रहता है, यह हिस्सा भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग अलग है। द्वितीय महायुद्ध के कारण वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाने के कारण कृषि श्रमजीवी को काफी संकट का सामना करना पड़ा है। अभी हाल में की गई जांचों से यह पता चला है कि इन श्रमजीवियों का यह पारिश्रमिक जो इन्हें किस्म के रूप में मिलता है उसकी दर का ठीक-ठीक पता लगाना सम्भव नहीं, हाँ जहाँ इन्हें मजदूरी नकदी में मिलती है, उसकी दर नीचे दी जा रही है :—

बम्बई	१९४४	पुरुष	१० आने से १ रुपया तक प्रति दिवस
पंजाब (अविभाजित)	१९४५	,,	१३ आने से १५ आने तक प्रति दिवस
मद्रास	१९४६	,,	१२ आने ७ पाई से १५ आने १ पाई तक प्रति दिवस.
		स्त्री	८ आने ११ पाई से ९ आने, २ पाई तक प्रति दिवस
उत्तर प्रदेश	१९४४		गेहूँ उत्पन्न करने वाले क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में ४६ रु० से १८२ रु० तक प्रति वर्ष, गेहूं वाले प्रदेश में अधिकतम ३५५ रु० प्रति वर्ष
पश्चिमी बंगाल	१९४५	पुरुष	९ आने से १५ आने तक प्रति दिन
अजमेर मेरवाड़ा	१९४८	पुरुष	१ रु० ४ आने से १ रु० ८ आने तक प्रति दिन
		स्त्री	१४ आने से १ रु० ४ आने तक प्रति दिन
		बच्चा	१० आने से १ रु० तक प्रति दिन
मध्य प्रदेश	१९५१	पुरुष	३५ रु० से ४० रु० तक प्रति माह

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न राज्यों में मजदूरी की दर अलग-अलग है, दर के भिन्न होने के साथ ही साथ इस मजदूरी के देने की पद्धतियाँ भी एक सी नहीं है। कहीं सालाना मजदूरी देने की प्रथा है तो कहीं मौसमी, कहीं महीने में तो कहीं नित्य। दूसरे कहीं पर मजदूरी किस्म में दी जाती

है तो कहीं कीमत में। इसके अतिरिक्त इन मजदूरों को समय-समय पर कपड़े लत्ते आदि विवाह, जन्म आदि के समय पर कुछ अन्य सामान आदि मिलता रहता है। इस प्रकार कृषि श्रमजीवियों की मजदूरी का सही-सही निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं।

कम से कम मजदूरी का कानून (१९४८)—इस कानून के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि इस कानून की घोषणा के समय से तीन वर्ष के अन्दर में सब राज्यों की सरकारें अपने-अपने राज्यों में के कृषि-श्रमजीवियों की मजदूरी की दर निश्चित कर देगी। युद्ध के समय में अच्छे कृषकों को तो मूल्य-वृद्धि के कारण काफी लाभ हुआ किन्तु इन कृषि श्रमजीवियों की आर्थिक स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ, कुछ दशाओं में तो उनकी दशा बिगड़ी ही हैं। अतएव सरकार ने यह आवश्यक समझा कि मजदूरों की दैनिक मजदूरी की कम से कम दर निश्चित कर दी जाय। यह दर वहाँ के अन्य श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर तथा वहाँ के रहने आदि के व्यय के अनुसार निश्चित की जायगी। अतएव १९४९ में कृषि-श्रमजीवियों की स्थिति की जाँच के लिये एक समिति नियुक्त की गई जिसने लगभग २,००० गावों में मजदूरों की स्थिति की जाँच-पड़ताल की। अभी यह जाँच चल रही है, आशा है इस वर्ष के अन्त तक यह काम पूरा हो जायगा, तभी कम से कम मजदूरी का कानून भी बनना संभव हो सकेगा। कृषि सुधार समिति ने यह सुझाव पेश किया है कि मजदूरी की कम से कम दर निश्चित करने के लिए बोर्डों की स्थापना की जाय। इन बोर्डों को कृषि श्रमजीवियों तथा किसानों के रहन-सहन के स्तर आदि का खूब अध्ययन कर इस दिशा में कार्य करना चाहिए।

हम ऊपर इन कृषि श्रमजीवियों के पारिश्रमिक सम्बन्धी आंकड़ों के एकत्रित करने की कठिनाइयों के विषय में विचार कर चुके हैं। भारत में इस विषय में विशेष जानकारी के लिये और भी कई कठिनाइयाँ हैं। सबसे पहले तो यहाँ के कृषि-श्रमजीवी पूर्णरूप से असंगठित हैं, लाखों गाँवों में वे इस प्रकार बिखरे हुए हैं कि उनकी समस्याओं का आसानी से अध्ययन करना मुश्किल है। इस प्रकार यह समस्या और भी कठिन हो जाती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि हमारा सबसे पहला काम यह होना चाहिये कि कृषि के धन्धे को हम एक अच्छा आर्थिक धन्धा बना लें, उसको अन्य उद्योग-धन्धों के समान स्तर पर लाने का प्रयत्न करें और तब इसमें काम करने वाले श्रमिकों का ऐसा संगठन किया जाय जिससे उनकी माँगें उनके स्वामियों के सम्मुख रखी जा सकें तथा उनकी पूर्त्ति हो सके। बिना इन श्रमिकों के संगठन के इनकी मजदूरी की दरों का निश्चय करना सम्भव नहीं है। भारत जैसे निधन देश में यदि इनकी दशा सुधारने के लिये, बिना इनकी समस्याओं का ठीक से अध्ययन किये हुये, किसी भी साधारण उपाय के द्वारा कृषि श्रमजीवी की स्थिति का हल नहीं हो सकता। भारतीय श्रम संगठन (I. L. O.) ने यह सुझाव रखा है कि भारत में जितना जो कार्य करे, जो श्रम करे उसी के हिसाब से उसका पारिश्रमिक निश्चित किया जाय, स्त्री-पुरुषों को समान वेतन मिले उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव न रखा जाय।

काम के घंटों का नियंत्रण—जिस प्रकार इन श्रमजीवियों की मजदूरी में अलग-अलग अन्तर है, उसी प्रकार इनके काम के घंटे भी विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग हैं।

साधारणतया कृषि-श्रमजीवी पूरे साल कार्य नहीं करता, परन्तु जब वह काम करता है तो उसके काम के घंटे काफी होते हैं। औद्योगिक श्रमिकों के काम के घंटे तो उनके संगठन के बल पर निश्चित किए जा चुके हैं परन्तु कृषि-श्रमजीवी को जिसके कि फसल के बोने तथा काटने के समय काम के घंटे अधिक रहते हैं। उनकी स्थिति ठीक करने के लिये इस प्रकार की कोई सुविधा प्रदान करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया। कृषि-सुधार समिति का ऐसा विचार है कि इनके काम के

घंटे पुरुषों के लिये १२ घंटे से तथा स्त्रियों के लिये १० घंटे से अधिक न होना चाहिये। यदि आठ घंटे से अधिक काम लिया जाय तो उन्हें कुछ अधिक मजदूरी दी जाय। इस सम्बन्ध में किसी निश्चित नियम का लागू करना तो मुश्किल है किन्तु यदि एक बार किसी प्रथा या अभिसमय का प्रचलन हो गया तो वह हमेशा चलेगा।

कृषि-श्रमजीवी और दास वृत्ति—ये तो उन कृषि श्रमजीवियों के सम्बन्ध की बात हुई जिन्हें उनके परिश्रम के बदले में कुछ न कुछ पारिश्रमिक मिल जाता है, चाहे यह पारिश्रमिक नकदी में मिले या अन्नादि के रूप में। इनके अतिरिक्त कृषि-श्रमजीवियों की एक ऐसी भी श्रेणी है जिन्हें कभी भी नकदी में कुछ भी नहीं मिलता और जिनकी स्थिति दास या गुलामों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। अन्य कृषि श्रमजीवियों की अपेक्षा इनकी दशा अत्यन्त दयनीय है।

ये खेतिहर दासवृत्ति भारत के उन भागों में अधिकांश रूप से प्रचलित है जहाँ पर कि पददलित जातियाँ-तथा आदिवासी निवास करते हैं। इस प्रकार बम्बई, मदरास, मालाबार, कोचीन, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, छोटा नागपुर जहाँ पर कि आदिवासियों की संख्या अत्यधिक है, वहाँ पर कृषि श्रमजीवियों की स्थिति ठीक दासों की भाँति है।

एक सरकारी प्रतिवेदन में ऐसे श्रमिकों की स्थिति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि जब कोई श्रमजीवी आवश्यकता के कारण थोड़ा सा ऋण लेता है तो वह ऋणदाता की जन्म भर सेवा करने के लिये बँध जाता है। वह ऋण चुकाया नहीं जाता, और वह ऋण कर्त्ता श्रमजीवी जीवन भर ऋणदाता का दास बना रहता है। इस प्रकार देश के कितने ही भागों में एक ऐसा कृषि श्रम-जीवी वर्ग खड़ा हो गया है जिसकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय है। गुजरात के हाली, दक्षिण बिहार के कैमुली, उत्तरी बिहार के जनौरी, उड़ीसा के गोठी व चाकर तामिलनाद के पन्नल पथीराम, आन्ध्र में गासी गुल्लू, हैदराबाद के बघेला, अवध के सनकाक, मध्यभारत के हरवाहा, मध्यप्रदेश के शलकाटी व बड़सलिया ऐसे ही श्रमजीवी वर्ग हैं।

बम्बई प्रदेश में ये लोग दुबला तथा कुली के नाम से जाने जाते हैं। ये लोग अपने स्वामियों के घर में गुलामों की तरह पीढ़ी दर पीढ़ी से काम करते चले आ रहे हैं। इनके खाने कपड़े का प्रबन्ध इनके स्वामी करते हैं। मदरास में ऐसे लोगों को पहियाल कहते हैं। ये लोग अपने भू-स्वामियों से ऋण लिये हुए रहते हैं; उनका यह ऋण कभी अदा नहीं होता और वह पीढ़ियों तक चलता रहता है। मदरास में इन पहियालों की मजदूरी किस्म में दी जाती जो कि मूल्य में करीब ३।||) प्रतिमास के हिसाब से पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं गुलाम श्रमजीवी प्रायः सारे भारत में फैले हुये हैं। इस संबंध में कुछ लोगों ने काफी छान-बीन भी की है किन्तु इनकी दशा सुधारने के लिये अभी कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ है। व्यावहारिक रूप से ये लोग अपने स्वामियों द्वारा खरीद से, लिये जाते हैं। आमतौर से उन्हें थोड़ा सा राशन मिलता है जो उनके पेट भरने के लिये पर्याप्त नहीं होता। कुछ जगहों में तो ये श्रमजीवी पशुओं के गोबर में पड़े हुये अन्न के दानों को निकाल, उसे धोकर प्रयोग में लाते हैं जब कि गोबर उनके स्वामियों के काम आता है। इनमें से कुछ श्रमजीवी भीख माँग कर अपना पेट भरते हैं। इनसे इनके स्वामी अनेक प्रकार की बेगार लेते रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं इस श्रमजीवी वर्ग की दशा तो अत्यन्त ही शोचनीय है। अब देश स्वतन्त्र है, हमारा यह कर्त्तव्य है कि अपने इन उपेक्षित श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न करें, अन्यथा हमारी स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

श्रम-संगठन—एक उपाय—कुछ प्रदेशों में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो रहा है। कारतकारों और श्रमिकों की सहायता के लिए कानून बनाए जा रहे हैं। भारतीय संविधान ने दासता

को अवैध घोषित कर ऐसे कार्य करने वाले लोगों के दण्ड की व्यवस्था क है। इसलिए यह आशा की जाती है कि कुछ समय में श्रमिकों को बेगार आदि से छुटकारा मिल जायगा और बिना खेतों वाले इन कृषि श्रमजीवियों की दशा कुछ सुधर जायगी।

परन्तु इस कार्य को यथाशीघ्र पूरा करने के लिए कुछ प्रयत्न अवश्य किया जाना चाहिए। कृषि सुधार समिति का यह सुझाव है कि एक सुआयोजित कृषि कानून के साथ ही साथ कृषि श्रमजीवियों का एक अखिल भारतीय संगठन होना चाहिए, जिसका उद्देश्य इस वर्ग की दशा को सुधारना होना चाहिए। काश्तकारों के शोषण से इन श्रमिकों के बचाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इन सब कार्यों की पूर्ति तभी हो सकती है जब कि इन कृषि-श्रमजीवियों के अलग-अलग संघ बन जावेंगे। यदि इस दिशा में कोई क्रियात्मक कदम न उठाया गया तो इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा।

ग्राम-संगठन में कठिनाइयाँ—कृषि श्रमजीवियों की इतनी विशाल संख्या का जो कि सारे भारत में इधर उधर फैली हुई है, संगठन करना कोई आसान काम नहीं है। इस कार्य की पूर्णता में इन कृषकों की अशिक्षा तथा अज्ञानता और भी बाधा डालती है। इनमें से बहुत से श्रमजीवी पद दलित जातियों के हैं, जिनका समाज में कोई स्थान नहीं है। अभी तक हमारे राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं ने औद्योगिक श्रमिकों की ओर ही ध्यान दिया है, गांवों के इन श्रमिकों की ओर उसने जरा भी ध्यान नहीं दिया। किसान सभाओं ने भी अभी तक इनकी उपेक्षा ही की है।

अतएव इस समस्या के हल के लिए इन ग्रामीण श्रमिकों के संगठन के साथ ही साथ उनके बेकारी के समय के लिए कुछ काम-धन्धे की भी व्यवस्था की जाय। इस योजना को कार्य रूप में परिणित करने के लिए हमें गाँवों में लेबर-एक्सचेन्ज स्थापित किए जायँ, फसलों में इस प्रकार के हेरफेर के करने की व्यवस्था की जाय जिससे इन लोगों को खेती में ही हमेशा काम मिलता रहे। इन श्रमिकों को बसाने के लिए ऊसर तथा बंजर भूमि का उपादेयकरण किया जाय। श्रमिकों को ऐसे घरेलू उद्योग-धन्धों का जैसे दूधशाला, तेल निकालना फलों तथा तरकारी आदि की खेती के उचित ढंग का ज्ञान कराया जाय।

इस प्रकार हमें इन कृषि श्रमजीवियों के विकास के लिए एक सुविचारित, एक सुयोजित योजना को कार्यान्वित करना होगा, बिना इस प्रकार के प्रयत्न के इन ३३० लाख कृषि श्रमजीवियों की दशा सुधारना सम्भव नहीं। आशा है निकट भविष्य में स्वतंत्र भारत अपने इस उपेक्षित वर्ग के आर्थिक विकास के लिए, उनके अधिकारों की समुचित रक्षा के लिए उनको पेट भरने के लिए अन्न तथा तन ढँकने के लिए कपड़े की व्यवस्था करने के लिए कोई निश्चित और क्रियात्मक कदम उठायेगा। यदि अब भी इन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता रहा तो हमारी कृषि का विकास कभी भी न हो पावेगा।

दसवाँ परिच्छेद

सिंचाई

सिंचाई का महत्व—कृषि के विकास के लिए, उसकी उन्नति के लिए कोई एक ही साधन पर्याप्त नहीं है, किसी एक ही बात पर उसका उत्थान निर्भर नहीं। चाहे भूमि या मिट्टी जिस पर कि कृषि की जायगी कितनी ही अच्छी हो, चाहे उत्तम से उत्तम बीजों की व्यवस्था क्यों न हो, उत्तम से उत्तम कृषि-यंत्र क्यों न सुलभ हों, किन्तु जब तक कृषि के लिए जल की सुन्दर व्यवस्था नहीं होती तब तक उसके उत्थान की आशा नहीं की जा सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि अच्छी कृषि के लिए उसके सभी साधनों का अच्छा होना आवश्यक है। इसके लिए उपजाऊ मिट्टी, उत्तम बीज, अच्छे यंत्र तथा सिंचाई की सुन्दर व्यवस्था सभी का अपना-अपना स्थान है। पिछले परिच्छेदों में कृषि की सिंचाई को छोड़कर अन्य साधनों पर प्रकाश डाल चुके हैं। इस परिच्छेद में हम अपने कृषि के इस साधन पर विचार करेंगे।

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि भारत में जल वृष्टि या वर्षा का वितरण सब जगह एक-सा नहीं है। विभिन्न क्षेत्रों या प्रदेशों में वर्षा की मात्रा अलग है। यहाँ औसतन ४५ इञ्च प्रतिवर्ष जलवृष्टि होती है; परन्तु यह जलवृष्टि विभिन्न भागों में अलग अलग है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के उत्तरी हिस्से को ले लीजिये, यहाँ पर ५० से लेकर १०० इञ्च तक वर्षा होती है, जबकि पश्चिमीय राजपूताना में वर्ष में दस इञ्च से अधिक वर्षा नहीं होती। यही नहीं, भारत में वर्षा की एक और विशेषता है, वह यह कि देश के अधिकांश भागों में (मदरास को छोड़कर) प्रायः जून से अक्टूबर तक में वर्षा होती है। वर्ष का शेष भाग शुष्क ही रहता है। तीसरे वर्षा बड़ी अनिश्चित रहती है, कभी तो बिल्कुल ही कम या नहीं के बराबर वर्षा होती है। यही कारण है कि भारत में सिंचाई के कृत्रिम साधनों के विकास के पूर्व तथा भारत में रेलगाड़ियों के आगमन के पूर्व प्रायः दुर्भिक्ष आदि का प्रकोप हुआ करता था। परन्तु अब देश ने इस दिशा में अच्छी प्रगति कर ली है, और अब भी इस ओर कार्य हो ही रहा है। सिंचाई के साधनों के प्रसार की व्यवस्था हो रही है। सरकार की ओर से सिंचाई की नई योजनाओं को कार्यरूप में परिणित किया जा रहा है। इसलिए हमें दुर्भिक्ष इत्यादि का विशेष भय नहीं रह गया है। हम यहाँ पर भारत में सिंचाई की इसी व्यवस्था पर विचार करेंगे।

सिंचाई का क्षेत्र—प्रकृति की ओर से जितनी सुविधाएँ भारत को मिली हैं, उतनी संसार के अन्य किसी देश को नहीं। यहाँ पर सिंध-गंगा जैसी विशाल नदियाँ प्रवाहित होकर देश की मिट्टी की उर्वरा-शक्ति में आश्चर्यजनक वृद्धि करती हैं, उत्पादन में इनसे बड़ी सहायता प्राप्त होती है। यही कारण है कि आज से वर्षों पूर्व सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने लिखा था कि 'भारत में सिंचाई ही सब कुछ है, यहाँ पर भूमि से जल का महत्व कहीं अधिक है, क्योंकि जब जल का भूमि के साथ से योग होता है तो भूमि की उर्वरा-शक्ति छै गुना अधिक हो जाती है और इससे उत्पादन वाली भूमि के क्षेत्रफल में भी अच्छी वृद्धि हो जाती है।'

सिंचाई के कृत्रिम-साधनों के विकास से भारत में कितनी ही ऐसी भूमि जिसका कि उत्पादन की दृष्टि से कोई उपयोग नहीं होता था, आज लहलहाते खेतों से भरी पड़ी है। १९४५-४६ में भारत में कुल जोती जाने वाली भूमि २१८० लाख एकड़ थी जिसमें से ३६२ लाख एकड़ भूमि

कृत्रिम साधनों द्वारा सींची जाती थी। आज (१९५०-५१ में) लगभग ५५० लाख एकड़ भूमि जिसमें दो फसलों वाला क्षेत्रफल भी सम्मिलित है, सींचा जाता है। विभिन्न प्रदेशों में सिंचाई का महत्व अलग अलग है। कहीं सिंचाई के कृत्रिम साधनों से अधिक भूमि बोई जाती है तो कहीं कम। यह बात नीचे दी हुई तालिका से और स्पष्ट हो जायगी :—

राज्य का नाम	कुल बोई जाने वाली भूमि में सींची जाने वाली भूमि प्रतिशत में		राज्य का नाम	कुल बोई जाने वाली भूमि में सींची जाने वाली भूमि प्रतिशत में	
आसाम	८.७	प्रतिशत	उड़ीसा	२१.५	प्रतिशत
बंगाल (अविभाजित)	६.८	,,	उत्तर प्रदेश	२६.२	,,
बम्बई	५.०	,,	मद्रास	२६.३	,,
मध्य प्रदेश व बरार	५.१	,,	पंजाब (अविभाजित)	५६.६	,,
बिहार	२१.५	,,	संपूर्ण भारत	२४.३	,,

बंगाल तथा आसाम में सिंचाई द्वारा बोने वाला क्षेत्रफल इसलिए कम है कि वहाँ पर वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती है। परन्तु बम्बई, मदरास, तथा पूर्वी पंजाब के प्रान्त जहाँ वर्षा यथेष्ट मात्रा में नहीं होती वहां सिंचाई के अच्छे साधनों की व्यवस्था की आवश्यकता है।

सिंचाई के साधन--भारत में सिंचाई के मुख्य साधन तीन हैं—(१) कुओं से सिंचाई, (२) तालाबों से सिंचाई, (३) नहरों द्वारा सिंचाई। भारत में कुल २७५० लाख एकड़ भूमि में से १९४९ में ५५० लाख एकड़ भूमि इन्हीं विभिन्न साधनों द्वारा सींची गई थी। अलग-अलग साधनों द्वारा सींची जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल इस प्रकार था :—

सिंचाई का क्षेत्र (लाख एकड़ों में)

कुओं से	तालाबों से	नहरों से	अन्य साधनों से	कुल क्षेत्र
१४०	६०	२८०	७०	५५०

कुएँ — (Wells)—भारत में कुओं द्वारा सिंचाई का कार्य अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। आज भी इस साधन द्वारा लगभग २५ प्रतिशत भूमि सींची जाती है। भारत में लगभग २५ लाख कुएँ हैं और इनमें जो कुल पूँजी लगी है, वह करीब १०० करोड़ रुपये के है। भारत में कुओं द्वारा सींचे जाने वाले मुख्य क्षेत्र पंजाब, उत्तर प्रदेश, मदरास तथा बम्बई हैं। कुओं द्वारा सिंचाई करने में हमें कई सुविधाएँ हैं। सर्व प्रथम तो अधिकांश क्षेत्रों में कुओं के निर्माण में अधिक व्यय नहीं होता, उत्तर भारत के किसान सिंचाई के लिये प्रायः कच्चे कुयें खोद लेते हैं, जिसमें उनकी बहुत कम लागत लगती है। कुओं द्वारा सिंचाई करने में भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण नहीं होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुयें सिंचाई के लिए सबसे सस्ते साधन हैं। हाँ, उन क्षेत्रों में जहाँ पर पानी गहरे में मिलता है, या जहाँ की भूमि पथरीली है, वहाँ कुआँ बनाना कठिन तथा खर्चीला है।

अधिकांश कुएँ प्रायः किसानों द्वारा ही बनवाये गए हैं, कहीं-कहीं धनी-मानी या परोपकारी सज्जनों ने भी कुछ कुएँ बनवा दिये हैं। सरकार ने भी तकाबी, ऋण तथा कुछ अन्य सुविधाएँ देकर कुओं के निर्माण में प्रोत्साहन दिया है। पिछले वर्षों में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के कार्यों के फल स्वरूप लगभग ७२,००० कुएँ खोदे गए। एक कुएँ से साधारणतया ५ एकड़ भूमि सींची जा सकती है। अब सरकार और कुएँ खोदने के लिये किसानों को ऋण आदि देकर प्रोत्साहित कर रही है। किन्तु कुएँ की उपयोगिता उसके कम गहरे होने पर ही निर्भर है, जितनी कम गहराई

पर जल निकल आयेगा उतना ही उसका अधिक उपयोग होगा क्योंकि कम गहराई से पानी निकालने में अधिक व्यय नहीं होगा। जिन प्रदेशों में वर्षा की मात्रा कम है, वहाँ पानी का स्रोत बहुत गहराई पर मिलता है। यही कारण है कि राजपूताना और पंजाब के पश्चिम भाग में कुएँ इतने गहरे हैं कि उनसे सिंचाई करने में काफी व्यय होता है। इसके अतिरिक्त कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ की भूमि पथरीली है। इन स्थानों में कुआँ खोदने में अधिक व्यय होता है, इस कारण यहाँ साधारण आदमी कुएँ का उपयोग सिंचाई आदि के लिए नहीं कर सकता।

अभी थोड़े दिन हुये भारत सरकार ने दो अमरीकन विशेषज्ञों को ट्यूबवेल के द्वारा सिंचाई की व्यवस्था पर विचार करने के लिये नियुक्त किया था। इन विशेषज्ञों का यह कथन है कि उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब तथा बिहार में ट्यूबवेल द्वारा सिंचाई का अच्छा काम लिया जा सकता है। अतः भारत सरकार ने लगभग ६,००० ट्यूबवेल खोदवाने का विचार किया है। एक ट्यूबवेल ६० से लेकर ५०० फीट गहरे तक जाता है, एक घंटे में यह करीब ३३,००० गैलन पानी निकालता है तथा इससे लगभग ५०० एकड़ तक भूमि सींची जा सकती है।

उत्तर-प्रदेश की सरकार ने अपने राज्य में लगभग दो हजार ट्यूबवेल खुदवा कर सिंचाई की अच्छी व्यवस्था कर दी है। इससे यहाँ के किसानों को काफी लाभ पहुँचा है। ट्रावनकोर, कोचीन तथा बम्बई राज्य में सहकारी समितियाँ लिफ्ट द्वारा सिंचाई की योजना कार्यान्वित कर रही है। सरकार इन समितियों को अच्छी आर्थिक सहायता देती है।

तालाब—(Tanks)—कुओं की भाँति तालाब भी प्राचीन काल से भारतीय कृषि के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं। पंजाब को छोड़कर प्रायः भारत के सभी भागों में तालाब पाए जाते हैं। मद्रास में सबसे अधिक तालाब हैं, वहाँ पर इनकी संख्या लगभग ३५,००० है, इनसे वहाँ लगभग २५-३० लाख एकड़ भूमि सींची जाती है। ये तालाब सभी प्रकार के हैं। कोई अत्यन्त छोटे तथा कोई बड़ी-बड़ी झीलों के बराबर हैं। तालाबों का प्रयोग प्रायः उन स्थानों में बहुत होता है जहाँ पर कुओं या नहरों से सिंचाई की व्यवस्था नहीं है। दक्षिण भारत, दक्षिण राजपूताना, मध्य भारत, हैदराबाद तथा मैसूर में इनसे सिंचाई का अच्छा काम लिया जाता है।

आजकल बहुत से तालाब नष्ट हो गए हैं, अब भारत सरकार तालाबों के निर्माण तथा उनकी मरम्मत की ओर विशेष ध्यान दे रही है। इस प्रकार छोटी सिंचाई की योजनाओं में से सहस्रों योजनाओं को कार्य रूप में परिणत किया जा चुका है, बहुत सी योजनाएँ अब भी कार्यान्वित की जा रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ नहरों या अन्य बड़े सिंचाई के साधनों का उपयोग नहीं हो सकता, वहाँ किसान सरकार के सहयोग से अधिक से अधिक तालाब तथा कुओं के खुदवाने की व्यवस्था करे। इसके अतिरिक्त सरकार को चाहिए कि वह कानून द्वारा भी पुराने सिंचाई के साधनों की रक्षा आदि की व्यवस्था करे।

नहरें—(Canals) वर्त्तमान काल में, सिंचाई का सबसे महत्वपूर्ण साधन नहरें हैं। ये नहरें साधारणतया सरकार द्वारा ही बनवाई गई हैं, केवल थोड़ी सी ही ऐसी नहरें हैं जिन्हें बड़े-बड़े राजे महाराजाओं ने बनवाई हैं। भारत में प्रायः तीन प्रकार की नहरें हैं—स्थायी नहरें (Perennial Canals), अस्थायी नहरें (Inundation Canals) तथा बाँध वाली नहरें (Storage Works Canals)। स्थायी नहरों से वर्ष भर सिंचाई का काम लिया जाता है, ये नहरें नदी की बाढ़ पर निर्भर नहीं रहतीं, इनमें वर्ष भर पानी भरा रहता है। बाढ़ की नहरों (Inundation Canals) में बाढ़ आने पर ही सिंचाई हो सकती है, वर्ष भर इनका उपयोग सिंचाई के लिए नहीं हो सकता। इन नहरों का सम्बन्ध सीधा नदी से होता है, नदी में फाटक लगाकर पानी को रोका नहीं जाता। बाँधों से निकाली जाने वाली (Storage

works Canals) नहरें प्रायः किसी पहाड़ी घाटी में जल को बाँध द्वारा रोक कर निकाली जाती हैं। इस प्रकार की नहरें मुख्यतया दक्षिण, मध्यप्रदेश, तथा बुन्देलखन्ड में पाई जाती हैं।

भारत सरकार ने १६२१ से पूर्व नहरों का वर्गीकरण एक दूसरी ही प्रकार से किया था। यह वर्गीकरण इस प्रकार था :—(१) उत्पादक (Productive) ; जिनसे इतनी आय हो जाय कि उनकी व्यवस्था का खर्च तथा उनमें लगी हुई पूँजी का सूद आदि निकल सके और कुछ लाभ भी हो जाय, (२) रक्षात्मक (Protective) जिनसे ऐसी आय नहीं होती कि आवश्यक खर्च निकलने के बाद उनमें लगी हुई पूँजी का सूद निकल सके। ये दुर्भिक्ष निवारण के लिए निर्मित की जाती थीं। तीसरी प्रकार की छोटी नहरें भी सरकारी राजस्व से ही निर्मित की जाती थीं। १६२१ के बाद से यह वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया है। अब नहरों को दो ही श्रेणियों में बाँटा जाता है—उत्पादक (Productive) तथा अनुत्पादक (Unproductive)। अब इन नहरों के लिए ऋण लिया जा सकता है।

भारत में सिंचाई का विकास (Irrigation in India)— भारत के शासकों को प्रारम्भ से ही सिंचाई का महत्व ज्ञात था, इसी कारण हमें प्राचीन काल के सिंचाई के कुछ चिन्ह मिलते हैं। कितने ही तालाब तथा कुछ मुख्य नहरें इस बात की द्योतक हैं। मुगल काल में बनी हुई कितनी ही नहरें इस बात की साक्षी हैं। इसके पश्चात् अंगरेजों के शासन काल में सिंचाई की ओर ध्यान दिया गया परन्तु जितना धन तथा शक्ति रेलों आदि के प्रचार में लगाई गई उतना इस ओर नहीं। १८१५ ई० में लार्ड हेस्टिंग्स ने सिंचाई के महत्व पर प्रकाश डाला था। सन् १८५० ई० में डलहौजी ने लिखा था, 'जहाँ कहीं भी मुझे विस्तृत भू-भाग मिलता है, जिसमें कि खेती नहीं हो रही है मैं देखता हूं कि वह भूमि-भाग उर्वरता के सभी लक्षणों से युक्त है, केवल उसे पानी का ही अभाव है, यदि सिंचाई की उचित व्यवस्था हो जाय तो यह सारी बेकार भूमि हरे-भरे खेतों से पूर्ण हो जाय।' इसके बाद १८८० के फेमिन कमीशन तथा १६०१ के इरीगेशन कमीशन के जोर देने के बावजूद भी सरकार की कोई सुविचारित योजना जिससे कि सिंचाई के साधनों का प्रसार हो सके कार्यान्वित नहीं की जा सकी। हाँ सरकार ने रेलों के जाल फैलाने में अवश्य कुछ प्रयत्न किया। इसका पता हमें इस बात से और लग जायगा कि रेलों पर १६३४-३५ तक ८८५ करोड़ रुपया व्यय किया गया, जब कि सिंचाई आदि के लिए केवल १५० करोड़ रुपया ही खर्च हुआ। यदि प्रारम्भ से एक सुविचारित निश्चित योजना सिंचाई के साधनों के विकास के लिए बनाई जाती और उस पर कार्य किया जाता तो आज हमारी कृषि की यह दशा न होती।

नीचे दी हुई तालिका से १६०१ से लेकर १६४१ तक की सिंचाई की प्रगति का परिचय मिल जायगा :—

सिंचाई के साधन	क्षेत्र जिसमें सिंचाई हुई एकड़ों में १६०१	प्रतिशत	क्षेत्र सिंचाई वाला एकड़ों में १६४१	प्रतिशत
सरकारी नहरों से	१२,८५५०००	४० प्रतिशत	२५३६०,०००	४५.४ प्रतिशत
गैर सरकारी नहरों से	१६६३,०००	६ ,,	४४७१,०००	८.१ ,,
तालाबों से	५०८०,०००	१५ ,,	६,१४४,०००	११.० ,,
कुओं से	११,३७४,०००	३५ ,,	१३,७६५,०००	२४.७ ,,
अन्य साधनों से	१३,१०,०००	४ ,,	६,०४६,०००	१०.८ ,,
कुल योग	३२,५८२,०,००	१०० ,,	५५,७८६,०००	१०० ,,

सिंचाई की नई योजनाएँ—भारतवर्ष के विभाजन के पश्चात् भारत सरकार को अधिक अन्न उपजाने के लिए, अपनी खाद्य समस्या हल करने के लिए, सिंचाई के साधनों के विस्तार की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने सिंचाई की बड़ी-छोटी कई योजनाएँ बनाई हैं। जब ये सब योजनाएँ जिनकी कुल संख्या १७० है पूर्ण हो जायँगी तो इनसे करीब २५० लाख एकड़ भूमि और सींची जा सकेगी। अभी केवल पानी का ६ प्रतिशत भाग ही हमारे उपयोग में आता है, शेष समुद्रों में बह जाता है, और कभी-कभी तो वह अपने प्रवाह के साथ हमारे जन-धन का भी बड़ा नाश कर जाता है।

स्वतन्त्र भारत के प्रायः प्रत्येक राज्य में सिंचाई की कोई न कोई योजना कार्यान्वित की जा रही है। मदरास ने भी इस दिशा में बहुत अच्छा कदम उठाया है। उसकी इस सम्बन्ध की कई योजनाएँ हैं। इन योजनाओं को हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—(अ) अल्पकालीन योजनाएँ जिसमें करीब ५ करोड़ रुपये के व्यय पर ४ लाख एकड़ के लगभग भूमि सींची जा सकेगी। (ब) मध्यमार्गी योजनाएँ जिसके अनुसार ५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई के लिये ३० करोड़ रुपया व्यय होगा। (स) विशाल तथा दीर्घकालिक योजनाएँ, इसके अन्तर्गत लगभग ७८ करोड़ रुपये के व्यय के पश्चात् ३० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। इस प्रकार इन सब योजनाओं के पूरे हो जाने पर अकेले मदरास में करीब ४० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। इन योजनाओं में तुङ्गभद्रा नदी योजना, रामपदसागर योजना, किश्नापन्नेर योजना तथा मलान पुडभा आदि मुख्य योजनाएँ हैं।

उत्तर प्रदेश—उत्तर प्रदेश भी कुछ नवीन योजनाओं को कार्यान्वित कर रहा है। कई नए बाँध, शक्ति ग्रह तथा नहरों के निर्माण की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। इनके द्वारा जल-विद्युत का उत्पादन होगा जिससे ट्यूबवेल के चलाने में सुविधा मिलेगी। इन योजनाओं में से पिपरी बाँध तथा शक्ति ग्रह योजना मुख्य है। इसके अनुसार रिहन्ड के आरपार २८० फीट ऊँचा बाँध बनाया जायगा जिसमें लगभग सवा सोलह करोड़ रुपया व्यय होगा, इससे ४० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। इस योजना से बाढ़ आदि के रोकने, मछली पकड़ने तथा कुछ अन्य कार्यों के लिए भी सहायता मिलेगी। गंगाजी की सहायक नदी नैयर में भी नैयर (Nayar) बाँध की योजना बनाई गई है जिससे २३८,००० एकड़ की सिंचाई का प्रबन्ध हो सकेगा। रामगंगा योजना से भी विद्युत-शक्ति प्राप्त होने के साथ ही साथ ८ लाख एकड़ भूमि के सिंचाई की व्यवस्था हो सकेगी। इनके अतिरिक्त सुप्रा बाँध योजना, कोटारी बाँध तथा ललितपुर की भी कुछ योजनाएँ सरकार द्वारा स्वीकृत हो चुकी हैं।

पश्चिमी बंगाल—पश्चिमी बंगाल में दामोदर घाटी योजना कार्यान्वित की जा रही है, इससे काश्तकारों को लगभग ६ करोड़ रुपये वार्षिक की आय होगी। मोर रिज़रवायर योजना भी प्रारम्भ कर दी गई है। इस रिज़रवायर की दस लाख एकड़ फीट पानी रखने की क्षमता होगी और इससे ६ लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत सी छोटी-छोटी योजनाएँ हैं जो अभी कार्यान्वित की जा रही हैं।

बिहार—बिहार की सबसे प्रधान योजना 'कोसी योजना' है जिससे सिंचाई, विद्युत, शक्ति, बाढ़ नियंत्रण, भूमि का उपादेयकरण, मछली पकड़ने आदि को अच्छी सहायता मिलेगी। इसमें लगभग ६० करोड़ रुपया व्यय होगा, इससे बीस लाख एकड़ से अधिक भूमि की सिंचाई हो सकेगी। इससे १८ लाख किलोवाट सस्ती जल-विद्युत भी प्राप्त हो सकेगी। गंडक घाटी योजना से सारन जिले में लगभग १० लाख मुंगेर जिले में ५०,००० एकड़ भूमि सींची जा सकेगी। सिंचाई की कुछ अन्य योजनाएँ भी बिहार सरकार कार्यान्वित करा रही है।

बम्बई—बम्बई राज्य भी सिंचाई की कई योजनाओं को कार्यान्वित कराने का विचार कर रहा है। इनमें से मेशवा नहर योजना, माही नहर योजना, बरदाला तालाब योजना गंगापुर बाँध योजना तथा गिरना तथा दादी योजना मुख्य हैं। इन सब योजनाओं के पूरा होने में लगभग ३४ करोड़ रुपया लगेगा। इनसे करीब ७,६०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

मध्य प्रदेश—यहाँ पर लगभग ग्यारह योजनाओं को कार्यान्वित करने का विचार किया जा रहा है। इन योजनाओं में लगभग ४ करोड़ रुपये खर्च होंगे, और इनसे दो लाख एकड़ चावल की भूमि सींची जा सकेगी। नर्वदा-ताप्ती नदियों की बहुमुखी योजनाओं से मध्यप्रदेश तथा गुजरात की लगभग दस लाख एकड़ भूमि को सींचा जा सकेगा। इसके अतिरिक्त इससे वर्षा के दिनों में बाढ़ आदि भी रोकी जा सकेगी। यह योजना केन्द्रीय सरकार की सहायता से मध्यप्रदेश तथा बरार की सरकारें मिलकर करेंगी।

पूर्वी पंजाब—यहाँ की योजना के अनुसार गुरगाँव, हिसार, रोहतक, जिले तथा पटियाला राज्य व बीकानेर आदि प्रदेशों की ४५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई के लिये पानी की सुविधा प्राप्त हो जायगी। नानगल योजना जिससे भाखरा बाँध के लिये जल-विद्युत प्राप्त होगी अच्छी तरह कार्यान्वित की जा रही है। इन योजनाओं के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में ट्यूबवेल भी खोदे जा रहे हैं।

उड़ीसा—यहाँ महानदी घाटी के विकास की योजना पर विचार किया जा रहा है। यहाँ पर केन्द्रीय जलमार्ग-सिंचाई नेवीगेशन कमीशन ने तीन बाँध बनाये जाने की योजना तैयार की है, इनमें से प्रत्येक बाँध के अपने जल-विद्युत-गृह रहेंगे। इन सबके पूरे होने में कुल ४७·८१ करोड़ रुपया खर्च होगा। इसके अतिरिक्त बाँध आदि बनाने की अन्य कुछ छोटी-छोटी योजनाएँ भी हैं।

उपरोक्त प्रान्तों के अतिरिक्त, हैदराबाद, मैसूर, सौराष्ट्र, ग्वालियर, ट्रावनकोर, कोचीन, मध्य-भारत, भोपाल तथा राजस्थान आदि राज्यों तथा संघ-राज्यों में भी कुछ योजनाएँ कार्यान्वित की जा रहीं हैं।

नदियों की उन्नति की कुछ बहुमुखी योजनाएँ—ऊपर हमने सिंचाई के साधनों पर तथा सरकार द्वारा कार्यान्वित की जानेवाली कुछ योजनाओं पर विचार किया। यहाँ पर हम नदियों के उन्नति की इन कुछ बहुमुखी योजनाओं पर प्रकाश डालेंगे। यदि हम भारत की जल सम्बन्धी स्थिति पर विचार करते हैं तो हमें यह पता चल जाता है कि जल-साधन की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र अमरीका के पश्चात् भारत का ही नम्बर आता है। संसार में अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जल के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि हम अपने नदियों के जल से केवल ६ प्रतिशत ही लाभ उठा पाते हैं। एशिया में अन्य किसी देश से कहीं अधिक भारत में जल-विद्युत-शक्ति उत्पन्न हो सकती है किन्तु हम उसका केवल १½ प्रतिशत ही उपयोग कर पाते हैं।

अभी थोड़े समय पूर्व तक सरकार के सिंचाई के कार्यों का मुख्य उद्देश्य सिंचाई की सुविधाओं की व्यवस्था ही थी। परन्तु इधर सरकार ने जो नई योजनाओं का निर्माण किया है उनकी सारी रूपरेखा बिलकुल ही परिवर्तित हो गई है। सोतों आदि में पानी की कमी के कारण अब जो नई योजनाएँ बनाई जा रही हैं उनके अनुसार वर्षा के दिनों में जो पानी प्राप्त होगा उसे एकत्रित करने की व्यवस्था की जायगी। इन योजनाओं से संगठन तथा नियंत्रण आदि के लिये सरकार ने १९४५ में केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई एवं नौका परिवहन आयोग (Central water ways, Irregation & Navigation Commissions) की नियुक्ति की थी। इसने इस दिशा में काफी अच्छा कार्य किया है। सरकार के इस सम्बन्ध में जो अभी तक नीति थी उसमें परिवर्तन हो गया। अब इन योजनाओं का उद्देश्य सिंचाई की व्यवस्था करने के अतिरिक्त अन्य कार्य जल-

विद्युत का उत्पादन, नौकापरिवहन, बाढ़ व भूमि के विलीनीकरण का नियंत्रण, मछली पकड़ना आदि मुख्य हैं।

इस समय केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों के सन्मुख लगभग १७० छोटी-बड़ी योजनाएँ हैं। इनमें से कुछ पर कार्य होना शुरू हो गया है, कुछ पर अभी विचार-विमर्श हो रहा है, कुछ के सम्बन्ध में अन्वेषण किया जा रहा है। इन सब योजनाओं में कुल १२०० करोड़ रुपये से भी अधिक लगने का अनुमान है। इनमें से पश्चिमी बंगाल तथा बिहार की दामोदर घाटी योजना, उड़ीसा की हीराकुण्ड, उत्तर प्रदेश की रिहन्ड योजना, पूर्वी-पंजाब की भाकरा नानगल योजना, मदरास तथा हैदराबाद की तुंगभद्रा योजना तथा पश्चिमी बङ्गाल की भोर योजना मुख्य हैं।

ये सब योजनाएँ अब कार्यान्वित की जा रही हैं। हम इनमें से कुछ योजनाओं पर अलग-अलग विचार करेंगे।

दामोदर घाटी योजना—दामोदर घाटी योजना अन्य सब योजनाओं में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। दामोदर नदी छोटा नागपुर की पहाड़ियों से निकलकर हजारीबाग के जिले में बहती हुई, मानारम में प्रवेश करती है। उस स्थल पर जहाँ यह मानारम के प्रदेश को छोड़कर बंगाल की सीमा को स्पर्श करती है, वहाँ उत्तर से उसकी मुख्य सहायक नदी बराकर (Barakar) मिलती है। इस समय इस नदी का पाट और भी विशाल हो जाता है, और यहाँ से यह बंकुरा, हुगली तथा हावड़ा के जिलों में बहती हुई कलकत्ता से ३० मील नीचे भागीरथी नदी से मिलती है। बंगाल में प्रवेश करने के बाद वर्षा के दिनों में इसमें अक्सर बाढ़ आती है। उसकी इस बाढ़ से फसलों का बड़ा नाश होता है, यातायात में बड़ा संकट उत्पन्न हो जाता है तथा यहाँ के लोगों के आर्थिक जीवन में बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। परन्तु जाड़े तथा गर्मी के दिनों में इस नदी का आयतन कम हो जाता है जिससे सिंचाई करना सम्भव नहीं होता।

योजना को कार्यान्वित करने के लिए अमरीका की टैनेसे वैली संस्था की भाँति दामोदर घाटी संस्था बना दी गई है।

इस योजना द्वारा इस नदी में ७ बाँध तथा एक बैरेज बनाने का निश्चय किया गया है। यह बैरेज रानीगंज से १५ मील नीचे पर होगा और इसके द्वारा सिंचाई वाली नहरों को हमेशा पानी पहुँचता रहेगा। इस प्रकार यह योजना नदी के बाढ़ पर ही नियंत्रण नहीं रखेगी वरन् इससे ८,६३,००० एकड़ भूमि की सिंचाई भी हो सकेगी। ऐसा अनुमान किया गया है कि इससे सींचे जाने वाले क्षेत्र से ५० लाख मन चावल प्रतिवर्ष उत्पन्न होगा। इससे दूसरी फसल की खेती को भी सुविधा मिल जायगी। इसके सब बाँधों पर शक्ति गृह भी स्थापित किये जाने की व्यवस्था की गई है। इन सब शक्ति गृहों से लगभग ३००,००० किलोवाट विद्युत प्राप्त हो सकेगी। बाढ़ इत्यादि के रुक जाने से तथा बिजली के प्राप्त हो जाने से इस घाटी में नए उद्योग-धन्धे संचालित किए जा सकेंगे। दामोदर घाटी कार्पोरेशन, तथा बिहार और पश्चिमी बंगाल की सरकारें मिलकर यहाँ के औद्योगिक विकास का प्रयत्न कर रही हैं। इसके अतिरिक्त जल-विद्युत की सुविधा के कारण विद्युत रेलगाड़ियों के चलाने में भी यहाँ सहायता मिल जायगी। इस योजना द्वारा सैकड़ों और दूसरे लाभ भी होंगे। कलकत्ता से कोयले की खानों तक के बीच में एक ८० मील लम्बा जल पथ भी तैयार किया जायगा जिसमें स्टीमर या जहाज आदि भी चल सकेंगे। इनके द्वारा सामान तथा मुसाफिरों के ले जाने में काफी सुविधा हो जायगी। रिजरवायर तथा सिंचाई की नहरों में मछली पकड़ने में भी काफी सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त यहाँ के निकटवर्ती प्रदेशों के निवासियों को पीने के पानी का अभाव नहीं रह जायगा।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस योजना के पूरी होने में दस वर्ष लगेंगे तथा इसमें कुल ५५ करोड़ रुपया खर्च होगा। इसका व्यय केन्द्रीय सरकार, बिहार सरकार तथा पश्चिमी बंगाल की सरकारें देंगी तथा इससे होने वाला लाभ इन तीनों सरकारों की लागत के हिसाब से विभाजित कर दिया जाया करेगा। इस योजना का संचालन एक तीन आदमियों के बोर्ड के हाथ में दे दिया गया है, जो कि दामोदर घाटी संस्था (Damodar Valley Corporation) के नाम से प्रसिद्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने इस नदी के बाँध पर शक्ति गृह बनाने के लिए दो करोड़ बीस लाख डालर कर्ज देना भी स्वीकार कर लिया है।

महानदी घाटी योजना—इस योजना के अन्तर्गत तीन बाँध बनाए जायँगे। सम्बलपुर के निकट हीराकुण्ड में, दूसरा १३० मील नीचे सीकरपारा में तथा तीसरा कटक के निकट नारज में। इस योजना से लगभग ११ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधा के साथ ही साथ दो शक्तिगृहों के द्वारा ३२०,००० किलोवाट बिजली प्राप्त हो जायगी। इस योजना से सम्बलपुर जिले में ३,४०,००० टन अधिक अन्न उत्पन्न हो सकेगा। इस प्रदेश में बिजली के हो जाने से यहाँ की खनिज सम्पत्ति के निकालने में काफी सुविधा हो जायगी। इसके साथ ही साथ यहाँ सीमेन्ट, फौलाद, शकर तथा कुछ अन्य रासायनिक पदार्थों के निर्माण के कारखाने खोलने में सहायता मिल जायगी। इस योजना में लगभग ४८ करोड़ रुपया व्यय होगा। आशा की जाती है कि यह योजना १६५४ तक पूरी हो जायगी।

भाकरा तथा नानगल योजनाएँ—इसके अनुसार पूर्वी पंजाब को दो शक्ति गृहों द्वारा पर्याप्त विद्युतशक्ति प्राप्त होगी। भाकरा से ८ मील दूर सतलज के पार नानगल में एक बैरेज बनाने का विचार किया गया है। यह बैरेज १,०२६ फीट लम्बा, तथा ४०० फीट चौड़ा होगा। भाकरा में ४८० फीट ऊँचा बाँध होगा। इससे नहरों का एक सुन्दर पद्धति द्वारा लगभग ४५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की व्यवस्था होगी। तथा १६०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकेगी। इसमें लगभग ७० करोड़ रुपया खर्च होगा। भाकरा बाँध के निर्माण का भार श्री सेवेज महोदय पर सौंपा गया है जो कि इस विषय के सबसे बड़े ज्ञाता हैं। आपने संयुक्त राज्य अमरीका में बोल्डर जैसे बाँध के निर्माण का कार्य किया है। आशा है भाकरा बाँध देश के अच्छे बाँधों से होगा।

कोसी नदी योजना:—नैपाल में बारह क्षेत्र के पवित्र मन्दिर के निकट कोसी नदी पर एक शक्ति गृह तथा बाँध व सिंचाई की नहरें तथा नैपाल बिहार की सीमा पर एक दूसरा बैरेज बनाने का विचार किया गया है। इस योजना में लगभग ६० करोड़ रुपयों खर्च होगा परन्तु इस योजना के पूरी होने में कई विशेषज्ञों को सन्देह है।

तुंगभद्रा योजना:—यह योजना मद्रास तथा हैदराबाद सरकार के सम्मिलित प्रयत्न से कार्यान्वित की जा रही है। इससे मदरास में कुल ३,००,००० एकड़ भूमि सींची जा सकेगी और इसके लिये मदरास सरकार को दस करोड़ रुपए व्यय करने होंगे।

भोर योजना:—इसके अनुसार मौरक्षी नदी के दोनों ओर एक बाँध तथा एक बैरेज बनाने का विचार किया गया है। इसकी सहायक नहरों से ६,००,००० एकड़ भूमि सींची जा सकेगी। इस योजना में अनुमानतः ७ करोड़ रुपया व्यय होगा।

सिंचाई से कुछ हानियाँ (Dangers of Irrigation):—सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनाओं के कार्यान्वित करने से जहाँ हमें इतने लाभ हैं वहाँ उनसे हमें कुछ हानियाँ भी हो सकती हैं। सिंचाई की इन विशाल योजनाओं के कारण एक स्थान पर पानी का जमाव हो जाता है और कहीं-कहीं मिट्टी में क्षार पदार्थ या नमक के उत्तार से मिट्टी की उर्वरता नष्ट हो जाती है। दूसरे इसका प्रभाव वातावरण की स्वच्छता पर भी बुरा पड़ता है। भारत में बम्बई तथा पाकिस्तान में पश्चिमी पंजाब का कुछ क्षेत्र इस बात का साक्षी है। यहाँ पर इस कारण से काफी भूमि खेती

के योग्य नहीं रह गई है। इस भूमि के नष्ट होने का मुख्य कारण पानी के स्तर (Water level) में चढ़ाव ही है। इस चढ़ाव से मिट्टी में काफी तरी आ जाती है और कहीं-कहीं तो यह इतनी अधिक बढ़ जाती है कि यह तरी झील का रूप धारण कर लेती है। इसका दूसरा परिणाम यह होता है कि मिट्टी की ऊपरी तह में क्षार पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं जिसका खेती पर बुरा असर पड़ता है और मिट्टी की उर्वरता जाती रहती है।

प्रोफेसर बृज नारायण ने इस खतरे की सूचना देने वाली मुख्य बातें ये बतलाई हैं।*

(१) एक या दो वर्ष तक 'बारनी' की फसलें असाधारण रूप में अच्छी रहती हैं।

(२) तीसरे वर्ष इस दोष से युक्त भूमि के ऊपर 'कालर' के धब्बे दिखलाई पड़ने लगते हैं और इसमें बीज नहीं उगते।

(३) धीरे-धीरे उत्पादन में ह्रास होने लगता है और वह धब्बा (कल्लर) शनैः-शनैः सारे खेत में फैल जाता है।

(४) नहर के पास के गड्ढों का पानी मुचैले रंग का हो जाता है।

(५) धीरे-धीरे पानी ऊपर की ओर बढ़ता जाता है।

(६) सोते के पानी वाला स्तर धीरे-धीरे सतह की ओर बढ़ता जाता है।

(७) उस क्षेत्र के पीने का पानी स्वादरहित हो जाता है और उस सारे वातावरण में एक प्रकार की दुर्गन्ध फैलने लगती है।

वास्तव में बात यह होती है कि मिट्टी में जो नमक या क्षार का अंश होता है वह पानी की सतह की मिट्टी के साथ-साथ ऊपर की ओर बढ़ आता है। नहरों के द्वारा बाढ़ या वर्षा का जल अवरोधित हो जाता है, दूसरे नहरों का भी जल बहता रहता है। इसका प्रभाव मिट्टी पर बुरा पड़ता है और धीरे-धीरे जमीन के नीचे के क्षार पदार्थ ऊपर की ओर को बढ़ने लगते हैं, इस प्रकार मिट्टी की उर्वरता जाती रहती है।

इस दोष से बचने के लिए हमें निम्नलिखित उपाय करने चाहिए :—

(१) ट्यूबवेल तथा नालियों आदि के द्वारा पानी को बाहर निकाल देना।

(२) वह भूमि जिस पर नहरें बहती हैं उसको कांक्रीट से भर देना। परन्तु इस व्यवस्था से अन्य नालों की स्थिति में कोई सुधार न होगा।

(३) रुकी हुई नालियों को खोल देना।

(४) नहरों द्वारा सिंचाई के स्थान पर कुओं द्वारा सिंचाई की व्यवस्था करना।

(५) अत्यधिक सिंचाई को रोकना।

सिंचाई की वर्तमान व्यवस्था से कभी-कभी अत्यधिक सिंचाई हो सकती है। इस प्रकार इन सब उपायों द्वारा हम इस दोष से मुक्त हो सकेंगे।

सिंचाई की दर (Water Rates)—अभी तक हमने सिंचाई सम्बन्धी अन्य समस्याओं पर विचार किया। यहाँ सिंचाई के बदले में लिए जाने वाले महसूल के विषय में भी कुछ कहना अनुचित न होगा।

सिंचाई की दर के सम्बन्ध में दो नीतियाँ अपनाई जा सकती हैं। एक तो वह दर जो कि नहरों की व्यवस्था में लगने वाले खर्च तथा नहरों में लगी हुई पूँजी के सूद के हिसाब से निश्चित की जाती है। दूसरी नीति के अनुसार सिंचाई की दर पैदावार में सिंचाई के कारण हुई वृद्धि के आधार पर निश्चित की जाती है।

---

*देखिये बृजनारायण कृत 'Indian Economic Life' Pp. 333.

लागत के हिसाब से सिंचाई की दर के निश्चित करने के पक्ष में कई तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। इसके समर्थन में कुछ लोग यह कहते हैं कि इससे नहरों के निर्माण तथा उसके विकास में काफी लाभ मिलेगा। नहरों का निर्माण कुछ तो सरकारी आय की बचत वाली पूँजी से किया जाता है और कुछ साधारण राजस्व की सुरक्षित रकम से उधार ली हुई रकम से। इसलिए इससे होने वाले लाभ में लोगों का भी कुछ हिस्सा होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कुछ लोग रेलों का उदाहरण उपस्थित करते हैं और कहते हैं कि रेलें इतनी अधिक पूँजी लगाने के पश्चात् कितना कम लाभ लेती हैं परन्तु यह उदाहरण यहाँ पर न्याय संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि नहरों द्वारा होने वाला लाभ तो केवल एक वर्ग को ही मिलता है जबकि रेलों द्वारा होने वाले लाभ से सारे समाज या प्रायः सभी मनुष्यों को लाभ मिलता है। इसलिए यह आवश्यक है कि नहरों की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे उससे होने वाली आय से सरकारी राजस्व को अच्छी आमदनी हो।

आज कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हो गई है, जमींदार इत्यादि खूब लाभ उठा रहे हैं, दूसरी ओर राष्ट्र के निर्माण के लिए काफी धन की भी आवश्यकता है। इसलिए ऐसी स्थिति में यदि सिंचाई-कर में कुछ वृद्धि हो जाती है तो इससे कोई हानि नहीं होगी। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना होगा कि सिंचाई की दर इतनी अधिक न हो जाय कि उसका प्रभाव निर्धन किसानों पर बुरा पड़े।

विशेष वक्तव्य—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि निकट भविष्य में हमारी राष्ट्रीय सरकार की कुशल नीति के फलस्वरूप हमारे देश का औद्योगिक उत्थान अवश्य होगा, सिंचाई आदि की इन योजनाओं से हमारी कृषि भी आवश्यक उन्नति करेगी। हमारे देश में कितने ही ऐसे भाग हैं जिनमें सिंचाई का प्रबन्ध न होने से कुछ उत्पादन नहीं होता, दूसरे कुछ ऐसे भाग हैं जिनमें फसलें तो होती हैं किन्तु उतनी अच्छी नहीं जितनी कि होनी चाहिए। यह तो रही कृषि के विकास की बात; किसी देश के औद्योगिक विकास के लिये विद्युत-शक्ति की आवश्यकता काफी होती है। इन योजनाओं के पूर्ण होने से हमें पर्याप्त मात्रा में जल-विद्युत प्राप्त हो जायगी जिससे हमें कितने ही उद्योग-धन्धों के संचालन में सहायता मिलेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि शक्ति के अन्य साधन जैसे कोयला, पेट्रोलियम आदि का भारत में अभाव है, ऐसी स्थिति में जल-शक्ति का यह साधन हमारे इस अभाव को दूर कर स्वतंत्र भारत के नवनिर्माण में हाथ बँटायेगा। अभी तक भारत में जितना जल-साधन है, उसका केवल थोड़ा भाग ही प्रयुक्त किया गया है। उसका विशेष उपयोग नहीं हुआ है, अतएव यदि हमारे जल-साधन का पूर्ण विकास हो जायगा तो हम कृषि तथा उद्योग-धन्धों सम्बन्धी बहुत सी समस्याएँ सरलता से हल कर लेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं। हमारी इन योजनाओं के कार्यान्वित होने में अच्छी रकम खर्च हो जायगी किन्तु जब यह पूर्ण रूप से तैयार हो जायगी तो इनसे राष्ट्र को एक अच्छी आय मिलेगी, इससे उद्योग-धन्धों तथा कृषि को प्रोत्साहन तो मिलेगा ही साथ ही कितने ही बेकार आदमियों को काम भी मिल जायगा।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

कृषि-उत्पादन की बिक्री

प्राक्कथन—अभी तक हमने भारतीय कृषि के सुधार के विषय में विचार किया। हमने देखा कि यदि कृषि के विकास के लिए हम भूमि का उचित प्रबन्ध कर देते हैं, उसके लिए बीज, खाद, सिंचाई आदि की उचित व्यवस्था हो जाती है, कृषक की शिक्षा आदि का उचित प्रबन्ध कर दिया जाता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी कृषि में अवश्य सुधार हो जायगा, वह अवश्य अच्छी स्थिति में पहुँच जायगी किन्तु कृषि की दशा के सुधारने से ही, उत्पादन में वृद्धि हो जाने से ही हमारे कृषक की स्थिति में सुधार नहीं हो जाता, केवल इसी से उसकी दशा अच्छी नहीं हो जाती, उसकी दशा तो उसी समय अच्छी होगी जब कि उसके उत्पादन की बिक्री का उचित प्रबन्ध होता है। जब तक हमारे किसान को यह विश्वास नहीं हो जाता कि उसके परिश्रम का उसे पूरा-पूरा लाभ मिलेगा तब तक इस दिशा में विशेष सुधार नहीं हो सकता। जब तक किसान को यह विश्वास नहीं हो जाता कि दलाल और महाजन आदि से उसकी रक्षा होकर, उसे उसके परिश्रम का पूरा फल मिलेगा तब तक वह अच्छा परिश्रम करने के लिए न उत्सुक होगा और न प्रयत्नशील।

आजकल हमारा किसान जो उत्पादन करता है, और उसकी बिक्री जिस ढंग से होती है, उससे हमारे सामाजिक-आर्थिक संगठन का खोखलापन ही दिखलाई पड़ता है।

अभी कोई बहुत दिन नहीं हुए, जब कि हमारे गाँव का आर्थिक संगठन एक बड़ी ही सन्तोष-जनक स्थिति में था। हमारे गांव आर्थिक दृष्टि से पूर्ण-स्वावलम्बी थे। जो कुछ भी गाँव में उत्पन्न किया जाता, उस सबका उपभोग गाँव वालों द्वारा ही हो जाता था, उन्हें उसे बेचने जाने के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ता था। उत्पादन की बिक्री का कोई विशेष प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु अब तो इसमें काफी परिवर्त्तन हो गया है, गाँव वाले अपने उपभोग के बाद बचने वाले अन्न की बिक्री के लिए बाहर जाते हैं। उसके बदले में उसे रुपए मिलते हैं, जिससे वह अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ खरीदता तथा लगान आदि देता है। उसका वस्तुओं के मूल्य आदि के नियंत्रण में कोई हाथ नहीं रहता। वह अपनी वस्तु का प्रायः उचित मूल्य भी नहीं पाता। उसका कारण उसकी अज्ञानता, अशिक्षा, पूँजी का अभाव, उसका दकियानूसीपन, यातायात के अभावयुक्त साधन तथा अन्य बहुत सी अशक्तताएँ हैं। अतः जब तक हमारा किसान बिक्री की कला से पूर्णरूप से विज्ञ नहीं हो जाता, तब तक उसे अपने परिश्रम का उचित लाभ नहीं मिल सकता। इसके अतिरिक्त हमारे कृषक की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे अपनी उपज एक अनुपयुक्त स्थान में, अनुपयुक्त समय में तथा अनुपयुक्त ढंग से बेचना पड़ता है। हम यहाँ पर कृषि उत्पादन की बिक्री सम्बन्धी कुछ इन्हीं समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

अच्छी बिक्री की आवश्यकताएँ—उपज की उत्तम बिक्री के लिए कई आवश्यक बातों का होना अनिवार्य है। सर्वप्रथम तो कृषक को यह चाहिए कि जो वस्तु वह बेचने जा रहा है उसमें किसी प्रकार की मिलावट आदि न हो, बिक्री की वस्तु की उत्तमता में किसी प्रकार का अभाव न होना चाहिए। उत्तम उपज के लिए किसान को भरसक प्रयत्न करना चाहिए, उसे अच्छे बीज, अच्छी खाद आदि से अपनी उपज बढ़िया बनानी चाहिए। अच्छी वस्तु के अच्छे दाम मिलने में विशेष कठिनाई नहीं होगी।

उत्तम बिक्री के लिए या वस्तुओं का अच्छा मूल्य प्राप्त करने के लिए कृषक में, या विक्रेता में अपनी वस्तु को अधिक दिन तक रखने की सामर्थ भी होनी आवश्यक है। यदि फसल के काटने के पश्चात् कृषक को अपनी उपज तुरन्त ही बेचने के लिए वाध्य होना पड़ता है तो वस्तुओं का अच्छा मूल्य नहीं मिल सकेगा। अतएव इसके लिए यह आवश्यक है कि या तो किसान के पास अपना लगान आदि देने के लिए पहले से ही रुपए का प्रबन्ध हो अथवा उसे कम सूद पर ऋण लेने की सुविधा प्राप्त हो।

तीसरे अच्छी बिक्री के लिए यातायात के अच्छे साधनों का भी होना आवश्यक है। किसान को बाजार की कीमतों की घटी-बढ़ी का ज्ञान होना चाहिए, तथा उसे अपने समीपस्थ बाजार में आसानी से पहुँचने की सुविधा होनी चाहिए। यदि आवागमन की सुविधा नहीं होती तो किसान को अपनी उपज बेचने के लिए गाँव के बनिया आदि के ही चंगुल का शिकार बनना होगा।

इसके अतिरिक्त सुविधाजनक दूरी पर सुव्यवस्थित बाजार होने चाहिए। इन बाजारों की देखभाल निष्पक्ष रूप से की जानी चाहिए। यदि बाजारों में मनमानी काम होता है तो किसान का बाजारों से विश्वास उठ जायगा और वह अपनी उपज को गाँव में ही बेच देना अधिक पसन्द करेगा।

हमारे गाँव में बाजारों की उचित व्यवस्था होना आवश्यक है। भारतीय कृषक निर्धन है, कारण कि हमारे बाजार दोषपूर्ण तथा अभावयुक्त हैं, हमारे बाजार दोषपूर्ण इसलिए हैं कि हमारा किसान निर्धन है। इस प्रकार इस समस्या को सुलझाने के लिए हमें यथेष्ट ध्यान देना चाहिए।

वर्त्तमान पद्धति, गाँवों में बिक्री—वर्ष भर बेची जाने वाली फसल का अनुपात, व्यक्ति तथा गाँव के क्षेत्र के हिसाब से अलग-अलग होता है। व्यापारिक फसलों की बिक्री खाने वाली फसलों से कम होती है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं की बिक्री किसान की सम्पन्नता पर भी निर्भर रहती है। किसान जितना ही धनी होगा, जितना ही सम्पन्न होगा, तो वर्ष के अन्त में वह उतनी ही अधिक उपज की बिक्री करेगा। इसके विपरीत निर्धन किसान फसल कटने के शीघ्र ही पश्चात् अपनी उपज बेचना प्रारम्भ कर देगा।

जितनी उत्पत्ति होती है और उसका जितना अंश बाजारों में भेजा जाता है तथा जो गाँव में बेंचा जाता है, उसके सम्बन्ध में निश्चित जानकारी प्राप्त है एक विद्वान का ऐसा अनुमान है कि उत्तर प्रदेश में ८० प्रतिशत गेहूँ, ४० प्रतिशत कपास, ७५ प्रतिशत तिलहन, पंजाब में ६० प्रतिशत गेहूं, ३५ प्रतिशत कपास तथा ७० प्रतिशत तिलहन गाँवों या गाँव के बाजारों में बेची जाती है। बिहार, उड़ीसा, तथा बंगाल में ८५ प्रतिशत तिलहन तथा ९० प्रतिशत जूट गाँवों में ही बेच दिया जाता है। यदि किसान ऋण के बोझ से लदा रहता है, अथवा उसके खेतों की जोत छोटी होती है तो बाजारों में उत्पादन की बिक्री का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे कृषक प्रायः अपने गाँवों के अन्दर ही अपने उत्पादन की बिक्री करते हैं। वर्त्तमान समय में कृषि उत्पादन की बिक्री मुख्यतया निम्नलिखित पद्धति द्वारा होती है: (१) साधारणतया गाँवों में बाजार या हाट लगते हैं, इन बाजारों में खेती की पैदावार का अधिकांश बिकने के लिए आता है, (२ गाँव का महाजन खेती की पैदावार का खासा अच्छा भाग किसानों से खरीद लेता है और उसे बड़े-बड़े बाजारों में बेचता है, (३) भ्रमण करने वाले खरीददार अपने या अपने मालिक के व्यय से गाँवों में जाते हैं और बड़े बाजारों में बेचने के लिए माल खरीदते हैं। किसानों की अशिक्षा से, उनकी अज्ञानता से गाँव के महाजन तथा ये दलाल अनुचित लाभ उठाते हैं। यातायात के अच्छे साधनों के न होने तथा निर्धन होने के कारण हमारा किसान इन्हीं व्यापारियों तथा गाँव के महाजनों के हाथ अपनी उपज बेंचने के लिए वाध्य होता है। व्यापारी इन

किसानों से पैदावार खरीदकर बड़ी-बड़ी व्यापारिक मंडियों में ले जाते हैं जहाँ पर इनसे आढ़तिये आदि खरीद लेते हैं। जिस गाँव के या जो किसान महाजन के चंगुल में फंस जाते हैं वे प्रायः महाजन के हाथ अपनी फसल बेच देते हैं परन्तु इस प्रकार फसल बेचने में किसानों को अपने महाजन की शर्तों के अनुसार ही बिक्री करनी पड़ती है। जब किसान अपनी उपज गाँव में ही बेचता है चाहे वह गाँव की हाट में बेंचे, या व्यापारी के हाथ या महाजन के हाथ, उसे इतना लाभ नहीं मिलता जितना कि यदि वह अपने माल को गाड़ी में लादकर किसी बड़ी मन्डी में ले जाता।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब किसान को बाहर जाकर बड़ी मंडियों में अपनी उपज बेचने में लाभ होता है तो वह फिर वहीं जाकर अपने माल को क्यों नहीं बेंचता? इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि किसान को बाजार या बड़ी मंडियों में अपना माल ले जाने के लिए यातायात के उचित साधन प्राप्त नहीं हैं, अभी न तो गाँव में अच्छी सड़कें हैं और न अच्छी तरह माल ढो ले जानेवाली गाड़ियाँ ही हैं। अभी कितने ही ऐसे गाँव हैं जहाँ सड़कों का नाम भी नहीं है और जहाँ थोड़ी-बहुत सड़कें हैं भी वे अच्छी स्थिति में नहीं हैं। किसान जो भी माल ले जाता है वह बैलगाड़ियों द्वारा ले जाता है, सब जगह पर न तो बैलगाड़ियाँ जा ही सकती हैं और न उनसे माल के भेजने में विशेष सुविधा ही है। यातायात की यह असुविधा पर्वतीय प्रदेशों में और भी बढ़ जाती है ऐसे स्थानों में पशुओं द्वारा ही माल ढोया जाता है। यहाँ पर किसान अपने माल को उस अन्न बेचने वाले के हाथ में बेच देता है जिसके पास अधिक पशु हैं और जो अपने पशुओं द्वारा ही यह व्यापार करता रहता है।

अन्नादि लाने-ले जाने के लिए विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न साधन प्रयुक्त किए जाते हैं। उत्तरी भारत में प्रायः बैलगाड़ियों या अन्य पशुओं आदि के द्वारा यह काम होता है, जहाँ पर अच्छी सड़कें हैं वहाँ मोटर गाड़ियों आदि के द्वारा भी यह काम लिया जाता है। प्राचीन काल में नदियों द्वार भी माल लाने, ले जाने का काम होता था, परन्तु अब इस साधन से उतना लाभ नहीं उठाया जात। जितना पहले, परन्तु बंगाल तथा आसाम में अब भी नदियों में नावों द्वारा सामान ढोने आदि का काम लिया जाता है।

बाजार—हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारा किसान अधिकतर अपना माल अपने गाँव में ही बेंच देता है, ऐसे बहुत कम किसान हैं जो बाजारों में अपनी उपज को बेचने के लिए जाते हैं। बाजारों में अधिक तादाद में किसानों के न जाने का कारण यातायात की कठिनाई या असुविधा तो है ही साथ ही अन्य और भी कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण किसान को वहाँ जाने का विशेष साहस नहीं होता।

शाही कृषि कमीशन ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि 'हमें प्रायः सभी प्रान्तों से ये शिकायतें मिली हैं, कि जैसा कि बाजारों का वर्त्तमान संगठन है उसमें कृषक को अपनी उपज की बिक्री करने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मंडियों में किसान के साथ तौल, माप आदि में काफी बेईमानी की जाती है, किसान का बहुत सा अनाज नमूने आदि के रूप में लेकर नष्टकर दिया जाता है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि मंडियों के वर्तमान संगठन में कई दोष हैं। हम यहाँ पर बाजारों या मंडियों के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालेंगे।

बाजारों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—संगठित और असंगठित। असंगठित बाजार प्रायः प्राचीन व्यवस्था के अनुसार ही चलते हैं। ऐसे बाजारों में क्रय-विक्रय के लिये कोई निश्चित नियमादि नहीं हैं, ये आढ़तिये जो खरीद करते हैं, उसे बड़े आढ़तियों के हाथ बेंच देते हैं।

जिन स्थानों में गेहूँ, कपास, गन्ना, जूट आदि उत्पन्न होते हैं वहाँ पर मंडियाँ संगठित ह गई हैं। ऐसे स्थानों में वस्तुओं के मूल्य आदि पर अच्छा नियंत्रण रहता है। इन बड़ी-बड़ी मंडियों

में मुख्य-मुख्य वस्तुओं के थोक व्यापारी होते हैं, ये व्यापारी गाँव के बनियों को पूँजी देकर फसल कटने पर उपज खरीदने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। इन व्यापारियों का निर्यात करने वाली बड़ी-बड़ी फर्मों से सम्बन्ध होता है जिसके हाथ ये अपना माल बेचते हैं।

थोक व्यापारी को पक्का अढ़तिया भी कहा जाता है, इसके विपरीत कच्चा अढ़तिया होता है जो गाँवों के सब बेचने वालों के मध्य कमीशन एजेन्ट के रूप में काम करता है। पक्का अढ़तिया बेचने वाले किसान से कभी भी सीधे नहीं खरीदता।

बहुत कम मण्डियों में सहकारी क्रय-विक्रय समितियाँ हैं, जो कच्चे आढ़तिये का काम करती हैं।

वर्तमान प्रथा के दोष--भारत में इस प्रकार की बिक्री की पद्धति में कई दोष हैं :—(१) उपज की किस्म का अच्छा न होना, (२) यातायात की सुविधाओं का अभाव, (३) गल्ला आदि रखने के लिये भण्डारों का अभाव, (४) बाजार में धोखेधड़ी तथा आढ़तियों व दलालों आदि की चालाकी। इनमें से प्रत्येक पर हम यहाँ विचार करेंगे।

(अ) अच्छा उत्पादन न होना—भारत में जो फसल उत्पन्न होती है, उसकी किस्म अच्छी नहीं होती, विदेशी बाजारों में वे अच्छी नहीं मानी जातीं। भारत में फसलों के अच्छे न होने के कई कारण हैं। इस सम्बन्ध में हम पिछले पृष्ठों में विचार कर चुके हैं। यहाँ हमें केवल इतना कहना है कि बीजों का अच्छा चुनाव न होना, फसलों को प्राचीन पद्धति के आधार पर काटना आदि मुख्य हैं। इस प्रकार के फसल के काटने से अनाज में मिट्टी इत्यादि मिली रहती है। प्राकृतिक प्रकोपों से भी हमारी फसल को काफी हानि पहुँचती है। गाँवों में अन्न को अच्छी तरह से रखने के लिये गोदामों का अभाव है जिससे वर्षा आदि में बहुत अन्न खराब हो जाता है, लापरवाही से रखा जाने के कारण बहुत से अन्न में नमी आदि प्रवेश कर ही जाती है, किसान तथा आढ़तिये वगैरा उसमें मिलावट भी खूब कर देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में उत्पन्न होने वाला अन्न कई कारणों से उत्तम कोटि का नहीं हो सकता। हम पीछे कह चुके हैं कि भारत की जोती जाने वाली भूमि का लगभग ६० प्रतिशत भाग खराब बीजों से ही बोया जाता है। हारवेस्टर जैसी आधुनिक मशीनों के प्रयोग न करने के कारण फसल अच्छी प्रकार काटी भी नहीं जाती। अन्न भण्डार या गोदाम आदि की व्यवस्था की ओर तो अभी ध्यान ही नहीं दिया गया है। आर्थिक अभावों के कारण किसान अधिक समय तक अन्न को नहीं रख सकता। मिलावट के सम्बन्ध में भी हम ऊपर कह ही चुके हैं। कि यहाँ वस्तुओं में किस तरह मिलावट कर दी जाती है।

इधर पदार्थों के प्रमाणीकरण तथा शुद्धता के लिये प्रयत्न किया जा रहा है। १९३७ के कृषि उत्पादन (मार्केटिंग तथा ग्रेडिंग) कानून के पास हो जाने से इस दिशा में विशेष प्रगति हुई है। इस कानून के अनुसार विश्वासी आदमियों को कृषि-उत्पादन की कुछ वस्तुओं के ग्रेडिंग के लिये प्रमाण-पत्र दिये जाते हैं, इन लोगों पर सरकार अपना अच्छा नियंत्रण रखती है। वे वस्तुएँ जिनका प्रमाणीकरण तथा ग्रेडिंग हो जाता है वे एगमार्क (Agmark) के लेबेल तथा सीलयुक्त बाजारों में बिक्री के लिये भेजी जाती हैं। इस प्रकार की बिकने वाली चीजों में घी, आटा, फल, अण्डे तिलहन, तरकारी, तेल, कपास, चावल, लाख आदि हैं। सन् १९४७ में 'एगमार्क' वाली वस्तुयें लगभग १० करोड़ तथा १९४८ में १२ करोड़ रुपये के मूल्य की बिकी थीं।

यातायात के साधन—यद्यपि पिछली अर्द्ध शताब्दी में यातायात के साधनों में काफी विकास हुआ है किन्तु भारत अब भी रेलों तथा सड़कों आदि की दृष्टि से अन्य देशों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है। भारत में प्रति १०० वर्गमील में २·२ मील का रेल पथ है जब कि ग्रेटब्रिटेन में

इतने ही क्षेत्रफल में २२·७ तथा संयुक्त राज्य अमरीका में ८·३ मील लम्बी रेलवे लाइनें हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान में माल भेजने में किराया भाड़ा आदि भी काफी पड़ जाता है, इतना अन्य देशों में नहीं है।

अन्य देशों की अपेक्षा भारत में सड़कें भी बहुत कम हैं। यहाँ जो सड़कें हैं भी वे अच्छी नहीं हैं, बरसात के समय में उनमें बड़ी ही गन्दगी हो जाती है। यही कारण है कि किसान इन कठिनाइयों, इन परेशानियों को देखकर अपने गाँव में घर बैठे माल बेच देना अधिक पसन्द करता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम रेलों तथा सड़कों का उचित प्रसार करें, जल द्वारा यातायात का भी प्रबन्ध किया जाय। यातायात के सब साधनों का समुचित विकास हो जाने पर वस्तुओं की बिक्री में काफी सुविधा हो जायगी।

भावों की तेजी-मन्दी की खबरें—हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारा किसान गाँव में दूर रहता है उसे दूसरे देशों की तो बात दूर ही रही अपने देश के अन्दर की ही प्रमुख व्यापारिक मण्डियों में वस्तुओं के भाव की तेजी-मन्दी का विशेष ज्ञान नहीं रहता है इससे भी उसे अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

अब इधर सरकार ने इस ओर कुछ ध्यान दिया है। समाचार पत्रों में वस्तुओं के भाव प्रकाशित होने के अतिरिक्त, आल इण्डिया रेडियो के भी कुछ स्टेशनों से वस्तुओं के भावों की दैनिक तेजी-मन्दी के समाचार प्रसारित किए जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ये समाचार हमारे प्रत्येक गाँव में नित्य प्रति पहुँचते रहें।

मध्यस्थों की बहुलता—हम पीछे कह चुके हैं कि यहाँ कृषकों तथा उपभोक्ताओं के मध्य में कई मध्यस्थ हैं। हमने देखा कि थोक तथा फुटकर विक्रेता, व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, दलाल, पक्का आढ़तिया आदि किस प्रकार किसान को मूर्ख बना कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। इनमें से हरेक अपना-अपना लाभ कमाना चाहता है। यदि इन मध्यस्थों की संख्या में कमी कर दी जाय तो इससे खरीदने तथा बेचने वाले दोनों ही व्यक्तियों को लाभ हो और यदि किसान स्वयं अपनी उपज बाजार को ले जाने लगे तो व्यापारी की भी कोई आवश्यकता न रहे। यदि सहकारी भण्डारों की व्यवस्था हो जाय तो कच्चा-अढ़तिया का भी कोई काम नहीं रह जाता। पक्का आढ़तिया तथा थोक-विक्रेता प्रायः एक ही व्यक्ति होता है।

यदि गाँवों में सहकारी विक्रय समितियों की स्थापना हो जाय तो उपभोक्ता सीधे वहीं से सामान खरीद सकता है। परन्तु बिना किसी मध्यस्थ या दलाल इत्यादि के सहकारी विक्रय समितियों का प्रसार अथवा विकास नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में शाही कृषि कमीशन के ये विचार उपयोगी हो सकते हैं कि 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसान की बिक्री सम्बन्धी बहुत सी कठिनाइयाँ इन दलालों या मध्यस्थों के ही कारण हैं, अतः इन अनावश्यक मध्यस्थों को दूर करने के लिए सबसे अच्छा रास्ता यह है कि यातायात के साधनों का अच्छा विकास किया जाय साथ ही कुछ सुव्यवस्थित बाजारों की जहाँ पर कि किसान आसानी से पहुँच सके तथा अपना माल सरलता से ले जा सके, स्थापना की जाय।'

प्रो० मुखर्जी का कहना है कि 'अच्छी सड़कों के बन जाने से आढ़तिया, व्यापारी का स्थान ले लेगा और इसके बाद निर्यात करने वाली फर्म आढ़तिया का स्थान ले लेगी, और इसके बाद काश्तकार स्वयं सहकारिता के आधार पर इन सभी मध्यस्थों को समाप्त कर देने में समर्थ हो जायगा।'

अन्न भण्डार गृह की व्यवस्था—आर्थिक अभाव के कारण किसान फसल कटने के एक-दो महीने बाद ही अपनी उपज बेंच देता है, वह केवल अपने लिए उतना ही शेष रख छोड़ता

है जितना उसके कुटुम्ब के उपभोग के लिए आवश्यक हो। इसलिए वह अन्न-भण्डार-गृह या गोदाम इत्यादि के निर्माण के लिए धन नहीं खर्च करना चाहता। जितने दिन वह गल्ला अपने यहाँ रखता है, उसे वह मिट्टी के बड़े-बड़े बर्त्तनों, बोरों या खत्तियों में रखता है। ये खत्तियाँ जमीन के नीचे होती हैं जिससे अन्न को सीड़ या नमी, तथा चूहों आदि से बड़ा खतरा रहता है। बड़ी बड़ी मण्डियों में यह उपज बड़े-बड़े कोठों में रखी जाती है। इस प्रकार अन्न रखने से बड़ी हानि पहुँचती है, बहुत सा अन्न नष्ट हो जाता है, दूसरे इस प्रकार से अधिक दिन तक अन्न रखा भी नहीं जा सकता। अतः अधिक समय तक उपज को सुरक्षित रखने के लिए अच्छे भण्डारगृहों या गोदामों की सुविधा होनी चाहिए। यदि कृषि की उपज रखने के लिए सीमेंट के बने हुए फर्श तथा दीवालों वाले गोदामों की व्यवस्था हो जाय तो हमारे कृषकों का बहुत सा अन्न नष्ट होने से बच जाय। बड़ी-बड़ी मण्डियों तथा रेलवे स्टेशनों में अच्छे गोदामों की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे किसान अपनी उपज को वहाँ पर सरलता से सुरक्षित रख सके। गाँव में सहकारी समितियों द्वारा इस प्रकार के गोदाम बनने में सहायता मिल सकती है।

कुछ अन्य दोष---हमारे क्रय-विक्रय सम्बन्धी वर्त्तमान पद्धति में एक सबसे बड़ा दोष और है वह यह कि हमारे बाजारों में किसान के साथ कई चालबाजियाँ की जाती हैं। ये चालबाजियाँ अच्छे बाजारों में भी प्रचलित हैं। हमारा किसान आढ़तिया, दलालों आदि की इन चालाकियों का प्रायः शिकार हुआ करता है। सबसे पहले तो यह कि कुछ दलाल या आढ़तिया लोग बेचने तथा खरीदने वाले दोनों व्यक्तियों से मिले रहते हैं और किसान को मूर्ख बना कर अपना उल्लू सीधा करते हैं। ये दलाल दोनों ओर से कमीशन लेते हैं। जब तक कि बेचने वाली वस्तु का मूल्य अढ़तिया तथा दलाल आदि तय नहीं कर लेते तब तक किसान को इसके सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं चलता। इससे किसान धोखा खाता है, उसे आढ़तियों पर कोई विश्वास नहीं रहता। इससे साधारणतया वह मण्डियों में जा कर अपना माल बेचने का साहस नहीं करता।

यही नहीं किसान के साथ तौल आदि में भी बड़ी गड़बड़ी की जाती है। हमारे देश में कई प्रकार की तौलें प्रचलित हैं। अशिक्षित किसान इनको अच्छी तरह नहीं समझ पाता। आढ़तिया लोग किसान से जो गल्ला खरीदते हैं, वह किसी दूसरी तौल द्वारा, तथा जो बेचते हैं, वह किसी दूसरी तौल से। इस प्रकार एक ही बाजार या मण्डी में दो तौलें रहती हैं, बेचने की अलग तथा खरीदने की अलग।

इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारों ने समय समय पर कई कानून पास किए जिनके द्वारा एक ही प्रामाणिक तौल-माप आदि के चलाने की व्यवस्था की गई, परन्तु अभी इस दोष से पूर्णतया छुटकारा नहीं मिला है। १९३५ में केन्द्रीय विधान सभा द्वारा एक स्टैण्डर्ड वेट बिल पास किया गया जिसके अनुसार प्रान्तों को एक ही प्रमाणिक तौल-माप के लिए नियमों के निर्माण की सुविधा दी गई। आशा है कि इससे यह बुराई दूर हो जायगी।

इसके अतिरिक्त मण्डियों में जब किसान अपनी उपज बेचने के लिए जाता है तो उससे कई प्रकार के शुल्क ले लिये जाते हैं। इनमें से चुङ्गी के अतिरिक्त मंडी में गाड़ी ठहराने का शुल्क, माल तुलाई, गोशाला, मन्दिर, प्याऊ आदि का चन्दा। इस प्रकार मण्डी में जाने से किसान को इन बहुत से खर्चों को सहन करना पड़ता है। सब मिलाकर इन शुल्कों की रकम काफी बढ़ जाती है। यदि किसान या अन्य कोई भी विक्रेता सहकारी क्रय समितियों के द्वारा बेचे तो उसे लगभग ५० प्रतिशत की बचत हो सकती है। किसान को चुङ्गी में भी खासी रकम दे देनी पड़ती है, 'ह्वीट रिपोर्ट' के अनुसार चुंगी की ये रकमें पैदावार की ४—५ प्रतिशत तक पहुँच जाती हैं। वर्ष भर में नगर पालिकाओं को चुंगी द्वारा एक करोड़ से भी ऊपर की आय होती है।

इन शुल्कों की कुल रकम विभिन्न प्रान्तों में अलग अलग है, उत्तर-प्रदेश में करीब ३।)।, मध्य प्रदेश में ३।।।)।। तथा पंजाब में १।≡)।। प्रति सैकड़ा शुल्क के रूप में देना पड़ता है। इनमें से अधिकांश शुल्क भार बेचने वाले किसान के ही सर पर होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसान को एक बड़ी रकम शुल्क के ही रूप में दे देनी पड़ती है, जिससे उसका कोई विशेष लाभ नहीं होता।

मण्डियों का विधान—कहना न होगा कि वर्तमान मंडियों का प्रबन्ध प्रायः आढ़तियों आदि के ही हाथों में रहता है, उसमें न तो विक्रेता किसान का ही हाथ रहता है और न व्यापारी का। इस कारण से मण्डियों में किसान के हितों तथा स्वार्थों की कोई रक्षा नहीं होती, इन मंडियों में आढ़तियों का ही बोलबाला रहता है। इसलिये मंडियों के इस दोष को दूर करने के लिये, उनको नियंत्रित करने के लिये किसी न किसी विधान की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि देश भर में नियन्त्रित तथा सुव्यवस्थित मंडियों की व्यवस्था हो जाय तो हमारे बाजारों के विक्रय सम्बन्धी बहुत से दोषों का अन्त हो जाय।

भारत में नियंत्रित मंडियों की स्थापना की ओर कुछ ध्यान दिया गया है, बरार तथा बम्बई में इस प्रकार की नियंत्रित (रेग्यूलेटेड) मंडियों की स्थापना हो चुकी है।

१८९७ में, जब बरार का काटन तथा ग्रेन मार्केट कानून पास हुआ तभी से नियंत्रित मंडियों का भारत में श्रीगणेश हुआ। अन्य क्षेत्रों के लिए भी शाही कृषि कमीशन ने इस प्रकार के बाजारों की स्थापना का अनुरोध किया था। बरार के उपरोक्त कानून में कुछ सुधार करके बम्बई की सरकार ने काटन मार्केट कानून पास किया परन्तु बाद में १९३० में एक और अच्छे कानून—कृषि-उत्पादन मार्केट कानून—पास कर १९२७ के कानून को रद्द कर दिया गया। इसी प्रकार के कानून अन्य प्रदेशों—हैदराबाद राज्य (१९३०), मदरास (१९३३), मध्य प्रांत (१९३५), मैसूर (१९३९) तथा पंजाब (१९३९)—में भी पास किए, गए, जिससे विधान द्वारा बाजारों को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। उपरोक्त सब प्रदेशों या राज्यों के कानून के मूल सिद्धान्त एक ही हैं।

इस सम्बन्ध में हम यहाँ पंजाब के १९३९ के कृषि उत्पादन कानून की कुछ मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करेंगे।

इसके अनुसार प्रत्येक मंडी में एक मंडी समिति स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। यह मंडी समिति खरीददारों तथा बेचने वालों के बीच में (अपने क्षेत्र के अन्दर) अच्छे तथा न्यायपूर्ण व्यवहारों की व्यवस्था करेगी। इस मंडी समिति के सदस्यों की नियुक्ति सरकार द्वारा होगी।

दूसरे इस कानून द्वारा दलालों आदि को सरकार से प्रमाण-पत्र लेना होगा, तथा इस कानून के उल्लंघन करने वाले दण्ड के भागी होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐसी व्यवस्था से किसानों को अपना सामान मंडियों में बेचने को ले जाने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। मंडियों की ऐसी व्यवस्था से हमें कई लाभ है :—

(१) मंडी-समिति में सभी के हितों की रक्षा हो सकेगी। इसमें जमींदार, किसान, गाँव के व्यापारी तथा आढ़तियों के प्रतिनिधि, सहकारी तथा कृषि विभाग के कर्मचारी आदि सभी रहेंगे जिससे सब वर्गों के हितों की रक्षा हो सकेगी।

(२) इससे कृषक का खरीददार से सीधा सम्बन्ध रह सकेगा।

(३) समिति द्वारा किसानों को अन्य बड़ी मंडियों के भावों की घटा-बढ़ी का पता चल सकेगा।

(४) समिति पैदावार की बिक्री का प्रबन्ध नीलाम द्वारा करेगी।

(५) यह दलालों पर नियंत्रण रखेगी।

(६) वह यह भी प्रबन्ध रखेगी कि तोल में अन्य किसी रूप में धोखेबाजी तो नहीं होती है।

(७) किसान पर लगने वाले शुल्कों में कमी हो जायगी।

(८) मंडी के कोष से किसानों के लिए पानी, पशुओं के लिए छांह तथा अन्न को सुरक्षित रखने के लिए गोदाम आदि की व्यवस्था हो सकेगी।

(९) मंडियों में काम करने वाले सभी व्यक्तियों पर नियंत्रण रखा जा सकेगा।

(१०) वस्तुओं के प्रमाणीकरण (Standardigation) तथा श्रेणी-विभाजन (Grading) में भी सुविधा हो जायगी।

(११) मंडियों में आने वाले किसानों को स्वच्छता, मितव्ययता तथा अच्छी फसल उत्पन्न करने के सम्बन्ध में शिक्षित भी किया जा सकेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि मंडी समिति ठीक ढंग से काय करेंगी तो हमारे विक्रय सम्बन्धी ये बहुत से दोष दूर हो जायँगे। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक राज्य में इन कानूनों की उचित व्यवस्था की जाय तथा उसके पालन कराने की ओर उचित ध्यान दिया जाय।

सहकारी विक्रय समितियाँ—वर्त्तमान क्रय-विक्रय सम्बन्धी दोषों से किसान को मुक्त करने के लिये मुख्यतया दो बातें हैं एक तो मंडियों का विधान, दूसरे कृषि उत्पादन का सहकारी समितियों द्वारा विक्रय। ऊपर हमनें मंडियों के विधान के सम्बन्ध में कुछ विचार किया, अब यहाँ सहकारिता के आधार पर वस्तुओं की विक्री पर प्रकाश डालेंगे। सहकारिता के आधार पर वस्तुओं के विक्री से भी कई लाभ होने की आशा है। आशा की जाती है कि इससे सहकारी विक्रय समितियों से विक्री में वृद्धि हो जायगी, वस्तुओं के भाव में कमी हो जायगी, उत्पादकों को अधिक लाभ हो सकेगा। सहकारी विक्रय-समितियों ने यूरोप तथा अमरीका में अच्छी सफलता प्राप्त की है। भारत में भी इसकी सफलता की बड़ी आशा है। बम्बई, मदरास, पश्चिमी बंगाल, मध्यप्रदेश ने प्रान्तोय मार्केटिंग, फेडरेशन की स्थापना की है। उत्तर प्रदेश में घी यूनियन तथा 'केन मार्केटिंग' समितियाँ तथा बम्बई में कपास विक्रय समितियाँ बड़ी अच्छी तरह कार्य कर रही हैं। ये समितियाँ अपने सदस्यों की उपज को ही नहीं बेचतीं वरन् वे उनके लिये खाद्य तथा शुद्ध बीज आदि की भी व्यवस्था करती हैं। बिहार तथा उत्तर प्रदेश की गन्ना विक्रय समितियाँ अपने मुख्य कार्यों के साथ-साथ, गन्ना की किस्म अच्छी करने, गाँव में सुधार आदि के कार्य करने में भी बड़ा हाथ बँटा रही हैं। १९४७-४८ में भारत में कुल सहकारी समितियों की संख्या ३,७५१ थी, जिसमें लगभग २० लाख सदस्य थे। इसमें कुल ५½ करोड़ से ऊपर कार्यशील पूँजी लगी है।

भारत में सहकारी विक्रय-समितियों की स्थापना से उत्पादन आदि में काफी वृद्धि हो सकी है। इधर इन सहकारी विक्रय समितियों, पूँजी व उपभोक्ता समितियों के मिलाने की ओर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है। अभी इन सहकारी समितियों के विस्तार की बड़ी आवश्यकता है। सहकारी विक्रय समितियों की स्थापना से हम अपने मंडियों के वर्त्तमान दोषों को दूर कर वस्तुओं की विक्री की अच्छी व्यवस्था कर सकेंगे।

क्रय-विक्रय की नवीन व्यवस्था—शाही कृषि कमीशन ने विभिन्न वस्तुओं के क्रय-विक्रय की व्यवस्था के लिये कुशल मार्केटिङ्ग अफसरों की नियुक्ति का अनुरोध किया था। १९३४ में शाही कृषि अनुसंधान परिषद (Imperial Council of Agriculture Research) के मार्केटिंग सलाहकार के रूप में श्री ए० एम० लिविंगस्टन की नियुक्ति की गई जिससे क्रय-विक्रय की व्यवस्था के सुधार के लिये क्रियात्मक प्रयत्न किया गया। उसी वर्ष (१९३४) में 'एकनामिक कान्फरेन्स' हुई। इस कान्फरेन्स ने इस दिशा में कार्य करने के लिये निम्नलिखित सुझाव पेश किये :—

(१) भारतीय उपज के सम्बन्ध में विदेशी बाजारों में प्रचार कार्य का प्रबन्ध करना।

(२) भारत की मुख्य उपजों की श्रेणी विभाजन (ग्रेडिंग) तथा उसको सुरक्षित रखने के लिये गोदामों की व्यवस्था तथा शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुओं के लिये विशेष बाजारों का संगठन कराना।

(३) भारत तथा विदेशों के उपभोक्ताओं की मांगों से भारतीय उत्पादकों को परिचित कराना।

(४) मांग तथा किस्म के आधार पर उत्पादन की योजना।

(५) नियन्त्रित मंडियों के विकास का प्रयत्न।

(६) भविष्य के लिये बाजारों तथा गोदामों तथा वस्तुओं के आदान-प्रदान गृहों की व्यवस्था करना।

इस परिषद द्वारा पेश किये गये सुझावों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये १६३६ में भारत सरकार ने इस दिशा में अपनी एक नीति निर्धारित की थी। इसके लिये उसने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मार्केटिंग स्टाफ की नियुक्ति की थी। केन्द्रीय कार्यालय में एक कृषि-मंडी सलाहकार (एग्रीकल्चरल मार्केट एडवाइज़र) अधिकारी और ग्रेडिंग व पैकिंग स्टेशनों के लिये एक सुपरवाइजिंग अधिकारी तथा उनके नीचे लगभग बारह अन्य कर्मचारी थे। प्रान्तीय स्टाफ में एक चीफ मार्केटिंग अधिकारी तथा कुछ अन्य मार्केटिङ्ग अधिकारी थे। इन अधिकारियों का कार्य मंडियों या बाजारों की मुख्य-मुख्य वस्तुओं के मूल्य आदि का लेखा-जोखा रखना, नियंत्रित मंडियों की देख-रेख रखना, अन्य गोदामों की व्यवस्था रखना, माल के भेजने आदि का प्रबन्ध रखना है। इन अधिकारियों का दूसरा प्रधान कार्य उत्पादक तथा व्यापारी को ग्राहकों के सम्पर्क में रखना है। ये अधिकारी कुछ वस्तुओं की ग्रेडिंग आदि का भी प्रबंध करते हैं।

इस नवीन व्यवस्था की सफलता--क्रय-विक्रय की इस नवीन व्यवस्था से क्रय-विक्रय की दिशा में अच्छी सहायता मिली है। बहुत सी वस्तुओं के मूल्य आदि के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर, इस विषय की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गई है। चावल, गेहूँ लिनसीड, मूँगफली, तम्बाकू, काफी, फल, दूध, अंडे, पशु व उनके चमड़ों तथा खाल आदि के विषय में आवश्यक बातों का, उनके मूल्य आदि का पता लगा लिया गया है।

कुछ वस्तुओं के ग्रेडिंग से भी काफी लाभ पहुँचा है। ग्रेडिंग के परिणामस्वरूप कुछ वस्तुएँ और विशेष कर वे वस्तुएँ जो बड़ी जल्दी खराब हो जाती हैं, उनको पहले की अपेक्षा अब अच्छे दाम मिलने लगे हैं। कुछ वस्तुएँ जैसे सफेद गेहूं, लिनसीड, मूंगफली आदि के प्रमाणीकरण (स्टैन्डर-डाईजेशन) से उनके बिक्री के क्षेत्र में काफी वृद्धि हो गई है। मंडियों की साप्ताहिक रिपोर्ट के भी प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई है। रेडियो द्वारा मंडियों के गावों की साप्ताहिक जानकारी दे दी जाती है। ग्रामीण भाइयों के दैनिक कार्य क्रमों में, कुछ वस्तुओं की रोज की तेजी-मन्दी के दामों की सूचना दे दी जाती है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि क्रय-विक्रय की इस नवीन व्यवस्था से इस दिशा में काफी सुधार हो गया है।

खेतों से पैदा होनेवाली वस्तुओं के मूल्य का स्थायीकरण:—मंडियों की चाहे जितनी सुन्दर व्यवस्था क्यों न की जाय, परन्तु जब तक कृषक को यह बिश्वास नहीं हो जाता कि उसे अपनी पैदावार का अच्छा तथा उचित मूल्य न मिलेगा तब तक इस दिशा में कोई विकास नहीं हो सकता। कृषक को इस बात की सुरक्षा देने के लिये वस्तुओं के मूल्य के स्थायीकरण से बड़ा लाभ मिलेगा। कभी-कभी खेती की पैदावार का मूल्य इतना घट जाता है कि उससे किसान को बड़ी हानि उठानी पड़ती है, इसके विपरीत युद्ध या अकाल आदि के दिनों में इन वस्तुओं के मूल्य में एकदम से वृद्धि हो जाती है, इसका प्रभाव उपभोक्ताओं पर बड़ा गहरा पड़ता है। इस प्रकार इन दोनों दोषों को दूर करने के लिये हमें यह आवश्यक हो जाता है कि वस्तुओं के मूल्य का स्थायीकरण किया

जाय। स्थायीकरण से कृषक की आर्थिक स्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसके रहन-सहन के स्तर में वृद्धि हो जाती है। इससे उसे कृषि-उत्पादन के विकास के लिए भी काफी प्रोत्साहन मिलता है।

इन दिनों लोगों का ध्यान वस्तुओं के स्थायीकरण की ओर आकर्षित हो रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी कृषि वस्तुओं के स्थायीकरण की आवश्यकता को मान लिया है। बंगाल अकाल आयोग ने वस्तुओं के मूल्य के स्थायीकरण की सिफारिश की थी। इस आयोग का यह विचार था कि खेती वाली वस्तुओं के मूल्य के स्थायीकरण में सबसे बड़ी समस्या गेहूँ तथा चावल के मूल्य के स्थायीकरण की है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत की भूमि का ८०% भाग खाद्यान्न उत्पन्न करनेवाली भूमि का है। जीवनयापन में खाद्य पदार्थों के मूल्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है, इसका प्रभाव उन लोगों पर और अधिक पड़ता है जिनका पेशा कृषि नहीं है, इसलिए यह आवश्यक है कि खेती से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के मूल्य का स्थायीकरण हो।

वस्तुओं के मूल्य के स्थायीकरण के लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिये :—

(१) वस्तुओं के मूल्य का एक निश्चित स्तर (लेवेल) निर्धारित किया जाय। इसको निर्धारित करने के लिये हमें यह ध्यान रखना होगा कि वह स्तर वस्तुओं के अधिक से अधिक तथा कम से कम मूल्य के बीच का हो, तथा वह उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों के अनुकूल हो, उससे किसी का अहित न हो।

(२) सरकार को भी खाद्यान्न भण्डारों की स्थापना करनी चाहिए, उसे चाहिए कि वह अपने पास सदैव एक अच्छी मात्रा में अन्न एकत्रित रखे। इसके लिये सरकार अपने अधिकारी नियुक्त कर सकती है, या सीधे बाजारों से अन्न खरीद सकती है।

(३) सरकार निश्चित मूल्य पर वस्तुओं की खरीद तथा बिक्री करके निर्धारित मूल्य को स्थिर रख सकती है। इसके अतिरिक्त केवल उन्हीं लोगों को वस्तुओं के बिक्री की आज्ञा दी जाय जो अपनी वस्तु को निर्धारित मूल्य के अन्दर ही बेंचे।

यदि किसी वस्तु के भाव का निर्धारित मूल्य से गिराव हो जाता है तो सरकार को चाहिए कि वह उस वस्तु के निर्यात को प्रोत्साहन दे या स्वयं खरीद कर भाव की मन्दी को बन्द करे। इसके विपरीत यदि वस्तुओं के भाव में काफी चढ़ाव हो जाता है जो कि निर्धारित मूल्य से अधिक है तो सरकार को चाहिये कि यह उसका निर्यात बन्द कर दे तथा बाजार के चढ़े हुये भाव से कम भाव पर अपने माल की बिक्री की व्यवस्था करे।

वस्तुओं के मूल्य के स्थायीकरण की सफलता के लिये केन्द्रीय सरकार को स्वयं इस दिशा में निर्देशन तथा नियंत्रण रखना चाहिए।

बारहवाँ परिच्छेद

ग्रामीण राजस्व तथा कृषकों का ऋण

प्राकथन—यदि हम भारतीय कृषि पर एक दृष्टि डालें तो हमें यह पता चल जाता है कि यहाँ की मिट्टी में उर्वराशक्ति प्रचुर मात्रा में है, मिट्टी काफी उपजाऊ है, उस मिट्टी से उत्पादन करने के लिये श्रमिकों की भी कमी नहीं है, कुशल श्रमिकों की, किसानों की भी कोई कमी नहीं है। यहाँ के लोग युगों से कृषि करते चले आ रहे हैं, इसलिये इस धन्धे में उनको अनुभव भी काफी हो गया है। इन सब बातों को देखने से यह मालूम पड़ता है कि भारत कृषि की दृष्टि से एक बड़ा समृद्ध देश होगा। परन्तु वास्तविकता इससे कहीं दूर है। हमारे कृषक या कृषि की जो स्थिति है, वह कोई अच्छी या सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। कहना न होगा कि हमारी कृषि और कृषक इन सब बातों के होते हुये भी जिस स्थिति में हैं, उस स्थिति में अन्य कोई भी देश नहीं है। हमारी कृषि के इस प्रकार पिछड़े होने का मुख्य कारण किसान के पास साख या पूँजी का अभाव तथा कृषक-वर्ग का ऋण ग्रस्त होना है। जैसा कि श्री उल्फ महोदय ने अपनी पुस्तक 'भारत में सहकारिता' में लिखा है कि 'आज सारा भारतीय कृषक वर्ग महाजन के चंगुल में है, सारी कृषि ऋण की श्रृंखलाओं से आबद्ध है।' कृषि की दुरावस्था में कृषक में ऋणी होने का कितना बुरा प्रभाव पड़ा है यह सभी जानते हैं।

वर्तमान युग में किसी भी उद्योग का, किसी भी धन्धे का, किसी भी व्यवसाय का विकास, उसका उत्थान, उसकी उन्नति उसकी साख या पूँजी पर ही निर्भर रहती है, बिना साख या पूँजी के किसी भी व्यवसाय के चलने की आशा नहीं की जा सकती। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारतीय कृषि की भी अवनति का एक मुख्य कारण इस साख या पूँजी का अभाव है। आज के किसान को चाहिये अच्छे औजार, सुन्दर खाद, उत्तम बीज। परन्तु इन सब के लिये चाहिये अच्छी साख अथवा पर्याप्त पूँजी। आज हमारी कृषि में, खेतों आदि में जो पूँजी लगी है, वह बहुत थोड़ी है। इतनी थोड़ी पूँजी के लगे होने से यदि हमारे उत्पादन में वृद्धि नहीं होती, यदि हमारा उत्पादन कम है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

अतएव उत्पादन की वृद्धि के लिये, कृषि के सर्वाङ्गीण विकास के लिये आवश्यकता है किसानों को पर्याप्त पूँजी या साख की तथा उनको ऋण से मुक्त करने की। इस परिच्छेद में हम कृषकों की इन्हीं समस्याओं—किसान की साख की आवश्यकता पर, किसानों के ऋण पर तथा उसके दूर करने के उपायों—पर विचार करेंगे।

कृषक के लिए साख की आवश्यकता—कृषि के विकास के लिये, उसकी उन्नति के लिये कृषक को मुख्य रूप से तीन प्रकार की साख की आवश्यकता है :—अधिक समय के लिये साख (Long term credit) जिसके अनुसार कुओं, तालाबों, छोटे-छोटे बाँधों, पानी के तेज प्रवाह को मोड़ने के लिये नालियोंकी व्यवस्था, जंगलों आदि को काटने, भूमि के उपादेयकरण करने तथा खेतों के चारों ओर चहारदीवारी आदि कार्यों के निर्माण के लिये साख की व्यवस्था। राज्य सिंचाई के लिये बड़े-बड़े साधनों के निर्माण का ही प्रबन्ध कर सकता है, उससे प्रत्येक छोटे-छोटे कार्यों को पूरा करने की आशा नहीं की जा सकती। इसको कृषकों को अपने आप ही करना होगा। अतः इसके लिये किसानों को लम्बी अवधि के लिये ऋण देने की व्यवस्था करनी होगी।

किसानों को कीमती औजार, पशुओं तथा इमारतों आदि के निर्माण के लिये मध्यकालीन ऋण का प्रबन्ध होना चाहिये।

तीसरे प्रकार की अल्पकालिक ऋण व्यवस्था या साख के हो जाने से बीज, खाद आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति की सुविधा हो जायगी।

इस प्रकार उपरोक्त तीनों प्रकार की साख की व्यवस्था से किसानों को अपने कृषि के विकास में, उत्पादन की वृद्धि में सहायता मिल जायगी और उसकी आर्थिक स्थिति काफी सुधर सकेगी। आगे किसानों की ऋण सम्बन्धी समस्या के अन्य अंगों पर प्रकाश डाला जाता है।

ऋण के वर्त्तमान स्रोत—हमने ऊपर देखा कि आज हमारा सारा किसान ऋण-ग्रस्त है। अब प्रश्न यह उठता है कि किसान को यह ऋण कहाँ से मिलता है। भारतीय किसान के ऋण मिलने का कोई एक ही स्रोत नहीं है बल्कि उसे ऋण मिलने के कई साधन हैं। इन साधन या स्रोतों को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) सरकार द्वारा ऋण की व्यवस्था,
(२) गाँव के महाजन से,
(३) उन पुराने साहूकारों से जो किन्हीं बिचवानियों द्वारा किसानों को ऋण देते हैं,
(४) सहकारी साख समितियों से,
(५) व्यापारिक अथवा मिश्रित पूँजी वाली बैंकों, तथा
(६) भूमि बन्धक बैंकों से।

उपरोक्त स्रोतों या साधनों से कृषक को ऋण प्राप्त करने की सुविधा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसानों को ऋण देने के इस दूसरे साधन—गाँव के महाजन—ने उनकी ऋण सम्बन्धी समस्या को काफी उलझा दिया है। गाँव के महाजन से किसान को जो हानियाँ पहुँची हैं, उसके विषय में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ हमें यह देखना है कि सरकार ने किसान की ऋण समस्या को हल करने के लिए, उसको महाजन के चंगुल से बचाने के लिए समय-समय पर क्या प्रयत्न किए।

सरकार से ऋण की सुविधा—किसान की ऋण सम्बन्धी समस्या को सुलझाने के लिए सरकार ने १९ वीं शताब्दी में कई कानून पास किए। किसान को महाजन के चंगुल से बचाने के लिए कम सूद पर ऋण देने की व्यवस्था की। इस ऋण की व्यवस्था के लिए, किसान को कृषि में विकास करने के लिए, कृषि के लिए मूल्यवान यंत्र आदि खरीदने के लिए सरकार ने किसान के साख की व्यवस्था की, उसको सरकारी ऋण प्राप्त करने का प्रबन्ध किया। सरकार ने इस दिशा में क्रियात्मक कार्य करने के लिए दो कानून बनाकर—एक तो १८८३ का लैण्ड इम्प्रूवमेण्ट कानून जिसके अनुसार किसान को अधिक समय के लिए ऋण की व्यवस्था की जिससे किसान कुएँ आदि खोद सके भूमि का सुधार कर सके, दूसरे १८८४ का कृषक ऋण कानून जिसके अनुसार कृषक को बीज, खाद आदि क्रय करने के लिए पूँजी मिल सके—प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया कि वे किसान की उपरोक्त दो आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए ऋण दे सकती हैं। इस प्रकार दिए जाने वाले सरकारी ऋण को तकावी कहा जाता है। सरकार ने किसानों की ऋण-समस्या हल करने के लिए कानून तो पास किया किन्तु इन तकावी ऋण का किसान के लिए कोई विशेष उपयोग न हो सका। किसान के लिए तकावी ऋण से अधिक उपयोगी न होने के कई कारण थे। सर्व प्रथम ये ऋण कुछ विशेष अवस्थाओं में ही दिये जाते थे जब कि किसान को महाजन द्वारा किसी भी कार्य के लिए किसी भी समय पर ऋण मिल सकता था। दूसरे इससे किसान को समय पर रुपया नहीं मिलता, इस

ऋण के लेने में किसान को बड़ी परेशानी होती है। उसे पटवारी कानूनगों, नायब-तहसीलदार इत्यादि कर्मचारियों की सिफारिश पर ही यह ऋण प्राप्त होता है, किसान को साधारणतया ये लोग बिना कुछ लिए दिए आज्ञा नहीं देते। इससे किसान को ऋण बडी देर तथा बड़ी कठिनाई से मिल पाता है। तीसरे इस ऋण के वसूल करने का ढंग भी बड़ा-कड़ा है। इसके अतिरिक्त किसान को यह भी ठीक ज्ञात नहीं होता कि यह ऋण किस प्रकार लिया जाय, उसे इसके लेने के लिए अन्य सुविधाएँ भी नहीं प्राप्त होतीं। इस प्रकार की असुविधाओं के कारण से तकावी ऋण का अधिक प्रचार न हो सका।

इसलिए यह आवश्यक है कि तकावी ऋण के इन दोषों को दूर कर, उसमें सुधार कर किसान को इस ऋण के प्राप्त होने में सुविधा दी जाय। इसमें होने वाले भ्रष्टाचरण को रोककर किसान को उचित समय पर ऋण मिलने की व्यवस्था की जाय। इसके वसूल करने में भी इतनी कड़ाई न की जाय जितनी कि अभी की जाती है।

सर एडवर्ड मैकलेगन ने कृषकों के ऋण सम्बन्धी एक टिप्पणी में लिखा था कि सरकार द्वारा कृषकों के ऋण को दूर करने के उपायों का हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

(१) व्यर्थ के लिए जाने वाले ऋण को दूर करने के उपाय,
(२) ऋण को कानून द्वारा रोकने के उपाय,
(३) भूमि को गिरवी रखने के उपाय,
(४) किसानों की साख सम्बन्धी व्यवस्था के उपाय,
(५) ऋण के समझौते के उपाय।

इन सब विषयों पर विस्तारपूर्वक विचार अगले पृष्ठों में करेंगे। यहाँ पर हम ग्राम के महाजन के विषय में विचार करते हैं।

गाँव का महाजन—हम ऊपर कह चुके हैं कि किसान को अपने गाँव के महाजन से ऋण लेने में कुछ अधिक सुविधा होती है। उस महाजन से किसी भी काम के लिए किसी समय पर ऋण मिल जाता है, उसे महाजन से ऋण लेने में इतनी कठिनाई नहीं उठानी पड़ती जितनी की 'तकावी' लेने में सरकार से।

गाँवों में किसानों को ऋण देने वाले इन महाजनों को हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं। एक तो वह व्यापारी महाजन जिसका मुख्य पेशा ही किसानों को ऋण देना होता है। यह कुछ शर्तों पर किसान को ऋण देता है, इस ऋण के सूद की रकम एक अच्छी रकम होती है जिससे इस महाजन को काफी लाभ होता है। दूसरे वे गैर व्यापारी ऋण देने वाले व्यक्ति जिनका कि मुख्य पेशा किसानों को कोई ऋण देना ही नहीं होता वरन् वह और भी काम करता है, हाँ, आवश्यकता होने पर किसान को वह कुछ ऋण दे देता है। इस प्रकार के लोग प्रायः गाँव के जमींदार इत्यादि ही होते हैं। १९३१ की जनगणना के अनुसार गाँव में ऋण देने वाले व्यापारी महाजनों की संख्या लगभग बीस तीस लाख थी। व्यापारी महाजनों के विपरीत सरकार ने काफी कड़ा रुख धारण किया जिससे इस प्रकार के महाजनों की संख्या में ह्रास होता जा रहा है और दूसरे प्रकार के ऋण दाताओं की संख्या में वृद्धि।

आज से सौ वर्ष पूर्व गाँव का महाजन बड़ा उपयोगी था। वह किसानों को ऋण दिया करता था परन्तु उसे अपने मूल का दुगना (दाम दूपर) के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता था। यदि किसान ऋण देने में असमर्थ होता तो महाजन किसान के खेत, घर, पशु आदि पर अपना अधिकार नहीं कर सकता था। परन्तु अंगरेजों के आगमन से तथा उनके 'सिविल ला' से महाजन को किसानों का शोषण करने का खूब अवसर मिला।

आज भी गाँव के महाजन का गाँवों के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्व है। महाजन की इतनी अधिक प्रसिद्धि के कई कारण हैं। इस सम्बन्ध में हम ऊपर कह चुके हैं। सबसे पहले तो किसान महाजन के पास आसानी से जाकर ऋण ले सकता है, उससे ऋण लेने में इतनी कठिनाई नहीं होती जितनी अन्य साधनों से। महाजन का किसान से काफी मेल जोल रहता है, पीढ़ी दर पीढ़ी से किसान के कुटुम्ब से महाजन परिचित रहता है। उसे अपने स्थानीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी रहती है। वह किसान को कृषि के लिये ही नहीं वरन् अन्य घरेलू आवश्यकताओं के लिये भी ऋण देता है। इस प्रकार वह किसान को उत्पादक तथा अनुत्पादक कार्यों के लिये, थोड़े तथा अधिक समय के लिये, छोटी तथा बड़ी आवश्यकताओं के लिये आसानी से ऋण दे देता है। ऋण देते समय महाजन को यह जानने की विशेष इच्छा नहीं रहती कि किसान उससे किस काम के लिये रुपया लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसान को महाजन से ऋण लेने में काफी सुविधा होती है। परन्तु जहाँ पर महाजन व्यापारी से किसान को ऋण लेने में कई लाभ हैं, उससे होने वाली हानियों की भी संख्या कोई कम नहीं है। महाजन व्यापारी की ऋण देने की नीति से आज के किसान की स्थिति काफी शोचनीय हो गई है। वास्तव में किसान जो परिश्रम करता है, उसका लाभ महाजन ही उठाते हैं। फसल कटने के पश्चात्, जमींदार, सरकार तथा महाजन का देना चुकाने के बाद अधिकांश किसानों के पास इतना ही अन्न बचता है जिससे कठिनाई से उनका वर्ष बीतता है। उनके पास बीज के लिये भी अन्न नहीं बचता और इसके लिये उसे फिर सवाये या ड्योढ़े पर महाजन से ऋण लेना पड़ता है।

एक बार महाजन से ऋण ले लेने पर किसान जीवन भर उसके चंगुल से मुक्त नहीं हो पाता। महाजन किसान को ऋण देकर कई प्रकार की बेईमानियों से उसका शोषण करता रहता है। प्रायः जो रकम वह किसान को ऋण के रूप में देता है, उससे कहीं अधिक रकम अपने बहीखाता में चढ़ाता है, जब किसान ऋण की कुछ रकम महाजन को देता है तो उसकी वह उसे कोई रसीद वगैरा नहीं देता, और न उस रकम को ऋण की रकम से घटाता ही है। वह किसान से मनमानी सूद वसूल करता है। अधिकतर महाजन खेती की उपज का व्यापारी भी होता है। वह ऋण देते समय किसान से यह शर्त कर लेता है कि किसान अपनी फसल महाजन के ही हाथ बेचेगा। ऐसी दशा में किसान को अगली फसल का मूल्य और भी कम मिलता है। इसी प्रकार की कई चालाकियों से किसान का शोषण महाजन करता रहता है। हमारा अशिक्षित किसान महाजन की इन चालाकियों को और भी नहीं समझ पाता।

यह विशाल ग्रामीण ऋण--भारत में ग्रामीण ऋण कुल कितना है और वह दिनोदिन कितना बढ़ता चला जा रहा है, इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए काफी प्रयत्न किया जा चुका है। इन प्रयत्नों से भारत में ग्रामीण ऋण के विस्तार का पता लगा है। इस दिशा में सर्वप्रथम १८७५ में दकन रैय्यत कमीशान ने बम्बई में छानबीन की थी। जिससे उसे पता चला कि करीब १/३ मौरूसी काश्तकार ऋणग्रस्त हैं। इससे १८८० में दुर्भिक्ष कमीशन ने यह विचार प्रकट किये कि एक-तिहाई कृषक बुरी तरह से ऋण में ग्रस्त थे। तत्पश्चात १९०१ में बम्बई में दुर्भिक्ष कमीशन ने अनुमान लगाया की ४/५ कृषक ऋण में फंसे हुए हैं। इसी प्रेसीडेन्सी के कृषकों के सम्बन्ध में डा० हैरोल्ड मैन ने यह अनुमान लगाया कि यहाँ हरएक कृषक पर १३० रु० औसतन ऋण है। १९११ में सर एडवर्ड मैकगेलेन ने ब्रिटिश भारत के समस्त ग्रामीण ऋण को लगभग ३०० करोड़ बतलाया था। इसके बाद पंजाब में सर एम० एल० डारलिंग ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस प्रान्त का कुल ग्रामीण ऋण लगभग ९० करोड़ रुपए तथा प्रत्येक किसान का औसत ऋण ७६ रु० है जो कि लगान का उन्तीस गुना था।

१६३१ में सेन्ट्रल बैंकिंग इन्कायरी कमेटी ने यह मोटे रूप से अनुमान लगाया था कि भारत का कुल ग्रामीण ऋण ६०० करोड़ रुपए था। प्रान्तीय बैंकिंग इन्कायरी कमेटियों के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में यह ऋण इस प्रकार था :—

आसाम	२२ करोड़ रु०
बंगाल	१०० ,, ,,
बिहार-उड़ीसा	१५५ ,, ,,
बम्बई	८१ ,, ,,
बर्मा	५० से ५६ ,,
केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों में	१८ करोड़ रुपए
मध्य प्रान्त	३६ ,, ,,
मद्रास	१५० ,, ,,
पंजाब	१३५ ,, ,,
संयुक्त प्रान्त	१२४ ,, ,,

डा० राधाकमल मुखर्जी ने भी इस सम्बन्ध में कुछ आंकड़े दिए हैं जिनसे इस दिशा में कुछ और प्रकाश पड़ता है :—

वर्ष	स्थान	ऋण से मुक्त लोग
१८८८	आगरे जिले के किसान	२२ प्रतिशत
१८६४	नागपुर (१८ काश्तकारों में)	४० ,,
१६०१	बड़ौदा राज्य	सब किसानों का केवल ४० प्रतिशत
१६०७	फरीदपुर (बंगाल)	५५ ,,
१६१८	छिंदवाड़ा (मध्य प्रदेश)	२८ ,,
१६१६	मैसूर राज्य	३७ ,,
१६२३	पंजाब	१७ ,,
१६२५	मुर्शिदाबाद	१२½ ,,
१६२६	जैसोर (बंगाल)	२० ,,

इन आंकडों के देखने से यह पता चल जाता है कि कितने कम ऐसे किसान हैं जो ऋण से ग्रस्त नहीं हैं।

ऊपर दी हुई दोनों तालिकाओं से हमें ग्रामीण ऋण की विभीषिका का परिचय प्राप्त हो जाता है। इस ऋण के इतने विशाल होने का एक यह भी कारण है किसान की एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी तक यह ऋण चलता रहता है पिता के ऋण का भार पुत्र पर पड़ता है। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में कुटुम्ब का अध्यक्ष जो ऋण लेता है, वह भी कुटुम्ब के अन्य आदमियों के मत्थे जाता है। इसी प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी ऋण की रकम एक दूसरे पर आती रहती है।

दूसरा कारण यह है कि सूद की दर जो देनदार को देनी रहती है, वह भी काफी रहती है। इन सब कारणों से हमारे कृषक का ऋण विशाल है। इन कुछ वर्षों से कृषि उत्पादन की वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हो जाने से कुछ बड़े-बड़े जमींदारों को बड़ा लाभ पहुँचा, परन्तु साधारण कृषक को जिसके पास अपने भोजन भर को ही अन्न बचता है, उसकी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। हाँ, आज साधारणतया कृषक ऋण से मुक्त है, आज उसके हाथ में कुछ पैसा है। किन्तु कुल मिलाकर उसकी स्थिति अच्छी नहीं है।

किसान के ऋणी होने के कारण—यद्यपि किसान बहुत पहले से ऋण लेता चला आ रहा है परन्तु भारत में अंगरेजों के शासन-काल के पूर्व ऋण की यह समस्या इतनी विकट नहीं थी जितनी कि आज है। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय लोगों के पास इतना रुपया नहीं था कि उधार दिया जाय, उधार बहुत थोड़ी रकम दी जाती थी। किसान के पास इतनी बचत भी नहीं होती थी कि काफी बड़े ऋण का भुगतान किया जाय, तीसरे उस समय यदि किसी को ऋण दे दिया जाता तो उससे वसूल करने के लिए कोई ऐसा तरीका नहीं था जिससे वह रकम कानून द्वारा वसूल ही कर ली जाय, या उसके वसूल करने के लिए कोई अन्य कानूनी कार्रवाई की जाय। इस प्रकार ऋण दाता की रकम की सुरक्षा नहीं थी।

भारत में अंगरेजों के आने से इन सब बातों में काफी परिवर्तन हो गया। इस समय याता-यात के साधनों के विकास से वस्तुओं की बिक्री की सुविधा हो गई, इस समय हर प्रकार की सम्पत्ति का मूल्य बढ़ गया। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष कानूनों के बन जाने से, ऋण देने वाले की रकम की सुरक्षा हो गई। इस समय व्यापार वाणिज्य आदि का भी विकास हो गया जिससे पूँजी का महत्व और बढ़ गया। इन सब बातों से कृषक महाजन पर पूर्ण रूप से निर्भर हो गया, अब उसे पूँजी के लिए महाजन का ही सहारा रह गया।

इस प्रकार अंगरेजों के शासन में ऋण के लेन-देन की खूब वृद्धि हुई। भूमि पर जनसंख्या का भार अधिक बढ़ने से ऋण की भी आवश्यकता में खूब वृद्धि हुई। यह आवश्यकता आर्थिक ही नहीं थी, कुछ सामाजिक जरूरतों ने भी किसान को ऋण लेने के लिए वाध्य किया, किसान की फिजूलखर्ची ने उसे ऋण के भार से दबने के लिए और भी लाचार किया। हम यहाँ पर किसान के ऋणी होने के कारणों का कुछ विस्तार से उल्लेख करेंगे। उसके ऋणी होने के कई कारण हैं :—

(१) कृषि उत्पादन का कम होना—भारत में कृषि के धन्धे की क्या स्थिति है, इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ प्रकाश पीछे डाला जा चुका है। यहाँ हमें केवल यही कहना है कि आज का भारतीय किसान जितना उत्पादन करता है, वह इतना अच्छा तथा पर्याप्त नहीं होता जिससे कृषक अपने परिवार का भली प्रकार भरण-पोषण कर सके।

(२) भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा होना—हम पीछे कह चुके हैं कि यहाँ किसान की जोतें आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं हैं। भूमि कितने ही छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी है। इस प्रकार की कृषि में कितनी पूँजी और श्रम व्यर्थ में नष्ट हो जाती है, इसका भी प्रभाव उपज पर पड़ता है, उपज अपना प्रभाव किसान की आर्थिक स्थिति पर डालती है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर होने वाले दैवी-प्रकोपों के कारण किसान को बड़ी हानि उठानी पड़ती है, जिससे उसे ऋण लेने के लिए वाध्य होना पड़ता है।

(३) किसान के पशु—किसान के वे पशु जिनका उपयोग कृषि में होता है वे अत्यन्त ही गिरे हुए स्वास्थ्य के होते हैं। उनको पर्याप्त भोजन नहीं प्राप्त होता है। बीमारी तथा दुर्भिक्ष से उनकी मृत्यु हो जाती है और उधर किसान को इन पशुओं के अतिरिक्त कृषि में इनके स्थान पर अन्य किन्हीं साधनों की सुविधा नहीं है, वह दूसरे पशु खरीदता है, जिससे उसके लिए ऋण लेना पड़ता है।

(४) भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार होना—आज कृषि पर जनसंख्या का अधिक भार बढ़ गया है, लोगों को अन्य धन्धों से अच्छा सहारा न मिलने के कारण कृषि में लगी हुई जनसंख्या की वृद्धि होती गई जिसके परिणामस्वरूप प्रति किसान के पास भूमि और भी कम रह गई, किसान की आमदनी भी कम हो गई। कृषि की आय के कम होने से किसान को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण लेना पड़ा।

(५) फसल नष्ट होना—कभी-कभी वर्षा के अभाव, या अत्यधिक वर्षा, बाढ़, ओले अथवा टिड्डियों के आक्रमण से तथा कीड़ों के लग जाने से किसान की फसल नष्ट हो जाती है। इस प्रकार फसल के अनिश्चित होने से ऐसे समय में किसान को ऋण लेना पड़ता है।

(६) किसान की मुकदमेबाजी—हमारा अशिक्षित किसान गाँव में प्रायः छोटी-छोटी बातों में भी लड़ जाता है। उन झगड़ों के निपटारा के लिए न्यायालय दौड़ता है जहाँ उसकी खासी अच्छी रकम नष्ट हो जाती है। इस प्रकार मुकदमेबाजी की बुरी आदत के कारण भी किसान अर्थाभाव का शिकार बनता है और उसे महाजन से ऋण लेने को लाचार होना पड़ता है।

(७) सामाजिक कृत्य—किसान बहुत से सामाजिक कृत्यों जैसे शादी-विवाह आदि में व्यर्थ में ही फिंजूलखर्ची करके अर्थ-संकट को आमंत्रित कर लेता है, उसे ऋण लेना पड़ता है।

(८) पैतृक ऋण—किसान एक बार भी महाजन की मुट्ठी में आ गया तो जीवन भर फिर उससे उऋण नहीं हो पाता, यही नहीं उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रादिकों को यह ऋण भुगतना पड़ता है। इस प्रकार इस पैतृक ऋण से भी किसान को छुटकारा नहीं मिल पाता और वह सदैव ऋण-ग्रस्त बना रहता है।

(९) लगान—हम पीछे कह चुके हैं कि कृषि किसान के लिए एक धन्धा नहीं वरन् वह जीवन-निर्वाह का एक साधन है, बेकारी से साधारण रूप के छुटकारा पाने का एक उपाय है। वास्तव में किसान को उससे कोई विशेष लाभ नहीं हो पाता और फिर यहाँ पर आर्थिक जोतों के न होने से, भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होने से किसान को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। इस पर सरकारी मालगुजारी वसूल करने की पद्धति से किसान को और भी अधिक कष्ट होता है। किसान के पास साधारणतया नकद रुपया नहीं होता, इसलिए उसे सरकार को लगान देने के लिए महाजन से ऋण लेना पड़ता है।

(१०) ऋण मिलने की सुविधा—भारतीय किसान को बिना विशेष प्रयत्न के ऋण मिल जाता है, खेती की लहलहाती फसल को देखकर किसान कितने ही अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण ले लेता है, उधर बनिया या महाजन अत्यधिक सूद की लालच से किसान को प्रसन्नता से ऋण दे देता है। ऋण लेने पर किसान सूद के भार से सदैव दबा रहता है, इसलिए वह हमेशा ऋणी बना रहता है।

ऋणी होने के परिणाम—जो धन या जो पूँजी उत्पादक कार्यों के लिए ली जाती है, वह ऋण लेने वाले की समृद्धि में वृद्धि करती है परन्तु इसके विपरीत जो ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया जाता है जैसा कि अधिकांश ग्रामीण ऋण लिया गया है तो उस ऋण का परिणाम सदैव उल्टा ही होता है, उससे अनेक प्रकार की बुराइयों का जन्म होता है। इस प्रकार के ऋण लेने वाले को अनेक हानियाँ उठानी पड़ती हैं।

आज हमारा किसान जो ऋण लेता है, उसका अधिकांश अनुत्पादक कार्यों के लिए ही प्रयुक्त होता है। इसीलिये उसके उसे कई भयंकर तथा दुष्कर परिणाम भुगतने पड़ते हैं। आर्थिक सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि से उसे कई हानियों का शिकार होना पड़ता है।

किसान के ऋण-ग्रस्त होने का आर्थिक दुष्परिणाम यह होता है कि किसान की कृषि सम्बन्धी कुशलता का ह्रास हो जाता है। जब कृषक यह जानता है कि उसके परिश्रम का उसे उचित पारिश्रमिक या फल नहीं मिलेगा तो वह अपनी स्थिति के सुधारने में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेता। इस प्रकार भूमि की उर्वरता में ह्रास होता जाता है। यदि ऋण और भी अधिक बढ़ जाता और किसान को अपनी भूमि या अपना खेत बेच देना पड़ता है, या गिरवी रख देना पड़ता है तो

इससे कितने ही ऐसे किसानों की संख्या में ह्रास हो जाता है जिनके पास भूमि नहीं है। जिसका आर्थिक परिणाम बड़ा बुरा होता है।

यदि किसान ने ऋण ले रखा है तो उसे अपनी वस्तु की बिक्री में भी बड़ी हानि उठानी पड़ती है। अधिकतर महाजन गल्ले का भी व्यापारी होता है, वह ऋण देते समय किसान से यह शर्त कर लेता है कि किसान अपनी फसल महाजन के हाथ बेंचेगा। ऐसी दशा में किसान को अपनी फसल का मूल्य और भी कम मिलता है। इससे किसान को उत्पादन का मूल्य ही कम नहीं मिलता वरन् इसका प्रभाव बिक्री की उत्तम व्यवस्था पर भी बुरा पड़ता है।

प्रायः ऋण लेने वाले तथा देने वाले दोनों वर्गों में संघर्ष हो जाता है। भूमिहीन वर्ग की या ऐसे मनुष्यों की वृद्धि के कारण जिनके पास अपने खेत नहीं है, सामाजिक तथा राजनैतिक असन्तोष बढ़ता है। ऐसी स्थितियों में साम्यवादी विचारधारा के पनपने को काफी सहारा मिल सकता है।

किसान के ऋणी होने का नैतिक परिणाम तो और भी बुरा होता है। कृषक प्रायः अपनी पैतृक सम्पत्ति से हाथ धो बैठता है, उसकी सारी आर्थिक स्वतन्त्रता छिन जाती है। कितने ही राज्यों में ऋण ग्रस्त किसान की स्थिति किसी गुलाम या दास से कम नहीं है। बिहार उड़ीसा में कम्पौती प्रथा तथा मदरास की पन्नीयाल प्रथा इस बात की द्योतक है। इन प्रदेशों में मजदूर शादी-विवाह या मृतक-संस्कार करने के लिए महाजन से थोड़ा रुपया उधार लेता है, उसके बदले में उसे महाजन के यहाँ काम करना पड़ता है, इस काम के बदले में उसे केवल पेट भरने को ही मिल पाता है, उसकी ऐसी स्थिति नहीं हो पाती जिससे वह अपना ऋण चुका सके। इस प्रकार वह जीवन भर महाजन का दास बना रहता है। १६२० के कानून के अनुसार कम्पौती प्रथा का अन्त कर दिया गया है।

ग्रामीण ऋण की समस्या का हल—ग्रामीण ऋण की समस्या को हल करने के लिये हमें मुख्य रूप से दो बातों का ध्यान रखना चाहिये एक तो यह कि पुराने ऋण का फैसला कर उसे समाप्त किया जाय दूसरे भविष्य में ऋण लेने के लिये नियंत्रण रखा जाय।

पुराने ऋण का निपटारा—इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तक किसान का प्राचीन पैतृक ऋण कम नहीं कर दिया जाता तब तक कृषि के विकास की कोई आशा नहीं की जा सकती। शाही कृषि कमीशन ने लिखा था कि हमें पूरा विश्वास है कि कोई भी आदमी इसी पद्धति के प्रचलन को नहीं देखना चाहता जिसमें हमारे असंख्य मनुष्य उत्पन्न होते, जीवित रहते तथा अपने ऋण का बोझ आने वाली पीढ़ी पर छोड़कर परलोक गमन करते हैं। सेन्ट्रल बैंकिंग कमेटी इस विचार से सहमत थी कि किसानों का प्राचीन ऋण जिसमें से अधिकांश भाग पैतृक है, कम कर दिया जाय। अभी थोड़े समय पूर्व कुछ प्रान्तों में ऋण परिशोध सम्बन्धी कानून पास हुए हैं जिसके अनुसार किसानों को कुछ विशेष दशाओं में ऋण से छूट, ऋण चुकाने की अवधि में वृद्धि (Moratorium) ऋण के चुकाने के समझौते आदि के प्रयत्न किए गए। इनमें से प्रत्येक पर हम यहाँ विचार करेंगे।

ऋण चुकाने की बढ़ी हुई अवधि (Moratorium)—प्रान्तीय सरकारों ने ऋण-समस्या का ऋण चुकाने की अवधि में वृद्धि करके भी हल करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के कानून उत्तर प्रदेश, (१६३८), मध्य प्रदेश (१६३४) बम्बई (१६३८) में पास किए गये। अन्य प्रान्तों में न्यायालयों में ऋण सम्बन्धी मुकदमों की रोक के लिए ऋण-परिशोध कानून पास किए गए।

इसके अतिरिक्त किसानों को ऋण से बिल्कुल मुक्त करने के लिये सरकार ने कानून पास किये जिसके द्वारा अनिवार्य ऋण-मुक्ति या ऋण शोधन की व्यवस्था की गई। १६३८ का मदरास

का कृषि-रिलीफ कानून, बरार तथा मध्यप्रदेश का ऋण भुगतान कानून, (१६३६) तथा उत्तरप्रदेश का कृषि-ऋण परिशोध कानून इसी प्रकार के थे। कुछ भारतीय रियासतों जैसे भावनगर, मैसूर, ट्रावनकोर ने भी किसानों को ऋण से मुक्त करने के लिये कानून बनाये।

इन कानूनों की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) अशोधित या ग़ैर वसूल किये गये ऋण में कमी।

(२) ऋण के बकाया सूद में कमी।

(३) अगले वर्षों के लिये सूद की दर निश्चित करना।

उपरोक्त कानूनों में जिनके द्वारा ग्रामीण ऋण की समस्या को सुलझाया गया, उनमें मदरास का कानून काफी महत्त्वपूर्ण था। १६३७ की पहली अक्तूबर तक के सब बकाया सूद या ब्याज को इसके द्वारा समाप्त कर दिया गया, किसानों को केवल मूल ही देना रह गया। भविष्य में ऋण के सम्बन्ध में दाम दूपर के नियम का प्रचलन किया गया। अधिक से अधिक सूद की दर सवा छै प्रतिशत निश्चित की गई।

मध्यप्रदेश तथा बरार के कानून के अनुसार ऋण-परिशोध न्यायालयां (Debt Relief Courts) की स्थापना की गई।

बम्बई के कानून द्वारा किसानों को ऋण से मुक्त करने के लिये डेब्ट एडजस्टमेण्ट बोर्ड स्थापित किये।

उत्तरप्रदेश के कानून के अनुसार यह व्यवस्था कर दी गई कि जो ऋण उधार लिया गया है उसके मूल से दुगना ऋणकर्त्ता को न देना पड़े।

ऋण-समझौता कानून (Debt Counciliation Legislation)—इन कानूनों द्वारा ऋण-समझौता समितियों की स्थापना कर ऋण लेने तथा ऋण देने वालों में समझौता कराने का प्रयत्न किया गया। केन्द्रीय बैंकिंग इन्कायरी कमेटी के तीव्र अनुरोध पर सरकार ने इस दिशा में कानून निर्माण कर ऋण समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। सबसे पहले १६३३ में मध्य-प्रदेश की सरकार ने ऐसा कानून पास किया। इसके पश्चात् क्रमशः पंजाब, बंगाल, आसाम तथा मदरास की सरकारों ने ऐसे कानून पास किये।

इन कानूनों द्वारा एक ऋण समझौता समिति (Debt Counciliation Board) की स्थापना की गई। इस बोर्ड में ३ से लेकर नौ सदस्य तक होते थे। इस बोर्ड का चेयरमैन कोई सरकारी पदाधिकारी होता था। इस बोर्ड में अपने ऋण के समझौते के लिये कोई भी व्यक्ति चाहे वह देनदार हो या लेनदार, निवेदन कर सकता था। जब कोई ऋणी इस बोर्ड में समझौते के लिये प्रार्थना पत्र भेज देता है तो बोर्ड हरएक ऋण दाता के नाम एक नोटिस भेजता है, जिससे वे ऋण के सम्बन्ध में अपना पूरा विवरण भेज सकें। तब दोनों पक्ष अपने मामले का पूरा हवाला देते हैं। पंजाब तथा आसाम में किसी भी वकील को इनकी पैरवी करने के लिये आज्ञा है, परन्तु मध्य-प्रदेश में कोई भी वकील बोर्ड में वादी या प्रतिवादी की तरफ से बोलने के लिये नहीं जा सकता। जब समझौता हो जाता है तो बोर्ड पर उसके हस्ताक्षर हो जाते हैं तथा उसकी रजिस्ट्री हो जाती है। इसके बाद ऋणी की स्थिति के अनुसार १५ से लेकर २० साल तक की किश्तें निश्चित कर दी जाती हैं।

इस प्रकार इन बोर्डों द्वारा ऋण सम्बन्धी कुछ झगड़े तय कर दिये जाते हैं, किन्तु इन कानूनों में कई दोष हैं। इनमें कई प्रकार के जैसे व्यापार सम्बन्धी ऋण, सहकारी ऋण, लगान सम्बन्धी ऋण सम्मिलित नहीं हैं। इन ऋणों के समझौते की व्यवस्था नहीं है। कभी-कभी अशिक्षित ऋणी किसान अपने सब ऋणदाताओं का पूरा-पूरा नाम नहीं बता पाते जिससे उनके सूचना नाम नहीं

भेजी जा सकती। इसके अतिरिक्त बोर्ड के सदस्यगण स्वयं बेईमान आदमी होते हैं जो रिश्वत आदि के लालच के कारण ठीक तरह से समझौता नहीं करते। इन दोषों को दूर कर इस दिशा में और सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिये।

पंजाब, बंगाल, आसाम तथा मध्यप्रदेश में समझौता बोर्डों ने ऋण सम्बन्धी समस्या हल करने में काफी सफलता प्राप्त की है। सबसे बड़ी कठिनाई तो समझौता किये हुये ऋण के भुगतान में होती है। अतः आवश्यकता है कि ऋण के चुकाने की पद्धति में उचित सुधार किया जाय।

नए ऋण लेने पर नियंत्रण—ग्रामीण ऋण की समस्या को सुलझाने का दूसरा उपाय यह है कि देश में ऐसा वातावरण तैयार किया जाय, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जायँ जिससे साधारणतया लोगों को अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण लेने में प्रोत्साहन न मिले। लोगों को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रहे, वे दूरदर्शिता से, थोड़ा सोच-समझकर काम लें। लोगों में अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण लेने की विरोधी विचारधारा का प्रचार किया जाय, उनको ऋण लेने की हानियों से परिचित कराया जाय। इस दिशा में ग्राम पंचायतों से अच्छी सहायता मिल सकती है।

इसके अतिरिक्त कृषक की साख को सीमित करके भी कुछ सफलता प्राप्त की जा सकती है। हम पीछे कह चुके हैं कि जब अंग्रेजों के आगमन से भूमि के मूल्य में वृद्धि हो गई है, उसका महत्व बढ़ गया, तभी से ऋण के लेन-देन में भी वृद्धि होने लगी। अतः भूमि के हस्तान्तरण के अधिकार को सीमित कर किसान की साख को कम किया जा सकता है। इससे साधारणतया महाजन की ऋण देकर किसान की जमीन जायदाद पर अधिकार जमा लेने की भावना को निश्चित रूप से ठेस लगेगी। इसके बाद महाजन किसान को जो ऋण देने में धांधली करता है, बेईमानी करता है, उसको रोकने की ओर भी प्रयत्न किया जाय। यदि महाजन ठीक ढङ्ग से अपना हिसाब-किताब रखने लगे, तथा ऋणी मनुष्य को समय-समय पर उसके सूद इत्यादि से परिचित रखने लगे, उस पर ऐसा नियंत्रण कर दिया जाय कि वह निश्चित सूद से अधिक न ले सके, तथा रुपये उधार देने के लिए उसे लायसेन्स लेना अनिवार्य कर दिया जाय तो हमारी ऋण समस्या का बहुत कुछ हल हो जाय, उसके बहुत से दोषों से हमारे किसान को छुटकारा मिल जाय। इस प्रकार के प्रयत्न कई प्रान्तों में किये जा चुके हैं, और यदि इन कानूनों का उचित रूप से पालन किया गया तो अनुपादक कार्यों के लिए किसान को ऋण लेने में निश्चय ही प्रोत्साहन न मिलेगा।

ग्रामीण साख के नए स्रोत—हमारा किसान ऋण-ग्रस्त रहता है, कारण कि उसकी आय कम होती है। ऋण में फँसे रहने के कारण उसकी साख कम होती है, साख कम होती है इसलिए कि सूद या ब्याज की दर भारी होती है। अतः अपर्याप्त आय, भारी ऋण, मंहगी साख के कारण ही हमारे किसान की आज यह दयनीय स्थिति है। अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार कृषक की आय बढ़ाई जाय। इस प्रश्न पर हमें सभी दृष्टिकोण से विचार करना है।

किसान की इस दशा को सुधारने के लिए सबसे पहली आवश्यकता उसको सस्ती साख की व्यवस्था करना है। आज किसान को अधिक समय के लिए, मध्यम काल के लिए तथा अल्पकाल के लिए साख की आवश्यकता है। अधिक समय के साख की आवश्यकता भूमि के स्थाई विकास के लिए, अधिक भूमि खरीदने के लिए तथा पुराना ऋण चुकाने के लिये है। साधारणतया यह समय बीस से तीस वर्ष तक का होना चाहिए। अल्पकालिक साख की व्यवस्था से किसान को बीज, खाद आदि अस्थाई आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने के लिये होनी चाहिए। इस प्रकार के ऋण प्रायः मौसमी होते हैं और इनका समय छै से ६ महीने तक का ही होता है। मध्यम प्रकार की साख का समय प्रायः २ से लेकर चार वर्ष तक का होता है, इसका मुख्य प्रयोग तो उपयोग के लिए होता है परन्तु पशु तथा औजारों आदि के खरीदने में भी किया जाता है।

भारत जैसे देश में जहाँ कि मुख्य रूप से छोटी जोतों के ही खेत हैं वहाँ पर गहरी खेती की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। गहरी खेती करने का तात्पर्य है, पूँजी की अधिक आवश्यकता। इसके लिए हमें सबसे बड़ी आवश्यकता है आर्थिक सहायता और सिंचाई की। बड़े-बड़े स्थानों में, केन्द्रों में पूंजी का मूल्य अधिक नहीं रहता परन्तु गाँव में थोड़ी-सी भी पूंजी अपना विशेष महत्त्व रखती है।

हमारे ग्रमीण क्षेत्रों को बैंकिंग के नवीन साधनों से अभी कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा है, बड़े-बड़े शहरों में बैंकिंग का यथेष्ट विकास होने से रुपयों का, पूंजी का मूल्य अधिक नहीं है किन्तु आज का गाँव पूंजी के लिए भूखों मर रहा है। उसे आज पूंजी की अतीव आवश्यकता है।

रुपयों के उधार देने के विरोधी कानूनों के परिणामस्वरूप, गाँव से नगरों की ओर रुपया भरता चला जा रहा है, इससे स्थिति और भी खराब हो गई है।

भारत सरकार 'फंड' उधार ले सकती थी तथा उसका कृषि के विकास के लिए उपयोग कर सकती थी। भूमि बन्धक बैंकों के हाथों में यह काम सौंपा जा सकता था। किसानों को महाजन का रुपया चुकाने के लिए या भूमि के विकास में रुपया लगाने के लिये सरकार द्वारा रुपया दिया जा सकता था। यह भी व्यवस्था की जा सकती थी कि जिस काम के लिए ऋण दिया जाय उसी में उसका उपयोग हो। इस नीति से नगरों से ग्रामीण क्षेत्रों की पूंजी का प्रवाह होता किन्तु खेद है, कि इस दिशा में कोई अच्छा प्रयत्न न किया गया।

अब इधर भारत के विभाजन के परिणामस्वरूप हमारी खाद्य स्थिति और भी गम्भीर हो गई अतः सरकार ने कृषि के उत्पादन में वृद्धि करने की कई योजनाएँ बनाई हैं, इनके विषय में पीछे उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु इन योजनाओं के कार्यान्वित करने में पूंजी की काफी आवश्यकता है। केन्द्रीय सरकार इस कार्य के लिए राज्य की सरकारों, व्यक्तिगत कम्पनियों, तथा समितियों को ऋण दे रही है। १६४८-४६ में इस मद में ४ करोड़ से ऊपर की रकम स्वीकृत की गई थी। राज्य की सरकारें भी अपने क्षेत्र में इस प्रकार के ऋण की व्यवस्था कर रही हैं।

किसान को सरलता से पूंजी की व्यवस्था करने के लिए मिश्रित पूंजीवाली बैंकों द्वारा भी अच्छी सहायता प्राप्त हो सकती है। ये बैंकें युद्ध के समय से ही सारे देश में अपनी शाखाएँ खोल रही हैं। परन्तु इन शाखाओं को ग्राम निवासियों को ऋण देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इनका ऋण गाँव के महाजन के ऋण से मंहगा न पड़े। ग्रामीण पूंजी की समस्या को हल करने के लिए भारत के रिज़र्व बैंक के कानून में कुछ संशोधन करना भी आवश्यक है जिससे गाँववालों को पूंजी मिलने में कुछ आसानी हो जाय।

इसके अतिरिक्त पूंजी के कुछ नए साधनों के उत्पन्न करने की भी आवश्यकता है। इसके लिए एक अच्छे प्रकार के भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना से, किसान को अधिक समय के लिए ऋण देने के लिए राज्य बैंकों या एग्रीकल्चरल कार्पोरेशन की व्यवस्था, अन्न (ग्रेन) बैंकों आदि के द्वारा अच्छी सहायता मिल सकती है।

भारत सरकार ने किसानों की इस आवश्यकता की पूर्ति की जाँच-पड़ताल के लिये ग्रामीण बैंकिंग इनक्वायरी समिति की नियुक्ति की थी जिसका कार्य सरकार को किसानों की ऋण समस्या के हल करने के सुझाव उपस्थित करना था। इसके अतिरिक्त गैडगिल कमीशन ने भी कृषि साख समस्याओं (Agricultural Credit Corporation) की स्थापना का सुझाव पेश किया था। कृषि सुधार समिति का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि सहकारी समितियों तथा भूमि-बन्धक बैङ्कों के द्वारा ही किसानों को अधिक तथा थोड़े समय के लिये ऋण देने का प्रबन्ध किया जाय। इस सुधार समिति का यह कहना है कि किसानों की ऋण-सम्बन्धी समस्या के हल के लिये सहकारी समितियों का और

अच्छा संगठन किया जाय। पहले सहकारी साख समितियों को अधिक सफलता न मिलने का कारण उनका अभावपूर्ण ढीला संगठन ही था। बम्बई सरकार ने कृषि साख संगठन (Ariculturai Credit Organisation) के लिये नानावती समिति (Nanavati Committee) की नियुक्ति की थी। इस समिति ने कुछ उपायों द्वारा किसानों को कम से कम समय में आसानी से ऋण प्राप्त करने के सुझाव पेश किए थे। वे उपाय ये हैं :—

(१) प्रत्येक सदस्य तथा समिति का ऋण प्रतिवर्ष निश्चित कर दिया जाय।

(२) अच्छी समितियों के हाथ में किसानों को आवश्यकता के समय पर शीघ्र ही ऋण देने के लिये, हमेशा उचित पूँजी होनी चाहिये।

(३) मदरास की रेहन बान्ड वाली प्रणाली की व्यवस्था अन्य स्थानों में भी की जाय।

(४) व्यक्तियों के लिये चलतू साख (Running cerdit) की भी पद्धति को अपनाया जा सकता है।

इन सब का उद्देश्य किसान को ऋण प्राप्त करने की अधिक से अधिक सुविधाएँ देना है। इन सब नियमों के द्वारा साख समितियां एक बैंक की तरह सरलता से आवश्यकता के समय किसानों को ऋण प्रदान कर सकने में समर्थ हो सकेंगी।

ऋण लेने वाले पर नियंत्रण—किसान को ऋण प्राप्त करने की सुविधा के सम्बन्ध में हम कह चुके हैं। किसान को कृषि के विकास के लिये पूँजी की जो आवश्यकता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु हमें किसान की ऋण सम्बन्धी समस्या को हल करने के लिये उसके ऋण लेने पर भी कुछ नियंत्रण करना होगा। हम पीछे कह चुके हैं कि किसान को भूमि के मूल्य बढ़ जाने से ऋण के देने-लेने को काफी प्रोत्साहन मिला। अतएव किसान के ऋण के लेने पर नियंत्रण रखने के पूर्व हमें उसके भूमि सम्बन्धी अधिकारों पर भी नियंत्रण रखना आवश्यक है। यदि किसान पर ऋण लेने के लिये कोई नियंत्रण न रखा गया तो उसकी ऋण लेने की प्रवृत्ति में कमी नहीं आयेगी और वह सदैव अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण लेता रहेगा।

गत ४०-५० वर्षों तक किसान बिना किसी रुकावट के भूमि के नाम पर महाजन से ऋण लेता रहा जिसके परिणामस्वरूप किसान के हाथ से भूमि निकलती गई और एक भूमिहीन काश्तकार रह गया। किसान के इस अन्धाधुन्धी ऋण लेने पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाली गई, वह मनमानी तौर पर ऋण लेता रहा।

इसके बाद सरकार ने यह सोचा कि यदि किसान के भूमि-हस्तान्तरण अधिकार पर रुकावट न डाली गई, उसके इस अधिकार को सीमित न किया गया तो इसका परिणाम बड़ा बुरा होगा। इस प्रकार सरकार ने किसान के इस अधिकार को भी सीमित करने के लिये कानूनों का निर्माण किया। इस दिशा में सबसे पहले, १६०१ में पंजाब ने भूमि-हस्तान्तरकरण कानून पास किया। इसके अनुसार ऐसे वर्ग के लोगों को, जो कृषि नहीं करते थे, किसी भी किसान से न तो भूमि के खरीदने का ही अधिकार था और न २० वर्ष से अधिक के लिये उसको रेहन ही रख सकते थे।

इस कानून का पंजाब में बहुत से लोगों ने विरोध किया। इस कानून के विरोधियों का यह कहना था कि इससे कई बुरे परिणाम होंगे। भूमि के मूल्य में ह्रास हो जायगा, महाजनी करना असंभव हो जायगा और इससे ऋण लेने वाले किसान को बड़ा कष्ट होगा।

परन्तु इस कानून के दुष्कर परिणामों के सम्बन्ध में की गई भविष्यवाणियाँ झूठी सिद्ध हुईं। उसके ये सब बुरे परिणाम नहीं हुए। अब पंजाब में कोई भी किसान अपनी भूमि को हस्तान्तरित नहीं कर सकता। इस कानून द्वारा कृषक वर्ग से गैर-कृषक वर्ग के हाथों में खेती की भूमि के जाने में रुकावट हो गई है। परन्तु इस कानून से कुछ अन्य दोषों का जन्म हो गया। सबसे पहले तो इस कानून के

कारण नगरों के शिक्षित तथा धनी वर्ग को गाँवों में खेती आदि के विकास का अवसर जाता रहा। इसके पूर्व ये लोग ऋण आदि से किसानों को सहायता देकर गाँवों में खेती की व्यवस्था करते थे किंतु अब उनके हाथ से यह सुविधा निकल गई। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिये कि इंगलैण्ड आदि में खेती की उन्नति करने का बहुत कुछ श्रेय वहाँ के नगर-निवासियों को ही है जिन्होंने अपने साहस से, पूँजी से, अपने ज्ञान से, अपनी शिक्षा से वहाँ के कृषकों को सहायता देकर कृषि का विकास किया।

इस कानून से जिस दूसरे दोष का जन्म हुआ वह यह कि इससे निर्धन किसान के केवल स्वामियों में परिवर्तन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी बात नहीं हुई। पहले किसान ऐसे महाजन के हाथ अपनी भूमि बेचता या गिरवी रखता था जो स्वयं खेती नहीं करता था, परन्तु अब वह ऐसे महाजन के हाथ में अपनी भूमि या उसके अधिकार देने लगा जो स्वयं खेती करता है। इससे किसान की दशा और भी गिर गई। किसान का यह नया स्वामी उसी प्रकार शोषण करने लगा जैसा कि महाजन करता था।

इस कानून के द्वारा यह तो हो गया कि किसान अपनी भूमि को हस्तान्तरित न कर सके पर क्या वास्तव में इससे किसान की ऋण-व्यवस्था कुछ हल हुई है या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता।

उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिये १९३८ में इस कानून में दो संशोधन किये गये। एक के द्वारा 'बेनामी' लेन-देन को अवैध घोषित कर दिया गया। दूसरे संशोधन द्वारा कृषि करने वाले महाजन को प्राय: उसी स्थिति में करने की चेष्टा की गई जिसमें कि पहला महाजन था। इससे इस महाजन के अधिकारों को और भी सीमित कर दिया। इस प्रकार उपरोक्त दोषों को इन संशोधनों द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया गया। यह तो हुई पंजाब की बात। इसी प्रकार के कानून से उत्तर प्रदेश में (१९०३ में) बुन्देल खंड के किसानों की भी स्थिति को ठीक करने का प्रयत्न किया गया था। बम्बई तथा मध्य प्रदेश में अब भी आदिम जातियों के भूमि के हस्तान्तरण पर काफी नियंत्रण है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी कानूनी रुकावटें हैं जिनके द्वारा कृषक साधारणतया अपनी भूमि का हस्तान्तरण नहीं कर सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसान के भूमि सम्बन्धी अधिकारों को नियंत्रित कर उसकी ऋण लेने की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारा कृषक स्वयं भी अपनी स्थिति को अच्छी तरह समझ करके उत्पादक कार्यों के लिये ही ऋण ले और जहाँ तक सम्भव हो सके वह मितव्ययता से काम ले, अपने ऋण के बोझ को हल्का करने का प्रयत्न करे।

ऋणदाता पर नियंत्रण—हमने ऊपर ऋणकर्ता पर सरकार द्वारा किये जाने वाले कुछ नियंत्रणों पर प्रकाश डाला। एक प्रकार से ऋण लेने वाले पर नियंत्रण करने का तात्पर्य यह होता है कि उससे ऋण दाता पर भी नियंत्रण रखा जा सकेगा। ऋण दाता जब यह जानता है कि उसे अपने ऋण की रकम आसानी से वापस नहीं मिलेगी तो वह ऋण देने में काफी सावधान रहता है। परन्तु सरकार ने महाजन पर भी प्रत्यक्ष रूप से कुछ नियंत्रण लगाये हैं जिनके द्वारा महाजन को रजिस्ट्री कराना तथा लायसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया है। यही नहीं सूद की अधिकतम दर, ऋण के लेखे-जोखे का उचित निरीक्षण तथा कुछ अन्य बातों द्वारा महाजन पर कुछ नियंत्रण लगाये गये हैं। हम नीचे महाजन पर लगाये गये इन्हीं प्रतिबन्धों पर विचार करेंगे।

महाजन की रजिस्ट्री तथा लायसेन्स—महाजनी या लेन-देन का धन्धा करने से पूर्व महाजन को अपनी रजिस्ट्री कराकर एक प्रमाण पत्र अथवा लायसेन्स लेना पड़ता है। कानून

मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में प्रचलित है। बिहार में रजिस्टरी कराना अनिवार्य नहीं है, यह महाजन की इच्छा पर निर्भर रहता है, परन्तु जो महाजन अपनी रजिस्टरी नहीं कराता वह अपने रुपये की वसूली के लिये ऋणी पर न्यायालय में दावा नहीं कर सकता। पंजाब में भी इसी से मिलती जुलती व्यवस्था है। बंगाल में कानून के अनुसार प्रत्येक महाजन को रजिस्टरी कराना तथा लायसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य है। उत्तर प्रदेश में भी प्रत्येक महाजन को लायसेन्स प्राप्त करना आवश्यक है। जो महाजन बिना लायसेन्स लिये हुये लेन-देन करता है उस पर एक हजार रुपया तक का जुर्माना किया जा सकता है। वैसे सब स्थानों पर रजिस्टरी तथा लायसेन्स की व्यवस्था करना सम्भव नहीं। इस समय कितने ही ऐसे महाजन हैं जिनके पास न तो लायसेन्स ही है और न जिन्होंने अपनी रजिस्टरी ही कराई है। इस ओर और अधिक ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

हिसाब किताब पर नियंत्रण—महाजन को लायसेन्स प्राप्त करने तथा रजिस्टरी कराने के अतिरिक्त इस विषय के कारणों में महाजन के लेन-देन के हिसाब-किताब को भी अच्छी तरह रखने का नियंत्रण रखा गया है। इसके अनुसार प्रत्येक महाजन लेन देन का उचित हिसाब रखता है तथा प्रति छै मास पीछे वह अपने ऋणी को ऋण का एक ब्यौरा भेजता है जिसमें ऋण का पूरा पूरा हिसाब लिखा रहता है। मद्रास और आसाम में महाजन इस प्रकार का विवरण उसी समय देता है जब कर्जदार इस प्रकार का विवरण माँगता है। जो कुछ ऋण कर्जदार महाजन को देता रहता है, उसकी रसीद भी दी जाती है। जो महाजन इन नियमों का उल्लंघन करता है, उसको सरकार द्वारा दंड की व्यवस्था निश्चित है। परन्तु महाजन अपनी चालाकी से अब भी इन नियमों का उल्लंघन करता रहता है। किसान के अशिक्षित होने के कारण, महाजन की चालाकी को नहीं समझ पाता।

ब्याज की दर का नियंत्रण—ऋण की अधिकतम सूद की दर को निश्चित करने की ओर भी सरकार ने ध्यान दिया है। सुरक्षित तथा अरक्षित ऋण की सूद की दर में भेद होता है। बिहार तथा आसाम में चक्रवर्ती या मिश्र ब्याज लेना अवैध घोषित कर दिया गया है। पंजाब में सुरक्षित ऋण पर अधिकतम साधारण ब्याज १२ प्रतिशत तथा मिश्र ब्याज ६ प्रतिशत तथा अरक्षित ऋण पर साधारण ब्याज १८$\frac{3}{4}$ प्रतिशत तथा मिश्र ब्याज १४ प्रतिशत है। बंगाल में सूद की दर इससे भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी प्रान्तों में दाम दूपर की प्रथा प्रचलित है, जिसके अनुसार मूलधन से ब्याज दुगना नहीं हो सकता।

नीचे दी हुई तालिका से भारत के विभिन्न राज्यों में कानून द्वारा जो सूद की अधिकतम दर निश्चित की गई थी उसका पूरा परिचय मिल जायगा। मदरास को छोड़कर अन्य सभी प्रान्तों में अरक्षित तथा सुरक्षित ऋण की अलग-अलग दर निश्चित की गई थी। अरक्षित ऋण पर सूद की अधिकतम दर ली जा सकती है। बम्बई बिहार तथा आसाम में मिश्र ब्याज अवैध ठहरा दिया गया था।

प्रान्त	सुरक्षित ऋण		अरक्षित ऋण	
	साधारण ब्याज	मिश्र ब्याज	साधारण ब्याज	मिश्र ब्याज
मदरास	६$\frac{1}{4}$	—	६$\frac{1}{4}$	—
बम्बई (बिल)	६	अवैध	१२	अवैध
बंगाल	१५	१०	२५	१०
पंजाब	१२	६	१८	१४
बिहार	६	अवैध	१२	अवैध
उड़ीसा (बिल)	६	अवैध	१२	अवैध
मध्य प्रदेश	७	५ (साल भर पर)	१०	५ (साल भर पर)
आसाम	१२$\frac{1}{2}$	अवैध	१८$\frac{3}{4}$	अवैध

ब्याज की दर निश्चित कर, यह विश्वास करना कि महाजन उसका अक्षरशः पालन करेंगे, सम्भव नहीं है। क्योंकि जिस समय किसी किसान को पूँजी की अत्यन्त आवश्यकता होगी, और महाजन उसकी गर्जमन्दी को समझ जायगा तो वह सूद की ऊँची से ऊँची दर तथा किसान भी किसी भी शर्त पर ऋण लेने को तैयार हो जायगा। अतः इस ओर किसानों को स्वयं ध्यान देने की आवश्यकता है, उन्हें बहुत सोच-समझ कर उचित ब्याज पर ही ऋण लेना चाहिए तथा उन्हें महाजन की धूर्त्तता से भी सतर्क रहने की आवश्यकता है।

कुछ अन्य नियंत्रण—महाजन के हिसाब-किताब तथा सूद आदि पर नियंत्रण रखने के अतिरिक्त सरकार ने किसानों को महाजन के अत्याचारों तथा चालाकियों से बचाने की कोशिश की है। मध्य प्रदेश का कानून इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। बम्बई, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश में भी इस प्रकार के बिल पेश किये जा चुके हैं। इनके द्वारा यह निर्धारित कर दिया गया है कि यदि कोई भी महाजन कर्जदार को शोषण करने की, उसको दुख पहुँचाने की कोई भी अनधिकार चेष्टा करेगा तो उसे उचित दण्ड मिलेगा। पंजाब, बिहार, तथा उत्तरप्रदेश में यह व्यवस्था कर दी गई है कि यदि कोई भी किसान किसी महाजन से ऋण लेता है और वह ऋण की उस रकम के चुकने में असमर्थ रहता है, महाजन जब भी अपना ऋण वसूल करने के लिए उस पर डिग्री दाखिल करेगा, उस स्थिति में किसान की सारी जोत को वह अपने अधिकार में नहीं करा सकेगा, भूमि की एक जोत किसान के जीवन-निर्वाह के लिए, उसके हाथ में अवश्य रहेगी। सरकार ने कुछ स्थानों में किश्त द्वारा भी रकम चुकाने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त भूमि के बन्धक रखने की अवधि में भी सरकार ने नियंत्रण रखा है। इस प्रकार के प्रयत्नों से सरकार ने कृषकों की ऋण सम्बन्धी समस्या को सुलझाने की कोशिश की है।

ग्रामीण ऋण-कानून (Rural Debt Legislation)—उपरोक्त कानूनों से ग्रामीण ऋण सम्बन्धी समस्या के हल करने के प्रयत्नों का परिचय मिल गया। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में सरलता से साख या किसानों को पूँजी प्राप्त होने में कुछ कठिनाई अवश्य हो गई है। जिन क्षेत्रों में इस प्रकार के कानून प्रचलित हैं, वहाँ पर महाजन ने हरेक किसान को ऋण देना बन्द कर दिया है। वह केवल उन्हीं किसानों को ऋण देता है जिनपर उसका विश्वास है, तथा जिनको कि वह पहले से ऋण देता चला आ रहा है।

ऋण सम्बन्धी कानूनों के और अधिक स्पष्टीकरण के लिए हम पञ्जाब के कानूनों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे। ये कानून पहले संयुक्त पञ्जाब में पास किए गए थे, अब पूर्वी पञ्जाब में ये ही कानून लागू हैं।

इस दिशा में सबसे पहले १६३४ में एक कानून पास किया गया जिसके अनुसार महाजन को ऋण का अच्छा लेखा-जोखा रखने की व्यवस्था की गई तथा कर्जदार को ऋण सम्बन्धी छमाही विवरण देने की आज्ञा दी गई। इसी वर्ष किसानों को ऋण से मुक्त करने से लिए भी एक कानून पास किया गया जिसके अनुसार किसानों का ऋण का भार हल्का करने का प्रबन्ध किया गया। १६३६ में कर्जदारों की रक्षा का कानून पास हुआ। १६३८ में उस एक्ट में संशोधन किया गया तथा भूमि के हस्तान्तरण पर नियंत्रण रखते हुए बेनामी लेनदेन को अवैध घोषित किया गया। सन् १६३६ में उपरोक्त कानून में और संशोधन किया गया जिससे कृषक तथा गैर कृषक महाजन को एक ही वैधानिक स्थिति में लाने की व्यवस्था की गई। १६३८ के कानून से सभी महाजनों की रजिस्ट्री अनिवार्य घोषित की गई तथा कुछ निर्धारित फीस देकर लायसेन्स प्राप्त करने का प्रबन्ध किया गया। इसी सन् में भूमि-बन्धक सम्बन्धी स्थिति पर भी कुछ नियंत्रण रखा गया। इसी से मिलते-जुलते कानून अन्य प्रदेशों में भी पास हुए। इनका उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

ऋण कानूनों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—इन कानूनों से किसानों की ऋण सम्बन्धी स्थिति में काफी सुधार हुआ। ये कानून ईश्वरीय देन के समान प्रतीत हुए, हाँ महाजनों की स्थिति में इससे अधिक धक्का पहुँचा। उनके लिए ये कानून वरदान न होकर अभिशाप सिद्ध हुए। किसानों की मूर्खता के कारण ये महाजन जो लाभ उठाते थे, ऋण के लेन-देन में जो धूर्तता करते थे, इससे इस दिशा में काफी प्रतिरोध हुआ।

इन बिलों का पंजाब में काफी समर्थन तो हुआ ही, साथ ही विरोधियों की भी संख्या कोई कम नहीं रही। विरोधियों का यह कहना है कि इन कानूनों से गाँव में ऋण का प्राप्त होना, पूँजी की सुलभता को काफी धक्का लगा है। इस सम्बन्ध में हम ऊपर कुछ विचार कर चुके हैं। परन्तु गाँव में पूँजी की दुर्लभता के लिए केवल इन कानूनों को ही उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। हमें इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उस समय का देश का सारा आर्थिक ढांचा अस्त व्यस्त हो गया था, इसलिए इस आर्थिक गड़बड़ी का भी प्रभाव हमारी साख-व्यवस्था पर पड़ा।

इस सम्बन्ध में विरोधियों का दूसरा विचार यह है कि इन कानूनों से ऋण के भुगतान के व्यतिक्रम को भी काफी प्रोत्साहन मिला है। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि युद्ध के पूर्व के दिनों में किसानों की आर्थिक स्थिति इतनी असन्तोषजनक थी, उसके पास रुपये का इतना अभाव था कि वह सरकारी तथा सहकारी साख समितियों द्वारा लिए हुए ऋण का भी भुगतान नहीं कर सका। इसलिए हमारा यह कहना कि इन कानूनों से ऋण के भुगतान में व्यतिक्रम हुआ उचित नहीं। युद्ध के पश्चात् वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाने से किसान की आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी हुई और उसने अपना अधिकांश ऋण चुका दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि किसान देने की स्थिति में हो तो उसे ऋण के भुगतान में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं करना चाहता।

वास्तव में किसान को अपने कम किए हुए ऋण को देने में जो देरदार होती है उसका मुख्य कारण यह है कि उसे अपने ऋण के भुगतान में अच्छी सुविधा नहीं प्राप्त होती। भूमि बंधक बैंकों की स्थापना से किसानों की इस आवश्यकता की पूर्त्ति सरलता से हो सकती है, उसे अपने ऋण के चुकाने में काफी सुविधा प्राप्त हो सकती है। ये बैंकें कर्जदार की ओर से पूरा ऋण चुका सकती हैं और इसके बदले में किसानों से किश्त के रूप में धीरे-धीरे अपनी रकम वसूल कर सकती हैं।

कभी-कभी कर्जदार के साधन इतने कम होते हैं कि वह कम किया हुआ ऋण भी चुकाने के योग्य नहीं होता। इसके लिए एक साधारण दीवालिया कानून के पास करने की आवश्यकता है। इस प्रकार के कानून कुछ प्रदेशों में पास किए जा चुके हैं।

इस सम्बन्ध में एक और बात कही जाती है, वह यह कि जब ऋण की रकम सरकार द्वारा कम कर दी जाती है, तथा किश्तों की दर निश्चित कर दी जाती है तो जब तक किसान अपने इस पुराने ऋण को चुका नहीं देता तब तक उसे नयी रकम नहीं मिलती। इस दिशा में ऋण समझौता बोर्डों को प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें किसानों की या यूँ कह लीजिये कि कर्जदारों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए कुछ ऋण दिलाने का प्रबन्ध कर देना चाहिए। परन्तु यह रकम उतनी ही होनी चाहिए जिसे किसान आसानी से चुका सके।

इन कानूनों के विरोध में एक और बात यह कही जाती है कि इन कानूनों ने ऋण के समझौते के लिए जो रकम निर्धारित की है वह बहुत अधिक है। परन्तु यह कोई बड़ी बात नहीं है, आवश्यकता होने पर इस कानून में संशोधन करके भी ठीक किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ लोगों का यह कहना है कि इन कानूनों द्वारा सहकारी समितियों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई है। मदरास, मध्यप्रदेश, आसाम तथा बंगाल में ऋण का कोई भी समझौता तब तक मान्य नहीं होता जब तक कि पहले से उस पर सहकारी समितियों के रजिस्टार की

अनुमति न ले ले। मद्रास में १६३८ का कृषि ऋण कानून सहकारी ऋण के लिए लागू नहीं होता। पंजाब में सहकारी ऋण का समझौता इन बोर्डों द्वारा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कानूनों द्वारा सहकारी समितियों को कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त हो गई हैं। परन्तु इन समितियों को ये विशेष सुविधाएँ देने की बात स्पष्ट है। सहकारी समितियाँ अपना हिसाब-किताब बड़ा नियमित रखती हैं, वे कोई लाभ कमाने वाली ही संस्थाएँ नहीं हैं, उन पर सरकार का हमेशा नियंत्रण रहता है। अतएव यदि इन समितियों को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हो ही गए तो कोई हर्ज की बात नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार ने इन कानूनों द्वारा ऋण-समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। परन्तु इन कानूनों से ही हम अपनी इस ग्रामीण-ऋण की समस्या को हल नहीं कर सकते। इससे भले ही महाजनों की चालाकी पर कुछ नियंत्रण हो जाय, सूद की अधिकतम दर निर्धारित कर दी जाय, पुराने या पैतृक ऋण को भले ही कम कर दिया जाय अथवा उसे बिल्कुल ही माफ कर दिया जाय परन्तु जब तक हम ऋण के मूल कारणों को दूर नहीं करते तब तक हमें इस दोष से छुटकारा नहीं मिल सकता।

इस समस्या को हल करने के लिये, इस रोग से मुक्त होने के लिये, इस अभिशाप का अन्त करने के लिये हमें अपने गाँवों के सारे आर्थिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन करना होगा।

एक नवीन दृष्टिकोण—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि हमें अपने देश का आर्थिक नवनिर्माण करने के लिये, गाँवों का एक अच्छा आर्थिक संगठन करना होगा।

गाँवों के उत्थान के लिये, कृषि के विकास के लिये, कृषकों की आर्थिक स्थिति को अच्छी करने के लिये, हमें किसानों के लिये समय पर पूँजी की प्राप्ति की सुविधा की व्यवस्था करनी होगी। हम यह कह चुके हैं कि सहकारिता द्वारा हमें इस क्षेत्र में अच्छी सहायता मिल सकती है। परन्तु यहाँ अभी सहकारिता का अधिक विकास नहीं हुआ है, इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे किसान के पास अर्थाभाव है, उसके पास पूँजी की कमी है। हमारी ग्रामीण जनता का अधिकांश भाग ऋण-ग्रस्त है, स्वभावतः वह सहकारी साख से वंचित ही रहेगी। तो फिर क्या इन किसानों को पूँजी की सहायत के लिये हमें इन्हें महाजनों के ही सहारे छोड़ देना पड़ेगा? परन्तु महाजनों पर छोड़ने से इनकी दशा का सुधरना सम्भव नहीं, महाजनों के अत्याचारों की अधिकता से किसी भी समय देश में सामाजिक तथा आर्थिक क्रान्ति हो सकती है।

अतः अब केवल एक ही रास्ता बचता है, एक ही उपाय है, वह यह कि राज्य इस दिशा में स्वयं क्रियात्मक कदम उठाकर किसानों को साख की सहायता प्रदान करे जिससे हमारे किसान कृषि के विकास के आवश्यक उपकरणों को क्रय कर, उत्पादन में वृद्धि कर सकें। राज्य जब इस प्रकार की पूँजी की व्यवस्था करे तो वह प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से बिना किसी भेदभाव के, बिना उसकी साख की विभिन्नता का ध्यान रखते हुये, पूँजी का प्रबन्ध करे।

इस प्रकार के विनियोग को अच्छा नहीं कहा जा सकता, इसको बुरा ऋण कहा जा सकता है किन्तु इससे हमारी आर्थिक दृढ़ता को अच्छी सहायता मिलेगी। कृषि सुधार समिति का यह सुझाव है कि किसानों को सब प्रकार की साख-सहायता एक बहु-उद्देश्यवाली सहकारी समिति द्वारा मिलनी चाहिये।

इस प्रकार की संस्था से साख की व्यवस्था का प्रचलन उन क्षेत्रों में और अधिक हो सकेगा, जहाँ कि जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो रहा है, या हो चुका है, क्योंकि जमींदारी उन्मूलन से गाँवों से नगरों की ओर पूँजी का प्रवाह होगा।

गैडगिल समिति तथा कृषि सुधार समिति का यह वि ार है कि ग्रामीण राजस्व का पुनर्संगठन करने से पूर्व सबसे पहली आवश्यकता गाँव वालों के ऋण का चुका दिया जाना है। सरकार को बिना किसी देरदार के ऋण चुकाने की जल्दी से जल्दी व्यवस्था कर देनी चाहिये, इस प्रकार सरकार को एक मुश्त रकम महाजनों या देनदारों को दी जानी चाहिये। यह रकम या तो भूमि बन्धक बैंकों या किसी अन्य संस्था से उधार ली जा सकती है, जो कर्जदारों से २० वर्ष की अवधि के अन्दर में किश्त के रूप में सारी रकम वसूल कर लेगी।

इसी प्रकार हम अपने करोड़ों भारतीयों के अन्न-वस्त्र की समस्या हल करने में समर्थ हो सकेंगे।

तेरहवाँ परिच्छेद

भारत में सहकारिता आंदोलन

परिभाषा—सहकारिता (Co-opration) शब्द की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है।

सहकारिता शब्द की व्याख्या करते हुए मैकलैगन समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था 'कि एक अशक्त तथा अकेला व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सहयोग से अपनी समस्त प्राकृतिक योग्यताओं का विकास करता है। विभिन्न शक्तियों के संगठन से भौतिक उन्नति सम्भव हो जाती है, संगठित कार्य से आत्मविश्वास की वृद्धि होती है। इन समस्त शक्तियों के सामञ्जस्य से उत्तम व्यापार उत्तम कृषि एवं उत्तम जीवन की अभिवृद्धि होती है।'

स्ट्रिक लैण्ड के शब्दों में 'व्यक्तियों का प्रत्येक समूह जो कि एक सम्मिलित प्रयत्न से सार्व-जनिक हित की प्राप्ति करता है, वह समुदाय सहकारी कहलाता है तथा उसके कार्य की पद्धति सहकारिता कहलाती है। उदाहरणार्थ किसी फुटबाल की टीम, अथवा साझेदारों वाली कोई विशेष कम्पनी।'

सेलिगमैन ने अपनी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त नामक पुस्तक में सहकारिता के विषय में कहा है कि 'सहकारिता का वास्तविक अर्थ उत्पत्ति तथा उसके वितरण की स्पर्द्धा का परित्याग तथा सब प्रकार के मध्यस्थों का बहिष्कार या अलगाव है।'

एक अन्य विद्वान का कथन है कि 'सहकारिता का श्रीगणेश सम्मिलित सहायता से तथा उसकी इति श्री सार्वजनिक कुशलता एवं पूर्णता से होती है।'

'डेनमार्क में सहकारिता' नामक पुस्तक के लेखकों ने सहकारिता शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'यह एक विशेष प्रकार का आर्थिक संगठन है जिसमें कि लोग कुछ निश्चित व्यापारिक नियमों के अनुसार कुछ निश्चित व्यापारिक उद्देश्यों के लिये कार्य करते हैं। सहकारिता का मूल मन्त्र व्यापार तथा नीतिशास्त्र की घनिष्टता है जो कि हमारी वर्तमान औद्योगिक पद्धति की व्यावसायिक ईमानदारी से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।'

इस प्रकार सहकारी समिति की मुख्य विशेषताएँ तीन हैं :—

(१) इसमें सार्वजनिक आर्थिक कल्याण के लिए लोगों का सम्मिलित होना ऐच्छिक होता है।
(२) इसमें भौतिक तथा नैतिक दोनों पर समानरूप से जोर दिया जाता है।
(३) सहकारी कार्यों के लिए शैक्षणिक प्रभावों पर विशेष जोर दिया जाता है।

भारत में सहकारिता का विकास—भारत में सहकारिता आन्दोलन का प्रारम्भ विश्व-व्यापी सहकारी आन्दोलनों के फलस्वरूप हुआ था। आज से प्रायः ४० वर्ष पूर्व भारत में सहकारिता का बीजारोपण हुआ था। इसका श्रीगणेश पहले कुछ निर्धनों को अल्पकालीन शर्तों के अनुसार ऋण देने के लिए ही हुआ था, परन्तु आज तो इसका सम्बन्ध उसके सदस्यों के आर्थिक

जीवन के समस्त अंगों से है। १६वीं शताब्दी के अंतिम भाग में भारत को बढ़ती हुई ग्रामीण ऋण की समस्या का सामना करना पड़ा। इसी समय जर्मनी में छोटी-छोटी गाँव-बैंकों की सफलता से इस समस्या के हल करने वालों को काफी प्रोत्साहन मिला। इस प्रणाली का अध्ययन करने के लिए मदरास सरकार ने फ्रेडरिक निकोल्सन को नियुक्त किया, १८६५-६७ में उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसी समय संयुक्त प्रान्त में श्री ड्यूपरनेक्स तथा पंजाब में एडवर्ड मैकलेन व कैप्टेन क्रास्थवेट, सहकारी साख समितियों का संगठन कर रहे थे। १६०१ के दुर्भिक्ष कमीशन ने सहकारी समितियों की स्थापना पर बड़ा जोर दिया। इस प्रकार १६०४ में सहकारी साख समितियों सम्बन्धी कानून पास हुआ।

इस कानून का उद्देश्य ग्राम-निवासियों में, किसानों में, कारीगरों में तथा अन्य लोगों में मितव्ययिता, स्वावलम्बन और सहकारिता की भावना को प्रोत्साहन देना था। ये समितियाँ ग्रामीण या नागरिक क्षेत्रों में हो सकती थीं। साधारणतया ग्रामीण समितियों के संगठन में जर्मनी के प्रसिद्ध सहकारी आन्दोलन रैफसिन का तथा नगर समितियों के संगठन में शुल्ज़ डेलित्थ के सिद्धान्तों का अनुकरण किया गया।

रैफसिन पद्धति के मुख्य सिद्धान्त ये थे :—

(१) दस या दस से अधिक व्यक्ति मिलकर एक समिति बना सकते हैं।

(२) इसका संगठन संयुक्त उत्तरदायित्व वाले सदस्यों से उधार ली हुई पूँजी से होगा, इसमें किसी को हिस्से इत्यादि नहीं दिये जाते।

(३) इसके सदस्यों का दायित्व अपरिमित होता है।

(४) प्रत्येक समिति का क्षेत्र गाँव तक ही सीमित होता है, इस प्रकार सदस्यगण एक दूसरे की आर्थिक स्थिति से भली भाँति परिचित होते हैं और कोई भी व्यक्ति एक से अधिक समिति का सदस्य नहीं हो सकता।

(५) इसका कोई प्रवेश-शुल्क नहीं होता।

(६) इसका वेतन भोगी सदस्य केवल मन्त्री-कोषाध्यक्ष (Secretary treasurer) होता है।

(७) इसके द्वारा केवल उत्पादक कार्यों के लिए वैयक्तिक जमानत पर ही ऋण दिया जा सकता है।

(८) इसका डिवीडेन्ड या लाभांश वितरित नहीं किया जा सकता, किसी भी समिति के भंग होने पर उसका सुरक्षित कोष जनहितकारी कार्यों के लिए दे दिया जाता है।

शुल्ज़ डेलित्थ की पद्धति के ये सिद्धान्त हैं :—

(१) इसका कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

(२) शेयर पूँजी या हिस्सा पूँजी पर अधिक जोर दिया जाता है।

(३) सदस्यों का दायित्व परिमित रहता है।

(४) अल्पकालिक साख की व्यवस्था रहती है।

(५) इसके पदाधिकारियों के उचित वेतन की व्यवस्था होती है।

(६) लाभांश या डिवीडेन्ड का उचित वितरण रहता है।

(७) इसका प्रवेश शुल्क लिया जाता है तथा जिन लोगों की अन्य कोई आय का साधन नहीं है, उन्हें इससे दूर रखा जाता है।

(८) इसका उद्देश्य नैतिक की अपेक्षा भौतिक अधिक है।

इस प्रकार सहकारिता की उपरोक्त दोनों प्रणालियाँ समाज के दो विभिन्न वर्गों की अलग-

अलग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त हैं। इस सम्बन्ध में हम आगे जब भारतीय सहकारी साख समितियों पर प्रकाश डालेंगे तो विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत में सहकारिता के संगठन के लिए तत्सम्बन्धी एक कानून १९०४ में पास हुआ परन्तु थोड़े ही दिनों बाद उसके कुछ दोष दृष्टिगोचर होने लगे। इसका सबसे बड़ा दोष तो यह था कि इसके अनुसार ग्रामीण तथा नगर समितियों का जो वर्गीकरण किया गया वह अवैज्ञानिक तथा असुविधाजनक था, इस कानून के द्वारा केवल साख समितियों की स्थापना की ही अनुमति दी गई। इसके अतिरिक्त पूँजी की सहायता के लिए तथा उसके निरीक्षण के लिये। केन्द्र द्वारा कोई व्यवस्था नहीं की गई।

अतः इन दोषों को दूर करने के लिए १९१२ में एक दूसरा कानून पास हुआ जिसके अनुसार गैर साखवाली सहकारी समितियाँ जैसे क्रय, विक्रय, उत्पादन, बीमा के संगठन की अनुमति दी गई।

दूसरे इनको पूँजी की सहायता देने के लिए, इनके निरीक्षण आदि के लिए नवीन संघों की व्यवस्था की गई। जिसके द्वारा (अ) समितियों के हिसाब-किताब की जाँच के लिए तथा उन पर नियंत्रण आदि रखने के लिए कुछ संघों की व्यवस्था और (ब) केन्द्रीय बैंकों तथा (स) प्रान्तीय बैंकों को इस कार्य के लिए अनुमति दी गई।

अभी तक जो वर्गीकरण था जिसके अनुसार ग्राम तथा नगर सहकारी समितियाँ थीं, अब वह वर्गीकरण समाप्त हो गया और एक अच्छा वैज्ञानिक वर्गीकरण किया गया जिसके अनुसार समितियों का विभाजन दो वर्गों में था एक परिमित दायित्व वाली (Societies of Limited Liability) तथा अपरिमित दायित्व वाली (Societies of Unlimited Liability) समितियाँ। जिन समितियों के सदस्य रजिस्टर्ड थे, उनका दायित्व परिमित था। जो समितियाँ साख की व्यवस्था करने वाली थीं और जिनके अधिकांश सदस्य कृषक थे, उनका दायित्व अपरिमित था। इनके अतिरिक्त अन्य समितियों के दायित्व का परिमित अथवा अपरिमित होना उनके सदस्यों की इच्छा पर निर्भर था।

१९१२ के इस कानून से सहकारिता आन्दोलन की वृद्धि को काफी प्रोत्साहन मिला, और इस दिशा में जो विकास हुआ था उसको जाँच के लिए मैक्लेगन समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने भविष्य में सहकारिता के विकास के लिए कई सुझाव उपस्थित किए। प्रथम पन्द्रह वर्षों में विकास की गति मन्द रही, देश भर में इस समय में केवल २८,५०० समितियों की ही रजिस्ट्री हुई।

इसके पश्चात् १९१९ के सुधारों के अनुसार सहकारिता प्रान्तीय विषय हो गया और प्रान्तीय मंत्रियों के नेतृत्व में प्रान्तों में इस आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा। प्रान्तों ने अपने-अपने अलग सहकारी कानून (Co-operative Acts) पास किए जिसके परिणामस्वरूप पाँच वर्षों के अन्दर ही समितियों की संख्या पहले से दुगनी हो गई। परन्तु थोड़े समय बाद इन समितियों की स्थिति में कुछ ढीलापन आ गया, इसका मुख्य कारण इन समितियों के प्रबन्धकों की अयोग्यता थी, निकोल्सन जिसने कि जर्मनी की सहकारिता पद्धति का अच्छी तरह अध्ययन किया था तथा भारत में रेफीसन की पद्धति की समितियों की स्थापना पर जोर दिया था, उसका अनुकरण आँख मूंद कर करने लगे, गाँव में रेफीसन की सहकारी पद्धति के प्रचार पर बुरी तरह जुट पड़े किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने इस बात का किंचितमात्र भी ध्यान नहीं दिया कि किसी भी संगठन की प्रगति, उसका विकास उसके प्रबन्धकों की योग्यता के अनुपात से ही होना चाहिए, इस नियम को वे भूल ही गए साथ ही निकोल्सन का यह सुझाव कि गाँव में इस प्रकार का सुधार करने के पूर्व रेफीसन की सहकारी पद्धति का प्रचार करने

के पूर्व पहले वहाँ रेफीसनों को ढूँढ़ बिकालो बिल्कुल भूल गया, इसकी उन्होंने बिल्कुल ही उपेक्षा की अतः इसके परिणामस्वरूप सहकारिता की सफलता पर भी बड़ा आघात पहुँचा।

१६२६-३५ के समय में जब कि भारत की आर्थिक स्थिति बड़ी डांवाडोल थी, वस्तुओं के मूल्य में भारी कमी आ गई थी, उस समय हमारे सहकारिता आन्दोलन को और भी ठेस पहुँची। परंतु युद्ध तथा युद्ध के बाद के वर्षों में देश ने सहकारिता का सभी क्षेत्रों में आशातीत विकास देखा।

सन् १६३८-३६ तथा १६४५-४६ में इन समितियों की संख्या, उनके सदस्यों की संख्या तथा उसमें लगी हुई कार्यशील पूँजी में क्रमशः ४१%, ७०% तथा ५४% की वृद्धि हुई। १६३८-३६ के समय में इस आन्दोलन ने केवल ६% जनता को ही प्रभावित किया, १६४७-४८ में इससे १७ प्रतिशत जनता प्रभावित हुई। युद्ध से उपभोक्ता भंडारों तथा क्रय-विक्रय समितियों की स्थापना में काफी प्रोत्साहन मिला। कई प्रकार की नई सहकारी समितियों का संगठन हुआ। साख-समितियों के भी कार्य-क्षेत्र में विस्तार हुआ। इस प्रकार युद्ध के समय में समितियों की शक्ति में काफी वृद्धि हुई। १६४७-४८ में भारतीय संघ में १४४,५०० समितियाँ थीं, जिनमें लगभग १०६ लाख सदस्य थे तथा जिसमें लगभग १६७ करोड़ कार्यशील पूँजी लगी हुई थी। सन् १६४६ में सहकारी प्लानिङ्ग कमेटी ने कुछ सुझाव पेश किए जिसके अनुसार प्रतिवर्ष लगभग २१,६००० सहकारी समितियों तथा लगभग एक लाख नए सदस्यों की वृद्धि होगी। बम्बई, मदरास, पंजाब तथा अजमेर के कुल कुटुम्बों की एक चौथाई संख्या सहकारी समितियों की सदस्य है। कुर्ग में समितियों तथा उनके सदस्यों की संख्या का प्रतिशत सबसे अधिक है। वहाँ प्रत्येक ग्राम में एक सहकारी समिति है।

१६४८-४६ के समय में सहकारी आन्दोलन की गति और भी तीव्र हुई। तेरह अप्रल १६४६ तथा १८ अगस्त १६४६ के बीच में मैसूर में १,७१० नई समितियों की रजिस्ट्री हुई। मैसूर में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों की भी स्थापना हुई जिससे अन्य ८५ प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैङ्क भी सम्बन्धित थे। मदरास में १८,००० ग्रामीण साख समितियों की रजिस्ट्री हुई। उत्तर प्रदेश में बहु उद्देश्यवाली सहकारी समितियों की भी संख्या में काफी वृद्धि हुई। उत्तर प्रदेश के छै जिलों में ३५० चकबन्दी समितियों (Consolidation Societies) ने १२ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी की है। यहाँ के राशन वाले नगरों की ¾ से भी अधिक जनसंख्या को सहकारी उपभोक्ता भंडारों से ही राशन प्राप्त होता है। कपड़े के आयात के लिये भी एक प्रान्तीय क्रय-विक्रय संघ (Provincial Marketing Federation) की स्थापना हुई है। बम्बई राज्य ने इस आन्दोलन के सुसंगठन के लिये एक प्रान्तीय सहकारी परिषद की स्थापना की है। सहकारी साख समितियों को बहु उद्देश्य वाली समितियों में परिवर्तित करने की ओर भी लोगों का काफी ध्यान आकर्षित हुआ था।

सहकारी पद्धति की रूप-रेखा—निम्नांकित रेखाचित्र से भारत की सहकारिता प्रणाली की रूपरेखा का कुछ परिचय मिल जायगा :—
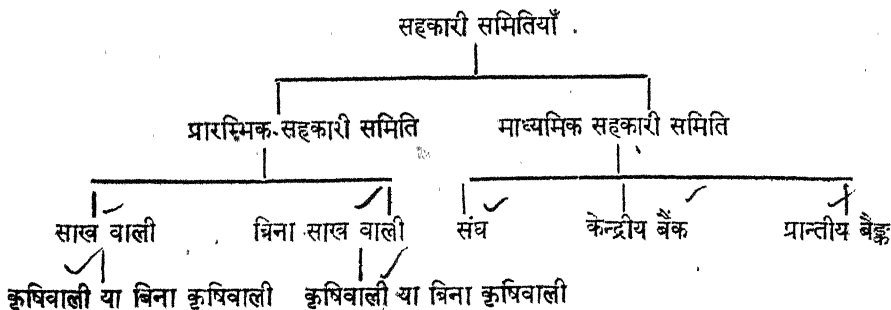
प्रारम्भिक सहकारी समितियां का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है :—

(१) कृषि सहकारी साख समितियाँ।
(२) कृषि सहकारी गैर साख समितियाँ।
(३) बिना कृषि वाली सहकारी साख समितियाँ।
(४) बिना कृषि वाली सहकारी गैर साख समितियाँ।

कृषि सहकारी साख समितियां—(Agricultural Co-operative Credit Societies) कृषि सहकारी साख समिति दस या दस से अधिक (किन्तु १०० से अधिक न हों) सदस्यों द्वारा संगठित की जा सकती है। सदस्यों की रजिस्ट्री के लिये सहकारी समितियों के रजिस्टार के पास आवेदन पत्र भेज कर रजिस्ट्री करा ली जाती है। वास्तव में सहकारिता आन्दोलन का सर्वेसर्वा रजिस्टार ही होता है। वह सहकारी समितियों का जन्म देने वाला, उनका पालन-पोषण करने वाला तथा उनका अन्त करने वाला है। वह सहकारिता आन्दोलन का मित्र, पथ प्रदर्शक तथा उपदेशक है। रजिस्टार की आधीनता में डिप्टी रजिस्ट्रार, आडीटर आदि बहुत से कर्मचारी होते हैं।

कृषि सहकारी साख-समितियां का कार्यक्षेत्र प्रायः एक गाँव ही होता है। इसके सदस्यों का दायित्व अपरिमित होता है। अपरिमित दायित्व के होने से इसके सदस्यों में आपस में नियंत्रण तथा निरीक्षण की भावना का उदय होता है। इस समिति की कार्यशील पूँजी, प्रवेश-शुल्क हिस्सा पूँजी या शेयर कैपिटल, तथा निक्षेप (डिपोज़िट) से प्राप्त होती है। शेयर कैपिटल अथवा हिस्सा पूँजी उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा मदरास राज्यों में ही निकाली जाती है। सरकार से ऋण, 'अमानत', अन्य समितियों तथा केन्द्रीय व प्रान्तीय बैंकों आदि अन्य स्रोतों से भी पूँजी प्राप्त की जा सकती है।

सदस्यों को ऋण उसी दशा में दिया जाता है जब कि वे उत्पादक कार्यों जैसे भूमि के विकास, कृषि की उन्नति के लिए उसे लगाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अनुत्पादक कार्यों जैसे शादी-विवाहोत्सव आदि के लिए तथा पैतृक ऋण आदि के परिशोध के लिए भी ऋण दिया जा सकता है। ऋण साधारणतया वैयक्तिक जमानत तथा कभी कभी साम्पत्तिक जमानत पर ही प्रदत्त किया जाता है। ऋण का भुगतान साधारण किश्तों द्वारा होता है। यदि आपस में कुछ झगड़ा इत्यादि होता है तो मुकदमेबाजी को रोकने के लिए, मध्यस्थों द्वारा ही मामले को तय करा दिया जाता है।

प्रत्येक समिति को एक सुरक्षित कोष का स्थापना करना आवश्यक रहता है। यदि समिति में शेयर कैपिटल या हिस्सा पूँजी नहीं है तो उसका सारा लाभ समिति कोष में ही चला जाता है। अन्य प्रकार की समितियों में २५ प्रतिशत लाभांश इस कोष में जाता है तथा यदि रजिस्ट्रार आज्ञा दे देता है तो १० प्रतिशत लाभांश दातव्य कार्यों के लिए दे दिया जाता है। रजिस्ट्री द्वारा नियुक्त किए गए अधिकारियों द्वारा समिति के हिसाब-किताब का निरीक्षण होता है। इन समितियों को कुछ विशेष सुविधाएँ जैसे स्टाम्प शुल्क, राजिस्ट्रेशन शुल्क तथा आय कर से मुक्ति आदि प्राप्त होती है।

समिति का प्रबन्ध दो सभाओं—साधारण सभा तथा प्रबन्धकारिणी सभा—के ही हाथों में रहता है। साधारण सभा, का कार्य प्रायः नीति निर्धारित करना रहता है। वास्तविक प्रबन्ध तो प्रबंधकारिणी सभा के ही हाथ में रहता है। प्रबन्धकारिणी समिति सदस्यों के हिस्से देती तथा उनको समिति का सदस्य बनाती है, आवश्कता पड़ने पर वह साधारण सभा का आयोजन करती, आय-व्यय का हिसाब रखती, समिति सम्बन्धी कार्यों में रजिस्ट्रार से लिखा-पढ़ी करती है। सदस्यों को कितने समय के लिए ऋण उधार दिया जाय, यह तय करना भी उसी के हाथ में रहता है, निश्चित अवधि के अन्त में ऋण वसूल करने की भी व्यवस्था वही करती है। इसके अतिरिक्त वह सदस्यों तथा अन्य ग्राम वासियों को समिति में रुपया जमा करने के लिये उत्साहित करती है।

साधारण सभा, प्रबन्धकारिणी सभा के सदस्यों का निर्वाचन करती, वैतनिक मंत्री की नियुक्ति करती तथा समिति के कुछ नियमों में संशोधन करती है।

यदि हम १६३८-३६ के मध्य के सहकारिता आन्दोलन पर एक दृष्टि डालते हैं तो हमारी इन साख समितियों ने आर्थिक संकट के उस भीषण युग में भी बड़ी सफलता से कार्य किया। इसके पश्चात् युद्ध के बाद के दिनों में भी उसकी प्रगति में कोई विशेष कमी नहीं हुई। इधर इन समितियों की संख्या, उनके सदस्यों की संख्या आदि में बड़ी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। हाँ कुछ कारणों से कार्यशील पूँजी की वृद्धि में अवश्य रुकावट हुई।

सहकारिता आन्दोलन का विकास सभी प्रान्तों में एक सा नहीं रहा है। वैसे तो बंगाल में सबसे अधिक सहकारी समितियाँ हैं परन्तु कार्य की दृष्टि से उनकी स्थिति बड़ी असन्तोषजनक है। पूर्वी पंजाब की भी स्थिति अच्छी नहीं रही। बम्बई तथा मद्रास ने गैर साख समितियों की दिशा में बड़ी प्रगति की है।

प्रारम्भ से ही यहाँ पर सहकारी आन्दोलन मुख्य रूप से साख आन्दोलन रहा है, परन्तु गत दस वर्षों में सहकारी साख समितियों के कार्यों की दिशा में कुछ परिवर्त्तन हुआ है। १६४७-४८ में सहकारी समितियों में से साख समितियाँ ७४ प्रतिशत थीं तथा उसके सदस्य ५० प्रतिशत थे। कार्यशील पूँजी की ५० प्रतिशत उधार ली हुई पूँजी है। इससे यह पता चलता है कि आन्दोलन में मितव्ययिता का बड़ा अभाव रहा है, लोग वाह्य सहायता पर अधिक निर्भर रहे हैं। वास्तव में देश में सहकारी साख समितियों के अर्थ वितरण सम्बन्धी प्रणाली एक प्रकार से नगरों में रहने वाले धनाढ्य लोगों, का केन्द्रीय तथा प्रान्तीय बैंकों द्वारा प्रारम्भिक समितियों का तथा इसके सदस्यों में एक शृंखला का कार्य करती है जिसके द्वारा क्रमानुसार एक के बाद दूसरे पर पूँजी का प्रवाह होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सहकारी समितियों ने सब स्थानों में अपना कार्य क्षेत्र साख तक ही नहीं सीमित रखा। केवल मद्रास में ६४० ग्राम समितियों ने १६४७-४८ में लगभग ६१ लाख का क्रय तथा १०३ लाख का विक्रय किया था।

कृषि गैर सरकारी साख समितियाँ—जिस प्रकार भारत में सहकारी साख समितियों की वृद्धि हुई है उस प्रकार गैर सहकारी साख समितियों की नहीं। १६४५-४६ में केवल वे ⅙ भाग ही थीं। इन समितियों की वृद्धि न होने के कई कारण रहे हैं:—

सबसे पहले तो १६०४ के कानून द्वारा इस प्रकार की समितियों के संगठन की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। जबसे १६१२ का कानून बना तब से इस प्रकार की समितियों का संगठन होना प्रारम्भ हो गया।

अन्य देशों जैसे यूरोप और अमरीका आदि में भी गैर साख सहकारी आन्दोलन का बाद में विकास हुआ। इस आन्दोलन का प्रारम्भ देर में होने का मुख्य कारण यह है कि इनके संचालन के लिये अधिक शिक्षा तथा अनुभव की आवश्यकता होती है।

भारत में इस प्रकार की समितियों का संगठन देर से होने का एक कारण यहाँ की अधिकांश जनता की निरक्षरता तथा औद्योगिक अवनति भी है।

इसके अतिरिक्त यहाँ की कृषि साख समितियों ने भी गैर साख समितियों के कार्य जैसे औजारों बीजों तथा खाद आदि का क्रय करना शुरू कर दिया, इससे भी इन समितियों के विकास में कुछ रुकावट हुई।

इन वर्षों में गैर साख सहकारी समितियों के विकास में आशातीत वृद्धि हुई है। इस वृद्धि के लिये मुख्य रूप से दो बातें उत्तरदायी हैं। सर्व प्रथम तो इन दिनों कृषि-उत्पादन की

वस्तुओं के मूल्य में भारी चढ़ाव हुआ, इससे कृषकों की आय में काफी वृद्धि हुई, किसानों ने अपने ऋण का भी काफी भुगतान कर दिया, समितियों के पास ऋण की रकम के आ जाने से, अब उन्हें अन्य कार्यों में धन खर्च करने का अवसर मिल गया।

दूसरे चोर बाजारी, काला बाजारी आदि के फैलने से शक्कर, कपड़ा, तेल, दियासलाई आदि के वितरण का कार्य इन सहकारी समितियों के हाथ में सौंपा गया।

इस प्रकार उपरोक्त दो कारणों से गैर साख सहकारी समितियों के विकास में अच्छी सहायता मिली।

गैर साख सहकारी आन्दोलन का क्षेत्र काफी विशाल है। ये समितियाँ मुख्य रूप से निम्न-लिखित कार्यों से सम्बन्धित हो सकती हैं :—

(१) क्रय तथा विक्रय से,
(२) उत्पत्ति तथा विक्रय से,
(३) उत्पादन से,
(४) समाज सेवा सम्बन्धी कार्यों से।
(५) गृह-निर्माण आदि तथा
(६) बीमा से।

मदरास, बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में सहकारी विक्रय समितियों ने खूब उन्नति की है। सहकारी क्रय-विक्रय समितियों के विकास का मुख्य कारण महाजनों, व्यापारियों, आढ़तियों तथा दलालों आदि की बेईमानी ही थी। इन लोगों की व्यापारिक नीति से इस आन्दोलन को खूब बल मिला। १९३८-३९ से १९४७-४८ में बम्बई में इन समितियों की संख्या ९४ से २२४, मदरास में १३८ से १९२, उत्तर प्रदेश में १,०९४ से २७०५ हो गई। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में गन्ना विकास तथा विक्रय समितियों ने अच्छी प्रगति की है। बम्बई की कपास विक्रय समितियाँ भी काफी सफल हुई हैं।

अभी हाल के 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन से, उत्पादन समितियों को काफी बल मिला। इन समितियों के कार्यों के अन्तर्गत, भूमि का उपादेयकरण, खेतों की चकबन्दी, सिंचाई की व्यवस्था, फसलों की रक्षा आदि बातें आती हैं। परन्तु इन समितियों ने सब प्रान्तों में समान गति से प्रगति नहीं की है। इन समितियों ने उत्तर प्रदेश, बंगाल, बम्बई तथा मदरास में फसलों की रक्षा आदि करने का अच्छा कार्य किया है।

सहकारी आन्दोलन ने ग्रामों के पुनर्निर्माण में भी अच्छा कार्य किया है। १९४५-४६ में उत्तर प्रदेश में लगभग ४००० ग्राम सुधार समितियाँ थीं। इन समितियों ने शादी बिवाह आदि में होने वाले अपव्यय को बन्द करने, कुएँ खोदने, कृषि की अच्छी पद्धति अपनाने आदि का खूब प्रचार किया है। इन समितियों ने दातव्य औषधालयों तथा प्रौढ़-शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की है, घरेलू उद्योग धन्धों के भी महत्व पर खूब जोर दिया है, गाँव वालों के आपसी झगड़ों को भी तय किया है।

बहु-उद्देश्य सहकारी समितियाँ—आजकल सहकारी क्षेत्रों में यह विवाद उठ खड़ा हुआ है कि क्या किसानों की प्रत्येक समस्या के हल के लिये अलग-अलग समितियाँ हों या केवल एक ही समिति हो जो किसानों की सभी समस्याओं—साख, क्रय-विक्रय, औजारों आदि—से सम्बन्ध रखे। अभी तक मुख्य रूप से एक ही उद्देश्यवाली समितियाँ रही हैं जो कि किसानों की केवल एक समस्या, चाहे वह साख हो या वस्तुओं की बिक्री, आदि का हल किया है, यद्यपि कुछ साख

समितियों ने बीज, औजारों आदि के सम्बन्ध में कार्य अवश्य किया है परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या बहु उद्देश्य समिति को ही आदर्श समिति बनाया जाय ?

अभी हाल में कुछ दिनों पूर्व तक डेनमार्क की भाँति प्रत्येक कार्य के लिये अलग-अलग समिति पर ही जोर दिया जाता रहा, परन्तु इन दिनों उसके विरोध में मुख्य रूप से दो बातें कही जाती रही हैं एक तो यह कि यहाँ पर गाँवों में प्रत्येक कार्य के लिये अलग-अलग समितियों के संचालन के लिये योग्य आदमियों का मिलना सम्भव नहीं होगा, दूसरे हमारा कृषक अलग-अलग स्थानों से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अभ्यस्त नहीं है, वह साहूकार के यहाँ जाता है, और वहीं पर उसे अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ जैसे साख या पूँजी, बीज आदि मिल जाती हैं, उसे क्रय-विक्रय की भी अच्छी सुविधा मिल जाती है, अतः विभिन्न वस्तुओं के लिये, किसान की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, अलग-अलग समितियों का खोलना उसके लिये सुविधाजनक नहीं होगा।

वर्तमान समय के कुछ विशेषज्ञों का कहना है कि भारत में बहु-उद्देश्यवाली समितियों की स्थापना ही हितकर होगी। यद्यपि भारत में सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश कई आवश्यक कारणों को लेकर हुआ था, पहले यहाँ छोटी-छोटी साधारण साख समितियों की स्थापना की गई थी, परन्तु लोगों का यह विचार है कि इन समितियों से जिन बातों की आशा की गई थी, वह पूरी न हुई। अतः अब वह समय आ गया है कि इन समितियों के कार्य-क्षेत्र को बढ़ाया जाय, दूसरे शब्दों में ग्राम समिति को ग्रामीणों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करना चाहिये। रिजर्व बैंक आफ इंडिया के कृषि साख विभाग ने भी इसी बात पर जोर दिया है। रिजर्व बैंक ने अपने एक बुलेटिन में यह लिखा था कि प्रारम्भिक साख समिति, जो कि समस्त सहकारिता आन्दोलन की धुरी है, उसका पुनर्निर्माण बहुत ही दृढ़ आधारों पर होना चाहिए, जिससे ग्रामीणों के सर्वांगीण जीवन की आवश्यकताएँ उसके द्वारा पूरी की जा सकें। बम्बई में इस प्रकार की समितियाँ संगठित की गई हैं, इनका दायित्व परिमित है। इन समितियों का कार्य-क्षेत्र अपने केन्द्र से पाँच मील चारों तरफ तक ही सीमित है। उत्तर प्रदेश ने भी परिमित दायित्व के आधार पर बहु उद्देश्यवाली सहकारी समितियों के निर्माण की ओर क्रियात्मक कदम उठाया है। ये समितियाँ यहाँ ग्राम-बैंकों के नाम से प्रचलित हैं। गत दस वर्षों में उत्तर प्रदेश, बंगाल, मध्य प्रदेश, तथा बरार आदि प्रान्तों ने इस प्रकार की समितियों में खूब वृद्धि की है। १६४७-४८ में उत्तर प्रदेश में ऐसी समितियाँ १८,००० बम्बई में ६६५, मध्यप्रदेश में १७२, बङ्गाल में १,१६२ तथा बिहार में ८५३ थीं।

बहु-उद्देश्य समितियों से कई लाभ हैं। सबसे पहले तो इससे साख पर और नियंत्रण हो सकेगा, इसके वैतनिक कर्मचारियों द्वारा इनका प्रबन्ध और भी अच्छा हो सकेगा, मनुष्य तथा साधन दोनों की बचत होगी, केवल बहु उद्देश्यवाली सहकारी समितियाँ ही गाँवों से महाजन का प्रभुत्व कमों करने में सफल हो सकेंगी। किसान-सदस्यों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए, उनकी पैदावार को बेचने के लिए, उनके लिए बढ़िया बीज की व्यवस्था करने के लिए तथा किसानों की आवश्यकता की अन्य वस्तुओं को उचित मूल्य पर देने के लिए, भूमि की चकबन्दी कर कृषि का विकास करने के लिए, बेकारी के समय में किसानों को कुछ सहायक धंधों के द्वारा उनकी आय बढ़ाने के लिए, तथा उनके अन्दर से सामाजिक बुराइयों को दूर कर गाँवों का पुनर्निर्माण करने में हमें इस प्रकार की समितियों से जो सहायता प्राप्त हो सकती है, वह अन्य किसी प्रकार से नहीं।

इन समितयों से उपरोक्त लाभों के साथ ही साथ कई हानियाँ भी हैं, जिनके कारण कुछ लोगों ने इनका विरोध किया है, परन्तु इन विरोधों के होते हुए भी, हमारी बहु उद्देश्य सहकारी समितियों ने काफी उन्नति की है।

गैर कृषि सहकारिता (Non-Agricultural Co-operation)—गैर कृषि सहकारिता के भी दो अंग हैं—एक साखवाली तथा एक बिना साखवाली।

साख समितियाँ—ये साख समितियाँ साधारणतया नगर क्षेत्रों में पाई जाती हैं, तथा ये शुल्जे-डेलित्श के सिद्धान्तों के आधार पर संगठित हैं।

ये समितियाँ विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार की हैं। बम्बई तथा मद्रास में 'पीपुल्स बैङ्क' के नाम से ये समितियाँ मध्यम वर्ग के लोगों को लाभ पहुँचा रही हैं। बम्बई, मद्रास तथा पंजाब में मितव्ययिता तथा जीवन-बीमा कम्पनियाँ हैं। बम्बई, बङ्गाल तथा मद्रास में बड़ी-बड़ी व्यावसायिक फर्मों तथा सरकारी कर्मचारियों की समितियाँ हैं। इन समितियों का मुख्य कार्य सदस्यों में मितव्ययिता का प्रसार करना है, कभी-कभी ये अपने सदस्यों को ऋण भी देती हैं। बम्बई में जूते बनाने वालों तथा बढ़ई आदि कारीगरों की भी समितियां हैं। कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों में मितव्ययिता का विकास करने के लिये, साख की सहायता देने के लिए तथा उनका सामाजिक तथा शैक्षणिक विकास करने के लिए भी कुछ समितियाँ हैं। १९४५-४६ में बम्बई में इस प्रकार की १५६ समितियाँ थीं। सहकारी प्लानिङ्ग कमेटी ने सभी औद्योगिक क्षेत्रों में इस प्रकार की समितियों के संगठन की सिफारिश की है। पददलित जातियों के सामाजिक स्तर तथा उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए भी कुछ समितियाँ बनीं किन्तु अर्थाभाव के कारण ये समितियाँ अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सकीं।

१९४५-४६ में गैर कृषि साख समितियों की संख्या ७,५५४ थी, जिनमें से नगर-बैङ्कों की संख्या काफी अधिक थी। ये साधारणतया व्यापारिक बैङ्कों के सभी कार्य करती हैं। बम्बई तथा मद्रास में जहाँ के प्रायः प्रत्येक नगर में इस प्रकार की समितियाँ हैं, इस दिशा में अच्छी उन्नति की है।

लोगों के अन्दर एक गलत धारणा फैली हुई है कि कृषि, सहकारी साख आन्दोलन अधिक महत्वपूर्ण है, परन्तु कार्यशील पूंजी तथा कुल बिक्री आदि की दृष्टि से गैर कृषि साख आन्दोलन ने काफी प्रगति की है। कृषि सहकारी समितियों के विपरीत इनकी आर्थिक स्थिति कहीं अच्छी है। इनके सदस्यों के शिक्षित होने तथा साधनों के सम्पन्न होने के कारण, इन समितियों का प्रबन्ध भी काफी अच्छा रहा है। प्रायः सभी बातों में गैर कृषि सहकारी समितियों ने आशातीत उन्नति की है।

गैर साख समितियां—(Non-Credit Societies)—इन समितियों के संगठन निम्न प्रकार के हैं :—

उपभोक्ता समितियाँ—गत द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक इस प्रकार की सहकारिता ने अधिक विकास नहीं किया। लाभांश में कमी होने, इनके प्रबन्धादि में अधिक व्यय के होने, पूँजी की कमी होने, अनुभवी कर्मचारियों के अभाव आदि के कारण इन समितियों को विशेष सफलता न मिली, परन्तु युद्ध के बाद की परिस्थितियों की अनुकूलता के कारण उपभोक्ता समितियों का खूब विकास हुआ। चोरबाजारी आदि के कारण अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये लोगों ने सहकारिता आन्दोलन का सहारा लिया। सरकार ने भी लाइसेन्स आदि देकर तथा कन्ट्रोल की वस्तुओं का कोटा देकर इन समितियों को अच्छा प्रोत्साहन दिया, क्योंकि सरकार इन्हें अधिक विश्वसनीय संस्थाएँ समझती थी। मद्रास में २६ प्रतिशत कार्ड होल्डरों को इसी से सहायता मिली।

उपभोक्ता समितियों के विकास का परिचय इस बात से मिलता है कि १९३८-३९ से १९४७-४८ तक उपभोक्ता समितियों की संख्या में आसाम में १३ से लेकर १०१३, बम्बई में २५ से ६१२, मद्रास में ८५ से १७४० तथा उड़ीसा में ६ के स्थान पर ३७१ समितियाँ हो गईं। यद्यपि उपभोक्ता समितियों ने काफी प्रगति कर ली है, किन्तु इस प्रगति को हम सन्तोषजनक नहीं कह सकते। यह प्रगति देश भर में समान रूप से नहीं हुई है।

मदरास में सहकारिता का अच्छा विकास हुआ है, वहाँ की ट्रिपलीकेन नगर सहकारी समिति (The Triplicane Urban Co-operative Society) ने तो अद्भुत सफलता प्राप्त की है। युद्ध के समय में उसके सदस्यों की संख्या ६००० से १२००० हो गई। १६४५-४६ में औद्योगिक स्थानों में ६६ से भी अधिक उपभोक्ता भंडार थे, जिनमें लगभग ५६,००० सदस्य थे। इन समितियों में कई दोष हैं—इनका सबसे पहला दोष तो यह है कि ये मुख्य रूप से कन्ट्रोल की वस्तुएँ ही बेचते हैं, दूसरे इनकी ६५ प्रतिशत बिक्री गैर सदस्य लोगों द्वारा ही होती है, कुल क्रय का केवल २४ प्रतिशत ही सहकारी थोक भण्डारों से खरीदा जाता है।

इस दिशा में आसाम, बम्बई, मैसूर, त्रावनकोर ने भी अच्छी प्रगति की है, अतएव इस प्रगति को एकरूपता देने के लिये यह आवश्यक है कि इन संस्थाओं की दुर्बलताओं को दूर कर, उन्हें शक्तिशाली बनाया जाय। इन उपभोक्ता समितियों को शक्तिशाली बनाने के लिये निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं—(१) हिस्सा पूँजी में वृद्धि, (२) पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित कोष का निर्माण, (३) सदस्यों की संख्या को बढ़ाना, (४) प्रारम्भिक तथा थोक भण्डारों के सम्बन्ध को अधिक घनिष्ट करना, (५) व्यापार की गति में परिवर्त्तन करना।

भारत में जहाँ की अधिकांश जनता निर्धन है, उसे उचित मूल्य पर उत्तम वस्तुएँ प्राप्त होनी चाहिये, इसके लिये हमें सहकारिता से ही अच्छी सहायता मिल सकती है।

औद्योगिक समितियाँ (Industrial Co-operation)—कुटीर उद्योगों तथा घरेलू उद्योग धन्धों के विकास के लिये यह आवश्यक है कि उनको सहकारिता के आधार पर संगठित किया जाय। १६३५ में जब से भारत सरकार ने गृह-उद्योग-धन्धों को वार्षिक सहायता देना प्रारम्भ किया तब से औद्योगिक सहकारी समितियों के संगठन को काफी प्रोत्साहन मिला, इस प्रकार के संगठनों में से बुनकर समितियाँ मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त लोहारों, कुम्हारों तथा तेलियों आदि ने भी अपनी-अपनी समितियाँ बना ली हैं। ३१ मार्च १६४८ को केवल बम्बई में औद्योगिक सहकारी समितियाँ थीं। १६४६ में मदरास में ६४१ बुनकर समितियाँ थीं। इसके अतिरिक्त कई प्रान्तों में दुग्ध वितरण समितियाँ तथा संघ भी अच्छा कार्य कर रहे हैं। बंगाल, मदरास तथा उत्तर प्रदेश में इस प्रकार की समितियों ने खूब उन्नति की है।

सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ (Co-operative Housing Societies)—मैसूर, मदरास तथा बम्बई जैसे नगरों में सहकारी गृह-निर्माण समितियों के संगठन की ओर ध्यान दिया गया है। ये समितियाँ मुख्य रूप से मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के लाभ के लिये बनायी जाती हैं। इस प्रकार की समितियाँ मुख्य रूप से दो प्रकार की होती हैं—(१) वे जो मिलकर भूमि खरीदतीं तथा सदस्यों को अपने घरों के निर्माण के लिये आवश्यक उपकरणों के क्रय आदि में सहायता प्रदान करतीं, (२) वे जो घरों का निर्माण स्वयं अपनी ओर से करके धीरे-धीरे मकान किराये द्वारा लागत वसूल कर लेती हैं। भारत सरकार हाउसिंग समितियों को ऋण आदि देकर सहायता प्रदान कर रही है। बम्बई में १६४५-४६ में इस प्रकार की १२६ तथा मदरास में ११३ समितियाँ थीं। शरणार्थियों की समस्या से इस प्रकार की समितियों को अच्छा प्रोत्साहन मिला है।

कुछ गैर साख समितियां—भारत की कुछ मुख्य साख समितियों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है। सूरत की फार्मर्स कोआपरेटिव काटन जिनिंग तथा प्रेसिंग सोसायटी, पूर्वीय खानदेश मराठा विद्या प्रसारक सहकारी समाज जलगाँव (बम्बई); जलगाँव तालुका कृषि विकास सहकारी संघ, तथा अलाभुरू सहकारी ग्रामीण बैङ्क (मदरास)।

फार्मर्स कोआपरेटिव काटन जिनिंग तथा प्रेसिंग समिति १६३३ में प्रारम्भ की गई थी। ३१ अक्तूबर १६४८ में इसके ६३४ सदस्य व्यक्ति तथा १२ सदस्य-समितियाँ थीं, उसकी सुरक्षित

पूँजी २६,६२० रु० तथा डिपोजिट ६७,००० रु० थी। १६४७-४८ में इसने १०,००० का वास्तविक लाभ कमाया था। सूरत का ५० प्रतिशत प्रेसिंग कारबार इसी समिति द्वारा होता है। समाज सेवा कार्य करनेवाली समितियों में पूर्वीय खानदेश मराठा विद्याप्रसारक सहकारी समाज मुख्य है। इसका वार्षिक व्यय लगभग ३.२५ लाख है। १६४७-४८ के अन्त में इसके ५१० सदस्य थे। जलगाँव का कृषि विकास सहकारी संघ हर प्रकार से कृषि के विकास का प्रयत्न करता है। बहु-उद्देश्य सहकारी समितियों में से अलाभुरू की सहकारी ग्रामीण बैंक मुख्य है। ३१ दिसम्बर १६४८ को इसके ३,७४६ सदस्य थे जिसमें से अधिकांश हरिजन थे। इसकी हिस्सा पूँजी या शेयर कैपिटल लगभग ५६,७७१ रु० थी।

केन्द्रीय समितियां (Central Societies)—अभी तक हमने प्रारम्भिक अथवा प्राइमरी समितियों पर ही विचार किया। अब हम दूसरी प्रकार की, सेकन्डरी समितियों के विषय में प्रकाश डालेंगे। ये समितियाँ प्रारम्भिक समितियों का संगठन तथा निरीक्षण आदि करती हैं। इस प्रकार की समितियों में संघ, सेन्ट्रल बैङ्क तथा प्रान्तीय बैङ्क हैं। बैंकिंग संघों या यूनियनों की सदस्यता केवल समितियों के लिए ही खुली होती है किन्तु प्रान्तीय तथा केन्द्रीय (सेन्ट्रल) बैंकों का सदस्य कोई भी व्यक्ति या समितियाँ दोनों ही हो सकते हैं।

यूनियन तीन प्रकार के हो सकते है :—

(अ) गारन्टिंग यूनियन (जैसे बम्बई में है)

(ब) सुपरवाइजिंग यूनियन (जैसे मदरास तथा बम्बई में हैं)

(स) बैंकिंग यूनियन

यूनियन एक प्रकार से समितियों के संघ या फेडरेशन होते हैं जो एक निश्चित सीमा के अन्दर ही कार्य करते हैं। इनका प्रबन्ध सदस्य समितियों के प्रतिनिधियों की एक कमेटी द्वारा होता है। ये यूनियन केन्द्रीय वित्तीय (फाइनेन्शल) संस्थाओं तथा प्रारम्भिक संस्थाओं बीच में एक शृंखला का कार्य करते हैं। इनका मुख्य कार्य प्रारम्भिक संस्थाओं (प्राइमरीज) की देखभाल करना रहता है।

सेन्ट्रल सहकारी बैंक—पहले यह आशा की जाती थी कि साख समितियाँ अच्छा डिपाजिट आकर्षित कर सकेंगी और इस प्रकार हमारी पूँजी की समस्या हल हो जायगी, परन्तु यह आशा पूरी न हुई। अतः नगरों में प्रारम्भिक सहकारी समितियों के लिए धन एकत्रित करने के लिए कुछ सहकारी बैंक खोलने की आवश्यकता प्रतीत हुई। १६१२ के सहकारिता कानून से इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मार्ग खुल गया। इस प्रकार भारत में सेन्ट्रल बैंकों की स्थापना हुई।

सेन्ट्रल बैंक दो प्रकार के होते हैं—(१) ऐसे सेन्ट्रल बैंक जिनके सदस्य केवल समितियाँ ही हो सकती हैं, जिन्हें बैंकिंग यूनियन भी कहा जा सकता है तथा (२) ऐसे सेन्ट्रल बैंक जिनके सदस्य व्यक्ति तथा समितियाँ दोनों ही हो सकते हैं।

बैंकिंग यूनियन वास्तव में आदर्श सहकारी सेंट्रल बैंक है। इन बैंकों की नीति निर्धारण तथा प्रबन्ध समितियों के द्वारा ही होता है।

गत दस वर्षों में युद्ध-जन्य परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप, सेन्ट्रल बैंकों की आर्थिक स्थिति में काफी उन्नति हुई। इन बैङ्कों की डिपोजिट तथा कार्यशील पूँजी में काफी वृद्धि हुई है। इन वर्षों में वैयक्तिक सदस्यता का अन्त कर समिति की सदस्यता को बढ़ाने की प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहन मिला है। सेन्ट्रल बैङ्कों ने कुछ गैर साख सम्बन्धी कार्य जैसे अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन को सहायता, उपभोक्ताओं के लिये उचित मूल्य पर आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध आदि किया है। परन्तु इस दिशा में सभी प्रान्तों में एक सी प्रगति नहीं हुई है। दरास, बम्बई, तथा पञ्जाब में इन बैङ्कों ने अच्छी

फलता प्राप्त की है, बङ्गाल में, इस क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई, बिहार में तो इस क्षेत्र में अत्यन्त ही असन्तोषजनक कार्य हुआ है।

प्रान्तीय सहकारी बैंक—ज्यों-ज्यों देश में सहकारिता आन्दोलन जोर पकड़ता गया, त्यों-त्यों पूँजी की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। लोगों को यह ज्ञात हो गया कि आन्दोलन के सम्यक विकास के लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता है, उसका उचित प्रबन्ध केवल सेन्ट्रल बैङ्कों द्वारा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सेन्ट्रल बैङ्कों का नियंत्रण तथा उनके द्वारा साख समितियों के लिए पूँजी की व्यवस्था करने के लिए भी कुछ अन्य बैङ्कों की आवश्यकता हुई। १९१५ में सहकारिता आन्दोलन की जाँच के लिए नियुक्ति मैक्लेगन कमेटी ने प्रान्तीय बैङ्कों की स्थापना का अनुरोध किया था। अतएव इस प्रकार की बैंकें स्थापित होने लगीं। प्रान्तीय सहकारी बैङ्कों का संगठन विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग है। बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश व बरार, बिहार तथा आसाम में इन बैङ्कों के सदस्य व्यक्ति तथा समिति दोनों ही हो सकते हैं। बङ्गाल और पंजाब में केवल समितियाँ ही सदस्य होती हैं। इन बैंकों की आर्थिक स्थिति प्रायः केन्द्रीय बैङ्कों से अधिक दृढ़ है।

इन बैंकों ने गत दस वर्षों में अच्छी सफलता प्राप्त की है, इनकी कार्यशील पूँजी में काफी वृद्धि हुई, इस वृद्धि के होने का मुख्य कारण डिपोजिट्स की अधिकता है। बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त उन्होंने सहकारिता के अन्य कार्यों में भी काफी सहयोग प्रदान किया है, जैसे उन्होंने कतिपय सहकारी संघों को मिलाकर उन्हें पूँजी की सहायता देकर, कन्ट्रोल की वस्तुएँ बेचने में, जिससे चोर बाजारी न हो मदद दी है। कुछ लोगों का यह सुझाव है कि प्रान्तीय बैंकों को महाजनी बैंकिंग में अपनी अधिक शक्ति लगाने की अपेक्षा, उन्हें सहकारिता की दिशा में ही अधिक कार्य करना चाहिए। इस समय १९४७-४८ में भारत में १४ प्रान्तीय सहकारी बैंकें थीं जिनकी कार्यशील पूँजी कुल २५ करोड़ रु० थी।

अधिक समय की साख तथा भूमिबन्धक बैंक—हम ऊपर कह चुके हैं कि किसान को अपने पैतृक ऋण से छुटकारा पाने के लिए तथा भूमि के विकास के लिए अधिक समय की साख की आवश्यकता होती है। १८८३ के भूमि-विकास के ऋण वाले कानून के अनुसार सरकार किसानों को भूमि के विकास के लिए ऋण देती है, परन्तु यह ऋण पर्याप्त नहीं होता। दूसरे सरकार पैतृक ऋण के चुकाने के लिए किसानों को कुछ भी रुपया नहीं देती। सहकारी समिति अधिक समय के लिए रुपया नहीं दे सकती, क्योंकि उसके साधन सीमित हैं। अतः वह बहुत दिनों तक के लिए ऋण देने में असमर्थ है। अतएव किसानों को अधिक समय के लिए साख की सहायता मिलने के लिए भूमि-बन्धक बैंकों (Land Mortgage Banks) की स्थापना से ही सहायता दी जा सकती है।

भूमि-बन्धक-बैंक वह संस्था होती है जिसके द्वारा किसान को भूमि की जमानत पर अधिक समय के लिए साख प्राप्त होती है। इस प्रकार की बैंकों का संगठन सहकारिता के आधार पर, गैर सहकारिता के आधार पर अथवा आंशिक सहकारिता के आधार पर किया जा सकता है। भारत के अधिकांश बैंक आंशिक सहकारी या काज़ी कोआपरेटिव (Quasi Co-operative Bank) है। इस प्रकार की बैंकों में सहकारी तथा व्यापारिक दोनों प्रकार के बैंकों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। सहकारी संगठन वाले बैंकों को आदर्श माना जा सकता है किन्तु बड़े-बड़े पूँजीपतियों से अधिकतम मात्रा में पूँजी प्राप्त करने के लिए, इसमें गैर ऋण लेने वाले व्यक्तियों को भी हिस्सा लेने की अनुमति दे दी जाती है तथा परिमित उत्तरदायित्व की व्यवस्था दे दी जाती है। सरकार के शिक्षित अधिकारियों द्वारा भूमि का मूल्य आंका जाता है। ऋण देने के पूर्व रजिस्ट्रार की अनुमति लेना आवश्यक होता है।

भूमि-बन्धक-बैंकों का संगठन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि इन बैंकों की कार्य-पद्धति तथा संगठन सीधा, तथा इनका प्रबन्ध उत्तम होना चाहिए। सरकार भी इन बैंकों को कुछ सुविधाएँ जैसे कि सहकारी समितियों को दी गई हैं, देकर इनकी सफलता में सहारा दे सकती है।

भूमि-बन्धक बैंकों की सबसे पहले (१९२० में) पंजाब में स्थापना हुई, परन्तु पंजाब में इन बैंकों को कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त हुई। भूमि बंधक बैंक की सफलता मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर रहती है कि भूमि का मूल्य उचित रूप से आंका गया है या नहीं, दूसरे कर्जदार की वर्ष में कर्ज भुगतान करने की कितनी सामर्थ्य है, ऋण की शर्तें क्या हैं तथा नियमित रूप से किश्तें वसूल की जा रही हैं अथवा नहीं।

कुछ आलोचकों का ऐसा विचार है कि भूमि हस्तान्तरकरण कानून ने भी इन बैंकों की असफलता में हाथ बटाया है। इन बैंकों के सफल न होने का एक कारण इनके डाइरेक्टरों तथा अवैतनिक कर्मचारियों की अकुशलता तथा स्वार्थपूर्ण नीति भी है।

वास्तव में भारत में भूमि बन्धक बैंकों का श्रीगणेश १९२९ से हुआ जब कि मदरास में इस प्रकार के बैंक की स्थापना हुई। १९३५ में बम्बई में भी इस प्रकार की एक केन्द्रीय संस्था स्थापित की गई। मदरास में इस प्रकार के इस समय ११९ बैंक हैं। १९३९-४६ के रिज़र्व बैंक के रिव्यु में भूमि-बन्धक बैंकों की भारतीय स्थिति का इस प्रकार विवरण है, 'भारत में कृषि के योग्य विशाल भूमि भाग होने के बावजूद भी, भारत में भूमि बन्धक बैंकों का सफल संगठन नहीं है। भूमि बन्धक बैंक अपने जन्म स्थान पंजाब में ही असफल हो गई, अन्य प्रान्तों जैसे उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश व बरार, अजमेर, उड़ीसा व बंगाल में भी वह सफल नहीं हुई है। भारत में केवल एक ही ऐसा प्रदेश या प्रान्त--मदरास—है जिसने इस दिशा में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

इस बड़ी मन्दी के समय में जब कि कृषि उत्पादन की वस्तुएँ तथा भूमि के मूल्य में काफी गिराव हो गया था, और किसान को धन की सहायता की अतीव आवश्यकता हुई थी, उस समय, भूमि बन्धक बैंकों की प्रगति में कुछ सहारा मिल गया था, परन्तु गत दस वर्षों में ये परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गईं। अब कृषक की स्थिति काफी अच्छी हो गई है, इसके अतिरिक्त ऋण समझौता बोर्डों ने भी किसानों की ऋण की आवश्यकता की पूर्ति करने में सहायता पहुँचाई है, इससे किसान को अब अधिक ऋण की आवश्यकता नहीं रह गई है। अतएव भूमि बन्धक बैंकों का भविष्य भी अब कोई उज्वल नहीं दिखाई पड़ता, अंतः अब यह आवश्यक है कि बैंक अपने कार्यक्षेत्र में कुछ विस्तार करें तथा भूमि के विकास आदि की योजनाओं के सफल होने के लिए किसानों को पूँजी की सहायता दें।

इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भूमि-बन्धक बैंकों के कार्य तथा अधिकार बहुत सीमित हैं, इसलिए हमें उनसे बहुत कुछ आशा नहीं करनी चाहिए। किसानों को ऋण से मुक्त करने के लिए कृषि का सारा ऋण हम इन्हीं के मत्थे नहीं मढ़ सकते। दूसरे इस प्रकार के बैंक केवल ऋण का भार ही हलका कर सकते हैं, वे किसानों को सारे ऋण से मुक्त करने में सफल नहीं हो सकते। अतः जब तक कि कृषक स्वयं बुद्धिमत्ता से काम नहीं करते, अपने अनुत्पादक खर्चे को नहीं रोकते, तो वे उससे पूर्णतया छुटकारा नहीं पा सकते।

१९४७-४८ में भारत में केवल ५ सेन्ट्रल लैण्ड मार्टगेज बैंक, तथा २७१ प्राइमरी मार्टगेज या भूमि बन्धक बैंक तथा समितियाँ थीं जिनकी कार्यशील पूँजी ४६१.८४ लाख रुपया थी। अभी हाल में मैसूर सेन्ट्रल सहकारी भूमि बन्धक बैंक की स्थापना की गई है, इसमें ८५ प्राइमरी भूमि बन्धक बैंक सम्मिलित हैं।

रिज़र्व बैंक—रिजव बैंक एक केन्द्रीय संस्था है, अतः उसका कार्यभार तथा कार्यक्षेत्र भी अधिक है, उस पर अन्य बैंकों की अपेक्षा आर्थिक उत्तरदायित्व काफी है इसलिए वह प्रत्यक्ष रूप से कृषि या कृषक को साख सम्बन्धी सहायता नहीं दे पाता। परन्तु वह कृषि सहकारी समस्या को उचित रूप से हल करने के लिए, समय समय पर आवश्यक सुझाव प्रकाशित किया करती है।

इस प्रकार भारत का रिजर्व बैंक कानून (१९३४) बैंकों को कृषि सम्बन्धी बिलों तथा प्रामिसरी नोट की बिक्री तथा उन पर पुनः कमीशन आदि देने की आज्ञा देता है। इस कानून द्वारा इस बैंक को ९० दिन के लिए प्रान्तीय सहकारी बैंकों, केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों तथा उनके द्वारा सहकारी केन्द्रीय बैंकों तथा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों को, सरकारी सिक्यूरिटी की जमानत पर नकद साख देता है।

इस बैंक ने एक कृषि-साख-विभाग खोला है जिसका कार्य ग्रामीण साख सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कर, सहकारी तथा सरकारी बैंकों को इस विषय में अच्छी सलाह देना है। इस विभाग ने कुछ प्रदेशों के सहकारिता आन्दोलन की प्रगति पर कई बुलेटिन प्रकाशित किए हैं तथा सहकारिता आन्दोलन की एक अखिल भारतीय रिव्यु प्रकाशित की है।

रिजर्व बैंक ने भारत में सहकारिता को साख सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने के लिए कुछ योजनाएँ भी हमारे सन्मुख उपस्थित कीं। सन् १९३८ में कृषि उत्पादन की महाजन द्वारा बिक्री के लिए एक योजना निर्मित की थी। इस बैंक से साख सम्बन्धी सहायता किस प्रकार प्राप्त की जाय, इस सम्बन्ध में प्रान्तीय बैंकों को एक सर्कुलर भेजा गया था, परन्तु इसका कोई विशेष फल नहीं निकला। सन् १९४२ में एक और योजना बनाई गई उसका भी वही फल निकला। १९४४ में बिलों तथा प्रामिसरी नोटों के लिए बट्टे (रिबेट) की योजना बनाई गई, तथा १९४६ में बट्टे (रिबेट) में वृद्धि कर दी गई। परन्तु ऐसी योजनाओं का कोई विशेष फल नहीं निकला। कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि जिन शर्तों पर रिजर्व बैंक ये सुविधाएँ देती हैं, वे सन्तोषजनक नहीं हैं।

अतः रिजर्व बैंक को अपनी नीति में कुछ और ढिलाई करनी होगी, और ग्रामीण राजस्व व्यवस्था की ओर कुछ और उदार होना पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बैंक किसी भी साख संस्था को साधारणतया पूँजी नहीं दे सकती।

उससे उसी स्थिति में सहायता लेने की व्यवस्था होनी चाहिये, जबकि अन्य स्रोतों से साख का प्रबन्ध न हो सके। अभी रिजर्व बैंक बुलेटिन इत्यादि के द्वारा सहकारी बैंकों को सलाह इत्यादि दिया करती है, किन्तु उसे सहकारी संस्थाओं द्वारा कृषि के विकास के लिए और भी सहायता देनी चाहिये। उदाहरण के लिए अभी यह बैंक सहकारी बैंकों को कोई भी नकद साख नहीं देती, कुछ लोग इस नीति को अत्यन्त ही अनुदार मानते हैं। अतः इन सब बातों में सुधार होने की आवश्यकता है।

सहकारिता की प्रगति—भारत में सहकारिता आन्दोलन के सम्बन्ध में कितने ही विद्वानों कितनी ही समितियों तथा कितने ही कमीशनों ने अपने अपने अलग अलग विचार प्रगट किये हैं। कुछ लोगों ने यदि एक ओर भारत में सहकारिता की सफलता पर प्रकाश डाला है, तो दूसरी ओर कितने ही सज्जनों की ऐसी धारणा है कि भारत में सहकारी आन्दोलन बिल्कुल ही असफल रहा है, और इसकी शीघ्रातिशीघ्र इतिक्रिया कर देनी चाहये।

आन्दोलन की सफलता के समर्थकों का कथन है कि इससे निम्नलिखित लाभ हुए हैं:—

(१) इसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों के ऋण की दरों में भारी कमी हुई है।

(२) इससे लोगों में बचत तथा पूँजी विनियोग की भावना का उदय हुआ है।

फा० २४

(३) इससे उपभोग के लिए ऋण लेने की भावना में भी कमी हुई है।

(४) इससे कृषकों के नैतिक दृष्टिकोण में तथा स्वतन्त्रता की भावना में अच्छा परिवर्तन हुआ है।

(५) इससे नगर के पूँजीपतियों तथा कार्यकर्ताओं का ध्यान ग्रामीण समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ है।

भारत में सहकारिता के सम्बन्ध में जो बातें ऊपर कही गई हैं, उसके विषय में आलोचकों का कहना है कि ये जो परिणाम हैं इनका ठीक-ठीक पता लगाना सम्भव नहीं, वास्तव में तो ये परिणाम सब जगह एक से नहीं रहे हैं, ये परिणाम केवल उन्हीं कुछ थोड़े से स्थानों में मिलते हैं, जहाँ की समितियाँ सर्वोत्तम रही हैं, ऐसी अच्छी समितियों की संख्या कोई अधिक नहीं रही है।

इसके विपरीत आलोचकों का यह भी कहना है कि भारत में सहकारिता आन्दोलन का सम्बन्ध केवल ग्रामीण-साख सम्बन्धी समस्या को सुलझाने से ही रहा है, और इस क्षेत्र में भी इसने कोई अच्छा कार्य नहीं किया है। सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी के शब्दों में कि सहकारी साख समितियों के द्वारा कुल ग्रामीण ऋण के हल करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिली है, उसका मुख्य कारण यह है कि इन समितियों की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं रही जिससे वे किसानों को पैतृक ऋण से मुक्त करने में अच्छी सहायता दे सकतीं। विभिन्न प्रान्तीय बैंकिङ्ग इन्क्वायरी कमेटियों ने भी कहा है किसानों की आवश्कताओं का बहुत थोड़ा अंश ही इन समितियों द्वारा सहायता प्राप्त कर सका है। भारतीय जनसंख्या के केवल एक छोटे अंग को ही भारतीय सहकारिता आन्दोलन से लाभ हुआ है।

वैसे तो जो कुछ आलोचकों ने कहा है वह किसी सीमा तक सत्य ही है। परन्तु यदि हम उन परिस्थितियों की ओर एक दृष्टि डालें जिनमें इस आन्दोलन का विकास हुआ है तो हमें यह पता चल जायगा कि हमारे सहकारिता आन्दोलन ने अच्छी प्रगति की है। सस्ती साख की व्यवस्था कर उसने किसानों की बहुत कुछ पूँजी बचाने में सहायता प्रदान किया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनसे लगभग एक करोड़ रुपये की बचत हुई है। इसने एक नियंत्रित साख की व्यवस्था कर ऋण पर कुछ नियंत्रण भी लगा दिया है। इसके द्वारा उस कुचक्र की गति में कमी होने में भी काफी अच्छी सहायता मिली है, जिसके द्वारा महाजन किसानों का खूब शोषण करता था। सहकारिता के गैर साख सम्बन्धी कार्यों से ग्राम तथा नगर दोनों स्थानों के निवासियों को जो सहायता मिली है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस आन्दोलन की कमियाँ—हमने देखा कि भारत में सहकारिता आन्दोलन ने काफी सफलतापूर्वक कार्य किया है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस आन्दोलन में सब गुण ही गुण हैं, उसकी कार्यपद्धति पूर्णरूपेण उत्तम रही है किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता। हमारा सहकारिता आन्दोलन सर्वथा दोषरहित नहीं रहा है, वह अभाव हीन नहीं रहा है। इस आन्दोलन में मुख्य रूप से निम्नलिखित दोष रहे हैं :—

(१) निरीक्षण का अभाव।

(२) पूँजी की व्यवस्था में व्यर्थ की देरदार।

(३) अप्रत्यक्ष ऋण।

(४) समयानुकूल ऋण का न चुकाया जाना।

(५) ऋण देने में पक्षपात तथा कुछ थोड़े से ही आदमियों को ऋण देना।

(६) सरकारी, बैङ्कों के तथा सहकारी अधिकारियों की बेईमानी तथा अकुशलता।

(७) समितियों के लिये अच्छे सदस्यों का न निर्वाचित किया जाना।

(८) बहुत बड़े क्षेत्र में सदस्यों का फैला होना।

(९) पैतृक ऋण की व्यवस्था न करना।

(१०) सहकारी समितियाँ का दोषपूर्ण संविधान।

(११) आन्तरिक बुराइयाँ।

(१२) एक या एक से अधिक प्रभावशाली सदस्यों का अनुचित हस्तक्षेप।

(१३) सदस्यों में समिति की उन्नति का ध्यान न देना।

आन्दोलन की प्रगति में इनके अतिरिक्त कुछ और भी बाधाएँ थीं जैसे—

(१) आन्दोलन को सरकार के ही हाथों में अधिक रहना, जनता के अन्य आदमियों को इसके लिये विशेष प्रोत्साहन का न मिलना।

(२) संगठन कर्त्ताओं में अत्यधिक जोश का होना।

(३) महाजनों का प्रतिरोध।

(४) कुछ सदस्यों का कार्य में विशेष हाथ होना तथा अन्य लोगों के लिये अधिक स्थान न छोड़ना।

(५) चन्दों के एकत्रित तथा उनके वितरण की अव्यवस्था।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त हमारे आन्दोलनों का सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि लोगों में मितव्ययिता का अभाव रहा है, साथ ही साथ ऐसे अनुभवी तथा कुशल लोगों का भी अभाव रहा है जो सहकारिता का अच्छा संगठन कर सकते।

उपरोक्त जो दोष हमने ऊपर देखे उनका मूल आधार मुख्य यह रहा है कि लोगों में सहकारिता की भावना नहीं थी। पाश्चात्य देशों में सहकारिता से कार्य करने की ओर जितना अधिक ध्यान दिया जाता है, उतना उससे होने वाले लाभ की ओर नहीं। 'अपने समाज के लिये अपना सब स्वार्थ बलिदान कर दो, यह भावना वहाँ के लोगों में बहुत प्रबल रहती है। भारत में सहकारिता ने इस प्रकार की कोई सफलता नहीं प्राप्त की। भारत में इसके असफल होने का मुख्य कारण यह है कि यहाँ पर कुछ उन परिस्थितियों या दशाओं का अभाव है जिनके कारण सहकारी आन्दोलन सफल होता है। जिन देशों में ये परिस्थितियाँ उपस्थित हैं, वहाँ सहकारिता सफल हुआ है, किन्तु जहाँ पर ये परिस्थितियाँ नहीं रही हैं वहाँ सहकारिता का वृक्ष नहीं पनप सका। भारत में सहकारिता की असफलता का एक कारण यह भी है कि यहाँ परिमित दायित्व का अर्थ लोगों ने भली-भाँति नहीं समझा।

सुधार के उपाय— ऊपर हमने देखा कि भारत में सहकारिता आन्दोलन को वह सफलता नहीं प्राप्त हुई जो उसे अन्य देशों में मिली है, वह यहाँ पर एक प्रकार से असफल ही हुआ है, उसकी असफलता के कारणों का उल्लेख भी हम ऊपर कर चुके हैं। अब हमें यह देखना है कि भारत में इस आन्दोलन को किस प्रकार सफल बनाया जा सकता है। प्रत्येक आंदोलन की सफलता के लिये कुछ विशेष परिस्थितियों का होना अनिवार्य रहता है, बिना इन परिस्थितियों के उसकी सफलता की आशा नहीं की जा सकती।

जहाँ तक सहकारिता आन्दोलन का प्रश्न है, उसे डेनमार्क में खासी अच्छी सफलता प्राप्त हुई है, इस देश में इस आन्दोलन की सफलता का मुख्य कारण वहाँ का अनुकूल वातावरण तथा परिस्थितियाँ ही हैं। सर जान रसेल ने यहाँ पर चार ऐसी परिस्थितियों का होना बतलाया है जिसके कारण आन्दोलन को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। वे परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) वहाँ की ग्रामीण जनता में एकता है, जाति-पाँति को संकुचित भेदभाव नहीं है।

(२) सारा कृषक वर्ग शिक्षित है।

(३) वहाँ की जन-शिक्षण संस्थायें कृषकों को यह बतलाती हैं कि वे किस प्रकार अपने जीवन को अधिक सुखमय बनायें, रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करें। ये संस्थाएँ इन कृषकों के अन्दर सामूहिक उत्तरदायित्व की भावनाएँ भरती हैं।

(४) वहाँ की सहकारी समितियाँ अधिकतया व्यापारिक समितियाँ हैं। वे किसानों से उसकी उपज खरीद कर उनके लिये उसका बिक्रय करती हैं। डिपाजिटरों के रूप में वे समितियों के कोष में अच्छी रकम जमा करते हैं, सदस्यों को उधार दिया जाने वाला रुपया उन्हीं का रुपया होता है, इस लिये प्रत्येक ऋणकर्त्ता अपना यह आवश्यक कर्त्तव्य समझता है कि वह यह रुपया समय पर चुका दे।

यदि हम भारत में इन चारों परिस्थितियों की ओर देखें तो हमें पता चल जायगा कि यहाँ ये चारों परिस्थितियाँ नहीं हैं। हमें भारत में इन परिस्थितियों को उत्पन्न करना है। भारत में सहकारिता अच्छी प्रकार से सफल हो सकती है, इस बात का परिचय हमें उसके कुछ राज्यों में होने वाले विकास से लग जाता है। बम्बई की कपास तथा गुड़ विक्रय समितियाँ, पंजाब की चकबन्दी समितियाँ, उत्तर प्रदेश व बिहार की गन्ना वितरण समितियाँ, बंगाल की सिंचाई समितियाँ, संसार की सर्वश्रेष्ठ समितियों की कोटि में आती हैं।

भारत के रिजर्व बैङ्क के कृषि सहकारी विभाग ने इन समितियों की दशा को सुधारने के लिए कुछ उपाय प्रस्तुत किए हैं। ये सुझाव निम्नलिखित है :—

(१) पुरानी बकाया रकम को किश्तों द्वारा चुकाने की व्यवस्था की जाय तथा इसी बीच कृषि के लिये किसानों को नई साख दी जाय।

(२) जहाँ तक सम्भव हो सके केवल उत्पादक कार्यों के लिये ही ऋण दिया जाय।

(३) प्रारम्भिक साख समिति को बहु-उद्देश्य वाली समिति में परिवर्त्तित करने का प्रबन्ध किया जाय।

(४) समितियों के पास सुरक्षित कोष की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये।

(५) प्रारम्भिक समितियों को बैङ्किंग संघों में संगठित कर दिया जाय जिससे पूँजी, निरीक्षण; शिक्षण आदि कार्य जो आज कल बहुत सी संस्थाओं के हाथ में हैं, एक ही संस्था के हाथ में रहें।

(६) कृषि की उपज की बिक्री के लिये विशेष ध्यान दिया जाय।

(७) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सहकारी बैङ्कों का पुनर्संगठन किया जाय।

(८) ग्राम्य अर्थशास्त्र, बैङ्किंग तथा सहकारिता के सिद्धांतों के आधार पर सहकारी विभागों के कर्मचारियों के अच्छे शिक्षण की व्यवस्था की जाय।

(९) केन्द्रीय संस्थाओं को धीरे-धीरे व्यक्तिगत सदस्यों को अपने से अलग करना चाहिये तथा इनको मुख्य रूप से सहकारी बनाना चाहिये।

(१०) भूमि सुधार सम्बन्धी समस्याओं की पूर्ति के लिए अधिक समय तक की साख देने वाली एक केन्द्रीय संस्था की व्यवस्था की जाय।

सहकारी प्लानिङ्ग समिति का कथन है कि सहकारिता के विकास के लिए सरकार को चाहिये कि वह कुछ कड़ाई से कार्य करे, आन्दोलन पर अच्छा नियन्त्रण रखे तथा इसके प्रसार के लिए वह लोगों को बाध्य कर सके परन्तु यह बात सहकारिता के मूल सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है।

इन वर्षों में राज्यों की सरकारें आन्दोलन के दोषों को दूर कर उसको सुसंगठित करने की दिशा में क्रियात्मक कदम उठा रही हैं। साख संस्थाओं का पुनर्गठन किया गया है। उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार समितियों का वर्गीकरण भी किया गया है। कुछ प्रदेशों में साख और विक्रय को मिलाने की ओर ध्यान दिया गया है जिसके अनुसार किसानों को इस शर्त पर ऋण दिया जाता है

कि वे अपनी पैदावार सहकारी समिति के ही हाथों में बेचेंगे। समितियों के कार्यक्षेत्र को बढ़ा दिया गया है। लोगों को सहकारिता के सिद्धान्त से उसके लाभ से परिचित कराने की ओर प्रयत्न किया जा रहा है। समितियों के शासन-व्यवस्था की शिक्षा के लिये शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई है। विभिन्न राज्यों के ऋण कानूनों से सहकारी आन्दोलन के विकास के लिये अच्छी सहायता प्राप्त हुई है।

भारत में सहकारिता का भविष्य—भारत में सहकारिता आन्दोलन की अभी तक जो प्रगति हुई है उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत में सहकारिता के विकास के लिये अभी काफी क्षेत्र है। इधर सहकारिता के विकास की कुछ मूल प्रवृत्तियों में काफी परिवर्तन हुआ है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय सहकारिता आन्दोलन ने अपने कदम को एक नवीन मोड़ की ओर उठाया है।

अभी तक यहाँ की सहकारी समितियों का उद्देश्य साख की व्यवस्था की ओर ही था, इन वर्षों में इस दिशा में परिवर्तन हुआ; सहकारी समितियों ने अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाया, इन समितियों ने उत्पादन तथा वितरण के भी कार्यों में अच्छा सहयोग प्रदान किया। १९३८-३९ तथा १९४५-४६ में जब कि सहकारी साख समितियों की संख्या में ३२·४ प्रतिशत वृद्धि हुई, तो गैर सहकारी समितियों में ९८·२ प्रतिशत वृद्धि हुई। मदरास में उपभोक्ता भण्डारों ने भी अच्छी प्रगति की है। इन सबकी वृद्धि का मुख्य कारण युद्धजनित परिस्थितियाँ ही थीं। युद्ध के परिणामस्वरूप अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कितनी ही नवीन सहकारी समितियों का उदय हुआ। उदाहरण के लिये बुनकर समितियाँ, दुग्ध वितरण समितियाँ, तथा अन्य कई प्रकार के गृह उद्योग धन्धे वाली समितियाँ।

गाँवों में अब बहु-उद्देश्य वाली समितियों की स्थापना की ओर लोगों का ध्यान बढ़ता जा रहा है। सहकारिता आन्दोलन ने राष्ट्रीय योजनाओं के विकास में भी अच्छा हाथ बटाया है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकें व्यवसायी बैंकिंग की ओर झुक रही हैं।

अभी उत्पादन की वृद्धि के लिये, पैदावार के क्रय-विक्रय के लिये तथा सहायक उद्योग-धन्धों के विकास के लिये तथा दलालों और आढ़तियों आदि की कड़ी तोड़ देने के लिये सहकारी समितियों की स्थापना की और आवश्यकता है। विक्रय समितियों द्वारा किसान को अपनी उपज का अच्छा मूल्य मिल सकता है। घी-दूध समितियों तथा फल उत्पादकों के संघों की स्थापना के लिये भी काफी स्थान है। चमड़ा कमाने, शहद की मक्खियों के पालने, मुर्गियों को पालने, सिल्क, सींघ तथा हड्डियों, तेलघानी, साबुन बनाने, खिलौने बनाने इत्यादि के सहकारिता के आधार पर विकास करने के लिये काफी क्षेत्र हैं। सहकारी हाउसिंग समितियों के लिये भी काफी जगह है। अभी तक साख ने कृषकों के जीवन के केवल एक अंग के विकास के लिये ही सुविधाएँ प्रदान की हैं, अब हमें बहु-उद्देश्य सहकारी समितियों की स्थापना करके कृषकों के आर्थिक जीवन का सर्वांगीण विकास करना है।

सहकारिता आन्दोलन के द्वारा देश का सामाजिक उत्थान भी सरलता से किया जा सकता है। भारत में सहकारिता कानून में कुछ द्रव्य सामाजिक उत्थान के कार्यों में लगाने की अनुमति दी गई है। अतएव भारत की कुछ सहकारी समितियाँ स्वास्थ्य सुधार, शिक्षा प्रसार आदि के कार्यों के लिये भी आर्थिक सहायता प्रदान कर रही हैं। इस दिशा में बम्बई की विद्या प्रसारक सहकारी समाज का नाम मुख्य है। परन्तु अभी तक भारत में सामाजिक विकास सम्बन्धी समितियों ने विशेष उन्नति नहीं की है। इस क्षेत्र में जितना कार्य पश्चिमीय सहकारी समितियों ने किया है, उतना हमारे देश की नहीं। प्रायः सभी पश्चिमीय देशों में सहकारिता आन्दोलन का सामाजिक विकास

से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। वहाँ सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए अच्छा धन व्यय किया जाता है। इंगलैण्ड में सहकारी समितियों द्वारा १५०,००० पौण्ड से लेकर २००,००० पौण्ड तक दातव्य या धर्मार्थ कार्यों में ही व्यय कर दिया जाता है। अमेरिका में भी सहकारिता के आध्यात्मिक तथा सामाजिक विकास के लिये बड़ा महत्व दिया जाता है। भारत में सहकारिता द्वारा सामाजिक विकास की बड़ी सम्भावनाएँ हैं। भारत गाँवों का देश है और इन गाँवों की उपेक्षा हम बहुत दिन से करते चले आ रहे हैं। हमारे गाँव अशिक्षा, मूर्खता तथा निर्धनता के केन्द्र हैं। अब वे दिन दूर नहीं जब कि हमारी सहकारी समितियाँ हमारे इन ग्रामों का सर्वांगीण विकास कर देश को समृद्ध के पथ पर अग्रसित होने के लिये सहायता प्रदान करेंगी।

सहकारिता के विकास की योजनायें—भारत के प्रायः सभी राज्य अपने-अपने प्रदेशों में सहकारिता के विकास के लिये अच्छा प्रयत्न कर रहे हैं। सहकारिता आन्दोलन की वृद्धि के लिए तथा उनको अधिक शक्ति सम्पन्न बनाने के हेतु कई योजनाओं का निर्माण हो चुका है। बहु-उद्देश्य वाली सहकारी समितियों के विस्तार को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। बम्बई सरकार ने ऐसी योजना बनाई है जिसके अनुसार आने वाले १५ वर्षों में ६० प्रतिशत ग्रामीण जनता को बहु-उद्देश्य वाली सहकारी समितियों से लाभ मिलने लगेगा। उत्तर प्रदेश में भी कितने ही ग्रामों में सहकारिता के कार्यों का अच्छा विकास किया जा रहा है। १९४८-४९ के अन्दर ही लगभग पाँच हजार बहु-उद्देश्य वाली समितियों का संगठन किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य और योजनाएँ बन रही हैं।

चौदहवाँ परिच्छेद

राज्य और कृषि

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ का कृषक वर्ग आर्थिक दृष्टि से निर्धन तथा शैक्षणिक दृष्टि से दरिद्र है; वहाँ पर कृषि के विकास का सारा उत्तरदायित्व राज्य के ही कन्धों पर आ जाता है। भारतीय कृषि के सम्बन्ध में हमारी सरकार ने जो कुछ किया है तथा जो कुछ कर रही है, उसके सम्बन्ध में हम पिछले पृष्ठों में प्रकाश डाल चुके हैं। सरकार ने सिंचाई के लिए अच्छी सुविधाएँ प्रदान की हैं, उसने सड़कों तथा रेल मार्गों के निर्माण से यातायात की अच्छी व्यवस्था कर दी है, कृषि के विकास के लिए उसने साख या पूँजी की भी सुविधा किसान को प्रदान की है, उसने जमींदारों तथा महाजनों के अत्याचारों से कृषकों की रक्षा करने लिए कानूनों का निर्माण कर दिया है, कृषि के मुख्य अंग किसान के ढोरों की नस्ल आदि सुधारने के लिए भी उसने अच्छा कार्य किया है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के प्रचार व प्रसार के लिए सरकारी शिक्षा-विभागों ने भी अच्छा कार्य किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत सरकार कृषि की दशा सुधारने के लिए समय-समय पर काफी प्रयत्न करती रही है। सरकार ने उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त इस दिशा में कुछ और भी अच्छे कार्य किए हैं, इन पर हम यहाँ कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे :—

(१) कृषि करने की पद्धति के विकास से सम्बन्धित कार्य—ये कार्य मुख्यतया प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार तथा संस्थाओं की सहायता से करती हैं। सरकार के इन कार्यों के अन्तर्गत—(अ) कृषि के लिए उत्तम बीज, खाद, औजार, पौधों के रोगों को दूर करने के उपाय आदि, (ब) कृषि विभाग के लिए अच्छे कर्मचारियों आदि की शिक्षा की व्यवस्था (स) तथा कृषि सम्बन्धी जो अनुसन्धान किए गए हैं उनके परिणामों का जनता में प्रचार व प्रसार सम्बन्धी कार्य आते हैं।

(२) ग्रामों का पुनर्निर्माण (Rural Reconstruction)—सरकार के इस कार्य का क्षेत्र काफी विस्तृत है। इसका उद्देश्य ग्रामों के सर्वतोमुखी विकास से है। ग्रामीणों के आर्थिक, नैतिक व मानसिक स्तर को ऊंचा उठाने का कार्य इसके अन्तर्गत आता है। सरकार इस कार्य की पूर्त्ति के लिए एक अलग विभाग की स्थापना करती है।

(३) दुर्भिक्ष निवारण रीति (Famine Relief Policy)—वर्षा के न होने, अत्यधिक वर्षा के कारण या अन्य कुछ दैवी प्रकोपों के परिणामस्वरूप कभी-कभी जनता को भीषण अन्न संकट का सामना करना पड़ता है, अतः सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जनता को इस संकट से मुक्त करे। इसके लिए सरकार सदैव सतर्क रहती है।

(४) भू-राजस्व सम्बन्धी नीति (Land Revenue Policy)—इसके अन्तर्गत सरकार जो कुछ कृषक से अपने कर्त्तव्यों की पूर्त्ति के लिए माँगती है, वह आता है। जब कि कृषि की पैदावार अच्छी स्थिति में नहीं होती तो सरकार किसान के लगान कम कर देती है या उसे इस भार से बिल्कुल ही मुक्त कर देती है।

राज्य की कृषि सम्बन्धी नीति—शताब्दियों से कृषि के सम्बन्ध में हमारी सरकार की जो नीति रही है, उससे कृषि के विकास की आशा करना दुराशा मात्र थी। जब भारत में अंगरेजों ने पदार्पण किया, तभी से उनका मुख्य उद्देश्य अपने वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति करना था न कि

यहाँ की कृषि की। १८५७ के महान विप्लव के पूर्व तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की जो नीति रही उससे हमारी कृषि को जो आघात पहुँचा वह किसी से छिपा नहीं। १८५७ के पश्चात् जब कि शासन-सत्ता कम्पनी के हाथ से इंगलैण्ड के सम्राट के हाथ में आ गई तब अंगरेजों का उद्देश्य भात में मुख्य रूप से शासन सम्बन्धी एकसूत्रता स्थापित करना रह गया, सरकार ने भारतीय कृषि के विकास की ओर कुछ भी ध्यान न दिया। जब १६ वीं सदी के अन्तिम भाग में भारत में दुर्भिक्षों का अनवरत प्रकोप होने लगा तब ब्रिटिश सरकार की आँखें खुलीं और उसे इस दिशा में अपनी नीति में कुछ परिवर्त्तन करना पड़ा। १८८०, १८६८ तथा १६०१ के दुर्भिक्ष कमीशनों तथा १६०३ के सिंचाई कमीशन ने भारत की कृषि सम्बन्धी स्थिति को सुधारने के लिए सरकार के सन्मुख अपने कुछ अमूल्य सुझाव पेश किए। परन्तु अभी तक सरकार का मुख्य ध्यान किसानों को दुर्भिक्ष के प्रकोप से बचाने के लिए लगान की छूट तथा तकावी ऋण आदि की व्यवस्था करना ही था, अन्य बातों की ओर उसने बिल्कुल ध्यान ही न दिया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में सरकार ने अपनी कृषि सम्बन्धी नीति में कुछ परिवर्त्तन किया। इस बात का पता उसके द्वारा पास किए हुए १६०४ के सहकारिता कानून, १६०५ में स्थापित होने वाले केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कृषि विभागों, तथा १६०६ में अखिल भारतीय कृषि सेवाओं के पुनर्गठन, से लग जाता है। १६१६ के संविधान द्वारा कृषि एक प्रान्तीय विषय हो गया था, अतः केन्द्रीय सरकार का मुख्य कार्य का केवल निरीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण करना ही रह गया। इधर अर्थाभाव के कारण प्रान्तों में भी कृषि के विकास के लिए कोई विशेष कार्य नहीं किया जा सका। १६३७ के बाद जब प्रान्तों में स्वायत्त प्रशासन की स्थापना हुई, और कांग्रसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण हुआ तो इस क्षेत्र में काफी कार्य हो जाने की आशा की गई थी परन्तु थोड़े ही समय में, इन मंत्रिमण्डलों के पदत्याग के कारण इस कार्य में फिर रुकावट आ गई। द्वितीय महायुद्ध के समय तथा उसके बाद में होने वाले अन्नाभाव के परिणामस्वरूप हमारी कृषि सम्बन्धी समस्या की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। भारत के भीषण अन्नाभाव को दूर करने के लिए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने एक अच्छा क्रियात्मक कदम उठाया है। इस ओर अब जितना ध्यान दिया जाने लगा है उतना इसके पूर्व कभी भी नहीं दिया गया। अपने इस खाद्य संकट को दूर करने के लिए सरकार ने कई योजनाओं का निर्माण करवाया है। प्रायः सभी राज्यों में कृषि के विकास के लिए, सिंचाई की कोई न कोई योजना कार्यान्वित की जा रही है। 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के लिए सभी राज्यों की सरकारें अच्छा प्रयत्न कर रही हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य भारत में खाद्य संकट को दूर कर अन्न की अच्छी व्यवस्था कर देना है। अभी तक कृषि की उन्नति सम्बन्धी प्रगति के न होने का एक और कारण रहा है, वह यह कि १६१६ के सुधार कानून के पश्चात् से कृषि के विकास का उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों के हाथ में आ गया, परन्तु राजस्व के मुख्य स्रोत केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में रहे, और प्रान्तीय सरकारों को मुख्य रूप से भूमि के लगान आदि की आय पर ही निर्भर रहना पड़ा। इस स्रोत से होने वाली आय इतनी अधिक नहीं थी जिससे कृषि का अच्छा विकास किया जा सकता। तो फिर यदि प्रान्तों या राज्यों की सरकारें कृषि के विकास के लिए अधिक कार्य नहीं कर सकीं तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। अधिक से अधिक जो कुछ उन्होंने दिया, वह किसानों की जमींदारों तथा महाजनों के अत्याचारों, से रक्षा करने के लिए कुछ वैधानिक उपाय ही थे। इससे अधिक और वे क्या कर ही सकते थे।

गत दो महायुद्धों के मध्य में कृषकों की स्थिति को सुधारने का जो सबसे महत्वपूर्ण प्रयत्न हुआ, वह 'शाही कृषि कमीशन' (Royal Commission on Agriculture) की स्थापना की। अतएव यहाँ पर इसके सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेना आवश्यक है।

शाही कृषि कमीशन—(The Royal Commission on Agriculture)—ब्रिटिश भारत की कृषि सम्बन्धी स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा गाँवों की आर्थिक स्थिति का परिचय प्राप्त करने के लिए, कृषि के विकास, तथा ग्रामीण जनता के आर्थिक उत्थान के लिए सुझाव पेश करने के लिये १६२६ में शाही कृषि कमीशन की नियुक्ति की गई थी। इनके अतिरिक्त कुछ विषयों पर विशेष खोज करना भी उसका कार्य था। वे विषय निम्नलिखित हैं :—

(अ) कृषि तथा पशुओं आदि की दशा को सुधारने के लिए, कृषि सम्बन्धी आंकड़ों की व्यवस्था, अच्छी तथा नई फसलों के प्रचार सम्बन्धी स्थिति, दुग्धशालाओं आदि की दिशा में उस समय क्या प्रयत्न किए जा रहे थे, इस बात का पता लगाना।

(ब) कृषि की पैदावार की बिक्री तथा यातायात के तत्कालीन साधनों की दशा की जानकारी प्राप्त करना।

(स) इस बात का पता लगाना कि कृषि के विकास के लिए कृषकों को पूँजी कैसे प्राप्त हो रही है।

(द) ग्रामों के उत्थान, कृषकों के कल्याण के लिए मुख्य सुझाव उपस्थित करना।

भूमि के बन्दोबस्त तथा उसकी मालगुजारी सम्बन्धी समस्याओं को कमीशन के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं सम्मिलित किया गया, अतः कमीशन ने इन विषयों पर अपने विशेष विचार नहीं प्रगट किये। कमीशन ने १६२८ में अपनी एक विस्तृत रिपोर्ट पेश की।

इस कमीशन ने भारत में कृषि के विकास के लिए जो सुझाव या परामर्श दिए हैं, वे काफी महत्वपूर्ण हैं। इसने ग्रामों के पुनर्निर्माण, ग्रामीण शिक्षा, सहकारिता, कृषि की पैदावार की बिक्री, सिंचाई, किसान के ढोरों की नस्ल सुधारने के उपाय, खेतों की चकबन्दी आदि पर अपने अमूल्य विचार उपस्थित किए हैं। कृषि के व्यवसाय को और अधिक लाभदायक बनाने के लिए कमीशन ने यह सुझाव पेश किया कि कृषकों को अपने दृष्टिकोण को अधिक उत्तर तथा विशाल बनाना होगा। कमीशन का कहना था कि ग्रामों तथा ग्रामवासियों की सभी समस्याओं को हल करने के लिए सरकार स्वयं विशेष प्रयत्न करे। ग्रामीण जनता भी सरकार को अपना सहयोग प्रदान कर गाँवों का सर्वांगीण विकास करे। कमीशन ने कृषि सम्बन्धी कार्यों के अन्वेषण के लिए एक 'शाही परिषद' (Imperial council) की स्थापना की ओर भी विशेष जोर दिया था।

प्रान्तीय कृषि विभागों के कार्य*—हम ऊपर कह चुके हैं कि कृषि के विकास के लिए मुख्य प्रयत्न करने का उत्तरदायित्व राज्यों या प्रान्तों की ही सरकारों पर है, केन्द्रीय सरकार का तो कार्य केवल राज्यों के इन कार्यों का निरीक्षण तथा निर्देशन करना है।

प्रान्तीय कृषि विभागों के मुख्य काय निम्नलिखित हैं :—

(१) कृषि सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था।
(२) कृषि सम्बन्धी अनुसन्धानों का प्रबन्ध।
(३) कृषि के विकास के लिए प्रचार आदि करना।
(४) कृषि के विकास के कुछ विशेष प्रयत्न करना।
(५) उत्तम बीज, औजार तथा कृत्रिम खाद का वितरण।

यहाँ पर इनमें से प्रत्येक पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

---

*इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए पढ़िये–'State Aid to Agriculturist in India'.

कृषि सम्बन्धी शिक्षा (Agricultural Education)—कृषि के विकास के लिए तत्सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था करना भी काफी महत्वपूर्ण है। बम्बई राज्य में कृषि की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने के लिए कृषि माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की गई है, इसमें शिक्षा पाए हुये शिक्षार्थियों से यह आशा की जाती है, कि वे अपना पाठ्यक्रम समाप्त करने के पश्चात् ग्रामों में जाकर भूमि का विकास करेंगे। कुछ अन्य राज्यों में, माध्यमिक कक्षाओं में विद्यार्थियों को कृषि की शिक्षा दी जाती है। कृषि की विशेष वैज्ञानिक शिक्षा देने के लिए पूना, कोयम्बटूर, नागपुर, प्रयाग तथा कानपुर में कृषि कालेज हैं। दिल्ली की कृषि अनुसंधानशाला में कृषि के पोस्ट ग्रेजुएट विद्यार्थियों के लिए शिक्षा की अच्छी व्यवस्था है। अभी तक इन कालेजों से शिक्षा पाकर विद्यार्थियों का मुख्य ध्यान कृषि-विभागों में अच्छी नौकरी प्राप्त करना रहा है, अभी ऐसे विद्यार्थी बिल्कुल ही नहीं निकले जो कृषि की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् स्वयं कृषि कार्य करते।

इन कृषि कालेजों में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था है। ये कालेज कृषि सम्बन्धी समस्याओं पर कुछ अनुसंधान का भी कार्य करते हैं। यह अनुसन्धान का कार्य या तो वे स्वतंत्र रूप से करते हैं अथवा भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के नेतृत्व में। इनके अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों के अन्तर्गत उत्तम प्रकार के बीजों का उत्पन्न करना, फसलों के रोगों के लिए नवीन उपायों की खोज करना, उत्तम औजारों तथा खाद के विषय में आविष्कार करना है।

कृषि अनुसंधान संस्था (Agricultural Research)—शाही कृषि कमीशन के सुझाव के अनुसार १९२९ में 'शाही कृषि अनुसन्धान परिषद' (Imperial Council of Agricultural Research) की स्थापना की गई थी। इस परिषद का उद्देश्य समस्त भारतवर्ष में कृषि अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों का निर्देशन व नियंत्रण करना, ब्रिटिश साम्राज्य व अन्य देशों में होनेवाले कृषि अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों एवं अनुसन्धान संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करना है। इस परिषद के मुख्य दो अङ्ग हैं। एक तो प्रशासन-कर्त्ता समिति (गवर्निङ्ग बाडी) तथा दूसरी सलाहकार समिति (एडवाइजरी बोर्ड)। गवर्निङ्ग बाडी का कार्य परिषद का प्रशासन आदि करना है तथा सलाहकार समिति का कार्य (एडवाइजरी बोर्ड) अनुसन्धान के लिये आए हुए प्रस्तावों का परीक्षण कर उन्हें शासक-समिति (गवर्निङ्ग बाडी) के समक्ष उपस्थित करना है।

परिषद् अनुसन्धान कार्यों के लिए वजीफे या छात्रवृत्तियों आदि के देने की भी व्यवस्था करती है। यह परिषद प्रत्यक्ष रूप से अनुसन्धान के कार्यों को नहीं करती परन्तु दो विषयों में वह प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण रखती है। एक तो उत्पादन के लागत के विषय में, जिसमें मुख्य रूप से कपास तथा गन्ने का नियंत्रण है तथा दूसरे कृषि के प्रयोगों के आंकड़ों के नियंत्रण में। इस परिषद की बहुत सी योजनाओं को कितनी ही संस्थाओं द्वारा कार्यान्वित किया गया है और काफी मात्रा में कार्य को पूरा किया जा चुका है।

रसेल महोदय ने अपनी रिपोर्ट में परिषद की स्थिति को सुधारने के लिये कई सुझाव पेश किए थे। उसके अनुसार कृषि अनुसन्धान परिषद ने वर्तमान कृषि के प्रचार आदि कार्यों के परीक्षण का कार्य प्रारम्भ किया है। वह एक योजना कार्यान्वित कर रही है जिसके अनुसार कृषि के विकास के लिए जितने भी प्रयोग किए गए हैं तथा इनका कृषक की आय तथा भूमि पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसका पता लगायेगी। कृषि सम्बन्धी जितने भी सुधार कार्य हुए हैं उनका प्रयोग किसान स्वयं अपने हाथों से करेंगे।

अनुसन्धान कार्यों के परिणामों से लोगों को अवगत कराने के लिए एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की जाती है।

परिषद ने ग्राम्य जीवन को उन्नत बनाने के लिए तथा भारतीय कृषि पशुओं की स्थिति सुधारने के लिए काफी प्रयत्न किया है।

लगभग सवा करोड़ रुपये का व्यय कर परिषद ने गत बीस वर्षों में धान, गेहूँ आदि की फसलों को काफी अच्छा बना दिया है जिससे लगभग २६ करोड़ की आय हुई है। परिषद ने चावल की एक किस्म में सुधार किया है जिससे केवल छत्तीस गढ़ के इलाके में २०,००,००० मन धान की बचत हुई है। गेहूँ की भी फसल को नष्ट होने से बचाने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है, वर्ष भर में लगभग छै करोड़ रुपये की मूल्य का गेहूँ गेरुआ (Rust) से नष्ट हो जाता है। परिषद के प्रयत्नों से ज्वार की फसल में २० प्रतिशत तथा बाजार में ३० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। मक्का की फसल को भी सुधारने के लिए प्रयत्न किए गए हैं। कुछ राज्यों में फलों के उत्पादन की भी योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है। विभिन्न प्रकार की खादों के विषय में भी अनुसन्धान किया गया है। उत्तर प्रदेश तथा कश्मीर में लगभग ७० प्रतिशत पैदावार में वृद्धि अमोनियन सलफेट के ही कारण हुई है, खादों में सबसे अधिक लाभ खली की खाद से हुआ है जिससे ११० से लेकर १६० प्रतिशत तक ही वृद्धि हुई है, हरी खाद से भी शत प्रतिशत लाभ हुआ है।

पशुओं की दशा को सुधारने के लिए १०० से भी आर्थिक योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है। पशुओं की दूषित बीमारियों जैसे रिन्डरपेस्ट आदि से रक्षा करने के लिए भी प्रयत्न किया गया है। सभी राज्यों में पशुओं की बीमारियों के निरीक्षण के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की गई है। भेड़ों की सबसे भयंकर बीमारी जिसे गिल्लर कहते हैं, उसको दूर करने के लिए अच्छी औषधि का आविष्कार हो गया है। पशुओं की नस्ल सुधारने आदि के सम्बन्ध में भी अच्छा प्रयत्न किया गया है।

भेड़ों के पालन-पोषण सम्बन्धी अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप अच्छी किस्म के ऊन के भी प्राप्त होने में सुविधा हो गई है। दूध के धन्धे के विकास के सम्बन्ध में भी काफी प्रयोग किए जा चुके हैं, शुद्ध घी में बनस्पति घी की मिलावट को रोकने के लिए भी प्रयोग किए गए हैं।

परिषद ने कुछ गाँवों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए भी प्रयत्न किये हैं।

३१ जनवरी १६४६ में होने वाले अपने अठारवें अधिवेशन में, परिषद की शासन कर्त्ता समिति ने कृषि अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों के विषय में कुछ महत्वपूर्ण निर्णय किए थे। इन से प्रादेशिक अनुसन्धानशालाओं की स्थापना, फसलों की पैदावार से सम्बन्धित आंकड़ों की अच्छी जानकारी प्राप्त करना, तथा अनुसन्धान के परिणामों का पता लगाने के लिए एक सूचना ब्यूरो की स्थापना आदि कुछ मुख्य थे।

उपरोक्त विवरण से कृषि-अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों के विषय में कुछ परिचय मिल गया होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में कृषि के अनुसन्धान सम्बन्धी जो कुछ भी कार्य हुआ है, वह बहुत सन्तोषजनक नहीं है। हमारी इस कृषि अनुसन्धानशाला से किसानों को विशेष लाभ नहीं प्राप्त हुआ है।

अतएव इस बात की अतीव आवश्यकता है कि कृषि अनुसन्धान कार्यों का खूब प्रचार और प्रसार किया जाय। अभी तक जो भी अनुसन्धान कार्य हुआ है, उसका कृषक तथा कृषक के खेतों से विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है। जितने भी प्रयोग किए गए हैं वे सब किसान के खेतों से दूर अलग प्रयोगशालाओं में ही किये गए हैं। इसके अतिरिक्त हमारे अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों का एक और दोष यह रहा है कि जितने भी अनुसन्धान किये हैं उनमें उनके आर्थिक महत्व की उपेक्षा ही की गई, इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि इन अनुसन्धानों से होने वाले परिणाम किसानों के

लिये आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयोगी होंगे या नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि जितने भी हमारे अनुसन्धान कार्य हों, उनका प्रयोग में लाना साधारण कृषक के लिए विशेष खर्चीलू न पड़े, कृषक आसानी से उनसे लाभ उठा सके।

विकास आयोग—(Development Commission) रसेल रिपोर्ट में यह भी सुझाव पेश किया गया था कि एक विकास आयोग या कमीशन की भी स्थापना की जाय। इस आयोग या कमीशन का उद्देश्य ग्रामवासियों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना होना चाहिये। इस कमीशन को निम्नलिखित समस्याओं को सुलझाने की ओर ध्यान देना चाहिए :—

(१) मिट्टी की दशा सुधारना, भूमि के कटाव आदि की रक्षा करना।

(२) अच्छी फसलों की व्यवस्था करना, चरागाहों का प्रबन्ध करना, आर्थिक जांचों के आधार पर ग्राम्य विकास के कार्य का संचालन करना।

(३) प्रयोगशाला तथा साधारण कृषकों के बीच सम्बन्ध स्थापित कर एक दूसरे को आवश्यक जानकारी से अवगत कराना।

(४) वृक्षों तथा फसलों के लिए उत्तम बीजों के वितरण की व्यवस्था करना।

(५) गाँवों की सड़कों का विकास करना।

अनुसंधान के कार्यों का प्रचार व निदर्शन—हम ऊपर कह चुके हैं कि कृषकों को अनुसंधान के कार्यों से अवगत कराने के लिए सरकार को यथेष्ट प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि कृषकों के निज के खेतों में या सरकारी फार्मों में कृषि के अनुसन्धानों के परिणामों का निदर्शन कराया जाय। निदर्शन के अतिरिक्त उसके प्रचार के लिए और भी काफी प्रयत्न करना चाहिए। आजकल सरकार उत्तम बीजों का अपने फार्मों में प्रयोग कर किसानों को उनकी उपयोगिता से परिचित कराती है। आधुनिक कृषि-यंत्रों का निर्माण भी सरकार अपने ही नियंत्रण में कराती है। सरकार किसानों को उत्तम बीज, खाद, औजार आदि देने के लिए गोदाम स्थापित करती है। सहकारी समितियों द्वारा भी कृषकों को अनुसन्धान कार्यों के परिणामों से परिचित कराया जाता है। कृषि विभाग अपने क्षेत्र के अन्तर्गत किसानों के लिए बाजार, हाटों व प्रदर्शिनियों का संगठन करता है तथा इनमें कृषि की नवीन खोजों से किसानों को परिचित कराता है।

कृषि-विकास के कुछ विशेष प्रयत्न—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कृषि के विकास के लिए सरकार सिंचाई की व्यवस्था करती, उत्तम बीज, अच्छे औजार तथा बढ़िया खाद का वितरण करती, भूमि को कटाव आदि से रोकती, अच्छी पैदावार के लिए वैज्ञानिक अनुसन्धान करती, फसलों को कीड़ों आदि से बचाने के कुछ और प्रयत्न करती है। इन विषयों पर हम यहाँ कुछ विशेष प्रकाश डालेंगे।

सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप गन्ने वाली कुल भूमि का ८० प्रतिशत तथा जूट का ४० प्रतिशत भाग उत्तम बीजों से उत्पादित होता है। व्यापारिक फसलों के लिए सरकार इस बात का ध्यान रखते हुए उनका विकास करती है, कि उनकी अधिक से अधिक बिक्री हो तथा जो फसलें खाद्य पदार्थों की होती है, उनमें यह ध्यान रखा जाता है कि उनमें अधिक से अधिक पोषक तत्व हों। सरकार ने इसके लिए कि हमारी खाद्य फसलों में पोषक तत्व का अभाव न हो, एक विशेषज्ञ की नियुक्ति की है। सरकार को चाहिए कि वह फसलों तथा सब्जियों के अधिक से अधिक उत्पादन का प्रयत्न करे। फलों की रक्षा के लिए तथा उनसे अचार व मुरब्बा आदि बनाने के सहायक धन्धों की स्थापना के लिए भी सरकार को प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए।

जहाँ तक फसलों के रोगों का सम्बन्ध है सरकार ने इस दिशा में अच्छी सफलता प्राप्त की है। भारत सरकार ने ऐसी विधियों का निर्माण कर दिया है। जिसके अनुसार रोगी पौधों को एक

स्थान से दूसरे स्थान में नहीं भेजा जा सकेगा, पौधों को रोगों से मुक्त करने के कुछ और भी प्रयत्न किये गए हैं। परन्तु अभी तक इस दोष से हम पूर्णरूप से मुक्त नहीं हुए हैं, इस क्षेत्र में हमारी केन्द्रीय सरकार को और प्रयत्न करना चाहिए।

सरकार ने सिंचाई के लिए भी अच्छा प्रयत्न किया है, इस विभाग का विस्तारपूर्वक विवेचन हम एक अलग अध्याय में कर चुके हैं, अतः यहाँ पर हमें विशेष नहीं कहना है। सरकार किसानों को उत्तम खाद देने के लिए भी काफी प्रयत्न कर रही है। सरकार ने सिंदरी नामक स्थान में खाद तैयार करने का अपना एक अलग कारखाना खोला है। जहाँ तक औजारों या कृषि-यंत्रों का सम्बन्ध है सरकार नवीन प्रकाश के यंत्रों का निर्माण करवा रही है जिससे कृषि में काफी सहायता प्राप्त हो सके। इस दिशा में भी काफी कार्य किया जा चुका है।

राज्य द्वारा देश की कृषि को क्या सहायता प्राप्त हुई, प्राचीन सरकारों ने इस दिशा में क्या कार्य किया है इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने अपनी एक प्रकाशित पुस्तिका में अच्छा प्रकाश डाला है। इसके अनुसार प्रान्तीय सरकारों ने इस क्षेत्र में जो कुछ कार्य किए हैं, वे संक्षेप में ये हैं:—

(१) ऋण लेन-देन के नियंत्रण के लिए कानूनों का निर्माण;

(२) भूमि के बन्दोबस्त में सुधार;

(३) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन की योजनाओं का निर्माण तथा इनको कार्यान्वित करने के लिए सहायता देना;

(४) सिंचाई की योजनाओं को कार्यान्वित करना;

(५) किसानों को खाद, उत्तम बीज आदि देने की व्यवस्था करना;

(६) किसान के ढोरों की दशा सुधारना; तथा

(७) फल तथा तरकारियों के अधिक उत्पादन का प्रयत्न करना।

इन प्रयत्नों का परिणाम—इस प्रकार हम देखते हैं कि केन्द्रीय कृषि परिषद तथा प्रान्तीय कृषि विभागों के सम्मिलित प्रयत्नों से कृषि सम्बन्धी स्थिति में काफी सुधार हुआ है। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप कृषि करने की अधिक उपयोगी प्रणाली का प्रचार हो गया है, फसलों की अच्छी किस्में होने लगी हैं, फसलों को अच्छे ढंग से काटा जाने लगा है, फसलों की टिड्डियों आदि से रक्षा के भी प्रयत्न किए गए हैं, पशुओं की नस्ल सुधारने की ओर भी अच्छा ध्यान दिया गया है, खेतों की चकबन्दी के लिए भी सरकार ने काफी प्रोत्साहन प्रदान किया है।

इन सब कार्यों में सरकार का सबसे महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न फसलों के लिए उत्तम बीजों की व्यवस्था करना है। इस सम्बन्ध में सबसे बाद के आंकड़ों से यह पता चलता है कि ब्रिटिश भारत में कुल जोती जाने वाली भूमि का १०% भाग उत्तम बीज वाली फसलों का था, देशी राज्यों में यह संख्या केवल १·६ प्रतिशत ही थी। परन्तु अलग-अलग फसलों की पैदावार सम्बन्धी आंकड़ों की संख्या भिन्न भिन्न है।

शाही कृषि अनुसन्धान परिषद के भूतपूर्व उपाध्यक्ष सर ब्राइस बर्ट के अनुसार इस क्षेत्र में जो प्रगति हुई उसका परिचय नीचे दिए हुए आंकड़ों से लग जायगा :—

(१) १६३२-३७ के समय में १०८ पौण्ड प्रति एकड़ के हिसाब से कपास की पैदावार हुई जब कि इसके पूर्व के पाँच वर्षों में ६५ पौंड प्रति एकड़ ही हुई थी। यह तो रही कपास की पैदावार के परिमाण की बात, जहाँ तक उसके किस्म का प्रश्न है, उसमें भी काफी वृद्धि हुई। पहले कुल कपास की ७५ प्रतिशत छोटे रेशे वाली कपास, तथा २५ प्रतिशत मध्यम रेशे वाली कपास होती थी। सन् १६३८-३६ में इसमें सुधार हुआ, इस समय छोटे रेशे वाली कपास ६३ प्रतिशत, मध्यम रेशे वाली ३२½ प्रतिशत, तथा लम्बे रेशेवाली ४½ प्रतिशत थी।

(२) सन् १६३७-३८ में, कुल २८८६,००० एकड़ भूमि में से १,७६३,००० एकड़ भूमि में उत्तम बीजों की जूट उत्पन्न हुई थी।

(३) इस समय सबसे अधिक वृद्धि मूगफली की पैदावार में हुई। मूगफली की पैदावार सब देशों से अधिक भारत में होती है। इन वर्षों में मूगफली की पैदावार में कैसी वृद्धि हुई यह इस बात से स्पष्ट हो जायगा कि १६००ई० में मूगफली पैदा करने वाली भूमि का क्षेत्रफल ३,००० एकड़ था, १६३७-३८ ई० में यह क्षेत्रफल ६० लाख एकड़ हो गया।

(४) जहाँ तक गन्ने की फसल का प्रश्न है उसमें भी वृद्धि हुई। १६३६ तक कुल गन्ने वाली भूमि का ८० प्रतिशत भाग अच्छे बीजों वाली फसलों का था। इसके उत्पादन में भी काफी वृद्धि हुई।

(५) सन् १६२७-२८ में अच्छे बीजों वाले चावल की भूमि का क्षेत्रफल ६३४,००० एकड़ था, १६३७-३८ में यह बढ़कर ३,७५६,००० एकड़ हो गया।

(६) परन्तु जहाँ तक गेहूँ की फसल का प्रश्न है उसमें कोई विकास नहीं हुआ। १६३७-३८ में उत्तम बीज वाले गेहूँ का क्षेत्रफल केवल ७० लाख एकड़ था, यह क्षेत्रफल कुल क्षेत्रफल का केवल ¼ भाग ही था।

(७) देश में तम्बाकू के उद्योग में इधर अच्छी वृद्धि हुई। सन् १६३८ में भारतीय सिगरेट के कारखानों की कुल आवश्यकता का ८५ प्रतिशत भारत में ही पैदा होनेवाली तम्बाकू से पूरी की जाती है। विदेशों को भी अच्छी मात्रा में तम्बाकू भेजी जा रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि सरकारी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप कृषि को दशा सुधारने के लिए काफी प्रयत्न हुए हैं, परन्तु इन प्रयत्नों से अभी विशेष लाभ नहीं हुआ है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि कुल जोती जाने वाली भूमि का केवल १/१० भाग ही उत्तम बीजों तथा कृषि की आधुनिक पद्धतियों द्वारा जोता-बोया जाता है। कृषि में प्रति व्यक्ति केन्द्रीय सरकारी का व्यय डेढ़ आना है, प्रान्तीय सरकार प्रति व्यक्ति औसतन व्यय साढ़े नौ आना है। परन्तु यदि हम इस व्यय की तुलना अन्य देशों में कृषि में होने वाले व्यय से करें तो हमें पता चल जायगा कि यह रकम कुछ भी नहीं है, संयुक्त राष्ट्र अमरीका की सरकार ७७ रु० प्रति व्यक्ति तथा कनाडा की २० रु० प्रति व्यक्ति कृषि के कार्यों के लिये खर्च करती है। इसलिए यदि हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा कृषि में विशेष उन्नति नहीं हुई है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वास्तव में भारत में कृषि के विकास के लिए भारतीय कृषि की पद्धति में आमूल परिवर्तन करना होगा, हमें भारतीय कृषि का पुनर्संगठन कर उसके आधारभूत सिद्धान्तों में परिवर्त्तन करना होगा। हम इन साधारण सुधारों से तथा अनुसन्धान शाला के कुछ इने-गिने कार्यों से ही कृषि में विकास करने में सफल नहीं हो सकते। जब तक कि कृषि की पद्धति में, खेतों की जोत में, भूमि स्वत्व प्रणाली में आमूल परिवर्तन नहीं करते तब तक हम कृषि की दशा को पूर्णरूप से सुधारने में सफल नहीं हो सकते।

ग्राम सुधार—ग्राम सुधार से हमारा तात्पर्य भारतीय ग्रामीण जीवन के भौतिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास से है। भौतिक दृष्टि से ग्राम सुधार का कार्य क्षेत्र कृषकों की या कृषि कार्य में लगे हुए व्यक्तियों के स्वास्थ्य तथा उनके रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना है। ग्रामीणों का स्वास्थ्य सुधारने के लिए सरकार उनमें स्वच्छता का प्रचार कर चिकित्सा सम्बन्धी सहायता प्रदान करती है। ग्रामीण जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए सरकार किसानों को कृषि करने की अच्छी पद्धति, कृषि के लिए साख की व्यवस्था, खेती की पैदावार की बिक्री की अच्छी व्यवस्था करती है। जहाँ तक कृषकों के मानसिक विकास का सम्बन्ध है, सरकार, बालक, बालिकाओं तथा प्रौढ़ों की शिक्षा

की व्यवस्था करती है। इसके अतिरिक्त रेडियो, सिनेमा, प्रदर्शिनियों आदि के द्वारा भी ग्रामीण जनता को शिक्षा प्रदान की जाती है। किसानों के नैतिक विकास के लिए सरकार किसानों को अपने व्यक्तित्व को पूर्णरूप से पहचानने के लिए, अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहन देती है। वह ऐसे प्रयत्न करती है जिससे कि प्रत्येक ग्राम वासी स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करता हुआ, सामूहिकता की शिक्षा ग्रहण करता हुआ अपना सर्वांगीण विकास करे। सरकार का यह उद्देश्य रहता है कि हमारे ग्रामवासी अपने दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन कर, अपने आप को समझें, अपने अन्दर से अन्धविश्वास तथा दकियानूसी विचारधारा को दूर करें।

पहले सरकार के विभिन्न विभाग—कृषि विभाग, सहकारी विभाग, सिंचाई विभाग, जंगल विभाग, जन स्वास्थ्य तथा शिक्षा विभाग—अपनी-अपनी सीमा या क्षेत्र के अन्तर्गत ग्राम सुधार के कार्य में सहयोग प्रदान करते रहे। परन्तु बाद में यह पता लगा कि इन विभिन्न विभागों में कार्य करने वाले अधिकारियों को ग्रामों का पूर्ण एवं सर्वांगीण विकास करने का अवसर नहीं प्राप्त होता। किसान भी इन विभिन्न विभागों के कार्यक्रमों को भलीभाँति नहीं समझ पाता, उसे इन पर विश्वास भी नहीं होता। किसान इन विभागों के अधिकारियों को सरकार के प्रतिनिधि समझता है जिनका कार्य गाँवों में कभी-कभी केवल भ्रमण कर जाना था, और किसान इनके स्वागत-सत्कार करने को ही अपना परम कर्त्तव्य समझता था। इस प्रकार इन विभागों के कार्यों से कृषक को कोई विशेष लाभ नहीं होता था।

बाद में यह बात स्पष्ट हो गई कि यदि ग्रामवासियों की समस्या को अच्छी तरह हल करना है, यदि उनकी निर्धनता को, उनकी मूर्खता, को, उनकी अशिक्षा को, उनकी अस्वच्छता को, दूर करना है, उनके निराशावादी दृष्टिकोण में परिवर्तन करना है तो हमें इन सभी समस्याओं को एक समस्या मानकर ही उसके हल का प्रयत्न करना होगा।

इसके पूर्व १६२८ के शाही कृषि कमीशन ने भी इस बात पर प्रकाश डाला था कि यदि गाँवों की सभी समस्याओं को एक साथ हल करना है तो उसके लिये राज्य को अपने सभी साधनों का प्रयोग कर निश्चयात्मक कदम उठाना होगा। इन सब बातों के परिणामस्वरूप सरकार ने भी ग्राम सुधार के लिए क्रियात्मक कदम उठाना प्रारम्भ कर दिया। कितने ही राज्यों में ग्राम सुधार विभागों की, इस कार्य के लिए विशेष अधिकारियों की स्थापना होने लगी। नीचे हम कुछ राज्यों के ग्राम सुधार सम्बन्धी कार्यों पर प्रकाश डालेंगे।

विभिन्न राज्यों की ग्रामसुधार योजना

उत्तर प्रदेश में—सन् १६३७ में उत्तर प्रदेश में जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने तो उन्होंने इस राज्यों में ग्रामों के पुनर्निर्माण के कार्य के संचालन के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की। इसके अतिरिक्त एक प्रान्तीय ग्राम सुधार बोर्ड की भी स्थापना की गई। सुधार कार्य का सञ्चालन करने के लिए पंचायतें चुनी गई। सैकड़ों गाँवों में पंचायतघरों की स्थापना हुई, वाचनालय तथा बालिकाओं के लिए विद्यालय खोले गए। कृषकों की सुविधा के लिए बीज गोदाम खोले गए। पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए अच्छे बैल खरीदे गए। सिंचाई के लिए सैकड़ों कुएँ खोदे गये। प्रौढ़ शिक्षा, निरक्षरता-निवारण का प्रयत्न किया गया। स्त्रियों की प्रसूति सहायता की व्यवस्था की गई। इन्हीं सब बातों का प्रयत्न किया जा रहा था कि १६३६ में युद्ध छिड़ गया, कांग्रेसी सरकारों ने पद त्याग कर दिया जिससे इस कार्य की प्रगति रुक गई। युद्ध के बाद जब कॉंग्रेसी मंत्रिमंडलों ने काय भार संभाला तो इस ओर फिर ध्यान दिया। ग्राम सुधार को अच्छे ढंग से संगठित किया गया। आजकल इस प्रदेश में ग्राम सुधार के कार्य का संचालन कृषि विकास तथा रहन-सहन के स्तर को

ऊँचा उठाने वाली समितियों व पञ्चायतों द्वारा किया जा रहा है। ये संस्थाएँ ग्राम सुधार के सभी कार्यों को अपने हाथ में ले रही हैं।

उत्तर प्रदेश में ग्राम सुधार सम्बन्धी कार्यों में सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ है कि यहाँ फैजाबाद में एक महिला शिक्षण शिविर (Women's Welfare Training Camp) की स्थापना की गई है। इसमें कुछ अध्यापिकाएँ शिल्पकला, शिशुपालन आदि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाती हैं। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ये महिलाएँ गाँवों में जाकर स्त्रियों का संगठन कर उन्हें शिक्षित बनाती हैं।

पंजाब में—पंजाब में ग्राम सुधार के कार्य का श्री गणेश करने का श्रेय श्री एफ० एल० ब्रेन, महोदय को है। आप पहले पंजाब के गुरगाँव जिले में डिप्टी कमिश्नर थे, वहीं आपने इस कार्य का प्रारम्भ किया, परन्तु यहाँ आपको विशेष सफलता नहीं मिली। इसके पश्चात् १९३३ में आप ग्राम सुधार कमिश्नर नियुक्त किए गए। आपने इस पद से पंजाब में ग्राम सुधार का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। ब्रेन महोदय ने गाँवों के **पुनर्निर्माण** की जो योजना बनाई उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

स्वास्थ्य सम्बन्धी—(१) प्रत्येक गाँव को पूर्णरूप से स्वच्छ रखा जाय। गाँव के कूड़े-करकट आदि को फेंकने के लिए गढ़े खोदे जाँय। गाँव की प्रत्येक इमारतां, घरों आदि को भली भाँति स्वच्छ रखा जाय।

(२) ग्रामवासियों को स्वच्छता का महत्व बतलाया जाय तथा उन्हें साफ-सुथरा रहने की शिक्षा दी जाय।

(३) चेचक, हैजा तथा अन्य छूत की बीमारियों से रक्षा करने के लिए टीके की अच्छी व्यवस्था की जाय।

(४) मलेरिया को रोकने के उपायों का प्रचार किया जाय।

(५) स्त्रियों को प्रसूति सहायता देने के लिए कुशल दाइयां की व्यवस्था की जाय।

कृषि सम्बन्धी—(१) गेहूँ, कपास, गन्ने आदि के लिए उत्तम बीजों की व्यवस्था की जाय।

(२) भूमि के सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

(३) कृषि करने की अच्छी प्रणाली का प्रचार किया जाय।

(४) फसलों को कीड़ों आदि से बचाने के लिए प्रयत्न किया जाय।

(५) पशुओं की नस्ल को सुधारने के लिए अच्छे बैलों को खरीदा जाय।

(६) पशुओं की बीमारियों को रोकने की व्यवस्था की जाय।

कुछ अन्य कार्य—(१) किसानों तथा अन्य ग्रामवासियों में मितव्ययिता का पूर्ण प्रचार किया जाय। उनकी फिजूलखर्चों को रोकने के लिए और भी प्रयत्न किए जायँ।

(२) बालकों तथा अन्य लोगों के वास्ते स्वास्थ्य सुधार तथा मनोरंजन के लिए क्रीड़ा-स्थल, व्यायामशालाएँ तथा मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था की जाय।

(३) बालिकाओं की शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया जाय।

(४) ग्राम सुधार के क्षेत्र में क्या कार्य करना है इस बात का अच्छा प्रचार किया जाय।

(५) सहकारी तथा अन्य संघों का अच्छा संगठन किया जाय।

पंजाब में ब्रेन महोदय के इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर गाँवों के सुधार का प्रयत्न किया गया है। अब पंजाब में ग्रामों के पुनर्निर्माण का कार्य सरकारी विभागों के हाथ में सौंप दिया गया है।

बम्बई में—पहले बम्बई में ग्राम सुधार विभाग तथा सहकारी विभाग सम्मिलित रूप से कार्य

करते थे किन्तु बाद में इन दोनों विभागों को अलग कर दिया गया। ग्राम सुधार के कार्यों के सम्बन्ध में परामर्श आदि देने के लिए एक प्रान्तीय ग्राम विकास समिति की स्थापना की गई। इस समिति में ग्राम सुधार तथा कृषि-मंत्री, कोआपरेटिव का रजिस्टार, उद्योग धन्धों का डाइरेक्टर तथा कुछ अन्य सदस्य थे। कार्य संचालन की सुविधा के लिये चार अन्य समितियों की नियुक्ति की गई। ये समितियाँ निम्नलिखित थीं :—(१) कृषि तथा पशु समिति (२) शिक्षण तथा प्रचार समिति (३) गृह-उद्योग समिति (४) पिछड़े हुये क्षेत्रों की समिति।

इन समितियों को सहायता देने के लिये जिला ग्राम सुधार समितियों की भी स्थापना की गई। ग्राम सुधार का मुख्य कार्य तालुका विकास संघों, सहकारी समितियों तथा कुछ अन्य कृषि समितियों द्वारा होता है। ये समितियाँ रियायती मूल्य पर किसानों को उत्तम बीज व औजार वितरित करतीं, पशुओं की नस्ल सुधारने का प्रयत्न करतीं, गृह उद्योग-धन्धों का विकास करतीं, स्वच्छता का प्रचार करतीं, ग्रामीणों को चिकित्सा सम्बन्धी सहायता देतीं, पिछड़े हुये क्षेत्रों के निवासियों, तथा आदिम जातियों का ध्यान रखती हैं।

पश्चिमी बंगाल में—बंगाल में ग्राम सुधार के लिये एक अलग विभाग है। इस विभाग का अध्यक्ष एक सरकारी पदाधिकारी है। ग्राम सुधार के कार्य का संचालन, ग्राम सुधार समितियों, रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने वाली समितियों आदि के द्वारा होता है। इनका कार्य जंगलों को गिराना, सड़कों की मरम्मत करना, नालियों का निर्माण करना, मलेरिया से बचने के लिये गाँव में कुनैन का वितरण करना, उत्तम बीजों का वितरण करना तथा ट्यूब वेलों का खोदना है। मुख्य कर यहां ग्राम सुधार का उद्देश्य ग्रामीणों के जीवन के रहन-सहन के स्तर को ऊचा करना, उनके लिये संतुलित भोजन का प्रयत्न करना, उद्योग-धन्धों का प्रचार करना तथा गांव में मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था करना है।

मदरास में—मदरास में ग्राम सुधार का कार्य जिला-मंडलियों के हाथों में है। इनका मुख्य कार्य गांवों में पानी की व्यवस्था करना, स्वच्छता का विकास करना तथा यातायात की सुविधाएँ प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त गांवों में गोदामों का निर्माण करना, उत्तम बीज तथा उत्तम औजारों का वितरण करना भी है।

अन्य राज्यों में—अन्य राज्यों में जैसे बिहार तथा आसाम में भी इस क्षेत्र में अच्छा कार्य हुआ है। बिहार में १६३८ में एक ग्राम सुधार विभाग की स्थापना की गई थी। चार आदर्श केन्द्र जिनमें प्रत्येक में २० से लेकर ३० ग्राम तक थे खोले गए थे। नए केन्द्रों में ग्राम-सुधार का कार्य करने के लिये इन केन्द्रों में लोगों को शिक्षा दी जाती है।

कोचीन, मैसूर, बड़ौदा तथा काश्मीर आदि अन्य राज्यों में भी ग्राम सुधार का कार्य किया जा रहा है।

कार्य संचालन के साधन (Agencies of work)—प्रायः प्रत्येक प्रान्त या राज्य में ग्राम सुधार संगठन के कार्य का संचालन एक ही प्रकार से होता है। इसके संचालन के लिए कुछ कार्य सरकारी पदाधिकारियों द्वारा होता है और कुछ गैर सरकारी कर्मचारियों द्वारा। ग्राम सुधार के कार्य के नियंत्रण के लिए सरकार या तो एक अलग विभाग ही खोलती है, या किसी दूसरे विभाग में इसको मिला देती है। इन विभागों को परामर्श देने के लिए राष्ट्र-निर्माण-विभागों के अध्यक्षों की समितियाँ बनाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त सहकारी समितियाँ आदि भी ग्राम-सुधार के कार्यों में काफी सहयोग प्रदान करती हैं।

सरकार को छोड़कर ग्राम-सुधार कार्य का संचालन कुछ गैर सहकारी संघ, व समितियों द्वारा भी होता है। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ, बुनकर संघ, भारत सेवक समिति, तथा ईसाई

मिशनों द्वारा भी काफी कार्य किया गया है। दलित जातियों तथा आदिम जातियों की दशा को सुधारने के लिये अखिल भारतीय आदिम जाति संघ तथा उसके अन्तर्गत कार्य करने वाले भील सेवा मंडल तथा डाँग सेवा मंडल, व हरिजन सेवा संघ ने भी काफी कार्य किया है।

इस प्रकार ग्राम-सुधार सम्बन्धी कार्यों को करने के लिये कई संघ तथा समितियाँ प्रयत्नशील हैं। इन संघों ने ग्रामों में उत्तम बीज, अच्छे औजार, पशुओं की नस्ल सुधारना, ग्रामों में घरेलू उद्योग-धन्धों का विकास, स्वच्छता का प्रचार, प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था आदि का अच्छा कार्य किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ प्रदेशों में इस दिशा में अच्छा कार्य हुआ है। परन्तु इन सब कार्यों से न तो ग्रामीणों के दृष्टिकोण में ही कुछ विशेष परिवर्त्तन हुआ है और न इससे उनकी स्थिति में ही विशेष सुधार हुआ है।

ग्राम सुधार की प्रगति इतनी मन्द होने के कारण कई हैं। सर्वप्रथम भारत एक विशाल देश है, यहाँ पर सामाजिक, भौतिक तथा अन्य कई प्रकार की विभिन्नताओं की कमी नहीं है, अतएव बहुत थोड़े समय में कृषकों या ग्रामीणों के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन करना, उनकी दकियानूसी विचार-धारा को बदल देना सरल नहीं है।

दूसरे ग्राम सुधार की जितनी भी योजनाओं का निर्माण हुआ उन पर उचित रूप से विचार-विमर्श नहीं किया गया। ग्राम-सुधार की किसी भी योजना को कार्यान्वित करने के पूर्व आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण-समस्याओं की खूब छान-बीन की जाय, उनका खूब अध्ययन किया जाय, इसके पश्चात् ग्राम-सुधार आन्दोलन को प्रोत्साहन देने के लिये एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना की जाय।

ग्राम-सुधार आन्दोलन के विशेष सफलता प्राप्त न करने का एक कारण यह भी है कि अभी तक इस क्षेत्र में जो कार्य हुआ है वह सरकार की ओर से, जनता ने इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया। आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण जनता अपने कर्त्तव्य को स्वयं समझें, ग्राम-सुधार के लिए वह दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाय। ऐसे लोगों की शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था की जाय जो गाँवों में जाकर ग्राम-सुधार के कार्य को उत्साहपूर्वक कार्यान्वित करें।

ग्राम-सुधार आन्दोलन द्वारा ग्रामीणों की स्थिति में विशेष सुधार न होने का एक अन्तिम कारण यह भी है कि इस आन्दोलन ने ग्रामीणों की कुछ मूल समस्याओं की ओर बिल्कुल ध्यान ही नहीं दिया। उदाहरण के लिए न तो भूमि स्वत्व पद्धति की समस्या को, न काश्तकारों की दशा को न भूमि के उपादेयकरण को और न खेतों की चकबन्दी की ओर ही कुछ ध्यान दिया गया। अतएव जब तक इन समस्याओं को अच्छी प्रकार से हल नहीं किया जाता तब तक ग्रामीणों की दशा में विशेष सुधार की आशा करना व्यर्थ है।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

दुर्भिक्ष तथा हमारी खाद्य समस्या

प्राक्कथन—शताब्दियों से भारत दुर्भिक्षों की भयंकरता से भलीभाँति परिचित रहा है। यदि भारत के इतिहास पर हम एक दृष्टि डालें तो हमें पता चल जायगा कि भारतीय इतिहास के तीनों-हिन्दू शासन काल, यवन शासन काल, व अंगरेजी शासन काल—काल में दुर्भिक्ष का प्रकोप होता रहा है। हिन्दुओं के शासन काल में भारत में दुर्भिक्ष अवश्य पड़े होंगे यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सामग्री उपलब्ध नहीं है फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह युग प्रकृति के इस भीषण प्रकोप से बिलकुल बचा नहीं रहा।

हाँ यह अवश्य था कि जब भी इस युग में दुर्भिक्ष पड़ते तो उनको दूर करने के लिए तथा प्रजा को इस कष्ट से मुक्त करने के लिए उस समय के शासक कोई कोर-कसोर न छोड़ रखते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रजा को अकाल या दुर्भिक्ष के कष्ट से मुक्त करने के लिये जिन उपायों का उल्लेख किया है, उससे यह बात और भी सिद्ध हो जाती है।

मुसलमानों के शासन काल में भारत में कई बार दुर्भिक्षों का प्रकोप हुआ, इसका स्पष्ट उल्लेख हमें इस काल के इतिहासज्ञों की रचनाओं से मिलता है। वैसे तो इस काल में कई दुर्भिक्ष पड़े परन्तु इनमें से चार दुर्भिक्ष बड़े भयंकर थे। सबसे पहला अकाल या दुर्भिक्ष १३४३ ई० में पड़ा जब कि उत्तरी भारत में तुगलक वंश का सुल्तान मुहम्मद तुगलक शासन कर रहा था। यह दुर्भिक्ष बड़ा भयंकर था किन्तु सुल्तान ने इसको दूर करने के लिए काफी प्रयत्न किये। अकबर के भी शासन काल में भीषण अकाल पड़ा जिसके कुप्रभाव से ३-४ वर्ष तक जनता कष्ट भोगती रही। सम्राट अकबर ने भी जनता को इस कष्ट से मुक्त करने के लिए अपनी शक्ति भर प्रयत्न किया। शाहजहाँ के शासन-काल के पांचवे वर्ष में भारत में अत्यन्त ही भयंकर अकाल पड़ा। यह अकाल सारे भारत में फैल गया और सम्राट के काफी प्रयत्न करने के बावजूद भी लाखों बुभूक्षित प्राणी काल-कवलित हो गए। औरंगजेब के समय में भी एक बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। औरंगजेब ने दुर्भिक्ष निवारण के लिए जो प्रयत्न किए उनका उल्लेख जेम्स मिल ने काफी अच्छी तरह किया है।*

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में (१७६०-१८५७ तक) भारत में चार बार भयंकर अन्नाभाव हुआ तथा बारह बार अकाल पड़ा। इनमें से सन् १७७०, १७८४, १८०२ तथा १८३७ के अकाल बड़े भयंकर थे। परन्तु कम्पनी ने भारतीय जनता को इन अकालों से मुक्त करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये।

जब १८५८ में भारत का शासन इंगलैण्ड के सम्राट के हाथ में आ गया, तब से लेकर इस शताब्दी के अन्त तक कई बार भीषण अकाल पड़े और इसी काल में सरकार द्वारा अकाल नीति का निर्धारण हुआ तथा भारतीय जनता को अकाल से मुक्त करने के लिए कई प्रयत्न किए गए। इस युग में मुख्य अकाल ये थे :—

१८६० में	उत्तरी पश्चिमी भारत
१८६५ में	उड़ीसा
१८६८ में	राजपूताना

*देखिये जेम्स मिल का 'भारत का इतिहास'

१८७८ में बिहार
१८७६-७८ में दक्षिण भारत
१८९६-९७ में बंबई, मद्रास तथा मध्यप्रदेश
१८९९-१९०० में बंबई, मध्यप्रदेश, बरार, निजाम के राज्य तथा दक्षिण भारत में।

इसके पश्चात् १९०१ से लेकर १९४१ तक भारत में कई बार दुर्भिक्ष पड़े तथा खाद्यान्न की भीषण कमी हुई है। इनमें से १९०६-७ तथा १९०७-८ के दुर्भिक्ष बड़े भयंकर थे।

दुर्भिक्षों का कारण तथा उसका निवारण—दुर्भिक्ष या अकाल पड़ने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) वर्षा का अभाव या सूखा पड़ जाना। (२) अत्यधिक वर्षा। (३) बाढ़ का प्रकोप। (४) टिड्डियों का प्रकोप। (५) पौधों की बीमारियाँ। (६) कुछ अन्य बातों द्वारा फसलों का नष्ट हो जाना। तथा (७) अर्थाभाव।

कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत में कृषि पूर्णरूप से वर्षा पर ही निर्भर रहती है। यदि वर्षा आवश्यकता से अधिक होती है, या आवश्यकता से कम होती है तो अकाल की संभावना निश्चित हो जाती है। जंगलों के असावधानी पूर्ण काटे जाने के कारण कितने ही क्षेत्रों में नदियों में बाढ़ आई और बाढ़ से फसलों को भारी क्षति हुई। इसके अतिरिक्त पौधों में रोग आदि के फैल जाने से भी फसल को काफी धक्का पहुँचा। सन् १९४७ ई० में मध्यभारत में गेहूँ की सारी की सारी फसल पौधों के रोग के कारण से ही नष्ट हो गई। जब टिड्डियाँ फसलों पर आक्रमण करतीं तो वे फसल को बिल्कुल ही चौपट कर डालती हैं। इस प्रकार इन्हीं सब कारणों से भारत में समय-समय पर भीषण अकाल पड़े हैं, खाद्यान्न की भयंकर कमी हुई है।

वास्तव में भारत में दुर्भिक्ष पड़ने का एक मुख्य कारण यहाँ कि निर्धनता भी है। भारत अत्यंत दरिद्र देश है जिसकी तुलना अन्य किसी भी देश से नहीं की जा सकती। जब अकाल का हमारे ऊपर प्रकोप होता है तो निर्धनता के कारण हम उसका अच्छी तरह सामना नहीं कर पाते हैं। न तो हमारे पास पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित अन्न ही होता है और न द्रव्य ही जिससे कि अकाल का अच्छी तरह सामना किया जा सके। इस प्रकार हमारा यह अकाल अन्न का अकाल न होकर द्रव्य या धन का अकाल होता है।

इसका निवारण कैसे हो ?—दुर्भिक्ष से छुटकारा पाने के लिये भारतीय कृषि का सर्वाङ्गीण विकास करना होगा। कृषि के विकास के लिये उत्पादन की वृद्धि के सम्बन्ध में बहुत कुछ पीछे कहा जा चुका है, यहाँ पर हमें केवल यही कहना है कि सर्वप्रथम देश में सिंचाई की अच्छी व्यवस्था हो जानी चाहिए, जिससे हमें कृषि के लिये वर्षा पर ही न निर्भर रहना पड़े। बाढ़ को रोकने के लिये भी हमें प्रयत्न करना चाहिये। टिड्डियों के भय को दूर करने के लिये हमें पहले से ही तैयार रहना चाहिए तथा फसलों को इनके आक्रमण से बचाने के लिए पूर्णरूप से प्रयत्नशील रहना चाहिये। जहाँ तक पौधों के रोगों का सम्बन्ध है, उससे भी आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों तथा आविष्कारों की सहायता से भी छुटकारा पा सकते हैं। परन्तु जब तक हम अपने अर्थाभाव को दूर नहीं करते जब तक हम दुर्भिक्ष या खाद्य संकट का अच्छी तरह सामना करने में समर्थ नहीं हो सकते। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी आर्थिक स्थिति को अच्छा बनाकर इन सब दोषों को दूर कर दुर्भिक्ष या अकाल निवारण के लिये संगठित प्रयत्न करें।

दुर्भिक्ष निवारण नीति का विकास—दुर्भिक्ष निवारण नीति की दृष्टि से १८६५, १८७६-७८, १८९६-९७ तथा १८९९-१९०० के दुर्भिक्ष सबसे महत्वपूर्ण थे। वैसे तो १८६५ के

उड़ीसा के दुर्भिक्ष के पश्चात् राज्य ने अकाल निवारण के लिये एक अच्छा संगठित प्रयत्न किया परन्तु इस दिशा में सबसे अच्छा कार्य उस समय हुआ जब १८७६-७८ में दक्षिण भारत में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा और इसके निवारण के लिये सर रिचार्ड स्ट्रैचे की अध्यक्षता में एक दुर्भिक्ष कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन ने अकाल-निवारण के लिये कुछ सिद्धान्त निश्चित किए। वे सिद्धान्त निम्नलिखित थे :—

(१) कार्य करने योग्य व्यक्तियों को अच्छे परिश्रमिक पर कार्य दिया जाय।

(२) जो लोग काम करने के योग्य नहीं हैं उन्हें उनके गाँव में कुछ आर्थिक सहायता दी जाय।

(३) खाद्यान्न वितरण की अच्छी व्यवस्था की जाय।

(४) फसलों के नष्ट-भ्रष्ट या न होने की दशा में उन लोगों से जो भू-स्वामी हैं, मालगुजारी न ली जाय या ली जाय तो उचित रूप में ली जाय।

इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर प्रान्तों में दुर्भिक्ष निवारण के लिये विधियों का निर्माण हुआ। बाद में जब १८९६-९७ व १८९९-१९०० में दुर्भिक्षों का प्रकोप हुआ, तो इन कानूनों में और संशोधन किया गया और अकाल से जनता को मुक्त करने की चेष्टा की गई। इसी बीच सरकार ने डेढ़ करोड़ वार्षिक की 'फेमिन इन्स्योरेन्स ग्रान्ट' की स्वीकृति की। इससे भी दुर्भिक्ष के निवारण में काफी सहायता मिली। १८९६-९७ के दुर्भिक्ष के पश्चात् सर जेम्स लायल की अध्यक्षता में दूसरे फेमिन कमीशन की नियुक्ति की गई। इस कमीशन ने कुछ विशेष वर्गों के व्यक्तियों जैसे जुलाहों तथा पहाड़ी जातियों के लिये विशेष सहायता की सिफारिश की। इस कमीशन ने दातव्य कोषों के प्रबन्ध के लिये नियमों का निर्माण किया। इस प्रकार लोगों को अकाल दुर्भिक्ष के प्रकोप से मुक्त करने का प्रयत्न किया जा रहा था और लोग पूर्ण रूप से इस संकट से मुक्त नहीं हो पाए थे कि १८९९ में एक दूसरा दुर्भिक्ष पड़ा। यह दुर्भिक्ष १९०० तक चलता रहा। फलतः १९०१ में एक दूसरे दुर्भिक्ष आयोग (फेमिन कमीशन) की नियुक्ति की गई। इस कमीशन के अध्यक्ष सर एन्थानी मैकडोनेल थे। इस कमीशन ने लोगों को अकाल का धैर्यपूर्वक साहस से सामना करने के लिये प्रोत्साहित किया। कमीशन ने किसानों को तकावी ऋण देने का अनुरोध किया। इसके अतिरिक्त मालगुजारी की माफी तथा अन्य कई उपायों द्वारा दुर्भिक्ष निवारण के लिये सुझाव पेश किए। कमीशन ने पशुओं के लिये चारे की उचित व्यवस्था की ओर भी सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। राज्य की ओर से सिंचाई की उचित व्यवस्था तथा सहकारी समितियों की स्थापना का अनुरोध किया। इस प्रकार इन कमीशनों के सुझावों के अनुसार अकाल निवारण के लिये काफी प्रयत्न किये गये। सरकार ने अकाल निवारण के लिये तो प्रयत्न किये ही, साथ ही इस बात की भी कोशिश की कि भविष्य में अकाल या दुर्भिक्षों का प्रकोप भी न हो।

दुर्भिक्ष निवारण कोष (The Famine Relief Fund)—सन् १९१९ के कानून के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को यह आदेश दिया गया कि वे अपने-अपने प्रान्तों में दुर्भिक्ष-निवारण-कोष की स्थापना करें। इस कोष की रकम कुछ निश्चित दशाओं में अकाल निवारण के हेतु खर्च की जा सकती थी। सन् १९३५ के संविधान में दुर्भिक्ष निवारण के लिये अलग कोष स्थापित करने के लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई परन्तु कुछ प्रान्तीय सरकारों ने इस हेतु नवीन कोषों की स्थापना की। इसी समय भारतीय दुर्भिक्ष ट्रस्ट को (The Indian People's Famine Trust) जो कि १९०० में स्थापित किया गया था जयपुर के महाराज ने १६ लाख रुपये दान स्वरूप दिये। थोड़े ही वर्षों में अन्य समाजसेवी व्यक्तियों की उदारता स्वरूप इस ट्रस्ट के कोष में और वृद्धि हुई और इसकी रकम २८ लाख रुपए हो गई। १९३४ में इस कोष में और भी वृद्धि हुई जब कि संयुक्त प्रान्त (**अब उत्तर प्रदेश**) के फेमिन आरफेन्स फन्ड को उपरोक्त ट्रस्ट में मिला दिया गया। इस कोष

से जो कुछ आय होती है उसे जहाँ कहीं भी आवश्यकता होती है, अकाल निवारण आदि कार्यों के लिये खर्च किया जाता है।

दुर्भिक्ष निवारण की वर्तमान पद्धति—ऊपर हमने सरकार की दुर्भिक्ष सम्बन्धी नीति तथा दुर्भिक्ष निवारक कोषों के विषय में विचार किया। यहाँ हम दुर्भिक्ष निवारण की वर्तमान पद्धति पर विचार करेंगे।

आज सरकार को दुर्भिक्ष या अकाल का सामना करने के लिये सभी साधन उपलब्ध हैं। अकाल की सम्भावना होने पर सरकार पूर्णरूप से उसका सामना करने के लिये सावधान हो जाती है। अकाल की सूचना देने वाली बातों—जैसे अनावृष्टि, पशुओं का इधर-उधर घूमना, खाद्यान्न के भावों में वृद्धि—पर सरकार अपना पूरा ध्यान रखती है जिससे अकाल के प्रकोप के पूर्व ही वह उसका अन्त करने के लिये उद्यत रहे। इस प्रकार अकाल का सामना करने के लिये सरकार पहले से ही तैयार रहती है। यदि वर्षा नहीं होती तो सरकार अपनी नीति की शीघ्र ही घोषणा कर देती है, सरकार मालगुजारी माफ कर देती, तथा किसानों को खेतीबारी के लिये ऋण देने की व्यवस्था कर देती है। वर्षा के आगमन की सम्भावना पर किसानों को हल, पशु तथा बीज आदि खरीदने के लिये पूँजी की सहायता दी जाती है। जब फसल पक कर तैयार हो जाती है तो यह सहायता बन्द कर दी जाती है और गाँव में चिकित्सा संबन्धी सहायता की व्यवस्था की जाती है ताकि हैजा, मलेरिया आदि के प्रकोप से किसानों की रक्षा की जा सके क्योंकि इन दूषित बीमारियों के फैलने के कारण भी दुर्भिक्ष आदि के प्रकोप की संभावना रहती है।

सन् १९४३ में बंगाल में होने वाले दुर्भिक्ष के पूर्व तक इस पद्धति से, दुर्भिक्ष निवारण के उपरोक्त उपायों से अच्छी सहायता मिलती रही परन्तु बंगाल के अकाल में हमें इन साधनों से कुछ भी सहायता न प्राप्त हुई। बंगाल के अकाल को दूर करने के लिए इन साधनों से कुछ भी लाभ न हुआ।

बंगाल का अकाल—सन् १९३५ के अधिनियम से पूर्व चावल वाला प्रदेश बर्मा भारतवर्ष का ही अंग था। उस दशा में यहाँ पर विशेषकर गेहूँ का ही अभाव होता था। इस अभाव की पूर्ति आस्ट्रेलिया और कनाडा से आने वाले गेहूँ से पूरी हो जाती थी। जब बर्मा भारत से अलग कर दिया गया तो बर्मा रहित भारतवर्ष में चावल की कमी होने लगी। सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध के समय में बाहर से अन्नादि का आना बहुत कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त भारत में उस समय सरकारी प्रबन्ध भी अच्छा न था। इन सब बातों के परिणामस्वरूप बंगाल में १९४३ में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इस अकाल में १५ लाख, और दूसरे हिसाब लगाने वालों के मत से इसमें ३५ लाख आदमी मर गए। जो आदमी इस अकाल में रोगग्रस्त होकर कष्ट पाते रहे, उनकी संख्या अलग रही। इन अकाल की जाँच करने वाले वुडहेड कमीशन ने इसके जो कारण बताए हैं, उनमें से मुख्य ये हैं:—

(१) बर्मा का चावल न आना।

(२) बंगाल सरकार प्रान्त में अनाज के संग्रह तथा वितरण में असफल रही।

(३) जनता का बंगाल की सरकार में विश्वास नहीं था।

(४) भारत सरकार ने खाद्यान्न नीति निर्धारित करने में गलती की।

(५) बंगाल में अन्न की कमी होते हुए भी चावल का बाहर भेजा जाना।

(६) चोर बाजार और घूसखोरी का जोर रहा; आवश्यकता के समय सरकार जनता को अन्न देने में असमर्थ रही, इससे अनाज के मूल्य में छै गुनी वृद्धि हो गई।

(७) जापानी आक्रमण के भय से, नावों आदि पर सरकारी अधिकार के हो जाने से आन्तरिक व्यापार को बड़ा धक्का लगा।

(८) सन् १९४२ की 'अमन' की फसल के भी अच्छे न होने से खाद्यान्न की भीषण कमी हुई।

बंगाल के अकाल से देश में खाद्य संकट की विभीषिका का आभास मिल गया। तब से लेकर आज तक हमारी खाद्य सम्बन्धी स्थित सुधरी नहीं है देश में बराबर खाद्याभाव बना है। अब हम यहाँ देश की वर्त्तमान खाद्य परिस्थिति पर विचार करेंगे।

हमारी खाद्य समस्या

समस्या की गम्भीरता—आज से कुछ वर्षों पूर्व कौन जानता था कि हमारी खाद्य समस्या इतना गम्भीर रूप धारण कर लेगी। आज भी कितने ही ऐसे मनुष्य हैं जो खाद्य समस्या की गम्भीरता से पूर्णरूप से परिचित नहीं और जो लोग उससे परिचित भी हैं वे उसको इतना अधिक महत्व भी नहीं देते। परन्तु हमारी खाद्य समस्या ने आज जो गम्भीर रूप धारण कर लिया है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अपने सारे देश में खाद्य संकट की, विभिषका ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है, विश्व में युद्ध के बादल मंडरा रहे हैं और किसी भी समय भयंकर युद्ध छिड़ सकता है। इस प्रकार खाद्य संकट की विभीषका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि संसार के किसी भी भाग में यदि युद्ध छिड़ जाता है तो उसका प्रभाव हमारे खाद्यान्न आयात पर बहुत गहरा पड़ जायगा और ऐसी स्थिति में देश की दशा और भी भयंकर हो जायगी। आजकल विदेशों से प्रति सप्ताह या यह कहा जाय कि नित्य खाद्यान्नों के जहाज पर जहाज चले आ रहे हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी और यदि खाद्यान्नों के आने में जरा भी रुकावट हुई तो फिर इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जो दशा १९४३ के अकाल में बंगाल की हुई थी, वही दशा सारे देश की हो जायगी, देश दाने-दाने के लिए तबाह हो जायगा।

इस प्रकार हमारी यह खाद्य समस्या अन्य सभी समस्याओं से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। आज देश के बड़े बड़े से नेताओं, समाज के बड़े से बड़े विचारकों का मस्तिष्क इस समस्या को सुलझाने में उलझा हुआ है। इस समस्या ने भारतीय स्वतंत्रता के नवजात शिशु को बड़ा ही त्रसित कर रखा है, इसके कारण समाज में निराशा और असन्तोष का कुहरा छा गया है। अतएव यदि इस समस्या को भलीभाँति और यथाशीघ्र नहीं हल किया जाता तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत एक दूसरा ही चीन बन जायगा। हमारी खाद्य समस्या हमारे राष्ट्रोन्नायकों, हमारे शासकों तथा प्रत्येक भारतीय के लिए एक प्रकार की चुनौती है। समय का तकाजा है, युग की पुकार है, काल की मांग है कि हम मिल कर इस चुनौती को स्वीकार कर लें और इस संकट से मुक्त होने के लिए कमर कस लें। यह हमारे लिए बड़े खेद की बात है कि भारत जैसा कृषि प्रधान देश जहाँ की ७० प्रतिशत से भी अधिक जनता कृषि में ही लगी हुई है, अपने पेट भरने भर को भी अन्नोत्पादन नहीं कर पाता। यह हमारा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है कि हम अपना पेट भरने के लिए विदेशों के सामने हाथ फैलाए रहते हैं।

खाद्य समस्या की गम्भीरता उस समय और अखरती है जब हम राष्ट्र निर्माण के लिए अन्य रचनात्मक कार्य करना चाहते हैं। इस समस्या के कारण हम देश के आर्थिक विकास के लिए और अधिक प्रयत्न कर ही नहीं पाते। अतः हम जब तक इस समस्या से छुटकारा नहीं पा जाते, जब तक अपने रास्ते से इस रोड़े को नहीं हटा देते तब तक हमारा राष्ट्र के उत्थान की, देश के आर्थिक पुनर्निर्माण की आशा करना दुराशा मात्र है।

खाद्य समस्या की रूप रेखा—हमारी खाद्य समस्या के कई पहलू हैं, उसके कई अंग हैं और यदि हम इसको सफलतापूर्वक पूर्णरूप से हल करना चाहते हैं हमें उसके इन सभी पहलुओं

पर विचार करना होगा, उसके इन सभी अंगों को सुधारना होगा । हमारी खाद्य समस्या का प्रश्न कोई खाद्याभाव का ही प्रश्न नहीं है, वरन् और भी कुछ है । हमारे पास खाद्यान्न की कमी ही नहीं है, उसके साथ ही हमारा भोजन भी असंतुलित है, उसमें संतुलन का अभाव है । देश में जो खाद्यान्न उत्पन्न होता है, उसका वितरण भी उचित नहीं है । हम नीचे खाद्य समस्या के इन्हीं विभिन्न पहलुओं पर विचार करेंगे ।

खाद्याभाव (Food Shortage)—भारत के बहुत से लोगों को यह विश्वास दिलाना, कि हमारे देश में देश के सब निवासियों के लिए, पेट भरने के लिए पर्याप्त मात्रा में अन्न नहीं उत्पादित होता बहुत कठिन है इस बात पर बहुत कम लोग विश्वास करेंगे । यदि यह बात स्पष्ट भी हो गई कि देश में खाद्याभाव है, अधिक अन्न नहीं है तो वे लोग इसके लिए किसानों की स्वार्थ-पूर्णता, चोरबाजारियों की धूर्त्तता, सरकार की अकुशलता को ही उत्तरदायी ठहरावेंगे । यह कहा जाता है कि इस बात पर कई बार प्रकाश डाला जा चुका है कि देश में पर्याप्त मात्रा में अन्नोत्पादन नहीं होता, परन्तु फिर भी इस विषय पर न तो युद्ध के पूर्व ही और न युद्ध के दिनों में ही गंभीरता-पूर्वक विचार किया गया । युद्ध के दिनों में हमने खाद्य संकट को युद्धजनित संकट मान कर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली । परन्तु अब युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् भी हमारी खाद्य समस्या जैसी की तैसी बनी हुई है और कुछ दशाओं में तो यह पहले से भी बुरी हो गई है । खाद्य समस्या का प्रश्न भारतीयों के लिये एक रहस्यमय प्रश्न है । देश के महान् नेता गांधी जी का कहना था कि भारत में पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न उत्पन्न होता है अतः यहाँ 'कन्ट्रोल' या राशनिंग आदि की कोई आवश्यकता नहीं । इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे हैं जो इस बात के समर्थक नहीं हैं । आइये हम यहाँ पर देखें कि वास्तव में बात क्या है ।

सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग (फेमिन कमीशन) ने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा था कि भारत में ५० लाख टन खाद्यान्न की वार्षिक बचत होती है । सम्भवतः सिंचाई के साधनों के विकास से भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या को कुछ समय तक खाद्यान्न की सहायता मिलती रही । परन्तु जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ अन्नोत्पादन में वृद्धि नहीं हुई । १९१४ में दत्त-समिति जो वस्तुओं के मूल्य की जांच के लिए नियुक्त की गई थी, उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, 'देश में खाद्यान्न की जितनी माँग बढ़ी है, उसके साथ कुल खाद्योत्पादन में वृद्धि नहीं हुई है ।' इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान शताब्दी के तीन दशाब्दों तक जिस अनुपात से जनसंख्या में वृद्धि हुई उस हिसाब से खाद्योत्पादन में वृद्धि नहीं हुई । इसके पश्चात् १९३१-४१ में यह स्थिति और भी बिगड़ गई । इस समय अन्नोत्पादन वाले क्षेत्र में तो १.५ प्रतिशत वृद्धि हो गई, परन्तु अन्नोत्पादन में ४ प्रतिशत की कमी हो गई, जब कि उधर इस समय जनसंख्या में १५ प्रतिशत की वृद्धि हुई । इस प्रकार इस समय जनसंख्या की वृद्धि के हिसाब से खाद्यान्न पर्याप्त मात्रा में नहीं उत्पन्न हुआ । १९३३ में भारत सरकार के एक उच्च अधिकारी सर जान मेगा ने जो जाँच-पड़ताल की उससे यह पता लगा कि उस समय लगभग ४० प्रतिशत गाँव ऐसे थे जहाँ की जनसंख्या, खाद्योत्पादन की दृष्टि से अधिक थी ।

भारत में जनसंख्या की जो अत्यधिक वृद्धि होती जा रही है उसका पता अधिक मृत्यु संख्या, बुरा स्वास्थ्य, लोगों की आयु का कम होना, बीमारियों की अधिकता आदि से लग जाता है ।

डा० राधाकमल मुखर्जी के अनुसार भारत अपनी ८८ प्रतिशत जनता के लिए ही खाद्योत्पादन कर पाता है । विदेशों से हमें अन्न का बराबर आयात करते जा रहे हैं । १९४८ में १३० करोड़, १९४९ में १५० तथा १९५० में अनुमानतः २५० करोड रुपए के मूल्य का अन्न विदेशों से मंगाया

गया। १९५१ में इससे भी अधिक मूल्य के लगभग, २० लाख टन खाद्यान्न मंगाये जाने की संभावना है।

इधर की कुछ राजनीतिक घटनाओं ने हमारी खाद्य समस्या को और भी विकट बना दिया है। १९३७ में बर्मा के अलग हो जाने से हमारे यहाँ चावल की कमी हो गई। इधर देश के विभाजित हो जाने से हमारे हाथ से गेहूँ और चावल का प्रदेश निकल गया। इस प्रकार हमें बहुत ही सीमित साधनों पर एक बड़ी जनसंख्या का भार संभालना पड़ रहा है। हमें विभाजन के पूर्व की ७८ प्रतिशत जनता के लिए खाद्यान्न की व्यवस्था करनी पड़ती है जब कि यहाँ केवल ६९ प्रतिशत चावल तथा ६६ प्रतिशत गेहूँ उत्पन्न होता है। गेहूँ पैदा करने वाला सिंचाई का क्षेत्र केवल ५४ प्रतिशत ही हमारे हाथ में है। अच्छी सिंचाई वाला वह प्रदेश जिस पर कि भारत को गर्व था सब का सब पाकिस्तान में चला गया है जिसे केवल विभाजन के पूर्व की २० प्रतिशत जनता के लिए ही अन्न की आवश्यकता होती है। खाद्यान्न ही नहीं कपास और जूट का प्रदेश भी पाकिस्तान में चला गया है और जब तक हम अपने देश में कपास और जूट उत्पन्न नहीं करते तब तक इसके लिए भी हमें पाकिस्तान तथा अन्य देशों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा, क्योंकि जूट और कपास की सारी की सारी मिलें अपने क्षेत्र में ही हैं। अतएव हमें अखाद्य तथा खाद्य दोनों प्रकार की फसलें पैदा करने की ओर प्रयत्न करना है। खाद्य पदार्थों का यह अभाव हमारे ही देश में नहीं है वरन् अन्य देशों में भी है, किन्तु हमारे यहाँ यह समस्या इसलिए अधिक गम्भीर हो गई है कि देश की जनसंख्या अबाध गति से बढ़ती चली जा रही है, जब कि उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हो रही है।

देश के खाद्यान्नों में पोषक तत्वों का अभाव—जब लोग खाद्य समस्या के संबन्ध में विचार करते हैं तो साधारणतया वे उत्पादन की मात्रा या परिणाम की ओर ही विशेष ध्यान देते हैं, वे इस बात की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते कि इन खाद्यान्नों में पौष्टिक पदार्थ किस सीमा तक, किस मात्रा में पाये जाते हैं। अतः खाद्य समस्या का यह पक्ष भी अपना कम महत्व नहीं रखता। भारत में लोगों को कम या अपर्याप्त मात्रा में ही भोजन नहीं मिलता वरन् जो कुछ भोजन उन्हें प्राप्त होता है, उसमें यथेष्ट पौष्टिक पदार्थ भी नहीं होते। हमारे देशवासी जो भोजन करते हैं वह बिल्कुल ही असन्तुलित होता है। सर जान मेगो की जाँच के अनुसार भारत में केवल ३० प्रतिशत ऐसे व्यक्ति हैं जिनको संतुलित तथा पौष्टिक आहार प्राप्त होता है, ४१ प्रतिशत व्यक्तियों को साधारण आहार प्राप्त होता है और २० प्रतिशत तो ऐसे व्यक्ति हैं जो केवल नाम मात्र के लिये ही किसी प्रकार अपना पेट भरते हैं। अभी हाल में जो जाँचें हुई हैं उनसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयों का भोजन कितना असन्तुलित है। यहाँ के निवासियों को दूध, घी, दाल, गोश्त, मछली फल तथा शाक-सब्जी यथेष्ट मात्रा में नहीं प्राप्त होते। यहाँ पर दूध की प्रति व्यक्ति दैनिक खपत ७ औंस है जब कि ग्रेटब्रिटेन में ३९, डेनमार्क में ४०, न्यूजीलैण्ड में ६७ तथा फिनलैण्ड में ६३ औंस है।

हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि धनिक लोग सन्तुलित भोजन ही करते हैं और निर्धन लोग असन्तुलित। वास्तव में हमारे यहाँ क्या धनी, क्या निर्धन सभी लोगों का आहार असन्तुलित है। भारतीयों के भोजन को सन्तुलित बनाने के लिये फल, शाक-सब्जी, अण्डे, गोश्त आदि की उचित व्यवस्था करनी होगी। हमें इन वस्तुओं के उत्पादन को अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना होगा। अभी भारत में जितनी भूमि जोती-बोई जाती है उसके केवल ३ प्रतिशत में ही फल तथा शाक-सब्जी का उत्पादन होता है, दूध और घी की बात तो छोड़ ही दीजिये, जो अनाज उत्पन्न किया जाता है उसमें भी गेहूँ और चावल की मात्रा कम रहती है, ज्वार-बाजरा ही अधिकता से उत्पन्न किया जाता है।

सन् १९१० की अपेक्षा १९३८ में जौ के उत्पादन में १५७ प्रतिशत, ज्वार में २१० प्रतिशत जब कि चावल में १०३.५ प्रतिशत और गेहूँ में १०४.२ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीयों के भोजन में पौष्टिक पदार्थों के न होने के परिणाम-स्वरूप भारतीयों की आयु का ह्रास, मृत्यु संख्या की अधिकता तथा सूखा, बेरी-बेरी, एनीमिया आदि भयंकर बीमारियाँ अपना अड्डा जमा रही हैं।

शासन सम्बन्धी पहलू—खाद्यान्न के अभाव की समस्या उस समय और भी विकट हो जाती है जब देश की सरकार अकुशल तथा अयोग्य होती है। सरकारी अधिकारियों तथा नेताओं के खाद्याभाव संबन्धी लम्बे-लम्बे भाषणों को सुनकर जनता में घबराहट फैल जाती है, और किसान अपने उपजाए हुये अन्न को खाद्य संकट के भय से और भी अलग नहीं करना चाहता। खाद्य संकट कालीन स्थिति में लाभ कमाने वालों में अनाज को जमा रखने की भावना और प्रबल हो जाती है, क्योंकि वे यह सोचते हैं कि जैसे-जैसे समय बढ़ता जायगा, खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि होती जायगी। जब वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हो जाती है तो अधिकांश जनता को अन्न का प्राप्त हो जाना दुर्लभ हो जाता है, और यदि ऐसी दशा में सरकार अपना नियंत्रण नहीं रख पाती, राशनिङ्ग इत्यादि की अच्छी व्यवस्था नहीं करती तो इससे यह संकट और भी बढ़ जाता है। पिछले दिनों में देश को जिस खाद्य संकट का सामना करना पड़ा हैं, उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व हमारे सरकारी पदाधिकारियों पर भी है। यदि ये पदाधिकारी खाद्य समस्या को कुशलता, ईमानदारी तथा सावधानी से हल किये होते तो सम्भवतः हमारी खाद्य समस्या इतनी गम्भीर न होती जितनी कि आज है।

आर्थिक पहलू—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि हमारी खाद्य समस्या के मूल में आर्थिक समस्या है जिसके कारण हमारी यह समस्या और भी गम्भीर है। वास्तव में यदि यह कहा जाय कि हमारा यह अकाल अन्न का नहीं वरन् धन का है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। भारतीय जन समुदाय का अधिकांश निर्धनता के कराल पाश में आबद्ध है, उसमें मँहगी वस्तुओं के क्रय करने की अच्छी क्षमता नहीं। अतः इस कारण उसे बुभुक्षित या अर्द्ध बुभुक्षित रह जाना पड़ता है। हम तो यह बड़ी जल्दी कह देते हैं कि हम लोगों को पर्याप्त मात्रा में सन्तुलित आहार का सेवन करना चाहिये, मांस-मछली, दूध-घी, शाक-सब्जी, फल-फूल अधिक से अधिक मात्रा में सेवन करना चाहिये। परन्तु यह कहने से पूर्व क्या हम इस बात को भी सोचते हैं कि हममें से कितने ऐसे लोग हैं जो इन पदार्थों का उपभोग करने में समर्थ हैं। डा० एकरायड ने यह अनुमान लगाया था कि सन्तुलित आहार का प्रति व्यक्ति व्यय पाँच रुपया प्रति मास पड़ता है, जब कि साधारण असन्तुलित भोजन का व्यय ढाई रुपया पड़ता है। इस समय, वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण सन्तुलित आहार का सेवन करने में प्रति व्यक्ति, प्रति मास व्यय तीस रुपये से कम नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह है कि आज हमारी जो क्रय शक्ति है वह कम से कम जब दुगुनी हो जाय तभी हम सन्तुलित आहार के सेवन के योग्य हो सकते हैं। किन्तु राष्ट्रीय आय का दुगुना होना कोई साधारण बात नहीं है, इसके लिए अभी काफी समय लगेगा और हमें काफी प्रयत्न करना होगा। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि हमारी खाद्य समस्या कितनी विकराल है।

हम क्या करें ?—खाद्य समस्या के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम अपनी खाद्य समस्या के सुलझाने के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

खाद्याभाव को हल करने के लिये हमें विदेशों से अधिक से अधिक मात्रा में खाद्यान्न के आयात की व्यवस्था करनी चाहिये, साथ ही अपने देश में भी उत्पादन में वृद्धि करने के लिये सभी सामान्य प्रयत्नों को करना चाहिए। हमें गहरी तथा विस्तृत खेती की अच्छी व्यवस्था कर देश में अधिक से अधिक मात्रा में अच्छा अन्न उत्पन्न करना चाहिये। विदेशों पर अपनी खाद्य समस्या पर निर्भर रहना खतरे से खाली नहीं है। इधर हमारी जनसंख्या में भी वृद्धि होती चली जा रही है।

१९४५-४६ में हमारी जनसंख्या अनुमानतः ३३९० लाख, १९४८ में ३५०० लाख और १९५१ में ३६१८ लाख थी। यदि इसी दर से जनसंख्या में वृद्धि होती गई तो १९५३ में वह ३७१८ लाख, ३९६८ में १९५८ लाख तथा १९६३ में ४२२० लाख तक पहुँच जायगी। इस प्रकार आज जो देश में लगभग ५० लाख टन के खाद्यान्न का अभाव है, वह क्रमशः बढ़ता ही जायगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी खाद्य समस्या बड़ी भयंकर रूप धारण करती जा रही है। आवश्यकता इस बात की है कि हम खाद्यान्न के उत्पादन में काफी वृद्धि करें। खाद्य उत्पादन में वृद्धि करने के लिये हमें छोटी-छोटी सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करनी चाहिये। बड़ी योजनाओं से हम यथा शीघ्र-लाभ नहीं उठा सकेंगे।

खाद्य उत्पादन में वृद्धि तो होनी ही चाहिये। साथ ही खाद्यान्न को और अधिक पौष्टिक बनाने की ओर भी ध्यान देना चाहिये। अनाज के अतिरिक्त हमें फल और शाक-सब्जी को भी अधिक से अधिक उत्पन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए। पशुओं से मिलने वाले पदार्थों जैसे दूध, घी आदि की भी प्राप्ति का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए। मछली पकड़ने तथा मुर्गी पालने के धन्धे के विकास की ओर भी यथेष्ट ध्यान देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त सरकार को खाद्यान्नवितरण के लिये यथेष्ट प्रयत्न करना होगा। उसे वस्तुओं के मूल्य में पूरा नियन्त्रण रखना होगा, राशनिंग के क्षेत्र में और विस्तार करना होगा। खाद्य उत्पादन की योजनाओं को भी अच्छे ढङ्ग से कार्यान्वित करना होगा। घूसखोरी, चोरबाजारी, मुनाफाखोरी करने वालों को कड़े से कड़े दंड की व्यवस्था करनी होगी, तभी हम अपने सीमित साधनों पर देश की खाद्यान्न की माँग की पूर्ति कर सकेंगे।

इस सम्बन्ध में एक बात और कहना है कि हमें अपने देश से निर्धनता का सदा के लिये अन्त कर देना होगा। यह हमारे लिये बड़े आश्चर्य की बात है कि देश में प्राकृतिक साधनों की इतनी बहुलता होते हुए भी हम निर्धन बने हुए हैं। इसके लिये हमें देश में औद्योगीकरण की अच्छी व्यवस्था करनी होगी तथा कृषि के धन्धे को जो अभी तक केवल जीवन-निर्वाह का ही धन्धा बना हुआ है, एक व्यावसायिक धन्धे के रूप में परिवर्त्तित करना होगा। इन सब बातों के साथ ही साथ हमें अपने देश की इस बढ़ती हुई जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिये भी कुछ प्रयत्न करने होंगे।

अभी तक हमने क्या किया है?—ऊपर हमने देखा कि हमारी खाद्य-सम्बन्धी वर्त्तमान स्थिति क्या है। अब हम यहाँ पर इस बात पर विचार करेंगे कि अभी तक हमारी सरकार ने खाद्य समस्या हल करने के लिये क्या-क्या प्रयत्न किए हैं। सन् १९४२ में खाद्य पदार्थों के मूल्य में उनके एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाने में नियन्त्रण रखने के लिए, खाद्यान्नों के वितरण आदि के लिये सरकार ने एक खाद्य-विभाग (Food Department) की स्थापना की थी। इस खाद्य-विभाग का कार्य उन क्षेत्रों में जहाँ कि खाद्यन्नों की बचत थी, कमी नहीं थी, वहाँ ये कमी वाले क्षेत्रों को खाद्यान्न भेजने की व्यवस्था करना था। साथ ही अखिल भारतीय सिद्धान्त के आधार पर अन्नोत्पादन के लिये भी प्रयत्न करना इसी का काम था। जुलाई १९४३ में एक खाद्यान्न नीति समिति (A Food Grains Policy Committee) की नियुक्ति की गई। इस समिति ने एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में राशनिंग की व्यवस्था करने के लिये, अनाज को एकत्रित कर रखने को रोकने के लिये अनुरोध किया। समिति का सबसे बड़ा सुझाव 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन था। सरकार ने समिति के सुझाओं को स्वीकार कर लिया और इसी के अनुरूप उसने अपनी खाद्यन्न नीति निर्धारित की।

सरकारी खाद्यान्न नीति के मुख्य दो अंग थे—(१) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन, १९४३-

१९४७ (Grow More Food Compaign) तथा (२) पंचवर्षीय खाद्य योजना, १९४७-१९५२ (Five year Food Plan) । अब यहाँ पर इन पर अलग-अलग विचार करेंगे ।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन—अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने वाली भूमि के क्षेत्रफल में अधिक से अधिक वृद्धि करना ।

(२) दोहरी फसलें करके उत्पादन बढ़ाना ।

(३) सिंचाई की अच्छी व्यवस्था करना ।

(४) अच्छी खाद की व्यवस्था करना ।

(५) उत्तम बीजों के अधिक से अधिक मात्रा में वितरण का प्रबन्ध करना ।

भारत सरकार ने इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये प्रान्तीय सरकारों को कुछ आर्थिक सहायता दी तथा उनको यह आदेश दिया गया कि वे अपने-अपने क्षेत्रों के अन्तर्गत नई भूमि का उपादेयकरण करें, सिंचाई के साधनों का विकास करें, हरी खाद तथा अन्य खाद व उत्तम बीजों की सुविधा किसानों को प्रदान करें । इसके अतिरिक्त भारतीय पशु धन की रक्षा करना, ट्रैक्टरों का आयात करना, फसलों के उत्पादन का नियन्त्रण करना, कृषि अनुसन्धान की योजनाओं को प्रोत्साहन आदि प्रदान करने की ओर भी ध्यान दिया गया ।

योजनाओं को कार्यान्वित करने का सारा भार राज्यों की ही सरकारों पर था । इन योजनाओं में व्यय होने वाली रकम का आधा भाग राज्यों की सरकारों ने अपने कोष से व्यय किया, आधी रकम उन्हें केन्द्रीय सरकारों से प्राप्त हुई ।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के लिये जो कुछ कार्य हुआ उसका थोड़ा सा आभास हमें नीचे लिखी बातों से लग जायगा । लगभग ५० लाख टन खली की खाद, ४.२ लाख टन अमोनिया सलफेट, २०.८ लाख टन दूसरी खाद तथा लगभग ६,००० टन उत्तम सरकारी बीजों के वितरण की व्यवस्था की गई । छोटी सिंचाई की योजनाओं में ६४,००० कुएँ, ५०० ट्यूबवेल, ३००० तालाब आदि के खोदाई का प्रबन्ध किया गया ।

आंदोलन का परिणाम—अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के इतने अधिक प्रचार के बावजूद भी उसे अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई और अन्न सम्बन्धी स्थिति के सुधारने के स्थान पर, दशा और भी बिगड़ती गई । हाँ उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, आसाम और बंगाल आदि कुछ थोड़े से प्रदेशों में अधिक भूमि पर अन्न उत्पन्न किया गया और कुछ ऐसी भूमि पर भी कृषि की गई जिस पर कि पहले खेती नहीं की गई थी । जबकि एक ओर इन प्रदेशों में खाद्य पदार्थों के उत्पन्न करने वाले क्षेत्र में वृद्धि हुई तो दूसरी ओर कपास के क्षेत्रफल में ५३ लाख एकड़ की कमी हो गई । उसका कारण यह था कि कपास वाली इस भूमि को अन्न उत्पादन करने के कार्यों में ही प्रयुक्त किया गया ।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन असफल क्यों ?—ऊपर हम यह कह चुके हैं कि खाद्य समस्या के हल करने में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन से विशेष सहायता नहीं प्राप्त हुई । हम यहाँ पर इस आन्दोलन के असफल होने के कुछ कारणों पर थोड़ा प्रकाश डालेंगे । कृषि के विकास के लिये, उत्पादन में वृद्धि के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता सिंचाई की होती है । जब तक सिंचाई की अच्छी सुविधा नहीं प्राप्त होती तब तक उत्पादन में वृद्धि की कोई आशा नहीं की जा सकती । इस आन्दोलन में सिंचाई के साधनों के विकास के लिये करोड़ों रुपये खर्च किए गये, किन्तु इससे कोई विशेष लाभ न मिला । हमारा खाद्यान्न उत्पन्न करने वाला केवल २५ प्रतिशत

ही ऐसा क्षेत्रफल है जिसमें सिंचाई की अच्छी एवं स्थाई व्यवस्था है, शेष ७५ प्रतिशत भाग को वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है। भारत में वर्षा कितनी अनिश्चित है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। १९४५-४६ में मदरास में, वर्षा न होने के कारण, आन्दोलन की सारी योजनाएँ असफल रहीं।

जहाँ तक 'खाद' (Manures) का सम्बन्ध है, इस दिशा में भी कोई अच्छी प्रगति नहीं हुई। भूमि पर अधिक भार होने के कारण हरी खाद से कोई विशेष लाभ न मिला, हड्डियों की खाद बहुत कम मात्रा में मिलती है, खली का प्रयोग जितना खाद के रूप में नहीं होता उतना पशुओं के खिलाने में होता है। किसान को सस्ते ईंधन न मिलने के कारण, गोबर को ही ईंधन के काम में लाना पड़ता है, इस प्रकार गोबर की खाद का भी अच्छा उपयोग नहीं हो पाता। विदेशों से भी अपनी आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में खाद का मंगाना सम्भव नहीं है। खाद का आयात 'अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य-परिषद' (International Emergency Food Council) के हाथ में रहता है, वही किस देश को कितनी खाद भेजी जाय निश्चित करती है। अभी तक हमने जितनी खाद की विदेशों से मांग की है, उसका केवल ५० प्रतिशत ही हमें मिला है, इस प्रकार यह भी एक बड़ी कठिनाई है।

अब रही उत्तम बीजों की बात, सो उसके भी विस्तार के लिए काफी समय लगता है। लोहे, और फौलाद के अभाव के कारण अच्छे औजारों के निर्माण में भी काफी कठिनाई रही, विदेशों से हमें जितने ट्रैक्टर आदि की आवश्यकता हुई, वे नहीं मिले। इसके अतिरिक्त अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन का क्षेत्र भी कम ही था, कुल १९ करोड़ एकड़ भूमि में से ८० लाख एकड़ भूमि में ही आन्दोलन ने अपने प्रयोग किए। इस प्रकार ऐसी परिस्थितियों में यह आशा करना कि आन्दोलन अच्छी सफलता प्राप्त कर सकता था, दुराशा मात्र था।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के परिणामों को देख कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस आन्दोलन में जिन साधनों द्वारा, जिन उपायों द्वारा भारतीय कृषि की समस्या को हल करने का, अधिक अन्न उपजाने का प्रयत्न किया गया, वे ऐसे साधन नहीं थे जिनसे कृषि का स्थाई विकास होता। ये तो केवल तत्कालीन खाद्याभाव को दूर करने के लिये ही थे। इस आन्दोलन का उद्देश्य सीमित ही था। खाद्य समस्या को स्थाई रूप से हल करने के लिए न तो आन्दोलन ने कोई लक्ष्य बनाया था, और न कोई निश्चित नीति ही निर्धारित की थी। उसका लक्ष्य या नीति केवल यही थी कि तत्कालीन खाद्याभाव के संकट से जनता को मुक्त किया जाय। अतः यदि आन्दोलन के कार्यों के कोई अच्छे एवं स्थाई परिणाम नहीं निकले तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।

खाद्यान्न नीति समिति, १९४७-४८—(The Food Grains Policy Committee) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के असफल होने पर सरकार ने खाद्य सम्बन्धी स्थिति पर विचार करने, खाद्य समस्या हल करने, के लिये १९४७ के सितम्बर में एक खाद्यान्न नीति समिति की नियुक्ति की थी। इस समिति ने खाद्य समस्या को सुलझाने के लिये कई सुझाव पेश किए।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के विषय में विचार प्रगट करते हुए समिति ने कहा कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिन उपायों द्वारा खाद्य समस्या हल करने का प्रयत्न किया गया वे अच्छे थे, परन्तु इन उपायों को कार्य रूप में परिणित करने की पद्धति अच्छी नहीं थी। समिति का ऐसा विचार था कि यदि आन्दोलन अपनी कार्य पद्धति में आमूल परिवर्तन करता और उत्पादन की नई नीति निर्धारित करता तो उसे अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हो गई होती।

भारतीय खाद्य समस्या सम्बन्धी कई कठिनाइयां हैं। उनमें से मुख्य ये हैं—एक तो वर्तमान जनसंख्या की दृष्टि से जितना अनाज उत्पन्न होता है, वह पर्याप्त नहीं, दूसरे वर्ष भर

में उत्पन्न होने वाले अनाज में काफी उतार-चढ़ाव हुआ करता है, तीसरे कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ सदैव अन्नाभाव रहता है।

समिति का कथन है कि इन कठिनाइयों या बाधाओं के होते हुये भी, गहरी खेती, सिंचाई की अच्छी व्यवस्था, अधिक खाद तथा उत्तम बीजों की सहायता से हम अधिक अन्न उत्पन्न करने में, देश की खाद्य समस्या हल करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

कमी वाले क्षेत्रों में जहाँ वर्षा कम होती है, तथा उत्पादन की मात्रा अधिक नहीं है, वहाँ पर सिंचाई के अच्छे साधनों तथा सूखी कृषि की पद्धति द्वारा अच्छी सफलता प्राप्त की जा सकती है। यहाँ के निवासियों की आर्थिक स्थिति अच्छा करने के लिये घरेलू उद्योग-धन्धों की स्थापना से अच्छी सहायता प्राप्त हो सकती है।

जहाँ तक ऐसी भूमि का सम्बन्ध है जिस पर खेती की जा सकती है पर की नहीं जाती, समिति का कथन है कि अभी तक इस दिशा में जो प्रयत्न किए गये हैं वे बड़े असन्तोषजनक हैं। ऐसे भू भागों के उपादेयकरण का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर होना चाहिये। राज्यों तथा केन्द्रीय सरकारों के कृषि सम्बन्धी कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये समिति ने केन्द्र तथा राज्यों में बोर्ड स्थापित करने का सुझाव रखा था। भूमि के उपादेयकरण की योजना को कार्यान्वित करने के लिये समिति ने यह सुझाव पेश किया कि एक केन्द्रीय भूमि उपादेयकरण संघ (Central Land Reclamation Organisation) की स्थापना की जाय, जिसकी पूँजी ५० करोड़ रुपये हो और जो कि केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान की जाय।

समिति ने यह सुझाव पेश किया कि खाद्यान्नों के आयात के अधिकार पर केन्द्रीय सरकार का एकाधिपत्य रहे तथा केन्द्रीय सरकार केन्द्र में १०० लाख टन गेहूँ और चावल को सुरक्षित रखे। समिति ने खाद्योत्पादन की एक पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वित करने का भी अनुरोध किया।

खाद्यान्न उत्पादन की पञ्चवर्षीय योजना (१९४७-४८ से १९५१-५२ तक)—खाद्यान्न समिति के सुझावों के अनुसार भारत में खाद्यान्न के उत्पादन की एक पञ्चवर्षीय योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है। इस योजना के अनुसार पाँच वर्ष के अन्त में खाद्य उत्पादन में लगभग ३० लाख की वृद्धि होनी चाहिये। इस योजना की मुख्य बातें ये हैं:—सिंचाई के साधनों के विकास के लिये कुएँ खोदना, ट्यूबवेल आदि खोदना, भूमि के उपादेयकरण तथा उसके विकास के लिये अन्य प्रयत्न करना। रासायनिक खाद, खली की खाद, हरी खाद, उत्तम बीज तथा अच्छे औजारों आदि की व्यवस्था करना। सरकार की खाद्य सम्बन्धी नवीन नीति यह है कि जिन क्षेत्रों में सिंचाई की अच्छी व्यवस्था है वहाँ पर गहरी खेती की व्यवस्था की जाय। ६० लाख एकड़ भूमि के उपादेयकरण के हो जाने से यह आशा की जाती है कि लगभग बीस लाख टन और अधिक अन्न का उत्पादन हो जायगा। सरकार फल तथा शाक-सब्जी के उत्पादन के लिये कृषकों को प्रोत्साहित कर रही है। कृषकों की सहायता प्राप्त करने के लिये कृषक-संघों की स्थापना का विचार किया गया है। इस योजना में लगभग २८२ करोड़ रुपये के व्यय होने का अनुमान है।

योजना की सफलता—सभी राज्यों में खाद्य उत्पादन का कार्य बड़े जोरों से किया जा रहा है। लाखों की संख्या में कुएँ खोदे गये हैं तथा सिंचाई की कितनी ही छोटी-छोटी योजनाएँ पूरी की जा चुकी हैं। लाखों एकड़ भूमि का उपादेयकरण किया जा चुका है। हजारों टन बीज तथा खाद का वितरण किया जा रहा है। ट्रैक्टरों से कृषि करने का विस्तार हो रहा है। मैसूर में ४०,००० एकड़ भूमि में दोहरी फ़सल पैदा की जा रही है। उड़ीसा में भूमि के उपादेयकरण के लिये २५ रु० प्रति एकड़ निश्चित किया गया है। सौराष्ट्र में सम्मिलित कृषि समितियों का संगठन किया जा रहा है। मदरास में भी सरकार ने कुछ वह भूमि जो जंगलों के लिये सुरक्षित रख छोड़ी थी उस पर कृषि

करने की अनुमति दे दी है। उसमें कृषि करने के लिये सहकारी समितियों का संगठन किया गया है।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी तकाबी ऋण देने के नियमों में कुछ सुधार किया है तथा अधिक अन्न उत्पादन करने वालों को पारितोषिक देने की व्यवस्था की है। इसके परिणामस्वरूप प्रति एकड़ भूमि में ५८ मन १३ सेर तक अन्न का उत्पादन हुआ है, जब कि देश में प्रति एकड़ उत्पन्न होने वाले अन्न का औसत केवल ८ मन ही है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में खाद उत्पादन को भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है, फसलों की रक्षा के लिये किसानों को बन्दूकें आदि दी जा रहीं हैं।

१९४९-५० में ६७१२४ कुएँ खोदे गये तथा उनकी मरम्मत की गई, सिंचाई के छोटे-छोटे १३५८१ साधनों को पूरा किया गया, ३,८६३ तालाबों की मरम्मत तथा उनका निर्माण किया गया। ३,४४८३० एकड़ भूमि में यन्त्रों द्वारा कृषि की गई, ३,०६१०३ टन खाद आदि का वितरण किया गया। ५४,४४६ टन उत्तम बीजों का वितरण किया गया। राज्यों की सरकारों ने ५,७४०१९ तथा केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ ने ७१,७७१ एकड़ भूमि का उपादेयकरण किया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १९४९-५० में सिंचाई की योजनाओं द्वारा, निश्चित लक्ष्य (टार्जेट) का १६३ प्रतिशत उत्पादन किया जा सकेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में खाद्य उत्पादन में वृद्धि करने के लिये कई प्रयत्न किये जा रहे हैं परन्तु भारत की खाद्य समस्या को एक या दो साल में हल करना सम्भव नहीं है। भूतपूर्व खाद्यमन्त्री श्री जयरामदास दौलतराम जी के शब्दों में "जब तक सिंचाई के बड़े-बड़े साधनों का विकास नहीं किया जाता, जब तक सहस्त्रों की संख्या में ट्यूबवेल नहीं खोदे जाते, जब तक लाखों एकड़ की संख्या में भूमि नई को खेती के योग्य नहीं बनाया जाता, तब तक इस बढ़ती हुई जनसंख्या की जो कि ४० लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ रही है, खाद्य सम्बन्धी माँग को अच्छी तरह पूरा नहीं किया जा सकता।" भारत में अन्य देशों की अपेक्षा भूमि पर भार भी अधिक है। यहाँ पर प्रति व्यक्ति २·२५ एकड़, भूमि का है जब कि चीन में ६ एकड़, संयुक्त राष्ट्र अमरीका में १३ एकड़, सोवियत रूस में २८ एकड़ है। हमें अपने आर्थिक विकास द्वारा भूमि के इस भार को भी कम करना चाहिये, तथा प्रति एकड़ भूमि में अधिक से अधिक अन्न का उत्पादन कर देश को इस दिशा में स्वावलम्बी बनाना चाहिये।

खाद्य संकट, १९५०—अधिक अन्न उत्पादन के लिये सभी राज्यों में जोरों से कार्य चल रहा था कि इसी बीच (१९५०-जून-अगस्त) से कुछ दैवी प्रकोपों के हो जाने से खाद्य सम्बन्धी स्थिति और भी भयंकर तथा विकट हो गई। बिहार में कुसमय वर्षा के कारण वहाँ की ६० प्रतिशत फसल नष्ट हो गई। गुजरात तथा सौराष्ट्र में अत्यधिक वर्षा के कारण, उत्तर प्रदेश, बंगाल व बिहार में बाढ़ के कारण, आसाम में भूकम्प के कारण हमारी फसलों को बड़ा धक्का पहुँचा। उधर कोरिया में युद्ध के छिड़ से लोगों ने अनाज को दबा कर रखना प्रारम्भ कर दिया इससे बाजारों में गल्ले का आना कम हो गया। इन सब बातों से देश की खाद्य समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया, बिहार तथा मदरास जैसे क्षेत्रों में सैकड़ों आदमी भूख के कारण मौत के शिकार बने। खाद्य संकट की इस विभीषिका से मोर्चा लेने के लिये नई दिल्ली में सभी राज्यों के मुख्य मंत्रियों का एक सम्मेलन आमंत्रित किया गया जिसमें खाद्य सम्बन्धी एक निश्चित नीति निर्धारित की गई। इस सम्मेलन में निम्नलिखित बातें भी निश्चित की गईं :—

(१) केन्द्र तथा राज्यों की खाद्य सम्बन्धी नीति के निर्देशन में एकरूपता होना आवश्यक समझा गया।

(२) खाद्य में १९५१ तक स्वावलम्बी होने की लक्ष्य-तिथि (टार्जेट-डेट) को स्वीकार किया गया तथा इस समय के अन्दर में खाद्य में स्वावलम्बी होने के प्रयत्न को पूर्ण करने का निश्चय किया गया।

(३) खाद्य समस्या को युद्धकालीन समस्या मानकर उसे प्राथमिकता देने का विचार किया गया।

(४) सभी राज्यों में कन्ट्रोल वाले खाद्यान्न के उत्पादन में खूब वृद्धि करने पर जोर दिया गया।

(५) सम्मेलन ने चोरबाजारियों तथा मुनाफेखोरों को कड़े दंड देने का निश्चय किया।

(६) विभिन्न राज्यों के खाद्यान्नों के मूल्य में सामञ्जस्य स्थापित करने का विचार किया गया।

(७) सम्मेलन ने गन्ने सम्बन्धी स्थिति को भी सुधारने पर विचार किया।

इस प्रकार सरकार देश की खाद्य सम्बन्धी स्थिति को सुधारने की ओर काफी प्रयत्नशील है, परन्तु अभी हाल में खाद्य सम्बन्धी स्थिति सुधरती हुई नहीं दिखाई पड़ती। हमें अपने देश को इस क्षेत्र में स्वावलम्बी बनाने के लिये काफी प्रयत्न करना होगा। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार तथा जनता अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति समझे तथा इस समस्या को हल करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाय।

सोलहवाँ परिच्छेद

मालगुजारी प्रथा

प्राक्कथन—भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जमीन की मालगुजारी (रेवेन्यू) का विशेष महत्व है। भारत में मालगुजारी प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से है। हिन्दू शासन काल में भूमि पर गाँव वालों का अधिकार होता था और समस्त भूमि राजा की सम्पत्ति मानी जाती थी। राजा को उपज का प्रायः $\frac{1}{6}$ भाग मिलता था, आवश्यकता के समय या कुछ विशेष परिस्थितियों में $\frac{1}{4}$ भाग मिलता था। यह मालगुजारी प्रायः किस्म के रूप में ही ली जाती थी।

जब यहाँ पर मुसलमानों का आगमन हुआ और शासन-सत्ता उनके हाथ में आ गई तो उन्होंने भी इस दिशा में अपने क्रियात्मक कदम उठाये। सबसे पहले तैमूर ने मालगुजारी की दर के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त निश्चित किये। इसके बाद (१५४०-४५) में शेरशाह ने इस सम्बन्ध में कुछ कार्य किया किन्तु उसका शासन-काल इतना कम था कि वह इस दिशा में विशेष कार्य न कर सका। इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य अकबर के शासन काल में उसके अर्थ मन्त्री राजा टोडरमल द्वारा हुआ। इस समय कुछ वर्षों के लिये मालगुजारी निश्चित कर दी गई। यह मालगुजारी किस्म के बजाय अब नकदी में ली जाने लगी। उत्पादन में $\frac{1}{3}$ भाग का अधिकारी राज्य होने लगा। इस प्रकार मुगलों ने हिन्दू काल की ही मालगुजारी प्रथा में कुछ परिवतन-परिवर्द्धन करके उसे अपना लिया।

इसके बाद जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में शासन-सत्ता आई तो मालगुजारी प्रथा में काफी परिवर्तन किया गया। इस समय सरकार द्वारा भूमि के बन्दोबस्त का प्रबन्ध किया गया तथा मालगुजारी की दर निश्चित कर दी गई। अब राज्य भूमि का सबसे बड़ा स्वामी होता है और भूमि से जो मालगुजारी प्राप्त होती है, वह जमीन के किराये के समान होती है। हम आगे भारत में प्रच-लित मालगुजारी की वर्तमान प्रणालियों का पद्धतियों पर प्रकाश डालेंगे।

मालगुजारी की विभिन्न प्रणालियाँ भारत में प्रथा का वर्गीकरण करते समय हमारे सामने दो दृष्टिकोण मुख्य रूप से आते हैं। इन्हीं दो दृष्टिकोणों को ही सामने रखकर वर्गीकरण कर सकते हैं। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार हमें यह देखना होता है कि क्या मालगुजारी का निर्धारण सदा के लिये कर दिया गया है या उसमें समय-समय पर संशोधन किया जाता है। पहले प्रकार की व्य-वस्था को स्थायी बन्दोबस्त कहा जाता है और दूसरे को अस्थायी बन्दोबस्त। अस्थायी बन्दोबस्त में प्रायः २० से लेकर ४० वर्षों के बाद बन्दोबस्त में हेर-फेर किया जाता है। हम स्थायी व अस्थायी बन्दोबस्तों पर अगले पृष्ठों में विचार करेंगे।

मालगुजारी के वर्गीकरण में दूसरा दृष्टिकोण मालगुजारी देने वालों के उत्तरदायित्व के आधार पर निश्चित किया जाता है इसके अनुसार तीन प्रकार की मालगुजारी प्रथाएँ हैं :—

(१) जमींदारी प्रथा—इस प्रथा के अनुसार मालगुजारी देने का उत्तरदायित्व जमींदार या भू-स्वामी पर होता है। जमींदार किसानों से मालगुजारी वसूल करता और सरकार द्वारा निश्चित मालगुजारी को सरकारी कोष में जमा करता है। यह प्रथा मुख्य रूप से बंगाल तथा उत्तर प्रदेश में प्रचलित है।

(२) रैय्यतवारी प्रथा—इस प्रथा के अनुसार जमीन या खेतों का प्रत्येक काश्तकार मालगुजारी देने के लिये व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार होता है। भूमि का स्वामी मालगुजारी

देने के लिये व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होता है। यह प्रथा मुख्य रूप से बम्बई तथा मदरास में प्रचलित है।

(स) महलवारी प्रथा—इस प्रथा के अनुसार जमींदार या तालुकेदार आदि अपने हिस्से की अथवा गाँव वाले मिलकर कुल गाँव की, मालगुजारी सरकार को चुकाने के लिए उत्तरदायी होते हैं। यह प्रथा पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित है।

भारत में २५ प्रतिशत क्षेत्रफल स्थायी बन्दोबस्त के अनुसार जमींदारी बन्दोबस्त में; ३९ प्रतिशत अस्थायी बन्दोबस्त के अनुसार जमींदारी व महलवारी में; रैय्यतवारी बन्दोबस्त में कुल क्षेत्रफल का ३६ प्रतिशत है।

स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement)—भूमि के वर्गीकरण, मालगुजारी की दर, भूमि से सम्बन्धित व्यक्तियों के अधिकार आदि की व्यवस्था करना बन्दोबस्त कहलाता है। बन्दोबस्त करने के लिए भूमि सम्बन्धी पूरा लेखा तैयार किया जाता है। भूमि पर किनका स्वामित्व है और खेती करने का किनको अधिकार है, कितनी मालगुजारी देने का उत्तरदायित्व किन पर है, आदि बातों का लेखा रहता है। प्रत्येक बन्दोबस्त के समय भूमि की पैमायश तथा उसका निरीक्षण होता है, और इसका नकशा तैयार किया जाता है। बन्दोबस्त स्थायी (Permanent) या अस्थायी (Temporary) दो प्रकार का हो सकता है।

सबसे पहले १७९३ में बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त हुआ था। स्थायी बन्दोबस्त के अनुसार वहाँ पर उन जमीदारों को उस भूमि का जिसकी वे मालगुजारी वसूल करते थे, पूर्ण वैधानिक स्वामी घोषित कर दिया गया। जमींदारों को जो भूमि स्वामित्व के वैधानिक अधिकार दिए गए, उसके साथ मालगुजारी देने का उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर रखा गया। मालगुजारी हमेशा के लिए निश्चित कर दी गई और यह व्यवस्था कर दी गई कि यदि जमींदार निश्चित समय पर मालगुजारी नहीं देगा तो उसकी रियासत बेच दी जावेगी। जो लगान जमींदार को किसानों से मिलता था उसका $\frac{१०}{११}$ में से दस भाग मालगुजारी निर्धारित किया गया। ११ में से एक भाग पर जमींदार का अधिकार रहा।

जैसे धीरे-धीरे भूमि के मूल्य में वृद्धि होती गई, लगान में भी वृद्धि हो गई अतएव जमींदार की आय भी काफी बढ़ गई। १९०० में यह अनुमान लगाया गया कि मालगुजारी, जो सरकार को स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों से प्राप्त होती थी, वह चार करोड़ से कम थी जब कि उसी क्षेत्र में लगान से होने वाली आय साढ़े सोलह करोड़ से कम नहीं थी।

बंगाल के पश्चात यह बन्दोबस्त उत्तर प्रदेश के बनारस डिवीजन तथा मदरास राज्य के उत्तरपूर्वी जिलों में भी प्रचलित किया गया। कुछ समय तक स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध काफी विरोध होता रहा किन्तु बाद में १८८३ में इस प्रकार के विरोधी प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिए गए। बंगाल के लैण्ड रेवेन्यू कमीशन (१९३८-४०) ने स्थायी बन्दोबस्त को समाप्त करने की सिफारिश की।

स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में निम्नलिखित बातें कही जाती हैं :—

(१) आर्थिक दृष्टि से राज्य के लिए एक निश्चित मालगुजारी सुरक्षित कर दी गयी।

(२) राजनैतिक दृष्टि से स्थायी बन्दोबस्त से ब्रिटिश सरकार को जमींदार जैसे राजभक्तों की सहायता प्राप्त हुई।

(३) इससे किसानों को जमींदारों का नेतृत्व प्राप्त हो गया। जमींदारों ने गांवों में शिक्षा, चिकित्सा तथा स्वच्छता की व्यवस्था करके गाँवों को काफी लाभ पहुँचाया।

(४) स्थायी बन्दोबस्त होने के कारण जमींदारों ने कृषि की उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया और किसानों की दशा को सुधारने का काफी प्रयत्न किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में कई बातें कही हैं। परन्तु व्यावहारिक

रूप से स्थायी बन्दोबस्त से लाभ होने की अपेक्षा उल्टे हानि ही हुई है। जमींदारों ने जो कुछ भी कृषि की उन्नति की, उससे कहीं अधिक उन्होंने कृषकों का शोषण किया। जमींदारों से जिस बात की आशा की गई थी वह पूरी नहीं हुई। अतः स्थायी बन्दोबस्त से कोई विशेष लाभ नही हुआ, इससे लाभ एक ही दशा में हो सकता है जब कि कृषकों और राज्य के बीच में एक भी मध्यस्थ न रहे, कृषक का सरकार से सीधा सम्बन्ध रहे।

बंगाल का मालगुजारी कमीशन (१६३८-४०)—हम ऊपर कह चुके हैं कि बंगाल के मालगुजारी कमीशन ने स्थायी बन्दोबस्त को समाप्त करने की सिफारिश की थी। यह कमीशन बंगाल की मालगुजारी प्रथा विशेषकर स्थाई बन्दोबस्त की जांच पड़ताल के लिए १६३८ में नियुक्त दिया गया था। कमीशन के अधिकांश सदस्यों ने निम्नलिखित आधारों पर स्थायी बन्दोबस्त का अन्त करने का समर्थन किया :—

(१) इससे राज्यों को हमेशा निश्चित मालगुजारी ही प्राप्त होती है। इससे उत्पादन की वृद्धि से होने वाली आय से राज्य को कोई लाभ नहीं होता।

(२) स्थायी बन्दोबस्त के कारण सरकार खनिज पदार्थ तथा मछलियों आदि से होने वाली आय से वंचित रह जाती है।

(३) इससे सरकार को ग्रामीण स्थिति का, ग्रामवासियों की दशा का विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त हो पाता।

(४) इससे जमींदार तथा कृषक के बीच में कई मध्यस्थों के हो जाने से उसका कृषकों पर आर्थिक प्रभाव बड़ा बुरा पड़ता है।

(५) इससे कृषक तथा जमींदार आदि किसी को भी कृषि के विकास करने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थायी बन्दोबस्त से कई तरह की बुराइयों को स्थान मिल गया है। इससे सरकार को जितनी मालगुजारी मिलनी चाहिए उतनी नहीं मिलती, उधर किसान पर बड़ी कड़ाई से कर वसूल किया जाता है, उस पर कर-भार भी अत्यधिक होता है। जमींदार कृषक से मनमाना लगान वसूल करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने लगता है, उसे न तो कृषि के विकास से मतलब रहता है और न कृषक से।

इन्हीं सब कारणों से कमीशन ने स्थायी बन्दोबस्त का अन्त कर उसके स्थान पर रैय्यतवारी प्रथा के परिचालन का समर्थन किया। कमीशन का कहना था कि सरकार की इस सम्बन्ध में ऐसी नीति होनी चाहिए जिससे किसान तथा राज्य का सीधा सम्बन्ध रहे। हमें इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कृषक का अपनी भूमि पर अधिकार रहे, और उसे उस भूमि के विकास के लिए काफी प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। जहाँ तक बन्दोबस्त के समय या अवधि का सम्बन्ध है हमारे विचार से तीस-चालीस वर्ष का समय उपयुक्त है। हाँ जो क्षेत्र विकसित नहीं उनका बन्दोबस्त अधिक लम्बे समय का न होना चाहिये।

अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Sttlement)—पहले कम्पनी का विचार था कि बंगाल की भाँति अन्य राज्यों में भी स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय। परन्तु बाद में उसने सोचा कि जमीन की उपज में दिनोदिन वृद्धि होती जाती है, और उसके साथ सरकारी मालगुजारी में भी वृद्धि की जा सकती है, इसलिए उसने अस्थायी प्रबन्ध को ही जारी रखा।

अस्थायी बन्दोबस्त तीन प्रकार का होता है :—

(१) जमींदारी

(२) महलवारी या ग्राम्य

(३) रैय्यतवारी

जमींदारी, ताल्लुकदारी, महलवारी या ग्राम्य—इसमें जमींदार या ताल्लुकेदार आदि अपने हिसाब की अथवा गाँववाले मिल कर कुल गाँव की, मालगुजारी सरकार को चुकाने के लिए उत्तरदायी होते हैं। रैय्यतवारी में काश्तकार का सरकार से सीधा सम्बन्ध रहता है। हम नीचे इन तीनों प्रकार के बन्दोबस्तों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

जमींदारी बन्दोबस्त (Zamindari Settlement)—बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त भी एक प्रकार का जमींदारी बन्दोबस्त है किन्तु उस पर हम लोग पहले ही विचार कर चुके हैं। हम यहाँ पर बङ्गाल के उन्हीं जमींदारों के बन्दोबस्त पर प्रकाश डालेंगे जो कि अस्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत आते हैं। अवध के तालुकेदारों की भी स्थिति है।

सरकार इन क्षेत्रों का बन्दोबस्त करने के लिए भूमि की पैमायश कराती, भूमि पर जितने पक्षों का अधिकार होता है उसका लेखा रखती, राज्य को कितनी मालगुजारी प्राप्त होगी इसका निश्चय करती है। सरकार का बन्दोबस्त-अफसर भूमि का मूल्यांकन करता है। बङ्गाल के भू-स्वामी एक मध्यस्थ के समान होते हैं इसलिए राज्य मूल्यांकन के रूप में ७० प्रतिशत ले लेती है। अवध के ताल्लुकेदारों की स्थिति भी इसी प्रकार की है। वहाँ पर बन्दोबस्त सीधे गाँव वालों से होता है जिनसे यह कह दिया जाता है कि वे कुछ और अधिक मालगुजारी दे दें, ताकि ताल्लुकेदारों को सरकारी खजाने से कुछ रकम भत्ते के रूप में दी जा सके।

महलवारी प्रथा (Mahalwari Settlement)—महलवारी प्रथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग, मध्यप्रदेश तथा पंजाब में प्रचलित है। इसमें गाँव की भूमि का स्वामी कोई एक जमींदार नहीं होता, वरन् सारे गाँव वाले मिलकर मालगुजारी के लिए उत्तरदायी होते हैं। यहाँ पर गाँव वालों से हमारा तात्पर्य गाँव के प्रत्येक निवासी से नहीं है वरन् उन लोगों से है जो गाँव की भूमि के किसी न किसी भाग के स्वामी होते हैं।

इसमें भी सारी भूमि की पैमायश होती, जोतों की सीमा निश्चित कर दी जाती, तथा रियासत से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के अधिकारों का पूरा लेखा रखा जाता है। भूमि की उर्वरता के अनुसार उसका वर्गीकरण कर दिया जाता है।

प्रत्येक रियासत की वास्तविक या असल लेनी (Net Assets) निश्चित कर दी जाती है। राज्य को कितनी मालगुजारी प्राप्त होगी, उसका भी निश्चिय कर दिया जाता है। पहले सरकार असल लेनी का ८० प्रतिशत लेती थी, बाद में यह ५५ प्रतिशत कर दी गई, और अब तो यह कुछ राज्यों में २५ प्रतिशत से भी कम है।

पहले मालगुजारी सारे गाँव के लिए निश्चित कर दी जाती है फिर अलग-अलग जोतों में विभाजित कर दी जाती है। ग्राम की ओर से लम्बरदार या मालगुजार मालगुजारी वसूल कर सरकारी खजाने में जमा कर देता है। उत्तर प्रदेश में बन्दोबस्त के समय में जो असल नकदी लगान दिया जाता है, उसी को आधार मान लिया जाता है। पंजाब में साधारणतया लगान किस्म के रूप में दिया जाता है। अतः वहाँ एक आदर्श जोत के लगान के आधार पर मालगुजारी की उचित दर निर्धारित कर दी जाती है। सिद्धान्ततः मालगुजारी देने का उत्तरदायित्व सम्मिलित होता है किन्तु व्यावहारिक रूप से प्रत्येक भू-स्वामी की मालगुजारी अलग-अलग रूप से ली जा सकती है।

पंजाब के लैण्ड रेवेन्यू एमेन्डमेन्ट एक्ट (१६२६) के अनुसार अब वास्तविक लेनी का चौथाई भाग का अधिकारी राज्य होता है। बन्दोबस्त का समय चालीस वर्ष होता है।

मध्यप्रदेश में मालगुजारों की स्थिति प्रायः लम्बरदारों के समान ही है। वहाँ लगान का निश्चय मिट्टी के वर्गीकरण के आधार पर होता है।

रैय्यतवारी प्रथा—यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि रैय्यतवारी प्रथा की मालगुजारी के अनुसार काश्तकार का सम्बन्ध सीधे सरकार से होता है। प्रत्येक किसान अपनी भूमि जारी चुकाने के लिए स्वयं सरकार के सामने उत्तरदायी होता है, और उसके तथा सरकार के बीच में कोई तीसरा आदमी मध्यस्थ नहीं होता जैसा कि महलवारी या जमींदारी बन्दोबस्त में होता है। रैय्यतवारी बन्दोबस्त मदरास, बम्बई, आसाम, तथा सिन्ध में पाया जाता है। हम इन प्रदेशों के रैय्यतवारी बन्दोबस्तों पर अलग अलग विचार करेंगे।

मदरास का रैय्यतवारी बन्दोबस्त—यहाँ मिट्टी की उर्वरा-शक्ति के हिसाब से भूमि का वर्गीकरण किया जाता है। भूमि पर पैदा होने वाली किसी साधारण अनाज की फसल का कुछ वर्षों का औसत ले लिया जाता है, उस पैदावार का मूल्य रुपयों में लगा लिया जाता है। जब पैदावार का मूल्य कूता जाता है, तो बीस ऐसे वर्षों के मूल्य का औसत लिया जाता है जिनमें दुर्भिक्ष या अकाल न पड़ा हो। इसमें से कृषि में होने वाले व्यय को घटाकर वास्तविक बचत का हिसाब लगाया जाता है। वास्तविक बचत का हिसाब लगाने के लिए अनुत्पादन क्षेत्र तथा मौसम के साथ मूल्य परिवर्त्तन, मंडियों से फासला, व्यवसायी का लाभ आदि सभी बातों पर ध्यान दिया जाता है। मालगुजारी की दर वास्तविक उत्पादन की ५० प्रतिशत निश्चित की जाती है। वास्तव में इससे कम ही मालगुजारी ली जाती है। इतनी मालगुजारी तो सर्वश्रेष्ठ खेत के लिए होती है।

मालगुजारी तीस वर्ष के लिए निर्धारित की जाती है, इस बीच मालगुजारी में तब तक कोई वृद्धि नहीं की जा सकती जब कि या तो वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि न हुई हो, या सरकार ने रेलों आदि का निर्माण कर भूमि का विकास न किया है। वृद्धि की अधिकतम दर १८¾ प्रतिशत है।

बम्बई का रैय्यतवारी बन्दोबस्त—बम्बई और मदरास की रैय्यतवारी बन्दोबस्त की मुख्य-मुख्य बातें प्रायः एक सी हैं, हाँ मालगुजारी निर्धारित करने की पद्धति में अवश्य कुछ अन्तर है। बम्बई में भूमि का वर्गीकरण सदा के लिए होता है। भूमि के वर्गीकरण का आधार मिट्टी की गहराई होती है। विभिन्न प्रकार की मिट्टी का मूल्यांकन अलग-अलग होता है, और वह आनों में व्यक्त किया जाता है। प्रथम श्रेणी का मूल्यांकन १६ आने किया जाता है, इसी प्रकार उससे घटिया मिट्टी वाली भूमि का उससे कम, और इससे घटिया का उससे कम। जैसा कि मदरास में वास्तविक बचत के हिसाब से मालगुजारी निश्चित की जाती है, वैसा बम्बई में नहीं। वहाँ पर मालगुजारी का निर्धारण, कुछ अन्य बातों पर होता है। बम्बई के १६३६ के मालगुजारी कानून के अनुसार वहाँ की सरकार को यह अधिकार है यदि खेती की वस्तुओं के मूल्य में कोई विशेष वृद्धि हो गई है तो वह मालगुजारी में परिवर्तन कर सकती है।

दूसरे बन्दोबस्त के अवसर पर मालगुजारी में वृद्धि की जा सकती है परन्तु सब मिलाकर उसमें २५ प्रतिशत से अधिक तथा अलग-अलग गाँवों की ५० प्रतिशत से अधिक की वृद्धि नहीं की जा सकती। यदि किसान ने स्वयं भूमि में विकास किया है तो भी मालगुजारी में कोई वृद्धि नहीं जा सकती।

जिस पद्धति के अनुसार बम्बई में मालगुजारी निर्धारित की जाती है, प्रायः उसी प्रकार बरार में भी मालगुजारी निर्धारित होती है। सिंध में मालगुजारी की दर सिंचाई की सुविधा के अनुसार निर्धारित की जाती है।

लगान किस प्रकार निर्धारित किया जाता है—मालगुजारी की उपरोक्त पद्धतियों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बन्दोबस्त का आधार लगान के ही रूप में निश्चित होता है, यद्यपि उसे कहा यह जाता है कि वास्तविक सम्पत्ति या वास्तविक उत्पत्ति के अनुसार निर्धारित की गई है। दूसरे शब्दों में बन्दोबस्त का अधिकारी इस बात पर विचार करता है कि उसे जमींदार

को या भू-स्वामी को काश्तकार से कितना लगान प्राप्त होता है। कृषि से होने वाले लाभ या उस पर किए जाने वाले व्यय पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

भारत जैसे देश में जहाँ की जनसंख्या में दिनोंदिन वृद्धि होती चली जा रही है, जहाँ पर लोगों के अन्य साधनों की कमी है, भूमि पर ही उसका भार बढ़ता जा रहा है, कृषि ही लोगों के पेट पालने का मुख्य धन्धा है, वहाँ पर स्वभावतः लगान की दर अधिक होगी, और इतनी अधिक होगी कि यदि कृषक कृषि को व्यवसाय के रूप में मान लें तो वह इतना लगान न दे सकने में अपने को पूर्णरूप से असमर्थ पाये। अतएव मालगुजारी का लगान के आधार पर निर्धारित करना उचित नहीं है।

जब कृषि की वस्तुओं में एकदम से उतार या मन्दी आती है तो उस समय कृषक की स्थिति बड़ी डाँवाडोल हो जाती है, उसे बड़ी हानि उठानी पड़ती है। ऐसे समय में उसके कुटुम्ब के जितने व्यक्ति कृषि के धन्धे में लगे रहते हैं, उनकी मजदूरी तक नहीं निकल पाती। उधर जमींदार लगान वसूल करने में कोई रियायत नहीं करता। इस प्रकार कृषक हमेशा घाटे में रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में लगान तथा मालगुजारी निर्धारित करने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। किसी भी राज्य या प्रान्त की व्यवस्था को ले लीजिए, उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि वहाँ मालगुजारी व लगान निर्धारित करने में अधिकतर प्राचीन परिपाटी से ही काम लिया जाता है। वास्तव में बन्दोबस्त की उचित व्यवस्था के लिए हमें आर्थिक लगान के सिद्धान्त (Economic rent) को आधार मानना होगा। भूमि की आर्थिक बचत निश्चित करने के पश्चात काश्तकार पर लगान लगाया जावे। भूमि के आर्थिक लगान को निर्धारित करते समय कृषक तथा उसके परिवार के लोगों के श्रम का मूल्य भी इसमें जोड़ लेना चाहिये। इस प्रकार आर्थिक लगान के सिद्धान्त के आधार पर बन्दोबस्त करना ही न्याय संगत होगा।

अभी लगान या मालगुजारी निर्धारित करने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि यहाँ कृषक के पास एक तो कम भूमि है, और जो कुछ है भी वह बिखरी हुई है अतः कृषि केवल पेट पालने का का ही धंधा है, उसे लाभदायक धंधा नहीं माना जा सकता। इसी कारण से सरकार लगान या मालगुजारी निर्धारित करने में लगान का कोई निश्चित सिद्धान्त प्रयोग में नहीं लाती।

क्या भारत में मालगुजारी का भार अत्यधिक है—मालगुजारी तथा लगान सम्बन्धी उपरोक्त विवरण के पश्चात्, अब यह प्रश्न उठता है कि क्या भारत में मालगुजारी का भार अत्यधिक है ? सरकारी नीति के समर्थकों का कहना है कि भारत में मालगुजारी का भार अत्यधिक होने से अभी कहीं दूर है। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि हम देखें तो हमें पता चल जायगा कि यह भार पहले की अपेक्षा अब काफी कम हो गया है। जितनी मालगुजारी या लगान हिन्दू या मुस्लिम शासन-काल में ली जाती थी उससे अब कहीं कम है। मनु ने कुल उत्पत्ति का १/१२ से १/६ तक मालगुजारी या लगान निश्चित किया था। युद्ध या अन्य संकट काल में यह १/४ तक हो जाती थी। अकबर के समय में राज्य को मालगुजारी और भी अधिक मिलती थी। सिक्खों के शासन काल में पंजाब में राज्य काफी मालगुजारी लेता था। वहाँ कुल उत्पादन का २/५ से लेकर १/३ तक मालगुजारी या लगान लिया जाता था। अंगरेजों ने मालगुजारी की अधिकतम दर वास्तविक आक्षेप या लेनी (Net Assets) का आधा रखा। कुल उत्पादन के हिसाब से तीन वर्ष का (जो १९३६-३७ में समाप्त हुआ) औसत लगान या मालगुजारी ६.७ प्रतिशत थी। पंजाब रेवेन्यू कमेटी ने लिखा था कि "यदि हम मन्दी के पहले के तीन वर्षों को लें तो यह अनुपात केवल ५ प्रतिशत ही पड़ेगा जब कि सौ वर्ष पूर्व उसी प्रदेश में सिक्खों द्वारा ३१ प्रतिशत से लेकर ४० प्रतिशत तक मालगुजारी ली जाती थी।

नीचे दिए हुए आँकड़ों से १६३६ की जनसंख्या के प्रतिव्यक्ति, तथा जोती जाने वाली भूमि के प्रति एकड़ के हिसाब से मालगुजारी या लगान का जो कर भार है, उसका परिचय प्राप्त हो जायगा।

मालगुजारी का कर भार (१६३६)
(Incidence of Land Revenue)

प्रान्त	प्रति जोता हुआ एकड़			जनसंख्या का प्रति व्यक्ति		
	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
बंगाल :—						
स्थायी बन्दोबस्त—	१	४	०	०	१२	०
अस्थायी बन्दोबस्त—	३	४	०	०	११	०
अवध :—						
स्थायी बन्दोबस्त—	१	६	०	१	१५	०
अस्थायी बन्दोबस्त—	१	१५	०	१	६	०
पंजाब :—	१	१५	०	—	—	—
बम्बई :—						
रय्यतवारी	१	११	०	१	१५	
मदरास :—						०
रैय्यतवारी—	२	८	०	१	१५	०
जमींदारी—	१	६	०	०	१४	०

इस प्रकार वर्तमान पद्धति के समर्थक यह तर्क उपस्थित करते हैं कि मालगुजारी का जधसंख्या के प्रति व्यक्ति, तथा जोती हुई भूमि के प्रति एकड़ के हिसाब से बिल्कुल कम ही है। इस सम्बन्ध में दूसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि लगान या मालगुजारी के इस भार को भी यदि समाप्त कर दिया जाय तो इससे काश्तकार को कोई लाभ नहीं होगा और यह रकम मालगुजारियों या लगान लेने वालों के हाथ में चली जायगी। तीसरे यह कहा जाता है कि कृषक की आर्थिक स्थिति अंगरेजों के समय में काफी अच्छी हो गई, चौथे यह कि भूमि से ली जाने वाली यह मालगुजारी कर नहीं है बल्कि लगान है, और इस प्रकार उत्पादन की कीमत स्थिर तथा कृषक की आर्थिक स्थिति पर उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

भूमि की मालगुजारी को लगान कहा जाय या कर, इस विषय पर आगे विचार किया जायगा। जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि भारत में किसानों पर मालगुजारी का भार अत्यधिक नहीं है, उसके विरोध में नीचे लिखे तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं :—

(१) हिन्दू तथा मुसलमान शासकों के समय में मालगुजारी निश्चित कर दी जाती थी तथा किस्म में ली जाती थी, अतः देनदार की स्थिति के अनुसार मालगुजारी का भार अलग-अलग होता था। आजकल यद्यपि कुछ छूट तथा माफी आदि दे दी जाती है, मालगुजारी या लगान नकदी में निश्चित कर दिया जाता है, और जब मन्दी का समय होता है तो कृषकों को यह मालगुजारी देना भी भार स्वरूप हो जाता है। इस समय जिस मात्रा में तथा जिस कड़े तरीके से लगान वसूल किया जाता है, उतनी कड़ाई से पहले नहीं लिया जाता था।

(२) अंगरेजों के शासन-काल में भारतीय शिल्प-कला की अवनति के कारण, तथा जनसंख्या में वृद्धि के कारण भूमि पर भार अधिक बढ़ गया। प्राचीन काल में यदि उत्पादन का काफी अंश भी राज्य द्वारा ले लिया जाता था तो भी प्रति कुटुम्ब के निर्वाह के लिए काफी अनाज बच जाता था। अब प्रति कुटुम्ब के हिस्से में अधिक भूमि नहीं है, अतः उनका कुल उत्पादन भी अधिक

नहीं होता, वे मुश्किल से साल भर अपना निर्वाह कर पाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि इसमें से थोड़ा सा भी अंश लगान आदि के रूप में ले लिया जाता है, तो इससे कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति पर काफी गहरा प्रभाव पड़ता है।

(३) यदि हम इस बात को स्वीकार भी कर लें कि आजकल जो लगान या मालगुजारी ली जाती है, उसका भार, आज से सैकड़ों वर्ष पहले से कम है, तो यह बात उपयुक्त नहीं। आज जब हम बीसवीं शताब्दी में रह रहे हैं तो सोलहवीं शताब्दी की स्थिति के अनुसार निर्णय करना न्याय-संगत नहीं। आज और आज से सैकड़ों वर्ष की पूर्व की स्थिति में काफी अन्तर है। अतः मालगुजारी या लगान के कर भार (Incidence of land Revenue) का निर्णय हमें वर्तमान कर के सिद्धान्तों के ही आधार पर करना होगा।

(४) यह कहना कि लगान का अन्त कर देने से उसका लाभ काश्तकारों को न होकर लगान वसूल करने वाले मालगुजारी आदि को होगा, यह भी उपयुक्त नहीं, बहुत से मालगुजारी देने वाले, किसान भूमि के मालिक हैं, और स्वयं कृषि करते हैं। अतः यदि मालगुजारी या लगान में जरा भी कमी होती है तो इससे सीधे उनको काफी लाभ होगा। हाँ जहाँ तक उन जमींदारों या भू-स्वामियों का सम्बन्ध है, जो स्वयं तो कृषि करते नहीं, खेत के पास तक नहीं जाते, न कृषि के विकास आदि का कुछ प्रयत्न करते हैं, खेतों से दूर बैठे उससे होने वाले लाभ का आनन्द उठाया करते है, उनके लिए अवश्य मालगुजारी का भार अधिक नहीं, हल्का ही है। उनको तो कृषि से होने वाली आय के रूप में खासी मात्रा में आयकर देना चाहिए।

(५) जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि किसानों की आर्थिक स्थिति में, उनके वैभव में पहले से काफी वृद्धि हुई है, यह बात भी सत्य नहीं है। इस विषय में लोगों में काफी मतभेद है कि आज के किसान का जिस प्रकार का स्वास्थ्य है, वह जिस प्रकार का भोजन करता है, वस्त्र पहनता, वह पहले के किसानों से कहीं अच्छा है। यदि उसकी निर्धनता में भी कमी हो गई है (हम यहाँ उसके वैभव की बात) नहीं करते तो भी उस पर लगान या मालगुजारी का बोझ लादना न्याय संगत नहीं प्रतीतहोता।

(६) वास्तव में कृषक को लगान मुक्त न करने का एक ही प्रधान कारण है, वह यह कि यदि वे जोतें जो आर्थिक नहीं हैं, उन्हें लगान या मालगुजारी से मुक्त कर दिया जाता है, तो उसका सरकार की स्थिति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा।

मालगुजारी, या लगान का चाहे जो कुछ भी रूप हो, परन्तु इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिन लोगों को लगान या मालगुजारी देना होगा, उनको उसे देने की क्षमता क्या है, लगान, या मालगुजारी या भूमि कर का निर्धारण प्रसिद्ध एवं प्रचलित कर सिद्धान्तों के ही आधार पर होना चाहिए। कर का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त—स्वाभाविक न्याय सिद्धान्त (Equity)—की पूर्ति उसी समय होगी, जब कि अनार्थिक जोतो को लगान से मुक्त कर दिया जाय तथा क्रमोन्नति सिद्धान्त का प्रचलन किया जाय। इसके अतिरिक्त लगान आदि की व्यवस्था करने में जलवायु तथा वस्तुओं के मूल्य आदि का भी ध्यान रखना चाहिए।

कर या लगान (Tax or Rent)—भूमि से ली जाने वाली मालगुजारी (रेवेन्यू) को कर कहा जाय या लगान, इस विषय पर काफी दिनों तक वादविवाद चलता रहा। वास्तव में इस प्रश्न का कोई राजनैतिक या आर्थिक महत्व नहीं है, यह तो केवल व्यर्थ का बकवाद है, फिर भी इस विषय पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। यदि हम इस बात को मान लें कि भारत का राज्य एक व्यापक भू-स्वामी या जमींदार है, अतएव मालगुजारी (लैण्ड रेवेन्यू) लगान है; यह बात भी उपयुक्त नहीं है। जब राज्य ही भू-स्वामी है तो उसका सबसे प्रधान लक्ष्य या उद्देश्य जन-

कल्याण होना चाहिए न कि अन्य कोई बात। यदि कोई भी छोटा काश्तकार निर्धनता के कारण मुक्ति चाहता है तो उसे वह मिलना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है अतएव उसे लगान कहना उचित नहीं है।

मालगुजारी को लगान कहा जाय या कर वह इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर रहेगा कि भूमि का कौन स्वामी है। यदि राज्य स्वामी है तो उसे लगान कहा जायगा और यदि भूमि की स्वामी जनता है तो उसे कर कहा जायगा। यदि यहाँ राज्य को ही भूमि का स्वामी मान लिया जाय तो इस सम्बन्ध में हमारे पास पर्याप्त प्रमाण नहीं है। विल्सन का कथन है कि जहाँ तक भूमि स्वामित्व का सम्बन्ध है प्राचीन हिन्दू कानूनों के अनुसार राज्य या राजप्रभु को भूमि पर कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं है। कर्नल गैलोवे के शब्दों में मुसलमानी कानून के अनुसार "जब तक काश्तकार भूमि का कर देता रहता तब तक राज्य को किसान के भूमि सम्बन्धी अधिकारों पर हस्तक्षेप करने का, किसान को उसके अधिकार से वंचित करने का कोई भी कानूनी हक नहीं प्राप्त था।''''''भारतीय कृषक को अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है''''''तब फिर किन बातों में भारतीय किसान का साम्पत्तिक अधिकार अंग्रेजी किसान से भूस्वामी से कम है।

वर्तमान समय में भू स्वामित्व पर अपना अधिकार जताने की चेष्टा नहीं की है। सरकार ने यह स्पष्टरूप से घोषित कर दिया कि भूमि के संपूर्ण अधिकार किसानों के हाथ में है। उदाहरण के लिए रैय्यतवाले क्षेत्रों को ही ले लीजिये वहाँ यदि कोई किसान समय पर लगान नहीं दे पाता तो राज्य किसान को बेदखल नहीं कर सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य ही भूमि का पूर्ण अधिकारी नहीं है। अतः मालगुजारी को भी हम लगान नहीं कह सकते।

आजकल जो मालगुजारी ली जाती है, उसे कर (टैक्स) तथा लगान दोनों ही कहा जा सकता है। राज्य की ओर से लगाया हुआ यह कर अनिवार्य होता है, इसलिये इसे टैक्स या कर कहा जा सकता है। परन्तु क्योंकि सभी भूमि-प्रदेशों को इसे देना होता है, इसमें कोई सिलसिला भी नहीं होता, कुछ प्रान्तों में यह कृषि-आय पर लिये जाने वाले कर के अतिरिक्त भी लिया जाता है, इसलिये इसे कोई भी व्यक्ति लगान के रूप में भी समझ सकता है।

वेरा एन्स्टे का कथन है कि "यह एक प्रकार से लगान पर कर है और क्योंकि भारत में वास्तव में खेती करने वालों का एक अच्छा भाग स्वयं भूमि का स्वामी है इसलिये सरकार उनसे राजस्व के रूप में एक ऐसी प्राप्त कर रही है जिसे कि यदि वह न लेती तो वह इन्हीं लोगों की जेब में चली जाती।"

यह मालगुजारी लगान है या कर इस सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक बात राज्य ही कह सकती है, इस पचड़े में हमें विशेष पड़ने की जरूरत नहीं परन्तु यहाँ इतना अवश्य कह देना होगा कि यह मालगुजारी किसानों के सामर्थ के ही अनुरूप हो और कर सिद्धान्तों की पूर्णरूप से परितुष्टि करती हो।

क्या भारतीय मालगुजारी कर-सिद्धान्तों के अनुरूप है?—इस सम्बन्ध में विशेष विचार करने के पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक होगा कि कर-सिद्धान्त (Canons of Taxation) की मुख्य बातें क्या हैं। कर-सिद्धान्त में मुख्य बातें निम्नलिखित होनी चाहिये :—

(१) समानता (Equalty)
(२) निश्चितता (Certainty)
(३) अल्प व्यवस्था (Economy)
(४) सुविधाजनकता (Convenience)

(५) स्थिति-स्थापकता (Elasticity)
(६) उत्पादकता (Productivity)
(७) सरलता (Simplicity)
(८) निष्पक्षता (Equity)

भारत में जो लगान वसूल किया जाता है, उसकी रकम तो निश्चित होती है, परन्तु बन्दोबस्त का आधार अच्छी तरह से स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार इसमें सरलता का अभाव रहता है, अतः पूर्ण रूप से कर-सिद्धान्त की परितुष्टि नहीं करता। मालगुजारी या लगान फसल कटने के पश्चात्, और किश्तों में वसूल किया जाता है, इससे सुविधाजनकता (Conveinence) के सिद्धांत की पूर्ति हो जाती है। मालगुजारी या लगान वसूल करने के लिए सरकार को काफी अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है, इससे इसमें काफी खर्च होता है, परन्तु ये अधिकारी केवल लगान या मालगुजारी वसूल करने का ही कार्य नहीं करते और भी बहुत सा शासन सम्बन्धी कार्य करते हैं, इसलिए यह कहना कि अल्पव्ययता के सिद्धान्त (Economy Canon) की पूर्णरूप से पूर्ति होती है, उचित नहीं। जहाँ तक उत्पादकता के सिद्धान्त (Canon of Productivity) का सम्बन्ध है, उसकी पूर्ति हो जाती है। परन्तु इसमें स्थिति स्थापकता (Elasticity) का बड़ा अभाव रहता है, क्योंकि इसका समय निश्चित कर दिया जाता है। यह या तो ३०-४० वर्ष के लिये निश्चित कर दिया जाता है या बिल्कुल ही स्थाई कर दिया जाता है जैसा कि बंगाल में है। इन दिनों बम्बई तथा पंजाब में कुछ ऐसी व्यवस्था की गई है जिससे स्थापकता के सिद्धान्त की थोड़ी सी तुष्टि होती है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्वाभाविक न्याय या निष्पक्षता के सिद्धान्त की पूर्ण अवहेलना की जाती है क्योंकि अनार्थिक जोतों (Uneconomic Holdings) को भी मालगुजारी या लगान देना पड़ता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मालगुजारी या लगान व्यवस्था न्यायपूर्ण व उचित नहीं है।

रिकार्डो का सिद्धान्त तथा भूमि राजस्व—रिकार्डो के अनुसार जो कुछ लागत लगती है, उससे होनेवाली बचत में से लगान की व्यवस्था होती है। परन्तु भारत में बहुत से खेत ऐसे हैं जो कि आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं तथा जिनमें कोई बचत नहीं होती। बचत की तो बात ही छोड़िये। खेतों से होनेवाली आय से लागत भी नहीं निकलती। यदि किसान अपने कुटम्ब के उन सभी लोगों की मजदूरी को जो कि खेतों में कार्य करते हैं, लागत में जोड़ दे, तो साधारणतया कृषि एक अलाभकारी धन्धा ही ठहरेगा।

इसके विपरीत बड़े-बड़े जमींदार हैं जिन्हें कि काफी लाभ होता है उनके लिये मालगुजारी का भार कुछ भी नहीं होता। वे जो मालगुजारी देते हैं, वह आर्थिक लगान की दृष्टि से काफी कम होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे भूमि राजस्व में तथा रिकार्डो के सिद्धान्त में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

भूमि राजस्व व्यवस्था में सुधार—ऊपर हमने भारतीय भूमि राजस्व या मालगुजारी व्यवस्था की कुछ विशेष बातों पर विचार किया। हमने देखा कि हमारी यह व्यवस्था दोषों से मुक्त नहीं है। इसकी राजनीतिज्ञों तथा कुछ अन्य विद्वानों ने काफी आलोचना की है। उन्होंने वर्त्तमान भूमि राजस्व व्यवस्था में निम्नलिखित दोष निकाले हैं :—

(१) अधिकांश लोगों पर इसका भार अत्यन्त कठोर है।

(२) इसके द्वारा स्वाभाविक न्याय-सिद्धान्त की अवहेलना होती है तथा इसमें कम से कम छूट की भी व्यवस्था नहीं है।

(३) बन्दोबस्त का आधार न्यायपूर्ण नहीं है।

(४) इस पद्धति में स्थिति-स्थापकता का अभाव है। बन्दोबस्त या तो स्थायी होता है या ३०-४० वर्ष के लिये होता है।

(५) इसके वसूल करने में बड़ी कड़ाई की जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस व्यवस्था में कई दोष हैं। इन दोषों को दूर कर वर्त्तमान व्यवस्था को दोष-मुक्त करने के लिये हमें मुख्य रूप से दो बातों का ध्यान रखना चाहिए एक तो बहुत छोटे काश्तकारों को लगान से मुक्त किया जाय तथा लगान या मालगुजारी के समान वितरण की व्यवस्था की जाय। इसके अतिरिक्त अन्य कई सुझाव और भी हैं जिनके द्वारा वर्त्तमान भूमि राजस्व या मालगुजारी व्यवस्था में सुधार करने का प्रस्ताव रखा गया है।

(१) स्थायी बन्दोबस्त का अन्त किया जाय। इस सम्बन्ध में पीछे विचार किया जा चुका है।

(२) कुछ विद्वानों का विचार है कि मालगुजारी या लगान को हटाकर कृषि से होने वाली आय पर आय-कर लिया जाय।

(३) कुछ लोग आय-कर सिद्धान्तों के आधार पर मालगुजारी व्यवस्था में सुधार करने का अनुरोध करते हैं।

छोटे काश्तकारों को लगान से मुक्त करने का प्रश्न—कुछ विचारकों का कथन है कि छोटे किसानों को लगान के भार से बिल्कुल ही मुक्त कर दिया जाय। इस सम्बन्ध में कोई निर्णय निश्चित करने के पूर्व कुछ बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है। उनमें मुख्य ये हैं :—

(१) क्या राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक दृष्टि से यह उचित है कि छोटे काश्तकारों को लगान से बिल्कुल मुक्त किया जाय?

(२) यदि उसे लगान से मुक्त कर दिया जाता है तो वह अपने रहन-सहन के स्तर तथा भूमि के विकास में कहाँ तक वृद्धि करेगा?

(३) राज्य की इस आय के बन्द हो जाने पर उसे कितनी हानि उठानी पड़ेगी? इस हानि की पूर्त्ति दूसरे किन उपायों द्वारा होगी। यदि आय के अन्य साधनों द्वारा इस कमी की पूत्ति नहीं होती तो इसका प्रभाव सरकार द्वारा जनता के लिये किए गये हितकारी कार्यों पर क्या पड़ेगा?

आइये हम यहाँ पर इन्हीं प्रश्नों पर विचार करें।

(१) मालगुजारी के बन्दोबस्त तथा उसके वसूल करने के लिये सरकार को भूमि सम्बन्धी, उससे होने वाले उत्पादन तथा साम्पत्तिक अधिकार का लेखा-जोखा रखना पड़ता है। यह लेखा (रिकार्ड) अर्थशास्त्रियों तथा शासकों के लिये बहुत उपयोगी होता है। राजनैतिक दृष्टि से मालगुजारी का सम्बन्ध मताधिकार से है, यद्यपि इसके लिये अन्य उपाय भी हैं, किन्तु वर्त्तमान समय में इस व्यवस्था से एक लाभ यह भी हो जाता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि मालगुजारी देने वाले को राज्य की ओर से कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती हैं अतएव राज्य के भूमि के अधिकारी होने के नाते, उसका यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के कोष में कुछ सहायता दे। परन्तु यह तर्क न्याय संगत नहीं प्रतीत होता। यदि काश्तकारों को लगान देने की सामर्थ्य नहीं हैं जो उन पर लगान लगाना किसी दशा में भी उचित नहीं है। अतएव राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक दृष्टि से इन छोटे काश्तकारों पर लगनेवाले लगान को न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यदि काश्तकारों को लगान से मुक्त कर दिया जाता है तो इसका उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं होगा, वे सामाजिक उत्सवों, ब्याह-शादियों आदि में और भी मनमाने ढंग से रुपया खर्च करेंगे। यह तर्क भी विचारशील नहीं प्रतीत होता। क्या सरकार दूसरे

लोगों पर कर लगाते हुये यह विचार करती है कि यदि इन लोगों को कर से मुक्त कर दिया गया, या उनके कर में कुछ कमी कर दी गई तो वे उससे बचनेवाली रकम का अपव्यय करेंगे ? यदि ऐसा नहीं तो फिर इन्हीं बेचारों के विषय में ऐसा क्यों विचार किया जाता है। इन किसानों के लिये मनोरंजन का साधन उनके सामाजिक उत्सव ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है जिससे वे अपना मनोरंजन कर सकें। यदि इस बात की आशंका की जाती है कि उनके अपव्यय में वृद्धि होगी तो उन्हें मितव्ययिता की शिक्षा क्यों नहीं दी जाती, उन्हें धन के, सम्पत्ति के उपयोग का उचित ज्ञान क्यों नहीं दिया जाता।

इसके अतिरिक्त यदि मालगुजारी का अन्त कर दिया जाता है और उसके स्थान पर कृषि-आय-कर की व्यवस्था की जाती है तो इससे सरकार की आय पर काफी बुरा प्रभाव पड़ेगा, उसकी आय में काफी कमी हो जायगी। बड़े-बड़े जमींदारों तक से प्राप्त होने वाली आय-कर की रकम माल-गुजारी से कहीं कम होगी। सरकार की आय में कमी हो जायगी, सरकार के जनहितकारी कार्यों की पूर्त्ति में काफी बाधा पड़ेगी।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मालगुजारी की पूर्णरूप से समाप्ति कर देना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है, हाँ जहाँ तक छोटे काश्तकारों का सम्बन्ध है, बन्दोबस्त के पश्चात् उनके लगान में कुछ कमी कर देना आवश्यक है, इससे उनकी आर्थिक स्थिति में कुछ अवश्य परिवर्त्तन होगा।

सत्रहवाँ परिच्छेद

भारतीय उद्योग-धन्धे

प्राक्कथन—जब संसार के अन्य देश अर्द्ध सभ्यावस्था में थे तब भारत ने वाणिज्य-व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में अच्छी प्रगति कर ली थी। उन दिनों जब कि यूरोप जो कि आज उद्योग-धन्धों का जन्म-स्थल कहलाता है, असभ्य जातियों का निवास-स्थल बना हुआ था, भारत अपनी अतुल सम्पत्ति तथा अपने शिल्पियों की कुशल कला के लिए विश्व-विख्यात था।

एडवर्ड थानटन ने भी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास नामक पुस्तक में भारतीय उद्योग धन्धों का वर्णन करते हुए लिखा है कि नील नदी की रम्य घाटी में जब पिरामिडों के दर्शन नहीं हुए थे, जब आधुनिक सभ्यता के केन्द्र ग्रीस और इटली जंगली अवस्था में थे, उस समय भारत वैभव और सम्पत्ति का केन्द्र था। मार्कोपोलो जिसने तेरहवीं शताब्दी में भारत में भ्रमण किया था कि भारत अब भी अपनी प्राचीत ख्याति को रखे हुए है, और एशिया के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में से है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में भारतीय उद्योग-धन्धों ने अच्छी उन्नति की थी। भारतीय शिल्पकला की अनेक कृतियों से विदेशियों की आँखें चौंधिया जाती थीं। आज साधारण आदमी को यह जल्दी विश्वास नहीं होता कि जिस भारत भूमि में अपने ही करोड़ों आदमियों के लिए अन्न वस्त्र की कमी है, वह कभी विदेशियों की भी पेट भरने और शरीर ढकने वाली 'सोने की चिड़िया' रही होगी।

ईसा मसीह के जन्म से हजारों वर्ष पूर्व से लेकर बहुत समय बाद तक भारतवर्ष अन्य देशों के निवासियों की आवश्यकताएँ पूरी करता रहा। मुगल-शासन के अधिकांश समय में भी किसान और कारीगर सुख की नींद सोते रहे। बादशाहों की सुरुचि या शौकीनी के फल-स्वरूप देश का कला-कौशल, गृह-निर्माण, शिल्प और हुनर विदेशियों के लिए आदर्श बने रहे। सत्रहवीं ही नहीं अठारवीं शताब्दी में भी इस देश के बने हुए ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्रों तथा अन्य पदार्थों के लिए सारा योरप लालायित रहता था। यहाँ से करोड़ों रुपए का माल विदेशों में जाता था।

भारत का औद्योगिक पतन—परन्तु दुर्भाग्यवश यह स्थिति बहुत समय तक न रही। इस अवसर पर मानवी ज्ञान के इतिहास में एक घटना हुई, जिससे लाभ न उठा सकने के कारण भारतवर्ष सांसारिक घुड़दौड़ में अन्य देशों से पीछे रह गया, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों से भी भारत के उद्योग-धन्धों को काफी आघात पहुँचा। हम यहाँ पर इन पर अलग अलग प्रकाश डालेंगे।

(१) प्राचीन भारतीय राज्य दरबारों का विनाश—हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत में औद्योगिक विकास को बहुत-कुछ प्रोत्साहन यहाँ के राज्य दरबारों द्वारा मिलता था, उन्हीं के संरक्षण में उद्योग-धन्धे पनपते तथा विकसित होते थे। भारत में अंगरेजों के आगमन से, उनके हाथ में शासन-सत्ता के चले जाने से, इन धन्धों को प्रोत्साहन तथा संरक्षण न प्राप्त हो सका, फलतः उद्योग-धन्धे भी धीरे-धीरे लुप्त होते गए।

(२) पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—भारत में राज्य दरबारों के अन्त के साथ ही साथ दरबारियों का भी अन्त हुआ और उनका स्थान पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित तथा शिक्षित जन-समुदाय लेने लगा। अब उन्हें पूर्वीय सभ्यता से, अपने प्राचीन पहनावे से कोई प्रेम न रह गया। ये लोग पाश्चात्य सभ्यता के अन्धभक्त बन गए, जिस वेश-भूषा से वे एक समय घृणा करते थे, उसी

के पुजारी बन गए। इसके परिणामस्वरूप विदेशों में बनी हुई वस्तुओं की अपने देश में मांग बढ़ गई।

(३) **अंगरेजों की नीति**—जब भारत के शासन के संचालन की बागडोर अंगरेजों के हाथ में आगई तो उन्होंने अपने देश के बने हुए माल को खूब प्रोत्साहन दिया। भारत में बने हुए कपड़े पर काफी रोक लगा दी। सन् १७०० से लेकर १८२६ तक में रंगीन कपड़े पर बिल्कुल रोक लगा दी गई तथा कुछ अन्य प्रकार के कपड़ों पर ३० से लेकर ८० प्रतिशत तक का कर लगाया गया। प्रोफेसर हारेस विल्सन ने लिखा है कि 'यदि इस प्रकार की रोक न लगाई जाती तो पेज़ले तथा मैनचेस्टर की मिलों का शुरू में ही अन्त हो गया होता।' इधर अंगरेज सरकार भारतीय कपड़े पर रोक लगाती गई उधर उसने अपने देश में बने हुए कपड़े की भारत में खपत करने के लिए अनेक उपायों का प्रयोग करना शुरू कर दिया। इस प्रकार भारतीय कपड़े के धन्धे के बैठा देने के अनेक प्रयत्न किए गए।

(४) **मशीनों का आविष्कार**—भारतीय उद्योग-धन्धों के ह्रास का सम्भवतः सबसे प्रधान कारण विज्ञान की प्रगति थी। इन दिनों पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञान में उन्नति करके भाप को अपना सेवक बना लिया और कल-कारखानों में काम लेना प्रारम्भ कर दिया। मशीन से बने हुए माल का सामना हाथ से बना हुआ माल कैसे कर सकता था। हाथ से वस्तुओं के निर्माण में एक तो समय और शक्ति भी अधिक लगती दूसरे वे वस्तुएँ इतनी सुन्दर न हो पातीं जितनी कि मशीन की बनी वस्तुएँ। विज्ञान की उन्नति से यातायात के नवीन साधनों का भी आविष्कार हो गया, जिससे मशीन का बना हुआ माल छोटे से छोटे बाजार तक, छोटी-छोटी दूकानों तक आसानी से पहुँचने लगा। इस प्रकार विदेशों में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप भी भारतीय उद्योग-धन्धों को काफी धक्का पहुँचा।

इस प्रकार हमारे प्राचीन उद्योग-धन्धों की अवनति होने लगी। अब इस समय देश में ये प्राचीन धन्धे तो किसी सीमा तक येन-केन प्रकारेण चल ही रहे हैं, साथ ही देश में बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धों की भी स्थापना हो गई है। इसका परिचय अगले परिच्छेद में दिया जायगा। यहाँ हम भारत के कुटीर उद्योगों पर प्रकाश डालेंगे।

कुटीर उद्योग-धंधे

आधुनिक औद्योगिक संगठन में कुटीर उद्योग-धन्धों का स्थान—हम यह कह चुके हैं कि प्राचीन काल में औद्योगिक भारत का एक महत्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन उद्योग-धन्धे मुख्य रूप से छोटे पैमाने पर किए जाते थे तथा वे कुटीर उद्योगों की श्रेणी के अन्तर्गत आते थे। वर्त्तमान औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इन कुटीर उद्योगों की स्थिति को काफी धक्का पहुँचा। परन्तु हमारा यह सोचना कि इससे हमारे कुटीर उद्योगों का बिलकुल ही अन्त हो गया, ठीक नहीं। बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धों के विकास या उन्नति का तात्पर्य यह नहीं होता कि छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योग धन्धे पूर्ण रूप से ही लुप्त हो जाते हैं। इन छोटे उद्योगों का न तो कभी अन्त होता है और न उनका अन्त किया ही जा सकता है। छोटे उद्योग-धन्धों का अपना एक अलग ही स्थान होता है।

वर्तमान समय में छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योग धन्धों को कई बातों से बल मिला है, जिनके कारण उनकी स्थिति और भी दृढ़ हुई है, उदाहरण के लिए सस्ते शक्ति के साधन के विकास, धनिक वर्गों की विलास-प्रियता, उनकी कलात्मक वस्तुओं से रुचि, सहकारिता आन्दोलन के प्रसार,

तथा औद्योगिक शिक्षा की उन्नति आदि से छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धों को काफी सहारा मिला।

उन देशों में भी जहाँ कि बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों की काफी उन्नति हो चुकी है, वहाँ भी छोटे पैमाने पर किये जाने वाले उद्योग-धन्धों का भी कोई कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। फ्रान्स में ६६ प्रतिशत से भी अधिक औद्योगिक संस्थाओं में सौ से कम ही आदमी कार्य करते हैं। जर्मनी में १२.६ प्रतिशत जनसंख्या अपना निर्वाह दस्तकारी तथा शिल्पकला के ही द्वारा ही करती है। बरमिंघम जैसे औद्योगिक केन्द्र में कम से कम ५० प्रतिशत ऐसी औद्योगिक संस्थाएँ हैं जिनमें ५० से भी कम कर्मचारी कार्य करते हैं। जापान में ५३ प्रतिशत जनसंख्या अपना जीवन निर्वाह कुटीर-उद्योगों द्वारा करती है। बेलजियम, हालैण्ड तथा स्विटजरलैण्ड में भाँति-भाँति का सामान छोटे पैमाने पर चलने वाली औद्योगिक संस्थाओं में ही निर्मित होता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि संयुक्त राज्य अमरीका में कुल औद्योगिक व्यापार का ६२.५ प्रतिशत व्यापार छोटे पैमाने वाली औद्योगिक संस्थाओं द्वारा होता है, जिनमें ४५ प्रतिशत कर्मचारी कार्य करते हैं। प्रायः सभी देशों में छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

भारत में छोटे पैमाने वाले उद्योग-धन्धे—जब बड़े-बड़े औद्योगिक देशों में बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धों से छोटे उद्योगों की स्थिति को विशेष धक्का नहीं पहुँचा तो भारत में कुटीर उद्योगों की इस स्थिति का होना कोई असम्भव नहीं है। देश तथा विदेशों से प्रतियोगिता होते हुये भी भारत में कुटीर उद्योग-धन्धे बने ही रहे। इन उद्योग-धन्धों के बने रहने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) कुटीर उद्योगी का अपने पैतृक धन्धे के न छोड़ने का मोह तथा अन्य धन्धों का आसानी से न मिलना।

(२) जाति प्रथा के कारण भी कुछ लोग अभी उन्हीं धन्धों को अपनाये हुए हैं, यद्यपि उनमें उन्हें विशेष लाभ नहीं रह गया है।

(३) अपने घर बैठे स्वतंत्रतापूर्वक काम करने की प्रवृत्ति।

(४) कृषि जो कि यहाँ के लगभग ६५ प्रतिशत निवासियों का धन्धा है, उसमें लोगों को कई महीने बेकार रहना पड़ता है। अतः कुछ किसान अपने बेकारी के दिनों में सहायक धन्धों में लग जाते हैं।

(५) भारत में अभी ऐसे आदमियों का अभाव नहीं है जिन्हें कला से विशेष प्रेम है। उनके संरक्षण के कारण बहुत से उद्योग-धन्धे चलते रहे।

(६) कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनकी मांग बहुत सीमित तथा स्थानीय होती है। अतः उनका निर्माण मशीनों से करना सुविधाजनक नहीं होता। उन्हें कुटीर उद्योगों में ही निर्मित किया जाता है।

(७) कुटीर-उद्योगी की कुशलता के परिणामस्वरूप भी कुछ उद्योग-धन्धों के बने रहने में सहायता मिली है। गृह या कुटीर उद्योगी अपने ग्राहक की मांग को अच्छी तरह समझता तथा उसकी रुचि के अनुरूप माल तैयार करने में अपनी कुशलता प्रदर्शित करता है।

(८) कुछ शिल्पकारों ने आधुनिक यन्त्रादिकों से अच्छी सहायता प्राप्त कर ली है। उदाहरण के लिए बुनकर मिल के बने कोसे, दर्जी सिलने वाली मशीनों का, तथा लोहार, सुनार आदि भी तरह-तरह की मशीनों का उपयोग करने लगे हैं।

(९) बहुत से गाँव ऐसी जगहों में स्थित हैं जहाँ मशीन से बना हुआ माल सरलता से

नहीं पहुँचता। वहाँ वाले अपना काम अपने गाँव या आस-पास के गाँव में बने माल से ही चला लेते हैं।

(१०) इधर राजनैतिक जागरण के परिणामस्वरूप भी स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग की ओर लोगों का ध्यान काफी आकर्षित हुआ, जिससे कुटीर धन्धों तथा हाथ से बनी हुई चीजों को काफी प्रोत्साहन मिला।

(११) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय या राज्य की सरकारों ने भी कुटीर उद्योग-धन्धों के विकास के लिये आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन प्रदान किया है।

(१२) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी कुछ विशेष कुटीर उद्योगों के विकास के लिये रचनात्मक प्रयत्न किए।

इन्हीं सब कारणों के परिणामस्वरूप भारत में कुटीर उद्योग किसी न किसी दशा में बने हुए हैं। अब लोगों का ध्यान देश में अधिक से अधिक कुटीर उद्योगों की स्थापना की ओर आकर्षित हो रहा है।

कुटीर उद्योगों की वर्तमान स्थिति—भारत में जितने भी कुटीर उद्योग-धन्धे हैं, उन सबकी एक सी स्थिति नहीं है। कुछ धन्धे तो बिलकुल ही नष्ट हो गये हैं। उदाहरण के लिये अब ढाका की मलमल का नाम भी नहीं सुनाई पड़ता। इसके अतिरिक्त हाथ से कातने-बुनने के भी धन्धे में काफी ह्रास हो गया है।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए अब भी भारत में छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धों की कमी नहीं है। जितना भी फुटकर व्यापार होता है, वह सारा का सारा छोटे पैमाने के धन्धों पर ही चलता है। इसके अतिरिक्त देश में कितनी ही ऐसी दस्तकारियाँ हैं जिनसे लाखों आदमियों का निर्वाह होता है। सारे देश में अगणित छोटे-छोटे कारखाने हैं, केवल कलकत्ते में अनुमानतः ऐसे कारखाने दस हजार हैं।

प्रो० राधाकमल मुखर्जी ने उन कुटीर उद्योगों की एक सूची दी है जो अब भी भारत में प्रचलित हैं। उनमें से कुछ ये हैं :—जौनपुर, बनारस, तथा इलाहाबाद जिलों में टोकरी बनाने का धन्धा, मालाबार तथा दक्षिण व पूर्वीय बंगाल में चटाई बनाने का धन्धा, आसाम का रेशम के कीड़े पालने का धन्धा, उत्तर प्रदेश के मेरठ, बदायूँ व मिर्जापुर आदि जिलों का लाख व खिलौनों का धन्धा, अमृतसर, मिर्जापुर तथा बनारस का गलीचा बुनने का धन्धा, मुर्शिदाबाद मालदा, मदुरा तथा भागलपुर का सिल्क का धन्धा, चुनार (मिरजापुर) के मिट्टी के बर्तनों का धन्धा, मदरास के टिन्नेवली जिले का लुंगियों तथा साड़ियों का धन्धा, तथा फतेहपुर व फिरोजाबाद का चूड़ियों का धंधा आदि। डा० राधाकमल का कथन है कि प्रत्येक जिले में एक या एक से अधिक गाँवों में लकड़ी, सोना, चाँदी, ताँबा, बाँस, गन्ना, चमड़ा आदि का कोई न कोई धन्धा अच्छी स्थिति में है। हैन्डलूम का धन्धा सारे देश भर में फैला हुआ है। साबुन बनाने का धन्धा भी खूब फैल रहा है।

हम यहाँ पर कुछ मुख्य कुटीर उद्योगों पर अलग-अलग विचार करेंगे :—

हाथ से बुने कपड़े का धन्धा—हम पीछे कह चुके हैं कि भारत ने प्राचीन काल में कपड़े के धन्धे का खूब विकास किया था। उस समय इतने उच्च कोटि का कपड़ा देश में तैयार होता था जैसा कि आज की मिलें भी तैयार करने में सफल नहीं हुई हैं। परन्तु अब देश में इस कोटि का कपड़ा बिल्कुल ही नहीं तैयार हो पाता। १६३२ के इंडियन टैरिफ बोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि देश में अनुमानतः २५,००,००० करघे हैं। केवल बिहार के एक केन्द्र में सवा लाख रुपए की कीमत की खादी उत्पन्न हुई थी। १६४० में संगठित मालीकांद नामक स्थान में ढाका की मलमल का

११ गज का टुकड़ा प्रदर्शित किया गया, जिसका वजन केवल दस तोला था। इधर करघों द्वारा उत्पन्न किए कपड़े में दिनोंदिन वृद्धि होती जा रही है।

करघों द्वारा जो कपडा उत्पन्न किया जाता है, वह विशेष प्रकार का होता है और सर्व-साधारण के प्रयोग के लायक नहीं होता। इसके अतिरिक्त हाथ से बने हुए कपड़े को कुछ लोग अधिक पसन्द करते हैं उसका कारण यह है कियह कपड़ा गर्मियों में ठंढा तथा जाड़ों में गर्म रहता है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा महात्मा गांधी ने अखिल भारतीय बुनकर संघ द्वारा इस धन्धे की उन्नति में काफी सहायता प्रदान की है। सरकार ने भी इस दिशा में कुछ कार्य किया है। १९३४ में केन्द्रीय सरकार ने इस धन्धे के विकास के लिए एक पञ्चवर्षीय योजना बनाई थी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस दिशा में काफी कार्य किया गया है, परन्तु इस धन्धे के बिखरे होने के कारण तथा बुनकरों के अशिक्षित तथा निर्धन होने के कारण विशेष प्रगति नहीं हो पाती।

युद्ध के बाद के दिनों में करघे के धन्धे को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मिल के उत्पादन के कम हो जाने से सूत के मिलने में कठिनाई हो गई, दूसरे भारत के विभाजन-के परिणामस्वरूप भी इस धन्धे को काफी धक्का पहुँचा। इन सब कारणों से इसके उत्पादन में काफी कमी हो गई। १९४७ में केन्द्रीय सरकार की सहायता बन्द हो जाने से इस धन्धे को और भी हानि हुई। १९४९ में तो इस धन्धे की स्थिति इतनी शोचनीय हो गई कि केन्द्रीय सरकार ने इसके ऊपर से निर्यात-कर हटाकर इसकी स्थिति ठीक करने का प्रयत्न किया। इस कपड़े के निर्यात की एक निश्चित योजना बनाई गई, सरकार ने स्वयं अपनी आवश्यकता का एक तिहाई इसी कपड़े को खरी-दने का आश्वासन दिया। इस धन्धे की दशा सुधारने के लिए सबसे आवश्यक बात इनके लिए सूत की व्यवस्था करना है।

रेशमी कपड़े का धन्धा—प्राचीन काल में भारत में सिल्क का धन्धा भी काफी उन्नत अवस्था में था। भारत में बना हुआ रेशम का कपड़ा विदेशों में हाथोंहाथ बिक जाता था। परन्तु जिन कारणों से सूत के कपड़े के धन्धे का पतन हुआ, उन्हीं से इसकी भी अवनति हुई, इसके अति-रिक्त कृत्रिम सिल्क के बन जाने के कारण भी इस धंधा को काफी धक्का पहुँचा।

अब तो देश में रेशम का धन्धा इतना गिर गया है और यहाँ इस प्रकार का रेशम तैयार किया जाता है कि देश के बाजारों में भी यहाँ के बने हुए रेशमी कपड़े की विशेष मांग नहीं होती। यहाँ उसकी घिरनी या रीलिंग इतनी बुरी होती है कि यहाँ के बुनकर अपने देश की अपेक्षा चीन और जापान की घिरी हुई सिल्क को अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए यहाँ से विदेशों को घिरने (रीलिंग) के लिए सिल्क भेजी जाती है। इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र मैसूर, बङ्गाल तथा कश्मीर हैं तथा रेशम बुनने के मुख्य नगर मुर्शिदाबाद, तंजौर, बनारस, सूरत, अमृतसर तथा मदुरा हैं।

इन दिनों रेशम के इस अवनत धन्धे की ओर सरकार का तथा कुछ देशभक्तों का ध्यान आकर्षित हुआ है। सन् १९३५ में सरकार ने इस धन्धे को प्रोत्साहन देने के लिए रेशम के कीड़ों के रोगों आदि को दूर करने के लिए शाही-रेशम-कीट पालन-समिति की नियुक्ति की थी, तथा इस उद्योग के विकास के लिए एक लाख रुपए की वार्षिक मंजूरी दी गई थी। इसके अतिरिक्त १९३४ में लगाए हुए भारी आयात कर के कारण भी इस धन्धे को काफी सहायता मिली है।

कच्चे रेशम के उद्योग के विकास के लिए सरकार ने एक केन्द्रीय सिल्क बोर्ड की स्थापना की है। इस बोर्ड के मुख्य कार्य रेशम के कीड़ों का स्वास्थ्य, उनका पालन-पोषण, आदि करने तथा शहतूत की खेती करने व रेशमी कपड़े की बिक्री के लिए आवश्यक सहायता आदि देना है। ऐसी आशा की जाती है कि इस बोर्ड के कार्यों के फल-स्वरूप निकट भविष्य में यह धन्धा उन्नति कर लेगा।

ऊन का धन्धा—भारत में ऊन के बने हुए माल में शाल, गलीचे, कम्बल, फेल्ट, पट्टू तथा पश्मीना मुख्य हैं। प्राचीन काल में ऊन का धन्धा भी काफी उन्नतावस्था में था। काश्मीर के बहुमूल्य शाल एक समय सारी दुनिया में प्रसिद्ध थे। भारत में बड़े-बड़े राजे महाराजे इन बहुमूल्य शालों को खरीदकर इस उद्योग को प्रोत्साहन देते रहते थे किन्तु इन राजाओं और रजवाड़ों के विनाश से, इस देश में बहुमूल्य शालों की मांग कम हो गई, हाँ यूरोप में जरूर सस्ते शालों की मांग बनी रही। १८७१ के फ्रैंको-प्रशन युद्ध से यूरोप में भी इन शालों की मांग कम हो गई, इंगलैण्ड के पेजले नामक स्थान में भी अच्छे शाल तैयार होने से इस धन्धे को और धक्का लगा।

मुगल सम्राटों के संरक्षकत्व में यहाँ ऊनी गलीचों का धन्धा भी खूब चमकता रहा परन्तु मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही साथ इस धन्धे का भी पतन प्रारम्भ हो गया। दूसरे विदेशों में तथा इस देश में कुछ और सस्ते तथा सुन्दर गलीचों के बनने के कारण उच्च कोटि के गलीचा का बनना बन्द हो गया। इस प्रकार कुटीर उद्योग के रूप में गलीचे का धन्धा प्रायः नष्ट हो गया है। अब अधिकतया भारतीय गलीचे जेलों या फैक्टरियों में बनते हैं। अमृतसर, बीकानेर, मिर्जापुर एलौरा, तथा आगरा गलीचे के धन्धे के मुख्य केन्द्र हैं।

भारत में कम्बल के उद्योग का भविष्य काफी उज्वल है। कम्बल बनाने के लिए ऊन प्रायः देश भर में प्राप्त हो सकता है। इस क्षेत्र में विदेशों में प्रतियोगिता करने का प्रश्न ही नहीं उठता। देश के अन्दर भी कम्बलों की माँग काफी है। यदि इस क्षेत्र में ध्यानपूर्वक काम किया जाय तो यह धन्धा अच्छा विकास कर सकता है।

हाथ के बने कागज का धन्धा—भारत में काफी समय से हाथ से कागज बनाने के धन्धे का प्रचलन था। भारत में हाथ के बने कागज की सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि तेरहवीं शताब्दी की मिलती है। अकबर के समय से काश्मीर हाथ से कागज बनाने के क्षेत्र में काफी प्रसिद्ध रहा है। अहमदाबाद में भी कागज का धन्धा बड़ा उन्नत धन्धा था। १८४८ में ८०० आदमी-बच्चे नित्य इस धन्धे में लगे रहते थे। बंगाल के हुगली, हावड़ा, मुर्शिदाबाद में कुछ समय पूर्व मुसलमानों का एक वर्ग जो कागजी कहलाता था, कागज बनाने में बड़ा प्रसिद्ध था। अब भी काश्मीर, हैदराबाद, बम्बई, मदरास तथा देश की सब जेलों में हाथ से कागज बनाया जाता है।

इस प्राचीन धन्धे के विकास के लिए काफी प्रयत्न किया जा रहा है। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ ने घास, रद्दी कागज, जूट के पौधों आदि के द्वारा कागज बनाना प्रारम्भ किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने भी हाथ से कागज बनाने के धन्धे के काम को लिया है। उत्तर प्रदेश के फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट देहरादून में इस दिशा में प्रयोग किये गए हैं जिससे इस धन्धे का विकास हो सके। यूरोप तथा अमरीका में भी हाथ से बने हुए कागज की अच्छी माँग है। चीन और जापान में काफी मात्रा में कागज हाथ से तैयार किया जाता है। इंगलैण्ड में भी बहुत सा कागज हाथ से बनाया जाता है। आवश्यकता इस बात की है भारत में इस धन्धे के दोषों को दूर कर उसे अच्छे ढंग से सङ्गठित कर उसका विकास किया जाय।

कुटीर उद्योगों के दोष तथा उसके सुधार के उपाय—भारतीय कुटीर उद्योगों को देखने से यह पता चलता है कि यह धन्धा अच्छी स्थिति में नहीं है। बहुत से ऐसे धन्धे हैं जो नष्ट हो चुके हैं, कुछ नष्टप्राय हैं और कुछ को यदि आवश्यक सहायता न मिली तो वे नष्ट हो जायेंगे।

कुटीर उद्योगों के क्षेत्र में कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण इनका अच्छी तरह विकास नहीं हो पाता। इनमें से मुख्य ये हैं :—

(१) शिल्पजीवियों की आर्थिक कठिनाइयाँ उनकी निर्धनता आदि।

(२) सङ्गठित बाजारों का अभाव जिसके कारण शिल्पकारों को दलालों के ऊपर ही निर्भर रहना पड़ता है।

(३) उनके काम करने की पद्धति जिससे उन्हें बहुत लाभ नहीं हो पाता।

(४) शिल्पकारों की निर्धनता, अशिक्षा तथा उनका संकुचित दृष्टिकोण।

अतः यह आवश्यक है कि वर्त्तमान कुटीर उद्योगों के इन दोषों को दूर कर उनका विकास किया जाय। इनके विकास के लिए कुछ सुझाव ये हैं :—

(१) साधारण तथा औद्योगिक शिक्षा का प्रचार।

(२) शिल्पजीवियों के सामाजिक तथा आर्थिक स्तर को ऊपर उठाया जाय।

(३) उनको अच्छे औजारों आदि की सुविधा प्रदान की जाय।

(४) औद्योगिक प्रदर्शिनियों की व्यवस्था की जाय जिससे कुटीर उद्योगों की बनी हुई वस्तुओं का प्रचार हो सके।

(५) शिल्पकारों को नई-नई आकर्षक वस्तुओं के नमूने बतलाये जाँय।

(६) इन उद्योग धन्धों की बनी हुई वस्तुओं की बिक्री का अच्छा प्रबन्ध किया जाय जिससे कारीगर को बेचने आदि की परेशानी न उठानी पड़े।

(७) कारीगरों को हर प्रकार की सहायता देने के लिए सहकारिता से बड़ा लाभ मिल सकता है।

(८) हमें उसकी उद्योगिक कुशलता को इतना बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे उसके हाथ की बनी वस्तुएँ, मशीनों की बनी वस्तुओं से काफी अच्छी रहें।

(९) कुटीर उद्योगों को कारीगर-संघों के रूप में भी सङ्गठित किया जा सकता है, जैसा कि काश्मीर में किया गया है।

(१०) इन कुटीर-उद्योगों को आर्थिक तथा अन्य सहायता देने के लिए सहकारी सहायता प्राप्त कम्पनियों की स्थापना की जाय।

(११) कुटीर उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक है कि उनसे तैयार होने वाले माल को न केवल विदेशी माल की प्रतियोगिता से बचाया जाय, वरन् देश के कारखानों के माल के मुकाबले से भी उसकी रक्षा की जाय। इसके लिए पहले उन मुख्य-मुख्य कुटीर उद्योगों को छाँट लिया जाय, जिनकी रक्षा करना अभीष्ट हो।

(१२) कुटीर उद्योगों की उन्नति के लिए संचालन शक्ति की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि आदमी अपने-अपने गाँव में ही नहीं, अपने-अपने घर में उसका उपयोग कर सकें।

यूरोप की सरकारों ने छोटे उद्योग-धन्धों के विकास के लिए काफी कार्य किया है। इस प्रकार के धन्धों के विकास के लिए आस्ट्रिया की सरकार ने काफी रुपया खर्च किया। बवेरिया का पेंसिल बनाने का धन्धा तथा सैक्सनी के घड़ियों के बनाने के धन्धे की उन्नति का मुख्य कारण इन राज्यों द्वारा दिया गया प्रोत्साहन ही है। हालैण्ड ने हाथ से कपड़े छापने के धन्धे की खूब उन्नति की। जर्मनी और इटली में भी इसी प्रकार के प्रयत्न किए गए। जापान की सरकार छोटे उद्योग-धन्धों के विकास के लिए काफी प्रयत्नशील रही है। भारत में भी १९३५ से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें इस धन्धे के विकास के लिए कुछ प्रयत्न कर रही हैं परन्तु अभी इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हुई है। अब देश स्वतन्त्र हो गया है आशा है थोड़े समय में भारत इस धन्धे में अच्छी उन्नति कर लेगा।

भारत में इस धन्धे के पनपने के काफी साधन उपलब्ध हैं। बड़े-बड़े कारखाने स्थापित करने के लिए काफी पूँजी की आवश्यकता होती है, और इस पूँजी की हमारे देश में काफी कमी है।

अतः यहां बड़े उद्योग धन्धों का खूब प्रसार करना सम्भव नहीं है। दूसरे बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना से बहुत से आदमियों के भी बेकार होने का भय है। भारत में आदमियों की, श्रम की कमी नहीं है। तीसरे छोटे कुटीर उद्योगों के प्रसार से किसानों को भी अच्छी सहायता मिलेगी। इस प्रकार भारत में कुटीर उद्योग-धन्धों के विकास की अतीव आवश्यकता है।

भारत सरकार ने देश में कुटीर-उद्योगों के विकास के लिये १६४८ में एक कुटीर उद्योग समिति (The Cottage Industries Board) की स्थापना की थी। १६५० में इस समिति का पुनर्संगठन किया गया। इस समिति के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) कुटीर उद्योगों के लिये आर्थिक सहायता की व्यवस्था करना।

(२) कुटीर उद्योगों के विकास के लिये योजनाएँ आदि बनाना, उन्हें कार्यान्वित करना तथा उनके संचालन का निरीक्षण आदि करना।

(३) विभिन्न राज्यों को कुटीर उद्योग सम्बन्धी योजनाओं के विषय में आवश्यक जानकारी प्रदान करना आदि।

इस समिति ने कुछ निश्चय किये हैं जिनके अनुसार उसका कार्य वर्त्तमान कुटीर उद्योगों की गणना, उनके उत्पादन की पद्धति, शिल्पकारों के शिक्षण के लिये व्यवस्था, सहकारिता का विकास कर ग्रामीण बेकारी की समस्या को हल करना। दूसरे कुछ नवीन यंत्रों से कुटीर उद्योग धन्धों में किस प्रकार सहायता ली जाय, इस बात की शिक्षा की व्यवस्था करना। सहकारिता के आधार पर कुटीर उद्योगों के विकास की व्यवस्था करना, तथा कुटीर उद्योगों द्वारा प्रस्तुत की गई वस्तुओं का देश तथा विदेश में विक्रय की व्यवस्था करना। इस समिति ने कुछ ग्रामीण धन्धों जैसे चमड़ा कमाना, सूत का कातना-बुनना, जूट व ऊन का धन्धा, तेल पेरना, धातुओं का काम, हाथ से कागज बनाने के धन्धे को प्रतियोगिता से बचाकर, विशेष सहायता देने का निश्चय किया है।

भारतीय आर्थिक आयोग (१६४६-५०) ने भारत में कुटीर तथा छोटे पैमाने वाले धन्धों की मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित बतलाई हैं :—

(१) ग्रामीण शिल्पकला के विकास की समस्या।

(२) कृषकों की सहायता के लिये वर्त्तमान ग्रामोद्योगों के विकास की समस्या।

(३) नगरों की वर्त्तमान शिल्पकला के विकास की समस्या।

(४) ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे नवीन उद्योग-धन्धों के विकास की समस्या जिनके द्वारा बहुत से लोगों को जो अभी खेती-बारी में लगे हैं, उन्हें काम मिल जाय और उससे उन्हें अच्छा लाभ प्राप्त हो।

(५) नगरों में भी छोटे पैमाने वाले उद्योग-धन्धों के विकास की समस्या।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कमीशन ने उद्योग-धन्धों सम्बन्धी कुछ आवश्यक समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आवश्यकता इस बात की है कि राज्य के सरकारों की नेतृत्व में, सहकारिता के आधार पर ग्रामोद्योगों का संगठन किया जाय। नगरों तथा ग्रामों के उद्योग-धन्धों के विकास के लिये सरकार पूर्ण प्रयत्न करे। उसके लिये आवश्यक वस्तुएँ जैसे औजार, साख तथा औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय। ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों की स्थापना करने के लिए हमें यह देखना होगा कि उस क्षेत्र में शक्ति के प्राप्त होने की, यातायात की, श्रम की, कच्चे पदार्थों आदि की सुविधा देखनी होगी। इन सब बातों को आगे रखकर ही देश के कुटीर उद्योगों के विकास की ओर हमें क्रियात्मक कदम उठाना होगा।

अठारहवाँ परिच्छेद

कुछ संगठित उद्योग-धंधे

पिछले परिच्छेद में हमने भारत के छोटे पैमाने पर किए जाने वाले उद्योग-धन्धों विशेषकर कुटीर उद्योगों के सम्बन्ध में विचार किया। यहाँ हम बड़े तथा संगठित उद्योग धन्धों पर प्रकाश डालेंगे।

सूती कपड़े का उद्योग (Cotton Mill Industry)—भारत में सबसे पहले १८१८ में कलकत्ते में एक सूती मिल खोली गई, परन्तु १८५४ में जब बम्बई में कपड़े की एक मिल की स्थापना हुई तब से इस धन्धे की अच्छी प्रगति होने लगी। इसके बाद और भी कई मिलें खुलीं, विशेषकर अहमदाबाद, शोलापुर तथा नागपुर सूती कपड़े के केन्द्र हो गए। १६वीं शताब्दी के अन्त में इस धन्धे की स्थिति कुछ डांवाडोल हो गई। प्रथम महायुद्ध के पूर्व के समय में यह धन्धा अच्छी उन्नति कर रहा था, युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण बाहर से आने वाले कपड़े में कमी हो गई, उधर सेना के लिए भी कपड़े की काफी मांग बढ़ गई, इससे इस धन्धे की उन्नति को और सहारा मिला। पर युद्ध के बाद वस्तुओं के मूल्य में काफी कमी आ गई, फलतः १६२५ में इस उद्योग की भी स्थिति बड़ी डांवाडोल हो गई। इस मन्दी का कारण—इस उद्योग के संगठन का अव्यवस्थित होना, मजदूरी का बढ़ना, बम्बई में उत्पादन की लागत में कमी होना तथा जापान से आनेवाले कपड़े की प्रतियोगिता थी। इस स्थिति को सुधारने के लिये १६२६ में सूती कपड़े से उत्पत्ति कर उठा दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के समय में भी भारतीय सूती कपड़े के उद्योग की दशा बहुत अच्छी थी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय कपड़े के उद्योग की प्रगति में कई बाधाएँ आईं, परन्तु वह धीरे-धीरे किसी प्रकार विकास-पथ पर अग्रसित होता ही गया।

सन् १८६६-१६०० में भारतीय मिलों द्वारा उत्पन्न किए हुए कपड़े का भाग १२ प्रतिशत तथा बाहर से आए हुए कपड़े का ६१ प्रतिशत था परन्तु १६३० में देश में उत्पन्न किए हुए कपड़ों का भाग ६३.६ प्रतिशत तथा बाहर वाले कपड़े का भाग ८ प्रतिशत ही रह गया। इस प्रकार इन थोड़े से वर्षों में इस उद्योग ने काफी उन्नति कर ली।

इस समय देश में इस उद्योग का काफी अच्छा स्थान मिला है। इस उद्योग में लगभग सौ करोड़ की पूँजी लगी हुई है तथा इसमें करीब पाँच लाख आदमी कार्य करते हैं। और यदि हम इस धन्धे में लगे हुए कुल व्यक्तियों को, तथा उन मजदूरों को जो खेती के साथ-साथ, अवकाश के समय इस धन्धे को भी करते हैं, उनको शामिल कर लें तो इन सब की कुल संख्या १५० लाख होती है। देश में उत्पन्न होने वाली कपास का अधिकांश भाग देश की मिलों के द्वारा ही प्रयुक्त हो जाता है। संसार में सूती कपड़े के धंधे में भारत का महत्वपूर्ण स्थान है। जहाँ तक इस कपड़े के उत्पादन का सम्बन्ध है संसार में भारत का स्थान दूसरा है। संसार के अनुमानित उत्पादित कपड़े का १४ प्रतिशत तथा सूत का १३ प्रतिशत भाग भारत में उत्पन्न होता है।

सन् १६२७ में टैरिफ बोर्ड ने भारतीय मिलों के बनाए हुये कपड़े की कटु आलोचना की थी। तब से ये मिलें अच्छे प्रकार का कपड़ा बनाने की ओर काफी प्रयत्न कर रहीं हैं। विदेशों से अच्छी रुई के आने से, व देश में अच्छे प्रकार की रुई उत्पन्न करने से तथा कुछ नवीन यन्त्रों के उपयोग से मिलें अच्छे प्रकार के सूत कातने में सफल हुई हैं। गत दशाब्दों में भारतीय मिलों में उत्पन्न हुये कपड़े की किस्म में भी अच्छी वृद्धि हुई है। सभी प्रकार के सूती कपड़े की किस्म को अच्छा बनाने की ओर

ध्यान दिया गया है। मिलों के उत्पादन की वृद्धि के साथ ही साथ कपड़ों की डिज़ाइन आदि में भी काफी विकास हुआ है। जैसा कि अर्नोपियर्स ने अपनी पुस्तक (Cotton Industry in India) में लिखा है कि भारतीय मिलों द्वारा बनाया हुआ कपड़ा यूरोप की बड़ी से बड़ी मिलों के बने हुये कपड़े से अब किसी प्रकार कम नहीं ठहरता।

यह तो रही मिलों द्वारा उत्पादित कपड़े की बात। इस उद्योग की वर्तमान प्रगति सम्बन्धी दूसरी विशेषता यह है कि अभी तक यह धन्धा मुख्य कर बम्बई में ही था और लोगों की रुचि बम्बई में ही ये मिलें स्थापित करने की थी। परन्तु इधर इस भावना में परिवर्तन हुआ है। अब उद्योगपतियों का विचार बम्बई से दूर मिलें खोलने का है। अब अहमदाबाद, शोलापुर, नागपुर, कानपुर आदि नगरों में मिलें स्थापित करने की प्रवृत्ति अधिक है। इसका कारण यह है कि इन स्थानों में एक तो कच्चे माल के, सस्ते श्रम के प्राप्त होने की सुविधा है, दूसरे मिलों की स्थापना के लिए यहाँ जगह आदि भी आसानी से तथा कम दामों पर मिल जाती हैं। इस प्रकार बम्बई की अपेक्षा ऐसे अन्य स्थानों में इस धन्धे के प्रसार की अच्छी सुविधा है। मिलों की संख्या में १९१९ में बम्बई का भाग ३२·६ प्रतिशत था जब कि १९३७ में यह संख्या घटकर १८·६ प्रतिशत ही रह गई। यद्यपि बम्बई अब भी कपड़े का अच्छा केन्द्र है, परन्तु भविष्य में ऐसी आशा की जाती है कि उत्तर भारत तथा बंगाल में यह उद्योग अपना अच्छा स्थान प्राप्त कर लेगा।

उपरोक्त विवरण से यह पता चलता है कि भारत में सूती कपड़े का उद्योग काफी उन्नति कर रहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भारत में यह उद्योग बड़ी अच्छी स्थिति में है। आवश्यकता इस बात की है कि इस धन्धे को और भी व्यवस्थित किया जाय तथा इसका पूर्ण विकास करने का प्रयत्न किया जाय। इस धन्धे को और अधिक उन्नत तथा सुव्यवस्थित बनाने के लिये निम्नलिखित उपाय करने चाहिए :—

(१) अधिक लाभ के समय सुरक्षित कोष की स्थापना की जाय जिससे भविष्य में इस उद्योग को आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े।

(२) कपड़े की क़िस्म को अच्छा बनाया जाय, उसके उत्पादन में विकास किया जाय, इसके लिये अच्छे-अच्छे नवीन यंत्रों की सहायता ली जाय।

(३) यदि इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से बचाना है तथा विदेशों में इसे अच्छा स्थान दिलाना है तो हमें कपास के विक्रय में तथा तैयार माल के विक्रय में जापान की भाँति उच्च व्यावसायिक पद्धति को अपनाना होगा।

(४) कपास के मिलों के यन्त्रादिकों में विशेष विकास किया जाय।

(५) कुछ मिलों का प्रबन्ध अयोग्य डाइरेक्टरों के हाथ में रहता है, कुछ प्रबन्धक बहुधन्धी होने के नाते इस ओर विशेष ध्यान नहीं दे पाते। अतः इनके हाथों से मिल का प्रबन्ध लेकर कुशल तथा योग्य डाइरेक्टरों के हाथ में सौंपा जाय।

(६) बहुत सी मिलों की आर्थिक अवस्था भी अच्छी नहीं रहती, इससे मिलों को कभी-कभी बड़ी हानि उठानी पड़ती है। अतः उनके लिये पूँजी का भी उचित प्रबन्ध किया जाय।

(७) इसके अतिरिक्त इस उद्योग के संगठन में भी परिवर्त्तन किया जाय। अभी तक इसका संगठन पूर्णरूप से व्यक्तिगत आधार पर है। प्रत्येक मिल अपनी रुई, मशीन आदि व्यक्तिगतरूप से ही खरीदती, व्यक्तिगत रूप से ही बीमा आदि की व्यवस्था करती है। आवश्यकता इस बात की है कि अब सामुहिकता के आधार पर इसका संगठन किया जाय। जापान तथा इङ्गलैण्ड आदि में इस प्रकार का संगठन किया गया है।

सूती कपड़े के संगठन की युद्ध के बाद की दशा—द्वितीय महायुद्ध के कई वर्षों पूर्व में भारतीय सूती कपड़े के उद्योग की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। युद्ध के प्रारम्भ हो जाने से इसकी उन्नति की आशा की एक किरण दिखलाई दी। सन् १६४२-४३ में भारत से ८१६० लाख गज सूती कपड़े का निर्यात हुआ। निर्यात कर के हटा दिये जाने से यह आशा की जाती है कि १६५० में सम्भवतः ११,००० लाख गज कपड़े का निर्यात होगा। लंका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा मध्यपूर्व में हमारे यहाँ के कपड़े की अच्छी माँग है। विदेशी प्रतियोगिता के होते हुये भी भारतीय कपड़े का अच्छा स्वागत हुआ है। उसका मुख्य कारण यह है कि युद्ध के बाद जापानी माल का आयात बिल्कुल बन्द हो गया, संयुक्त राष्ट्र का आयात भी पहले से कम हो गया। परन्तु हमें विदेशी प्रतिद्वन्दियों से हमेशा सावधान रहना चाहिए, भारत के इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिये। अब जापान के उद्योग धन्धों की पुनर्संस्थापना का प्रयत्न किया जा रहा है और थोड़े समय में बाजारों में उसका भी कपड़ा आ जायगा।

युद्ध के प्रारम्भ हो जाने से भारतीय कपड़े के उद्योग को सब लाभ ही लाभ नहीं पहुँचा। युद्ध के कारण श्रम का अभाव हो गया था, श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हुई, उन्हें मँहगाई आदि का भत्ता देना पड़ा। इस समय कपड़े की माँग तो बढ़ गई परन्तु इस बढ़ी हुई माँग की अच्छी तरह से पूर्त्ति न की जा सकी क्योंकि युद्ध के कारण विदेशों से मिलों की मशीनें तथा अन्य सामान का आना असम्भव था, इसलिये इस उद्योग का विस्तार भी नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त उत्पादन तथा अन्य करों में भी वृद्धि हो गई परन्तु कुल मिलाकर युद्ध से लाभ अधिक हुआ।

युद्ध के समाप्त हो जाने पर इस उद्योग के विकास की कई योजनाएँ बनाई गईं, सारे देश में सौ कपड़े की मिलें खोलने का विचार किया गया किन्तु देश के विभाजन के परिणामस्वरूप यह योजना स्थगित कर दी गई।

सम्भवतः वर्त्तमान अवस्था में भारतीय मिलें वर्ष में ६०,००० लाख गज कपड़ा उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं, परन्तु इस दिशा में और भी विकास करने का प्रयत्न किया जा रहा है। बत्तीस नई मिलों की स्थापना होने वाली है। १६४६ की अप्रैल से दो वर्ष के लिये सूती कपड़े के संरक्षण के समय में वृद्धि कर दी गई है।

अप्रैल १६४८ में कपड़े पर से नियन्त्रण हटा लिया गया था किन्तु कुछ कारणों से जुलाई १६४८ में नियंत्रण फिर लगाना पड़ा। अब सूती कपड़े के उत्पादन तथा वितरण आदि पर नियंत्रण लगा हुआ है।

विभाजन के उपरान्त, कपास के अधिकांश क्षेत्र के पाकिस्तान में चले जाने के कारण हमें इसके लिये पाकिस्तान पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार इन दिनों कपड़े के उद्योग की स्थिति बड़ी असन्तोषजनक हो गई है। जब कि देश में साधारणतया वर्ष में ४५ लाख गाँठों की खपत होती है, १६४८ में २८ लाख गाँठ कपड़ा ही उत्पन्न किया जा सका। १६५० में अनुमानतः २५ लाख, तथा १६५१ में ३२ लाख गाँठ कपड़ा उत्पन्न किये जाने की सम्भावना है।

अतएव जब तक रुई प्राप्त होने की अच्छी व्यवस्था नहीं होती तब तक इस दिशा में विशेष सुधार की आशा नहीं की जा सकती।

जूट का उद्योग—भारत में जूट का उद्योग भी एक महत्त्वपूर्ण उद्योग है। जूट की जितनी भी मिलें हैं वे सब की सब बंगाल में हैं।

सबसे पहले सन् १८३८ में डंडी में जूट का पहला कारखाना स्थापित किया गया। १८५५ ई० में कलकत्ते में जूट के कातने तथा बुनने का कारखाना खोला गया। इसके बाद १८५६ में बोर्निओ जूट कम्पनी द्वारा शक्ति द्वारा संचालित प्रथम कर्घा (पावर-लूम) स्थापित किया गया।

पहले तो कोई विशेष प्रगति होती हुई नहीं दिखाई पड़ी किन्तु बाद में यह धन्धा दिनोंदिन उन्नति करता गया। १८६८ से लेकर १८७३ तक में जूट की मिलों ने खूब रुपया कमाया। १८५९ में केवल १९२ कर्घे थे, १९३३ में इन कर्घों की संख्या बढ़कर ६०,००० पहुँच गई तथा १९३७ में ६६,००० हो गई। भारत से बाहर सब देशों में मिलाकर कुल ४९,००० कर्घे हैं जिनमें से ८,००० केवल डण्डी में हैं।

नीचे दी हुई तालिका द्वारा जूट के उत्पादन, मिलों द्वारा जूट के उपभोग तथा कच्चे जूट के विदेशों के निर्यात के विकास का पता लग जायगा :—

(लाख गाँठों में)

वर्ष	उत्पादन	मिलों द्वारा उपभोग	निर्यात
१९१२-१३	९८	४६	५०
१९२७-२८	१०२	५८	४९
१९३२-३३	५८	४४	३५
१९३६-३७	९६	७१	४६

पूँजीवादी दृष्टिकोण के अनुसार यह कहा जा सकता है कि जूट का उद्योग देश में सबसे अधिक संगठित उद्योग है। १८८६ में भारतीय जूट मिल असोशियेशन का संगठन किया गया था। इस असोशियेशन ने जूट कम्पनियों के संगठन आदि के लिये अच्छा कार्य किया। जूट उद्योग के सभी अंगों की देखभाल करने के लिये भारत सरकार ने एक केन्द्रीय जूट समिति की नियुक्ति की। कुछ वर्षों पूर्व इन कम्पनियों की पूँजी ग्रेट ब्रिटेन के पूँजीपतियों के हाथ में थी। कुछ अमरीकनों ने भी कई लाख डालरों को इस उद्योग में लगाया था। गत दशाब्दों में अंगरेजों के हाथ से भारतीयों के हाथ में पूँजी का हस्तान्तरण हो गया है किन्तु इनका प्रबन्ध अब भी विदेशियों के हाथ में है।

सन् १९१५ से लेकर १९२९ तक में जूट की मिलों ने अपने हिस्सेदारों को खूब लाभ पहुँचाया। १९२९ में आर्थिक मन्दी के आ जाने से इस उद्योग को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बाद में बंगाल सरकार ने एक आर्डीनेन्स पास करके इस उद्योग की दशा को सुधारने का प्रयत्न किया। इसके द्वारा सभी जूट की मिलों पर यह रोक लगा दी गई कि वे प्रति सप्ताह ४५ घण्टे से अधिक कार्य न करें। इससे मिलों के उत्पादन को कुछ सीमित कर दिया गया। परन्तु इसके पश्चात् १९३९ के युद्ध के प्रारम्भ हो जाने से इस उद्योग की स्थिति सुधरने को काफी सहारा पहुँचा, जूट के माल के उत्पादन में काफी वृद्धि हो गई और हिस्सेदारों को काफी लाभ प्राप्त हुआ, हाँ युद्ध से इस धन्धे को एक हानि अवश्य हुई, वह यह कि युद्ध के कारण इसके हाथ से विदेशी बाजार निकल गए, जहाजों आदि के अभाव के कारण इसके निर्यात में बाधा पहुँची और युद्ध से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में जूट का उद्योग अबाधगति से प्रगति करता जा रहा है। इधर हमारे इस उद्योग के सन्मुख एक संकट खड़ा हो गया है, वह यह कि विभाजन के परिणाम-स्वरूप जूट उत्पन्न करने वाला क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में चला गया है, जब कि जूट की सारी मिलें भारत में हैं। पाकिस्तान में जूट के उद्योग के विकास के लिये अंगरेज विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत को अपनी मिलों के लिये स्वयं पर्याप्त मात्रा में जूट उत्पन्न करना होगा। सन् १९५१ तक भारत को जूट में स्वावलम्बी बनाने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। १९४९ में ३० लाख गाँठें जूट हुआ जब कि १९४८ में केवल २० लाख गाँठे ही हुई थी। १९५० में ४० लाख गाँठें जूट के उत्पन्न होने की आशा की जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस धन्धे के विकास की ओर हमें यथेष्ठ ध्यान देना होगा और इसके लिये एक निश्चित योजना बनानी होगी। इसका एक कारण और है वह यह कि विदेशों में इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि जूट के स्थान पर अन्य वस्तुओं का उपयोग कर अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति की जाय। उधर ब्राजील ने भारतीय जूट के उत्पादन में भी अच्छी सफलता प्राप्त कर ली है।

अतएव यदि इस ओर यथाशीघ्र ध्यान न दिया गया तो हमारे जूट के उद्योग को काफी धक्का लगेगा।

लोहे और फौलाद का उद्योग—पाश्चात्य देशों में होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति के आधार लोहे और फौलाद से भारत अत्यन्त प्राचीन काल से परिचित रहा है। हमारे देश ने अस्त्र-शस्त्रों तथा औजारों आदि के निर्माण के लिये उच्चकोटि के फौलाद का निर्माण किया था। भारत में हैदराबाद से ही भेजी हुई स्टील के द्वारा प्रसिद्ध डेमेस्कस ब्लेड बनाये जाते थे। दिल्ली में स्थित लोहे का स्तूप जो कि १५०० वर्ष पुराना माना जाता है, भारतीय लोहे के उद्योग की उन्नतावस्था का द्योतक है। आज भी लोगों को यह देखकर आश्चर्य हो जाता है कि इतने प्राचीनकाल में इस प्रकार का स्तम्भ बनाना कैसे सम्भव था। लोहे गलाने वालों की एक जात जिसे अगरिया कहते हैं आज भी सारे देश भर में पाई जाती है। आज से सवा सौ वर्ष पूर्व डा० फ्रान्सिस बकानन ने इन लोहे गलाने वालों को अच्छी दशा में पाया था। परन्तु मशीनों के युग के आगमन से, सस्ते लोहे के सामान के देश में आने के कारण अगरियाओं का उद्योग नष्ट हो गया और उनकी दशा बिगड़ गई।

भारत में आधुनिक प्रणाली के अनुसार लोहे और फौलाद के तैयार करने का कार्य अभी थोड़े दिनों पूर्व से प्रारम्भ हुआ है। पहले प्रबन्धकों की अयोग्यता, अनुभवहीनता तथा पूँजी के अभाव के कारण इस उद्योग को अधिक सफलता न प्राप्त हुई। १९०७ में टाटा के लोहे और फौलाद की कम्पनी की स्थापना हुई। इसके दूसरे वर्ष आसनसोल के निकट हीरापुर में भारतीय लोहे और फौलाद की कम्पनी का कारखाना खोला गया। १९२३ में भद्रवती में मैसूर का लोहे का कारखाना खोला गया। १९३७ में बंगाल के स्टील कार्पोरेशन की स्थापना हुई। टाटा का लोहे और फौलाद का कारखाना वर्ष में ८,५०,००० टन, बंगाल का स्टील कार्पोरेशन २,५०,००० टन, तथा मैसूर का लोहे और फौलाद का कारखाना २५,००० टन लोहा उत्पन्न कर सकते हैं।

टाटा का लोहे और इस्पात का कारखाना राष्ट्रमंडलीय देशों के सबसे बड़े कारखानों में से एक है। इस कम्पनी के हाथ में कई लोहे और कोयले आदि की खानें हैं जिनसे इसे आसानी से कच्चा लोहा तथा मैंगनीज आदि प्राप्त हो जाता है। ये खानें कारखानों से अधिक दूरी पर नहीं हैं। इससे कम खर्चे में कच्चा माल प्राप्त हो जाता है। डोलोमाइट तथा चूने का पत्थर जो कि लोहे के गलाने के लिए आवश्यक हैं, वे भी इन खानों के निकट ही मिलते हैं। इस प्रकार भारत बड़े सस्ते मूल्य पर गला हुआ लोहा (Pig Iron) तैयार कर सकता है। भारत से विदेशों को गला हुआ लोहा (Pig Iron) तथा लोहे और फौलाद (Iron and Steel) का किस प्रकार निर्यात हुआ, इसका परिचय नीचे दी हुई तालिका से चल जायगा :—

निर्यात हजार टनों में

वर्ष	पिग आइरन	लोहा और फौलाद
१९२७-२८	३९३	५९
१९३३-३४	३७७	९१
१९३७-३८	६२९	८७

१९३९-४०	५७२	१०६
१९४०-४१	५९९	१०४
१९४१-४२	५२१	४०
१९४२-४३	२४२	६
१९४३-४४	१८४	२
१९४४-४५	१५९	३

इन आंकड़ों से यह पता चलता है कि युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् देश में बहुत से उद्योगों के खुल जाने से विदेशों को लोहे और फौलाद आदि का अधिक मात्रा में निर्यात नहीं किया जा सका।

युद्ध के पूर्व देश में अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण से लोहे और फौलाद के उद्योग को काफी बल मिला। युद्ध के प्रारम्भ हो जाने से इस उद्योग की आर्थिक स्थिति और भी अच्छी हो गई। लोहे के उत्पादन में, उसके मूल्य में, तथा उससे होने वाले लाभ में आश्चर्यजनक वृद्धि हो गई परन्तु युद्ध के पश्चात् इस उद्योग की प्रगति कुछ मन्द पड़ गई। १९४७ में फौलाद (स्टील) का उत्पादन ८९८,५८० टन, १९४९ में इससे भी कम ६७४,००० टन का उत्पादन हुआ। इस प्रकार युद्ध के पश्चात् हमारे उत्पादन तथा निर्यात दोनों में कमी हुई है। आज देश में जितने लोहे और इस्पात की मांग हो रही है, उससे उत्पादन कहीं कम हो रहा है। इसके लिए सरकार ने लोहे और इस्पात पर नियन्त्रण लगा दिया है, प्रत्येक राज्यों का कोटा निश्चित कर दिया गया है। सरकार ने उत्पादन में वृद्धि के लिए तथा लोहे और फौलाद की मांग की पूर्ति के लिये दो बड़े इस्पात के कारखानों के खोलने का निश्चय किया है। आशा है निकट भविष्य में देश में पर्याप्त मात्रा में इस्पात का उत्पादन हो सकेगा।

शकर का उद्योग—देश में जिन उद्योगों को सरकार का द्वारा संरक्षण प्राप्त है, उनमें से शकर का उद्योग अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतवर्ष शकर का आदि स्थान कहलाता है। ऐसा कहा जाता है कि जब संसार के अन्य देश इस वस्तु के नाम से भी परिचित नहीं थे, उस समय भारत शकर पैदा करता था। एक समय था जब कि भारत विदेशों को काफी शकर भेजता था, परन्तु जावा आदि देशों में इस उद्योग के स्थापित हो जाने से भारत के शकर के उद्योग को काफी धक्का पहुँचा। बाद में सरकार ने इस उद्योग पर संरक्षण लगाकर इसकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया। संरक्षण की सुविधा के प्राप्त होते ही देश में शकर के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई। दो वर्षों के अन्दर ही शकर के कारखानों की संख्या में ४०.० प्रतिशत की वृद्धि हुई तथा १९३१-३२ से शकर के उत्पादन में ७०० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। विदेशों से आनेवाली चीनी के आयात में भी कमी हुई है।, १९३०-३१ में औसतन दस लाख टन शकर का आयात होता था परन्तु १९३६-३७ में लगभग १२,००० टन का ही आयात हुआ। आज भारत सम्भवतः संसार में सबसे अधिक शकर की उत्पत्ति करने वाला है। इस उद्योग में लगभग ३० करोड़ की पूँजी लगी हुई है तथा शकर के कारखानों में काम करने वाले लगभग ५० लाख मजदूर हैं।

नीचे दी हुई तालिका से इस उद्योग की प्रगति का कुछ परिचय मिल जायगा :—

वर्ष	गन्ने के कारखानों की संख्या	कुल उत्पादन (टनों में)
१९२९-३०	२७	३१३,०००
१९३४-३५	१३०	७९७,२००

१६३६-४०	१४५	१३६८,४००
१६४२-४३	१५०	१२६४,७००
१६४३-४४	१५०	१३७०,०००
१६४४-४५	१४०	१०३६,५००

शकर के कुल उत्पादन के आंकड़ों में देश में पैदा की जाने वाली सब प्रकार की शकर सम्मिलित है। हमारे शकर के उद्योग के सम्बन्ध में कुछ बाधाएँ हैं जिनके कारण इस उद्योग को काफी कठिनाइयों का सामाना करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि देश में गन्ने का उत्पादन बहुत कम होता है। १६३१-३२ से अच्छे किस्म के गन्ने का क्षेत्र ४० प्रतिशत था, १६४५-४६ में ८३ प्रतिशत पहुँच गया। परन्तु अच्छे बीजों वाले क्षेत्र की वृद्धि के साथ ही साथ उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई, उल्टे ह्रास ही हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि अच्छे बीजों के बो देने से ही हम गन्ने के उत्पादन में वृद्धि नहीं कर सकते, इसके लिए हमें अच्छी खाद की व्यवस्था करनी होगी। बम्बई राज्य में गन्ने की अच्छी किस्म से ४० टन प्रति एकड़ की पैदावार होती है, जब कि उत्तर प्रदेश में उसी प्रकार के बीजों से केवल १० टन प्रति एकड़ का उत्पादन होता है। इस अन्तर का मुख्य कारण यह है कि बम्बई के कारखाने अपनी आवश्यकता का गन्ना स्वयं उत्पन्न करते हैं और वे उसके लिए सिंचाई की तथा उत्तम खाद की अच्छी व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शकर के उद्योग की सबसे बड़ी समस्या गन्ने के उत्पादन का कम होना है। अतएव सबसे पहला ध्यान हमें गन्ने के उत्पादन की वृद्धि की ओर देना चाहिए। उत्पादन में वृद्धि करने के लिए हमें सिंचाई की अच्छी व्यवस्था करनी होगी, पर्याप्त मात्रा में खाद तथा कृषि यंत्रों का प्रबन्ध करना होगा। प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने के लिए हमें कृषि की अच्छी पद्धति का प्रचार करना होगा तथा फसल को कीडे-मकोड़ों आदि से रक्षित करना होगा। वर्तमान समय में हमारे देश में जो उत्पादन होता है वह क्यूबा का एक-तिहाई, जावा का एक चौथाई तथा हवाई का पाँचवा भाग होता है। वास्तव में बात यह है कि अच्छे प्रकार के गन्ने का उत्पादन मानसूनी प्रदेश में जहाँ कि खूब प्रचण्ड धूप तथा प्रबल वर्षा होती है, वहीं हो सकता है। परन्तु हमारे यहाँ जितना गन्ना उत्पन्न होता है उसका ६० प्रतिशत भाग ऐसे क्षेत्र में नहीं होता, वह ऐसे प्रदेश में होता है जहाँ की जलवायु गेहूँ के लिए उपयुक्त है। टैरिफ बोर्ड ने यह सुझाव रक्खा है कि भविष्य में गन्ने का उत्पादन उत्तर प्रदेश तथा बिहार को छोड़ कर अन्य प्रदेशों में किया जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में हमारी दूसरी कठिनाई यह है कि यहाँ गन्ने का वितरण उचित रूप में नहीं है। किन्हीं कारखानों के निकट तो काफी मात्रा में गन्ना पाया जाता है और कहीं बिल्कुल ही कम। यहाँ पर जो गन्ना कारखानों को मिलता है उसका दाम जावा आदि देशों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

शकर के उत्पादन में लागत अधिक लगने का ऐक कारण और है, वह यह कि गन्ने से रस निकाले जाने का समय बहुत कम होता है। साल में औसतन एक सौ दस दिन ही ऐसे होते हैं। अतएव इस दिशा में भी सुधार करने की आवश्यकता है। चौथे हमारे यहाँ की मिलें भी इतनी कुशल नहीं हैं जितनी जावा तथा क्यूबा आदि देशों की। पाँचवे बहुत सी मिलों का स्थान भी उपयुक्त नहीं है। उत्तर प्रदेश व बिहार में ७५ प्रतिशत शकर के कारखाने हैं तथा यहाँ ८१ प्रतिशत शकर पैदा होती है। बम्बई में शकर का उपभोग सब से अधिक है, परन्तु वहाँ उत्पादन बिल्कुल ही कम होता है, इसके विपरीत बिहार में शकर की खपत बिल्कुल ही कम है, जब कि वहाँ उत्पादन काफी होता

है, मद्रास में खपत काफी है परन्तु उत्पादन बिल्कुल ही कम। इससे व्यर्थ में ही काफी खर्च हो जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए शकर के कारखानों की स्थापना की ओर उचित ध्यान दिया जाना चाहिये।

हमारे इस उद्योग का एक बड़ा दोष यह भी है कि यहाँ मिलें अपनी आवश्यकता का गन्ना स्वयं नहीं उत्पन्न करतीं, इससे उन्हें न पर्याप्त मात्रा में और न अच्छे किस्म का गन्ना मिल पाता है। हमारे इस उद्योग का एक बड़ा दोष यह भी है कि इस उद्योग के उपोत्पत्तियों का उचित उपयोग नहीं हो पाता। उदाहरण के लिये शीरे को ही ले लीजिये। शीरा का सबसे अच्छा उपयोग अल-कोहल बनाने, तथा पशुओं के चारे व खाद आदि के रूप में हो सकता है, परन्तु इसका उचित उपयोग नहीं किया जाता। यदि शकर के उद्योग से होने वाली उपोत्पत्तियों का भी उचित उपयोग होने लगे तो शकर की कीमत में कमी की जा सकती है और उसके उपयोग को बढ़ाया जा सकता है।

शकर की किस्म को भी अच्छे बनाये जाने की आवश्यकता है। यद्यपि देश में उत्पन्न होने वाली शकर की सबसे अच्छी किस्म विदेशों से आने वाली शकर से किसी प्रकार कम नहीं है किन्तु साधारणतया हमारे देश की शकर के दाने या रवे अच्छे नहीं होते, उनमें एकरूपता का अभाव रहता है।

भारत में शकर के उद्योग के विकास की काफी सम्भावनाएँ हैं। हमारे यहाँ सस्ते श्रम में तथा अच्छी व पर्याप्त मात्रा में गन्ना प्राप्त हो सकता है। हमारी अधिकांश जनता शाकाहारी है, इसलिये इसके खपत की भी काफी आशा है। वैसे तो वर्तमान समय में शकर की जो खपत हमारे देश में होती है, वह अन्य देशों की अपेक्षा काफी कम है किन्तु यदि रहन-सहन के स्तर में जरा भी वृद्धि हुई तो शकर के उपयोग में भी अवश्य बढ़ती होगी। नीचे दी हुई तालिका से भारत तथा अन्य देशों में शकर के उपयोग का परिचय मिल जायगा :--

शकर का प्रति व्यक्ति उपभोग (पौण्ड में)

संयुक्त	११२
संयुक्त राज्य अमरीका	१०३
जर्मनी	५६
आस्ट्रेलिया	११४
जापान	२६
भारत	२० (इसमें गुड़ भी सम्मिलित है)

इस प्रकार हमारे हाथ में अभी जितने साधन हैं, यदि उनका उचित विकास किया जाय तो हम अपने देश को संसार में शकर के निर्यात करने वाला सबसे बड़ा क्षेत्र बना सकते हैं।

शकर के उद्योग में युद्ध तथा युद्ध के बाद के विकास—८ दिसम्बर सन् १९४७ को शकर पर से नियंत्रण उठा लिया गया, कुछ लोग इस नियन्त्रण के उठाए जाने के बिल्कुल ही विपरीत थे परन्तु इन्डियन सुगर सिन्डीकेट ने १९४६ तक निश्चित किए हुए मूल्य पर शकर देने का वचन दिया, परन्तु यह बात पूरी नहीं की गई और शकर का मूल्य दो रूपए सेर तक बढ़ गया। ऐसा मालूम पड़ने लगा कि शकर बिल्कुल ही नहीं दिखलाई पड़ेगी। टैरिफ बोर्ड ने इस अभाव का दोषी सिंडीकेट को ही ठहराया। इसके परिणामस्वरूप सिन्डीकेट को समाप्त कर दिया गया। केन्द्रीय सर-कार ने एक समिति नियुक्त की जिसने शकर के उत्पादन में वृद्धि करने तथा शकर के और कारखानों की स्थापना आदि के विषय में निश्चय किया। २५ नई शकर की मिलों की स्थापना की आशा की जा रही है। सन् १९४७-४८ में शकर की कुल १३४ मिलें थीं।

अन्य भारतीय उद्योगों की भाँति शकर के उद्योग को भी कई कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। इधर वर्षों से दिनोंदिन शकर के उत्पादन में ह्रास होता जा रहा है। इसके कई कारण हैं। इनमें से कुछ कारणों पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। हमने देखा कि यहाँ गन्ने की फसल कैसी रहती है और गन्ना किस प्रकार का पाया जाता है। शकर के उत्पादन में इधर एक और बाधा रही है, वह यह गुड़ तथा खांड़सारी के उत्पादन में अधिकता तथा शकर की अपेक्षा उनके मूल्य का कम होना। वास्तव में शकर के उत्पादन का सम्बन्ध गन्ने की सुलभता पर ही निर्भर करता है। सरकार को गन्ने के उत्पादन की ओर अधिकाधिक ध्यान देना चाहिए। उसे गुड़ के उत्पादन, उसके वितरण तथा मूल्य आदि पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

वर्त्तमान शकर के अभाव को दूर करने के लिए सरकार ने एक लाख टन शकर के आयात का निश्चय किया है। शकर पर संरक्षण की अवधि में भी वृद्धि कर दी गई है। यह बड़े खेद की बात है कि सोलह वर्ष के संरक्षण के पश्चात् भी हमारा शकर का उद्योग अभी अपने पैरों पर नहीं खड़ा हो पाया है।

विभाजन के परिणामस्वरूप देश की शकर की मांग में ढाई लाख की कमी हो गई है। इस बचत को विदेशों को भी नहीं भेजा जा सकता। उसका कारण यह है कि भारतीय शकर का दाम क्यूबा, ब्राजील आदि देशों की शकर से कहीं अधिक है। शकर के इस मूल्य की अधिकता का प्रभाव हमारे इस उद्योग पर बहुत अधिक पड़ेगा।

अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम देश में अच्छे गन्ने का अधिक से अधिक उत्पादन करें, इस उद्योग की उपोत्पत्तियों का अच्छा उपयोग कर, शकर के मूल्य में कमी करने का प्रयत्न करें।

कागज का उद्योग—भारत जैसे देश में जहाँ के लाखों मनुष्य लिखना-पढ़ना नहीं जानते, कागज के उद्योग का उतना महत्व नहीं है जितना कि अन्य देशों में।

भारत में कागज बनाने के लिए सभी आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हैं, और यहाँ इस धन्धे के अच्छे विकास की सम्भावना है। भारत में कागज लकड़ी के गूदे, चिथड़े तथा घास से बनाया जाता है इन दिनों इस काम के लिए बांस का भी काफी उपयोग किया जा रहा है। हाथ से कागज बनाने के उद्योग के सम्बन्ध में पीछे विचार किया जा चुका है, यह धन्धा हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से है परन्तु मशीनों द्वारा कागज बनाने का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ जब कि १८६७ में बैली में रायल पेपर मिल की स्थापना हुई। इसके बाद अपर इन्डिया कूपर मिल लखनऊ (१८७६); टीटागढ़ पेपर मिल (१८८२); दकन पेपर मिल कम्पनी (१८८५); बंगाल पेपर मिल (१८८६); इम्पीरियल पेपर मिल्स (१८६२); इंन्डियन पेपर पल्प कंपनी (१६१८); कर्नाटक पेपर मिल राजमुन्द्री (१६२७) तथा जगाधरी के श्री गोपाल पेपर मिल की स्थापना हुई। इस समय भारत में १६ कागज की मिलें है। बंगाल में सबसे अधिक कागज़ की मिलें हैं।

सन् १६१८ के पश्चात् भारतीय कागज के उद्योग को विदेशी कागज की प्रतियोगिता से सामना करना पड़ा। अतएव १६२४ में कागज पर संरक्षण की नीति निर्धारित कर दी गई। इसके बाद १६३२, फिर १६३६ में संरक्षण की अवधि में वृद्धि कर दी गई।

जहाँ तक कच्चे माल का प्रश्न है, भारत में विभिन्न प्रकार की घासें उत्पन्न होती हैं, जिनका उपयोग कागज बनाने में किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बांस से भी अच्छा काम लिया जा सकता है। बाँस से बना कागज, घास से बने हुए कागज से कहीं अधिक अच्छा होता है। अभी तक भारत ने अपने जंगलों से पूरा लाभ नहीं उठाया है। हिमालय के जंगलों में पाइन, स्प्रूस, आदि कितने ही ऐसे वृक्ष हैं जिनके गूदे से अच्छा कागज बनाया जा सकता है।

इधर भारतीय मिलें अपने इस उद्योग के विकास के लिए काफी प्रयत्न कर रहीं हैं, परन्तु अभी हमारे इस उद्योग में कई त्रुटियाँ हैं। बहुत सी मिलें इतनी छोटी हैं जो आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं हैं। अभी मिलों में जो मशीनरी लगी हुई हैं, वह भी काफी पुरानी हो चुकी हैं।

हमारी कागज की मिलें जो कागज बनाती हैं, वह अन्य देशों से आने वाले कागज से कोई बहुत गिरा हुआ नहीं होता। हमारी ये मिलें प्रायः सभी प्रकार का कागज बना सकती हैं, हाँ ये अखबारी कागज बनाने में अवश्य असमर्थ हैं, अतः हमें विदेशों से अखबारी कागज मंगाना पड़ता है साधारणतः देश में प्रतिवर्ष ४५,००० टन अखबारी कागज की आवश्यकता होती है।

देहरादून का फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट कागज के उद्योग के विकास के लिए काफी प्रयत्न कर रहा है। भारत में कागज के उद्योग के विकास के लिए काफी क्षेत्र है। जैसे-जैसे देश से अशिक्षा दूर होती जायगी, शिक्षा का प्रसार होता जायगा कागज की आवश्यकता बढ़ती जायगी। सन् १९३८-३९ में देश में प्रति व्यक्ति कागज की खपत केवल १.२ पौण्ड थी, जब कि अमरीका में २४० पौण्ड प्रति व्यक्ति कागज खर्च होता है।

इधर कागज के उत्पादन में काफी कमी हो गई। उसका मुख्य कारण यह है कि युद्ध के छिड़ जाने के कारण विदेशों से कागज का गूदा आना बन्द हो गया, कागज का आयात भी रुक गया। उधर सरकार को भी कागज की काफी आवश्यकता हुई। इन सबके कारण देश में कागज की काफी कमी हो गई साथ ही साथ कागज के दामों में भी काफी वृद्धि हो गई। इसके बाद देश के विभाजन के परिणामस्वरूप वन-प्रदेश जिनसे कि कागज बनाने के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल प्राप्त होता था, पूर्वीय पाकिस्तान में चला गया। इससे कच्चे माल के मूल्य में वृद्धि हो गई है। इसके अतिरिक्त रासायनिक पदार्थों के मूल्य में भी वृद्धि हो जाने तथा रेल आदि के भाड़े के बढ़ने का प्रभाव भी हमारे कागज के उद्योग पर पड़ा है, जिससे कागज के मूल्य में भी वृद्धि हो गई है। आवश्यकता इस बात की है कि इस उद्योग के विकास के लिये काफी प्रयत्न किया जाय। कच्चे माल के प्राप्त होने की व्यवस्था की जाय तथा अन्य पदार्थों का आविष्कार किया जाय जिससे इस धन्धे के विकास में अच्छी सहायता मिल सके।

चमड़े का उद्योग—प्रत्येक देश में चमड़े के उद्योग का अपना अलग स्थान होता है। संसार के पशुओं की कुल जनसंख्या का एक तिहाई भारत में हैं। यहाँ ५८० लाख बकरियाँ, ४६० लाख भेंड़ें, तथा १२५० लाख अन्य पशु हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि करीब ६२० लाख पशुओं की खाल प्रति वर्ष पैदा की जाती है। इसमें से ७० प्रतिशत से लेकर ८० प्रतिशत तक खाल अपने आप मरे हुए जानवरों की होती है। भारत संसार को काफी मात्रा में कच्चा तथा कमाया हुआ चमड़ा भेजता है।

चमड़े तथा चमड़े कमाने के उद्योग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो देशी तथा दूसरा आधुनिक। देशी उद्योग के अन्तर्गत नीची जातियाँ जैसे चमार आदि इस धन्धे को करते हैं और स्थानीय आवश्यकताओं को पूरी करते हैं। पंजाब तथा बंगाल में जूतों के तल्ले तथा किताबों की जिल्द बाँधने के लिए अच्छा चमड़ा तैयार किया जाता है। भारतीय चमड़े कमाने के उद्योग का मुख्य केन्द्र मदरास रहा है।

चमड़े कमाने के आधुनिक उद्योग के अन्तर्गत आधुनिक वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा चमड़ा कमाया जाता है। सबसे पहले १८६७ में कानपुर में गवर्नमेन्ट हार्नेस तथा सैडलरी फैक्टरी खोली गई, १८८० में सरकार ने मेसस अलेन तथा कूपर को आर्मी बूट तथा इकिपमेंट फैक्टरी खोलने

के लिये आर्थिक सहायता दी। इसके बाद बम्बई में पश्चिम भारतीय 'आर्मी इक्विपमेंट फैक्टरी' खोली गई।

भारतीय चमड़े के उद्योग को फौजी आवश्यकताओं द्वारा काफी सहायता प्राप्त हुई। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों ने इस उद्योग के विकास के लिए काफी बल प्रदान किया। चमड़े कमाने आदि की दिशा में काफी उन्नति की गई। युद्ध के पूर्व मेसर्स कूपर एलेन्स दो हजार जोड़े जूते नित्य तैयार करते थे। बाटा कम्पनी का भी उत्पादन दुगना हो गया था। १६३६ में ३,००० आदमी इन कारखानों में काम करते थे, युद्ध के दिनों में इनमें २०,००० आदमी काम करने लगे। सन् १६४६ में १३ बड़ी-बड़ी फर्में थीं, जिनमें लगभग ३५,००० आदमी काम करते थे। इस समय भारत में लगभग २५० चमड़े कमाने के कारखाने हैं, इसके अतिरिक्त बहुत से छोटे-छोटे भी कारखाने खुल गए हैं।

हमारी चमड़े कमाने की पद्धति बड़ी दोषपूर्ण है। यहाँ वर्ष में लगभग ४० प्रतिशत चमड़ा तथा खाल नष्ट हो जाती है। वर्ष में अनुमानतः छै लाख जोड़े जूते बनाए जाते हैं जिनमें से एक लाख जोड़े सेना द्वारा ले लिए जाते हैं। जूते बनाने के कारखाने मुख्य रूप से कानपुर, आगरा तथा कलकत्ते में हैं। अभी तक इस उद्योग का कार्य क्षेत्र मुख्य रूप से जूते बनाना ही रहा है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी ऐसी चीजें जैसे थैले, सूटकेस, तथा खेल के सामान आदि भी काफी मात्रा में बनाये जा सकते हैं।

कुछ लोगों का यह सुझाव है कि चमड़े तथा खाल आदि पर रोक लगाई जानी चाहिये परन्तु देश में आजकल जितने कारखाने हैं, वे देश में उत्पन्न होने वाली सब खाल तथा चमड़े का प्रयोग नहीं कर सकते। इसलिये इस समय रोक लगाने से हमें कोई आर्थिक लाभ नहीं होगा उल्टे उससे होने वाली लगभग १७ करोड़ की आय बन्द हो जायगी। अतः जब तक इस धन्धे का अच्छा विकास नहीं किया जाता तब तक चमड़े के निर्यात पर रोक लगाना उचित नहीं होगा।

अतएव आवश्यकता इस बात की है कि इस उद्योग का पूर्ण विकास किया जाय, आधुनिक पद्धति द्वारा चमड़े कमाने की शिक्षा देने की व्यवस्था की जाय, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों द्वारा आधुनिक पद्धति पर चमड़े कमाने के कारखानों को सहायता देनी चाहिए।

भारत में इस उद्योग के विकास के लिए काफी क्षेत्र है। अतः इस धन्धे की उन्नति की ओर यथोचित ध्यान दिया जाना जरूरी है।

रासायनिक उद्योग (Chemical Industries)—रासायनिक उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीय दृष्टि से काफी बड़ा महत्व है। प्रायः प्रत्येक उद्योग में किसी न किसी रूप में रासायनिक पदार्थ अवश्य प्रयुक्त होते हैं। राष्ट्रीय योजना समिति ने रासायनिक उद्योगों के चार महत्व बतलाये हैं :—

(१) देश की सुरक्षा के लिए।
(२) कृत्रिम खादों के लिए।
(३) अन्य औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन के लिए।
(४) जन स्वास्थ्य के लिए।

इस प्रकार इस उद्योग के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु इस उद्योग के महत्व के अधिक होते हुए भी इसके विकास के लिये विशेष कार्य नहीं किया गया है। इस उद्योग की स्थापना इसी शताब्दी में हुई है। इस प्रकार हम लोग इस दिशा में काफी पीछे हैं।

इधर गन्धक का तेजाब यानी सलफ्यूरिक एसिड बनाने की दिशा में कुछ कार्य किया गया है परन्तु जहाँ तक क्षार तथा तेजाब आदि की दिशा में बहुत कार्य नहीं हुआ है।

प्रथम महायुद्ध के समय में रासायनिक पदार्थों के उत्पादन को काफी प्रोत्साहन मिला परन्तु कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। द्वितीय महायुद्ध से भी इस को काफी सहायता मिली। सरकार ने युद्ध की आवश्यकताओं के कारण इसके विकास की ओर काफी ध्यान दिया। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान शाला इस उद्योग के विकास लिए काफी प्रयत्न कर रही है। सोडा ऐश तथा अन्य रासायनिक पदार्थों के जो विदेशों से मंगाये जाते थे, उनका निर्माण देश में किया जा रहा है। सलफ्यूरिक एसिड तथा अमोनिया सल्फेट के भी उत्पादन में वृद्धि की जा रही है। परन्तु अमरीका यूरोप के जर्मनी देशों की तुलना में अभी हम बहुत पीछे हैं।

यह उद्योग बहुत अच्छी तरह संगठित है, इस उद्योग में लगे हुए अधिकांश व्यक्ति बंगाल तथा बड़ौदा में पाये जाते हैं। इस उद्योग में लगभग २० करोड़ रुपया लगा है।

युद्ध के बाद की स्थिति—अन्य उद्योगों की भाँति रासायनिक उद्योग की भी कई कठिनाइयाँ हैं :—

(१) एक निश्चित नीति का अभाव।

(२) रासायनिक पदार्थों के लिए रेलवे के भाड़े की ऊँची दर।

(३) रासायनिक यंत्रों तथा प्रयोगशालाओं के यंत्रों के मंगाने में आयात कर की अधिकता।

(४) निर्यात पर रुकावटें।

एशिया में सबसे बड़े सिन्द्री के सरकारी कारखाने में ३५०,००० टन अमोनियम सल्फेड के उत्पन्न करने की योजना बनाई है। ट्रावनकोर की भी कम्पनी ने अपने बनाए हुए सामान को बाजार में रखना शुरू कर दिया है। पूना में राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला की स्थापना की गई है। इससे वैज्ञानिक अनुसन्धान के कार्यों की पूर्ति में काफी सहायता प्राप्त होगी।

हम गन्धक (सल्फर) आदि के लिए विदेशों पर निर्भर रहते हैं, अपने देश में गन्धक के प्राप्त होने की सुविधा नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय रासायनिक उद्योग के सम्बन्ध में कई कठिनाइयाँ हैं। परन्तु वैज्ञानिकों का ऐसा कथन है कि देश में रासायनिक उद्योग के विकास के लिए काफी क्षेत्र है। देश में चूना, मैगनेशियम आदि बहुत से रासायनिक पदार्थ उपलब्ध हैं। हम काफी मात्रा में कोक जिसके द्वारा कोलतार तैयार किया जाता है, तैयार कर रहे हैं। आशा है निकट भविष्य में हम बहुत सी रासायनिक वस्तुएँ तैयार करने में सफलता प्राप्त कर सकेंगे। केन्द्रीय सरकार ने एक विकास-समिति की नियुक्ति की है।

किसी भी देश में रासायनिक पदार्थों की खपत उस देश के औद्योगिक विकास का दर्पण होता है। यहाँ पर सलफ्यूरिक एसिड की प्रति व्यक्ति खपत ०.४५ पौण्ड है, जब कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में १२० पौंड है। यू० के० में ४५ पौण्ड, सोडा ऐश की खपत भारत में ०.६ पौंड, संयुक्त राष्ट्र अमरीका में ५६ पौण्ड है। इससे पता चलता है कि हम कितने पिछड़े हुए हैं।

तेल पेरने का उद्योग—भारत संसार में तिलहन उत्पन्न करने वाला सबसे बड़ा देश है। परन्तु यह बड़े दुख की बात है कि तिलहन से तेल पेरने या तेल निकालने के बजाय उन्हें कच्चे रूप में ही विदेशों को भेज दिया जाता है। भारत संसार को सबसे अधिक तिलहन भेजता है। यह आर्थिक दृष्टि से अच्छी नीति नहीं, इससे देश की बहुत हानि होती है। तिलहन के विदेशों में भेज देने से हमें बड़ी भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। इससे हम तेल के बनाने वाले लाभ

से तो वंचित ही रह जाते हैं, दूसरे तेल पेरने के बाद जो खली निकलती है, वह भी हमारे हाथ से निकल जाती है।

प्रथम महायुद्ध के समय में इस उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। उस समय अलसी के तेल, मूंगफली के तेल तथा अन्डी के तेल में ४४३ प्रतिशत, १५० प्रतिशत तथा ६० प्रतिशत की वृद्धि हुई। तब से इस उद्योग ने अच्छी प्रगति की है। यहाँ लगभग ५०० बड़ी मिलें, तथा १,००० मध्यम श्रेणी की मिलें हैं। ये मिलें भारतवासियों के लिये तेल पेरने के अतिरिक्त विदेशों के लिए भी तेल का निर्यात करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ देशी कोल्हू भी हैं, जो बैलों आदि के द्वारा चलते हैं। इस प्रकार देश में काफी मात्रा में तेल पेरा जाता है। परन्तु यह तेल बिल्कुल शुद्ध नहीं होता, अतएव इसका प्रयोग कुछ निश्चित कामों के लिए ही हो सकता है।

भारतीय तेल के उद्योग में भी कई कमियाँ हैं। एक तो यहाँ से तिलहन का विदेशों को भेजा जाना, जब कि तिलहन पर निर्यात कर बिल्कुल नहीं लिया जाता, तेल पर निर्यात कर काफी लिया जाता है। इससे इसके निर्यात को बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। तीसरे भारत की अपेक्षा यूरोप में खली के अच्छे दाम मिलते हैं। यहाँ खली का खाद के रूप में बहुत कम प्रयोग होता है, अधिकतर उसे पशुओं के चारे के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। अन्त में तेल के निर्यात में एक और कठिनाई है, वह यह कि उसके लिए जहाज आदि का मिलना आसान नहीं होता है।

यद्यपि द्वितीय महायुद्ध से तेल के निर्यात में यातायात सम्बन्धी काफी कठिनाई आ खड़ी हुई किन्तु उससे देश के अन्दर तेल के उद्योग के विकास को काफी सहारा मिला। आजकल तेल निकालने के अच्छे आधुनिक यंत्रों का प्रयोग किया जा रहा है। परन्तु इस प्रकार के विकास करने की अभी और आवश्यकता है। साबुन ग्लीसरीन, पेन्ट, वनस्पति घी, वार्निस आदि बनाने के लिये तेल का काफी प्रयोग होता है। परन्तु यदि इस धन्धे का भलीभांति विकास करना है तो तेल तथा खली के प्रमाणीकरण की उचित व्यवस्था करनी होगी।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

बड़े पैमाने के उद्योग

(Large Scale Industries)

पिछले परिच्छेद में हमने भारत के कुछ बड़े एवं संगठित उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में विचार किया। यहाँ पर बड़े पैमाने के कुछ अन्य उद्योग-धन्धों पर प्रकाश डालेंगे।

काँच का उद्योग (Glass Industry)—भारत में काँच का उद्योग भी प्राचीनकाल से प्रचलित है। ऐसा कहा जाता है कि ईसा से भी सैकड़ों वर्ष पूर्व देश में काँच का धन्धा अच्छी स्थिति में था। प्लिनी ने भारतीय काँच या शीशे की उत्कृष्टता का उल्लेख किया है। सर अल्फ्रेड चैटरटन के अनुसार सोलहवीं शताब्दी में भारत में काँच का उद्योग एक व्यवस्थित दशा में था। सत्रहवीं शताब्दी में भारत व बेल्जियम में चिकने रंग-बिरंगे काँच का निर्माण किया जाता था। आज की भाँति तब भी देश में काँच की चूड़ियों की काफी माँग थी, और इनका निर्माण भी देश में बड़े जोरों से होता था। परन्तु अभी तक जो काँच या काँच का सामान निर्मित किया जाता था, वह बहुत अच्छी किस्म का नहीं होता था। जिस ढंग से इसका निर्माण होता था, वह प्राचीन ही था, फलतः वस्तुओं में उतनी सफाई, उतनी सुन्दरता नहीं आ पाती थी।

आधुनिक पद्धति से काँच की सुन्दर वस्तुओं के निर्माण का श्रीगणेश तो उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ जब कि १८९२-९३ के बीच में आधुनिक पद्धति के अनुसार चलने वाले पाँच काँच के कारखानों की स्थापना हुई। इसके पश्चात् कुछ यूरोपवासियों ने भी काँच के उद्योग की स्थापना के लिये सफल-असफल प्रयत्न किये।

इस प्रकार हम भारतीय काँच के वर्त्तमान उद्योग को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं एक तो प्राचीन काँच का धंधा, जिसमें चूड़ियों इत्यादि के निर्माण का कार्य आता है, दूसरा काँच का आधुनिक पद्धति के अनुसार निर्माण का उद्योग या धंधा।

चूड़ियों आदि के निर्माण का उद्योग उत्तर प्रदेश, बम्बई, मदरास आदि क्षेत्रों में मुख्य रूप से प्रचलित है। परन्तु इस उद्योग के मुख्य केन्द्र एटा, फतेहपुर तथा फिरोजाबाद हैं। दक्षिण में बेलगाँव भी इसका मुख्य केन्द्र है। इधर जापान में सिल्क आदि की अच्छी चूड़ियों के निर्माण से इस धन्धे को कुछ धक्का पहुँचा है।

प्रथम महायुद्ध से इस उद्योग को काफी बल प्राप्त हुआ। युद्ध के पूर्व काँच के केवल तीन ही कारखाने थे, युद्ध के पश्चात् १९१८ में इनकी संख्या बीस हो गई। इस प्रकार इस उद्योग की दशा कुछ अच्छी हो गई, इन कारखानों द्वारा तैयार किये हुये माल में २५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। दूसरी बाहर से आनेवाले माल में कमी हो गई।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि काँच के आधुनिक उद्योग का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। पहले कुछ प्रबन्धकों की अयोग्यता, अनुभवहीनता, श्रमिकों की अकुशलता आदि के कारण इस उद्योग को विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई। प्रथम महायुद्ध के कुछ समय बाद तक इस उद्योग के पनपने में काफी सहायता मिली, परन्तु इसके पश्चात् इस उद्योग को फिर विदेशी प्रतियोगिता से संघर्ष लेना पड़ा और इस उद्योग की स्थिति फिर डाँवाडोल हो गई। इस दशा को सुधारने के लिये १९३२ में टैरिफबोर्ड ने दस वर्ष के लिये संरक्षण नीति निर्धारित कर इस उद्योग की रक्षा करने का

अनुरोध किया, परन्तु सरकार ने इसको स्वीकार न किया, इससे इस उद्योग को और भी निराशा हुई।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सरकार की युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप इस उद्योग को कुछ सहायता मिली। सरकारी औद्योगिक विशेषज्ञों की अध्यक्षता में काँच की वस्तुओं का सुन्दर ढंग से निर्माण होने लगा। गाजियाबाद, बनारस तथा फिरोजाबाद में आधुनिक यंत्रों से युक्त कारखानों की स्थापना की गई। काँच के कुटीर उद्योगों की सहायता के लिये फिरोजाबाद में एक गैस प्लान्ट स्थापित किया गया। इस उद्योग में कई प्रकार के सुधार किए गये, तरह-तरह की नवीन काँच की वस्तुओं का निर्माण किया जाने लगा। आज भारतीय काँच के कारखाने लैम्प, चिमनी, बिजली के बल्ब, ग्लोब, गुलदस्ते, जार, बोतलें तथा औषधालयों के लिये काँच की अन्य तमाम वस्तुओं का निर्माण करते हैं।

भारतीय काँच के उद्योग से होनेवाला उत्पादन वर्ष भर में दो सौ लाख रुपये का होता है। यहाँ पर इस समय लगभग सौ कारखाने हैं। भारतीय काँच के कारखानों में से अधिकांश कारखाने छोटे पैमाने पर चलनेवाले हैं, केवल थोड़े से ही बड़े कारखाने हैं, जैसे इलाहाबाद के निकट नैनी में काँच का कारखाना, बहजोई का 'यू० पी० ग्लास वर्क्स', औंध राज्य का 'ओगेल ग्लास वर्क्स', पूना के निकट तेलगाँव में 'पैसा फन्ड ग्लास वर्क्स' आदि बड़े कारखानों में से हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तरप्रदेश, बंगाल, बम्बई, मध्यप्रदेश तथा पंजाब काँच के उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं। भारत में काँच के उद्योग का भविष्य काफी उज्वल है। यहाँ काँच की चूड़ियों तथा काँच की अन्य वस्तुओं की बिक्री का क्षेत्र भी काफी विस्तृत है। इस उद्योग के विकास के लिये विद्युत द्वारा सस्ती शक्ति प्राप्त हो सकती है। इस धन्धे में लगने वाली कच्ची वस्तुएँ भी आसानी से प्राप्त हो सकती हैं, केवल सोडा ऐश ही विदेशों से मँगाना पड़ता है।

काँच के उद्योग के विकास के लिये युद्ध के बाद की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। उनसे काँच की बनी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जा रही है। इस समय २०० लाख वर्ग फीट शीट ग्लास तैयार होता है। भविष्य में ४२० लाख वर्गफीट का लक्ष्य निश्चित किया गया है। इस समय शीशे के शेल्स १४० लाख तैयार होते हैं, भविष्य में उसका टार्जेट २५० लाख निश्चित किया गया है। इस समय काँच के वैज्ञानिक यन्त्र आदि का बहुत थोड़े परिमाण में उत्पादन होता है, भविष्य में इनके भी उत्पादन में काफी वृद्धि की जायगी।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि भारत में कांच का उद्योग किस स्थिति में है। देश में इस धंधे का विकास काफी किया जाता है, परन्तु इसके पहले कि उसका यथेष्ट विकास हो हमें उसके कुछ दोषों को दूर कर देना होगा। उसमें हमें कुछ परिवर्तन कर, आवश्यक सुधार करने होंगे। अभी तक कांच की वस्तुओं का जो निर्माण होता है, वह सुन्दर नहीं होता, उनको अच्छा बनाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, उत्पादन पर कोई वैज्ञानिक नियंत्रण नहीं रखा जाता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस उद्योग के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये सभी प्रयत्न किये जाने चाहिए, उत्पादन में भी वृद्धि करने की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाना आवश्यक है। अभी थोड़े दिन हुये कलकत्ते में ग्लास तथा सेरामिक्स अनुसंधान संस्था की स्थापना की गई है, इसने अपना कार्य करना भी प्रारम्भ कर दिया है। इस संस्था का कार्य कांच के उद्योग वाले कच्चे पदार्थों तथा बनी हुई वस्तुओं का श्रेणीकरण, प्रमाणीकरण, तथा उसका निरीक्षण करना है। इस प्रकार इस संस्था तथा इस उद्योग में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने से इस उद्योग के विकास में अच्छी सहायता मिल सकती है। इसके लिये सरकार की सहायता की भी बड़ी आवश्यकता है। सरकार को इस उद्योग पर संरक्षण लगाकर, विदेशी औद्योगिक विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त कर इस उद्योग के विकास में सहयोग प्रदान

करने की आवश्यकता है। इन्हीं सब प्रयत्नों से हम देश में कांच के उद्योग में यथेष्ट विकास करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

सीमेन्ट का उद्योग (Cement Industry)—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत में सीमेन्ट की मांग की अधिकता होते हुए, उत्पादन की भी काफी अच्छी सुविधा होते हुए तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इस उद्योग के महत्वपूर्ण होते हुए भी हमारा यह उद्योग आज कोई विशेष अच्छी स्थिति में नहीं है। सन् १९१४ के पूर्व हमारा यह उद्योग और भी गिरी हुई दशा में था, इधर इस उद्योग ने काफी उन्नति की है। यहाँ पर सीमेन्ट की काफी खपत थी और वर्ष में लगभग १८०,००० टन सीमेन्ट का आयात होता था। सन् १९१४ में भारतीय सीमेन्ट के कारखानों से केवल ६ प्रतिशत ही माँग की पूर्ति हो सकती थी, जब कि १९३७ में ९७ प्रतिशत माँग की पूर्ति भारतीय कारखानों से होती थी। इस प्रकार भारत में अधिकांश मांग की पूर्ति विदेशों से ही हुआ करती थी, परन्तु इस उद्योग ने अभी थोड़े दिन से ही आशातीत उन्नति की है। जितनी जल्दी इस उद्योग ने विकास किया है, उतना अन्य किसी (शकर के उद्योग को छोड़कर) उद्योग ने नहीं किया।

सीमेन्ट का सबसे पहला कारखाना मदरास में 'साउथ इन्डस्ट्रियल्स' के नाम से खोला गया, इसने १९०४ में कार्य करना प्रारम्भ किया, परन्तु यह कारखाना सफलता न प्राप्त कर सका, और थोड़े समय बाद इसे बन्द कर देना पड़ा। वास्तव में सीमेन्ट के उद्योग की अच्छी प्रगति उस समय हुई जब कि १९१२-१३ में तीन कारखाने खोले गये। इन कारखानों ने अभी कार्य करना प्रारम्भ ही नहीं किया था कि प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया और सरकार ने सीमेन्ट के उत्पादन पर नियंत्रण लगा दिया। इन कारखानों की अच्छी प्रगति को देखकर सात और नए कारखाने खुल गए। इसके परिणामस्वरूप भारत में मांग से अधिक उत्पादन होने लगा। उधर विदेशी सीमेन्ट का भी आयात होता रहा। अतः भारतीय सीमेन्ट के कारखानों को विदेशी माल से काफी मुकाबला लेना पड़ा और उनकी स्थिति बिगड़ गई। इसको दूर करने के लिये १९२४ में टैरिफ बोर्ड से संरक्षण के लिये निवेदन किया गया, परन्तु बोर्ड ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। १९२७ में सीमेन्ट के प्रचार के लिए 'कांक्रीट एसोशियेशन आफ इंडिया' की स्थापना की गई। इस एसोशियेशन ने सीमेंट के प्रयोग करने का खूब प्रचार किया। इसके पश्चात् १९३० में सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी खोली गई। इस कम्पनी ने सीमेन्ट की बिक्री की व्यवस्था में अच्छा सुधार किया और विभिन्न कारखानों का सीमेन्ट उत्पादन का कोटा निश्चित कर दिया, परन्तु इस पद्धति में भी कुछ दोष रह गए। फलतः इन दोषों को दूर करने के लिए १९३६ में एसोशियेटेड सीमेन्ट कम्पनी लिमिटेड (ए० सी० सी०) की स्थापना की गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में सीमेन्ट का उद्योग बहुत अच्छी तरह से संगठित है। उत्पादन तथा वितरण दोनों दृष्टिकोणों से उसका संगठन काफी अच्छा है। अब भारत सीमेन्ट की आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्रायः स्वावलम्बी है।

भारत में कुछ सीमेन्ट के कारखाने अच्छे स्थान पर स्थिति नहीं हैं। वहाँ पर सीमेन्ट के लिये कच्चे माल के प्राप्त होने की तो अच्छी सुविधा है, परन्तु ये कारखाने कोयले की खानों से काफी दूर पर स्थित हैं। कोयले खानों के निकटतम जो कारखाना है, उसकी दूरी दो सौ मील है, बहुत से कारखाने तो हजार मील से भी अधिक दूरी पर स्थित हैं। इस प्रकार के कुछ दोषों के कारण भी हमारे सीमेन्ट के उद्योग को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस समय यह उद्योग बिहार, मदरास तथा मध्य प्रदेश में केन्द्रित है।

भारत में अभी सीमेन्ट की खपत भी अधिक नहीं है। सीमेन्ट की जितनी खपत कुल देश भर में होती है उतनी अकेले लन्दन नगर में होती है। कुछ वर्षों पूर्व सीमेन्ट का प्रयोग काफी

विशाल इमारतों तथा इंजीनियरिंग आदि के कार्यों के लिए ही होता था परन्तु कांक्रीट एसोशियेशन के प्रचार के परिणामस्वरूप सीमेन्ट का प्रयोग काफी होने लगा।

द्वितीय महायुद्ध से सीमेन्ट के उद्योग को काफी बल प्राप्त हुआ, सीमेन्ट की मांग काफी बढ़ गई, अन्य देशों में भी सीमेन्ट की मांग काफी थी। इस प्रकार युद्ध के समय इस उद्योग को काफी सहायता मिली, परन्तु इस समय में जनता को अवश्य सीमेन्ट का अभाव रहा। केवल २० प्रतिशत ही सीमेन्ट जनता के प्रयोग में आता था, ८० प्रतिशत सरकार के काम में प्रयुक्त होता था।

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में (१९४१-४२ में) सीमेन्ट के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई, इसके पश्चात् उत्पादन में ह्रास होता गया। १९४६-४७ में सबसे कम उत्पादन हुआ। इस उत्पादन में ह्रास का कारण श्रमिकों की असन्तुष्टता, अशान्ति, राजनैतिक वातावरण, कोयले का अभाव, यातायात की कठिनाई आदि बातें थीं। अविभाजित भारत में कुल चौबीस कारखाने थे, विभाजन के पश्चात् पाँच कारखाने पाकिस्तान में चले गए। इसका भी प्रभाव उत्पादन पर पड़ा। १९४८ में भारतीय संघ में सीमेन्ट का उत्पादन १५·५३ लाख टन तथा १९४९ में २१ लाख टन हुआ, जब कि कारखानों की उत्पादक शक्ति २८·१५ लाख टन थी। सन् १९४८-४९ में सीमेन्ट के उत्पादन में वृद्धि करने की योजना बनाई गई, १९५२ में उत्पादन के दुगने होने की सम्भावना है। आशा है कि निकट भविष्य में हमारा यह उद्योग भी अच्छी उन्नति करने में समर्थ हो सकेगा।

दियासलाई का उद्योग (Match Industry)—दियासलाई के उद्योग का श्रीगणेश अभी बहुत थोड़े दिन पूर्व ही हुआ। १८९५ में स्थापित अहमदाबाद की गुजरात इस्लाम मैच फैक्टरी के अतिरिक्त अन्य कोई सफल कारखाना नहीं था जो दियासलाई के उत्पादन में सफलता प्राप्त करता। युद्ध के पूर्व जो भी कारखाने स्थापित हुये वे या तो अर्थाभाव या अनुभवहीनता के कारण असफल हुये।

भारत के दियासलाई-उद्योग के इतिहास में १९२२ का वर्ष बड़ा गौरवपूर्ण था, उस वर्ष दियासलाइयों के आयात पर डेढ़ रुपया प्रति कोड़ी आयात कर लगा दिया गया। यद्यपि यह कर राजस्व सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु ही लगाया गया था किन्तु इसका दियासलाई के उद्योग पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, इससे उसको काफी संरक्षण प्राप्त हुआ। इस संरक्षण के फलस्वरूप कितने ही दियासलाई के कारखाने स्थापित हुये। १९२८-३५ के बीच में इन कारखानों की संख्या पहले से तिगुनी हो गई। १९२७ में दियासलाई के उद्योगपतियों ने टैरिफ बोर्ड के सन्मुख इस उद्योग की सहायता की प्रार्थना की, उन्होंने बोर्ड से संरक्षण लगाने का निवेदन किया। इसके परिणामस्वरूप १९२८ के सितम्बर में एक संरक्षण विधेयक पास किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक सौ दियासलाइयों वाले बक्स पर डेढ़ रुपया आयात कर लगाया गया। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि यह संरक्षण-कर कोई नवीन कर नहीं था, यह उसी आयात-कर का दूसरा रूप था जो कि १९२८ में आयात-कर के रूप में लागू किया गया था। इस प्रकार की सुविधा से दियासलाई के उत्पादन को काफी सहायता प्राप्त हुई।

इस उद्योग के द्वारा देश की दियासलाई की मांग की पूर्ति को काफी सहायता प्राप्त हुई। यहाँ प्रति वर्ष १७० लाख कोड़ी दियासलाइयों की खपत होती है। अभी कोई बहुत दिन नहीं व्यतीत हुये जब हमें विदेशों से आनेवाली दियासलाइयों पर निर्भर रहना पड़ता था। परन्तु अब हम इस दिशा में पूर्णरूप से स्वावलम्बी हैं। १९४७-४८ में १८० लाख कोड़ी दियासलाइयों का निर्माण हुआ, जब कि १९४६-४७ में केवल १६० लाख कोड़ी दियासलाइयाँ ही निर्मित की गई थीं। परन्तु भारतीय दियासलाई के उद्योग के सम्बन्ध में सब से बड़ी असन्तोषजनक बात वेस्टर्न इण्डिया मैच

कम्पनी की प्रधानता है। इस विदेशी कम्पनी ने दियासलाई के उद्योग पर अपना काफी गहरा प्रभाव जमा रखा है। विश्व की लगभग ७० प्रतिशत दियासलाई के बाजार पर इसी कम्पनी का नियंत्रण है। भारतीय दियासलाई के उद्योग के विकास में बहुत कुछ हाथ इसी कम्पनी का रहा है। इस स्वीडिश कम्पनी ने भारत में कई दियासलाई के कारखाने स्थापित करने का विचार किया। १६२८ में तो इसके अधिकार में केवल चार ही कारखाने थे किन्तु इस समय लगभग १२ कारखाने इसी कम्पनी के हैं। इस कम्पनी के कारण कितने ही कारखाने असफल हो गए। अभी थोड़े दिन हुये इस कम्पनी ने अपना नाम बदल कर इन्डियन पब्लिक लिमिटेड कम्पनी रखा है। यद्यपि इसमें दो डाइरेक्टर भारतीय हैं किन्तु इसमें जो पूँजी लगी हुई है, उसका अधिकांश विदेशी है, तथा इस पर विदेशियों का ही नियंत्रण है। इस कम्पनी के प्रतियोगिता के फलस्वरूप लगभग २५-३० दियासलाई की कम्पनियाँ फेल हो गईं। नीचे दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा कि इस स्वीडिश कम्पनी ने भारत में दियासलाई के उद्योग में कैसी सफलता प्राप्त की :—

उत्पादन (५० कोड़ी वाली पेटियों में)

वर्ष	स्वीडेश	प्रतिशत	भारतीय	प्रतिशत
१६३५	५०,८६०	४५ ,,	६१,३११	५५ ,,
१६३६	३६,११३	५०½ ,,	३८,६६६	४६½ ,,
१६३७	५८,७७८	६७ ,,	२८,८८८	३३ ,,

चाय का उद्योग—भारत का चाय का उद्योग भी काफी महत्वपूर्ण है। यह विश्व में चाय का निर्यात करने वाला सबसे बड़ा देश है। संसार की चाय की मांग का ४० प्रतिशत भाग भारत द्वारा ही पूरा किया जाता है।

बहुत दिनों तक यूरोपीय बाजारों में चीन की चाय ही सर्वोत्तम मानी जाती थी। सर्वप्रथम १८२० में आसाम में अच्छी चाय का पता लगा। १८३५ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रयोग के रूप में चाय के बगीचे का कार्य प्रारम्भ किया, १८४० में यह बगीचा आसाम कम्पनी के हाथ में बेच दिया गया। तभी से यह उद्योग अच्छी प्रगति करने लगा। यूरोपीय बाजारों से चीन की चाय का धीरे-धीरे महत्व उठ गया। १८६६-६७ तथा १६३८-३६ के मध्य में चीन की चाय के निर्यात में ६० प्रतिशत का ह्रास हुआ जब कि भारत के निर्यात में १३२ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

चाय की खेती मुख्य रूप से जलवायु पर निर्भर रहती है। चाय के बगीचे आसाम, बंगाल, बिहार दक्षिणी तथा उत्तरी भारत में पाये जाते हैं। पश्चिमी बंगाल तथा आसाम इन बगीचों के मुख्य केन्द्र हैं। भारतीय संघ में चाय की खेती वाला क्षेत्र कुल ७३०,००० एकड़ है जिसमें से ७३ प्रतिशत आसाम तथा पश्चिमी बंगाल में; तथा दक्षिणी भारत में २० प्रतिशत होता है। इन वर्षों में प्रतिवर्ष ५४०० लाख पौण्ड चाय का उत्पादन हुआ है। इसमें से उत्तरी भारत, बंगाल व आसाम का ८० प्रतिशत तथा दक्षिणी भारत का १७ या १८ प्रतिशत भाग था। सन् १६४६ में ५३७३ लाख पौण्ड चाय उत्पन्न हुई, सन १६४७ में यह उत्पादन बढ़ कर ५४५६ लाख पौण्ड हो गया। प्रत्येक राज्य में प्रति एकड़ चाय के उत्पादन में विभिन्नता रहती है। आसाम में सबसे अधिक ७२८ पौण्ड प्रति एकड़ तथा कम-से-कम ‹४ पौण्ड प्रति एकड़ गढ़वाल में है। कांगड़ा घाटी में चाय की खेती बड़ी बुरी स्थिति में है।

देश में चाय की खपत अधिक नहीं है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस उद्योग के विकास के लिये विदेशों में इसके बाजार के नवीन क्षेत्रों को बढ़ाया जाय।

युद्ध के पूर्व होने वाली मन्दी का प्रभाव चाय के इस उद्योग पर काफी पड़ा। इसके अतिरिक्त चाय के उत्पादन में भी अत्यधिक वृद्धि हो गई, उधर चाय की मांग में भी काफ़ी कमी हो गई। चाय

के मूल्य में भी काफी गिराव हो गया। १९३२-३३ में तो चाय का उद्योग बड़ी ही बुरी स्थिति में था। इस उद्योग को नष्ट होने से बचाने के लिये १९३३ में पाँच वर्ष के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता किया गया। १९३८ में इस समझौते की अवधि पाँच वष के लिये और बढ़ा दी गई। इस समझौते के अनुसार समझौते वाले देशों का वार्षिक कोटा निश्चित कर दिया गया।

भारतीय चाय के उद्योग की समस्या का हल भारत में ही है। वैसे तो वर्तमान काल में भारत में चाय की खपत विशेष नहीं होती, परन्तु भारत की जनसंख्या को देखते हुये यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में देश में चाय की काफी खपत हो सकती है। चाय पीने वालों की संख्या में वृद्धि करने के लिये, चाय का प्रचार करने के लिये काफी प्रयत्न किया जा रहा है। इन्डियन टी मार्केट एक्सपैन्सन बोर्ड ने चाय की दूकानें खोलकर, मुफ्त चाय पिलाकर, सस्ती चाय बेच कर, चलते-फिरते सिनेमाओं आदि की सहायता से, इस क्षेत्र में काफी कार्य किया है। भारत में चाय के प्रचार के सम्बन्ध में दो बाधाएँ हैं—एक तो यहाँ बहुत से लोग चाय का पीना पसन्द ही नहीं करते। उनका ऐसा विचार है कि चाय पीने से स्वास्थ्य पर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है, दूसरे कुछ लोग इसलिये भी चाय का सेवन नहीं करते कि चाय के बगीचों में काम करनेवाले भारतीयों के साथ गुलामों की भाँति व्यवहार किया जाता है। चाय का यह बोर्ड लोगों के हृदय से यह भावना दूर करने तथा चाय के उपयोग का प्रचार करने में प्रयत्नशील है। आशा है कि निकट भविष्य में चाय का अच्छा प्रचार हो जायगा। गत दस वर्षों में चाय की खपत में अच्छी वृद्धि हुई है।

भारतीय चाय के उत्पादन आदि में वृद्धि करने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। इस दिशा में अच्छी वैज्ञानिक सहायता ली जा रही है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में भारतीय चाय के उद्योग पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। चाय के मूल्य में घट-बढ़ होने लगी और निर्यात की जाने वाली चाय के कोटा में परिवर्तन करना पड़ा। यह दशा जापान के युद्ध में भाग लेने के पूर्व तक बनी रही। जब जापान ने युद्ध क्षेत्र में प्रवेश किया तो जापान फारमोसा, चीन व डच इन्डीज आदि देशों से भेजी जाने वाली चाय बन्द हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय चाय की मांग बढ़ गई। आस्ट्रेलिया, अमरीका, इंगलैंड तथा मध्य पूर्व के देशों में भारतीय चाय की माँग बढ़ी। इस प्रकार जब तक युद्ध चलता रहा भारतीय चाय के उद्योग को खूब प्रोत्साहन मिलता रहा, उसकी स्थिति अच्छी बनी रही। इस समय तक चाय के अच्छे दाम मिलते रहे, किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। युद्ध के बाद चाय के उत्पादकों को कुछ निराशा हुई किन्तु बाद में स्थिति सुधर गई। विभाजन के परिणामस्वरूप करीब ९०,००० एकड़ चाय उत्पन्न करने वाला क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से में चला गया।

अब हमें अपने चाय के इस उद्योग की उन्नति करने का अच्छा प्रयत्न करना चाहिये। इध भारतीय चाय के उत्पादन में लागत काफी लग रही है, जितनी लागत युद्ध के पूर्व के समय मेंर लगती थी उसका अब ढाई गुना लग रहा है। उधर चाय उत्पन्न करने वाले अन्य देश भी खड़े हो रहे हैं, आने वाले चार-पाँच वर्षों में भारत को चीन, फारमोशा, जापान, इन्डोनेशिया जैसे देशों से मुकबला लेना होगा। अतएव हमारे उत्पादकों को चाहिये कि भारतीय चाय की किस्म को अच्छी बनावें, उसके मूल्य में कमी करें तथा उसके पैकिंग आदि की अच्छी व्यवस्था करें। यदि इस ओर उचित ध्यान न दिया गया तो भारतीय चाय के उद्योग को भविष्य में एक बड़े संकट का सामना करना पड़ेगा। हमें चाय के उन सभी दोषों को दूर करना होगा जिनके कारण उसकी स्थिति अभी अच्छी नहीं है। चाय के उद्योग में काम करने वाले श्रमिकों की दशा को सुधारने की ओर भी हमें यथेष्ट ध्यान देना होगा। औद्योगिक समिति ने के बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए एक अलग

श्रम-कानून के निर्माण का निश्चय किया है। आशा है निकट भविष्य में हमारा चाय का उद्योग इन दोषों से मुक्त होकर अन्य विदेशों के चाय उद्योगों से अच्छी टक्कर लेने के योग्य हो सकेगा।

तम्बाकू का उद्योग—तम्बाकू के उद्योग के लिए भारत पुर्तगालियों का ऋणी है। पुर्तगालियों ने १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत तम्बाकू का प्रचार किया था। तम्बाकू का उद्योग देश के लिये कितना महत्वपूर्ण है इस बात का पता इससे लग जायगा कि यहाँ अनुमानतः वर्ष में १८ करोड़ रुपये की तम्बाकू का उत्पदन हाता है। संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चात् भारत ही ऐसा देश है जो तम्बाकू का सबसे अधिक निर्यात करता है।

भारत में तम्बाकू का उत्पादन करने वाले मुख्य क्षेत्र ये हैं :—

(१) उत्तरी बंगाल में सिगार, चुरट, हुक्का आदि के लिये तम्बाकू उत्पन्न होती है; (२) मदरास के गन्टूर जिले में वर्जीनिया सिगरेट की तम्बाकू उत्पन्न होती है; (३) उत्तरी बिहार में खाने की तथा सिगरेट की तम्बाकू उत्पन्न होती है; (४) बम्बई तथा बड़ौदा में मुख्य रूप से बीड़ी के लिये तम्बाकू का उत्पादन होता है; (५) बंबई के बेलगाँव तथा सतारा जिलों में भी अच्छी तम्बाकू उत्पन्न होती है। इन विशेष प्रकार की तम्बाकू उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों के अतिरिक्त स्थानीय उपभोग के लिये देश के अन्य भागों में भी तम्बाकू उत्पन्न की जाती है।

भारत में उत्पन्न होने वाली तम्बाकू कुछ तो यहीं बनाई जाती है और कुछ विदेशों को भेज दी जाती है। 'इन्डियन लीफ टुबैको डेवलपमन्ट' कम्पनी सबसे अधिक क्रय करनेवाली कम्पनी है।

गत बीस वर्षों में तम्बाकू बनाने के कितने ही नए कारखाने खुल गये हैं। मदरास के कारखाने मुख्य रूप से सिगार तथा चुरट बनाते हैं। बीड़ी वैसे तो सारे भारत में बनाई जाती है किन्तु पूना, जबलपुर, व नागपुर इसके मुख्य केन्द्र हैं। मध्य प्रदेश में बीड़ी का कारबार बड़ा अच्छा है, इस धन्धे में लगभग ५०,००० आदमी काम करते हैं। हुक्के की तम्बाकू भी प्रायः समस्त भारत में बनाई जाती है परन्तु रामपुर, गोरखपुर, लखनऊ, देहली इसके मुख्य केन्द्र हैं। उत्तर प्रदेश तथा देहली में खाने की तम्बाकू तथा मदरास व मैसूर में सूंघने की तम्बाकू बनाई जाती है।

इधर भारत में अच्छे प्रकार की तम्बाकू के उत्पादन की ओर ध्यान दिया जा रहा है। १९३६ में शाही (अब भारतीय) कृषि अनुसन्धान परिषद ने गन्टूर में एक तम्बाकू केन्द्र स्थापित किया। विभिन्न राज्यों ने भी अलग-अलग अनुसन्धानशालाएँ स्थापित की हैं। 'इन्डियन लीफ टुबैको डेवलेपमेन्ट कम्पनी ने भी इस दिशा में अच्छा कार्य किया है।

देश में तम्बाकू के विक्रय की भी अच्छी व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस उद्योग को व्यवस्थित करने के लिये भारतीय तम्बाकू संघ की स्थापना की गई है। इस संघ में तम्बाकू के उत्पादकों, निर्माताओं तथा विक्रेताओं आदि का प्रतिनिधित्व है। आशा है इस संघ के द्वारा इस उद्योग के विकास को काफी लाभ होगा।

लाख का उद्योग—भारत में प्रतिवर्ष ४६,००० से लेकर ५०,००० टन लाख उत्पन्न होती है। इसका मुख्य उपयोग लकड़ी के बने हुए सामान आदि के रंगने में होता है। इसके अतिरिक्त ग्रामोफोन के रिकार्ड बनाने, सोने-चांदी के पोले आभूषणों के अन्दर भरने आदि के काम में भी इसका उपयोग होता है। इन सब कामों में भारत में उत्पन्न की जाने वाली लाख की केवल ३ प्रतिशत ही खपत होती है शेष विदेशों को भेज दी जाती है।

लाख के उद्योग के विकास को ग्रामोफोन के रिकार्डों के उद्योग की उन्नति से अच्छी सहायता मिली है। इस उद्योग में संसार में उत्पन्न की जाने वाली लाख का ४० प्रतिशत खर्च होता है। भारत में ग्रामोफोन के धन्धे में प्रतिवर्ष लगभग तीन सौ टन लाख की खपत होती है।

ग्रामोफोन के रिकार्डों के अतिरिक्त विदेशों में लाख का प्रयोग वार्निश, पालिश, चमड़ा रंगने, कागज चिकना करने आदि में भी होता है। इससे यह स्पष्ट है कि इस उद्योग के विकास के लिए काफी क्षेत्र पड़ा हुआ है, परन्तु हम अभी तक अपने देश में उत्पन्न होने वाले इस बहुमूल्य पदार्थ का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाए हैं। बिहार के नामक्रम में स्थित भारतीय लाख उद्योगशाला लाख का उत्पादन तथा उसके और नवीन उपयोगों के विषय में अच्छा कार्य कर रही है।

सिनेमा उद्योग (Cinema Industry)—कुछ अन्य उद्योगों की भाँति सिनेमा के उद्योग का भी जन्म अभी थोड़े दिनों पूर्व ही हुआ था, परन्तु उसने इस थोड़े से समय में ही अच्छी उन्नति कर ली और देश के औद्योगिक क्षेत्र में उसने अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया है। आज इस उद्योग के द्वारा राष्ट्रीय सरकार को एक अच्छी आय प्राप्त हो जाती है। हालीउड के पश्चात्, भारत संसार में सबसे अधिक फिल्म निर्माण करने वाला देश है।

भारत में सबसे पहले १६१३ में 'हरिश्चन्द्र' नामक फिल्म का निर्माण किया गया। देश में जगह-जगह चलचित्र प्रदर्शन गृहों के बन जाने से इस उद्योग के विकास को और सहायता मिली। इस समय देश में फिल्म निर्माण करने वाली लगभग १५० कम्पनियाँ तथा ५० स्टूडियो हैं। बम्बई कलकत्ता, मद्रास तथा पूना इस उद्योग के मुख्य केन्द्र हैं। देश में बनाई जाने वाली फिल्मों की दो-तिहाई बम्बई में ही तैयार होती हैं, इसीलिये बम्बई को भारत का हालीउड कहा जाता है। इस समय देश में दो हजार से ऊपर प्रदर्शन-गृह हैं, जब कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में लगभग १५,३७८ तथा इंगलैण्ड में चार हजार से ऊपर प्रदर्शन गृह हैं। इस उद्योग में लगभग आठ करोड़ रुपया लगा हुआ है और फिल्मों के निर्माण में प्रतिवर्ष दो करोड़ रुपया व्यय होता है। भारतीय फिल्मों से होने वाली कुल आय अनुमानतः २४० करोड़ रुपए होती है।

अभी तक देश में फिल्मों के निर्माण तथा उनके वितरण की ओर ही ध्यान दिया गया है, इस उद्योग से सम्बन्धित अन्य आवश्यकताओं के लिए हम विदेशों पर ही निर्भर रहे हैं। इसमें लगने वाली बहुत सी वस्तुएँ हमें विदेशों से ही मंगानी पड़ती हैं। अतः इस उद्योग के उचित विकास के लिए हमें इस दिशा में भी यथेष्ठ ध्यान देना होगा। आजकल हमारे जो स्टूडियो हैं, उनमें से अधिकांश काफी छोटे हैं, उनका संगठन भी अच्छा नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इस उद्योग से होने वाली आय का ६० प्रतिशत करों के रूप में सरकार द्वारा ले लिया जाता है, इससे भी इस उद्योग के विकास में बाधा खड़ी होती है। अतएव इसके यथेष्ट विकास के लिए हमें इसके सभी दोषों को दूर कर उचित रूप से संगठित करना होगा।

कच्चे रेशम का उद्योग (Rayon Industry) यद्यपि भारत में कच्चे रेशम के उद्योग का प्रारम्भ अभी थोड़े दिनों पूर्व ही हुआ था तो भी इसने बड़ी उन्नति करली है और देश के आर्थिक क्षेत्र में इसने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। कपास के उद्योग के पश्चात् इसी उद्योग का स्थान है।

सबसे पहले १६३६ में कच्चे रेशम के बुनने के उद्योग का संगठित प्रयत्न किया गया। १६३६ तक कच्चा रेशम हाथ के कर्घों द्वारा या मिलों द्वारा साड़ियों के किनारों के लिए ही उपयुक्त होता था, परन्तु कुछ वर्षों पश्चात् इस उद्योग ने बड़ी उन्नति की। कच्चे रेशम के आयात पर नियंत्रण के हट जाने से इसकी और कई मिलें स्थापित की जा चुकी हैं। १६४६ में इस प्रकार की तीन सौ मिल थीं जिनमें पन्द्रह हजार कर्घे थे।

पहले इस उद्योग के स्थापित हो जाने से असली रेशम तथा सूती कपड़े के उद्योगपतियों को बड़ी निराशा हुई, परन्तु बाद के अनुभव से यह स्पष्ट हो गया कि इस उद्योग का उनके उद्योगों पर कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ा है।

कच्चे रेशम के उद्योग के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इस उद्योग को विदेशों से मुख्य कर जापान तथा इटली से आने वाले कच्चे रेशम पर ही निर्भर रहना पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से यह राष्ट्र के लिए हितकर नहीं है। सरकार को इस उद्योग को विदेशों पर की निर्भरता से बचाना चाहिये। अब इस दिशा में प्रयत्न किया जा रहा है। बम्बई, त्रावनकोर तथा हैदराबाद में कच्चे रेशम के उत्पादन केन्द्र स्थापित किए जा रहे हैं। जिनसे अनुमानतः प्रतिदिन १६½ टन कच्चा रेशम उत्पन्न किया जा सकेगा, परन्तु साधारणतः हमारी प्रतिदिन की आवश्यकता ७० टन की है। इसलिए इस अभाव की पूर्ति करने की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। अभी हाल में उत्तर प्रदेश तथा मैसूर में कच्चा रेशम उत्पन्न करने के दो और केन्द्र स्थापित किए गए हैं।

रेशम का उद्योग—(Silk Industry) कुटीर उद्योग के रूप में रेशम या सिल्क के धन्धे के विषय में पिछले पृष्ठों में विचार किया जा चुका है। सन् १८३० तक भारत से एक काफी बड़ी मात्रा में रेशमी वस्त्रों का निर्यात किया जाता था परन्तु बाद में भारतीय रेशमी वस्त्रों की विदेशों तथा देश के बाजारों से मांग घट गई। हमने पिछले पृष्ठों में देखा कि सरकार ने संरक्षण आदि के द्वारा इस उद्योग की किस प्रकार रक्षा की।

कुटीर उद्योगों के अतिरिक्त रेशम के कुछ कारखाने भी स्थापित किए गए हैं। इनमें से अधिकांश कारखाने काफी छोटे हैं। इन कारखानों को विदेशों मुख्य रूप से चीन और जापान से आने वाले रेशम पर ही निर्भर रहना पड़ता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत अब भी जब कि उसे वैज्ञानिक सहायता प्राप्त हो गई इस दिशा में सफल नहीं हो पाया है। देश में रेशम उत्पन्न करने का काफी विशाल क्षेत्र है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि देश में कच्चे रेशम की खपत लगभग ४० लाख पौंड प्रतिवर्ष है जिसमें से साधारणतया ५० प्रतिशत देश में उत्पन्न होने वाले रेशम द्वारा पूरी हो जाती है। अभी हाल में सरकार ने रेशम के उत्पादन में वृद्धि करने की योजना बनाई है। इस उद्योग को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिये एक सेन्ट्रल सिल्क बोर्ड की स्थापना की गई है।

ऊन का धन्धा (Wool Industry)—ऊन के कुटीर उद्योग के अतिरिक्त जिस पर कि हम पहले विचार कर चुके हैं, ऊन की मिलों का भी किसी सीमा तक विकास हो चुका है।

सबसे पहले १८७६ में कानपुर में पहली ऊन की मिल खोली गई, इसके पश्चात् दूसरे दशाब्दों में कुछ और मिलें खोली गईं जिनमें धारीवाल की 'एजरटन बुलेन मिल' मुख्य है। प्रथम महायुद्ध से इस उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला और बम्बई में तीन अन्य ऊनी मिलों की स्थापना की गई। इसके पश्चात की उस भयंकर मन्दी तथा विदेशी प्रतियोगिता आदि के कारण इस उद्योग की स्थिति डाँवाडोल हो गई। परन्तु सरकार की सहायता से, इस उद्योग की दशा कुछ सुधर गई। ऊन के कुटीर उद्योगों के विकास के लिए एक पाँच लाख रुपये की स्वीकृति दी गई। भारत में ऊन से तैयार होने वाले माल में फलालेन, सर्ज, पट्टू, कम्बल, गलीचे आदि मुख्य हैं। भारत की ये मिलें अधिकतया भारत में उत्पन्न होने वाले ऊन का ही प्रयोग करती हैं, हाँ अच्छे कपड़े के लिये वे आस्ट्रेलिया के ऊन को प्रयुक्त करती हैं। कानपुर, बम्बई, धारीवाल, (पंजाब) व बंगलोर इस उद्योग के मुख्य केन्द्र हैं।

भारतीय जलवायु ऊनी कपड़े की अपेक्षा सूती कपड़े के लिये अधिक अनुकूल है अतएव देश में ऊन के उद्योग के विकास की अधिक सम्भावना नहीं है। परन्तु यदि हम विदेशों से प्रचुर मात्रा में आने वाले ऊन का विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि भारतीय ऊन का उद्योग

अच्छी उन्नति कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय ऊन अच्छा नहीं होता किन्तु हमें विदेशों से अच्छा ऊन आसानी से मिल सकता है। जब कई अन्य देशों ने आयात किये हुए ऊन के सहारे ही अपने ऊन के उद्योग का अच्छा विकास किया है तो फिर भारत भी क्यों न इस उद्योग का विकास करे।

द्वितीय महायुद्ध से इस उद्योग को बड़ी सहायता मिली। भारतीय सेना की बढ़ी हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिये इन मिलों ने अधिक से अधिक कार्य किया। अब इस बात की है कि भारतीय मिलें अच्छा से अच्छा ऊनी माल तैयार करें और इस उद्योग के विकास में भरसक सहयोग प्रदान करें।

नमक का धंधा (Salt Industry)—नमक भारत के कई भागों में बनाया जा सकता है। हाँ केवल बंगाल, बिहार व उड़ीसा में जलवायु की नमी के कारण नमक का तैयार करना सम्भव नहीं है।

भारत में नमक प्राप्त करने के दो साधन हैं :—(१) सांभर नमक जो मुख्य रूप से राजपूताना की सांभर झील से प्राप्त होता है (२) समुद्री नमक जो बम्बई तथा मदरास के समुद्री नमक के कारखानों से मिलता है।

सबसे पहले १६३० में नमक के उद्योग पर संरक्षण लगाया गया जो कि १६३८ तक लागू रहा, यद्यपि वह धीरे-धीरे घटा दिया गया था। आज देश में हमारे पास जितने साधन हैं, उनके आधार पर यह आशा की जा सकती है कि भारत नमक के उद्योग में स्वावलम्बी हो सकता है।

युद्ध के समय में नमक के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। १६५० के पूर्वार्द्ध में २०६० लाख टन नमक का उत्पादन हुआ। इधर के कुछ वर्षों में उत्पादन, किस्म तथा मूल्य आदि की दृष्टि से नमक के उद्योग की स्थिति को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। विभाजन के परिणामस्वरूप भारत की नमक सम्बन्धी स्थिति को और भी धक्का पहुँचा है। पंजाब की नमक की पहाड़ी श्रेणियाँ तथा खेवड़ा की नमक की खानें भारत के हाथ से निकल गई हैं जिससे उसे २५ लाख टन चट्टानी नमक की हानि हुई है।

अतएव यह हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपनी नमक सम्बन्धी समस्या का उचित रूप से अध्ययन करें और शीघ्रतिशीघ्र देश को इस दिशा में आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास करें। हमारे यहाँ नमक की प्रति व्यक्ति औसत खपत केवल १२.६ पौण्ड है जब कि संसार की औसत खपत २३ पौण्ड प्रति व्यक्ति है। अतः भविष्य में हमें नमक की खपत के बढ़ाने का भी प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार हमें इस उद्योग के विकास की ओर पूर्ण ध्यान देना चाहिये। नमक का उत्पादन बढ़ाना चाहिए। नमक की नई चट्टानों को खोजने का प्रयत्न करना चाहिये।

कुछ अन्य उद्योग-धन्धे

अलमूनियम का उद्योग—अलमूनियम का उद्योग सबसे आधुनिक उद्योग है। इसका श्रीगणेश १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ही हुआ था किन्तु इस उद्योग ने बड़ी-जल्दी उन्नति करके महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से इस उद्योग का महत्व काफी है इस उद्योग के द्वारा हमें कितने ही कार्यों में सहायता प्राप्त होती है। 'नान फेरस मेटल इन्डस्ट्रीज पैनेल' ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा था कि वर्त्तमान युग हल्की धातुओं का युग है और भविष्य के सभी प्रकार के औद्योगिक विकास में अलमूनियम से बड़ी अच्छी सहायता प्राप्त होगी। अलमूनियम की गणना उन धातुओं में की जा सकती है जिसका सभी कार्यों में उपयोग हो सकता है। इसका

उपयोग यातायात के उद्योग में खाद्य तथा रासायनिक उद्योग में, इमारतों तथा रसोई के लिए वर्त्तनों आदि के रूप में होता है। इस प्रकार लोहे तथा फौलाद के साथ ही साथ अलमूनियम के उद्योग का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है।

भारत में बाक्साइट काफी मात्रा में उपलब्ध है, देश में शक्ति के भी अच्छे साधनों के सुलभ होने की सम्भावना है। इस उद्योग के विकास के लिये इन्हीं दो वस्तुओं की अतीव आवश्यकता होती है। इस प्रकार देश में इस उद्योग के विकास के लिए काफी क्षेत्र है। परन्तु भारतीय बाक्साइट में कुछ रासायनिक विशेषताएँ हैं जिनके कारण यूरोप तथा अमरीका की अपेक्षा भारत में अलमूनियम के उत्पादन में लागत अधिक लगती है। अतएव इस उद्योग के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसको यथेष्ठ संरक्षण की सुविधा प्राप्त हो।

इन्जीनियरिङ्ग का उद्योग—भारत में इंजीनियरिंग उद्योग का श्रीगणेश १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ। परन्तु उस समय तक इसका कार्य रेलों आदि की मरम्मत तक ही सीमित था। बाद में आधुनिक बड़े पैमाने वाले उद्योग-धन्धों के विकास से यन्त्रादिकों की मरम्मत के लिए कारखानों की स्थापना होने लगी। अभी हाल में टाटा आइरन तथा स्टील कम्पनी ने कई प्रकार के इंजीनियरिंग के कार्यों के विकास के लिए प्रोत्साहन दिया है, जिसके द्वारा भारत में ही आवश्यकता के लिए यंत्र तथा औजारों आदि का निर्माण किया जा सके। परन्तु अभी तक हमारे इंजीनियरिंग के उद्योग ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है। अभी तक हम विदेशों से आने वाले यंत्रों पर ही निर्भर हैं। हम प्रतिवर्ष १६ करोड़ रुपए के यंत्र विदेशों से मंगाते हैं। विदेशों से यंत्रादिकों के मंगाने से काफी व्यय हो जाता है। इसका प्रभाव भारतीय उद्योग-धन्धों पर बहुत गहरा पड़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि देश में अपने इस उद्योग के दोषों को दूर कर इस उद्योग को संगठित तथा शक्तिशाली बनाया जाय। वर्त्तमान समय में बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद, मद्रास इत्यादि नगर इस उद्योग के मुख्य केन्द्र हैं।

रंग का उद्योग (Paints Industry)—रंग तैयार करने का सबसे पहला कारखाना कलकत्ते के निकट १६०२ में स्थापित किया गया। इसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई। प्रथम महायुद्ध के समय में इस उद्योग को और प्रोत्साहन मिला और तब से यह दिनोंदिन अच्छी उन्नति करता जा रहा है। इस धन्धे के लिए तारपीन का तेल, अलसी का तेल इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ देश में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं।

साबुन का उद्योग (Soap Industry)—भारत में साबुन के धन्धे के विकास का विस्तृत क्षेत्र है। देश में पर्याप्त मात्रा में वनस्पतियों से तेल तैयार किया जाता है, इस उत्पादन को और भी बढ़ाया जा सकता है, केवल तेजाब इत्यादि का ही आयात किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में साबुन के उद्योग के विकास की सभी वस्तुएँ उपलब्ध हैं।

आधुनिक पद्धति से साबुन के धन्धे का सबसे पहले श्रीगणेश १८७६ में मेरठ में हुआ। इसके पश्चात् स्वदेशी आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश के अन्य भागों जैसे बंगाल आदि में साबुन के कारखाने खोले गये। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भिक दिनों में देश में केवल बीस हजार टन साबुन का उत्पादन होता था। युद्ध से इसको काफी सहायता मिली। फलत; १३३५-१६३६ बीच में साबुन के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई और लगभग ७० हजार टन साबुन उत्पन्न किया जाने लगा।

अब देश में प्रायः सभी प्रकार का साबुन निर्मित होता है। देश में बनाये जाने वाले साबुन का ६० प्रतिशत कपड़ा धोने वाला साबुन बनाया जाता है। देश में साबुन बनाने के छोटे-छोटे कारखाने तो हैं ही इसके अतिरिक्त कुछ बड़े-बड़े कारखाने भी हैं। इनमें से मोदी मेनूफैक्चरिंग

कम्पनी, टाटा केमिकल कम्पनी, गादरेज, लीवर ब्रदर्स इत्यादि मुख्य हैं। देश में साबुन की माँग दिनोदिन बढ़ती जा रही है, और जैसे जैसे भारतीयों के रहन-सहन का स्तर बढ़ता जायगा उसकी मांग में भी वृद्धि होती जायगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में साबुन के उद्योग का भविष्य काफी उज्वल है। इस उद्योग के विकास के लिये अब अनुसन्धान इत्यादि की तथा साबुन बनाने की आधुनिकतम पद्धतियों के अपनाने की बड़ी आवश्यकता है।

इन दिनों इस उद्योग के विकास की स्थिति कुछ डांवाडोल सी हो गई है। देश में ३००,००० टन साबुन बनाया जा सकता है किन्तु १६४८ में केवल १८०,००० टन तथा १६४६ में १००,००० टन से भी कम साबुन बनाया गया जब कि देश में १२५,००० टन साबुन की वार्षिक खपत है। आवश्यकता इस बात की है कि इस उद्योग की उन्नति की ओर समुचित ध्यान दिया जाय। उत्पादन की लागत में कमी की जाय और देश में साबुन की खपत बढ़ाने के साथ ही साथ विदेशों में भी इसके खपाने का प्रयत्न किया जाय।

वनस्पति घी का उद्योग—देश के अन्य उद्योगों में वनस्पति के उद्योग का भी काफी महत्वपूर्ण स्थान है। इस उद्योग में लगभग २३ करोड़ का पूँजी लगी हुई है। अभी थोड़े दिनों से यह उद्योग काफी विशाल होता चला जा रहा है। इस समय इसके ४० कारखाने हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूप से १५,००० कर्मचारी कार्य कर रहे हैं। देश में वनस्पति के बेचने वालों की संख्या लगभग ५०,००० है।

सन् १६५० में वनस्पति घी के विरोध में उसे कानून द्वारा अवैध ठहराने के लिये कई विधियों का निर्माण किया गया, संसद में इस विषय पर काफी वाद-विवाद हुआ, परन्तु अभी इस दिशा में कोई निर्णय नहीं हुआ है। इस विषय पर कोई कोई भी निर्णय देने के पूर्व वनस्पति घी के गुणों-अवगुणों, उसके पोषक तत्वों उसके मूल्य आदि पर भलीभाँति विचार कर लेना आवश्यक है।

वनस्पति घी में पोषक तत्वों का काफी अभाव है, इस विषय पर समय-समय पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। थोड़े दिनों पूर्व इज्जतनगर में चूहों पर एक प्रयोग किया गया था जिसके अनुसार कुछ चूहों को वनस्पति घी तथा कुछ को शुद्ध घी का सेवन कराया गया। इस प्रयोग के फलस्वरूप यह देखा गया कि वनस्पति घी खाने वालों की तीसरी पीढ़ी अन्धी हो गई। इससे यह पता चलता है कि वनस्पति घी स्वास्थ्य के लिये कितना हानिकारक है। परन्तु डा० गिल्डर ने इस बात का विरोध किया है, उनका कथन है कि उन चूहों की तीसरी पीढ़ी के अन्धे होने का कारण वनस्पति घी नहीं बल्कि बंगाली आहार है। अभी हाल में वनस्पति अनुसन्धान-योजना-समिति ने जो प्रयोग किये हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि मूगफली के तेल की तुलना में ३७ डिगरी पर पिघलने वाला वनस्पति घी दोष रहित होता है। इससे एक बात यह और स्पष्ट हो जाती है कि मूगफली के तेल को शुद्ध करने से उसके पोषक तत्वों में कोई वृद्धि नहीं होती। यदि मूगफली के तेल के विशुद्धीकरण से कोई लाभ नहीं होता तो फिर उस पर प्रतिवर्ष बारह करोड़ रुपए व्यय करने की क्या आवश्यकता है। कुछ भी हो वनस्पति घी की पोषक शक्ति के विषय में कोई निश्चयात्मक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

वनस्पति घी की सबसे बड़ी खराबी यह है कि वह देखने में बिल्कुल शुद्ध घी के समान मालूम पड़ता है। साधारण आदमी शुद्ध घी और वनस्पति घी के अन्तर को आसानी से नहीं समझ पाता है। व्यापारी लोगों को इससे शुद्ध घी में मिलावट करने का भी खूब अवसर प्राप्त होता है। यही कारण है कि आजकल बाजारों में शुद्ध घी का प्राप्त होना प्रायः असम्भव सा हो गया है। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी व्यवस्था कर दी जाय जिससे कि जो लोग शुद्ध घी लेना चाहते हैं उन्हें शुद्ध घी मिल जाय और जो वनस्पति घी लेना चाहते हैं उन्हें वनस्पति मिल जाय। दोनों में

किसी प्रकार की मिलावट न हो सके। इसके लिये सबसे अच्छा तरीका वनस्पति घी को रंगने का ही है। वनस्पति घी के रङ्ग दिए जाने से उसके शुद्ध घी के मिलावट का भय जाता रहेगा और बाजार में शुद्ध घी सरलता से प्राप्त हो सकेगा। इसके लिये हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि जिस रंग से उसको रंगा जा रहा है, वह देखने में अच्छा मालूम पड़ता है अथवा नहीं, दूसरे ऐसा तो नहीं है कि वह रंग हानिकारक हो, तीसरे उसके सरलता से उड़ाए जाने की तो सम्भावना नहीं है। इंडियन डेरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने रतनजोत की जड़ से वनस्पति घी को रंगने का प्रयोग किया है, यह प्रयोग काफी सन्तोषप्रद भी रहा है।

यदि वनस्पति घी के उत्पादन पर पूर्णरूप से रुकावट लगा दी जाती है तो इसका प्रभाव इस उद्योग में लगे हुये लोगों पर काफी गहरा पड़ेगा, इसमें लगी हुई पूँजी भी व्यर्थ में नष्ट हो जायगी, और इससे अन्य अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। अतएव सबसे अच्छा तरीका इसको रंगने का ही है और इसके द्वारा हम इसके प्रायः कुछ दोषों के दूर करने में सफल हो सकेंगे।

औद्योगिक विकास पर एक दृष्टि—हमने भारत के औद्योगिक क्षेत्र, उसकी औद्योगिक स्थिति पर एक विहंगम दृष्टि डाली है। भारत के विभिन्न उद्योगों के जन्म, उनके विकास तथा उनसे सम्बन्धित अन्य समस्याओं पर विचार किया है।

यदि हम कुछ मुख्य उद्योग-धन्धों की ओर दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जूट तथा चाय के उत्पादन ने देश में प्रायः इन चीजों की माँग में वृद्धि कर दी है। द्वितीय महायुद्ध के समय शकर, सीमेंट, कपड़ा, लोहा, फौलाद, कागज आदि के उद्योग में साधारणतया भारत स्वावलम्बी हो गया था। अब भारत का संसार के अच्छे औद्योगिक देशों में दसवाँ नम्बर है। इससे यह पता चलता है कि हमारे देश ने इन वर्षों में अच्छी औद्योगिक उन्नति की है। परन्तु यदि हम अन्य देशों की औद्योगिक स्थिति से अपने देश की तुलना करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारा देश अभी इस क्षेत्र में बहुत पीछे है। हमने अभी तक कोई विशेष औद्योगिक प्रगति नहीं की है। सर विश्वेसरय्या के अनुसार संगठित उद्योगों की पूँजी अनुमानतः ७०० करोड रुपये है जिसमें से ३०० करोड रुपये से कम की ही पूँजी भारतीयों की है, शेष पूँजी विदेशी है। देश के उद्योग-धन्धों में विनियोजित विदेशी पूँजी राष्ट्र के हित के लिये ठीक नहीं है, इस प्रश्न पर हम औद्योगिक पूँजी सम्बन्धी परिच्छेद में प्रकाश डाल चुके हैं।

यदि हम कुछ अन्य देशों की औद्योगिक स्थिति पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात हो जायगा कि ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका आदि देशों ने कितनी आश्चर्यजनक उन्नति की है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन को ही लीजिये, वहाँ की जनसंख्या भारतीय जनसंख्या की केवल १३ प्रतिशत है किंतु वहाँ पर १९२८ में १०७,५०० औद्योगिक संस्थाएँ थीं और १९३२ में इनमें लगभग ७०६७ करोड़ रुपया लगा हुआ था। संयुक्त राज्य अमरीका जिसकी जनसंख्या भारत की जनसंख्या केवल ३५ प्रतिशत है, उसमें १९२९ में १७४,१३७ औद्योगिक संस्थाएँ थीं जिनमें २३,००० करोड़ की पूँजी लगी हुई थी। कनाडा जिसमें भारत की जनसंख्या का केवल ३ प्रतिशत भाग ही है, उसमें १९२९ में औद्योगिक संस्थाओं की संख्या २४,०२० थी तथा इनमें १,४४५ करोड़ रुपया लगा हुआ था, जापान जिसकी जनसंख्या हमारे देश की जनसंख्या की केवल १९ प्रतिशत ही है, १९२८ में १,१३,७११ औद्योगिक संस्थाएँ थीं जिसमें १,००६ करोड़ रुपया लगा हुआ था। तब से अब तक इन आंकड़ों में कुछ न कुछ अवश्य वृद्धि हुई होगी। उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि

अपने देश में साधनों की प्रचुरता होते हुये भी वह अन्य देशों की अपेक्षा कितना पिछड़ा हुआ है। हमारी जनसंख्या का केवल ११ प्रतिशत भाग ही नगरों में निवास कर रहा है और संगठित उद्योगों में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या केवल २ प्रतिशत ही है। वर्ष भर में हम जितना निर्यात करते हैं उसमें से लगभग ६० प्रतिशत मूल्य का कच्चा तथा आधा बना हुआ माल विदेशों को भेजा जाता है, तैयार माल का निर्यात केवल ४० प्रतिशत ही होता है। जब कि देश में लगभग ७० प्रतिशत मूल्य के माल का आयात होता है और कच्चा माल व आधा बना हुआ माल केवल ३० प्रतिशत का ही आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा औद्योगिक विकास बड़ी मन्द गति से आगे बढ़ा है। अभी तक जो कुछ भी विकास हुआ है वह कुछ विशेष क्षेत्रों में ही हुआ है। हमारे उद्योगपतियों ने अपने-अपने उद्योगों में कोई विशेष क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया। वे उसी लकीर के फकीर बने रहे जिसके कि उनके पूर्वज थे। किसी नवीन उद्योग की स्थापना करने की अपेक्षा उनकी प्रवृत्ति अनुकरण या नकल करने की ही रही है। ज्यों ही कोई नवीन उद्योग किसी ने खोला और उसमें कुछ लाभ होता नजर आया, उसी उद्योग की भरमार हो जाती है सभी लोग उसी ओर झुक जाते हैं और जब तक इस उद्योग से होने वाले लाभ में कमी नहीं आती तब तक उसी ओर लोगों का झुकाव रहता है। यही नहीं प्रायः यह देखा गया है कि जिस स्थान पर एक या दो उद्योग धन्धे स्थापित किए गए उसी स्थान में उन्हीं उद्योगों का जमाव सा लग जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह उद्योग काफी केन्द्रित हो जाता है, उसका सन्तुलन नष्ट हो जाता है। ऐसे स्थानों में उद्योगों के जमाव के हो जाने से या तो वस्तुओं की बिक्री पर असर पड़ता है, जैसा कि शकर के उद्योग के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, या उस उद्योग के लिए कच्चे माल का अभाव हो जाता है जैसा कि कपास के उद्योग के सम्बन्ध में, या शक्ति के साधनों का अभाव हो जाता है जैसा कि सीमेन्ट के सम्बन्ध में।

इसके अतिरिक्त हमारे उद्योग धन्धों का एक दूसरा दोष यह है कि हमें मशीनों, औजारों तथा अन्य बहुत सी आवश्यक वस्तुओं के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। कभी-कभी तो हमें विदेशों से कुशल कारीगरों को भी बुलाना पड़ता है। इसके अलावा प्रायः सभी औद्योगिक क्षेत्रों में विदेशियों का गहरा प्रभाव है देश में विदेशी पूंजी किस मात्रा में लगी हुई है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

हमारे मूल उद्योग जिन पर कि अन्य उद्योगों का विकास अवलम्बित है अभी बिल्कुल ही शैशवावस्था में हैं। अभी तक हम उन्हीं उद्योगों में पड़े हुए हैं जिनमें यूरोप ने गत शताब्दी में अच्छी प्रगति की थी। जब हम अपने औद्योगिक उत्पादन के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डालते हैं तो हमें पता चल जाता है कि अभी तक हमने जो प्रगति की है वह नहीं के बराबर है। हम अब भी औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक स्थिति में हैं। किसी भी देश के औद्योगिक विकास का मापदण्ड, वहाँ के फौलाद तथा कुछ रासायनिक पदार्थों की खपत होती है।

भारत में इन वस्तुओं की खपत देखने से यह पता चल जाता है कि ये पदार्थ यहाँ कितनी कम मात्रा में खपते हैं। भारत में प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति फौलाद की खपत केवल ८ पौण्ड है, जब कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में ५२० पौण्ड, यू० के० में ५२० पौण्ड तथा आस्ट्रेलिया में ४७० पौण्ड है। भारत में सलफ्यूरिक एसिड की जितनी खपत होती है, उसका चार सौ गुना अमरीका में होती है, यहाँ पर सौडा ऐश जितना खपता है उसका सौगुना अधिक अमरीका में खपता है। यह तो रही कुछ पदार्थों की खपत की बात। यदि हम अपनी काम करने वाली जनसंख्या को देखें तो हमें पता चलेगा कि उसका मुश्किल से दो प्रतिशत बड़े उद्योग-धन्धों में काम करता है।

अभी तक हमने अपने देश के औद्योगिक विकास पर विचार किया, हमने देखा कि हमारा औद्योगिक विकास बड़ी मन्दगति से आगे बढ़ा है। इस दिशा में हमारी प्रगति बड़ी असन्तोषजनक रही है। अब प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसा क्यों है? आइये हम यहाँ पर इसी प्रश्न पर विचार करें। अपने देश के औद्योगिक अधःपतन का कारण हमारा सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन है। हमारी अशिक्षा, मूर्खता, हमारी निर्धनता सभी का इसमें कुछ हाथ है। सरकार की स्वच्छन्द व्यापार नीति के कारण विदेशी माल से टक्कर न ले पाने के कारण देश के कितने ही उद्योग पनप न सके। रेलवे की भाड़े संबन्धी अनुदार नीति ने हमारे उद्योगों की प्रगति में रोड़ा अटकाया है। हमारे देश की विनिमय सम्बन्धी नीति से भी हमारे उद्योग को गहरा धक्का लगा है। देश में कुशल शिल्पकारों, कारीगरों के अभाव, भारतीय श्रमिकों की अकुशलता भी हमारे इस औद्योगिक अधः-पतन के लिए उत्तरदायी है।

दूसरे, देश में विदेशों से कुछ बनी-बनाई वस्तुएँ सस्ते दामों पर आ जाती थीं, इन वस्तुओं के भारत में बनाने में लागत अधिक लगती थी, इसका भी हमारी औद्योगिक प्रगति पर बड़ा गहरा असर पड़ा। इसके अलावा यहाँ पर सम्पत्ति के असमान वितरण तथा छोटे भू-स्वामी काश्तकारों के होने से भी हमारे उद्योग-धन्धों का सम्यक विकास न हो सका। फिर यहाँ के लोगों का झुकाव भी वाणिज्य-व्यापार की ओर जितना रहा है उतना उद्योग-धन्धों की ओर नहीं। आज कल बैंक भी जितना पूंजी का प्रोत्साहन व्यापार के लिए देती है उतना उद्योग-धन्धों के लिए नहीं। इस प्रकार संगठित पूंजी के अभाव, आवागमन व यातायात के साधनों की कमी ने भी हमारे उद्योग-धन्धों की प्रगति में रोड़ा अटकाया है। इन्हीं सब त्रुटियों, अभावों, असुविधाओं आदि के होने के कारण भारत में सम्यक औद्योगिक विकास नहीं हो सका।

औद्योगिक उत्पादन की समस्या—औद्योगिक उत्पादन की समस्या आज राष्ट्र की उन महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है जिनकी ओर शीघ्रातिशीघ्र ध्यान दिया जाना अतीव आवश्यक है। इन दिनों औद्योगिक उत्पादन में काफी ह्रास हुआ है। युद्ध के दिनों में (१९४३-४४ में) औद्योगिक उत्पादन में से कपड़े का उत्पादन ४८७,१०० लाख गज, मिलों से उत्पन्न होनेवाली शक्कर १२७० लाख टन तथा फौलाद १३७० लाख टन उत्पन्न किया गया था। १९४१-४२ में जूट १२६० लाख टन, कागज १८७० लाख हन्डरवेट, सीमेन्ट २२२० लाख टन हुआ था। युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् उत्पादन में कमी होना शुरू हो गई। १९४७-४८ के अनुमानित आंकड़ों से यह सिद्ध हो जाता है कि इधर प्रायः सभी प्रकार के औद्योगिक उत्पादन में भारी कमी हुई है, इन वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में जो कमी हुई है, उसके कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) नवीन यंत्रों तथा प्लान्ट के प्राप्त होने में कठिनाई।

(२) कर्मचारियों की अनुपस्थितियाँ तथा हड़तालों की अधिकता।

(३) यातायात के साधनों का अभाव। इन दिनों यातायात के साधनों के सुलभ होने में बड़ी कठिनाई हुई जिससे कच्चे माल के प्राप्त होने में, तथा तैयार माल के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में बड़ी बाधा उपस्थित हुई।

(४) राजनैतिक उथल-पुथल ने भी औद्योगिक उत्पादन पर गहरा प्रभाव डाला। १५ अगस्त १९४७ के पूर्व की स्थिति बिल्कुल अनिश्चित सी थी, लोगों की देश के विभाजन आदि के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण धारणा बनी रही और जब १५ अगस्त को देश के विभाजन की खबर फैल गई, भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हो गई तो उसका लोगों के आर्थिक जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। पंजाब, दिल्ली, तथा पश्चिमी बंगाल के बहुत से कारखाने बन्द से हो गये।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के नियमों का भी भारत के औद्योगिक उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन नियमों के कारण भारत को अपने कुछ उद्योगों पर संरक्षण लगाने में बाधा खड़ी हुई।

(६) सन् १९४७-४८ के (लियाकत अली खाँ के) बजट का भी हमारे उद्योग-धन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि १९४८-४९ व १९४९-५० के बजट के द्वारा इस दिशा में कुछ सुधार हुआ किन्तु औद्योगिक क्षेत्रों में यह धारणा अब भी फैली हुई है कि भारतीय उद्योगों को काफी कर देना पड़ता है।

(७) किसी निश्चित सुविचारित औद्योगिक नीति के न होने के कारण भी हमारे उद्योग-पतियों ने बहुत सम्हल सम्हल कर कदम बढ़ाया। उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण के समाचार से देश के पूँजीपतियों ने उद्योग-धन्धों में पूँजी लगाने का साहस न किया।

(८) उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त, उत्पादन में कमी होने का एक यह भी कारण रहा कि कुछ वस्तुएँ जैसे मोटा कपड़ा, शक्कर, कागज, तथा फौलाद के मूल्य नियंत्रण के कारण, अच्छा लाभ न प्राप्त हो सका। कभी-कभी तो उसमें हानि ही हुई। अतएव लोगों को उत्पादन में वृद्धि करने का कोई उत्साह न मिला।

(९) पहली अगस्त १९४९ से काम के घंटों (५४ से ४८ घंटे प्रति सप्ताह) के कम कर दिए जाने से भी उत्पादन पर गहरा असर पड़ा।

सन् १९४८ की अक्तूबर में उत्पादन में वृद्धि करने के लिए सरकार ने अपनी नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की, उत्पादन की वृद्धि के लिये, प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए सरकार ने औद्योगिकों को कुछ रियायतें तथा सुविधायें देना निश्चित किया। इसके अन्दर निम्नलिखित बातें मुख्य थीं :—

(१) कुछ विशेष दशाओं में प्रतिशत तक की आय कर में छूट दी गई।

(२) नई इमारतों, प्लाटों व मशीनों तथा तीन शिफ्ट में काम करने वाले कारखानों को प्रचलित दर से दूनी दर पर मूल्य ह्रास भत्ता दिया गया।

(३) मशीनों तथा प्लान्ट पर कर आधा कर दिया गया है। कुछ प्रकार के कच्चे माल पर आयात कर हटा दिया गया है और कुछ पर कम कर दिया गया है।

इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में कुछ वृद्धि हुई। कपड़ा, सीमेन्ट, रासायनिक पदाथ, खाद, बाइसिकिल, मोटर कार की बैटरियों आदि बहुत सी वस्तुओं का उत्पादन बढ़ गया। परन्तु जहाँ इन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई, वहाँ दूसरी ओर कोयला, फौलाद, रबर शीशा, चाय आदि के उत्पादन में कमी हो गई। यह देखकर के कुछ आश्चर्य सा होने लगता है कि औद्योगिक संस्थाओं की कार्यक्षमता में वृद्धि करने के पश्चात् भी उत्पादन में कुछ वृद्धि न हुई, जितना उत्पादन होना आवश्यक था उतना न हुआ।

उद्योग-धन्धों की केन्द्रीय स्थाई सलाहकार परिषद (१९४९) की स्थायी समिति के प्रस्तावों के अनुसार निम्नलिखित बातों पर सुझाव देने के लिए कुछ दलों की नियुक्ति का निश्चय किया गया था। इन दलों (पार्टीज़) को निम्नलिखित बातों पर छै मास के अन्दर ही सुझाव देने का कार्य दिया गया था :—

(१) उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक उपायों का सुझाव।

(२) उत्पादन की लागत में कमी का सुझाव।

(३) उत्पादित पदार्थों की किस्म को सुधारने के उपाय।

(४) श्रमिकों तथा प्रबन्धकों की कुशलता, तथा उद्योग-धन्धों के संगठन की सुव्यवस्था के उपाय।

(५) नई इमारतों, प्लान्टों, मशीनों तथा ऐसे कारखानों जहाँ कि तीन शिफ्टों में काम होता है, उनके लिए मूल्य-ह्रास भत्ता (डेप्रेसियेशन अलाउन्स)।

(६) उत्पादित वस्तुओं की बिक्री की सुन्दर व्यवस्था।

१९४९ में कपड़े के उद्योग को छोड़कर प्रायः सभी बड़े उद्योगों के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। यह स्थिति १९५० तक बनी रही। १९५० के पूर्वार्द्ध में कपड़े तथा सूत के उत्पादन में तो वृद्धि नहीं हुई किन्तु कोयला, फौलाद, सीमेंन्ट, कागज आदि के उत्पादन में कुछ वृद्धि होती हुई दिखाई पड़ी। १९५० के पूर्वार्द्ध में कपडे तथा सूत के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई परन्तु अन्य उद्योग जैसे कोयला, फौलाद, सीमेन्ट, कागज आदि के उद्योग में काफी विकास हुआ। १९४९ में कोयला का उत्पादन काफी अच्छा हुआ। उस वर्ष के पहले छै महीने में ३१०९ लाख टन कोयला उत्पन्न हुआ, उसी वर्ष के दूसरे छै महीनों में १५५४ लाख टन कोयला हुआ। १९५० के पूर्वार्द्ध में फौलाद के उत्पादन में १८,००० टन की सीमेन्ट में ३ लाख टन की वृद्धि हुई, कागज के उत्पादन में २,००० टन से भी अधिक की वृद्धि हुई। इस वर्ष का मशीनों के औजारों, ऊनी कपड़े व ऊन, दियासलाई, साबुन इत्यादि का उत्पादन १९४९ से कम हुआ।

अभी हाल में इंडियन चैम्बर आफ कामर्स फेडरेशन ने एक स्मृति पत्र (मेमोरेन्डम) प्रस्तुत किया था जिसका शीर्षक था 'उत्पादन की वृद्धि में बाधाएँ'। इस स्मृति पत्र में उन्होंने वस्तुओं पर नियंत्रण, उनका बढ़ा हुआ मूल्य, श्रम के उत्पादन में ह्रास, साख सम्बन्धी असुविधा, कच्चे माल का अभाव, देश का अनिश्चित आर्थिक वातावरण, करों का बहुमूल्य आदि बातों का उल्लेख किया था। परन्तु उन्होंने इस बात का उल्लेख नहीं किया कि उत्पादन की वृद्धि के ह्रास में उद्योगपति भी कुछ उत्तरदायी रहे हैं, इन वर्षों में हमारे उद्योगपतियों ने भी अपने साहस का परिचय नहीं दिया, इन दिनों उनमें आवश्यक मौलिकता और साहस का अभाव रहा। उन्होंने औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के लिए अच्छा वातावरण तैयार करने की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। हमारी सरकार व्यापार और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए जो कुछ भी कर सकती है, कर रही है। जहाँ तक वस्तुओं के नियंत्रण का सम्बन्ध है, इस नियंत्रण से औद्योगिक विकास पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, जब तक देश में आवश्यक उपकरणों का अभाव है तब तक वस्तुओं पर से नियंत्रण के हटाए जाने से कोई लाभ नहीं होगा, उल्टे उससे हानि ही होने की सम्भावना है। सरकार ने गत तीन वर्षों में आय कर आदि सम्बन्धी कानून में आवश्यक परिवर्तन कर अपनी उदारता का परिचय दिया है। वास्तव में हमारे औद्योगिक उत्पादन में ह्रास का एक मुख्य कारण उसके लिये आवश्यक यंत्रों आदि के प्राप्त होने की कठिनाई है। इसके अतिरिक्त देश में कुशल कारीगरों का भी अभाव है, आवश्यकता इस बात की है कि हमारे पूँजीपति, उद्योगपति इस ओर अपना अधिक से अधिक ध्यान दें, देश के औद्योगिक विकास के लिए वे पूर्णरूप से तत्पर हो जायँ, सरकार को अपना पूरा सहयोग देने के लिए वे सदैव तत्पर रहें। इसी में देश का तथा उनका कल्याण निहित है।

हमारे औद्योगिक संगठन का आधार—किसी भी देश के औद्योगिक संगठन को निर्धारित करने में बहुत सी बातों पर विचार करना आवश्यक होता है। औद्योगिक संगठन के आधार में बहुत सी शक्तियाँ रहती हैं जो अपना-अपना विशेष महत्व रखती हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक साधन, पूँजी की सुलभता, श्रमिकों की निपुणता तथा प्रबन्धकों की कुशलता आदि है। इन सब बातों का प्रभाव भारत के भी औद्योगिक संगठन को निश्चित करने में पड़ा है, और भविष्य में भी इन बातों का प्रभाव पड़ेगा।

लोहे तथा फौलाद के उद्योग के विकास के लिए भारत के प्राकृतिक साधन काफी अनुकूल हैं। इससे यह आशा की जा सकती है कि वे उद्योग जो लोहे और फौलाद के उद्योगों के उत्पादन पर आधारित हैं, उनके विकास की बड़ी सम्भावनाएँ हैं।

दूसरी बात यह है कि जनसंख्या के अनुसार हमारे देश के प्राकृतिक साधन पर्याप्त नहीं हैं। अतएव भारत में उन उद्योग-साधनों के विकास की अधिक सम्भावनाएँ हैं जिनमें श्रम को अच्छा पारिश्रमिक प्राप्त होता है। यहाँ पर श्रम की प्रधानता वाले उद्योग के विकास के लिए जितना क्षेत्र है उतना पूँजी की प्रधानता वाले उद्योग के लिए नहीं। यही कारण है कि हम अभी तक विशाल उद्योगों के विकास में सफल नहीं हुए हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि विशाल उद्योग-धन्धों के विकास के लिए काफी पूँजी की आवश्यकता होती है, और भारत जैसे निर्धन देश में प्रचुर मात्रा में पूँजी के प्राप्त होने की आशा करना दुराशा मात्र है। अब देश में विदेशी पूँजी का लगना भी राष्ट्रीय दृष्टि से अहितकर है। जब देश में विदेशी पूँजी नहीं लगेगी तो हमें विदेशों के औद्योगिक विशेषज्ञों की भी सहायता न मिल सकेगी, ऐसी दशा में विशाल उद्योग-धन्धों की स्थापना कर, उन्हें भलीभाँति संचालित करना मुश्किल होगा। हमें विदेशों से औद्योगिक विशेषज्ञों की सहायता केवल सरकारी या अन्तर्राष्ट्रीय साधनों द्वारा प्राप्त हो सकेगी। इस प्रकार वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देश में पहले कम कुशल कारीगरों तथा छोटे उद्योगों का विकास होगा, फिर कुशल कारीगरों तथा छोटे उद्योगों का समय आयेगा, इसके पश्चात् बड़े उद्योगों का समय आएगा और यदि हम अपने प्राकृतिक साधनों का अच्छा उपयोग करेंगे तो कुछ समय पश्चात् पूर्णरूप से कुशल शिल्पियों तथा विशाल उद्योगों की स्थापना हो सकेगी परन्तु ऐसा होने में अभी काफी समय लगेगा।

हाँ, राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सरकार अवश्य विशाल उद्योगों की स्थापना के लिये विशेष प्रयत्न कर सकती है। सरकार ने इस ओर अपना क्रियात्मक कदम उठाया भी है, देश में अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण का श्रीगणेश हो गया है, लोहे फौलाद जैसे कुछ मूल उद्योगों के विकास की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जा रहा है, देश में यातायात के साधनों की आवश्यक सामग्री के निर्माण, वायुयान इत्यादि के उपकरणों के बनाने की ओर क्रियात्मक कदम उठाया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य आधारभूत उद्योगों जैसे रासायनिक उद्योग, शकर, सीमेन्ट, कपड़े इत्यादि के उद्योग के विकास का भी यथेष्ट प्रयत्न किया जा रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने प्राकृतिक साधनों का यथेष्ट विकास करें, इसके लिए एक सुविचारित राष्ट्रीय योजना की आवश्यकता है। हमें पहले उन्हीं उद्योगों की स्थापना एवं विकास की ओर ध्यान देना चाहिये जिनकी हमें अतीव आवश्यकता है। उदाहरण के लिये हमें पहले सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों का विकास करना है, फिर प्राकृतिक शक्ति-साधनों जैसे जल-शक्ति-साधन का विकास करना है, तीसरे जन-हितकारी उद्योगों का विकास, चौथे कुछ मूल तथा आधारभूत उद्योगों का विकास करना होगा। यह तो रही जन-हितकारी उद्योगों की बात। जहाँ तक व्यक्तिगत उद्योग-धन्धों के विकास का सम्बन्ध है हमें पहले वर्तमान उद्योग-धन्धों के उत्पादन में जहाँ तक हो सके वृद्धि करनी होगी, दूसरे मांग के अनुसार वर्तमान उद्योगों के विस्तार की ओर ध्यान देना होगा, तीसरे उन उद्योगों की स्थापना की ओर ध्यान देना होगा जो उपरोक्त उद्योगों के पूरक हैं। चौथे उन उद्योगों के विकास का प्रयत्न करना होगा जिनका सम्बन्ध अन्य देशों से भी है, पाँचवे उन उद्योगों के विकास की ओर ध्यान देना होगा जो देश तथा विदेश के बाजार के क्षेत्र में वृद्धि करेंगी।

देश के अच्छे औद्योगिक संगठन के लिये हमें उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण की समस्या की ओर भी यथेष्ट ध्यान देना होगा, साथ ही छोटे पैमाने पर किए जाने वाले तथा बड़े पैमाने पर किये जाने वाले उद्योगों के सम्बन्ध की ओर भी उचित ध्यान देना होगा। इन बातों की ओर यथेष्ट ध्यान देते हुए ही हम अपने देश का औद्योगिक विकास करने में समर्थ हो सकेंगे।

बीसवाँ परिच्छेद

औद्योगिक पूँजी व प्रबन्ध

प्राक्कथन—पिछले परिच्छेदों में हमने भारतीय उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में विचार किया, इस परिच्छेद में हम इन उद्योगों में लगने वाली औद्योगिक पूँजी पर प्रकाश डालेंगे। उद्योग-धन्धों में पूँजी की आवश्यकता उसी प्रकार होती है जिस प्रकार मानव को अन्न और वस्त्र की आवश्यकता होती है। किसी भी उद्योग की स्थापना के लिए सबसे पहले भूमि की, इमारत की, फिर मशीनों की उनको संचालन करने के लिए श्रमिकों की आवश्यकता होती है परन्तु ये सभी वस्तुएँ पूँजी के बिना नहीं प्राप्त की जा सकतीं। जिस उद्योग में पर्याप्त यात्रा में पूँजी लगी है उस उद्योग की स्थिति भी अच्छी रहती है। इसके विपरीत जिन उद्योगों के पास पूँजी नहीं है उनका जीवित रहना भी मुश्किल हो जाता है। भारत में औद्योगिक विकास की गति मन्द होने का एक मुख्य कारण पूँजी का अभाव ही है। हम यहाँ देश की इसी समस्या का अध्ययन करेंगे।

औद्योगिक पूँजी को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) छोटे पैमाने वाले तथा मध्यम आकार के उद्योगों के लिए औद्योगिक पूँजी।

(२) बड़े पैमाने वाले या संगठित उद्योगों के लिए औद्योगिक पूँजी।

छोटे तथा मध्यम आकार के उद्योगों की पूँजी—

ग्रामों में औद्योगिक पूंजी—छोटे उद्योगों या धन्धों में उत्पादकों को मुख्य रूप से कच्चे माल को क्रय करने तथा तैयार माल के विक्रय की व्यवस्था करने में पूँजी की आवश्यकता होती है।

ग्रामीण क्षेत्रों की यह पूंजी पूर्णतया असंगठित या अव्यवस्थित होती है, इसका मुख्य कारण यही है कि वहाँ पर्याप्त पूँजी प्राप्य नहीं है। वहाँ पर गाँव वालों के लिए पूँजी प्राप्त करने का केवल एक ही साधन या सहारा रहता है और वह है गाँव का महाजन या साहूकार। ये छोटे उत्पादक अधिकतया निर्धन होते हैं, वे अच्छी जमानत देने में असमर्थ होते हैं। इसलिए महाजन मनमाने सूद पर उनको रुपया उधार देता है। कर्जदार या ऋणकर्त्ता की अशिक्षा से महाजन अनुचित लाभ उठाता है। गाँवों में लोगों में अचल सम्पत्ति जैसे खेत, बाग-बगीचे, स्त्रियों के लिए आभूषण आदि के बनवाने में खर्च कर देते हैं या कुछ नहीं तो केवल धन को जोड़ कर ही रखते हैं। वहाँ पर जो सहकारी बैंकें होती हैं वे केवल कृषि कार्यों के लिए ही ऋण देती हैं। इस प्रकार गाँवों में पूँजी के अभाव के कारण किसी भी उद्योग-धन्धे का चलना दूभर हो जाता है।

नगरों में औद्योगिक पूंजी—नगरों में पूँजी की व्यवस्था अच्छी है। वहाँ प्रायः प्रत्येक नगर में इंपीरियल बैंक या अन्य किसी ज्वाइन्ट स्टाक बैंक की एक शाखा रहती है। थोड़े समय से तो अब कितनी ही बैंकिंग संस्थायें खुल गई हैं।

उधर नगरों में पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता में भी बराबर वृद्धि होती चली जा रही है। वहाँ पर कुटीर-उद्योगों तथा मध्यम पैमाने पर चलने वाले उद्योगों जैसे मुद्रणालय, मोज़े, बनियाइन, साबुन तथा खेल के सामान के कारखानों, लोहे व पीतल की फाउन्डरियों, आटा व चावल की मिलों के लिए और अधिक पूँजी की आवश्यकता है।

कुटीर उद्योग में काम करने वालों को साधारण साहूकार से तो सहायता मिल ही जाती है, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोतों से भी उसे मदद मिलती है। महाजन उसको नकदी में ऋण देता

है और यदि महाजन कच्चे माल का भी सौदागर है तो वह भी उसे साख पर दे देता है परन्तु वह ऋण लेने वाले से उचित-अनुचित लाभ उठाने में कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़ता।

मध्यम श्रेणी या छोटे पैमाने के उद्योगों की स्थिति भी इससे मिलती-जुलती ही है। ये उद्योग साधारणतया अच्छी आर्थिक स्थिति वाले आदमियों द्वारा चलाए जाते हैं किन्तु कभी कभी इन्हें भी काफी आर्थिक सहायता या पूँजी की आवश्यकता होती है।

इन उद्योग वालों को पूँजी प्राप्त करने के मुख्य रूप से दो-ही स्रोत हैं एक तो देशी बैंकर जो कि व्यक्तिगत सेक्योरटी पर ऋण देता है। इस ऋण के सूद की दर ६ से लेकर १५ प्रतिशत तक होती है। दूसरे ज्वाइन्ट स्टाक बैंकों से। ये बैंकें अचल पूंजी के अनुसार ऋण देती हैं। पहले मशीनों व अन्य अचल सम्पत्ति आदि का अनुमानित मूल्य आंक लिया जाता है इसी अनुमानित मूल्य का २० से लेकर ३० प्रतिशत तक ऋण देते हैं, स्टाक पर ये बैंके ७० प्रतिशत तक ऋण देती हैं। जिन शर्तों पर ये बैंकें ऋण प्रदान करती हैं वे ऋण लेने वालों को बड़ी असुविधाजनक मालूम होती हैं और वे इससे कोई उचित लाभ नहीं उठा पाते।

उद्योग-धन्धों को राज्य द्वारा भी आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। प्रायः सभी राज्यों के उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता देने वाला कानून बना गया है। और उद्योग-धन्धों को ऋण दिया जाने लगा है किन्तु इस ऋण से भी कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा है। सरकारी अधिकारी किसी भी औद्योगिक संस्था की आर्थिक स्थिति अच्छी तरह समझ नहीं पाते, उधर जो व्यक्ति ऋण लेना चाहता है वह भी इस प्रकार की व्यवस्था से अपनी असली साख को, अपनी वास्तविक आर्थिक स्थिति को नहीं प्रगट करना चाहता। इस प्रकार राज्य द्वारा दिए गए ऋण से कोई विशेष लाभ नहीं मिल पाता। सन् १६३३ में होने वाले पाँचवे औद्योगिक सम्मेलन ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था कि 'राज्यों द्वारा दिए गए ऋण से कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा है।' इसलिए सीधे राज्य द्वारा दिए जाने वाले ऋण को बन्द कर देना ही उचित होगा। हाँ छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के लिए यदि प्रत्येक राज्य में औद्योगिक पूंजी संस्थाएँ स्थापित की जाँय तो उससे अच्छा लाभ मिल सकता है।

बड़े उद्योग और उनकी पूँजी—हम ऊपर कह चुके हैं कि किसी भी उद्योग के लिए चाहे वह विशाल हो या मध्यम पैमाने का या छोटा सभी में किसी न किसी सीमा में पूँजी लगती है। विशाल पैमाने पर किए जाने वाले उद्योगों के लिए विशाल परिमाण में पूँजी की भी आवश्यकता होती है। इस प्रकार के उद्योगों की स्थापना करने के लिए सबसे पहले भूमि या जमीन के खरीदने की जरूरत होती है, फिर उस भूमि पर इमारत बनाने की व्यवस्था की जाती है, इसके बाद इनमें मशीनों आदि की स्थापना की जाती है, इन सभी कार्यों के लिए अच्छे परिमाण में पूँजी की जरूरत होती है। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही ऐसे खर्चे होते हैं जिनमें काफी पूँजी की आवश्यकता होती है जैसे इन उद्योगों के संचालन के लिए कच्चे माल का खरीदना, उत्पादित माल की बिक्री आदि की व्यवस्था करना आदि। इस प्रकार के कार्यों में लगनेवाली पूँजी कार्यशील पूँजी कहलाती है।

इन उद्योगों में पूंजी कैसे लगाई जाय—इन विशाल उद्योगों में पूँजी किस प्रकार लगाई जाय, उसके लिए कौन सी व्यवस्था उपयुक्त होगी इस सम्बन्ध में कई विचार उपस्थित किए जाते हैं। एक विद्वान का कथन है कि मूल पूंजी तथा साधारण सक्रिय पूँजी कीव्यवस्था फर्म की स्वयं की पूँजी से होनी चाहिए। परन्तु इस दृष्टिकोण के, इस सिद्धान्त के पूर्ण रूप से समर्थन करने से, पालन करने से बहुत सी अच्छी-अच्छी फर्में भी आगे नहीं बढ़ पायेंगी क्योंकि भारत में किसी भी भारतीय फर्म के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं है। भारत जैसे देश में जहाँ कि लोगों में साहस की

भावना का अभाव है, लोग पूँजी को किसी उद्योग आदि में लगाने में इतना उत्साह नहीं दिखलाते जितना कि उसके जोड़कर रखने में, ऐसे देश में यह आशा करना कि यहाँ की फर्में या व्यापारिक कम्पनियाँ अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए सभी प्रकार की पूँजी अचल, चल तथा सक्रिय या कारबारी पूँजी आदि की व्यवस्था कर लेगी दुराशा मात्रा है। इस सम्बन्ध में यदि हम १९३८ की 'टेक्स्टाइल, लेबर इन्क्वायरी कमेटी' की रिपोर्ट के कुछ आंकड़ों को देखें तो हमें पता चल जायगा कि भारत की व्यापारिक कम्पनियों का कुल उद्योग में लगी हुई पूंजी में कितना कम हिस्सा था। सन् १९३८ के कंपनियों का इस प्रकार का हिस्सा बंबई में ३८ प्रतिशत शोलापुर में १३ प्रतिशत तथा अहमदाबाद में २५ प्रतिशत था।

केन्द्रीय बैङ्किङ्ग जाँच समिति का ऐसा विचार था कि जब औद्योगिक संस्था अपनी प्राथमिक आवश्यकता के लिये पर्याप्त मात्रा में पूँजी प्राप्त कर ले तो वह अपनी सारी कार्यशील पूँजी के लिये व्यावसायिक बैङ्कों पर निर्भर रह सकती है। वह अपने विकास सम्बन्धी कार्यों के लिए भी इससे सहायता ले सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि इस प्रकार की व्यवस्था से व्यावसायिक बैङ्कों पर काफी भार पड़ जायगा। इस सम्बन्ध में एक अच्छा सिद्धान्त जो कि उपयुक्त प्रतीत होता है वह यह है कि औद्योगिक संस्था को अपने मुख्य कार्यों के लिए प्राथमिक पूँजी तथा कुछ कार्यशील पूँजी स्वयम् एकत्रित करना चाहिये। इसके अतिरिक्त होने वाली आवश्यकताओं के लिये वह बैङ्कों से सहायता ले सकती है।

परन्तु भारत में इस सिद्धांत के पालन से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। यहाँ ऐसे उदाहरण कोई कम नहीं हैं जब कि यहाँ की औद्योगिक संस्थाओं को अपने औद्योगिक-जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही भीषण अर्थसंकट का सामना करना पड़ा और ऐसी स्थिति में उन्हें आर्थिक सहायता के लिए सरकार का मुँह ताकना पड़ा। ऐसी स्थिति का सामना देश की कितनी ही बड़ी औद्योगिक संस्थाओं को करना पड़ा। टाटा की लोहे और फौलाद की कम्पनी भी एक समय ऐसी स्थिति में पड़ गई और उस समय सरकार ने उसे ५० लाख रु० का ऋण देकर सहायता प्रदान की। पूँजी के अभाव के कारण ही जमशेदपुर के इंडियन वायर ऐण्ड स्टील प्राडक्ट्स् उत्पादन की वृद्धि में सफल न हो सका, इस समय (१९२४ में) उसकी स्थिति सुधारने के लिये विहार तथा उड़ीसा की सरकार ने उसको ५ लाख रुपया ऋण के रूप में दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में विशाल पैमाने पर किए जाने वाले उद्योग में पूँजी की व्यवस्था का उचित रूप से प्रबन्ध न हो सका। हम यहाँ पर इस बात पर प्रकाश डालेंगे।

वास्तव में इन्हें पूँजी कैसे मिलती है : शेयर तथा डिबेञ्चर—भारत के अधिकांश उद्योग जनता या अन्य स्रोतों से शेयर तथा डिबेञ्चरों के द्वारा पूँजी एकत्रित करते हैं। शेयर या हिस्सों के अनुसार हिस्सा देने वाले का उस उद्योग में जिसमें वह हिस्सा देता है कुछ अधिकार हो जाता है, उस उद्योग से होने वाले लाभ में भी उसका उसी हिसाब से हिस्सा रहता है। डिबेंचर एक प्रकार का ऋण सा होता है जिस पर कि इसे देने वाले को निश्चित ब्याज मिलता जाता है। डिबेंचर देने वालों को हिस्सेदारों की भाँति उस उद्योग के सदस्यों आदि के निर्वाचन के लिए मत प्रदान करने का अधिकार नहीं रहता। भारत में जितनी पूँजी हिस्सों द्वारा एकत्रित की जाती है उतनी डिबेंचरों द्वारा नहीं। नीचे दी हुई तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जायगी :—

		कलकत्ता लिस्ट की ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियाँ	बम्बई लिस्ट की ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियाँ
हिस्सा पूँजी	(करोड़ रुपए में)	७६.३७	५२.८३
डिबेंचर	(करोड़ रुपए में)	८.६५	१७.५१

ऊपर दिये हुये आंकड़ों में हम देखते हैं कि डिबेंचरों द्वारा कितनी कम पूँजी उठाई गई है। देश में डिबेञ्चरों के अधिक प्रचलित न होने के कई कारण हैं। इनमें से मुख्य ये हैं :— (१) सर्वप्रथम कोई ऐसी संगठित संस्था या सङ्घ नहीं है जो डिबेञ्चरों को उठाने का कार्य करे; (२) वे औद्योगिक कम्पनियाँ जिन्होंने डिबेंचर उठाये हैं, उनके साथ बैङ्कों का व्यवहार अच्छा नहीं रहता और सामान्य शर्तों पर बैङ्कों से ऋण लेने में कठिनाई होती है; (३) डिबेञ्चरों पर अदालती टिकटों आदि का महसूल भी भारी होता है इसमें ट्रान्स्फर फी भी काफी लगती है; (४) अक्सर औद्योगिक संस्थाएँ जिनमें ऐसी पूँजी लगी रहती है फेल हो जाती हैं, इससे इस रूप में पूँजी देने का लोगों को साहस नहीं होता।

मैनेजिंग एजेन्ट भारतीय जनता म्युनिस्पल या अन्य ट्रस्टों तथा गवर्नमेंट सेक्यूरेटियों में जितना पूँजी लगाना पसन्द करती है उतना अन्य किसी में नहीं। इससे कंपनी को विशेष आर्थिक लाभ नहीं मिल पाता। कम्पनी को पूँजी सम्बन्धी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, ऐसी स्थिति में वह मैनेजिङ्ग एजेन्टों की आधीनता में चली जाती है। मैनेजिङ्ग एजेन्ट अधिकांश हिस्सों को खरीद लेते हैं और उस उद्योग के विकास के लिये पेशगी रकम भी दे देते हैं। जब वह कम्पनी कभी विशेष आर्थिक संकट में पड़ जाती है तो मैनेजिङ्ग एजेन्ट उसे आर्थिक सहायता देकर उसकी रक्षा करते हैं। हमारे उद्योगों में मैनेजिङ्ग एजेन्ट पद्धति का कितना हाथ है, इस संबन्ध में हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

डिपाजिट—(Deposits) पूँजी प्राप्त होने का एक और स्रोत है वह है जनता द्वारा प्राप्त की गई जमा डिपाजिट। बम्बई तथा अहमदाबाद के सूती कपड़े की मिलों में इस स्रोत द्वारा काफी लाभ उठाया जाता है। देश के अन्य भागों में इस पद्धति का प्रचलन नहीं है। इस पद्धति के अनुसार लोग अपने जान-पहचान तथा अपने विश्वास के लोगों के पास अपनी बचत की रकम को जमा कर देते हैं। इसके बदले में मिल मालिक जमा करने वालों को उसी के हिसाब से लाभांश दे देते हैं। इन डिपाज़िटों पर सूद की दर ४½ प्रतिशत से लेकर ६½ प्रतिशत तक होती है। इस पब्लिक डिपाज़िट के अतिरिक्त प्राइवेट डिपाजिट भी होते हैं। उद्योगपतियों, उनके मित्रों तथा मैनेजिङ्ग एजेन्टों आदि के द्वारा दिये गये प्राइवेट डिपाजिट से आज भारत के प्रायः सभी नवीन उद्योगों में पूँजी एकत्रित की जाती है। ये ऋण बैङ्क की दर से आधे प्रतिशत अधिक पर उठाए जाते हैं। इस प्रकार के ऋणों से बंबई तथा अहमदाबाद की बहुत सी मिलें तथा बङ्गाल व आसाम की चाय की कंपनियाँ नष्ट होने से बच गई हैं।

कैश क्रेडिट पद्धति—कैश क्रेडिट पद्धति के अनुसार अपने स्टाक की जमानत पर, व्यावसायिक बैंकों द्वारा ऋण मिल जाता है। यह ऋण थोड़े समय के लिए लिया जाता है। वैसे तो यह पद्धति अच्छी है किन्तु मन्दी के समय में इस पद्धति से कभी-कभी बड़ा धोखा हो जाता है और इससे उचित लाभ नहीं मिल पाता। इसका मुख्य कारण यह है कि ऐसे समय में बैंके ऋण लेने वालों से अधिक जमानत मांगती है जिसकी व्यवस्था करना सुगम नहीं होता। दूसरे ऐसे समय में बैंकें अपनी रकम वापस मांगने लगती हैं जिसके कारण ऋणकर्त्ता को वाध्य होकर अपना माल बेचना पड़ता है।

उपरोक्त मुख्य पद्धतियों के अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करने की कुछ और पद्धतियाँ हैं जो कि विभिन्न उद्योगों द्वारा प्रचलित की गई हैं। उदाहरण के लिए टाटा आइरन तथा स्टील कम्पनी ने इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया से इस सम्बन्ध में अच्छी व्यवस्था करली है। यह कम्पनी साझाना

जमा के रूप में भी रकम उठाती है। भारतीय कोयले की फर्में उन्हीं प्राचीन साहूकारों से ऋण लेती हैं। इनके सूद की दर २४ से लेकर ३० प्रतिशत तक होती है। शकर के उद्योग वाले सेलिंग एजन्टों तथा जनता से पूँजी प्राप्त कर लेते हैं। जूट के उद्योग वाले अपने स्टाक की जमानत पर ऋण प्राप्त कर लेते हैं। कुछ चाय के बगीचे वाले भी साहूकारों से ऊँची दरों पर ऋण ले लेते हैं।

हमारे बैंक तथा उद्योग---हमारी बैंकों द्वारा हमारे उद्योगों को अच्छी आर्थिक सहायता नहीं प्राप्त होती इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सामने कई सुझाव व तर्क उपस्थित किये गए थे। कहना न होगा कि हमारी बैंकें वर्त्तमान समय में जिस परिपाटी के अनुसार चल रही हैं, उनके नियम जितने कठोर हैं, उनसे बैंकों को विशेष लाभ नहीं मिल पाता। वे न तो व्यक्तिगत जमानत और न सामूहिक जमानत पर ही पेशगी देना अच्छा समझती हैं। इसी प्रकार हमारी बैंकों के और भी नियम ऐसे हैं जिनसे उद्योगों को पूँजी सम्बन्धी अच्छी सहायता नहीं मिल पाती।

देश में कोई भी ऐसा बैंक या अन्य कोई पूँजी वाली संस्था नहीं है जिसका एक मात्र उद्देश्य हमारे उद्योगों की सहायता करना हो। जहाँ तक इम्पीरियल बैंक का सम्बन्ध है उसके नित्य के ही कार्य इतने रहते हैं कि उसे अन्य कार्यों की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यहाँ अन्य ऐसे ज्वाइन्ट स्टाक बैंक नहीं हैं जिन्हें काफी अनुभव हो और जिनमें इतनी क्षमता हो कि वे उद्योगों को पूँजी सम्बन्धी अच्छी सहायता प्रदान कर सकें। विदेशी विनिमय (फारेन एक्सचेन्ज) बैंक भी अपने ही कार्य क्षेत्र में व्यस्त रहते हैं, उन्हें भारतीय उद्योगों की ओर ध्यान देने की कोई चिन्ता ही नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य जो बैंक हैं वे जितना व्यापार आदि के कार्यों के लिए ऋण देने में लाभ समझते हैं उतना उद्योग-धन्धों में नहीं। इसके अलावा इनके साधन भी इतने कम हैं कि वे उद्योग-धन्धों को कोई अच्छी सहायता दे भी नहीं सकते। सहकारी बैंकों का कार्य ही अलग है, वे कृषकों को ही सहायता देने के लिये बनाये गये हैं। इस प्रकार कोई भी ऐसी बैंकिंग संस्था नहीं है जो औद्योगिक कार्यों के लिए पूँजी सम्बन्धी सहायता प्रदान करे।

साधारणतया हमारी बैंकें अपनी पूँजी सरकारी सेक्यूरिटियों में उठा देती हैं या अपने गोदामों में या ग्राहक के पास जमा किये हुये माल के लिये पेशगी के रूप में रकम उठा देती हैं या अन्य कानूनी कार्रवाई द्वारा रकम देती है। परन्तु इनमें से कोई भी बात उद्योग-धन्धों के लिये पूँजी प्राप्त करने वालों को भली नहीं मालूम पड़ती। श्रीमान् सूबेदार ने अपनी 'माइनारटी रिपोर्ट' में उद्योगों को बैंकों द्वारा दी जाने वाली सहायता के सम्बन्ध में कहा था कि अल्पकालीन विनियोग की व्यवस्था द्वारा बैंकों ने अपना तथा उद्योगों दोनों का ही अहित किया है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के पूर्व मारवाड़ी चेम्बर आफ कामर्स ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा था कि अभी तक ज्वाइन्ट स्टाक बैंकों ने उद्योग-धन्धों को जो सहायता दी वह नहीं के बराबर है। सन् १९४९-५० के अर्थ-आयोग (फिसकल कमीशन) ने भी यह निष्कर्ष निकाला था कि वर्तमान व्यावसायिक बैंकों द्वारा जो साख सम्बन्धी सुविधा दी जाती है वह अपर्याप्त तथा असन्तोषजनक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभी तक इस दिशा में कोई सुधार नहीं हुआ है।

इस सम्बन्ध में हमें एक बात न भूलना चाहिए कि बैंकों की निज की कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण वे इस दिशा में और भी कुछ कार्य नहीं कर पातीं। एक तो बैंकों को अपने यहाँ जमा करने वालों के लिये रकम चुकता करने का हमेशा ध्यान रखना पड़ता है, दूसरे यह कि न बैंकों के पास इतने पर्याप्त साधन ही हैं जिससे कि वे किसी औद्योगिक संस्था (जो कि ऋण लेना चाहती है) के सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर सकें। उधर उद्योगपति भी अपनी सही स्थिति को

नहीं बताते उसे छिपाते हैं। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी इतना कहना ही पड़ता है कि हमारी बैंकों में उद्योग-धन्धों के प्रति उदासीनता की भावना रही है, वे उद्योग धन्धों को आर्थिक सहायता प्रदान करने से दूर ही दूर रही हैं।

अन्य देशों में औद्योगिक पूँजी—भारत की औद्योगिक पूँजी सम्बन्धी स्थिति पर हमने एक विहंगम दृष्टि डाली। हम यहाँ अन्य देशों की भी औद्योगिक पूँजी सम्बन्धी स्थिति पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

भारत की भाँति पहले जापान में भी पूँजी की बड़ी कमी थी और लोग खेती आदि के कार्यों में ही पूँजी लगाना अधिक अच्छा समझते थे। अतः वहाँ की सरकार ने लोगों की इस मनोवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए काफी प्रयत्न किये। १९०२ ई० में इन्डस्ट्रियल बैंक आफ जापान की स्थापना की गई। जापान के अर्थ-मंत्री की स्वीकृति से यह बैंक औद्योगिक संस्थाओं को पूँजी सम्बन्धी सहायता दे सकती है। इस बैंक की एक विशेष समिति है जो कि समय-समय पर कारखानों में जाती और बैंक को उनकी स्थिति से भलीभाँति परिचित रखती है। इस बैंक ने विशेष-कर कुटीर या छोटे-पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धों को खूब सहायता दी है। जापान में साधारण ज्वाइन्ट स्टाक बैंकें भी औद्योगिक कार्यों के हेतु लम्बी अवधि के लिये ऋण दे देती हैं। जापान की प्रायः प्रत्येक फर्म की उससे सम्बन्धित बैंक रहती है। जापान के उद्योग के पुनर्निर्माण के लिए वहाँ की बैंकों व ट्रस्ट कम्पनियों ने 'इन्डस्ट्रियल इनवेस्टीगेशन असोशियेशन' की स्थापना की थी। मित्सुबिशी, मित्सुई, सुमीतोमो तथा यशुदा की बैंकिंग संस्थाओं ने उद्योग-धन्धों को अच्छी आर्थिक सहायता पहुँचाई है। अमरीका में भी बैंकों ने उद्योग-धन्धों को अच्छी सहायता पहुँचाई है। अमरीका की अधिकांश बड़ी औद्योगिक संस्थाओं के विकास व उत्थान में वहाँ की बैंकों का अच्छा हाथ रहा है। १९३४ के 'फेडरल रिज़र्व बैंक एक्ट' के अनुसार वहाँ की फेडरल रिज़र्व बैंकों को सीधे सक्रिय पूँजी के देने का अधिकार प्राप्त है। ये बैंकें पाँच वर्ष वाले औद्योगिक बान्डों को भी खरीद सकती हैं। अमेरिका में इस दिशा में एक नवीन पद्धति का प्रचलन हुआ है वह यह कि वहाँ बड़ी-बड़ी बैंके मिलकर छोटी बैंकों के द्वारा उद्योग-धन्धों को पूँजी पहुँचाती है।

इंगलैण्ड में भी इधर बैंकों ने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया है, उन्होंने अपनी केवल व्यावसायिक कार्यों को करने वाली नीति को बदल कर अब उद्योग-धन्धों की ओर भी ध्यान देना शुरू कर दिया है। सन् १९२९ में औद्योगिक संगठन को सहायता देने के लिये 'सेक्योरिटीज़ मैनेज-मेन्ट ट्रस्ट लि० की स्थापना की गई थी। इसके बाद १९३० में बैंकर्स इन्डस्ट्रियल डेवलपमेन्ट कम्पनी की स्थापना हुई। इस कम्पनी के हिस्से प्रायः सभी अच्छी बैंकों ने लिये थे। इस कम्पनी ने 'लंका-शायर स्टील ट्रस्ट' को अच्छी आर्थिक सहायता पहुँचाई थी। १९३४ में बैंक आफ इंगलैण्ड ने 'इन्डस्ट्री लिमिटेड' को अच्छी सहायता दी थी।

यूरोप में जर्मनी की बैंकों ने उद्योग-धन्धों के विकास के लिये अच्छी सहायता पहुँचाई है। वहाँ पर उद्योग-धन्धों को सहायता देने के लिये विशेष बैंकों की स्थापना की गई थी। बहुत सी जर्मन बैंकें जो 'डी' बैंक के नाम से प्रसिद्ध हैं औद्योगिक क्षेत्र में अच्छा स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। जर्मन की सभी बैंकों को औद्योगिक क्षेत्र का काफी अनुभव प्राप्त है, उनके पास पूँजी भी काफी मात्रा में है, इस प्रकार वे उद्योग-धन्धों को सहायता प्रदान करने की अच्छी स्थिति में हैं। वे स्वयं औद्योगिक कार्यों को प्रारम्भ करतीं और उनके लिये पूँजी की व्यवस्था करती हैं। यूरोप की अन्य देशों की भी बैंकें प्रायः इसी नीति का अनुसरण करती हैं। बेलजियम का 'बिग फाइव', फ्रान्स का 'बाँके द क्रेडिट मोबला', इटली को 'सोसायटी फाइनोन्सयरा इटैलियाना' प्रसिद्ध बैंकों में से हैं।

आस्ट्रेलिया में भी उद्योग-धन्धों की लम्बी अवधि के लिये पूँजी प्रदान करने के हेतु आस्ट्रेलियन कामन वेल्थ, बैंक में एक 'इन्डस्ट्रियल फाइनेन्स' विभाग की स्थापना की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य देशों की सरकारें तथा बैंकें उद्योगों को पूँजी सम्बन्धी सहायता देने के लिए विशेष प्रयत्न कर रही हैं।

औद्योगिक पूँजी में सुधार कैसे हो?—औद्योगिक पूँजी सम्बन्धी उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि हमारे उद्योग-धन्धों को हमारी बैंकों से कितनी कम सहायता मिल रही है। हमारे यहाँ अन्य देशों की भाँति उद्योग-धन्धों को सहायता देने के लिये अन्य कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जिससे उनके विकास में सुविधा प्राप्त हो।

हमारे देश में उद्योग-धन्धों को पूँजी सम्बन्धी कितनी कम सहायता प्राप्त हो रही है, यह हम पिछले पृष्ठों में देख ही चुके। उद्योग-धन्धों को पूँजी सुलभ नहीं है, यह तो स्पष्ट ही है, परन्तु इसका यह मुख्य कारण नहीं कि भारत में पूँजी का बहुत अभाव है। वैसे तो यह सभी जानते हैं कि भारत एक निर्धन देश है, परन्तु वह इतना निर्धन नहीं है जिससे कि वह अपने उद्योग-धन्धों की इस थोड़ी सी भी आवश्यकता की पूर्ति न कर सके। वास्तव में बात यह है कि यहाँ पूँजी के विनियोग करने वालों को ही यह ठीक से पता नहीं रहता कि अमुक काम में हमें कितना लाभ हो सकता है, उसे यह भी नहीं विश्वास रहता कि इस प्रकार पूँजी लगा देने से वह सुरक्षित रहेगी या नहीं। देश में वर्ष में कितनी ही कम्पनियाँ फेल होती रहती हैं, इन सब को देखकर उसे पूँजी उठाने की हिम्मत भी नहीं होती। इस तथ्य को औद्योगिक आयोग ने भी स्वीकार किया था। आवश्यकता इस बात की है कि लोग इस दिशा में अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन करें और उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी की सहायता देने के लिए पूर्णरूप से तैयार हो जायँ। इसके अतिरिक्त देश में औद्योगिक पूँजी सम्बन्धी स्थिति को दूर करने के लिये निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए जा सकते हैं :—

(१) छोटे-छोटे औद्योगिक कार्यों को पूँजी देने के लिए विशेष बैंक या इसी प्रकार की अन्य संस्थाएँ स्थापित की जाँय।

(२) थोड़ी पूँजी उठाने वालों के लिए ऐसे इनवेस्ट मेन्ट-ट्रस्ट खोले जाँय जिनके द्वारा ऐसे लोगों को पूँजी उठाने में सुविधा प्राप्त हो।

(३) बड़ी-बड़ी व्यावसायिक बैंकें उद्योगों के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करें, वे उनके निकट सम्पर्क में आकर उनकी आर्थिक स्थिति से परिचय प्राप्त कर उनकी पूँजी सम्बन्धी उचित सहायता प्रदान करें। ये बैंकें इंगलैण्ड की भाँति उद्योग तथा विनियोगक के बीच में मध्यस्थ के रूप में कार्य करने वाली विशेष संस्थाओं के निर्माण में सहायता पहुँचा सकती हैं। इससे उद्योग-धन्धों को अच्छी मदद मिल सकती है। इन बैंकों को चाहिए कि वे वर्तमान उद्योगों के पुनर्निर्माण तथा उनको विकासपूर्ण सहयोग दें। इन बैंकों को नवीन उद्योगों की स्थापना में भी अपनी अच्छी सहायता देने के लिए तैयार रहना चाहिए।

(४) देश में ऐसी भी औद्योगिक बैंकों के होने की आवश्यकता है जिनमें विशाल मात्रा में हिस्सा पूँजी लगी हो और जिनमें लम्बी अवधि के लिये अच्छी रकम जमा हो। सरकार भी हिस्से आदि लेकर इन बैंकों को प्रोत्साहन प्रदान कर सकती है।

आवश्यकता इस बात की है कि जनता तथा सरकार दोनों इस बात की ओर सतर्क रहें। उद्योग-धन्धों के विकास के लिये उचित तथा पर्याप्त पूँजी की व्यवस्था करना देश की महत्वपूर्ण समस्याओं में से है। आशा है कि निकट भविष्य में इस दिशा में अच्छा सुधार किया जायगा।

औद्योगिक पूँजी समिति (Industrial Finance Corporation)—जब द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने को हुआ तो देश में औद्योगिक विकास की आवाज जोर पकड़ने लगी। परन्तु इस समय देश में राजनैतिक अशान्ति होने के कारण इस ओर कोई ठोस कार्य न किया जा सका। इसके बाद देश स्वतंत्र हुआ और साथ ही हुआ भारत का विभाजन। देश के विभाजन का हमारी औद्योगिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा, इस समय कितनी ही बैंकें फेल हो गईं, हमारा सारा आर्थिक ढांचा एक बार हिल सा गया। इधर देश की यह दशा थी, उधर हमारे उद्योग-धन्धों की पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी। इस समय उद्योग-धन्धों को अपनी मशीनों आदि के परिवर्तन के लिये, नई मशीनों आदि को मंगाने के लिए तथा उद्योग-धन्धों का आधुनिकीकरण करने के लिये काफी पूँजी की आवश्यकता थी। अतः इस समय जरूरत किसी ऐसी संस्था की थी जो इस आवश्यकता की पूर्ति कर सके। इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर पहली जुलाई १९४८ से एक औद्योगिक पूंजी समिति (Industrial Corporation) कानून लागू किया। इस कानून का उद्देश्य उद्योग-धन्धों की ऐसी आवश्यकताओं को जो कि व्यावसायिक बैंकों के साधारण कार्य क्षेत्र के बाहर हैं पूँजी सम्बन्धी सहायता पहुँचाना है। इस समिति की हिस्सा पूँजी ५ करोड़ रुपये है। इस समिति के हिस्सेदार अलग-अलग व्यक्ति न होकर संस्थाएँ हैं। केन्द्रीय सरकार इस समिति के हिस्सों की गारन्टी करती है। समिति को निश्चित सीमा तक बान्ड तथा डिबेंचर भी देने का अधिकार प्राप्त है। समिति में जनता के डिपाजिट भी जमा किए जा सकते हैं परन्तु इनकी रकम दस वर्ष के पूर्व वापस नहीं की जा सकती। समिति को औद्योगिक कार्यों के लिये लम्बी अवधि पर ऋण देने का अधिकार है किन्तु इस ऋण का भुगतान २५ वर्ष के अन्दर ही हो जाना चाहिए।

वे औद्योगिक संस्थाएँ जो राज्यों के अधिकार में हैं, इस समिति से सहायता नहीं प्राप्त कर सकतीं। यह समिति केवल प्राइवेट औद्योगिक कार्यों के लिए ही पूँजी सम्बन्धी सहायता प्रदान कर सकती है। यह समिति केवल 'पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों' को ही ऋण दे सकती है न कि 'प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों' को। यह समिति उन उद्योग-धन्धों का, जिनका कि सैनिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से अच्छा महत्व है, विशेष ध्यान रखती है। छोटे तथा मध्यम पैमाने पर किये जाने वाले उद्योगों को पूँजी सम्बन्धी सहायता देने के लिए प्रत्येक राज्य में राज्य पूँजी समितियाँ (State Finance Corporation) स्थापित की जा रही हैं।

यह औद्योगिक पूँजी समिति, हमारे उद्योग-धन्धों को अच्छी सहायता पहुँचा सकती है। यह समिति उद्योगों को कई प्रकार से सहारा दे सकती है। आज भारतीय उद्योगों को अपने पुनर्निर्माण के लिये, अपनी पुरानी मशीनों को हटाकर नवीन यंत्रों आदि के खरीदने के लिए अच्छी पूँजी की आवश्यकता है। समिति इस कार्य की पूर्ति सुगमता से कर सकती है। परन्तु इस दिशा में आगे कदम बढ़ाते समय समिति को इस बात का पूरा पता लगा लेना चाहिये कि जिस संस्था को उसने पूँजी प्रदान की है, उस पूँजी का उचित उपयोग हो रहा है या नहीं। इस प्रकार की निगरानी रखने से उस उद्योग तथा समिति दोनों को ही अच्छा लाभ प्राप्त होगा। समिति उद्योगों को औद्योगिक विशेषज्ञों की भी अच्छी सहायता प्रदान कर सकती है। इस प्रकार की सहायता से औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हो जायगी और इससे भारतीय उद्योग की स्थिति को अच्छा लाभ प्राप्त होगा।

सन् १९५० की जून तक इस समिति के पास आर्थिक सहायता की मांग के लिए १९० प्रार्थना-पत्र आए जिनमें से ४४ प्रार्थना-पत्रों को समिति ने स्वीकृत किया। इस समय तक समिति ने औद्योगिक कार्यों के लिये कुल ७,१९२५,००० रु० की रकम उठाई है। समिति की दूसरी वार्षिक रिपोर्ट से हमें बहुत सी बातों का पता चलता है। इस रिपोर्ट से हमें पता चलता है कि अभी हमारे औद्योगिक संगठन में कितने दोष हैं, इस प्रकार के दोष जितने प्राइवेट उद्योगों में पाये जाते हैं

उतने पब्लिक वालों में नहीं। हमें चाहिये कि हम अपने इन उद्योगों के दोषों को दूर करने में कोई कोर-कसर न उठा रखें, समिति द्वारा जो हमें आर्थिक सहायता प्राप्त हो उसका हम दुरुपयोग न कर उसका अच्छा से अच्छा उपयोग करें। अभी हमारी इस समिति से हमें विशेष सहायता नहीं मिली है, आवश्यकता इस बात की है कि इस समिति की आर्थिक स्थिति को और अच्छा किया जाय। साथ ही उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए इस प्रकार की अन्य संस्थाओं के भी निर्माण का प्रयत्न किया जाय। इस प्रकार की व्यवस्था से हम अपनी औद्योगिक पूँजी सम्बन्धी दशा को सुधारने में काफी सफल हो सकेंगे।

विभिन्न राज्यों में पूँजी समितियाँ—जब जौलाई सन् १९४८ में भारत की औद्योगिक पूँजी समिति की स्थापना हो गई तो उसके पश्चात् उत्तरप्रदेश, बम्बई तथा बिहार आदि की संस्थाएँ भी इस प्रकार की समितियों के निर्माण का प्रयत्न करने लगीं। सन् १९४९ के मार्च के महीने में मदरास में इन्डस्ट्रियल इन्वेस्टमेन्ट कार्पोरेशन (Industrial Investment Corporation) की स्थापना की गई। इस कार्पोरेशन की अधिकृत पूँजी दो करोड़ रुपया है जिसमें से १.०२ करोड़ राज्य की सरकार ने दिया है। इस कार्पोरेशन के मुख्य कार्य उद्योगों को लम्बी अवधि के लिए ऋण देना है। सन् १९५० की जनवरी में सौराष्ट्र ने एक औद्योगिक पूँजी समिति (Industrial-Finance Corporation) की स्थापना की। इस कार्पोरेशन की भी अधिकृत-पूँजी दो करोड़ रुपये है। यह कार्पोरेशन थोड़े समय में कार्य करना आरम्भ कर देगा।

विदेशी पूँजी—आज देश के औद्योगिक विकास से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रदेशों में विदेशी पूँजी का प्रश्न भी अपना एक विशेष महत्व रखता है। हम यहाँ पर इसी प्रश्न पर विचार करेंगे।

भारत में कितनी मात्रा में विदेशी पूँजी लगी हुई है इसका निश्चय करना काफी कठिन है। सन् १९१४ में यह अनुमान किया गया था कि भारतवर्ष में २९८,०००,००० पौन्ड विदेशी पूँजी है। इसके बाद १९३२-३३ के अनुमान के अनुसार इस पूँजी का अनुमान ८३१,०००,००० पौन्ड माना गया था। एक अंगरेजी पत्र के देखने से पता चलता है कि सन् १९३८-३९ में उन ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियों की, जिनकी कि रजिस्ट्री विदेशों में हुई, और जो उस समय ब्रिटिश भारत में काम कर रही थी उनकी कुल प्रदत्त हिस्सा पूँजी (Paid-up Capital) ७४१,१३०,००० पौन्ड थी।

अभी थोड़े दिनों पूर्व रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ने यह अनुमान लगाया था कि जून १९४८ तक भारत में विदेशों की विनियोजित पूँजी कुल ५९६ करोड़ रु० थी जिसमें से यूनाइटेड किंगडम का ३७६ करोड़ रुपया, संयुक्त राज्य अमरीका का ३० करोड़, पाकिस्तान का २१ करोड़ तथा कनाडा का ९ करोड़ रुपया है। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि ये आंकड़े भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने, अंगरेजों के यहाँ से चले जाने तथा पाकिस्तान के बन जाने के बाद के हैं। यही कारण है कि अन्य वर्षों के विदेशी पूँजी सम्बन्धी आंकड़ों की तुलना में यह रकम कम रह गई है।

विदेशी पूँजी से लाभ—हमने ऊपर देखा कि देश में कितने बड़े परिमाण में विदेशी पूँजी लगी हुई है। हम इस प्रकार की विनियोजित पूँजी के लाभ तथा हानि दोनों ही पक्षों पर विचार करेंगे। आइये पहले उससे होने वाले लाभों पर एक दृष्टि डालें। विदेशी पूँजी से होने वाले लाभों को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) जो देश विदेशी पूँजी का उपयोग करता है उस देश को पूँजी देने वाला देश काफी सुविधाएँ प्रदान करता है।

(२) कभी-कभी देश के औद्योगिक विकास के लिए विदेशी पूँजी का विनियोग आवश्यक जाता है। ऐसी स्थिति में जब कि देश में पर्याप्त मात्रा में पूँजी नहीं होती और औद्योगिक विकास

में इसके न होने से बाधा पहुँचती है तो विदेशी पूँजी का ही सहारा लेना पड़ता है। संयुक्त राज्य अमरीका तथा जापान आदि कितने ही देशों ने अपने उद्योग के विकास के लिए, अपने प्राकृतिक साधनों के उपयोग के लिए विदेशी पूँजी ली थी।

(३) विदेशी पूँजी से राष्ट्र की सम्पत्ति में भी काफी वृद्धि होती है। यद्यपि इससे होनेवाला लाभ विदेशों को चला जाता है किन्तु मजदूरी आदि के रूप में कुछ न कुछ रकम तो देश में भी रह जाती है।

(४) जिन रेलों और नहरों में विदेशी पूँजी लगी हुई रहती है उससे राष्ट्रीय आय को काफी सहायता पहुँचती है। जब विदेशी पूँजी का भुगतान कर दिया जाता है, तो उस समय इन स्रोतों से होनेवाली आय सदैव बढ़ती जाती है।

(५) साधारणतया प्रारम्भिक स्थिति में विदेशी पूँजी के विनियोग करने वाले को हानि उठानी पड़ती है इस हानि का प्रभाव उस देश या राष्ट्र के लिए अच्छा पड़ता है।

(६) विदेशी पूँजी का विनियोग करने वाले देश बड़े सुव्यवस्थित ढंग से अपने उद्योग का संगठन करते हैं। उसके लिए वे विदेशों से कुशल शिल्पकार लाते हैं जिसका उस देश को अच्छा लाभ मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशी पूँजी से हमें कई लाभ हैं। जब एक बार देश में विदेशी पूँजी लग जाती है तो उससे उस देश के पूँजीपति लोग भी अच्छा अनुभव प्राप्त कर उसी के अनुरूप अपनी पूँजी का विनियोग करते हैं।

अभी तक हमने विदेशी पूँजी से होनेवाले कुछ लाभों पर विचार किया अब यहाँ देखेंगे कि उससे कौन-कान सी हानियाँ हैं।

विदेशी पूँजी से हानियाँ—विदेशी पूँजी के विनियोग से सब लाभ ही लाभ नहीं हैं उससे कुछ हानियाँ भी हं। कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि जो देश पहले किसी विदेश की पूँजी का विनियोग करता है तो ऐसा करने में वह अपने देश को पराधीनता और परतन्त्रता की ओर अग्रसित होने का रास्ता खोल देता है। वास्तव में यह तर्क किसी सीमा तक सही है। हमारे सामने इस सम्बन्ध में कई प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए चीन और मिश्र को ही ले लीजिये इन देशों में विदेशी पूँजी के विनियोग का जो प्रभाव हुआ उससे सभी परिचित हैं। भारत में भी इसी प्रकार की विदेशी पूँजी का विनियोग हुआ और इसका जो प्रभाव हुआ उसका परिणाम हम अभी तक भोग रहे हैं।

विदेशी पूँजी का और उसके साथ ही विदेशी नियंत्रण का उन मूल उद्योग के साथ होना, और भी हानिकारक होता है जो कि राष्ट्र की सुरक्षा से सम्बन्धित हैं। इससे देश की स्वतन्त्रता को बड़ा भारी खतरा रहता है। दूसरे किसी भी स्वतन्त्र देश के आर्थिक विकास के लिये विदेशी पूँजी मँहगी भी काफी पड़ती है।

विदेशी पूँजी के लगने से एक और हानि होती है वह यह कि जिस देश की पूँजी लगी होती है, उस देश के हित को ध्यान में रखते हुये विनियोजित पूँजी वाले देश के प्राकृतिक साधनों का मनमाना उपयोग व दुरुपयोग किया जाता है।

भारत में जिन उद्योगों में विदेशी पूँजी लगी हुई है उन उद्योगों के अधिकारीगण प्रायः विदेशी ही रहते हैं। हाँ साधारण स्थानों में छोटे-छोटे पदों पर भारतीय ही हैं। इन उद्योगों के रहस्यों को बड़ा गुप्त रखा जाता है, इनमें कार्य करने वाले भारतीयों को किसी प्रकार की ऐसी औद्योगिक शिक्षा नहीं दी जाती जिससे वे उस विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त कर अपनी योग्यता में वृद्धि कर सकें। इस प्रकार विदेशी पूँजी का देश में विनियोग करने से एक यह भी हानि होती है। परन्तु इस

सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ये जितनी भी हानियाँ होती हैं उन सबका मुख्य कारण विदेशी पूँजी नहीं वरन् उसके साथ का विदेशी नियंत्रण होता है। यदि विदेशी पूँजी के साथ विदेशी नियंत्रण न हो तो विदेशी पूँजी का विनियोग देश के आर्थिक विकास के लिये हितकर होता है। इसलिये यदि विदेशी पूँजी का विनियोग उचित रूप से किया जाता है और इस सम्बन्ध में उपरोक्त कुछ बातों का ध्यान रखा जाता है तो उससे कोई विशेष हानि नहीं होगी उल्टे कुछ लाभ ही होगा।

विदेशी पूँजी सम्बन्धी नवीन नीति—इधर देश के स्वतन्त्र हो जाने पर स्वतन्त्र भारत की सरकार ने पूंजी सम्बन्धी नवीन नीति निर्धारित की है। इसके अनुसार जिस उद्योग में विदेशी पूँजी का विनियोग हो उसमें प्रधान रूप से भारतीयों का ही स्वामित्व होगा, उस उद्योग के नियन्त्रण तथा प्रबन्धादि में भी भारतीय ही प्रधान होंगे। सरकार ने देश में पूँजी की कमी के कारण यह निश्चय किया है कि इन्हीं सीमाओं के अन्दर कुछ निश्चित समय तक विदेशी पूँजी का विनियोग किया जा सकता है।

देश में पूँजी की कमी है, इसलिये विदेशी पूँजी का विनियोग तो आवश्यक है ही साथ ही यह इसलिये भी अत्यन्त आवश्यक है कि बिना विदेशी पूँजी के विनियोग के हम विदेशी कुशल कारीगरों की कारीगरी का उपयोग नहीं कर सकेंगे। हमें अपने देश के निवासियों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये, उसमें वृद्धि करने के लिये यह आवश्यक है कि देश का आर्थिक विकास करें। इसके लिये हमें अपने मूल उद्योगों के निर्माण उनकी स्थापना तथा उनके विकास के लिये उचित ध्यान देना होगा।

आज हमारे ऊपर अपने देश की, अपने राष्ट्र की सुरक्षा की भी समस्या है, इस सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ही कन्धों पर है, इसमें हमें अब ब्रिटेन आदि का मुँह नहीं ताकना है। अब हमें निर्मित करना है अच्छे वायुयान तथा अच्छी वायु सेना और साथ ही निर्माण करना है ऐसे कारखानों का जिनमें अच्छे अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिक आवश्यकता की अन्य वस्तुओं का निर्माण हो सके।

इसके अतिरिक्त अब हमें इस तीव्रगति में बढ़ती हुई जनसंख्या के भोजन का, उनके लिये अन्न का ध्यान रखना है, और इसके लिये जैसा कि पिछले परिच्छेदों में कई बार कहा जा चुका है, कृषि में सुधार करना है, नष्ट भूमि का उपादेयकरण करना है, सिंचाई के लिये नदियों के बहुमुखी विकास की योजनाओं को सफल बनाना है। इन सभी कार्यों के लिये पर्याप्त मात्रा में पूंजी की आवश्यकता है जिसका कि हमारे यहाँ बड़ा अभाव है। इसके लिये हमें बाध्य होकर विदेशियों से सहायता लेनी पड़ेगी। १६४६ के अप्रेल में संविधान-सभा के समक्ष भाषण करते हुये प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि विदेशी पूँजी का विनियोग करने वालों को अच्छी सुविधाएँ दी जायँगी, उनके साथ किसी प्रकार के भेदभाव का बर्त्ताव नहीं किया जायगा।

वर्त्तमान समय में विदेशी पूँजी के विनियोग के लिये मुख्य रूप से तीन क्षेत्र हैं :—

(१) वह क्षेत्र जिसमें कि देश की आवश्यकता के अनुसार देश में ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है किन्तु यह उत्पादन इतना नहीं होता जिससे कि देश की माँग की पूरी तरह पूर्ति की जा सके।

(२) जनता की औद्योगिक विकास सम्बन्धी वह क्षेत्र जिसके लिये विदेशी पूँजी, विदेशों के यन्त्रों तथा विदेशों के औजोगिक विशेषज्ञों व कुशल कारीगरों की आवश्यकता है।

(३) नवीन उद्योगवाला क्षेत्र जिसमें कि अभी तक कार्य ही नहीं किया गया है।

हमारी विदेशी पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान कुल ८०० करोड़ रुपया लगाया गया है। हमें यह मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमरीका व ग्रेट ब्रिटेन से ही प्राप्त होगा। मुद्रा अवमूल्यन के कारण अमरीका की पूँजी हमें करीब ४४ प्रतिशत मंहगी पड़ती है।

पूँजी की व्यवस्था (Capital Formation)—ऊपर हमने विदेशी पूंजी के विनियोग के सम्बन्ध में प्रकाश डाला, हम यहाँ देश में पूँजी की व्यवस्था (कैपिटल फार्मेशन) पर प्रकाश डालेंगे। हम ऊपर कई बार कह चुके हैं कि देश में पूँजी का काफी अभाव है। सन् १६४७ से पूँजी सम्बन्धी समस्या और भी विकट हो गई है। सन् १६१६ से लेकर १६३८ तक पूँजी के विनियोग की दर राष्ट्रीय आय की ७ प्रतिशत थी।

भारतीय औद्योगिक आयोग (१६१६-१८) ने भारतीयों के पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में कहा था कि साधारणतया नवीन कार्यों में भारतीय पूँजीपति पूँजी लगाने का साहस नहीं करता, वे उसी उद्योग में पूँजी का विनियोग करना अच्छा समझते हैं जिससे उनका कोई निकट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में पूँजी के विनियोग में लोगों की मनोवृत्ति कितनी संकुचित है। देश में पूँजी के अभाव के कारण उद्योग-धन्धों को काफी हानि उठानी पड़ी है। अतएव यह हमारे लिये नितान्त आवश्यक है कि देश में हम पूँजी की रचना (Capital Formation) की ओर उचित ध्यान दें।

पूँजी की रचना की क्रिया एक लम्बी क्रिया है। इसको हम मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—(अ) बचत-कोषों का निर्माण। यह कार्य बचत की इच्छा तथा उसकी क्षमता पर निर्भर रहता है। (ब) इन बचत-कोषों के उचित रूप से विनियोग की व्यवस्था, यह कार्य तभी सफल हो सकता है जब कि देश में बैङ्किंग की उचित व्यवस्था हो। (स) विदेशों से मुख्य-मुख्य सामग्री (Capital goods) के प्राप्त करने का प्रयत्न।

पूँजी की रचना की क्रिया, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कि एक लंबी क्रिया है। इस क्रिया के पूरी होने में अनेक कठिनाइयाँ हैं, यहाँ पर हम इन कठिनाइयों पर भी थोड़ा सा प्रकाश डालेंगे।

(१) इस संबन्ध में सबसे पहली कठिनाई यह होती है कि यहाँ लोगों में धन जोड़कर रखने की भावना प्रबल है, इससे पूँजी के प्राप्त करने में काफी बाधा खड़ी होती है।

(२) जो कुछ बचत लोगों के पास होती है उस बचत का उपयोग वे अपने निज के कार्यों में ही कर लेते हैं।

इन वर्षों में पूँजी की रचना के विरुद्ध और कई भावनाओं ने स्थान जमा लिया है। सबसे पहले तो यह कि इधर उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण से लोगों को उद्योग-धन्धों में पूँजी लगाने की हिम्मत नहीं होती। परन्तु सरकार की औद्योगिक नीति के घोषित हो जाने से तथा राष्ट्रीयकरण के संबन्ध में संविधान में मुआवजे की व्यवस्था के कर दिए जाने से इस भावना का अन्त हो जाना चाहिये।

(३) अधिक करों आदि के होने के कारण भी लोग पूँजी के विनियोग करने में हिचकते हैं। अभी तक सरकार का जो नीति रही है, कर आदि की भार जितना अधिक रहा है उससे पूँजी के अधिक विनियोग की आशा नहीं की जा सकती।

(४) स्टाक एक्सचेंज में होने वाली सट्टेबाजी से भी पूँजी की रचना में बाधा खड़ी होती है। वास्तव में स्टाक एक्सचेंज का मुख्य कार्य दूसरा ही है परन्तु उनकी इस सट्टेबाजी का यह परिणाम हुआ है कि आए दिन कुछ वस्तुओं के मूल्य में चढ़ा-उतरी हुआ करती है। इसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों में भी बुरा पड़ता है।

(५) पूँजी की रचना में मैनेजिंग एजन्टों द्वारा की गई चालबाजियों ने भी रोड़ा अटकाया है। धोखेबाज मैनेजिंग एजन्ट लोग कम्पनियों का निर्माण करते और बाद में जाकर अपने पास खूब रकम रखकर कंम्पनी छोड़ देते हैं। इससे इसमें पूँजी के विनियोग करने वाले की सारी रकम डूब जाती है और भविष्य में फिर उसकी हिम्मत नहीं होती कि वह अपनी पूँजी ऐसे कार्यों में लगावे।

सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ये जितनी भी हानियाँ होती हैं उन सबका मुख्य कारण विदेशी पूँजी नहीं वरन् उसके साथ का विदेशी नियंत्रण होता है। यदि विदेशी पूँजी के साथ विदेशी नियंत्रण न हो तो विदेशी पूँजी का विनियोग देश के आर्थिक विकास के लिये हितकर होता है। इसलिये यदि विदेशी पूँजी का विनियोग उचित रूप से किया जाता है और इस सम्बन्ध में उपरोक्त कुछ बातों का ध्यान रखा जाता है तो उससे कोई विशेष हानि नहीं होगी उल्टे कुछ लाभ ही होगा।

विदेशी पूँजी सम्बन्धी नवीन नीति—इधर देश के स्वतन्त्र हो जाने पर स्वतन्त्र भारत की सरकार ने पूंजी सम्बन्धी नवीन नीति निर्धारित की है। इसके अनुसार जिस उद्योग में विदेशी पूँजी का विनियोग हो उसमें प्रधान रूप से भारतीयों का ही स्वामित्व होगा, उस उद्योग के नियन्त्रण तथा प्रबन्धादि में भी भारतीय ही प्रधान होंगे। सरकार ने देश में पूँजी की कमी के कारण यह निश्चय किया है कि इन्हीं सीमाओं के अन्दर कुछ निश्चित समय तक विदेशी पूँजी का विनियोग किया जा सकता है।

देश में पूँजी की कमी है, इसलिये विदेशी पूँजी का विनियोग तो आवश्यक है ही साथ ही यह इसलिये भी अत्यन्त आवश्यक है कि बिना विदेशी पूँजी के विनियोग के हम विदेशी कुशल कारीगरों की कारीगरी का उपयोग नहीं कर सकेंगे। हमें अपने देश के निवासियों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये, उसमें वृद्धि करने के लिये यह आवश्यक है कि देश का आर्थिक विकास करें। इसके लिये हमें अपने मूल उद्योगों के निर्माण उनकी स्थापना तथा उनके विकास के लिये उचित ध्यान देना होगा।

आज हमारे ऊपर अपने देश की, अपने राष्ट्र की सुरक्षा की भी समस्या है, इस सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ही कन्धों पर है, इसमें हमें अब ब्रिटेन आदि का मुँह नहीं ताकना है। अब हमें निर्मित करना है अच्छे वायुयान तथा अच्छी वायु सेना और साथ ही निर्माण करना है ऐसे कारखानों का जिनमें अच्छे अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिक आवश्यकता की अन्य वस्तुओं का निर्माण हो सके।

इसके अतिरिक्त अब हमें इस तीव्रगति में बढ़ती हुई जनसंख्या के भोजन का, उनके लिये अन्न का ध्यान रखना है, और इसके लिये जैसा कि पिछले परिच्छेदों में कई बार कहा जा चुका है, कृषि में सुधार करना है, नष्ट भूमि का उपादेयकरण करना है, सिंचाई के लिये नदियों के बहुमुखी विकास की योजनाओं को सफल बनाना है। इन सभी कार्यों के लिये पर्याप्त मात्रा में पूंजी की आवश्यकता है जिसका कि हमारे यहाँ बड़ा अभाव है। इसके लिये हमें बाध्य होकर विदेशियों से सहायता लेनी पड़ेगी। १९४९ के अप्रैल में संविधान-सभा के समक्ष भाषण करते हुये प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि विदेशी पूँजी का विनियोग करने वालों को अच्छी सुविधाएँ दी जायँगी, उनके साथ किसी प्रकार के भेदभाव का बर्त्ताव नहीं किया जायगा।

वर्त्तमान समय में विदेशी पूँजी के विनियोग के लिये मुख्य रूप से तीन क्षेत्र हैं :—

(१) वह क्षेत्र जिसमें कि देश की आवश्यकता के अनुसार देश में ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है किन्तु यह उत्पादन इतना नहीं होता जिससे कि देश की माँग की पूरी तरह पूर्ति की जा सके।

(२) जनता की औद्योगिक विकास सम्बन्धी वह क्षेत्र जिसके लिये विदेशी पूँजी, विदेशों के यन्त्रों तथा विदेशों के औद्योगिक विशेषज्ञों व कुशल कारीगरों की आवश्यकता है।

(३) नवीन उद्योगवाला क्षेत्र जिसमें कि अभी तक कार्य ही नहीं किया गया है।

हमारी विदेशी पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान कुल ८०० करोड़ रुपया लगाया गया है। हमें यह मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमरीका व ग्रेट ब्रिटेन से ही प्राप्त होगा। मुद्रा अवमूल्यन के कारण अमरीका की पूँजी हमें करीब ४४ प्रतिशत मंहगी पड़ती है।

पूँजी की व्यवस्था (Capital Formation)—ऊपर हमने विदेशी पूंजी के विनियोग के सम्बन्ध में प्रकाश डाला, हम यहाँ देश में पूँजी की व्यवस्था (कैपिटल फार्मेशन) पर प्रकाश डालेंगे। हम ऊपर कई बार कह चुके हैं कि देश में पूँजी का काफी अभाव है। सन् १६४७ से पूँजी सम्बन्धी समस्या और भी विकट हो गई है। सन् १६१६ से लेकर १६३८ तक पूँजी के विनियोग की दर राष्ट्रीय आय की ७ प्रतिशत थी।

भारतीय औद्योगिक आयोग (१६१६-१८) ने भारतीयों के पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में कहा था कि साधारणतया नवीन कार्यों में भारतीय पूँजीपति पूँजी लगाने का साहस नहीं करता, वे उसी उद्योग में पूँजी का विनियोग करना अच्छा समझते हैं जिससे उनका कोई निकट सम्बन्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में पूँजी के विनियोग में लोगों की मनोवृत्ति कितनी संकुचित है। देश में पूँजी के अभाव के कारण उद्योग-धन्धों को काफी हानि उठानी पड़ी है। अतएव यह हमारे लिये नितान्त आवश्यक है कि देश में हम पूँजी की रचना (Capital Formation) की ओर उचित ध्यान दें।

पूंजी की रचना की क्रिया एक लम्बी क्रिया है। इसको हम मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—(अ) बचत-कोषों का निर्माण। यह कार्य बचत की इच्छा तथा उसकी क्षमता पर निर्भर रहता है। (ब) इन बचत-कोषों के उचित रूप से विनियोग की व्यवस्था, यह कार्य तभी सफल हो सकता है जब कि देश में बैङ्किंग की उचित व्यवस्था हो। (स) विदेशों से मुख्य-मुख्य सामग्री (Capital goods) के प्राप्त करने का प्रयत्न।

पूँजी की रचना की क्रिया, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कि एक लंबी क्रिया है। इस क्रिया के पूरी होने में अनेक कठिनाइयाँ हैं, यहाँ पर हम इन कठिनाइयों पर भी थोड़ा सा प्रकाश डालेंगे।

(१) इस संबन्ध में सबसे पहली कठिनाई यह होती है कि यहाँ लोगों में धन जोड़कर रखने की भावना प्रबल है, इससे पूँजी के प्राप्त करने में काफी बाधा खड़ी होती है।

(२) जो कुछ बचत लोगों के पास होती है उस बचत का उपयोग वे अपने निज के कार्यों में ही कर लेते हैं।

इन वर्षों में पूँजी की रचना के विरुद्ध और कई भावनाओं ने स्थान जमा लिया है। सबसे पहले तो यह कि इधर उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण से लोगों को उद्योग-धन्धों में पूँजी लगाने की हिम्मत नहीं होती। परन्तु सरकार की औद्योगिक नीति के घोषित हो जाने से तथा राष्ट्रीयकरण के संबन्ध में संविधान में मुआवजे की व्यवस्था के कर दिए जाने से इस भावना का अन्त हो जाना चाहिये।

(३) अधिक करों आदि के होने के कारण भी लोग पूँजी के विनियोग करने में हिचकते हैं। अभी तक सरकार का जो नीति रही है, कर आदि की भार जितना अधिक रहा है उससे पूँजी के अधिक विनियोग की आशा नहीं की जा सकती।

(४) स्टाक एक्सचेंज में होने वाली सट्टेबाजी से भी पूँजी की रचना में बाधा खड़ी होती है। वास्तव में स्टाक एक्सचेंज का मुख्य कार्य दूसरा ही है परन्तु उनकी इस सट्टेबाजी का यह परिणाम हुआ है कि आए दिन कुछ वस्तुओं के मूल्य में चढ़ा-उतरी हुआ करती है। इसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों में भी बुरा पड़ता है।

(५) पूँजी की रचना में मैनेजिंग एजन्टों द्वारा की गई चालबाजियों ने भी रोड़ा अटकाया है। धोखेबाज मैनेजिंग एजन्ट लोग कम्पनियों का निर्माण करते और बाद में जाकर अपने पास खूब रकम रखकर कम्पनी तोड़ देते हैं। इससे इसमें पूँजी के विनियोग करने वाले की सारी रकम डूब जाती है और भविष्य में फिर उसकी हिम्मत नहीं होती कि वह अपनी पूँजी ऐसे कार्यों में लगावे।

(६) युद्ध के बाद के वर्षों में पूँजी के निकालने आदि में जो नियंत्रण रखा गया है उसका भी पूँजी की रचना में बुरा असर पड़ा है।

(७) इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में एक यह भी तर्क उपस्थित किया जाता है कि इधर पूँजी के वितरण में परिवर्तन हुआ है। इधर कुछ वर्षों से पूँजी का चलन ऐसे लोगों के हाथ में होता जा रहा है जिनमें न तो बचाकर रखने की ही भावना है और न जो उसे किसी उद्योग आदि में ही लगा सकते हैं। मुद्रा-स्फीति के कारण इन लोगों की आदत और भी बिगड़ गई है, उनमें बचत की भावना बिल्कुल नहीं रह गई है।

आवश्यकता इस बात की है कि इन बातों को दूर करने का प्रयत्न किया जाय और पूँजी की रचना की उचित व्यवस्था की जाय क्योंकि यही केवल एक ऐसा रास्ता है जिससे देश का आद्यौगीकरण हो सकता है।

वर्तमान समय में वस्तुओं की जो कीमत है उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि मुख्य-मुख्य वस्तुओं के क्रय आदि करने में इस समय कम से कम ३३० करोड़ रुपए का खर्चा है जिसमें से ६२ करोड़ कृषि के लिए तथा १२५ करोड़ उद्योग के लिए चाहिए। जापान ने अपने औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक वर्षों में अपनी वार्षिक राष्ट्रीय आय का ५० प्रतिशत बचाया था। इसलिए देश के औद्योगिक विकास के लिए भारत को अधिक से अधिक बचत तथा अधिक से अधिक विनियोग का प्रयत्न करना चाहिए।

मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति (Managing Agency System)— भारत में मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति का उदय गत शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ, धीरे-धीरे यह पद्धति प्रायः सभी भारतीय व ब्रिटिश उद्योगों में प्रचलित हो गई। भारत में इस पद्धति के इतनी अधिक प्रचलित होने का मुख्य कारण यह रहा है कि मैनेजिंग एजेन्टों ने वर्तमान औद्योगिक विकास में खासा अच्छा हाथ बँटाया है। जूट की मिलें, चाय के बगीचे, कोयले की कम्पनियों में से अधिकांश की उन्नति का श्रेय इन्हीं मैनेजिंग एजेन्टों को है। साधारणतया मैनेजिङ्ग एजेन्सी एक प्रकार की साझेदारी होती है, कुछ अच्छी पूँजी वाले लोग मिल कर प्राइवेट कम्पनी आदि खड़ी कर लेते हैं और इस प्रकार संगठित होकर के किसी फर्म या औद्योगिक संस्था आदि की व्यवस्था करते हैं। वे ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियों की स्थापना करते, उनकी वृद्धि करते तथा नवीन उद्योगों को उन्नति के पथ पर अग्रसित करते हैं। वे इन कार्यों के लिए अपनी पूँजी भी लगाते तथा व्यापार का संचालन करते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपनी संस्था के लिये या उस संस्था का जिसका कि वे प्रबन्ध कर रहे हैं उसके लिये इमारत, स्टाक, मशीनें तथा अन्य सामग्रियाँ खरीदते तथा उस संस्था द्वारा उत्पादित माल की बिक्री की व्यवस्था करते हैं। मैनेजिङ्ग एजेन्ट ही जिस संस्था का वे प्रबन्ध करते उसके मुख्य हिस्सेदार होते हैं। वे कम्पनियों को स्वयं तो अच्छी मात्रा में पूँजी देते ही हैं साथ ही बैंकों आदि के द्वारा भी कंपनी को पूँजी सम्बन्धी सहायता प्रदान करते हैं। मैनेजिङ्ग एजेन्टों द्वारा कंपनियों को कितनी आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। इसका परिचय इस बात से मिल जायगा कि बंबई की सूती कपड़े की मिलों को जो कुल सुरक्षित व असुरक्षित ऋण प्राप्त है उसमें से मैनेजिङ्ग एजेन्टों द्वारा दिया गया ऋण कुल का ७६ प्रतिशत है। अहमदाबाद में २५ से लेकर ५० प्रतिशत हिस्से इन्हीं मैनेजिङ्ग एजेन्टों के हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मैनेजिङ्ग एजेन्ट किसी संस्था को या कंपनी को पूँजी प्रदान करते उसका प्रबन्ध करते तथा उनके विकास के लिये अन्य अनेक प्रयत्न करते हैं। इन सबके बदले में कम से कम निश्चित कमीशन तथा संस्था के होने वाले लाभ से कुछ प्रतिशत लेते हैं। क्लर्कों व कार्यालय के अन्य व्यय के रूप में यह कुछ निश्चित रकम प्रति मास निकाल लेते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर यह क्या कारण है जिससे कि भारत में मैनेजिङ्ग एजेन्टों पर हमारा उद्योग इतना अधिक निर्भर है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले तो यही उत्तर सामने आता है कि देश में पूँजी का काफी अभाव है और लोग पूँजी के उद्योग आदि में विनियोग करना उचित नहीं समझते, दूसरे यहाँ पर ऐसी संस्थाएँ नहीं हैं जो किसी भी औद्योगिक संस्था के प्रारम्भिक काल में अच्छी आर्थिक सहायता प्रदान करे। इसके अतिरिक्त यहाँ पर औद्योगिक बैंकें भी नहीं हैं जिनसे इस दिशा में सहायता प्राप्त हो सके। इन्हीं कारणों से यहाँ पर मैनेजिङ्ग एजेन्सी पद्धति का विशेष प्रचलन है।

मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति से लाभ व हानि—समय-समय पर मैनेजिङ्ग एजेन्सी पद्धति की कटु आलोचना की गई है। हम यहाँ पर पहले उससे होनेवाले लाभों पर विचार करेंगे।

मैनेजिंग एजेन्टों ने भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास में अच्छी सहायता प्रदान की है। मन्दी के समय में कितनी ही औद्योगिक संस्थाओं को इन मैनेजिंग एजेन्टों ने नष्ट होने से बचाया। बहुत सी जूट तथा सूती कपड़े की मिलों को यदि इन मैनेजिंग एजेन्टों से सहायता न मिली होती तो ये मिलें न जाने कब नष्ट हो जातीं। मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति से होनेवाले लाभों को हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) कम्पनी तथा पूँजी के विनियोग के करने वाले लोगों के बीच में मैनेजिंग एजेन्ट मध्यस्थ का कार्य करते हैं। उनका यह कार्य जर्मनी की औद्योगिक बैंकों से मिलता-जुलता है। जब कोई नवीन कम्पनी का प्रारम्भ होता है तो उसमें केवल २० प्रतिशत पूँजी जनता या कम्पनी की स्थापना करने वाला देता है शेष ८० प्रतिशत मैनेजिंग एजेन्ट एकत्रित करते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट उस कम्पनी की उन्नति का पूरा प्रयत्न करते हैं।

(२) मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति में साझेदारी तथा ज्वाइन्ट स्टाक व्यवस्था, इन दोनों की विशेषताएँ सम्मिलित होती हैं।

(३) मैनेजिंग एजन्टों ने कितनी ही कम्पनियों को लम्बी अवधि के लिए ऋण प्रदान करके डिबेंचरों आदि को खरीद कर उनके विकास में सहायता पहुँचाई है।

(४) जनता द्वारा पूँजी प्राप्त कर, डिपाजिट की व्यवस्था कर मैनेजिंग एजन्टों ने उद्योग-धन्धों के लिये अच्छी मात्रा में पूँजी की व्यवस्था की है।

(५) पूँजी सम्बन्धी सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त मैनेजिंग एजन्ट नवीन उद्योगों के विकास तथा उन्नति के अन्य कार्य भी करते हैं।

(६) मैनेजिंग एजन्ट अपने अनुभव तथा अपनी कुशलता के कारण किसी उद्योग को अच्छी तरह चलाने के लिये अधिक सफल हुए हैं। एन्ड्रू यूल एन्ड कम्पनी, मार्टिन एन्ड कम्पनी, किलिक निक्सन एन्ड कम्पनी ऐसी ही कम्पनियों में से हैं जिन्होंने कितने ही उद्योगों को, औद्योगिक संस्थाओं को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया है।

इससे होने वाली हानियाँ—मैनेजिंग एजन्सी पद्धति से जहाँ एक ओर कई लाभ हैं वहाँ उससे हानियाँ भी कुछ कम नहीं हैं। मुख्य-मुख्य हानियाँ ये हैं :—

(१) भारतीय मैनेजिंग एजन्सी पद्धति साधारणतया पैतृक होती है, इसका परिणाम यह होता है कि इसमें प्रायः ऐसे लोग होते हैं जो अकुशल होते हैं, इसका प्रभाव उद्योग पर बड़ा बुरा होता है।

(२) इसमें मैनेजिंग एजन्टों के हितों की जितनी चिन्ता की जाती है उतनी हिस्सेदारों की नहीं। मैनेजिंग एजन्टों के स्वार्थ-साधन के लिये अनेक प्रकार की चालाकियाँ तथा चालबाजियाँ की जाती हैं।

(३) इस पद्धति में डाइरेक्टर लोग साधारणतया मैनेजिंग एजन्टों के चंगुल में रहते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट जो कुछ भी निश्चय करते हैं डायरेक्टर उसी का पालन करते हैं। सन् १९२५ में बम्बई की सूती कपड़े की मिलों के १७५ डाइरेक्टरों में से ९५ डाइरेक्टर एजेन्सी डाइरेक्टर थे। यदि ये डाइरेक्टर मैनेजिंग एजन्टों की इच्छा के विरुद्ध कार्य करें तो इनका अपने पद पर रहना मुश्किल हो जाय।

(४) जब कि एक मैनेजिंग एजेन्सी फर्म बहुत सी व्यापारिक संस्थाओं का प्रबन्ध करती है तो इससे उन संस्थाओं को काफी हानि उठानी पड़ती है जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। उदाहरण के लिए कलकत्ता की एन्ड्रू यूल एन्ड कम्पनी के हाथ में ५४ संस्थाएँ हैं, यह कम्पनी इन सभी संस्थाओं का प्रबन्ध करती है।

(५) मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति के प्रचलन से उद्योग तथा बैंकिंग पद्धति के सम्बन्धों पर भी कुछ आघात पहुँचा है।

(६) एक बैंकिंग विशेषज्ञ का कथन है कि मैनेजिंग एजन्सी पद्धति से मिश्रित पूँजी वाली बैंकों पर बड़ा बुरा असर पड़ता है। मैनेजिंग एजन्सी पद्धति द्वारा ये बैंकें और इन बैंकों द्वारा मैनेजिंग एजेन्ट नष्ट हो जाते हैं। ये बैंक मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों को मैनेजिंग एजन्टों द्वारा प्रबन्धित होने के लिये कहते हैं। बैंक मैनेजिंग एजन्टों द्वारा कम्पनी को प्रबन्धित देख कर बड़े प्रसन्न होते हैं क्योंकि मैनेजिंग एजेन्ट कम्पनियों को ऋण देने के लिए अपने हस्ताक्षर दे देते हैं। इस प्रकार बैंकर उद्योग-धन्धों में पूँजी लगाने की अन्य किसी पद्धति का अनुसरण नहीं करना चाहता जिसका प्रभाव औद्योगिक उन्नति पर बड़ा बुरा पड़ता है।

(७) कभी-कभी कुछ एजेन्ट धोखेबाज होते हैं वे अपने स्वाथ-साधन के लिये अनेक प्रकार की बेईमानी तथा चालबाजी आदि करते हैं, पूँजी लगाने वाले की या कम्पनी के हितों की जरा भी चिन्ता नहीं करते।

(८) मैनेजिंग एजेन्टों में प्रायः मौलिकता तथा साहस का अभाव देखा गया है। उनकी पद्धति प्रगतिशील नहीं होती। इसमें जितना महत्व पूँजी को दिया जाता है उतना प्रबन्ध की कुशलता को नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति में कई दोष हैं, इससे कई हानियाँ हैं। यह पद्धति बड़ी खर्चीलू है और भारतीय उद्योग उसके व्यय को आसानी से सहन नहीं कर सकता। कितने ही मैनेजिंग एजेन्ट बिना विशेष कार्य किए राजा-महाराजाओं की भाँति जीवन व्यतीत करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति के आन्तरिक दोषों को दूर कर उसको संगठित किया जाय। मैनेजिंग एजेन्ट अपने कार्य करने की पद्धति में आवश्यक सुधार करें वे अपने कार्यालयों को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर संगठित करें, पूंजी की अपेक्षा वे प्रबन्ध की ओर विशेष ध्यान दें। वे अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति समझें। औद्योगिक विकास के लिये वे पूर्ण-रूप से प्रयत्न करें। सन् १९३६ के इंडियन कम्पनी एमेन्डमेन्ट एक्ट के अनुसार इस दिशा में काफी सुधार किया गया है। इस कानून के अनुसार मैनेजिंग एजन्टों पर काफी नियंत्रण लगा दिया गया है उनको प्राप्त होने वाले लाभ को भी निश्चित कर दिया गया है। यदि मैनेजिंग एजेन्ट कोई बेईमानी या धांधली आदि करते हैं। तो उसे हटा भी दिया जा सकता है। इस कानून के अनुसार मैनेजिंग एजेन्ट किसी एक कम्पनी के कोष को दूसरी कम्पनी के लिये नहीं प्रयुक्त कर सकता। उनको दिये जाने वाले ऋण पर भी नियंत्रण लगा दिया गया है। बोर्ड आफ डायरेक्टरों में उनके मनोनीत सदस्यों की संख्या निश्चित कर दी गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति के कई दोषों को दूर करने में सहायता प्राप्त हो गई है परन्तु कोई भी कानून व्यक्तियों की या उनके अधि-

कारों व हितों की रक्षा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि व्यक्ति उस ओर स्वयं सावधान नहीं है। कहना न होगा कि हमारे हिस्सेदारों में अभी अनुभव तथा ज्ञान आदि का बहुत अभाव है। उन्हें स्वयं इस दिशा में सतर्क रहने की आवश्यकता है। इन वर्षों में मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति के दोषों की ओर लोगों का ध्यान काफी आकर्षित हुआ है। लोग अब इन दोषों से काफी परिचित हो गये हैं। प्रबन्धकों के प्रति विश्वास की भावना में अभाव हो जाने के कारण पूंजी की रचना में बड़ी बाधा खड़ी हुई है। अब इस दिशा में और सुधार करने की आवश्यकता है। सरकार को चाहिये कि इस सम्बन्ध से और अच्छे कानूनों का निर्माण कर मैनेजिंग एजंटों की स्वच्छन्दता पर नियंत्रण लगावे। मैनेजिंग एजंटों को केवल एक ही औद्योगिक संस्था के प्रबन्ध करने का अधिकार रहे, वे एक साथ बहुत सी संस्थाओं का प्रबन्ध न कर सकें। इसी प्रकार इस पद्धति के अन्य दोषों को दूर कर इसे दोषरहित बनाने को प्रयत्न करना चाहिए।

राज्य तथा उद्योग—हमने ऊपर भारत में पूँजी सम्बन्धी स्थिति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला यदि यहाँ हम राज्य की औद्योगिक विकास सम्बन्धी नीति पर एक दृष्टि डालें तो कोई अनुचित न होगा। हम उद्योग-धन्धों के विकास सम्बन्धी परिच्छेद में यह कह चुके हैं कि भारत के राजे-महाराजे उद्योग-धन्धों के विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान करते थे। प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी कुछ उद्योग-धन्धों के उत्पादन को प्रोत्साहन प्रदान किया था। परन्तु बाद में कम्पनी ने अपनी नीति में परिवर्तन किया और उसका कार्य भारत के कच्चे माल के निर्यात तथा विदेशों में बने हुए माल का आयात करना रह गया, उसने यहाँ के उद्योग-धन्धों के विकास की ओर कुछ भी ध्यान न दिया।

जब भारत के शासन का प्रबन्ध कम्पनी के हाथ से सम्राट के हाथ में चला गया तब भी अंग्रेजों की इस नीति में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। उस समय मुक्त व्यापार नीति का बोलबाला रहा जिसके अनुसार भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास करने में कोई विशेष लाभ न था। यह नीति प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक चलती रही।

परन्तु इन्हीं दिनों कुछ प्रान्तीय सरकारों ने और विशेष कर मद्रास प्रान्त की सरकार ने अपनी नीति में कुछ परिवर्तन किया। सबसे पहले १९०६ में मद्रास प्रान्त में उद्योग-विभाग की स्थापना की गई। सर अल्फ्रेड चैटरटन ने, जो कि मद्रास सरकार की सेवा में थे, प्रान्त में चमड़े कमाने तथा अलमूनियम के उद्योग-धन्धों के विकास की ओर अच्छा ध्यान दिया। परन्तु १९१० में लार्ड मार्ले ने अपने एक पत्र में इस प्रकार कार्यक्रमों को सरकार की नीति के विरुद्ध ठहराया। उन्होंने कहा कि इस प्रकार के कार्य करने का उत्तरदायित्व सरकार पर नहीं है। इसके बाद लार्ड क्रयू ने अपनी नीति में कुछ सुधार किया किन्तु इससे कोई विशेष लाभ न हुआ।

जब प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया तो इसके कारण सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा।

युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओं की माँग की पूर्ति के वास्ते भारतीय उद्योग-धन्धों का विकास जरूरी था। फलतः १९१६ में औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने भारतीय उद्योग तथा यहाँ प्राकृतिक साधनों का अच्छी तरह अध्ययन किया और उसने यह सुझाव रखा कि भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास में सरकार को अच्छा सहयोग प्रदान करना चाहिये। सन् १९१७ में इंडियन म्यूनिशन बोर्ड की स्थापना की गई इस बोर्ड के कार्यों से भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास को अच्छी सहायता प्राप्त हुई, भारत में कितने नए उद्योग-धन्धों की स्थापना की गई। उधर युद्ध के समय में सरकार ने भी इस दिशा में अच्छा उत्पादन किया।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् सरकार ने इस क्षेत्र में और अच्छे कार्य किए। मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भारत के औद्योगिक विकास के लिए सरकार को काफी कार्य करने का सुझाव रखा गया। सन् १९२१ में 'इंडियन स्टोर्स परचेज डिपार्टमेन्ट' की स्थापना की गई। इधर भारत सरकार भारतीय उद्योग के संरक्षण की नीति अपना कर इस दिशा में काफी सहायता प्रदान कर रही थी।

सरकार की नवीन औद्योगिक नीति—जब द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भारत स्वतंत्र हुआ तो उसका इस दिशा में ध्यान जाना स्वाभाविक था। फलतः सन् १९४८ की छः अप्रेल को सरकार ने अपनी नवीन औद्योगिक नीति घोषित की। इस नीति की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) भारतीय उद्योग-धन्धों में कार्य करने वाले श्रमिकों की दशा को सुधारने का प्रयत्न करना।

(२) सरकार ने सारे उद्योगों को चार भागों में विभाजित किया है। ये चार प्रकार के उद्योग निम्नलिखित हैं :—

(अ) वे उद्योग जिन पर पूर्णरूप से सरकार का एकाधिपत्य है जैसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, रेलवे यातायात आदि की व्यवस्था;

(ब) वे उद्योग जिन पर सरकार का नियन्त्रण है और जिनके विकास के लिये राज्य गैर सरकारी स्रोतों से सहायता ले सकती है। कोयला, लोहा, फौलाद, वायुयान व जलयान आदि का निर्माण, टेलीफोन, तार तथा मिट्टी के तेल आदि ऐसे ही उद्योगों के अन्तर्गत आते हैं। राज्य द्वारा संचालित उद्योगों का प्रबन्ध जन-संस्थाओं द्वारा ही होगा। इस नीति को कार्यरूप में परिणित करने के लिये सरकार ने पाँच बड़ी योजनाएँ बनाई हैं जिसमें लगभग दो-तीन सौ करोड़ रुपए लगने का अनुमान है।

(स) तीसरे प्रकार के वे उद्योग होंगे जिन पर राज्य को नियन्त्रण-निर्देशन आदि करने का अधिकार होगा। ऐसे उद्योगों में नमक का उद्योग ट्रैक्टर, मशीनों के औजार, बिजली का सामान, रासायनिक पदार्थ, दवाइयाँ, रबर के सामान का निर्माण तेजाब का उद्योग, सूती तथा ऊनी कपड़े का, सीमेन्ट का, शकर का, कागज का, वायु तथा जल यातायात आदि का उद्योग सम्मिलित है।

(द) चौथे प्रकार के उद्योगों पर राज्य का साधारण नियन्त्रण रहेगा। इस श्रेणी में आने वाले उद्योगों की नामावली नहीं दी गई है।

(३) जहाँ तक विदेशी पूँजी का संबन्ध है उसमें अधिकांश रूप से उसके नियन्त्रण तथा स्वामित्व का अधिकार भारतीयों के ही हाथ में रहेगा। प्रायः सभी उद्योगों के लिये भारतीयों को अच्छी औद्योगिक शिक्षा क्षेत्रों की व्यवस्था की जायगी। जिससे वे कुशल कारीगर बन सकें और इस क्षेत्र में विदेशियों पर की निर्भरता से छुटकारा मिल सके।

(४) सरकार इस तथ्य को भलीभांति समझ गई है। राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिये कुटीर तथा छोटे पैमाने पर किये जाने वाले उद्योगों का अच्छा स्थान है। इन उद्योग-धन्धों के विकास का उत्तरदायित्व प्रान्तीय या राज्य की सरकारों पर है परन्तु केन्द्रीय सरकार इस बात का ध्यान रखेगी कि कहाँ तक और किस रूप में इन उद्योगों का बड़े पैमाने पर किये जाने वाले उद्योगों के साथ सामञ्जस्य बिठाया जा सकता है।

(५) औद्योगिक क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों की निवास सम्बन्धी समस्या को हल करने के लिये दस वर्ष में दस लाख मकान बनाने की योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है।

(६) सरकार अपनी आयात-निर्यात कर नीति इस प्रकार की रखेगी जिससे भारतीय उद्योगों को विदेशी उत्पादन से हानि न उठानी पड़े।

(७) सरकार ने कर आदि की पद्धति में परिवर्तन करने का विचार किया है। पूँजी के विनियोग तथा उद्योग-धन्धों के लिये उचित पूँजी की व्यवस्था की ओर भी सरकार ने क्रियात्मक कदम उठाने का विचार किया है। सन् १६४८ की अक्तूबर में उद्योग-धन्धों को निम्नलिखित रियायतें देने की घोषणा की थी :—

(१) मूल्य ह्रास भत्ते से मुक्ति;

(२) पाँच वर्ष तक ६ प्रतिशत पूँजी, जो कि नवीन उद्योगों में लगाई गई है, उसे आय कर से मुक्त कर दिया गया है।

(३) प्लान्ट तथा मशीनरियों पर १० से लेकर ५ प्रतिशत के हिसाब से आयात कर में छूट।

(४) बाहर भेजे जाने वाले कपड़े पर २५ से लेकर १० प्रतिशत तक की निर्यात-कर में छूट।

(५) उद्योग-धन्धों में लगने वाले कच्चे माल के आयात पर आयात कर की छूट।

सरकार की उद्योग संबन्धी नीति की उपरोक्त घोषणा से यह स्पष्ट हो गया कि सरकार देश के औद्योगिक विकास की ओर अब उचित ध्यान दे रही है। अभी सरकार के पास पर्याप्त साधन नहीं है जिससे वह उद्योग-धन्धों के विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान कर सके परन्तु अभी सरकार धीरे-धीरे ऐसे व्यक्तियों की संस्थाओं के निर्माण का विचार कर रही है जिन्हें व्यापारिक क्षेत्र में विशेष अनुभव प्राप्त है। इन लोगों की सहायता से औद्योगिक क्षेत्र में वह अच्छा कार्य करने की ओर प्रयत्नशील है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता भी सरकार को पूर्ण सहयोग प्रदान करे। सुयोजित व्यक्तिगत उद्योगों की स्थापना की ओर भी उचित ध्यान दिया जाना चाहिये।

सरकार की औद्योगिक नीति संबन्धी घोषणा से लोगों को न तो कोई विशेष आश्चर्य ही हुआ है और न विशेष आशाएँ ही उत्पन्न हुई हैं। सरकार ने न तो उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण की ओर ही कदम उठाया है और न कोई ऐसी ही व्यवस्था की है जिससे पूँजीपति वर्ग अनुचित लाभ उठा ले, सरकार ने इन दोनों के बीच के मार्ग को अपनाया है। इस प्रकार भारत सरकार भारत में एक नियंत्रित या मिश्रित आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की चेष्टा की है। परन्तु सरकार की इस औद्योगिक नीति का व्यापारी समुदाय में कोई विशेष स्वागत नहीं हुआ है। इस दिशा में लोगों ने सरकार से औद्योगिक नीति में संशोधन करने की प्रार्थना की है। देश के सबसे बड़े उद्योगपति श्री घनश्यामदास जी बिड़ला ने कहा था कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'हमने अपने रास्ते की बहुत सी बाधाओं को दूर कर लिया है, रास्ते से बहुत से रोड़े दूर हो गए हैं किन्तु अभी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बहुत कुछ कार्य करना है।' एक दूसरे उद्योगपति श्री जे० पी० श्री वास्तव ने कहा था कि उत्पादन में सबसे अधिक बाधा करों द्वारा खड़ी होती है। इसलिए इस भार को दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। इंडियन चेम्बर्स आफ कामर्स के सभापति श्री मेहरोत्रा जी ने कहा था कि यह दस वर्ष का समय बहुत कम है। स्वर्गीय श्री दलाल ने राष्ट्रीयकरण के संबन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए थे कि पूँजी के विनियोग करने वालों को राष्ट्रीयकरण के भय से पूँजी उठाने का साहस नहीं रह गया है। लाभ के हिस्सों का बँटवारा, लाभांश की परिसीमाएँ, कम से कम मजदूरी वाला कानून, श्रमिकों की बढ़ती हुई मजदूरी, दस वर्ष के पश्चात् पूँजी के निस्तरण आदि से लोगों में पूँजी के विनियोग करने की हिम्मत नहीं रह गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोगों पर सरकार की औद्योगिक नीति की घोषणा का कोई अच्छा असर नहीं पड़ा है। लोगों में पहले राष्ट्रीयकरण का भय प्रवेश कर गया। इस भय को, इस सन्देह को दूर करने के लिये भारत सरकार के प्रधान मन्त्री, उपप्रधान मन्त्री तथा अन्य मंत्रियों ने प्रयत्न किया परन्तु उनका प्रयत्न निष्फल रहा। उनका कोई विशेष अच्छा प्रभाव न हुआ।

अभी देश की पूँजी संबन्धी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। औद्योगिक उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। शकर व सूती कपड़े का उत्पादन तो और भी गिर गया है। अर्थ-परिषद् के सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए डा० राव ने सरकार की औद्योगिक नीति के संबन्ध में अच्छा प्रकाश डाला था। उन्होंने कहा था कि सरकार की औद्योगिक नीति की गति अस्थिर रही है, पहले उसने राष्ट्रीयकरण की ओर कदम उठाया तब करों आदि के रियासतों की ओर ध्यान दिया।......उसकी इस नीति से न तो उद्योगपतियों को लाभ मिला, न पूँजी लगाने वाले को, न उद्योग-धन्धों में काम करने वाले श्रमिकों को और न साधारण जनता को।......जिस किसी बात से उत्पादन में वृद्धि करने का प्रोत्साहन मिलता, इस नीति से वह कुछ भी न मिला।

उद्योग-धन्धों के विकास तथा उनके नियंत्रण सम्बन्धी विधेयक---भारतीय उद्योग की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए सन् १६४६ के मार्च मास में सरकार ने एक विधेयक उपस्थित किया। इस विधेयक में सरकार को उद्योग-धन्धों के नियंत्रण आदि के सम्बन्ध में विशेष अधिकार दिए गए हैं। इसके अनुसार सरकार को किसी भी उद्योग को अपने हाथ में ले लेने का या उसके प्रारम्भ करने का अधिकार होगा साथ ही इसमें यह व्यवस्था की गई है कि केन्द्र द्वारा नियंत्रित नीति के अनुसार कोई भी प्राइवेट औद्योगिक संस्था अपने उद्योग का विकास कर सकेगी। इस विधेयक के अनुसार जितने भी नवीन उद्योग हैं उन सब की रजिस्ट्री कराने का निश्चय किया गया है साथ ही अब जो नवीन उद्योग खुलेंगे उन्हें लाइसेन्स प्राप्त करने की व्यवस्था की गई है। इस विधेयक के अनुसार जिन नियमों का निर्माण होगा उनके द्वारा सरकार औद्योगिक संस्थाओं को औद्योगिक विकास के लिए प्रयत्न करने, विशेष प्रकार के कच्चे माल के प्रयुक्त करने, उत्पादन के स्तर को निश्चित करने, हिसाब-किताब को विशेष प्रकार से रखने, श्रमिकों को औद्योगिक शिक्षा देने आदि की व्यवस्था करने के लिए वाध्य कर सकेगी। नियंत्रित उद्योग से वह किसी प्रकार की भी सूचना या आंकड़े माँग सकेगी।

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कहा था कि यह विधेयक देश के औद्योगिक विधानों में अपना विशेष महत्त्व रखता है, उन्होंने यह भी कहा था कि इस विधेयक से औद्योगिक विकास का श्रीगणेश होता है। परन्तु व्यापारिक समुदाय इस विधेयक से प्रसन्न नहीं हुआ है। 'इंडियन मर्चेन्ट्स चेम्बर' ने कहा था कि यह विधेयक असामयिक है तथा इसे तैयार करने में बड़ी शीघ्रता की गई है।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य या सरकार के उद्योग-धन्धों के नियंत्रण से उनकी स्वतन्त्रता और मौलिकता पर बड़ा आघात पहुँचेगा। वे अधिक साहस नहीं कर सकेंगे। परन्तु क्या अभी हमारा उद्योग इन सब गुणों से युक्त होकर अच्छा कार्य कर रहा है? उत्तर मिलता है नहीं। फिर जब वह इस समय अच्छे रूप से कार्य नहीं कर रहा है, अभी हमारे उद्योगपति अपने ही स्वार्थ साधन में लगे हुए हैं, देश के, राष्ट्र के हित की वे उपेक्षा कर रहे हैं तो फिर क्यों न उन्हें नियंत्रित किया जाय? हमारे देश में केवल ऐसे ही प्राइवेट उद्योगों को स्थान मिलना चाहिए जो कि योग्य एवं कुशल हैं, और वे जनहित को ध्यान में रखकर कार्य कर रहे हैं। इस समय भारतीय उद्योगपतियों का मुख्य उद्देश्य अधिक उत्पादन न कर अधिक लाभ कमाना है, यदि वे ईमानदारी से कार्य करें तो देश की औद्योगिक स्थिति बड़ी जल्दी सुधर सकती है।

इस समय भारत सरकार को जनता द्वारा भी विशेष सहायता नहीं प्राप्त हो रही है न तो देश में कुशल कारीगर हैं और न अनुभवी प्रबन्धक। जनता यह आशा करती है भारत सरकार भारत का ऐसा सामाजिक एवं आर्थिक संगठन करेगी जिससे साधारण से साधारण व्यक्ति भी अपने जीवन के आवश्यक उपकरणों — अन्न और वस्त्र को सुगमता से प्राप्त कर लेगा। श्रमिक को उसकी उचित मजदूरी मिलेगी और उद्योगपति को अच्छा लाभ। सरकार देश के मानवी तथा प्राकृतिक

साधन का पूर्ण तथा अच्छा से अच्छा उपयोग करने में सफल हो सकेगी। आशा है निकट भविष्य में इस दिशा में हमारी सरकार अच्छा कार्य करेगी और देश की अच्छी औद्योगिक उन्नति करने में समर्थ हो सकेगी।

हमारा उद्योग तथा राज्यों की सरकारें—प्रत्येक राज्य में एक उद्योग-विभाग (Department of Industries) होता है। इस विभाग का कार्य राज्य के क्षेत्र के अन्तर्गत उद्योग-धन्धों का विकास करना होता है। ये विभाग औद्योगिक शिक्षा की तथा उद्योग-धन्धों के अनुसंधान की व्यवस्था करते हैं। वे अच्छे शिक्षार्थियों को तथा ऐसे उद्योगों को जिन्हें पूँजी की आवश्यकता है आर्थिक सहायता देते हैं। वे मंडियों के संगठन के विकास की व्यवस्था करते और औद्योगिक सूचना ब्यूरो का भी कार्य करते हैं। राज्य के सर्वांगीण आर्थिक विकास के लिए वे अन्य विभागों से भी अपना सम्बन्ध बनाए रखते हैं। यहाँ पर हम उद्योग विभाग के कार्यों पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे। उसके मुख्य कार्य ये हैं :—

औद्योगिक शिक्षा (Industrial Education)—भारत में शिक्षित आदमियों का तो अभाव है ही साथ ही यहाँ जो शिक्षा दी जाती है वह भी बड़ी दोषयुक्त है, वह शिक्षा केवल किताबी ही होती है उसका व्यावहारिक जीवन से कोई लाभ नहीं होता। यदि भारतीय श्रमिक असंगठित, अकुशल व उत्साहहीन हैं तो इसमें उनका क्या दोष ! दोष तो हमारी अभावयुक्त शिक्षा-पद्धति का है और यही इसके लिए पूर्णरूप से उत्तरदायी भी है। भारतीय औद्योगिक आयोग ने शिल्पकला की शिक्षा के लिए विद्यालय, कुछ कारखानों के साथ औद्योगिक विद्यालयों की स्थापना तथा उन मिल मालिकों को आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया था जो कि अपने श्रमिकों के लिए औद्योगिक शिक्षा देने की व्यवस्था करते हैं। १९३७ में वार्धा में होने वाले शिक्षा सम्मेलन ने डा० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की थी। इस समिति ने बुनियादी शिल्प शिक्षा देने का सुझाव रखा था। १९३६ में इंगलैंड से आने वाले दो शिक्षा विशेषज्ञों वुड व एबट ने भी शिक्षा संस्थाओं तथा उद्योग-धन्धों के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने का सुझाव रखा था।

इन सब के सुझावों के परिणामस्वरूप अब प्रत्येक राज्य में औद्योगिक शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित कर दी गई हैं। बिहार में भागलपुर का 'सिल्क इन्स्टीच्यूट' तथा गुलजारी बाग की कुटीर उद्योग-संस्था, (Cottage Industries Institute), अच्छी शिक्षण संस्थाओं में से हैं। 'टाटा आइरन एन्ड स्टील' कम्पनी जैसी बड़ी-बड़ी संस्थाओं ने भी अपने-अपने औद्योगिक विद्यालयों की संस्थापना की है। परन्तु अभी भारत में औद्योगिक शिक्षा सम्बन्धी अच्छी सुविधा नहीं प्राप्त है। इस समय उद्योग-धन्धों के लिए जितने कुशल व शिक्षित श्रमिकों की आवश्यकता है उतने उन्हें मिल नहीं रहे हैं। आज जो लोग कारखानों में काम करते हैं उनमें से अधिकांश अशिक्षित रहते हैं उन्हें अपने कार्य का कोई अच्छा ज्ञान नहीं होता। जो लोग कारखाने के काम में कुशल हैं उन्हें पढ़ना-लिखना नहीं आता। वास्तव में हमें साधारण श्रमिकों के लिए तो साधारण औद्योगिक विद्यालयों की आवश्यकता है, फोरमैनों के लिए उच्च औद्योगिक शिक्षा की आवश्यकता है तथा प्रबन्धकों के शिक्षण के लिए वाणिज्य-महाविद्यालयों की स्थापना की आवश्यकता है। इस प्रकार की औद्योगिक शिक्षा सम्बन्धी सुन्दर योजना से हम इस समस्या को अच्छी तरह से हल कर सकते हैं।

औद्योगिक अन्वेषण (Industrial Research)—भारतीय उद्योगों के विकास के लिए इस सम्बन्ध में अन्वेषण करने का भी कुछ कम महत्व नहीं है। इस दिशा में अभी हमने थोड़ा बहुत कार्य किया है। प्रत्येक विशाल उद्योग के पास अपनी निज की अन्वेषण सम्बन्धी व्यवस्था है। राज्यों के उद्योग-विभागों ने भी अनुसन्धानशालाएँ स्थापित की हैं। पाँचवें औद्योगिक सम्मेलन के अनुसार सन् १९३५ में एक 'इन्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो' की स्थापना की गई थी। इसके साथ ही

एक औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् की भी स्थापना हुई थी। यह संस्था अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों के संचालन के लिए उद्योगों में से अपना सम्बन्ध रखती, उद्योग-धन्धों सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्रदान करती, इसके लिए वह एक पत्रिका भी प्रकाशित करती है।

गत विश्वयुद्ध के समय कुछ उद्योगों का तीव्रगामी विकास आवश्यक समझा गया। इस कार्य को सफल बनाने के लिए एक नवीन संस्था—वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान समिति (Board of Scientific and Industrial Research) की स्थापना की गई थी। इस समिति ने काफी अच्छा एवं उपयोगी कार्य किया है और कई नवीन उद्योगों की स्थापना का भी सुझाव रखा है। परन्तु अभी हमारा औद्योगिक अन्वेषण में बहुत कम खर्च होता है। अमरीका में कुल राष्ट्रीय आय का १/२ भाग औद्योगिक अनुसन्धान कार्यों में खर्च किया जाता है। वहाँ के उद्योगपति स्वयं इस कार्य में ३००,०००,००० डालर खर्च करते हैं।

औद्योगिक समाचार विभाग (Industrial Intellegience)—केन्द्रीय सरकार में व्यावसायिक सूचना व आंकड़ों सम्बन्धी तो एक विभाग है ही साथ ही प्रान्तीय उद्योग-विभाग भी औद्योगिक समाचार आदि की व्यवस्था रखती है। कोई भी व्यक्ति जो किसी उद्योग का प्रारम्भ करना चाहता है वह इस उद्योग से सहायता प्राप्त कर सकता है। परन्तु साधारणतया उद्योगपति यह समझते हैं कि यह विभाग अच्छी तरह कार्य नहीं कर रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि इस कार्य के करने वाले लोग अपने उत्तरदायित्व की गम्भीरता को भलीभाँति समझें और सही खबरें देने की व्यवस्था करें।

पूँजी व अन्य सहायता सम्बन्धी कार्य—हम ऊपर कह चुके हैं कि उद्योग-धन्धों को राज्य द्वारा सहायता देने के लिये एक विधेयक स्वीकृत हो चुका है, और ऋण आदि के रूप में उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इसके साथ ही हमने यह भी देखा कि इन उपायों से कोई अच्छे परिणाम नहीं निकले हैं, हाँ प्रदर्शिनियों व डिपो आदि के द्वारा इस दिशा में अवश्य अच्छी सहायता प्राप्त हुई है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्यों की सरकारें इस क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रही हैं किन्तु उन्होंने अभी तक जो कार्य किया है वह पर्याप्त नहीं है। राज्यों की सरकारों पर कई सीमाएँ हैं, उन पर कई बन्धन हैं जिनके कारण वे इस दिशा में विशेष अच्छा कार्य नहीं कर पातीं।

जहाँ तक केन्द्रीय सरकार का प्रश्न है हम पीछे कह चुके हैं कि केन्द्रीय सरकार भारतीय उद्योगों और विशेष कर कुटीर उद्योगों के विकास के लिये किस प्रकार प्रयत्नशील है। सन् १९३५ से केन्द्रीय सरकार हाथ से बुने कपड़े, रेशमी कपड़े, ऊनी कपड़े आदि के कुटीर उद्योगों को वार्षिक सहायता प्रदान कर रही है। केन्द्रीय सरकार औद्योगिक अन्वेषण-कार्यों के लिये भी जो सहायता देती है उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। केन्द्रीय सरकार ने इंडियन काटन समिति, इंडियन शुगर समिति, इंडियन जूट समिति, कोल ग्रेडिंग बोर्ड, ट्रान्स्पोर्ट एक्ट आदि के द्वारा इस दिशा में अच्छी सहायता प्रदान की है।

भारत में औद्योगिक विकास के लिये सरकार क्या करे ?—भारत में औद्योगिक विकास के लिये राज्य को क्रियात्मक कदम उठाने का प्रयत्न करना चाहिये। राज्य को इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिये जिससे उद्योग धन्धों का अच्छा विकास हो और हो देश के प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग। सरकार को औद्योगिक क्षेत्र में विशेष अनुभव व ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों के भी संगठन की व्यवस्था करनी चाहिये जिससे वह उनसे इस सम्बन्ध में समय समय पर अच्छी सहायता ले सकें। इस प्रकार हमें अपना औद्योगिक संगठन इस प्रकार का करना होगा जिससे हम सुचारु रूप से अपना औद्योगिक विकास कर सकें।

भारत में लोगों में एक प्रवृत्ति प्रायः विद्यमान रहती है, वह यह कि लोग सदैव अपने कार्यों के लिये सरकार का ही मुँह ताका करते हैं। उनको चाहिये कि वे अपने अन्दर स्वावलम्बन की भावना का उदय करें और देश के औद्योगिक विकास में अपना पूरा सहयोग दें। उधर सरकार को भी भारतीय उद्योग के विकास के लिये पूर्णरूप से सतक रहना चाहिये और इस कार्य के लिए उसे कोई कोर-कसर न छोड़ रखनी चाहिये।

राज्य व कुछ अन्य उद्योग--इन दिनों लोगों में प्रायः एक यह विश्वास जमता जा रहा है कि यदि किसी देश के आर्थिक विकास का सारा उत्तरदायित्व जनता या व्यक्तियों पर ही छोड़ दिया जाता है और राज्य इस ओर कुछ प्रयत्न नहीं करती तो इसका प्रभाव बड़ा बुरा पड़ता है, उस देश का आर्थिक विकास भलीभाँति नहीं हो पाता। अतएव इसके लिये राज्य की सहायता लेना अनिवार्य है।

वास्तव में अभी तक संसार में जितने भी देशों ने औद्योगिक उन्नति की है, प्रायः उन सभी देशों की औद्योगिक उन्नति का बहुत कुछ श्रेय उस देश की सरकार को ही है। उदाहरण के लिये जर्मनी को ही ले लीजिये। वहाँ पर विशेषकर हिटलर के समय में राज्य का उद्योग-धन्धों पर पूरा नियंत्रण रहा और उसने जो औद्योगिक उन्नति की उससे सभी परिचित हैं। मुक्त व्यापार नीति के केन्द्र इंगलैण्ड में भी राज्य द्वारा चलाई हुई आर्थिक नीति की प्रधानता रहती थी।

अब इंगलैण्ड में मुक्त-व्यापार-नीति का कोई स्थान नहीं है। वहाँ की सरकार लोहे तथा फौलाद के उद्योग को, कोयले के उद्योग को पुनसंगठित करने की ओर प्रयत्न कर रही है। वहाँ पर राज्य के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप कोयले, तेल, सिनेमा उद्योग आदि का विकास हुआ है। अमरीका के भी औद्योगिक विकास का बहुत कुछ श्रेय वहाँ की सरकार को ही है।

जापान में औद्योगिक विकास राज्य के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ। वहाँ पर आज कितने ही ऐसे उद्योग हैं जो राज्य के बल पर जीवित दिखलाई पड़ते हैं। जापान की सरकार ने तो पहले स्वयं ही उद्योग-धन्धों की स्थापना करनी शुरु की बाद में उसने उद्योग-धन्धों को पूँजी सम्बन्धी सहायता देकर उसके विकास में सहयोग प्रदान किया। जापान की सरकार ने अपने देश के औद्योगिक विकास के लिये, विदेशों में औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये शिक्षार्थियों को भेजा, विदेशों से औद्योगिक विशेषज्ञों को आमंत्रित किया, देश के उद्योगों की रक्षा के लिये संरक्षण कर लगाया। इन्हीं सब प्रयत्नों के फलस्वरूप जापान ने बड़ी जल्दी अद्भुत औद्योगिक उन्नति कर ली।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

औद्योगिक श्रम

भारत में प्राचीनकाल में प्रायः कृषक लोग कुछ मजदूरों को रखकर अपनी खेती करवाते थे। इन श्रमिकों या मजदूरों में कुछ लोग भू-स्वामियों के यहाँ एक प्रकार से टहलुओं की तरह रहते थे और उनका खेती आदि का काम करते थे। इसके बदले में उन्हें मुफ्त जोतने के लिये थोड़ी सी भूमि प्राप्त हो जाती थी। दूसरे प्रकार के श्रमिक थोड़े दिन के लिये मजदूरी पर रख लिये जाते थे। इसके अतिरिक्त गाँवों में औद्योगिक श्रमिकों की कोई माँग नहीं थी। इसका कारण यह था कि उस समय ग्रामों में जो कुटीर उद्योग थे उनके संचालन का कार्य कुछ विशेष शिल्पियों पर ही रहता था, जो कि अपने पुश्तैनी पेशे को करते चले आते थे। जब कुटीर उद्योगों का ह्रास होने लगा तो ये शिल्पजीवी कृषि की ओर झुकने लगे। गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में नवीन उद्योगों का बीजारोपण हुआ और इसके साथ ही साथ उन उद्योग-धन्धों में कार्य करने वाले श्रमिकों का एक वर्ग पनपने लगा। परन्तु देश में कृषि की प्रधानता के कारण, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली की प्रथा के होने के कारण इस वर्ग का विकास अधिक जोरों से न हो सका, प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत में औद्योगिक श्रमिकों का एक अच्छा वर्ग तैयार हो गया। इस समय यह वर्ग अपनी वास्तविक स्थिति को भलीभाँति समझने लगा था, वह अपने अधिकारों आदि से भलीभाँति परिचित होने लग गया था। इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ ने भी भारत के श्रमिकों पर अपना अच्छा प्रभाव डाला, भारतीय श्रमिक भी संगठित होने लगे। शाही श्रम आयोग (कमीशन) की नियुक्ति से, तथा प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के निर्माण से भारत के श्रमिकों तथा उनसे सम्बन्धित समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान काफी आकर्षित हुआ। श्रम-आयोग के कारण देश में श्रम संबन्धी विधियों के निर्माण में अच्छी सहायता प्राप्त हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन वर्षों में देश में औद्योगिक विकास के साथ ही साथ एक औद्योगिक श्रमिक वर्ग का भी विकास हुआ। अब देश में औद्योगिक श्रमिकों का एक शक्तिशाली वर्ग उत्पन्न हो गया है, अतः इन श्रमिकों से संबन्धित समस्याओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

श्रम के प्राप्त होने के स्रोत—यदि हम भारत की इस विशाल जनसंख्या पर दृष्टि डालें और कृषि में लगी हुई उस अधिकांश जनसंख्या को देखें जो वर्ष में छै महीने बेकार रहती है तो हमें यह प्रतीत होगा कि भारत में श्रम का कोई अभाव नहीं है। परन्तु एक समय था जब कि देश में औद्योगिक श्रम की बहुत बड़ी कमी थी, १६१६ तक भारतीय उद्योगों को श्रम की कमी का सामना करना पड़ा। औद्योगिक श्रम के इस अभाव का मुख्य कारण यहाँ के लोगों का औद्योगिक शिक्षा से अनभिज्ञ होना था। इसके अतिरिक्त उस समय देश में न तो यातायात के ही समुचित साधनों का विकास हुआ था और न कोई ऐसी संस्था ही थी जो कि श्रमिकों को भलीभाँति भर्त्ती करती। यही नहीं उस समय मजदूरी की दर भी कम थी, मजदूरों को शहरों में जाकर रहने इत्यादि में भी काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इन सब बातों के कारण उस समय हमारे उद्योग-धन्धों को श्रम के अभाव का सामना करना पड़ता था। यद्यपि अब भी इन सब बातों में सन्तोषजनक सुधार नहीं हुआ है तब भी पहले से अब स्थिति काफी अच्छी है, अब उद्योग-धन्धों को श्रम सम्बन्धी अभाव का सामना नहीं करना पड़ा।

जिस प्रकार कि पाश्चात्य देशों में उद्योग-धन्धों में काम करने वाले श्रमिकों का एक अलग ही वर्ग तैयार हो गया है वैसा भारत में नहीं। उन देशों में औद्योगिक श्रमिक स्थायी रूप से अपने उद्योग में ही लगे रहते हैं उनका कृषि आदि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इन श्रमिकों में से अधिकांश नगरों में ही रहने लगे ह, गाँवों में रहना उन्होंने छोड़ दिया है। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में पहले से ही लालित-पोषित होने के कारण उनके औद्योगिक जीवन पर बड़ा गहरा असर पड़ता है।

भारत में औद्योगिक श्रमिक की स्थिति दूसरी ही तरह की है। भारतीय उद्योगों में कार्य करने वाले अधिकांश श्रमिक ग्रामीण होते हैं, उनका पालन-पोषण जिस वातावरण में होता है, वह वातावरण पूर्णरूपेण ग्रामीण होता है, इन श्रमिकों में एक स्थान पर टिक कर कार्य करने की भावना भी नहीं होती।

इस तरह भारतीय उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों का एक बड़ा भाग गाँवों से आता है। यहाँ पर जमशेदपुर कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर प्रधान औद्योगिक केन्द्र हैं, इनमें से कुछ नगरों जैसे जमशेदपुर, कलकत्ता और बम्बई को छोड़कर शेष औद्योगिक केन्द्रों को अपने ही निकटवर्त्ती प्रदेश से श्रम प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिये कानपुर को ही ले लीजिये, यहाँ काम करनेवाले अधिकांश श्रमिक कानपुर के आस-पास के ही हैं, अहमदाबाद में साठ प्रतिशत से अधिक ही श्रमिक इस प्रदेश को निकटवर्त्ती क्षेत्र का है। बम्बई में भी, वहाँ की मिलों में अधिकांश श्रमिक रत्नगिरि तथा दक्षिण के जिलों के हैं। कलकत्ते के कारखानों व मिलों में काम करने वाले श्रमिक अवश्य दूर-दूर से जाते हैं। ये श्रमिक अधिकतया उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा मदरास आदि के हैं।

श्रमिकों की भर्त्ती कैसे होती है?—अभी तक मिलों में श्रमिकों की भर्ती मुकद्दम, सरदारों या मिस्त्रियों आदि के द्वारा होती थी। यद्यपि नायक या सरदार का मुख्य कार्य श्रमिकों के काम की देख-भाल करना होता है परन्तु उसकी स्थिति इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है और मजदूर या श्रमिक को अपनी तरक्की तथा आर्थिक सहायता व औद्योगिक शिक्षा आदि के लिए उसे अपने सरदार या नायक पर ही निर्भर रहना पड़ता है। पहले साधारणतया नायक के ही द्वारा मजदूरों की भर्ती होती थी, अब भी जहाँ के मिल मैनेजर आदि यूरोपियन होते हैं वहाँ पर नायक ही मजदूरों की भर्त्ती आदि करने के लिये अग्रगणी रहता है। नायक मजदूरों और मालिक के बीच एक कड़ी या जञ्जीर का काम करता है। नायक के द्वारा श्रमिकों की भर्त्ती होने पर नये मजदूर को अपनी तरक्की तथा मुश्तकिली आदि के लिये नायक को रिश्वत देनी होती थी, कलकत्ते की जूट की मिलों में सरदार को अब भी नये मजदूरों से दस्तूरी मिला करती है। बम्बई की कपड़े की मिलों के उन विभागों में जहाँ अधिकांश काम करने वाली औरतें होती हैं, वहाँ पर उनके काम की देख-भाल के लिये औरतें ही होती हैं जिन्हें नायकिनी कहा जाता है। ये भी अपने नीचे काम करनेवाली औरतों तथा लड़कियों से नाजायज लाभ उठाती हैं। इस प्रकार नायक आदि की प्रथा से कई हानियाँ हैं। हर्ष की बात है कि इन वर्षों में इस दिशा में अब काफी सुधार हो गया है। बड़ी बड़ी तथा अच्छी मिलें मजदूरों की भर्त्ती करने के लिये एक विशेष अधिकारी रखती हैं। परन्तु अभी श्रमिकों तथा प्रबन्धकों के बीच अच्छा सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सका है। कितने ही स्थानों में अभी मजदूरों की भर्त्ती उसी पुरानी प्रथा के अनुसार ही होती है, ऐसे स्थानो में काफी सुधार किया जाना चाहिये। आवश्यकता इस बात की है कि श्रमिकों की भर्त्ती के लिये यथेष्ठ व्यवस्था की जाय और उन्हें सरदार या नायकों आदि के चंगुल से मुक्त किया जाय।

औद्योगिक श्रम की कुशलता—जिस प्रकार आर्थिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में मानवी श्रम का अत्यन्त महत्व होता है उसी प्रकार उद्योग-धन्धों में भी श्रम का बड़ा महत्व है। औद्योगिक

उन्नति बहुत कुछ औद्योगिक श्रम की कुशलता पर ही निर्भर रहती है। यहाँ पर अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत में औद्योगिक श्रम की कुशलता कहीं कम है।

ऐसा कहा जाता है कि जापान में एक कुशल श्रमिक २४० तकुओं का संचालन करता है, इंगलैण्ड में ५४० से लेकर ६०० तक तकुए अमरीका में १,१२० तकुए एक ही श्रमिक द्वारा संचलित होते हैं जब कि भारत में केवल १८० चर्खे यही नहीं भारत में एक बुनकर दो कर्घो पर काम करता है जब कि यू० के० में ४ से लेकर ६ तथा अमरीका में ६ कर्घों तक पर एक ही बुनकर कार्य करता है। सर अलेक्जन्डर मैकबर्ट ने औद्योगिक आयोग के संमुख यह विचार प्रकट किया था कि एक अंगरेज श्रमिक भारतीय श्रमिक से ३.५ गुना अधिक कुशल है। सर क्लीमेन्ट सिंपसन के अनुसार भारतीय कातने तथा बुनने की मिलों में काम करने वाले २.६६ मजदूर लंकाशायर की मिल में काम करने वाले एक कुशल श्रमिक के बराबर हैं। इस सम्बन्ध में डा० गिलबर्ट स्लेटर का कथन है कि लंकाशायर और भारत के कारखानों में इस अन्तर के होने का कारण भारतीय श्रमिकों अकुशलता नहीं वरन् भारतीय श्रम का सस्तापन है। भारत के कारखानों में मशीनों पर अधिक आदमी इसलिए लगाये जाते हैं कि यहाँ श्रम सस्ता एवं सुलभ है और मशीनें मंहगी। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि यहाँ का श्रम कुशल है तो फिर औद्योगिक उत्पादन क्यों कम होता है। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि भारत में प्रति श्रमिक उत्पादन में कमी होने कारण उत्पादन सम्बन्धी अच्छी सामग्री का न मिलना तथा मिलों की अभावपूर्ण शासन व्यवस्था का होना है। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी हमें यह मानना ही पड़ेगा कि ब्रिटेन व जापान आदि देशों की तुलना में भारतीय श्रमिक कुशल नहीं हैं, उनमें कुशलता का बड़ा अभाव है।

श्रम की अकुशलता के कारण—देश में श्रमिकों की कुशलता के कम होने के कई कारण हैं। इनमें से बहुत से तो ऐसे कारण हैं जिनके लिए भारतीय श्रमिक जिम्मेदार नहीं हैं, उनका बहुत कुछ उत्तरदायित्व अन्य बातों पर है। भारतीय जलवायु, भारतीयों का दुर्बल स्वास्थ्य, उनकी अज्ञानता, उनमें औद्योगिक शिक्षा का अभाव आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से भारतीय श्रम में कुशलता का बड़ा अभाव है, जो हमारे कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिकों पर अपना बड़ा बुरा असर डालते हैं। नीचे हम भारतीय औद्योगिक श्रमिकों की अकुशलता के कुछ कारणों का उल्लेख करते हैं :—

(१) **श्रमिकों का प्रवासी होना**—भारत के कारखानों में काम करने वाले अधिकांश श्रमिक गाँवों से आते हैं। वे अपने गावों को या तो किसी आर्थिक संकट के कारण छोड़ कर नगरों में पैसा पैदा करने के लिए आते हैं या अन्य सामाजिक कठिनाइयों से परेशान होकर शान्ति की खोज में नगरों में आ जाते हैं। कभी-कभी वे इतने ऋण ग्रस्त हो जाते हैं कि इसके लिए अपने गाँव को छोड़ कर पैसा पैदा करने के लिए नगरों में शरण लेते हैं। कुछ लोग गाँवों में अपने आर्थिक स्तर को अच्छा बनाने के लिए कुछ भूमि या खेत आदि खरीदने के लिए धन पैदा करने को नगरों में चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त इधर भारतीय कुटीर-उद्योगों के नष्ट हो जाने से, शिल्पकला का विनाश हो जाने के कारण भी कितने ही लोग कारखानों में काम करने के लिए नगरों में चले गए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे ये भारतीय श्रमिक कई कारणों से अपने ग्रामों को छोड़कर नगरों में चले जाते हैं।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये लोग सदा के लिए अपने गाँवों को छोड़ देते और नगरों में बस जाते हैं। ऐसी बात नहीं है, ये श्रमिक थोड़ा-बहुत पैसा पैदाकर जल्दी या देर में अपने गाँव लौट जाना चाहते हैं। नगरों की तड़क-भड़क, उसका अस्वास्थ्यप्रद जलवायु उन्हें रुचिकर नहीं मालूम पड़ता, दूसरे नगरों में रहन-सहन के स्तर के अच्छे होने के कारण उनका खर्चा भी अधिक हो

जाता है। इन्हीं सब कारणों से गाँवों से आने वाला श्रमिक नगरों में अधिक दिन नहीं ठहरता और थोड़े समय पश्चात् अपने गाँवों को वापस चला जाता है।

श्रमिकों के इस प्रकार के आवागमन का प्रभाव श्रम की कुशलता पर बड़ा बुरा असर पड़ता है। श्रमिक को कृत्रिम नागरिक जीवन अच्छा नहीं लगता, उसके स्वास्थ्य पर नागरिक वातावरण अपना गहरा असर डालता है। गांवों से नए-नए नगरों में आकर अधिकांश श्रमिकों का जीवन असंयमित हो जाता है, वे कितने ही दुर्व्यसनों जैसे द्यूत-क्रीड़ा या मद्यपान आदि के चंगुल में फंस जाते हैं। इसके अतिरिक्त कारखानों में उन्हें लगातार अधिक समय तक अनुशासन के अन्दर कार्य करना पड़ता है, जिसका कि वह आदी नहीं रहता है, फिर उसे अपने घर की भी याद सताती रहती है। इन सब बातों का उसके मानस पटल पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, उसका शरीर अनेक रोगों का अड्डा बन जाता है।

उपरोक्त बातों के आधार पर प्रायः श्रमिकों की अकुशलता का बहुत कुछ उत्तरदायित्व गाँवों से आने वाले श्रमिकों पर, ही लादा जाता है, उनके इस प्रकार के आने-जाने को ही दोषी ठहराया जाता है। परन्तु ऐसा कहते समय हम इस बात को भूल जाते हैं कि गाँवों से आनेवाला श्रमिक अपने साथ ग्रामीण-जीवन की उन कुछ बातों को लाता है जो नगरों में नहीं पाई जातीं, गाँवों से आनेवाला श्रमिक अन्य श्रमिकों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होता है, फलतः उसकी कार्यशक्ति भी अधिक रहती है। नगरों में आने पर उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाता है, उसके ज्ञान-भण्डार की वृद्धि हो जाती है। जब वह नगरों से ग्रामों को वापस जाता है तो वह अपने ग्रामीण-बन्धुओं को भी नागरिक जीवन की अनेक बातों से परिचित करता है, उसके सहयोग से अन्य ग्रामवासियों का दृष्टिकोण कुछ विशाल होता है, उनके ज्ञान में वृद्धि होती है। यही नहीं संकट-काल में गाँव ऐसे श्रमिकों के लिए एक शरणस्थल का काम करते हैं। जब नगरों के कारखानों में लम्बी हड़तालें हो जाती हैं, या द्वारावरोध ही हो जाता है, जब श्रमिक कभी काफी बीमार हो जाता है, या उसकी कार्य-शक्ति क्षीण हो जाती है और वह वृद्ध हो जाता है तो ऐसे समय में उसे गाँव का ही सहारा मिलता है, यहाँ आकर उसे बहुत कुछ विश्राम और शान्ति मिलती है। इस प्रकार कुल मिलाकार हम यह कह सकते हैं कि श्रमिकों का ग्रामीण होना, उनका गाँवों से नगरों में आकर कारखानों में कार्य करना उनकी कार्य-कुशलता पर कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं डालता।

(२) मजदूरी का कम होना—श्रम की कुशलता बहुत कुछ, पौष्टिक भोजन, श्रमिकों के अच्छे निवास-स्थानों तथा उनकी अन्य सुविधाओं पर निर्भर करता है। परन्तु भारत के श्रमिकों को इतनी कम मजदूरी मिलती है कि इससे वे अपनी सुविधा की सब वस्तुओं को सरलता से खरीद नहीं सकते। कम पारिश्रमिक मिलने के कारण वे अच्छा आहार नहीं ले पाते, जो कुछ भोजन वे करते हैं, उसमें आवश्यक पोषक तत्वों का बड़ा अभाव रहता है। इस प्रकार इतनी कम मजदूरी देकर यह आशा करना कि श्रमिकों की कार्य-कुशलता में काफी वृद्धि होगी, दुराशामात्र है।

(३) उनके रहन-सहन का निम्न स्तर—हम ऊपर यह कह ही चुके हैं कि भारतीय श्रमिकों को मजदूरी बहुत कम मिलती है, जब उसे कम मजदूरी मिलती है तो उसके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा न होकर निम्न ही रहेगा। हमारा श्रमिक असन्तुलित भोजन तो पाता ही है, साथ ही उसके रहने के लिये अच्छा स्थान भी नहीं मिलता, नगरों में जिन घरों या कमरों में उसे रहना पड़ता है, वे अत्यन्त ही गन्दे होते हैं, उनमें न तो अच्छी तरह प्रकाश पहुँचता है और न शुद्ध वायु ही जाती है। वह जो वस्त्र पहनता है, उनसे उसका पूरा तन भी नहीं ढक पाता। उसे बीमारी के समय उचित चिकित्सा की सुविधा तो मिल ही नहीं पाती, उसके पास इतना पैसा नहीं बचता कि वह अपने आप अपनी शिक्षा तथा अपने मनोरंजन आदि की उचित व्यवस्था कर सके। उसकी

मासिक आय का एक बड़ा भाग ऋण चुकाने तथा घर के आने-जाने में चला जाता है, उसका कुल पैसा मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा आदि में खर्च हो जाता है। इस प्रकार के व्यय को देखते हुये तथा उसकी आय इतनी कम होते हुये श्रमिकों से यह आशा करना कि वे अपने रहन-सहन का अच्छा स्तर रखेंगे व्यर्थ है। ऐसी स्थिति में यदि उनकी कार्य कुशलता कम है तो फिर इसमें आश्चर्य ही क्या।

(४) काम करने के अधिक घण्टे—श्रमिक की कार्य-कुशलता पर उसके कारखाने के वातावरण का भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, प्रायः श्रमिकों को ८-१० घंटे लगातार काम करना पड़ता है। चाहे उस समय भीषण गर्मी पड़ रही हो या कठोर सर्दी उसे अपने कामसे अवकाश मिलना अत्यन्त कठिन होता है, फिर उस पर मैनेजर, जिसमें साधारणतया सहानुभूति लेशमात्र को भी नहीं होती, का व्यवहार भी ऐसा नहीं होता जिससे उसे कुछ सन्तोष या शान्ति प्राप्त हो। ऐसे वातावरण में यदि वह थोड़े समय के लिये बीच में विश्राम आदि करने लग जाता है, और अपना थोड़ा समय इसमें लगा देता है तो उसमें कोई विशेष हानि नहीं, उसको तो काफी विश्राम की आवश्यकता होती है। यदि यह कहा जाय कि श्रमिक के इस प्रकार ढीले-ढाले ढंग से काम करने का प्रभाव उसकी कार्य-कुशलता पर सबसे अधिक पड़ता है, तो यह अत्युक्ति ही होगी।

(५) निवास स्थान की असुविधा—औद्योगिक अकुशलता पर श्रमिकों के निवास-स्थान का भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। नगरों में जहाँ पर कि अधिकांश कल-कारखाने हैं, वहाँ श्रमिकों के रहने की बड़ी असुविधा है। उनको रहने के लिये जो स्थान मिलता है या जैसे स्थानों में वे रहते हैं, वे मकान गन्दे एवं रोग ग्रस्त होते हैं। उनमें न भलीभाँति प्रकाश पहुँचता है और न स्वच्छ वायु। ये मकान जाड़े के दिनों में ठंढे, गर्मी में काफी गरम और बरसात में बिल्कुल नम रहा करते हैं। इस प्रकार ऐसे निवास स्थानों का इन श्रमिकों के स्वास्थ्य पर यदि बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा तो और क्या ?

इधर थोड़े दिनों से हमारे उद्योगपतियों ने इस ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया है। कलकत्ते की बहुत सी जूट की मिलें तथा बम्बई की कपास की मिलों में काम करने वाले श्रमिकों के निवास-स्थान की अच्छी व्यवस्था है। परन्तु इनमें काम करने वाले अधिकांश श्रमिकों की निवास सम्बन्धी स्थिति तो अब भी सन्तोषजनक नहीं है। शकर की मिलों में काम करने वाले श्रमिकों को मिलों के क्वार्टरों में खुले स्थानों में रहने की सुविधा प्राप्त हो गई। इस प्रकार अन्य उद्योग-धन्धों के श्रमिकों की निवास सम्बन्धी स्थिति कुछ सुधर गई है। झरिया तथा बिहार की कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों को रहने के लिए अच्छे स्थान मिले हैं। नागपुर की एम्प्रेस मिल तथा जमशेदपुर के कारखानों के श्रमिकों के लिये सुन्दर निवास-स्थानों की व्यवस्था की गई है। थोड़े दिनों पूर्व बम्बई सरकार ने श्रमिकों के रहने के लिये मकानों को बनवाने की एक बड़ी योजना कार्यान्वित की थी। इस योजना का एक बड़ा भाग पूरा हो चुका है।

अन्य राज्यों की सरकारें भी इस समस्या को हल करने के लिए प्रयत्नशील हैं। अभी हाल में केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए अगले दस साल में दस लाख मकान बनाने की योजना बनाई है। इसमें कम से कम तीन सौ करोड़ रुपये खर्च होने का अनुमान है। बनने वाले मकानों में से सवा सात लाख तो कल कारखानों में काम करने वालों के लिये होंगे, लगभग दो लाख मकान चाय और कहवा आदि की काश्त का काम करने वालों के लिये और पौन लाख बन्दरगाहों आदि में काम करने वालों के लिये होंगे। मालिक लोग इन क्वार्टरों का जो किराया देंगे, वह कुल लागत का तीन प्रतिशत से कम न होगा। ये मकान श्रमिकों को किराये दिये जायंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि निकट भविष्य में श्रमिकों की निवास-सम्बन्धी कमी दूर हो जायगी।

परन्तु अभी जो स्थिति है उससे यह आशा करना कि ऐसे घरों में रह कर उनका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा, उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि होगी, व्यर्थ है।

(६) **श्रमिकों की अनुपस्थिति**—भारत के कारखानों में काम करने वाले श्रमिक साल के कितने महीनों में काम पर नहीं जाते। इसका कारखानों के कार्यों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इधर मिल मालिकों का ऐसा कहना है कि जब से मजदूरों की मजदूरी, उनके भत्ते आदि में वृद्धि हुई तब से उनकी अनुपस्थिति भी बढ़ गई है। मजदूर लोग प्रायः मार्च से लेकर जून तक कारखानों में अनुपस्थित रहते हैं। इसका कारण यह है इन महीनों में वर्षा होती है और श्रमिक जो कि अधिकतया गाँवों के होते हैं अपने खेतों को जोतने-बोने के लिये अपने-अपने घर चले जाते हैं, दूसरे इन महीनों में शादी-ब्याह आदि भी बहुत होते हैं। मजदूरों की इस अनुपस्थिति का उनकी कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव तो पड़ता ही है, कारखाने के उत्पादन पर भी इसका गहरा असर होता है।

(७) **श्रमिकों का ऋण**—भारत के उद्योग-धंधों में काम करने वाले अधिकांश श्रमिक अपने जीवन का अधिकांश भाग ऋणी के रूप में ही व्यतीत करते हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अधिकांश औद्योगिक केन्द्रों के श्रमिकों के दो तिहाई ऋण में ग्रस्त रहते हैं। श्रमिक प्रारम्भ में आवश्यकता पड़ने पर जब एक बार ऋण ले लेता है तो फिर दुबारा उससे उसका मुक्त होना मुश्किल हो जाता है। उनके इस ऋण ग्रस्त रहने के कई कारण हैं, इनमें से अधिकांश कारण वे ही हैं जो हमारे कृषकों के ऋणी होने के, और जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। उनके इस ऋण-ग्रस्त होने का प्रभाव भी उनकी कार्यकुशलता पर बड़ा बुरा पड़ता है। इधर भारत सरकार श्रमिकों को इस ऋण से मुक्त करने के लिये प्रयत्न कर रही है।

ऊपर हमने श्रमिकों की, श्रम की कुशलता के कम होने के कुछ कारणों का उल्लेख किया। इनके अतिरिक्त कुछ और भी बातें ऐसी हैं जिनका श्रम की कुशलता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। देश में कितने ही कारखाने ऐसे हैं जहाँ की मशीनें अच्छी नहीं हैं। ऐसी मशीनों की सहायता से अच्छे उत्पादन की आशा करना दुराशा मात्र है, दूसरे कितने ही कारखाने ऐसे हैं जो जिन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं उसके लिये अच्छे माल का प्रयोग नहीं करते, तीसरे कुछ कारखानों का प्रबन्ध भी अच्छा नहीं होता, वहाँ प्रायः अनुभवहीन या कम अनुभवी प्रबन्धक रहते हैं। इन सभी बातों का श्रम की कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

इधर हाल में यह बात जोर पकड़ती जा रही है कि भारतीय औद्योगिक श्रमिक की कार्यकुशलता में दिनोंदिन ह्रास होता चला जा रहा है। टाटा आयरन और स्टील कम्पनी के अध्यक्ष ने कम्पनी की वार्षिक सभा में (१९४९ में) कहा था कि १९३९-४० में प्रत्येक श्रमिक औसतन २४·३६ टन फौलाद उत्पादित करता था जब कि आज (१९४८-४९) में प्रत्येक श्रमिक द्वारा फौलाद का औसत उत्पादन केवल १६·३० टन रह गया है। उनका यह कथन था कि कुछ विभागों में श्रमिकगण जितना कार्य कर सकते हैं उसका आधे से भी कम काम करते हैं।

इन वर्षों में औद्योगिक कुशलता में इतना ह्रास क्यों हुआ है, इसके मुख्य कारण निम्न-लिखित हैं :—

(१) श्रमिकों की मजदूरी सम्बन्धी शर्तों की कड़ाई।

(२) श्रम-आन्दोलन की बढ़ती हुई शक्ति तथा मिल मालिकों आदि का श्रमिकों के ऊपर होने वाले नियन्त्रण में शिथिलता।

(३) पहले से अधिक मजदूरी पाने के कारण श्रमिकों की आरामतलबी में वृद्धि।

(४) श्रमिकों का पूर्वानुगत प्रबन्ध से असन्तोष। तथा

(५) श्रमिकों के अनुशासन में ढिलाई, आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इधर श्रमिकों की कुशलता में काफी ह्रास हो गया है। वास्तव में यह बात राष्ट्र और समाज दोनों के लिये अहितकर है। जब हमारी सरकार इस ओर प्रयत्नशील

है कि श्रमिकों को दिनोंदिन अच्छा पारिश्रमिक मिले तो उधर श्रमिकों का भी यह धर्म हो जाता है कि वे अपने कर्तव्य का उचित रूप से पालन करें और औद्योगिक उत्पादन में अपना अधिक से अधिक सहयोग प्रदान करें। इसी में उनका तथा देश का कल्याण है, यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो इसका परिणाम देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा बुरा पड़ेगा।

दूसरे श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि करने के लिये हमें श्रमिकों के विकास की एक अच्छी योजना बनानी होगी, उनके उत्थान के लिये हमें काफी प्रयत्न करना होगा। उनके लिये हमें उचित औद्योगिक तथा साधारण शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी, एक उचित सीमा तक उनके वेतन या पारिश्रमिक में भी वृद्धि करनी होगी, उनके काम के घंटों में भी कुछ कमी करनी होगी, उनके निवास स्थान का भी उचित प्रबन्ध करना होगा। जब तक श्रमिक का यह भय दूर नहीं हो जाता कि उसे काम से कभी हटाया नहीं जायगा, या वहीं दूसरी जगह उसे सरलता से काम मिल जायगा तब तक उसकी कुशलता में कोई अच्छी वृद्धि नहीं हो सकती। और जब तक श्रमिकों में यह भावना बनी रहेगी कि वे दूसरों के लिये कार्य कर रहे हैं तब तक उनकी कुशलता पूर्णरूप से आगे नहीं बढ़ सकेगी, जब तक श्रमिक कम काम कर अधिक से अधिक पैदा करने की भावना को नहीं त्यागता तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी कुशलता में वृद्धि करना, असम्व नहीं तो कठिन अवश्य है। आवश्यकता इस बात की है कि हम श्रमिकों को इस विचार से पूर्णरूप से अवगत करा दें कि जो कुछ भी कार्य वे कर रहे हैं उससे समाज की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति होती है, वह ही सच्चा समाज धर्म है, उसी में उनका तथा उनके समाज का कल्याण निहित है।

श्रम-हितकारी-कार्य––श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि करने के लिए हमें उनके सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देना होगा। श्रमिकों के हित के लिये हमें उन सभी बातों की ओर ध्यान होगा जिन पर उनका उत्थान अवलम्बित है। उनके स्वास्थ्य, उनकी सुरक्षा, उनकी शिक्षा उनके निवास-स्थान की उचित व्यवस्था की ओर हमें काफी कार्य करना होगा।

हर्ष की बात है कि इधर हमारी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें श्रम-जन-हितकारी कार्यों के लिये क्रियात्मक कदम उठा रही है। इसके पूर्व इस क्षेत्र में बम्बई समाज सेवा लीग, भारत सेवा समिति, सेवा सदन समिति इत्यादि ने काफी कार्य किया था। अखिल भारतीय श्रम-संघ ने भी इस दिशा में कुछ कार्य किया। इन सब के प्रयत्नों के फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् केन्द्रीय सरकार ने श्रम हितकारी कार्यों की ओर अपना ध्यान देना शुरू किया। सरकारी आर्डीनेन्स तथा एम्यूनिशन फैक्टरियों में श्रम-हितकारी योजनाओं को कार्यान्वित किया गया। इन योजनाओं का उद्देश्य कर्मचारियों का नैतिक विकास था। इसके लिए सरकार की ओर से श्रम-हितकारी कोष की स्थापना की गई थी। १९४८-४९ में इन कोषों के लिये सरकार ने एक लाख रुपए स्वीकृत किए थे।

आजकल राज्य की सरकारें इस दिशा में काफी अच्छा कार्य कर रही हैं। बम्बई सरकार अपने राज्य के अन्दर कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये ५० श्रम-हितकारी केन्द्रों को चला रही है। इसकी देख-रेख के लिये सरकार ने एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की है। इन केन्द्रों में श्रमिकों के खेल कूद के लिये तथा उनके मनोरंजन के लिये काफी सुविधाएँ प्राप्त हैं। प्रत्येक केन्द्र में एक व्यायामशाला (जिमनेजियम) तथा पुरुषों व स्त्रियों के लिये अलग-अलग सुन्दर स्नानागार की व्यवस्था है। श्रमिकों के बच्चों के लिये भी खेलने आदि की सुविधा है। ये श्रम-हितकारी केन्द्रों आदि के कार्यक्रमों की भी व्यवस्था करते हैं। ये बच्चों के विकास का भी यथेष्ट ध्यान रखते हैं। इनके बीमार तथा कमजोर बच्चों को व उनकी माताओं को दूध बाँटा जाता है। बिहार सरकार ने भी श्रम-हितकारी कार्यों के लिये कटिहार तथा जमशेदपुर में दो केन्द्र खोले हैं। इस राज्य के कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों के हित के लिये एक महिला अधिकारिणी नियुक्त की गई

है। पश्चिमी बंगाल में भी ऐसे श्रम-हितकारी केन्द्र खोले गए हैं। इन केन्द्रों के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) श्रमिकों के मनोरंजन का प्रबन्ध करना।

(२) बालकों तथा प्रौढ़ों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधा देना।

(३) श्रम सम्बन्धी समस्याओं के विषय में कर्मचारियों को उचित शिक्षा देना।

मध्य प्रदेश की सरकार भी श्रमिकों के विकास के लिए प्रयत्न कर रही है। मध्य भारत, सौराष्ट्र, त्रावंकोर-कोचीन, हैदराबाद तथा मद्रास राज्यों ने भी श्रम-हितकारी कार्यों के लिये कुछ रकम स्वीकृत की है।

यह तो रही राज्यों या सरकारों की बात, उधर उदार उद्योगपति स्वयं इस दिशा में अच्छा कार्य कर रहे हैं। 'फैक्टरी ला' के अनुसार श्रमिकों के लिए इन्हीं कैन्टीन आदि खोलने का अधिकार प्राप्त है। श्रमिकों के लिए राज्य की ओर से बीमे की योजना बनाई जा रही है, इस योजना के कार्यान्वित हो जाने से श्रमिकों को अपनी चिकित्सा आदि के लिए विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। आजकल बम्बई की प्रायः प्रत्येक सूती मिलों में एक-एक चिकित्सालय है। कुछ स्थानों में मजदूरों के लिए अनाज की सस्ती दुकानें तथा कैन्टीन हैं, कुछ मिलों की ओर से श्रमिकों के लिए सस्ते भोजनालयों का भी प्रबन्ध हैं। सन् १९४८-४९ में ५३ मिलों ने सहकारी समितियों की स्थापना की थी, जिसमें लगभग ७६,००० सदस्य थे। चालित मिलों ने श्रमिकों की नौकरी समाप्त हो जाने पर उनके भत्ते की व्यवस्था की थी। अहमदाबाद की साधारणतया प्रत्येक मिल में एक चिकित्सालय है जिसका व्यय भार स्वयं मिलें सम्भालती हैं। कुछ मिलें अपने श्रमिकों के बच्चों के लिए फल, दूध, काड लिवर आयल आदि वितरण करती हैं। कुछ मिलें अपने कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए किंडरगार्टन तथा मान्टसरी पद्धति की शिक्षा की व्यवस्था कर रही हैं। नागपुर की एम्प्रेस मिल ने श्रमिकों के हित के लिए काफी अच्छी व्यवस्था की है। उनकी चिकित्सा सम्बन्धी व्यवस्था काफी सन्तोषजनक है। उनके यहाँ स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए अलग-अलग चिकित्सालय हैं। यहाँ के कर्मचारियों में सहकारिता का बड़ा जोर है। १९४७-४८ में यहाँ की सहकारी समितियों में लगभग ६,००० सदस्य थे। ये लोग 'एम्प्रेस मिल्स पत्रिका' नाम का एक समाचार पत्र भी प्रकाशित करते हैं इस पत्रिका में स्वास्थ्य, स्वच्छता आदि विषयों के लेख रहते हैं। देहली क्लाथ तथा जनरल मिल ने श्रमिकों के लिए ट्रस्ट खोला है जिसका कि एक अलग कोष रहता है। प्रतिवर्ष इस कोष में कुछ रकम जमा की जाती है। इस कोष द्वारा वृद्धावस्था में पेंशन, प्राविडेन्ट फंड, तथा लड़कियों की शादी के लिए भत्ते आदि में सहायता मिलती है। जब श्रमिकों को कोई विशेष आवश्यकता पड़ती है तो उन्हें इस कोष द्वारा आर्थिक सहायता मिलती है। इन कर्मचारियों के लिए एक अलग से बैंक भी है, जिसमें रुपया जमा करने वालों की संख्या लगभग चार हजार है। इन लोगों ने अपने श्रमिकों के लिए सस्ते बीमे की भी व्यवस्था की है। यहाँ पर एक सुन्दर औषधालय भी है जिसमें एक्सरे, अल्ट्रा वायलेट आदि चिकित्सा यंत्रों की व्यवस्था है। यह ट्रस्ट अपने कर्मचारियों के बालकों की शिक्षा की व्यवस्था निःशुल्क करता है। ये लोग एक साप्ताहिक गजट भी प्रकाशित करते हैं।

मद्रास की बकिंघम तथा कर्नाटक मिलों ने भी श्रमिकों के लिये अच्छा कार्य किया है। उनके यहाँ भी एक बड़ा सुन्दर चिकित्सालय है। वहाँ पर स्त्रियों को स्वच्छता, बच्चों के पालन-पोषण आदि की शिक्षा देने के लिये अच्छी व्यवस्था है। स्त्रियों को सिलाई सिखलाने का भी प्रबन्ध है। कर्मचारियों की कन्याओं को गृह-विज्ञान हाईजीन, शिल्पकला आदि की अच्छी शिक्षा दी जाती है। यहाँ पर मिल की एक अलग सहकारी समिति भी है। बंगलौर की ऊन व रेशम की मिलों में तथा मदुरा की मिलों में इसी प्रकार का कार्य किया जा रहा है।

जहाँ तक कर्मचारी या श्रम संघों का सम्बन्ध है, उन्होंने भी इस दिशा में अच्छा कार्य किया है। भारतीय जूट मिल संघ ने श्रम-हितकारी कार्यों का अच्छा संगठन किया है। इसने कई ऐसे केन्द्र खोले हैं जो जनहितकारी सम्बन्धी साधारण कार्यों को करते हैं। यह संघ अन्तर्राष्ट्रीय मिल टूर्नामेन्ट की व्यवस्था करता है। प्रत्येक केन्द्र में नाट्य समितियों का संगठन रहता है। वाचनालय में समाचार पत्रों के अतिरिक्त रेडियो की भी व्यवस्था होती है। स्त्रियों के विकास के लिए एक अलग ही समिति है। छूत की बीमारियों से रक्षा करने के लिए टीके आदि की उचित व्यवस्था रहती है। इस प्रकार के श्रम-हितकारी कार्य अन्य उद्योग-धन्धों में भी अपनाए हैं। कागज, सीमेन्ट, खान आदि के उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों को भी ऐसी सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। चाय आदि के बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए इन धन्धों के उद्योगपतियों ने अच्छा कार्य किया है। उन्होंने श्रमिकों के लिए बगीचे, चिकित्सालय, तथा औषधालय आदि की अच्छी व्यवस्था की है। रेलवे वालों के लिए भी सुन्दर चिकित्सालयों आदि का प्रबन्ध है। रेलवे कर्मचारियों के बालकों की शिक्षा की भी उचित व्यवस्था है। कर्मचारियों को राशन आदि की भी अच्छी सुविधा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न उद्योगों ने अपने-अपने कर्मचारियों के हित के लिए अनेक प्रयत्न किए हैं जिनके परिणाम-स्वरूप श्रमिकों की स्थिति दिनोंदिन अच्छी होती जा रही है। आशा है निकट भविष्य में हमारे श्रमिक और भी अच्छा जीवन व्यतीत करते हुए राष्ट्र के निर्माण कार्य में योग-दान देंगे।

औद्योगिक शिक्षा—जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि भारत में औद्योगिक शिक्षा का बड़ा अभाव है। इसके कारण श्रमिकों की अकुशलता में भी काफी वृद्धि हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम औद्योगिक शिक्षा की उचित व्यवस्था करें तो हमारे श्रम की कुशलता में काफी वृद्धि हो जायगी। आजकल भारतीयों के लिए औद्योगिक शिक्षा की जो व्यवस्था है, उसे सन्तोष-जनक नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक राज्य के औद्योगिक विभाग एक औद्योगिक विद्यालय तथा कुछ विशेष प्रकार की औद्योगिक संस्थाओं का संचालन करते हैं। इसके अतिरिक्त श्रम-विभाग भी औद्योगिक शिक्षा के लिए काफी प्रयत्न कर रहा है। वह इसके लिए तीन योजनाएँ कार्यान्वित कर रहा है—(१) पहले से जो व्यक्ति नौकरी में हैं उनके लिए विशेष औद्योगिक शिक्षा; (२) पाकिस्तान से आए हुए विस्था-पितों के लिए औद्योगिक शिक्षा; (३) सरकारी शैक्षणिक केन्द्रों के शिक्षकों के लिए विशेष शिक्षा। इसके अलावा इंजीनियरिंग भवन-निर्माण तथा कुटीर-उद्योगों आदि के लियेविशेष शिक्षा। इन शिक्षण-केन्द्रों से १९५० की जनवरी तक २५,००० से भी अधिक शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्तकर निकल चुके हैं। इन केन्द्रों में शिक्षा काफी अच्छे ढंग से दी जाती है। भारत सरकार के अन्य विभाग जैसे शिक्षा-विभाग आदि औद्योगिक शिक्षा की अलग-अलग योजनाएं कार्याविन्त कर रहे हैं।

अभी देश में उच्च औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाई है, इसके लिए हमें अपने अच्छे कारीगरों को विदेशों में भेजना पड़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि राज्य तथा उद्योग-धन्धों के सम्मिलित प्रयत्न से विशिष्ट औद्योगिक संस्थाएँ खोली जायँ। इंडियन जूट मिल्स असोशि-येशन कलकत्ते में एक टेकनोलोजिकल इन्स्टीच्यूट खोला है। अन्य उद्योगों को भी इसका अनुसरण करना चाहिए। औद्योगिक शिक्षा के विशेषज्ञों तथा इस क्षेत्र में कार्य करने वालों, अनुसन्धान करने वालों का एक अलग ही वर्ग होना चाहिए जिनका कि अपना अलग संगठन हो।

भारत में श्रम सम्बन्धी कानून—श्रम सम्बन्धी कानूनों का महत्व जितना अन्य देशों में माना जाता है, उतना भारत में नहीं। आधुनिक उद्योग-धन्धों के आगमन के कुछ वर्षों तक श्रम सम्बन्धी कानूनों का निर्माण नहीं हुआ, इन वर्षों में श्रमिक स्वच्छन्दतापूर्वक काम करते और उनके स्वामी उनसे मनमाना काम लेते थे, उन्हें काफी समय तक परिश्रम करना पड़ता था, ऐसे समय में

स्त्रियों और बालकों की दशा और भी बुरी थी। उनके साथ जो व्यवहार किया जाता था, वह मानवता से कहीं दूर था। कहीं-कहीं तो उनके साथ ऐसा व्यवहार किया जाता था जो पशुओं के साथ भी नहीं किया जा सकता। यदि किसी कारखाने में किसी श्रमिक को काम करते समय भयानक आघात पहुँच जाता, उसे चोट आ जाती, उसका कोई अंग कट जाता तो उसे किसी प्रकार का मुआवजा इत्यादि नहीं दिया जाता, वह सदा के लिए बेकार हो जाता था। इसी प्रकार अनेक ऐसी बातें थीं, जिनके कारण श्रमिक को अनेक परेशानियाँ उठानी पड़ती थीं। इन्हीं सब परेशानियों को देखकर, श्रमिकों की दुर्दशा से परिचित होकर उनके संकट को निवारण करने के लिए सरकार ने समय-समय पर कानून बनाए। हम यहाँ पर इन्हीं कानूनों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

कारखाना कानून (फैक्टरी एक्ट) सन् १८८१—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय श्रमिकों की इस हीनावस्था को देखकर कितने ही सहृदय भारतीयों का हृदय पिघल गया। उधर लंकाशायर के भी उद्योग-पतियों ने सरकार को बाध्य किया कि वह भारतीय श्रमिकों के लिए कानून बनायें। इसका कारण और कुछ न होकर केवल यही था कि वहाँ के उत्पादकों को यह बात बहुत खल रही थी कि भारतीय उद्योगपति श्रमिकों से नाजायज लाभ उठा रहे हैं और मनमाना पैसा पैदा कर रहे हैं जब कि हम लोग ऐसा नहीं कर पाते। इन सब कारणों से १८७५ में एक फैक्टरी कमीशन नियुक्त किया गया, इस कमीशन के प्रतिवेदन के फलस्वरूप १८८१ में पहला फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इस कानून के अनुसार कारखाने में काम करने वाले बच्चों को तो लाभ पहुँचा किन्तु इससे प्रौढ़ों को कोई विशेष सहायता नहीं मिली, और उनकी वही दशा बनी रही जो पहले थी। इस कानून के अनुसार कोई भी सात वर्ष से कम आयु का बालक कारखानों में काम करने के लिए नहीं रखा जा सकता था, दूसरे उनसे नौ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। महीने में चार दिन छुट्टी के लिए भी प्रबन्ध किया गया तथा इसके अतिरिक्त समय-समय पर कुछ और अवकाश की व्यवस्था की गई। इस कानून के अनुसार न तो यह व्यवस्था की गई कि खतरनाक मशीनों के बाँधने का प्रयत्न किया गया और न इस बात का ही प्रयत्न किया गया कि मिलों में होनेवाली दुर्घटनाओं की रिपोट की जाय। परन्तु इस कानून को उचित रूप से पालन नहीं किया गया।

कारखाना कानून (१८९१)—हम ऊपर कह चुके हैं कि पहले कारखाना कानून में श्रमिकों की बहुत-सी समस्याओं के हल करने की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया, उसमें कई दोष भी थे, और उसके पालन करवाने का भी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। इस कानून में प्रौढ़ श्रमिकों की दुरावस्था को दूर करने का जरा भी ध्यान नहीं दिया गया। उस समय प्रौढ़ श्रमिकों को रविवार के दिन भी प्रातःकाल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक कार्य करना पड़ता था, अन्य छुट्टियों के दिन भी श्रमिकों को अवकाश न मिलता, उस दिन उनसे मशीनों आदि के साफ कराने का काम लिया जाता था। इन श्रमिकों को भोजन करने तक का अवकाश भी न मिल पाता। इस प्रकार इन दोषों को दूर कर श्रमिकों की दशा को सुधारने के लिए १८९१ में दूसरा कारखाना कानून पास किया गया।

इस कानून के अनुसार कारखानों में नौ वर्ष से कम के बालक भर्ती नहीं किए जा सकते थे। नौ से लेकर चौदह वर्ष के बालकों के काम के घंटे घटाकर सात कर दिये गये। आठ बजे रात से लेकर सुबह पाँच बजे तक कारखानों में कोई भी स्त्री काम नहीं कर सकती थी। स्त्रियों के काम करने के घंटे अधिक से अधिक ग्यारह रखे गए जिसमें डेढ़ घंटे का विश्राम अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त कानून में यह व्यवस्था की गई कि कम से कम आधे घंटे का विश्राम श्रमिक लोग अवश्य लें तथा सप्ताह में उन्हें एक दिन की छुट्टी जरूर मिले। सन् १८८१ का कानून केवल उन्हीं कारखानों में लागू हो सकता था जिनमें कि सौ व्यक्ति काम करते थे, इस कानून के अनुसार यह व्यवस्था कर दी गई कि

जहाँ तक कर्मचारी या श्रम संघों का सम्बन्ध है, उन्होंने भी इस दिशा में अच्छा कार्य किया है। भारतीय जूट मिल संघ ने श्रम -हितकारी कार्यों का अच्छा संगठन किया है। इसने कई ऐसे केन्द्र खोले हैं जो जनहितकारी सम्बन्धी साधारण कार्यों को करते हैं। यह संघ अन्तर्राष्ट्रीय मिल टूर्नामेन्ट की व्यवस्था करता है। प्रत्येक केन्द्र में नाट्य समितियों का संगठन रहता है। वाचनालय में समाचार पत्रों के अतिरिक्त रेडियो की भी व्यवस्था होती है। स्त्रियों के विकास के लिए एक अलग ही समिति है। छूत की बीमारियों से रक्षा करने के लिए टीके आदि की उचित व्यवस्था रहती है। इस प्रकार के श्रम-हितकारी कार्य अन्य उद्योग-धन्धों में भी अपनाए हैं। कागज, सीमेन्ट, खान आदि के उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों को भी ऐसी सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। चाय आदि के बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए इन धन्धों के उद्योगपतियों ने अच्छा कार्य किया है। उन्होंने श्रमिकों के लिए बगीचे, चिकित्सालय, तथा औषधालय आदि की अच्छी व्यवस्था की है। रेलवे वालों के लिए भी सुन्दर चिकित्सालयों आदि का प्रबन्ध है। रेलवे कर्मचारियों के बालकों की शिक्षा की भी उचित व्यवस्था है। कर्मचारियों को राशन आदि की भी अच्छी सुविधा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न उद्योगों ने अपने-अपने कर्मचारियों के हित के लिए अनेक प्रयत्न किए हैं जिनके परिणाम-स्वरूप श्रमिकों की स्थिति दिनोंदिन अच्छी होती जा रही है। आशा है निकट भविष्य में हमारे श्रमिक और भी अच्छा जीवन व्यतीत करते हुए राष्ट्र के निर्माण कार्य में योग-दान देंगे।

औद्योगिक शिक्षा—जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि भारत में औद्योगिक शिक्षा का बड़ा अभाव है। इसके कारण श्रमिकों की अकुशलता में भी काफी वृद्धि हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम औद्योगिक शिक्षा की उचित व्यवस्था करें तो हमारे श्रम की कुशलता में काफी वृद्धि हो जायगी। आजकल भारतीयों के लिए औद्योगिक शिक्षा की जो व्यवस्था है, उसे सन्तोष-जनक नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक राज्य के औद्योगिक विभाग एक औद्योगिक विद्यालय तथा कुछ विशेष प्रकार की औद्योगिक संस्थाओं का संचालन करते हैं। इसके अतिरिक्त श्रम-विभाग भी औद्योगिक शिक्षा के लिए काफी प्रयत्न कर रहा है। वह इसके लिए तीन योजनाएँ कार्यान्वित कर रहा है —(१) पहले से जो व्यक्ति नौकरी में हैं उनके लिए विशेष औद्योगिक शिक्षा; (२) पाकिस्तान से आए हुए विस्था-पितों के लिए औद्योगिक शिक्षा; (३) सरकारी शैक्षणिक केन्द्रों के शिक्षकों के लिए विशेष शिक्षा। इसके अलावा इंजीनियरिंग भवन-निर्माण तथा कुटीर-उद्योगों आदि के लियेविशेष शिक्षा। इन शिक्षण-केन्द्रों से १६५० की जनवरी तक २५,००० से भी अधिक शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्तकर निकल चुके हैं। इन केन्द्रों में शिक्षा काफी अच्छे ढंग से दी जाती है। भारत सरकार के अन्य विभाग जैसे शिक्षा-विभाग आदि औद्योगिक शिक्षा की अलग-अलग योजनाएं कार्यान्वित कर रहे हैं।

अभी देश में उच्च औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाई है, इसके लिए हमें अपने अच्छे कारीगरों को विदेशों में भेजना पड़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि राज्य तथा उद्योग-धन्धों के सम्मिलित प्रयत्न से विशिष्ट औद्योगिक संस्थाएँ खोली जायँ। इंडियन जूट मिल्स असोशि-येशन कलकत्ते में एक टेकनोलोजिकल इन्स्टीच्यूट खोला है। अन्य उद्योगों को भी इसका अनुसरण करना चाहिए। औद्योगिक शिक्षा के विशेषज्ञों तथा इस क्षेत्र में कार्य करने वालों, अनुसन्धान करने वालों का एक अलग ही वर्ग होना चाहिए जिनका कि अपना अलग संगठन हो।

भारत में श्रम सम्बन्धी कानून—श्रम सम्बन्धी कानूनों का महत्व जितना अन्य देशों में माना जाता है, उतना भारत में नहीं। आधुनिक उद्योग-धन्धों के आगमन के कुछ वर्षों तक श्रम सम्बन्धी कानूनों का निर्माण नहीं हुआ, इन वर्षों में श्रमिक स्वच्छन्दतापूर्वक काम करते और उनके स्वामी उनसे मनमाना काम लेते थे, उन्हें काफी समय तक परिश्रम करना पड़ता था, ऐसे समय में

स्त्रियों और बालकों की दशा और भी बुरी थी। उनके साथ जो व्यवहार किया जाता था, वह मानवता से कहीं दूर था। कहीं-कहीं तो उनके साथ ऐसा व्यवहार किया जाता था जो पशुओं के साथ भी नहीं किया जा सकता। यदि किसी कारखाने में किसी श्रमिक को काम करते समय भयानक आघात पहुँच जाता, उसे चोट आ जाती, उसका कोई अंग कट जाता तो उसे किसी प्रकार का मुआवजा इत्यादि नहीं दिया जाता, वह सदा के लिए बेकार हो जाता था। इसी प्रकार अनेक ऐसी बातें थीं, जिनके कारण श्रमिक को अनेक परेशानियाँ उठानी पड़ती थीं। इन्हीं सब परेशानियों को देखकर, श्रमिकों की दुर्दशा से परिचित होकर उनके संकट को निवारण करने के लिए सरकार ने समय-समय पर कानून बनाए। हम यहाँ पर इन्हीं कानूनों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

कारखाना कानून (फैक्टरी एक्ट) सन् १८८१—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय श्रमिकों की इस हीनावस्था को देखकर कितने ही सहृदय भारतीयों का हृदय पिघल गया। उधर लंकाशायर के भी उद्योग-पतियों ने सरकार को बाध्य किया कि वह भारतीय श्रमिकों के लिए कानून बनायें। इसका कारण और कुछ न होकर केवल यही था कि वहाँ के उत्पादकों को यह बात बहुत खल रही थी कि भारतीय उद्योगपति श्रमिकों से नाजायज लाभ उठा रहे हैं और मनमाना पैसा पैदा कर रहे हैं जब कि हम लोग ऐसा नहीं कर पाते। इन सब कारणों से १८७५ में एक फैक्टरी कमीशन नियुक्त किया गया, इस कमीशन के प्रतिवेदन के फलस्वरूप १८८१ में पहला फैक्टरी एक्ट पास हुआ। इस कानून के अनुसार कारखाने में काम करने वाले बच्चों को तो लाभ पहुँचा किन्तु इससे प्रौढ़ों को कोई विशेष सहायता नहीं मिली, और उनकी वही दशा बनी रही जो पहले थी। इस कानून के अनुसार कोई भी सात वर्ष से कम आयु का बालक कारखानों में काम करने के लिए नहीं रखा जा सकता था, दूसरे उनसे नौ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। महीने में चार दिन छुट्टी के लिए भी प्रबन्ध किया गया तथा इसके अतिरिक्त समय-समय पर कुछ और अवकाश की व्यवस्था की गई। इस कानून के अनुसार न तो यह व्यवस्था की गई कि खतरनाक मशीनों के बाँधने का प्रयत्न किया गया और न इस बात का ही प्रयत्न किया गया कि मिलों में होनेवाली दुर्घटनाओं की रिपोट की जाय। परन्तु इस कानून को उचित रूप से पालन नहीं किया गया।

कारखाना कानून (१८९१)—हम ऊपर कह चुके हैं कि पहले कारखाना कानून में श्रमिकों की बहुत-सी समस्याओं के हल करने की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया, उसमें कई दोष भी थे, और उसके पालन करवाने का भी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। इस कानून में प्रौढ़ श्रमिकों की दुरावस्था को दूर करने का जरा भी ध्यान नहीं दिया गया। उस समय प्रौढ़ श्रमिकों को रविवार के दिन भी प्रातःकाल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक कार्य करना पड़ता था, अन्य छुट्टियों के दिन भी श्रमिकों को अवकाश न मिलता, उस दिन उनसे मशीनों आदि के साफ कराने का काम लिया जाता था। इन श्रमिकों को भोजन करने तक का अवकाश भी न मिल पाता। इस प्रकार इन दोषों को दूर कर श्रमिकों की दशा को सुधारने के लिए १८९१ में दूसरा कारखाना कानून पास किया गया।

इस कानून के अनुसार कारखानों में नौ वर्ष से कम के बालक भर्ती नहीं किए जा सकते थे। नौ से लेकर चौदह वर्ष के बालकों के काम के घंटे घटाकर सात कर दिये गये। आठ बजे रात से लेकर सुबह पाँच बजे तक कारखानों में कोई भी स्त्री काम नहीं कर सकती थी। स्त्रियों के काम करने के घंटे अधिक से अधिक ग्यारह रखे गए जिसमें डेढ़ घंटे का विश्राम अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त कानून में यह व्यवस्था की गई कि कम से कम आधे घंटे का विश्राम श्रमिक लोग अवश्य लें तथा सप्ताह में उन्हें एक दिन की छुट्टी जरूर मिले। सन् १८८१ का कानून केवल उन्हीं कारखानों में लागू हो सकता था जिनमें कि सौ व्यक्ति काम करते थे, इस कानून के अनुसार यह व्यवस्था कर दी गई कि

५० आदमियों वाले कारखाने में यह कानून लागू हो। स्थानीय सरकारों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे २० आदमियों के कारखाने में भी इस कानून को लागू कर सकें।

कारखाना कानून (१६११)—दूसरे कारखाना कानून के पास होने के बीस वर्ष तक कारखानों सम्बन्धी कोई कानून नहीं बना। १६०६ में फ्रीयर स्मिथ समिति ने तथा १६०७ में फैक्टरी कमीशन ने कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति की जाँच-पड़ताल की। इनके सुझावों के अनुसार १६११ का कारखाना कानून पास हुआ। इस कानून की मुख्य बातें ये थीं—प्रौढ़ों के लिए अधिक से अधिक काम के बारह घंटे तथा बालकों के लिए छै घंटे; श्रमिकों की सुरक्षा तथा स्वास्थ्य आदि का विशेष ध्यान रखना; कानून के पालन आदि के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना, इसकी जाँच करना कि कानून का पालन उचित रूप से हो रहा या नहीं; जो लोग कानून का उल्लंघन करें उनके लिए दण्ड की उचित व्यवस्था।

कारखाना कानून (१६२२)—प्रथम विश्व युद्ध से श्रमिकों में जागृति की एक लहर फैल चुकी थी, वे अपनी स्थिति तथा महत्व से भली-भाँति परिचित हो गए थे, अब वे आए दिन यही माँग करते जा रहे थे कि उनके काम के घंटे घटाए जायँ। इस प्रकार श्रमिकों की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए १६२२ में कारखाना-कानून में संशोधन हुआ।

यह संशोधित कानून उन कारखानों में भी लागू होने लगा जहाँ कि केवल बीस श्रमिक ही काम करते थे। इस कानून के अनुसार बारह वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में भर्ती नहीं किया जा सकता था, दूसरे एक ही दिन दो कारखानों में श्रमिकगण कार्य नहीं कर सकते थे, बारह से लेकर पन्द्रह वर्ष तक की आयु के बच्चों के काम के छै घंटे निश्चित कर दिये गये। प्रौढ़ों के काम के घंटे प्रति सप्ताह ६० तथा प्रतिदिन ग्यारह निश्चित किए गए। औरतों को ७ बजे शाम से लेकर ५-३० बजे सुबह तक कारखानों में काम करने का अधिकार नहीं था। इसके अतिरिक्त इसमें विश्राम तथा अवकाश आदि की उन सभी बातों का समावेश था जो कि पहले कानूनों में था।

इसके पश्चात् १६२३, १६२६ तथा १६३१ के कारखाना-कानून पास हुए जिनमें थोड़ा-बहुत संशोधन होता रहा।

कारखाना कानून (१६३४)—अभी तक जितने कारखाना कानून पास हुये उनसे श्रमिकों की स्थिति कोई विशेष नहीं सुधरी, उन्हें अब भी अनेक मुसीबतों का सामना करना ही पड़ता था। १६२६ में श्रम सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिये एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन ने भारतीय श्रम सम्बन्धी समस्याओं का अच्छी तरह अध्ययन किया और तब सरकार के सन्मुख अपने सुझाव उपस्थित किए। फलतः सन् १६३४ के कारखाना कानून से कारखाने संबंधी कानूनों में काफी परिवर्त्तन हुआ। इस कानून के अनुसार १२ से लेकर १५ वर्ष तक का कोई भी बालक ५ घंटे से अधिक कार्य नहीं कर सकता था। प्रौढ़ों के लिये कार्य के अधिक से अधिक घंटे १० रखे गए। इस कानून में पहले की तरह सप्ताह में एक दिन छुट्टी की भी व्यवस्था की गई, साथ में इस बात का भी प्रबन्ध किया गया कि छै घंटे लगातार कार्य करने के पश्चात् श्रमिकों को थोड़ा सा विश्राम अवश्य मिले। मौसमी कारखानों में काम करनेवाले श्रमिकों के घंटे प्रतिदिन ग्यारह तथा प्रति सप्ताह साठ रखे गये। इस कानून के अनुसार कारखानों द्वारा श्रमिकों के आराम के लिए सभी सुविधायें प्रदान करने की व्यवस्था की गई। श्रमिकों के लिए पानी की उचित व्यवस्था, उचित निवास-स्थान, स्त्रियों तथा बच्चों के रहने के लिए उचित कमरों का प्रबन्ध आदि बातों का प्रबन्ध किया गया। इस कानून ने कारखानों के संगठन आदि पर भी प्रकाश डाला।

इसके पश्चात् १६४६ में इस कानून में संशोधन हुआ जिसके अनुसार काम के घंटों में और कमी कर दी गई।

कारखाना कानून (१६४८)—१६४८ के कारखाना कानून द्वारा १६३४ के कानून में काफी संशोधन हुआ। १६३४ के कानून के अनुसार श्रमिकों सम्बन्धी बहुत सी बातों के लिए नियम-निर्माण का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया गया था। इस कानून में अब बहुत सी आवश्यक बातें जैसे श्रमिकों के स्वास्थ्य, उनकी सुरक्षा आदि का समावेश कर दिया गया है। श्रमिकों के लिये पीने के पानी, उनके रहने के लिये उचित निवास-स्थान आदि की उचित व्यवस्था का होना आवश्यक ठहरा दिया गया है। जिस कारखाने में ढाई सौ या ढाई सौ से अधिक आदमी काम करते हैं, उसमें एक कैन्टीन का होना आवश्यक है।

कानून में इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि जिससे कारखानों को लाइसेन्स प्राप्त करना तथा रजिस्ट्री कराना अनिवार्य कर दिया गया है। किसी कारखाने के निर्माण या विस्तार के लिये पहले सरकार से आज्ञा लेना अनिवार्य है।

श्रमिकों के निश्चित घंटों से अधिक काम करने के समय को भी सीमिति कर दिया गया है। अब वेतन सहित सालाना छुट्टी के समय में भी वृद्धि कर दी गई है। प्रौढ़ श्रमिक को साल में वेतन सहित दस दिन की छुट्टी तथा बीस दिन में एक दिन की छुट्टी लेने का अधिकार दे दिया गया है।

अब मौसमी तथा अन्य कारखानों का अन्तर मिट गया है। जिन कारखानों में ५०० से अधिक श्रमिक काम करते हैं, वहाँ एक श्रम-हितकारी अधिकारी का रखना आवश्यक कर दिया गया है। सप्ताह में श्रमिकों से ४८ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। चौदह से कम आयु के बालक को कारखानों में नौकर नहीं रखा जा सकता। १४ से लेकर १५ वर्ष के बालकों के साथ बच्चों का ही व्यवहार किया जायगा। बच्चों के लिये काम के घंटे घटाकर ४½ कर दिए गये हैं।

इस कानून का उल्लंघन करने वाला कर्मचारी दण्ड का भागी होगा। यदि कोई कर्मचारी जानबूझ करके मशीन बिगाड़ देता है तो उसे कैद की सजा तक दी जा सकती है। यह कानून बिजली से चलने वाले कारखानों में जहाँ कि दस आदमी काम करते हैं वहाँ लागू होगा तथा दूसरे प्रकार के कारखानों में जहाँ २० आदमी काम करते हैं वहाँ भी यह कानून लागू होगा। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार है कि वे इस कानून को किन्हीं भी कारखानों में लागू कर सकती हैं, चाहे वहाँ इतने आदमी काम करते हों या नहीं।

खानों का कानून—खानों में काम करनेवाले श्रमिकों के लिए अलग ही कानून निर्मित हुआ। इस विषय का सबसे पहला कानून १६०१ में पास हुआ जिसमें खानों में काम करने वाले श्रमिकों के निरीक्षण तथा उनकी सुरक्षा आदि की व्यवस्था तो की गई किन्तु उनसे काम के घंटों का कुछ भी वर्णन न किया गया।

इसके पश्चात् १६२३ के कानून ने खानों में जमीन पर काम करने वाले श्रमिकों के काम के ६० घंटे प्रति सप्ताह तथा जमीन में नीचे काम करने वालों के ५४ घंटे प्रति सप्ताह निश्चित किये गए। परन्तु इस कानून में काम के दैनिक घंटों का कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया, बाद में १६२८ के कानून के अनुसार यह निश्चित कर दिया गया कि उनसे प्रतिदिन बारह घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। सन् १६३५ के कानून द्वारा भारतीय खानों सम्बन्धी कानून में काफी संशोधन किया गया। इस कानून के अनुसार खानों में काम करने वाले श्रमिक से सप्ताह में छै घंटे रोज ही कार्य लिया जा सकता था, इससे अधिक नहीं। इसके अनुसार जमीन पर काम करने वालों से दस घंटे प्रतिदिन तथा जमीन के नीचे काम करने वालों से ६ घंटे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। पन्द्रह वर्ष से कम आयु के किसी भी बालक को खानों में काम करने के लिये नहीं रखा जा सकता। जमीन के नीचे खानों में काम करने के लिए स्त्रियों को नहीं रखा जा सकता। इसके पश्चात् १६३६, १६३७, तथा १६३६ के नियमों का निर्माण हुआ जिससे श्रमिकों की सुरक्षा संबंधी

स्थिति को बड़ी सहायता मिली। खानों में काम करने वाले श्रमिकों के स्वास्थ्य आदि की उचित व्यवस्था के लिये खान समितियाँ (Mines Boards) नियुक्त कर दी गई हैं।

कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के हित के लिए एक अलग कानून पास हुआ है जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को ४ से लेकर ८ आने प्रति टन कोयले पर अतिरिक्त कर लेने का अधिकार मिल गया है। इससे होने वाली आय का कुछ भाग श्रमिकों के निवास-स्थान आदि में खर्च किया जायगा। सन् १९४८ में कोयले की खानों में काम करनेवाले श्रमिकों के प्रावीडेन्ट फन्ड के लिये एक बिल पास हुआ है। इसमें श्रमिक तथा स्वामीगण दोनों ही कुछ सहायता देते जाते हैं।

श्रम सम्बन्धी कुछ और कानून—उपरोक्त कानूनों के अतिरिक्त श्रम सम्बन्धी कुछ और भी कानून पास हुये हैं जिनका उल्लेख करना अनुचित न होगा।

मजदूरी देने के सम्बन्ध का कानून—(Payment of Wages Act 1936)-यद्यपि अभी यह कानून केवल रेलवे व कारखानों में ही लागू है, परन्तु इससे ट्रामवे, चाय के बगीचों आदि में भी लागू किया जा सकता है। इस कानून के अनुसार मजदूरी देने का अधिक से अधिक समय एक वर्ष निश्चित किया गया है। वे संस्थाएँ जहाँ पर एक हजार से अधिक आदमी काम करते हैं उन्हें सातवें दिन के समाप्त होने के पूर्व ही पारिश्रमिक दे दिया जाना चाहिये। जिन कारखानों में एक हजार से अधिक व्यक्ति काम करते हैं उन्हें दसवें दिन से पूर्व मजदूरी दे देनी चाहिये। यदि श्रमिक से कारखाने की किसी मशीन आदि का नुकसान हो जाता है, या उस पर अन्य किसी बात का अर्थ-दन्ड लगाया जाता है तो उसके पारिश्रमिक में से उसे काटा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसकी मजदूरी में से प्रावीडेन्ट फन्ड का पैसा, आदि भी काटा जा सकता है। किसी वस्तु का निर्माण करते समय जो वस्तुओं की छीज या नुकसान होता है, उसे उसकी मजदूरी में से नहीं काटा जा सकता। मजदूरी देने की अवधि में मजदूरों से दो पैसा फी रुपया से अधिक जुर्माना नहीं लिया जा सकता, अर्थ-दन्ड के रूप में प्राप्त हुआ धन श्रमिकों के हितकारी कार्यों में ही व्यय किया जायगा।

कर्मचारियों के हर्जाना का कानून (Workmen's Compensation Act) १९२३ तक यदि कोई भी श्रमिक किसी दुर्घटना में पड़ जाता और उसकी मृत्यु हो जाती तो इसके लिए मिल या कारखाने के स्वामी पर मुकदमा चल जाता और उसके लिए उस पर उचित कार्यवाई की जाती। परन्तु यह कानून केवल नाम का ही कानून था, इसका अच्छी तरह पालन नहीं होता था। इसके पश्चात् १९३३ में पहला हर्जाना (कम्पेनशेसन) सम्बन्धी कानून पास हुआ, इसके अनुसार यदि कोई भी श्रमिक किसी दुर्घटना में पड़ जाता तो मालिक को उसे पूरा हर्जाना या मुआवजा देना पड़ता। यदि किसी श्रमिक की इस प्रकार मृत्यु हो जाती तो मृतक व्यक्ति की औसत मासिक आय के हिसाब से उसका मुआवजा निश्चित किया जाता। उदाहरणार्थ यदि कोई श्रमिक दस रुपए मासिक से कम मजदूरी पाता होता तो उसका मुआवजा ५००) होता है, जिन लोगों का कोई अंग सदा के लिये भंग हो जाता तो उन्हें ७००) मिलता है, जिन लोगों को थोड़े समय के लिए किसी अंग आदि पर गहरी चोट पहुँच जाती तो उन्हें अपनी मासिक मजदूरी का ड्योढ़ा भाग मिलता है।

जब मासिक आय ५०) से लेकर ६०) के अन्दर तक की होती है तो ऐसी स्थिति में मृतक व्यक्ति का मुआवजा १,८००), सदा के लिये अपंग का २,५२०) तथा अस्थाई अपंग को १५) मासिक मिलते हैं। दो सौ से ऊपर कमाने वाले व्यक्तियों को हर्जाने की रकम इस प्रकार मिलती है मृतक को ४०००), स्थायी अपंग को ५०००) तथा अस्थायी को ३०) मासिक मिलते हैं। श्रमिकों के हितों का बलिदान न हो इसलिये एक कमिश्नर की नियुक्ति कर दी गई है, जिसे इस प्रकार की

दुर्घटनाओं की सूचना देना आवश्यक समझा जाता है। इसके साथ ही मुआवजे या क्षतिपूर्ति की रकम भी जमा कर दी जाती है।

माताओं की हित के लिए कानून (Maternity Benefit Legislation)- पुरुष श्रमिकों के लिए तो समय-समय पर कई कानून निर्मित होते रहे किन्तु स्त्रियों विशेषकर गर्भिणी आदि स्त्रियों के हित के लिए कोई कानून नहीं था। १९२४ में इस सम्बन्ध में एक विधेयक विधान सभा में उपस्थित भी किया गया किन्तु उसे अस्वीकृत कर दिया गया। इसके पाँच वर्ष पश्चात् बम्बई सरकार ने इस सम्बन्ध में कानून पास किया, १९३५ में इस कानून में काफी संशोधन हुआ। अब तो इस प्रकार के कानून प्रायः सभी राज्यों में बन गए हैं। ये कानून अब कारखानों में ही नहीं लागू होते वरन् खानों में काम करने वाली तथा चाय के बगीचों में काम करने वाली स्त्रियों के लिये भी लागू होते हैं। इन कानूनों के अनुसार नारियों को सन्तान पैदा होने के पूर्व तथा बाद में कुछ दिनों तक आवश्यक विश्राम लेना अनिवार्य कर दिया गया है। ऐसी स्त्रियों को कुछ आर्थिक सहायता देने का भी नियम बना दिया गया है।

चाय के बगीचों आदि में काम करने वाले श्रमिकों सम्बन्धी कानून—चाय आदि के बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों के लिये भी विशेष कानूनों का निर्माण हुआ है। १९०१ में आसाम के चाय के बगीचों में काम करने वालों के लिये एक कानून बनाया गया। इस कानून के अनुसार इन श्रमिकों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया, श्रमिकों के भर्ती किये जाने तथा उनसे काम लिये जाने के सम्बन्ध में विधियों का उल्लेख किया गया। पहले इन बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों के साथ दास जैसा व्यवहार किया जाता था, उनके साथ का यह व्यवहार सदैव भारतीयों की आँख में खटका करता था। १९१५ में प्रतिज्ञाबद्ध श्रमिक सिद्धान्त का अन्त कर दिया गया। शाही श्रम-कमीशन के सुझावों के अनुसार १९३२ में इस क्षेत्र में एक और कानून पास हुआ जिसके अनुसार चाय के बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों के भर्ती किए जाने के नियमों में और परिवर्तन हुआ। इसके अनुसार १६ वर्ष से कम आयु के बच्चे या लड़कियाँ जो कि अपने माता-पिता के साथ, चाय के बगीचों में काम करते रहते हैं, उन्हें जबर्दस्ती भरती नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि समय-समय पर इस क्षेत्र में काम करने वाले श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए कई कानूनों का निर्माण किया गया।

सामाजिक बीमे की आवश्यकता--औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाले श्रमिकों की बहुत सी कठिनाइयों को दूर करने के लिये सामाजिक बीमा सम्बन्धी सिद्धान्त को कितने ही सभ्य देशों-ब्रिटेन, जर्मनी आदि में मान लिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघों ने इस क्षेत्र में सहायता प्रदान की है। परन्तु अभी भारत में इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। हाँ श्रमिकों के बीमारी के बीमे के सम्बन्ध में कुछ दिनों पूर्व भारत सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ था परन्तु कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण किसी प्रकार के सामाजिक बीमे की व्यवस्था नहीं की जा सकी। इस सम्बन्ध में हमारे उद्योगपतियों ने भी कुछ बाधाएँ खड़ी की हैं। उनका कहना है कि श्रमिकों के लिये सामाजिक बीमे की व्यवस्था करने में औद्योगिक संस्थाओं के मत्थे काफी खर्च पड़ जायगा, इस खर्च को सरलता से नहीं वहन किया जा सकता। दूसरे, उनका यह कथन है कि श्रमिक, भी ऐसे कार्यों के लिये कुछ सहयोग नहीं प्रदान करना चाहता। परन्तु ये दोनों दलीलें युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होतीं। यदि इस प्रकार की कोई व्यवस्था हो जाती है तो उससे श्रमिकों तथा उद्योगपतियों दोनों को लाभ पहुँचेगा। जहाँ तक उनका यह कहना कि इस प्रकार के सामाजिक बीमे की किसी योजना के कार्यान्वित करने में उद्योग-धन्धों का अनावश्यक खर्च बढ़ जायगा, उचित नहीं, उद्योगपतियों को यह व्यय अनावश्यक न समझकर अनिवार्य समझना चाहिए। अब रही यह बात कि श्रमिक ऐसे

कार्यों के लिए अपना कुछ पैसा व्यय करना उचित न समझेंगे, उस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि श्रमिकों को इस प्रकार के कार्यों के लाभ का पता चल जाता है तो वे इस दिशा में प्रसन्नता से खर्च करना पसन्द करेंगे। इस प्रकार की व्यवस्था से पारिश्रमिक पाने वाले एक स्थायी वर्ग का निर्माण हो सकेगा, इससे श्रमिकों की अनुपस्थिति का भी ह्रास होगा।

अभी हाल में देश में सामाजिक बीमे की व्यवस्था के लिए एक योजना तैयार की है। इसके लिये उसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय के दो विशेषज्ञों की सहायता भी मिल गई है।

श्रमिकों के राज्य द्वारा बीमे की व्यवस्था - (Employees' State Insurance) – सन् १९४८ में भारतीय संसद ने श्रमिकों के लिए राज्य द्वारा बीमे की व्यवस्था सम्बन्धी एक विधेयक पास किया था। इसके अनुसार श्रमिकों की बीमारी, उनकी किसी दुर्घटना आदि के समय में बीमे की व्यवस्था की गई है। जब कोई श्रमिक बीमार पड़ जाता है और आर्थिक सहायता प्राप्त करना चाहता है तो उसे छै मास पूर्व तक कुछ निश्चित रकम देनी होगी, इसके बदले में उसे बाद के छै महीनों तक राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होगी।

वे श्रमिक जिनकी मासिक आय २६०) या इससे कम है उन्हें अपनी मासिक आय का $\frac{7}{12}$ भाग बीमारी आदि की अवस्था में सहायता के रूप में प्राप्त होगा।

जिन आदमियों का ऐसा बीमा हो चुका है उनके लिए चिकित्सा आदि की सुविधा या तो उसे तथा उसके कुटुम्बियों को प्रान्तीय सरकार द्वारा प्राप्त होगी या उस संस्था द्वारा जिसमें कि वह श्रमिक कार्य कर रहा है। कोई भी श्रमिक जो अस्वस्थ है उसे रोगियों सम्बन्धी सुविधा, उसकी आर्थिक सहायता वर्ष में कुल आठ सप्ताह तक मिलेगी। परन्तु यदि आवश्यकता प्रतीत होती है और रोगी की दशा सुधरती हुई नहीं नजर आती है तो संस्था से यह अनुरोध किया जाता है कि वह उसके लिए अवधि में कुछ वृद्धि कर दे, रोगी को थोड़े दिनों तक और बीमारी सम्बन्धी आर्थिक सहायता प्रदान करदे।

पहले राज्य की सरकारों से यह आशा की गई थी कि श्रमिकों को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधा पहुँचाने में जितनी लागत लगेगी उसका एक तिहाई वे देंगी। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। उस समय यह भी सोचा गया था कि एक श्रमिक पर प्रतिवर्ष ६) चिकित्सा के लिये व्यय किया जायगा किन्तु ऐसा नहीं हुआ, आज केवल ६ आने प्रति व्यक्ति के हिसाब से ही व्यय किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रान्तीय सरकारों से इस दिशा में विशेष सहायता नहीं प्राप्त हुई। जहाँ तक केन्द्रीय सरकार का सम्बन्ध है वह इस दिशा में अच्छा कार्य कर रही है। उसने यह निश्चय किया है कि जितना प्रशासन कार्यों में व्यय किया जाता है उसका दो तिहाई पाँच वर्ष तक इन कार्यों में खर्च किया जायगा।

सरकार ने अपनी इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये एक संस्था की स्थापना की है। इस संस्था का नाम 'कर्मचारियों की राज्य-बीमा संस्था' (Employees State Insurance Corporation) है। इस संस्था के अध्यक्ष स्वयं श्रम मंत्री महोदय होंगे, इसका उपाध्यक्ष स्वास्थ्य मंत्री होगा। इस संस्था में स्वामियों तथा कर्मचारियों दोनों के प्रतिनिधि होंगे जिनकी कुल संख्या पाँच होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केन्द्रीय सरकार ने भारतीय श्रमिकों की दशा को सुधारने के लिए बड़ी अच्छी योजना का निर्माण किया है। यदि यह योजना अच्छी तरह कार्यान्वित कर दी गई तो उससे सामाजिक बीमे की दिशा में बड़ी अच्छी सहायता प्राप्त हो जायगी।

न्यूनतम मजदूरी का प्रश्न—प्रायः कुछ लोग यह कहा करते हैं कि यदि श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि कर दी जाती है तो उसका परिणाम बुरा ही निकलेगा। उसका श्रमिकों पर उल्टा

प्रभाव पड़ेगा। वे उस बढ़ी हुई आय को व्यर्थ में ही खर्च कर देंगे। मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा आदि बातों में उनका पैसा नष्ट हो जायगा। श्रमिकों में अवकाश लेने की भावना की वृद्धि होगी, इस प्रकार कारखानों में अनुपस्थिति भी काफी बढ़ जायगी, इसी प्रकार की बातें कह वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि भारतीय श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। यही नहीं वे एक यह भी तर्क उपस्थित करते हैं कि श्रमिकों को अधिक पारिश्रमिक देना वर्त्तमान उद्योग-धन्धों के सामर्थ्य के बाहर है और यदि उनको बहुत अच्छा पारिश्रमिक दिया जाने लगा तो उसका प्रभाव उद्योग-धन्धों पर बड़ा गहरा पड़ेगा, वे अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक प्रतियोगिता में, अन्य देशों के उद्योग-धन्धों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने में असमर्थ होंगे। परन्तु इस प्रकार के थोथे तर्क उपस्थित करना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। हाँ, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यदि श्रमिकों की मजदूरी में एकदम से यकायक काफी वृद्धि हो जायगी तो उससे उनमें फिजूलखर्ची अवश्य बढ़ेगी परन्तु यदि उनकी इस मजदूरी में शनैः शनैः वृद्धि की गई तो इससे यह फिजूलखर्ची वाला व्यय जाता रहेगा। धीरे-धीरे श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर में भी वृद्धि होगी। यह भी कहना उचित नहीं मालूम पड़ता कि यदि उनकी मजदूरी में वृद्धि हुई तो उनकी अनुपस्थिति में भी वृद्धि होगी उचित नहीं है, जो लोग ऐसा कहते हैं उन्हें श्रमिकों की मनोवृत्ति का पूरा ज्ञान नहीं है। यह कहना कि अधिक पारिश्रमिक देना औद्योगिक संस्थाओं के सामर्थ्य के बाहर है तो इसका यही तात्पर्य निकलता है कि ये उद्योग-धन्धे श्रमिकों का शोषण करके ही आगे बढ़ना चाहते हैं, यदि ऐसी बात है तो जितनी भी जल्दी हो सके ऐसे उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाँय, इसी में देश का और समाज का कल्याण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने के विरोध में जितने भी तर्क उपस्थित किए जाते हैं वे तथ्यहीन हैं, उनमें सत्य किंचित मात्र भी नहीं है।

आज जितने भी देश सभ्य कहे जाते हैं, उन सब का यह विचार है कि लोगों के रहन-सहन का कम से कम कोई स्तर अवश्य होना चाहिए। अतएव उन्होंने श्रमिकों और विशेष कर उन श्रमिकों की जिनका कि कोई अच्छा संगठन नहीं है, कम से कम मजदूरी की दर निश्चित कर दी है। इसका उनके रहन-सहन के स्तर पर एक अच्छा प्रभाव पड़ा है। अब देश के स्वतंत्र हो जाने पर यहाँ भी इस दिशा में अच्छा ध्यान दिया गया है।

न्यूनतम मजदूरी का कानून (१९४८)—भारत के स्वतंत्र हो जाने पर देश के श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए जो अनेक प्रयत्न हुए उनमें श्रमिकों की कम से कम मजदूरी के निश्चित करने का एक कानून भी अपना अच्छा स्थान रखता है। यह कानून १९४८ में पास हुआ। इस कानून के अनुसार कुछ उद्योगों तथा अन्य धन्धों में जहाँ श्रमिकों की दशा अच्छी नहीं हैं, यह कानून लागू है। चावल की मिलों, तेल की मिलों, जूते के कारखानों, मोटर आदि के धन्धों, तथा सड़कों आदि के धन्धों में लगे हुए श्रमिकों के लिए यह कानून बनाया गया है।

इस कानून का उद्देश्य उन श्रमिकों को जो कि भलीभाँति संगठित नहीं हैं और जिन्हें बहुत ही कम मजदूरी मिलती है, उन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए कम से कम मजदूरी की व्यवस्था करना है। इस कानून के द्वारा उन पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों आदि के रक्षा करने का विचार किया गया है जो कल-कारखानों में काम करके अपनी जीविका उपार्जित करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस कानून के द्वारा श्रमिकों की कुछ कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु यह बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस कानून का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण है। इसमें बहुत से नियंत्रित तथा अनियंत्रित उद्योग-धन्धों में काम करने वाले श्रमिकों की मजदूरी के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। कितने ही ऐसे उद्योग हैं जहाँ काम करने वाले श्रमिकों की दशा अत्यन्त ही दयनीय है परन्तु इस कानून में उनके लिए कोई भी स्थान नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि प्रान्तीय

सरकारों को यह अधिकार दे दिया गया है कि वे अन्य उद्योगों पर भी तीन महीने की नोटिस देने के पश्चात् इस कानून को लागू कर सकती हैं।

इस कानून में कृषि श्रमजीवियों की मजदूरी के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला गया है किन्तु कृषकों, कृषि श्रमजीवियों आदि की अशिक्षा के कारण, मजदूरी देने की प्रणालियों में विभिन्नता होने के कारण, वहाँ पर कम से कम मजदूरी वाले कानून से लाभ होना असम्भव सा ही है। इस कानून में एक बड़ा दोष यह भी है कि जब तक कि किसी उद्योग में कम से कम एक हजार व्यक्ति काम नहीं करते तब तक प्रान्तीय सरकारें कम से कम मजदूरी वाला कानून वहाँ लागू नहीं कर सकतीं। विभिन्न राज्यों में कितने ही ऐसे महत्वपूर्ण उद्योग-धन्धे हैं जहाँ एक हजार से कम आदमी काम करते हैं और जहाँ पर इस प्रकार के कानून का लागू किया जाना नितान्त आवश्यक है, परन्तु वहाँ यह कानून लागू नहीं होता।

इस कानून का एक बड़ा दोष यह भी है कि इसमें 'कम से कम मजदूरी किसे कहते हैं।' इस विषय पर अच्छी तरह प्रकाश नहीं डाला गया है। इस कानून में केवल इतना ही कह दिया गया है कि राज्य द्वारा निश्चित की हुई कम से कम मजदूरी ऐसी होनी चाहिए जिससे श्रमिक अपना जीवन-निर्वाह भलीभाँति कर सके, उसकी कम से कम मजदूरी में उसके पारिश्रमिक की मूल दर तथा कुछ विशेष भत्ता सम्मिलित होता है। कोचीन राज्य ने कम से कम मजदूरी की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह मजदूरी ऐसी और इतनी होनी चाहिए जिससे श्रमिक अपने स्वास्थ्य, अपनी शक्ति अपनी कुशलता की अच्छी तरह रक्षा कर सके, अपने बच्चों तथा अपनी पत्नी का अच्छी तरह पालन कर सके तथा आराम से अपना जीवन-यापन कर सके।

इस कानून में, कम से कम मजदूरी निश्चित करने वाली समिति की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है। वास्तव में इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि कम से कम मजदूरी निश्चित करने के लिए प्रत्येक औद्योगिक संस्थाओं में एक स्थायी समिति हो। इन समितियों में सरकार द्वारा मनोनीत कुछ व्यक्ति हो जो दोनों वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हों अर्थात् उसमें श्रमिकों तथा उद्योगपतियों दोनों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि हों।

उचित मजदूरी का प्रश्न—इधर कुछ वर्षों से सरकार तथा अन्य मजदूर कार्यकर्ताओं का ध्यान मजदूरी की एक उचित दर निश्चित करने की ओर आकर्षित हो रहा है। कुछ वर्षों पूर्व सरकार ने एक अच्छी मजदूरी समिति (A Fair wages Committee) नियुक्त की थी। इस समिति के सुझावों के अनुसार एक उचित मजदूरी सम्बन्धी विधेयक का प्रारूप तैयार किया गया था। १९५० के जून में इस विधेयक को एक निश्चित रूप प्राप्त हुआ। यह उचित मजदूरी कम से कम मजदूरी से कुछ अधिक तथा जीविका योग्य मजदूरी (Living wages) से कम होती है। न्यूनतम मजदूरी वह मजदूरी होती है जिससे श्रमिक की कुशलता बनी रहती है और उसका गुजर चलता जाता है। जीविका योग्य मजदूरी से श्रमिक अपने रहन-सहन का एक अच्छा स्तर रख सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उचित मजदूरी (Fair wages) न्यूनतम मजदूरी (Minimum-wages) तथा जीविका योग्य मजदूरी (Living wages) के मध्य या बीच की वस्तु है।

वह स्तर जिस स्तर पर उचित मजदूरी की दर निश्चित की जाती है, वह राष्ट्रीय आय, मजदूरी की चालू दर तथा श्रमिकों की कार्यकुशलता पर निर्भर रहता है।

उचित मजदूरी वाले विधेयक के अनुसार, उचित मजदूरी की दर निश्चित करने के लिये एक समिति की स्थापना की जायगी। उचित मजदूरी निश्चित करते समय यह समिति कर्मचारी की योग्यता, उसके अनुभव, उसकी कार्य कुशलता, उसकी मानसिक तथा शारीरिक परिस्थिति, आदि बातों पर विचार करेगी।

उचित मजदूरी निश्चित करते समय हमें एक और बात ध्यान में रखनी चाहिये वह यह कि मजदूरी सम्बन्धी नीति पूर्ण नौकरी या नौकरी से सामञ्जस्य रखे। अधिक से अधिक जितने भी व्यक्तियों को काम दिलाया जा सके उतना ही अच्छा है। इस नीति का उद्देश्य अधिक से अधिक व्यक्तियों की अधिक से अधिक प्रसन्नता का ध्यान रखना होना चाहिये। यदि अधिक से अधिक व्यक्तियों को उचित मजदूरी पर काम मिल जाता है तभी हम अपनी मजदूरी सम्बन्धी नीति को उचित कह सकेंगे।

मजदूरी तथा रहन-सहन का व्यय—कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय श्रमिक के रहन-सहन का स्तर कितना गिरा हुआ है। वह जिस प्रकार यहाँ पर अपना जीवन व्यतीत करता है, उससे कहीं अच्छा जीवन उन बन्दियों का होता है जो कारावास में अपने दण्ड की अवधि पूरी करने के लिये पड़े रहते हैं। वह जो भोजन करता है उससे कहीं अच्छा भोजन बन्दीग्रहों के ये बन्दी-गण करते हैं, वह जैसे मकानों में रहता है उससे कहीं अच्छे निवास-स्थान पाश्चात्य देश के पशुओं के होते हैं। भारतीय श्रमिक का भोजन असन्तुलित एवं आवश्यक पोषक तत्वों से रहित होता है, उसके पास वस्त्र अपर्याप्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय श्रमिक के पास न तो तन ढकने के लिये पूरे वस्त्र होते हैं और न पेट भरने के लिये उचित भोजन। ऐसी दशा में उनके मनोरंजन, उनके विश्राम आदि की आशा ही क्या की जा सकती है। हमारे ये श्रमिक अपनी इस हीनावस्था के लिये भाग्य को ही दोषी ठहराते हैं, यदि ये इतने अधिक भाग्यवादी न होते तो न जाने कब इनमें क्रान्ति हो जाती।

देश के स्वतंत्र होने पर भारतीय श्रमिकों की दशा को सुधारने के लिये सतत प्रयत्न किये जा रहे हैं। इधर उनकी आय में भी कुछ वृद्धि हुई है। १६३६ में प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय २८७.५ रुपये थी, १६४८ में यह आय बढ़ कर ७२८.४ रुपये हो गई है। परन्तु इन आँकड़ों की हम रहन-सहन के व्यय से तुलना करें तो हमें यह ज्ञात हो जायगा कि श्रमिकों की आय की इस वृद्धि से कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा है। एक ओर जब कि उनकी औसत आय में वृद्धि हुई है, तो दूसरी ओर उनके रहन-सहन का व्यय भी काफी बढ़ गया है। इस प्रकार उनकी वास्तविक आय में वृद्धि के स्थान पर ह्रास या गिराव ही हुआ है, उसकी दशा पहले से अब और भी गिर गई है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि उसकी इस दशा को दूर करने के लिये हमें कोई अच्छा उपाय करें, जिससे वह अपना जीवन-यापन भली भाँति कर सके। समय का तकाजा है कि इन श्रमिकों की आर्थिक दशा सुधारने में हम किसी प्रकार की असावधानी न बर्त्तें, नहीं तो हमें अपनी इस उपेक्षा का भयंकर परिणाम सहना पड़ेगा।

औद्योगिक झगड़े (Industrial Disputes)—औद्योगिक विकास तथा उत्थान के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि श्रम तथा पूँजी अथवा यूँ कह लीजिये कि श्रमिकों तथा उद्योगपतियों में आपस में शान्तिपूर्ण व्यवहार बना रहे। यदि उनका आपसी व्यवहार अच्छा नहीं रहता, उनमें आपस में संघर्ष होता है, झगड़ा होता है तो इसमें दोनों ही वर्गों को हानि उठानी पड़ती है। इन दोनों के झगड़ों का प्रभाव अन्त में सारे समाज पर पड़ता है। यही कारण है कि जितने भी सभ्य देश हैं वे हमेशा औद्योगिक शान्ति बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

भारतवर्ष में बहुत दिनों तक औद्योगिक क्षेत्र में किसी प्रकार का कोई संघर्ष या झगड़ा नहीं हुआ। यद्यपि भारत में आधुनिक उद्योगों का सूत्रपात गत शताब्दी के मध्यभाग में हो गया था तो भी लगभग अर्द्ध शताब्दी तक कोई भी महत्वपूर्ण औद्योगिक झगड़ा नहीं हुआ। जब कभी कोई संघर्ष हुआ भी तो उसमें उद्योगपति ही विजयी हुये। उस समय उद्योगपतियों का ही बोलबाला था। वे शक्ति-सम्पन्न थे। दूसरी ओर उधर श्रमिक-वर्ग बिल्कुल ही असंगठित था, उसे अपनी स्थिति का

कुछ भी भान नहीं था, पूँजीपतियों से लड़ने के लिये हड़ताल जैसे अस्त्र से वे अभी बिल्कुल अपरिचित ही थे। यह तो इसी शताब्दी की बात है जब श्रमिकों में जाग्रति की लहर फैली और उन्हें अपने महत्व का कुछ भान होने लगा।

प्रथम विश्व युद्ध के समय में उद्योग-धन्धों ने खूब धन कमाया, उद्योगपतियों को युद्ध के कारण बड़ा लाभ हुआ। युद्ध ने श्रमिकों को भी उनके अधिकारों से अवगत करा दिया। सन् १९१८ की भयानक महामारी में लाखों की संख्या में लोग काल के ग्रास बन गए, इससे श्रमिकों की संख्या में भी ह्रास हुआ, श्रमिकों को अब अपनी शक्ति का और भी अच्छी तरह पता चल गया। इस प्रकार अब वह समय आ गया था जब कि श्रमिक अपने अधिकारों से पूर्णरूप से परिचित होकर उनकी प्राप्ति के लिए अपने जान की बाजी तक लगाने के लिये तैयार थे। सबसे पहले १९१९ में श्रमिकों की ये भावनायें भड़क उठीं, एक संगठित रूप से श्रमिकों का उद्योगपतियों से संघर्ष छिड़ गया। बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर की कपड़े की मिलों में काम करने वाले मजदूरों ने हड़तालें कर दीं। यह एक प्रकार से सबसे बड़ी हड़ताल थी, इसके पूर्व भी कुछ हड़तालें हुईं परन्तु वे कोई महत्वपूर्ण नहीं थीं। इसके पश्चात् १९२३ में अहमदाबाद के मिल मालिकों ने अपने मिलों में काम करने वाले श्रमिकों की मजदूरी में कुछ कमी करनी चाही। इस पर वहाँ के मजदूरों ने फिर हड़ताल की। इसके बाद १९२४ तथा १९२५ में इससे भी बड़ी हड़तालें हुईं। १९२५ के बाद दो वर्षों तक औद्योगिक क्षेत्रों में शान्ति रही, १९२८ में फिर बड़े जोरों का औद्योगिक संघर्ष छिड़ गया। इस समय श्रमिकों में क्रान्तिकारी भावना ने बड़ा जोर पकड़ा, उन्होंने तत्कालीन पूँजीवादी संगठन से उठकर मोर्चा लिया। बम्बई की प्रायः सभी मिलों में विद्रोह की यह लहर फैल गई, और लगभग छै महीनों तक वहाँ की मिलों को अपना काम बन्द रखना पड़ा। बम्बई ही नहीं उस समय सारे देश में हड़तालें ही हड़तालें सुनाई पड़ने लगीं। जमशेदपुर, शोलापुर व कानपुर के रेलवे कर्मचारियों ने भी हड़तालें कर श्रमिकों को अपना सहयोग प्रदान किया।

औद्योगिक झगड़ों के निपटाने तथा उनको रोकने के लिए कानून—१९२८ के पश्चात् १९२९ में एक आम हड़ताल हुई जो लगभग छै महीनों तक चलती रही। इस प्रकार १९२८ और १९२९ वाला यह समय औद्योगिक झगड़ों की दृष्टि से सबसे बुरा समय था। इसका उद्योग-धन्धों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद १९३०-३३ तक औद्योगिक क्षेत्रों में शान्ति बनी रही। यह वह समय था जब कि वस्तुओं के मूल्य में भारी गिराव हुआ, इस समय वस्तुओं की कीमत बड़ी मन्दी थी, कितने ही लोगों को काम नहीं मिल रहा था, कितने ही श्रमिक बेकार हो गए थे। इस प्रकार इन वर्षों में श्रमिकों का संगठन कुछ ढीला पड़ गया था, अतएव इन दिनों श्रमिकों को हड़तालें करने का साहस ही न हुआ।

गत दस वर्षों (१९३९-४८) में औद्योगिक क्षेत्रों में जो संघर्ष हुआ, उसका उसके विभिन्न अंगों पर क्या प्रभाव पड़ा, इस बात का पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा—

वर्ष	औद्योगिक झगड़ों की संख्या	कितने श्रमिकों ने भाग लिया	काम के कितने दिनों की हानि हुई	किन-किन कारणों से झगड़े हुए					कितने झगड़े सफल हुए
				मजदूरी	भत्ता	व्यक्तिगत	छुट्टी व काम के घंटों पर	अन्य	
१९३९	४०६	४०९,१८९	४,९९२७९५	२३२	२	७४	१२	८६	६३
१९४०	३२२	४५२,५३९	७,५७७,२८१	२०२	९	५४	१०	४७	८३

१६४१	३५६	२६१,०५४	३,३३०,५०२	२१८	६	५५	१५	६२	७५
१६४२	६६४	७७२,६५३	५७७६,६६५	३५६	७६	६३	७	१८६	११७
१६४३	७१६	५२५०८८	२,३४२,२८७	३४२	५५	५३	१४	२५२	१३८
१६४४	६५८	५५०,०१५	३४४७,३०६	३७२	५०	८२	३५	११८	११६
१६४५	८२०	७४७,५३०	४,०५४,४६६	३५६	११०	१४५	५६	१४७	१३४
१६४६	१६२६	१,६६१,६४८	१२,७१७,७६२	६०४	७६	२८०	१३०	५३४	२७८
१६४७	१,८११	१,८४०७८४	१६,५६२,६६६	५७४	१६५	३४६	६४	५८२	३१०
१६४८	१,२५६	१०५६१२०	७,८३७१७३	३८३	११२	३६३	११०	३७६	२३४

१६२६ का मजदूरों के झगड़ों का कानून—औद्योगिक झगड़ों का फैसला करने के लिए १६२६ में एक कानून पास हुआ। इस कानून के अनुसार कोई औद्योगिक झगड़े से सम्बन्धित मामला एक समझौता-समिति (Board of Conciliation) या जाँच-न्यायालय (Court of Enquiry) के सन्मुख पेश किया जाता है। जाँच-न्यायालय में एक अध्यक्ष तथा कुछ या केवल एक स्वाधीन सदस्य होते हैं। समझौता समिति में एक स्वाधीन अध्यक्ष तथा दो या चार अन्य सदस्य होते हैं। ये सदस्य दोनों दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और अपने-अपने दलों द्वारा ही मनोनीत किये जाते है। यह समिति झगड़े को तय करने का प्रयत्न करती है परन्तु इनका निर्णय किसी भी दल पर बाध्य नहीं होता। ऐसी नौकरियाँ जिनका सीधा सम्बन्ध जनता के हित से है जैसे डाक व तार विभाग, रेलवे विभाग, ट्रामवे, बिजली तथा पानी की व्यवस्था करने वाले कर्मचारी १४ दिन पूर्व की नोटिस दिये बिना हड़ताल नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करते हैं तो दण्ड के भागी होंगे।

झगड़ों का जल्दी निपटारा करने के लिये इस कानून के अनुसार कुछ विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। हड़तालें तथा द्वारावरोध जिनसे जनता या समाज को बड़ी हानि उठानी पड़ती है, उन्हें अवैध घोषित कर दिया गया है।

बम्बई का मजदूरों के झगड़ों के निपटारा वाला कानून (१६३४)—मजदूरों के झगड़ों की समस्या का हल करने के लिए बम्बई सरकार ने जाँच-पड़ताल की जिसके परिणामस्वरूप १६३४ में इस सम्बन्ध में एक कानून पास किया गया। इस कानून के अनुसार सूती कपड़े की मिलों में काम करने वाले श्रमिकों के हित के लिए एक लेबर आफीसर की नियुक्ति की व्यवस्था की गई जिससे श्रमिक लोग अपनी तकलीफों को उसके सामने रख सकें। इस कानून में एक लेबर कमिश्नर की नियुक्ति का भी उल्लेख किया गया था। परन्तु १६३५ में प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना हो जाने के कारण औद्योगिक संघर्षों ने जोर पकड़ा। उस समय देश के कितने ही प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमन्डल बने थे। कांग्रेसी मन्त्रियों के शक्ति में आ जाने से श्रमिकों में आशा की एक नई लहर दौड़ गई थी, अब वे सोचने लगे थे कि इन मन्त्रियों द्वारा उनकी सभी मांगें पूरी हो जायँगी, उनके सभी कष्ट दूर हो जायेंगे। इस कारण १६३७-३६ तक के इन तीन वर्षों में औद्योगिक झगड़ों, हड़तालों का दौर दौरा हो गया। इन तीन वर्षों में जितने औद्योगिक झगड़े हुए उतने पिछले सात वर्षों में भी नहीं हुए थे।

बम्बई का औद्योगिक झगड़ों का कानून १६३८—सन् १६३८ में बम्बई में औद्योगिक झगड़ों सम्बन्धित एक नवीन कानून पास हुआ। इस कानून के अनुसार द्वारावरोध तथा हड़तालों को तब तक अवैध घोषित कर दिया जाता है जब तक समझौता समिति इत्यादि उस पर पूरा-पूरा विचार-विमर्श नहीं कर लेती है। यह समझौता झगड़ा प्रारम्भ होने के बाद में न होकर पहले ही कर लिया जाता है। इस कानून में इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि एक अलग औद्योगिक न्यायालय

(Industrial Court) की स्थापना की जाय जिसका अध्यक्ष उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश हो। यह न्यायालय इन्हीं औद्योगिक झगड़ों आदि के सम्बन्ध में विचार करता तथा अपना निर्णय देता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के पश्चात् एक बार फिर हड़तालों का जोर बँध गया। कर्मचारियों ने यह मांग की कि उद्योगपतियों ने युद्ध के दिनों में खूब लाभ कमाया है अतः उसमें से उनको भी कुछ हिस्सा मिले। उस समय युद्ध चल रहा था अतः ऐसे समय में द्वारावरोध व हड़तालों का न होना ही हितकर था। इस विचार को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में द्वारावरोध तथा हड़तालों को अवैध ठहरा दें। तथा मिल-मालिकों आदि से कुछ नियमों के पालन करने का अनुरोध करें जिससे औद्योगिक शान्ति बनी रहे।

औद्योगिक झगड़ों का कानून (१९४७)—सन् १९४७ में औद्योगिक झगड़ों के सम्बन्ध में एक और कानून पास हुआ। इस कानून में झगड़ों का फैसला करने के लिए कई उपायों की व्यवस्था की गई। प्रान्तीय सरकारों द्वारा झगड़ों का समझौता कराने वाले विशेष अधिकारियों (कन्सीलियेशन अफसरों) की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई। यदि किसी झगड़े का फैसला करने में ये अधिकारी असफल रहें तो उसके लिए समझौता समितियों की नियुक्ति की जाय जिसमें एक स्वाधीन अध्यक्ष तथा दो या चार अन्य सदस्य हों। एक निश्चित समय के अन्दर झगड़े सम्बन्धी विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए एक जाँच-न्यायालय की भी स्थापना की व्यवस्था कर दी गई।

इस कानून में इस बात पर जोर दिया गया कि झगड़ों का आवश्यक रूप से समझौता किया जाय। जब तक समझौते की बात चलती हो और कोई निश्चित निर्णय न किया गया हो तब तक हड़तालों तथा द्वारावरोध पर रुकावट लगा दी गई।

इस कानून के अनुसार सौ या सौ से अधिक व्यक्तियों वाली औद्योगिक संस्थाओं में एक कर्मचारी समिति की स्थापना की व्यवस्था की गई है जो कि उद्योगपतियों तथा श्रमिकों के आपसी मतभेद को दूर करने में सहयोग पहुँचाती रहे।

भारतीय औद्योगिक विकास के इतिहास में सन् १९४८ का बड़ा महत्व है। श्रमिकों की दशा को सुधारने के लिए जितने प्रयत्न इस वर्ष किए गए उतने और कभी नहीं हुए। इस वर्ष श्रम तथा पूंजी में अच्छे व स्थायी सम्बन्ध स्थापित करने की व्यवस्था की गई। १९४७ के दिसम्बर के महीने में केन्द्रीय सरकार की अध्यक्षता में उद्योगपतियों तथा कर्मचारियों के प्रतिनिधियों की एक सभा हुई। इस सभा में श्रमिकों तथा उद्योगपतियों से तीन वर्ष तक शान्ति बनाये रखने पर जोर दिया गया। दोनों वर्गों में शान्ति सम्बन्धी एक समझौता भी हुआ। इस बात को कार्यरूप में परिणत करने के लिये १९४८ के मई के महीने में प्रत्येक राज्य के श्रम मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने केन्द्र तथा प्रान्तों में कुछ विशेष सलाहकार समितियों (Tripartite Advisory Committees) की स्थापना का निश्चय किया। इस सम्मेलन में उचित पारिश्रमिक तथा स्वामियों के लाभ के लिये विशेषज्ञ समितियों (Expert Committees) की स्थापना का भी निश्चय किया। केन्द्रीय सरकार की श्रमिकों के लिये दस वर्षों में दस लाख मकान बनाने की योजना को कार्यान्वित करने के लिये एक गृह-निर्माण-समिति (Housing Board) की भी स्थापना की गई। श्रम-विभाग द्वारा खोले गये काम या रोजगार दिलाने वाले केन्द्रों (Employment Exchangse) तथा श्रम-शिक्षण केन्द्रों को स्थायी रूप प्रदान किया गया।

उद्योगों में लगी हुई पूंजी पर अच्छा लाभ प्राप्त करने के लिए विशेषज्ञ समिति ने यह सुझाव रखा है कि आयकर सिद्धान्त के आधार पर मूल्य ह्रास की रकम को निकाल देने के पश्चात् और तब

वास्तविक लाभ का १० प्रतिशत सुरक्षित कोष में जमा करने के पश्चात्, विनियोजित पूँजी पर का ६ प्रतिशत पूँजी की उचित वापसी (Fair Return on Capital) होनी चाहिए। इसके ऊपर होने वाली बचत में से ५० प्रतिशत श्रमिकों में वितरित कर दी जानी चाहिये।

औद्योगिक शान्ति बनाये रखने के लिये विभिन्न राज्यों व प्रान्तों में कुछ समितियों (Work's Committees) की स्थापना की गई थी।

अब इधर श्रम तथा पूँजी में अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। श्रमिकों के नाम के दिनों में जो पहले ह्रास हो गया था अब उसकी धीरे-धीरे पूर्त्ति हो रही है। १९४७ में १,३८०,००० काम के दिनों का नुकसान हुआ जब कि १९४८ में यह संख्या ६५३,००० तथा १९४९ में ५४१,००० रह गई। उसी प्रकार १९४७ में १,८११, १९४८ में १२५९ तथा १९४९ में केवल ९२० औद्योगिक झगड़े हुये। १९५० के प्रथम छः मास में ५५७ औद्योगिक झगड़े हुये। आशा है निकट भविष्य में हमारे श्रमिकगण तथा उद्योगपति एक दूसरे के हितों को अच्छी तरह समझते हुये राष्ट्र के विकास में सहयोग प्रदान करेंगे।

१९५० का उद्योग सम्बन्धी कानून—१९४७ के औद्योगिक झगड़ों सम्बन्धी कानून से इस दिशा में कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा। जिस बात की आशा इस कानून से की गई थी वह पूरी नहीं हुई। इस प्रकार इस कानून के दोष को दूर करने के लिये १९५० में इस सम्बन्ध में एक अच्छा विधेयक निर्मित किया गया है।

इस विधेयक की मुख्य बातें कार्य-समितियों, समझौते के विशेष अधिकारियों, निरीक्षक-आयोगों औद्योगिक न्यायालयों आदि की स्थापना करना है। कुछ लोगों ने इतनी अधिक संस्थाओं के होने में सन्देह प्रकट किया है। उनका कहना है, जब पहले से ही सिविल न्यायालय खुले हुये हैं तो इन विशेष न्यायालयों के खोलने की क्या आवश्यकता है।

इस विधेयक में इस बात का भी उल्लेख है कि यदि सरकार चाहेगी तो वह इन औद्योगिक न्यायालयों के निर्णयों को रद्द कर देगी।

इस विधेयक के अनुसार द्वारावरोध व अवैध हड़तालों को करने वाले दण्ड के भागी होंगे। इस विधेयक की आज्ञाओं के उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों चाहे वे श्रमिक हों या स्वामी—दण्ड के भागी होंगे। जो कर्मचारी अवैध हड़तालों में सहयोग प्रदान करेगा उसे अपनी मजदूरी, भत्ता, छुट्टी आदि से हाथ धोना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि कोई भी स्वामी या उद्योगपति अवैध द्वारावरोध करेगा तो ऐसी स्थिति में मजदूर को अपनी साधारण मजदूरी का दुगना लेने का अधिकार होगा।

यदि कोई मजदूर संघ समझौते की शर्तों को नहीं मानता तो उसकी मान्यता उससे ले ली जायगी। किसी भी श्रमिक को जो लगातार मजदूरी करता चला आ रहा है, उसे तब तक नौकरी से नहीं हटाया जा सकेगा जब तक वह पूर्ण रूप से दोषी नहीं ठहरता और इस विषय में अपनी पूरी सफाई नहीं देता। हाँ इनके अतिरिक्त अन्य साधारण श्रमिकों को एक महीने की नोटिस देकर उन्हें काम से हटाया जा सकेगा। इस विधेयक के द्वारा सरकार को कुछ और भी विशेष अधिकार प्राप्त हो गये हैं जिनके अनुसार वह उद्योगों पर कुछ विशेष नियंत्रण रख सकेगी।

यद्यपि इस विधेयक में कर्मचारी के हड़ताल करने के अधिकार को मान्य ठहरा दिया गया है, परन्तु फिर भी इससे अनावश्यक द्वारावरोध व हड़तालों के रुकने या कम होने में सहायता मिलेगी। सहानुभूति में की गई हड़तालों को बिल्कुल अवैध घोषित कर दिया गया है। जनता के हित में की जाने वाली हड़तालों को भी अवैध घोषित कर दिया गया है। इस प्रकार श्रमिकों के हड़ताल करने के अधिकार पर काफी रुकावट लगा दी गई है।

यदि कोई हड़ताल जो कि अवैध घोषित नहीं की गई है तो उसमें शामिल होने वाले कर्मचारियों को अपनी मजदूरी का तीन-चौथाई भाग मिलेगा।

जहाँ तक वर्तमान कानूनों का सम्बन्ध है इस विधेयक के द्वारा उन्हें समझौता करने का बड़ा क्षेत्र बाकी है।

इस विधेयक में अवैध हड़ताल या द्वारावरोध करने वालों को जुर्माने की अपेक्षा अब कड़े दंड जैसे सजा आदि की व्यवस्था की गई है।

इसके अतिरिक्त श्रमिकों को अन्य भत्तों आदि के भी प्राप्त होने की व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार उपरोक्त बातों को देखने से यह पता चलता है कि इस विधेयक द्वारा श्रमिकों तथा उद्योगपतियों में अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। परन्तु इस विधेयक में कुछ दोष हैं जिनका संशोधन नितान्त आवश्यक है। इस विधेयक के अनुसार स्वामीगण खुले रूप से श्रमिकों को निकाल सकेंगे। स्वामियों के इस अधिकार पर कुछ नियंत्रण रखना आवश्यक है। विधेयक में यह कहा गया है कि सरकारी नौकरों (Civil servants) को हड़ताल करने का कोई अधिकार नहीं है। यहाँ चपरासियों को ही मुख्यरूप से सरकारी कर्मचारी माना गया है।

विधेयक में यह उल्लेख कर दिया गया है कि यदि किसी उचित कार्य के लिये कोई श्रमिक निकाल दिया जाता है तो इस पर औद्योगिक झगड़े के खड़े होने का कोई प्रश्न नहीं खड़ा होता। परन्तु अब प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि यह कौन निश्चय करेगा कि अमुक श्रमिक उचित या अच्छे कार्य के लिये निकाला गया है अथवा अनुचित या बुरे काम के लिये। इसी प्रकार अतिरेक श्रम (Surplus Labour) के सम्बन्ध में भी विधेयक में यह कहा गया है कि अतिरेक श्रम को निकाला जा सकता है। यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि कौन यह निश्चित करेगा कि श्रम अतिरेक है या नहीं।

इस विधेयक में एक और दोष है वह यह कि यह विधेयक धीरे काम करने की नीति को अवैध घोषित करता है। विधेयक से इस नियम को हटा देना ही अच्छा है।

विधेयक में भत्ते की व्यवस्था पर भी अच्छी तरह प्रकाश नहीं डाला गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विधेयक में कई दोष हैं। इसी कारण से कर्मचारियों के संघों ने इस विधेयक का बड़े जोरों से विरोध किया है। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार को चाहिये कि श्रमिकों तथा उनके स्वामियों में होने वाले अनावश्यक झगड़े को हमेशा दूर करने का ही प्रयत्न करे। कर्मचारियों को भी चाहिये कि अपने स्वामियों के नौकरी से उचित कारण पर हटाये जाने वाले अधिकार को मान लें।

उद्योगपतियों ने इस विधेयक का विरोध करते हुये कहा है कि इस विधेयक में कई दोष हैं, उन्हें दूर कर देना चाहिये। सबसे पहली बात जो उन्होंने इस सम्बन्ध में कही है वह यह कि इस विधेयक की यह व्यवस्था कि राज्य उद्योगों पर अपना पूरा नियंत्रण रखेगी अनुचित है, दूसरे यह कि उनसे हड़ताल के समय में कर्मचारियों को जो भत्ता देने की व्यवस्था की गई है, वह भी उचित नहीं है। उद्योगपतियों ने स्थायी आज्ञाओं (Standing orders) का भी विरोध किया है। इस प्रकार इस विधेयक का दोनों दलों द्वारा विरोध हुआ है। इससे यही मालुम पड़ता है कि विधेयक में दोनों दलों का सन्तुलन रखने का प्रयत्न किया गया है। यही कारण है कि उसमें कुछ अभाव भी आ गये हैं। चाहे कुछ भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विधेयक इस सम्बन्ध के वर्त्तमान कानूनों की अपेक्षा कहीं आगे बढ़ा हुआ है। इस विधेयक में झगड़ों के निपटाने की जो पद्धति दी हुई है, उससे दोनों दलों के आपसी सम्बन्ध अच्छे होने में काफी सहायता मिलेगी।

भारत में मजदूर संघ आन्दोलन—प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त (१६१४-१६१८) तक भारतीय श्रमिक प्राय: असगठित अवस्था में ही थे, उनका कोई संगठन नहीं था। १८७५ में शोराब जी शापुर जी बंगाली ने श्रमिकों की दयनीय स्थिति की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। इसके पश्चात १८६० में श्री लोखण्डे ने श्रमिकों को संगठित करने के लिये क्रियात्मक कदम उठाया। उन्होंने उस समय के कारखाने कानून के विरोध में श्रमिकों को संगठित किया और बाम्बे मिल हैन्डस असोशियेशन की स्थापना की परन्तु यह संघ भी अच्छी तरह संगठित नहीं था। इसके बाद १८६७ में भारत तथा बर्मा के रेलवे कर्मचारियों के एक संघ की स्थापना हुई। इस शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापित होने वाले संघों में 'प्रिन्टर्स यूनियन' कलकत्ता (१६०५) बाम्बे पोस्टल यूनियन (१६०७) तथा कामगार हितवर्द्धक सभा (१६१०) मुख्य हैं। कामगार हितवर्द्धक सभा की स्थापना कुछ समाज सेवी व्यक्तियों द्वारा हुई थी जिनका मुख्य उद्देश्य श्रमिकों का विकास करना था।

इसके पश्चात प्रथम विश्वयुद्ध का समय आया। यह वह समय था जब कि उद्योगपतियों को युद्ध के कारण खूब आर्थिक लाभ हो रहा था, और श्रमिक-गण इस लाभ में अपना भी हिस्सा बटाने के लिये उत्सुक हो रहे थे। इस समय सारे श्रमिकों में जागृति की एक लहर दौड़ गई। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास से, बस्तियों में भारतीय श्रमिकों पर किये गये अत्याचारों से तथा रूस में होने वाली क्रान्ति से भारतीय श्रम-आन्दोलन को काफी बल मिला। सारा श्रमिक समाज अब अपने अस्तित्व को भलीभाँति समझ चुका था, वह अपने अधिकारों की पूर्ति के लिये लड़ने को पूरी तरह तैयार था।

औद्योगिक श्रमिकों का सबसे पहला संघ निर्मित करने का श्रेय श्री बी० पी० वाडिया महोदय को है। उन्होंने १६१८ में मद्रास के जुलाई नामक स्थान में कपड़े के कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों का एक संघ खोला। इसके दूसरे ही वर्ष ऐसे संघों की संख्या चार हो गई जिनके सदस्य लगभग २० हजार थे। अन्य औद्योगिक केन्द्रों में काम करने वाले कर्मचारियों के भी सङ्घों की स्थापना हुई। १६१६ से लेकर १६२३ तक ऐसे बीसों सङ्घों का निर्माण हो गया था। १६२० में अहमदाबाद में महात्मा गान्धी ने भी जुलाहों तथा बुनकरों के एक सङ्घ की स्थापना की।

ये सङ्घ प्राय: एक प्रकार से हड़ताल करने वाली समितियाँ ही थीं और जैसे ही इनकी मांगें पूरी हो जातीं उनका अन्त हो जाता। ये सङ्घ अपने हड़ताल इत्यादि की नोटिस बहुत कम देते थे। तीसरे ये सङ्घ प्राय: एक-दूसरे से असम्बद्ध ही थे, उनमें कोई एकरूपता नहीं थी। इसके पश्चात् इन सङ्घों को एक सूत्र में बाँधने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ के वार्षिक सम्मेलन के लिये प्रतिनिधियों के निर्वाचन की आवश्यकता से इस आन्दोलन को और बल मिला। अत: स्थानीय सङ्घों को सङ्घात्मक रूप प्राप्त होने लगा और तब प्रान्तीय सङ्घों का निर्माण होने लगा। १६२० में सबसे पहले अखिल भारतीय श्रमिक सङ्घ सम्मेलन का पहला अधिवेशन हुआ।

मजदूर संघ कानून (१६२६)—१६२० में बकिंघम की मिलों के मुकदमें के सम्बन्ध में मदरास हाईकोर्ट ने मदरास के श्रम-सङ्घ के विरुद्ध एक आज्ञा निकाली जिसमें श्रम-सङ्घ के कर्मचारियों से यह कहा गया कि वे हड़ताल करने के लिये श्रमिकों को न भड़काएँ। इससे श्रमिकों के नेताओं को यह पता लग गया कि यदि वे इसी तरह कार्य करेंगे तो उसका परिणाम अच्छा न होगा। अन्त में पाँच वर्ष के अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप श्रमिकों के नेतागण १६२६ में भारतीय मजदूर सङ्घ सम्बन्धी कानून पास कराने में सफल हुए। इस कानून में श्रम सङ्घों के रजिस्ट्री के नियमों पर अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार उसी सङ्घ की रजिस्ट्री हो सकती है जिस सङ्घ की कार्य-

कारिणी के ५० प्रतिशत सदस्य उसे सङ्घ के क्षेत्र के श्रमिक होने चाहिये। ऐसे सङ्घ के सात या सात से अधिक सदस्य उस संघ की रजिस्ट्री के लिये आवेदन पत्र दे सकते हैं। पन्द्रह वर्ष से कम आयु का कोई व्यक्ति संघ का सदस्य नहीं हो सकता। जिन सङ्घों की रजिस्ट्री हो जाती है उन्हें अपने कोष को राजनैतिक कार्यों में खर्च करने का अधिकार नहीं है। हाँ इसके लिए वे अपना एक अलग कोष स्थापित कर सकते हैं। जिन कामों के लिए सङ्घ के कोष का पैसा खर्च किया जा सकता है, उनका कानून में स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है। इन सङ्घों को अपने आय-व्यय का एक लेखा-जोखा रखना आवश्यक होता है। अपने यहाँ के लेखा-जोखा की जाँच की भी इन्हें व्यवस्था करनी पड़ती है। इन सबके साथ ही कानून द्वारा रजिस्ट्री किए गए सङ्घों को कुछ विशेष अधिकार तथा सुविधायें प्रदान की गई हैं।

मजदूर सङ्घों के इस कानून का १९४८ में संशोधन किया गया। इस संशोधित कानून के अनुसार श्रम-न्यायालय की आज्ञानुसार उद्योगपतियों द्वारा मजदूर-सङ्घों के मान्यता की व्यवस्था की गई है।

पहले मजदूर-सङ्घों ने अपनी रजिस्ट्री कराने की ओर विशेष ध्यान न दिया। इसका मुख्य कारण यही था कि मजदूर सङ्घ रजिस्ट्री आदि कराने के व्यर्थ के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते थे। इसके बाद उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ और मजदूर सङ्घों की रजिस्ट्री का दौर दौरा हो गया।

सन् १९२८-२९ में मजदूर-सङ्घों में साम्यवादियों का बोलबाला रहा। परन्तु इन साम्यवादी कार्यकर्त्ताओं के अशान्तिपूर्ण कार्यों के कारण इनमें से ३१ कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर मुकदमा चलाया गया। जाँच के न्यायालय की रिपोर्ट में उन तमाम उपद्रवों तथा हिंसात्मक कार्यों के लिये गिरनी कामगार सङ्घ को जिम्मेदार ठहराया गया। इसके बाद थोड़े समय तक मजदूर-सङ्घ को सहानुभूति न मिली। १९२९ में आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस दसवें अधिवेशन में जो कि नागपुर में हुआ, श्री एन० एम० जोशी की अध्यक्षता में आल इंडिया ट्रेड यूनियन फेडरेशन का निर्माण हुआ। मजदूर सङ्घों के इस प्रकार दो दलों में बँट जाने के कारण मजदूर सङ्घ आन्दोलन की गति धीमी पड़ गई। १९३१ में इन दलों में और फूट पड़ गई, उस समय देशपाण्डे आदि ने आल इंडिया रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस का निर्माण किया। इन विभिन्न मजदूर सङ्घों का आपस में समझौता कराने की बातों का सतत प्रयत्न होता रहा, इसके लिये एक 'ट्रेड यूनियन यूनिटी' कमेटी बनाई गई परन्तु इससे कोई विशेष लाभ न हुआ। अन्त में १९३८ में मदरास सरकार के श्रम मंत्री श्री वी० वी० गिरि के प्रयत्न से इस दिशा में कुछ सफलता प्राप्त हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर इन मजदूर-सङ्घों में आपस में फिर विचार-वैषम्य हो गया। इस समय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने सरकार को सहायता न देने की नीति धारण की। उधर दूसरी ओर एम० एन० राय के नेतृत्व में ट्रेड यूनियन फेडरेशन का निर्माण हुआ जिसकी नीति सरकार को अपनी पूरी सहायता देनी थी। ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अतिरिक्त मजदूरों का एक और महत्वपूर्ण सङ्घ है जो हिन्दुस्तान मजदूर सेवा सङ्घ के नाम से प्रसिद्ध है। यह सङ्घ गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है।

अभी थोड़े दिनों पूर्व श्रमिकों में बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव को रोकने के लिए कांग्रेस के बड़े नेताओं द्वारा एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई है। इस नए सङ्घ का उद्देश्य बिना काम रोके हुए समझौता आदि के द्वारा मजदूरों के कष्टों को दूर करना है। यह सत्य, अहिंसा तथा शान्तिपूर्ण उपायों के द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में विश्वास रखता है।

नीचे दी हुई तालिका से भारत में मजदूर सङ्घों के विकास का पता चल जायगा :—

रजिस्टर्ड मजदूर संघ तथा उनके सदस्य[1]

वर्ष	मजदूर संघों की संख्या	वे मजदूर संघ जो अपना ब्यौरा पेश करते हैं	सदस्यों की संख्या		
			पुरुष	स्त्री	योग
१९२७-२८	२९	२८	९९,४५१	१,१६८	१००,६१९
१९३२-३३	१७०	१४७	२३२,२७९	५,०९०	२३७,३६९
१९३७-३८	४२०	३४३	३७५,४०९	१४,७०३	३९०,११२
१९३८-३९	५६२	३९४	३८८,२१४	१०,९४५	३९९,१५९
१९३९-४०	६६७	४५०	४९२,५२६	१८,६१२	५११,१३८
१९४४-४५	८६५	५७३	८५३,०७३	३६,३१५	८८९,३८८
१९४५-४६ॐ	१,०८७	५८५	८२५,४६१	३८,५७०	८६४,०३१
१९४६-४७ॐ	१,७२५	९९८	१,२६७,१६४	६४,७९८	१,३३१,९६२
१९४७-४८ॐ	२,६६६	१६२८	१,५६०,६३०	१०२,२९९	१,६६२,९२९

उपरोक्त आंकड़ों को देखने से यह पता चलता है कि भारत में मजदूर-संघों ने बड़ी जल्दी उन्नति की है। १९२७-२८ में केवल २९ ही रजिस्टर्ड मजदूर संघ थे जब कि १९४७-४८ में इन संघों की संख्या २,६६६ हो गई। १९२७-२८ में अपना ब्योरा पेश करने वाले संघों के सदस्यों की संख्या १,००,६१९ थी जब कि १९४७-४८ में ऐसे संघों के सदस्यों की १,६६२,२९९ हो गई। ऐसे बहुत ही थोड़े देश हैं जिनमें मजदूर संघों ने इतनी उन्नति की है। अब मजदूर-संघ जैसा कि पहले थे केवल हड़ताल करानेवाली समितियाँ ही नहीं हैं। अब वे अच्छी तरह से संगठित हो गये हैं और जो बहुत से दोष उनमें पहले विद्यमान थे अब वे नहीं रहे हैं। श्रमिकों की दशा सुधारने में इन समितियों ने काफी सफलता प्राप्त की है। किसी भी श्रम-संगठन को भारत के श्री एन० एम० जोशी तथा श्री गुलजारीलाल नन्दा जैसे मजदूर नेताओं से अच्छी सहायता मिल सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ ने भारतीय जनता व प्रेस ने, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारत में मजदूर संघ आन्दोलन को सफल बनाने में काफी सहयोग प्रदान किया है।

परन्तु इस दिशा में जितनी प्रगति अन्य पश्चिमीय देशों ने की है उतनी भारत ने नहीं की। यहाँ के मजदूर संघों में जितने सदस्य हैं, औद्योगिक क्षेत्र में काम करने वाले सब श्रमिकों को देखते हुये उनकी संख्या बहुत कम है। मजदूरों के जितने भी नेता हैं वे प्रायः उस वर्ग के बाहर के ही हैं। इन संघों की आर्थिक स्थिति भी कोई अच्छी नहीं है। हड़ताल के करने पर श्रमिकों को मजदूर-संघ से अच्छी सहायता नहीं मिल सकती। भारत में बहुत ही कम ऐसे संघ हैं जो श्रमिकों को बीमारी, वृद्धावस्था या बेकारी आदि के समय में आर्थिक सहायता देते हैं। अभी इनमें आपस में तथा इनके कार्यकर्त्ताओं में पारस्परिक सहयोग की भावना बहुत कम है।

---

[1] देखिये इंडियन लेबर इयर बुक १९४८-४९ पृ० १२८

ॐ १९४५-४६, १९४६-४७, तथा १९४७-४८ के आँकड़ों के अधूरे होने के कारण पंजाब के आँकड़े नहीं सम्मिलित हैं।

ॐ १९४५-४६ तक के आँकड़े अविभाजित भारत के हैं शेष दो वर्षों के भारतीय संघ के आँकड़े हैं।

हमारे देश में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो मजदूर संघों के उचित विकास में रोड़ा अटकाती हैं। इनमें से मुख्य ये हैं :—

(१) भारतीय श्रमिक अशिक्षित व अपढ़ हैं, उनमें उद्योग-धन्धों की ओर कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है।

(२) उनमें अनुशासन हीनता काफी है।

(३) अधिकांश श्रमिक मजदूर संघ के कोष में चन्दा आदि जमा करने में सावधानी नहीं रखते।

(४) विशाल देश होने के कारण भारत में भाषा, धर्म, जाति, सामाजिक रीतिरिवाज़ में विभिन्नता होने के कारण भी श्रम में दृढ़ता नहीं आ पाती।

(५) श्रमिकों की मजदूरी कम होने का भी प्रभाव बुरा पड़ता है।

(६) कारखानों या मिलों में अधिक समय तक काम करने के पश्चात श्रमिकों के पास इतना समय नहीं बच पाता जिससे वे अपने संघ आदि के कार्यों को सकें। ऐसी स्थिति में मजदूरों से यह आशा करना कि वे अपने संघ की राजनीति में कुछ भाग लेंगे व्यर्थ है।

(७) मजदूर संघों के विकास में उद्योगपति भी काफी रोड़ा अटकाते हैं।

(८) कभी-कभी मजदूर नेता गण अपने स्वार्थ के कारण आपस में लड़ बैठते हैं, इसका भी मजदूर संघों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे मजदूर संघों के विकास में कई बाधाएँ हैं, उसमें कई दोष हैं। इन दोषों के दूर किये बिना मजदूर संघों के उचित विकास की आशा नहीं की जा सकती। वास्तव में यदि मजदूर संघों का उचित विकास करना है तो सबसे पहले हमें मजदूरों के नेतृत्व की बागडोर उनके ही हाथों में सौंपनी होगी। जैसे-जैसे श्रमिकों में शिक्षा का प्रसार होता जायगा यह बात सम्भव हो सकेगी। उद्योगपतियों को भी अपने दृष्टिकोण को उदार बनाना होगा, इसी में उनका तथा श्रमिकों का हित निहित है। इन्हीं सब दोषों को दूर कर भारत में हम श्रम संघों को सफल बना सकेंगे।

बाइसवाँ परिच्छेद

यातायात—रेलें

यातायात का महत्व—किसी भी देश के उद्योग का विकास बहुत-कुछ उस देश के यातायात की स्थिति पर निर्भर रहता है। यही नहीं यातायात का आर्थिक, सैनिक, सांस्कृतिक सामाजिक आदि दृष्टिकोणों से भी काफी महत्व है। यदि कृषि और उद्योग राष्ट्रीय संगठन के शरीर और मज्जा हैं तो यातायात के साधन उनकी धमनियाँ और शिराएँ हैं। जब तक यातायात एवं आवागमन के साधनों का पूर्ण विकास नहीं होता तब तक कृषि और उद्योग की उन्नति की कल्पना कोरी कल्पना ही होगी। भारत मुख्यतया एक कृषि प्रधान देश है, यहाँ की ८७ प्रतिशत जनता ग्रामों में निवास करती है, जिसमें से ६६ प्रतिशत जनता की जीविका का आधार कृषि ही है। यातायात के साधनों के विकास से अब ग्राम और नगर का अन्तर दूर हो गया है, दोनों एक दूसरे के काफी निकट आ गये हैं। अब कृषक भी अच्छा पैसा देने वाली फसलें कपास, जूट, तिलहन तम्बाकू आदि काफी मात्रा में उत्पन्न करने लगा है। परन्तु बिना यातायात के साधनों की सहायता से इन वस्तुओं की बिक्री न तो देश के अन्दर ही हो सकती है और न बाहर ही, दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार यातायात के साधनों पर ही निर्भर हैं।

भारतवर्ष एक विशाल प्रायद्वीप है। प्राचीनकाल में अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह विभिन्नताओं का—विविध जलवायु, विभिन्न भाषा आदि का—केन्द्र था। उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर न तो मनुष्य ही आसानी से यात्रा कर सकते थे और न माल-असबाब ही सरलता से भेजा जा सकता था। उस समय बहुत कम बड़ी सड़कें थीं। थोड़ी बहुत सड़कें अफगान या मुगल शासकों ने बनवाई थीं। परन्तु वे इतनी कम थीं जिनसे आवश्यकतायें अच्छी तरह पूरी नहीं हो सकतीं थीं। आज भी बहुत-सा जल्दी नष्ट होने वाला सामान बाजारों में देर से पहुँचने के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। विशाल भारत का अभी कितना ही क्षेत्र ऐसा पड़ा है जहाँ पर यातायात के उचित साधन उपलब्ध नहीं हैं। कितने ही जिलों के ७० से लेकर ८० प्रतिशत तक गाँव ऐसे हैं जो वर्षा के दिनों से अन्य प्रदेश से बिल्कुल अलग से हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में अभी यातायात के साधनों का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। किसी भी देश के यातायात या आवागमन के साधन उस देश की सभ्यता के मापदण्ड का कार्य करते हैं। सभ्यता की कहानी, उसका इतिहास यातायात एवं आवागमन का इतिहास है। सड़कों के निर्माण करने वालों ने हमें अपने प्रकाश स्तम्भ के सहारे उन्नति के पथ की ओर अग्रसित किया। उन्होंने पथ-प्रदर्शन किया और सभ्यता ने उसका अनुसरण। पहले झोपड़ियाँ, फिर ग्राम, फिर नगर, फिर शहर सभी जाग्रत होते गए। सड़कों का निर्माण हुआ, व्यापार व व्यवसाय का विकास हुआ। वास्तव में मानव का आर्थिक विकास यातायात के साधनों का विकास है। इन साधनों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को वस्तुयें या सामान ही ढोकर नहीं ले जाया जाता वरन् उन पर देश का सांस्कृतिक, सामाजिक तथा नैतिक विकास भी निर्भर रहता है। इनके द्वारा ज्ञान की वृद्धि, तथा अज्ञान का विनाश होता है।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक दो-एक को छोड़कर कोई महत्वपूर्ण सड़कें नहीं थीं। लार्ड डलहौजी के समय में सर्वप्रथम इस ओर क्रियात्मक कदम उठाया गया। हम इस परिच्छेद में भारत के यातायात के साधनों पर विचार करेंगे।

भारत में यातायात के साधन मुख्य रूप से चार प्रकार के हैं :—

(१) रेलें

(२) सड़कें

(३) जलमार्ग

(४) वायुमार्ग

हम यहाँ पर प्रत्येक साधन पर तथा तद्जनित समस्याओं पर अलग-अलग विचार करेंगे।

भारत में रेलों का महत्व—कहना न होगा कि भारत के आर्थिक जीवन में रेलों का महत्व काफी है। रेलों के धन्धे में जितनी पूँजी लगी है, वह अन्य संगठित उद्योग धन्धों में लगी हुई पूँजी की दुगनी है। उदाहरणार्थ, १९५० में रेलों में लगी हुई कुल पूँजी ८०६ करोड़ थी जब ५,६४३ रजिस्टर्ड कारखानों में अनुमानतः केवल कुल ४०४ करोड़ की पूँजी लगी थी। अन्य सब संगठित उद्योग धन्धों में केवल १६.३ लाख आदमियों को ही काम मिला है जब कि रेलवे में ८.५ लाख कर्मचारियों से अधिक ही काम करते हैं जिनका वार्षिक पारिश्रमिक लगभग १०७ करोड़ रुपया होता है।

कुछ अन्य देशों की रेलों से भारत की रेलों की तुलना—भारत में रेल पथ कुल ३३,०८४ मील का है। युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व कितनी ही व्यक्तिगत कम्पनियाँ कई मीलों तक अपनी निजी रेलें चलाती थीं। इनमें से बंगाल, नागपुर तथा दक्षिण भारत रेलवे कम्पनियाँ मुख्य थीं। परन्तु आज केवल थोड़ी सी इनी गिनी रेलों को छोड़कर बाकी सब रेलवे कम्पनियों को भारत सरकार की हैं। जब से देशी राज्य भारतीय संघ में मिल गये तब से इन राज्यों के रेलवे लाइनों पर भी भारत सरकार का अधिकार हो गया है।

कितने मील तक रेलवे लाइनें फैली हुई हैं, केवल इस बात से ही रेलों सम्बन्धी वास्तविक स्थिति का पता नहीं चलता उसके साथ यह भी देखना होगा कि वे लाइनें कितने क्षेत्रफल में फैली है और उनसे कितनी जनता को लाभ पहुँचता है।

नीचे दी हुई तालिका से अन्य देशों का रेलो की तुलना में भारत की रेलों सम्बन्धी स्थिति का परिचय मिल जायगा :—

(१)

रेलों का विस्तार (माइलेज) प्रति लाख जन संख्या पर

भारतीय संघ	१·०७
संयुक्त राज्य अमरीका	२२४
दक्षिण अफ्रीका	१६४
कनाडा	४६५
ग्रेट ब्रिटेन	४६

(२)

रेलों का विस्तार (माइलेज) प्रति १०० वर्ग मील क्षेत्रफल पर

अर्जेन्टाइना	२.६
आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैंड	.६
कैनाडा	१.०
ग्रेट ब्रिटेन	२०.०
दक्षिण अफ्रीका संघ	२.४

बेल्जियम	४०.०
भारतीय संघ	२.८
रूस (यूरोप में)	१.५
जर्मनी	२०.०
रूस को छोड़कर शेष यूरोप	११.५
संयुक्त राज्य अमरीका	६.६

ऊपर की द्वितीय तालिका देखने से यह पता चलता है कि जहाँ तक आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे कृषि प्रधान देशों का सम्बन्ध है भारत में रेलों की लम्बाई उनकी तुलना में कोई कम नहीं है किन्तु जब हम भारतीय रेलों की तुलना अन्य औद्योगिक देश जैसे संयुक्त राज्य और बेलजियम आदि से करते हैं तो हमें यह पता चल जाता है कि भारतीय रेलें कितने थोड़े से क्षेत्रफल में ही फैली हुई हैं। प्रथम तालिका में दिये हुये आंकड़ों से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। इसके अनुसार तो भारत कैनाडा जैसे कृषि प्रधान देश से पीछे रह जाता है। इस तालिका में रेलों के माइलेज या लम्बाई का अध्ययन जनसंख्या की दृष्टि से किया गया है। इस दृष्टिकोण से यहाँ पर बेलजियम जैसे महान औद्योगिक किन्तु अन्य जनसंख्या वाले देश से भारत की तुलना करना निरर्थक सा है। इसके लिये भारत की तुलना संयुक्त राज्य अमरीका जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश से करना उचित है। संयुक्त राज्य अमरीका में भारतवर्ष के समान ही भौगोलिक स्थिति है। भारतवर्ष की ही भाँति यहाँ भी ऊंची-ऊंची पर्वत श्रेणियाँ, जलजलाते रेगिस्तान, तथा विशाल नदियाँ आदि हैं। इन सब कठिनाइयों या बाधाओं के होते हुए भी संयुक्त राज्य अमरीका में लगभग २५ लाख मीलों में रेलवे लाइनें हैं जब कि भारत में केवल ३३,००० मील ही लम्बी रेलवे लाइन हैं। यदि रेलें नहीं तो सड़कों से भी इनके स्थान पर अच्छा काम चल सकता है, परन्तु भारत में इनकी भी कमी है। आवश्यकता इस बात की है कि भारत को और अधिक रेलमार्ग तथा साथ ही सुयोजित सड़कों व अच्छे जलमार्ग की जरूरत है। इस सम्बन्ध में अपने यातायात के साधनों के प्रसार करने के समय हमें एक दूसरे की स्थिति को देखते हुये ही विकास करना होगा, हमें यह ध्यान रखना होगा कि इन तीनों साधनों में आपस में कोई व्यर्थ की प्रतियोगिता न हो, वे एक दूसरे के पूरक हों।

रेलों से लाभ—भारतवर्ष जैसे विशाल देश में रेलों के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक समय था जब कि देश में यह कहावत प्रचलित थी कि 'गया,' गया सो गया। यह वह समय था जब कि देश में यातायात या आवागमन के समुचित साधनों का विकास नहीं हुआ था, दूर की यात्रा करने का तात्पर्य अनेक संकटों का सामना करना तथा अपनी जान को जोखिम में डालना था। उस समय इस प्रकार के साधनों के न होने से कितनी ही हानियाँ होती थीं। भारत के किसी एक कोने में अकाल आदि के पड़ने पर वहाँ पर यथासमय खाद्यान्न आदि का भेजना दुर्लभ होता है, भयंकर बीमारियों या बाढ़ आदि के आने के कारण भी, वहाँ की जनता को जल्दी से यथेष्ट सहायता न मिल पाती थी। इन सब के परिणामस्वरूप न जाने कितने ही मनुष्यों और पशुओं को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता था।

अब देश में रेलों आदि के प्रचार हो जाने से हमें इस दिशा में काफी सहायता मिल गई है। अब हमें दुर्भिक्ष या अकाल आदि का उतना भय नहीं रह गया है। वैसे तो हमें अब भी दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ता है, थोड़े दिन हुए १९४३ में बंगाल का भयंकर अकाल पड़ा जिसमें लाखों आदमी भूख से व्याकुल होकर मर गए, अभी हाल ही की बात है जब कि बिहार के भी कुछ हिस्से में लोगों को अकाल का सामाना करना पड़ा। परन्तु अब ये अकाल या दुर्भिक्ष मुख्य रूप से अन्न के

अभाव के कारण नहीं वरन् पैसे या धन के अभाव के कारण होते हैं। हम देखते हैं कि एक प्रदेश में जब कि निर्धन व्यक्ति दुर्भिक्ष की स्थिति में अपने प्राण गंवाते होते हैं, दूसरी ओर थोड़े से धनी व्यक्ति अपने पैसे के बल पर पेट भर भोजन करते हुए आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार देश में यातायात के साधनों के फैल जाने से हमारा प्रकृति के इन प्रकोपों का भय कम हो गया है।

रेलों के द्वारा भारतीय कृषक संसार के अन्य बाजारों से अपना सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हुआ है। देश से कितने ही रुपये का कच्चा माल विदेशों को भेजा जाता है और वहाँ से मशीनें तथा तैयार माल मंगाया जाता है। इसके कारण लोगों के रहन सहन के स्तर में परिवर्त्तन हुआ है, उनका स्तर पहले से कुछ अच्छा हुआ है किन्तु देश की जनसंख्या में इतनी अधिक वृद्धि होने के कारण यह अन्तर हमें बहुत कम दिखलाई पड़ता है।

रेलों के ही द्वारा किसानों को अच्छी खाद, अच्छे बीज, अच्छे कृषि-यंत्र मिलने लगे हैं। रेलों द्वारा प्रान्तीयता और जातीयता की भी संकुचित भावना कम हुई है। श्रम का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना भी सुगम हो गया है। आसाम के चाय के बगीचों, बम्बई और कलकत्ता के कारखानों में काम करने के लिये सारे भारत से मजदूर लोग पहुँचते हैं। एक समय था जब कि ऊंच-नीच का भेद, छुआछूत की भावना देश में काफी जोरों से फैली हुई थी, एक जाति दूसरी जाति को घृणा से देखती थी और कितने ऐसे लोग थे जो कुछ जातियों के लोगों को देखना तक पसन्द नहीं करते थे। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व तक ऐसी स्थिति थी कि यदि किसी शूद्र की परछाई किसी उच्चवर्ण के व्यक्ति पर पड़ जाती थी तो एक प्रकार का खासा बवण्डर सा उठ खड़ा होता था। परन्तु आज विचारों की वह संकीर्णता लुप्त हो गई है। यद्यपि आज भी सब जातियों में परस्पर प्रेम की भावना नहीं, लोगों में एक-दूसरे को नीचा दृष्टि से देखने की भावना अब भी विद्यमान है, किन्तु इतना अवश्य हो गया है कि अब एक जाति के लोग दूसरी नीची जाति के साथ बैठ जाते हैं, उसमें बहुत अधिक नहीं हिचकते। एक ही डिब्बे में, एक ही सीट पर ब्राह्मण देवता और बगल में नीच जाति का भंगी या चमार आदि बैठा हुआ यात्रा करता है। इस सब का श्रेय हमारी रेलों को ही है।

रेलों द्वारा हमें अपने देश की बहुत सी ऐसी वस्तुयें जो एक स्थान से दूसरे स्थान को यदि यथाशीघ्र न पहुँचाई गईं तो नष्ट हो जाती हैं— आसानी से मिलने लगी हैं। काश्मीर तथा कुलू के फल, बम्बई की मछलियाँ, सहारनपुर का आम आज सारे भारत में मिल जाता है। दूध और अण्डे जैसे शीघ्र नष्ट होनेवाली वस्तुयें संसार में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक आसानी से पहुँचाई जाती हैं।

एक बात हमें यह और स्मरण रखनी चाहिये वह यह कि भारत जैसे विशाल देश का अच्छा शासन-प्रबन्ध करना बिना यातायात के अच्छे साधनों द्वारा सुगम नहीं था। रेलों के द्वारा हमें इस दिशा में भी बहुत अच्छी सहायता मिली है। इनके द्वारा देश की आन्तरिक तथा बाहरी सुरक्षा को काफी सहायता प्राप्त हुई है। जब तक रेलों की सुन्दर व्यवस्था नहीं होती तब तक लोगों के आर्थिक विकास की कोई बड़ी योजना नहीं बनाई जा सकती।

कृषि, उद्योग-धन्धे, वाणिज्य-व्यवसाय आदि सभी की उन्नति यातायात के अच्छे साधनों पर ही निर्भर रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत को रेलों से काफी लाभ पहुँचा है। यदि भारत में रेलों की कोई व्यवस्था न होती, तो देश के विभिन्न प्रान्त राज्य सांस्कृतिक एवं सामाजिक सभी दृष्टियों से एक दूसरे से अलग रहते, उनमें कोई एकरूपता न होती।

भारतीय रेलों का दोषपूर्ण विकास—भारतीय रेलों का विकास जिस प्रकार और जिस दिशा में हुआ है, उसे सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। भारतीय रेलों के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि सबसे पहली रेलवे लाइन बम्बई से कल्यान तक की थी। यह लाइन १८४६ में डाली गई थी और इसकी लम्बाई ३३ मील थी। इसके पश्चात् दो और लाइनें, एक कलकत्ते से रानीगञ्ज (१२३ मील) दूसरी मदरास से अर्कोनम (३३ मील) तक डाली गई। जिस समय इन रेलों की नींव डाली गई उस समय बम्बई, कलकत्ता और मदरास जो कि आज मुख्य व्यापारिक केन्द्र हैं, व्यापारिक नगर नहीं थे। जब ये नगर रेलवे लाइनों द्वारा आपस में मिला दिये गये तो व्यापार की दृष्टि से भी ये खूब चमकने लगे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भारत में रेलों की स्थापना कोई सुविचारित योजना के अनुसार नहीं हुई। यदि इनकी स्थापना सुयोजित होती तो पहले कल्यान और अर्कोनम जैसे छोटे स्थानों में रेलवे लाइनें डालने की अपेक्षा ढाका, बनारस जैसे उन्नत नगरों को रेल मार्ग द्वारा मिलाने का प्रयत्न किया जाता। इस प्रकार किसी निश्चित योजना के अनुसार रेलवे लाइनें बिछाने से व्यय भी कम होता।

इस प्रकार की रेलों के बिछाने से एक और हानि हुई वह यह कि इनके द्वारा प्राचीन नगर और व्यावसायिक या पुराने उद्योग-धन्धों के केन्द्र नष्ट हो गये। इनके द्वारा इन नगरों की प्राचीन आर्थिक व्यवस्था नष्ट हो गई। रेलों ने विदेशों की बनी हुई वस्तुओं की बिक्री में तो खूब सहायता पहुँचाई। भारत के कितने ही केन्द्र विदेशी माल से भर गये और भारतीय उद्योग-धन्धों को धक्का पहुँचने लगा। प्राचीन काल में मुर्शिदाबाद, और मदुरा महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र थे। यदि एक सुयोजित व्यवस्था के अनुसार यहाँ रेलें बिछाई जातीं तो ऐसे ही केन्द्रों को मिलाने का प्रयत्न किया जाता। यदि पहले इनको मिला दिया जाता तो ये नगर और अधिक उन्नति करते, इनके द्वारा उन्नति करने में इनको अच्छी सहायता मिलती।

१९१८ में औद्योगिक आयोग ने लिखा था कि 'अभी तक ५००,००० गाँवों में से अधिकांश ऐसे गाँव हैं जहाँ पर न तो रेलें ही हैं और न पक्की सड़कें।' यद्यपि आयोग ने यह बात आज से कितने वर्षों पूर्व कही थी किन्तु आज भी इस दिशा में कोई विशेष या महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में रेलवे लाइनें किसी एक सुयोजित आधार पर नहीं निर्मित की गई जिसका हमारे आर्थिक जीवन पर कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ा। आवश्यकता इस बात की है कि देश में अच्छी योजना के अनुसार नये रेलमार्ग निर्मित किये जायँ और इस बात का अधिक से अधिक प्रयत्न किया जाय कि उन स्थानों में जहाँ आज तक रेलें नहीं पहुँच सकी हैं; वहाँ तक इनको पहुँचाया जाय जिनसे भारतीय जनता को अच्छी-से-अच्छी यातायात की सुविधा प्राप्त हो।

रेल मार्गों के विकास का इतिहास—भारतीय रेल मार्ग के इतिहास को हम मुख्य रूप से निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) प्राचीन गारंटी पद्धति १८४९-१८६९—भारत में रेलों की स्थापना भारतीयों के हित को ध्यान में रख कर नहीं की गई थी। यहाँ पर रेलों की स्थापना का उद्देश्य अंगरेजों का हित साधन ही था। उस समय इङ्गलैंड में भारत के कच्चे माल जैसे कपास आदि की मांग बढ़ रही थी और अंगरेज उद्योगपति अपने देश में बने हुए माल को भारत में बेचने के लिये उत्सुक हो रहे थे। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' को लिखा था कि 'भारत में अंगरेजी वाणिज्य व व्यवसाय के प्रसार के लिए यह आवश्यक है कि यहाँ रेलों की स्थापना की जाय, डाइरेक्टर्स ने डलहौजी के इस सुझाव को स्वीकार कर लिया। १८५० के अन्त में गारन्टी पद्धति (Guarantee System) के अनुसार आठ कम्पनियाँ निर्मित की गईं। सरकार ने देश में

उन्हें रेलें बिछाने के लिए बिना मूल्य भूमि दी और यह कह दिया कि कम्पनियाँ रेलों की व्यवस्था में जितनी पूँजी लगायेंगी उसका उन्हें कम से कम ५ प्रतिशत के हिसाब से सूद दिया जायगा। इसके बदले में कम्पनियों से यह तय किया गया कि २५ या ५० वर्ष के उपरान्त यदि सरकार चाहेगी तो कम्पनियाँ रेलों को उसके हाथ बेंच देंगी। इसके साथ ही यह भी तय किया गया कि सरकार को अपने अत्यधिक लाभ का अर्द्ध भाग देंगी और सरकार को रेलों के प्रबन्ध में साधारण नियन्त्रण रखने देंगी।

इस पद्धति का अच्छा परिणाम नहीं निकला। इंजीनियरों व कुशल श्रमिकों के अभाव के कारण काम भी धीमा ही हुआ। सरकार ने सूद की दर काफी कर दी थी इसका रेलवे कम्पनियों के डाइरेक्टरों पर बुरा असर पड़ा। उन्हें यह तो पूरा विश्वास हो ही गया था कि वे जितनी रकम इसमें लगायेंगे वह तो वसूल ही हो जायगी, अच्छी सूद की दर मिलने से वे इस ओर और भी लापरवाह हो गए और उन्होंने इसमें मितव्ययिता से काम नहीं लिया। इसका परिणाम यह निकला कि यह पद्धति अत्यन्त मंहगी सिद्ध हुई। सरकार भी अपना इस पर अच्छा नियंत्रण नहीं रख सकी। सरकार ने रेलवे लाइनें बिछाने के लिये उनको काफी प्रोत्साहित किया परन्तु इसका कोई विशेष लाभ न निकला। इस पद्धति के अनुसार केवल ४,२५५ मील का ही रेल मार्ग तैयार किया गया। अन्त में यह पद्धति असफल रही।

(२) रेल मार्गों का राज्य द्वारा निर्माण—(१८६६-१८७६) इस वर्ष तक सरकार ने इस सम्बन्ध में किसी कम्पनी से नया समझौता नहीं किया और स्वयं रेल मार्गों के निर्माण के लिये ४ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष खर्च करने का इरादा किया। इसके परिणाम स्वरूप १८७६ के अन्त तक ८,०६० मील लम्बा रेल पथ बना। इसमें से ६ हजार मील की रेलों का निर्माण कम्पनियों द्वारा हुआ था शेष सरकार द्वारा। यह सब होते हुए भी १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने यह कहा था कि दुर्भिक्ष आदि के प्रकोप से बचने के लिये भारत में ५००० मील लम्बे और अधिक रेल मार्ग की आवश्यकता है। सरकार के पास इतना अधिक पैसा नहीं था जो इस काम के लिये खर्च करती अतः उसने एक बार फिर प्राइवेट कम्पनियों को इस कार्य को करने के लिये निमंत्रित किया।

(३) नई गारंटी पद्धति १८७६-१६००—हम ऊपर कह चुके हैं कि सरकार के पास धन का अभाव हो जाने के कारण सरकार को रेलों के निर्माण का कार्य छोड़ देना पड़ा। उस समय बिहार तथा दक्षिण में लगातार दुर्भिक्ष पड़ा, दूसरे उसी समय रुपये का भी अवमूल्यन हो गया था, इन कारणों से धन का अभाव होना स्वाभाविक ही था। अतएव उसने कम्पनियों से फिर रेलों के निर्माण के सम्बन्ध में समझौता किया। कम्पनियों को इस क्षेत्र में अनुभव भी काफी था, और उन्होंने रेलों से धन भी खूब अर्जित किया था। अतः उन्हें भी इस कार्य को लेने में प्रसन्नता ही थी। सरकार ने कम्पनियों को यह गारन्टी दी कि जितनी पूँजी वे इस कार्य के लिये लगायेंगी उसका उन्हें ३½% सूद दिया जायगा। इसके बदले में यदि कम्पनियों को अतिरिक्त लाभ (Surplus Profit) होगा तो उसका ¾ सरकार ले लेगी। इसके अतिरिक्त २५ वर्ष पश्चात् या दस-दस वर्षों के अन्तर के पश्चात् रेलों के कम्पनियों के हाथ से खरीद लेने का अधिकार भी अपने हाथ में रखा। इस काल में कुल ४,००० मील लम्बी लाइनें डाली गईं।

(४) युद्ध के पूर्व का समय—(१६००-१६१४)—यद्यपि १६०० तक मुख्य-मुख्य रेलवे लाइनें पूरी हो चुकी थीं परन्तु अभी अन्य छोटी बड़ी ब्रान्च लाइनों की अत्यन्त आवश्यकता थी। १६०७ में मैके समिति ने इस बात पर जोर दिया था कि सरकार को रेलों के लिये प्रतिवर्ष कुछ न कुछ रकम निश्चित रूप से खर्च कर, भारत में रेलों का प्रसार करना चाहिये। समिति ने यह सलाह दी कि इस काम के लिये सरकार को १८ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष खर्च करना चाहिये। सरकार ने

इस सम्मति का पूरी तरह तो अनुसरण नहीं किया किन्तु छै वर्षों (१९०८-१९१३) में उसने इसमें ६२ करोड़ रुपया लगाया। इस काल में १०,००० मील से भी अधिक छोटी-बड़ी लाइनें डाली गईं। इस प्रकार १९१४ में भारत में कुल ३४,००० मील लम्बा रेल-मार्ग हो गया।

(५) युद्ध के पश्चात् का समय (१९१४-१९२०)—युद्ध के समय में विदेशों से इंजिन आदि नहीं मंगाये जा सके। इस कारण रेलों के निर्माण की नई योजनाओं को स्थागित कर देना पड़ा। नई लाइनों की स्थापना की बात तो दूर रही, बहुत सी पुरानी लाइनों को भी नहीं चालू रखा जा सका। लड़ाई के कारण रेलों पर भार और भी बढ़ गया। उस समय युद्ध को चालू रखने के लिये भारत से कुछ रेलें, यहाँ के कर्मचारियों आदि को पूर्वीय अफ्रीका तथा मेसोपोटामिया भेज दिया गया था। इसके परिणामस्वरूप भारत में रेलों की व्यवस्था पर काफी आघात पहुँचा। बहुत से पुल यहाँ इतने खराब हो गये जिन पर से रेलगाड़ियों का जाना खतरे से खाली नहीं था। इंजिन भी अच्छे नहीं थे। ब्रान्च लाइनों में मालगाड़ियों के डिब्बों में मुसाफिरों को ले जाने का काम होता था। गाड़ियों में लदने के पहले, भेजा जाने वाला माल हफ्तों और पन्द्रहियों तक स्टेशनों पर पड़ा रहता था। इस प्रकार इस समय रेलों की व्यवस्था में बड़ी ही गड़बड़ी थी। १९२१ में इस सम्बन्ध में आकवर्थ समिति ने अपने प्रतिवेदन में सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और लिखा था कि "इस समय देश में कितने ही ऐसे रेल-मार्ग हैं, सैकड़ों इन्जिन हैं, और हजारों डिब्बे हैं जिनकी हालत अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण है और जिनका आज से कितने ही दिनों पहले पुनर्निर्माण करना अतीव आवश्यक था।" इस प्रकार युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् सब तरफ यह आवाज उठ रही थी कि सरकार रेलों की व्यवस्था में सुधार करे, उसके उन दोषों को दूर करे।

(६) १९२१ के पश्चात् रेल मार्गों की दशा—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि १९२० के नवम्बर मास में भारतीय रेल-मार्गों पर अपनी रिपोर्ट देने के लिये कुछ विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्ति की गई। इस समिति के अध्यक्ष सर विलियम आकवर्थ थे। इस समिति ने १९२१ में अपना प्रतिवेदन उपस्थित किया। १९१९ में सबसे महत्वपूर्ण कम्पनी (ई० आई० आर०) के ठेके की अवधि समाप्त हो चुकी थी। अतः समिति के सन्मुख सबसे महत्व का यह प्रश्न था कि क्या कम्पनी के ठेके को और आगे बढ़ाया जाय अथवा सरकार द्वारा उसे खरीद लिया जाय। इस सम्बन्ध में समिति ने कितने ही लोगों से बातचीत की, प्रश्न के सब पहलुओं पर अच्छी तरह विचार किया गया, कम्पनी के शासन-सम्बन्ध पर अच्छी तरह ध्यान दिया गया। थोड़े समय के लिए १९२४ के अन्त तक कम्पनी के ठेके की अवधि बढ़ा दी गई। समिति ने रेलों की विभिन्न शासन-पद्धतियों पर भी विचार किया।

राज्य द्वारा रेलों के प्रबन्ध पर विचार—रेलों के विकास सम्बन्धी इतिहास के अन्य कालों पर विचार करने के पूर्व हम यहाँ पर रेलों की कम्पनी तथा राज्य द्वारा शासन व्यवस्था पर विचार करेंगे। आकवर्थ समिति के सदस्यों में से आधे सदस्य तो कम्पनी द्वारा शासन करने के पक्ष में थे और आधे राज्य द्वारा। अन्त में समिति ने राज्य द्वारा शासन करने के पक्ष में अपना अन्तिम मतप्रदान किया। इस प्रकार बहुमत राज्य द्वारा रेलों के प्रबन्ध के करने के पक्ष में हो गया।

यह सत्य है कि कुछ देशों में कम्पनियाँ रेलों के शासन प्रबन्ध करने में बड़ी सफल हुई हैं परन्तु जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, यहाँ स्थिति बिल्कुल ही विपरीत थी। यहाँ कम्पनियों ने जो रेलों की शासन-व्यवस्था की, उसमें उन्होंने भारतीय जनता के हित और कल्याण का बहुत कम विचार किया। कम्पनियों के सदस्यगण विदेशी थे। ऐसी दशा में उनसे यह आशा करना कि वे भारतीय हितों का बहुत ध्यान रखेंगी और भारतीय जनता के कल्याण के लिए वे सब कुछ करेंगी दुराशामात्र थी। इस प्रकार कम्पनियों द्वारा शासन करने की बात को भारत में विशेष समर्थन नहीं

प्राप्त था। यहाँ रेलों में जो पूँजी लगी थी उसका अधिकांश सरकार का था। अतएव इतनी विशाल सम्पत्ति को उन कम्पनियों के हाथ में सौंप देना जिनका प्रमुख कार्यालय इंगलैंड में था उचित नहीं मालूम पड़ता था। जहाँ तक यह प्रश्न था कि कम्पनियाँ और राज्य दोनों मिलकर रेलों का शासन करें, इस प्रकार का द्वैध शासन, जिसमें कि उत्तरदायित्व बंटा हुआ हो, शासन की दृष्टि से न तो सुविधाजनक ही था और न लाभदायक ही था। यदि यह कहा जाय कि इस देश में कम्पनी द्वारा शासन करने की बात बिल्कुल अव्यावहारिक थी, तो कोई अत्युक्ति न होगी। गत वर्षों में कम्पनी ने रेलों का जिस प्रकार शासन किया था उससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

भारतीय जनता रेलों के राज्य द्वारा शासन करने के ही पक्ष में थी। रेलों में जो पूँजी लगी हुई थी, वह भारत की थी अतएव इसके लिये भारतीय जनमत की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। भारतीय जनता यह बात भलीभाँति समझती थी कि यदि रेलों का प्रबन्ध कम्पनियों के ही हाथ में रहा तो इससे बहुत कम लाभ मिलेगा, उसके जितने भी उच्च पद रहेंगे वे सब विदेशियों द्वारा ही भरे रहेंगे। इस प्रकार वह भी यह चाहती थी कि रेलों का प्रबन्ध राज्य ही अपने हाथ में ले।

इसके अतिरिक्त कम्पनी द्वारा शासन करने के विपक्ष में एक और बात कही जाती थी कि यदि यहाँ कम्पनियाँ ही रेलों का शासन करती रहीं तो वे बाहर आने वाले माल पर कम किराया लेंगी, उस माल पर किराये की दर कम रहेगी तो उसका भारतीय उद्योगों पर भी गहरा प्रभाव पड़ेगा। पुनश्चः यदि राज्य प्रबन्ध करेगा तो उसके द्वारा व्यवसायियों और मुसाफिरों की यातयात सम्बन्धी कठिनाइयाँ आसानी से दूर की जा सकेंगी।

यातायात के सब साधनों में आपस में सामञ्जस्य बनाये रखने के लिये भी यह आवश्यक था कि राज्य द्वारा रेलों का प्रबन्ध हो। ऐसी स्थिति में ही सड़कों, रेल मार्गों तथा जलमार्गों का विकास हो सकता है। पिछले वर्षों में जब कि कम्पनियों ने रेलों का प्रबन्ध किया तो उस समय यातायात के अन्य साधनों पर बड़ा बुरा असर पड़ा था। इस प्रकार जब भारत में रेलों के राज्य द्वारा शासन-प्रबन्ध की आवाज सभी ओर बुलन्द हो रही थी तो उस समय १९२५ में साधारणतया सभी रेलवे लाइनें सरकार के नियंत्रण में आ गईं, अब भारत सरकार उनका प्रबन्ध करने लगी। तभी तो १९४५-४६ के बजट के सम्बन्ध में भाषण देते हुए सर ई० बेनथल ने कहा था कि 'आज शत-प्रतिशत रेलें भारतीय हैं।' आज भी भारतीय संघ के अन्दर ३३,०८४ मील लम्बा रेल मार्ग है, इसमें से केवल ७७६ मील की उपमार्गों वाली लाइन को छोड़कर जिनका अभी राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ है शेष सब भारत की है, स्वतंत्र भारत की सरकार का अब उन पर नियन्त्रण है।

युद्ध के समय (१९३९-४५) का रेल मार्ग—प्रथम महायुद्ध के समय जो स्थिति भारतीय रेलों की थी उससे कहीं अच्छी स्थिति द्वितीय महायुद्ध के समय हो गई थी। युद्ध के प्रारम्भ के दो वर्षों में ऐसा प्रतीत होता था कि भारतीय रेलें युद्ध की बहुत सी आवश्यकताओं की सरलता से पूर्ति कर देंगी। परन्तु १९४१-४२ में सैनिकों तथा सैनिक सामग्री का यातायात इतना अधिक बढ़ गया कि रेलों का अभाव खटकने लगा। इसके बाद ही जापान के लड़ाई में सम्मिलित हो जाने के परिणामस्वरूप समुद्री तटों का व्यापार असम्भव हो गया और अब रेलों पर सारा भार जिसमें मुख्य कर कोयले का ढोना था, रेलों पर पड़ गया। इस प्रकार जनता के लिए रेलगाड़ियों के डिब्बे का अभाव काफी बढ़ गया, जनता को यातायात में काफी कठिनाई होने लगी।

रेलवे के कारखानों में से कुछ कारखानें, जिनमें २०,००० से भी अधिक कुशल शिल्पी काम करते थे, अब अस्त्र-शस्त्र बनाने का काम करने लगे। इस प्रकार रेलवे के बहुत से कर्मचारी सैनिक कार्यों में लग गए। इस युद्ध के बढ़े हुए कार्यों के कारण जनता को यातायात में, आवागमन में, बड़ी परेशानी होने लगी। १९४२ में युद्ध यातायात समिति (War Transpork Board)

का निर्माण किया गया। इसमें रेलवे विभाग भी सम्मिलित था। इस वर्ष, भयानक बाढ़, तूफान तथा जन-क्रान्ति के कारण कई लाइनें टूट गईं, उधर समुद्री तटों के यातायात के साधनों के बिल्कुल बन्द हो जाने के कारण रेलों की मांग और बढ़ी। अतएव इस समय यातायात समिति के सन्मुख मुख्य समस्याएँ तीन थीं :—

(अ) रेल के द्वारा सैनिक तथा अन्य आवश्यक कार्यों की पूर्ति।

(ल) यातायात के अन्य साधनों का संगठन।

(स) उपरोक्त दोनों कार्यों के संचालन के लिए शासन-यंत्र का संगठन।

इसके अनुसार १६४२ की फरवरी में केन्द्र में एक केन्द्रीय यातायात संघ (Central Transport Organization) तथा प्रान्तों में प्रादेशिक यातायात समितियों (Provincial Regional Transport Boards) की स्थापना की गई। इन समितियों का कार्य यातायात के अन्य साधनों का संगठन कर रेलों के यातायात सम्बन्धी भार को कम करना था। यह कार्य कोई आसान नहीं था। इसमें कई कठिनाइयाँ थीं। धीरे-धीरे रेलवे यातायात का पुनर्संगठन होने लगा। जितना भी अनावश्यक यातायात था उसे बन्द कर एक प्राथमिकता की पद्धति (Priority System) का श्रीगणेश किया गया। कुम्भ मेला आदि के लिए यातायात की जो विशेष व्यवस्था होती थी, उसे समाप्त कर दिया गया। सस्ते किराए आदि सम्बन्धी जो भी सुविधाएँ थीं सब हटा ली गईं। मुसाफिर गाड़ियों में और कमी कर दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसाफिर रेल गाड़ियों की पटरियों पर, डिब्बों की छतों आदि पर बैठे यात्रा करते हुए दिखाई पड़ने लगे। रेलों ने भी यह प्रचार किया कि 'जब अत्यन्त आवश्यकता हो तभी यात्रा करें।' इस प्रकार के प्रचार से मुसाफिरों की भीड़ को कम करने का प्रयत्न किया।

रेलवे अधिकारियों ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि कोई डिब्बे खाली और बेकार न रहें। पार्सल आदि के भाड़े दर में भी वृद्धि कर दी गई। प्रत्येक लोकोमोटिव के दैनिक कार्य में वृद्धि कर दी गई। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी रेलों ने सैनिक तथा नागरिक दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करने का अच्छा प्रयत्न किया और उसमें किसी सीमा तक वह सफल हुईं।

युद्ध के बाद की रेलें—युद्ध के समय तो रेलों के सामने कई समस्याएँ थीं ही, इसके पश्चात् भी उन्हें कई कठिनाइयों का एक साथ सामना करना पड़ा जिनमें से मुख्य ये थीं :—

(१) युद्ध का रेलों की स्थिति पर प्रभाव—हम ऊपर कह चुके हैं कि युद्ध के दिनों में रेलों पर काफी भार पड़ गया था, डिब्बों का अभाव हो गया था, मुसाफिरों के आवागमन तथा माल के ढोने आदि के लिए बड़ी कठिनाइयाँ आ खड़ी हुई थीं। डिब्बों इत्यादि का अभाव तो था ही, रेलगाड़ियों के पुर्जों आदि का भी प्राप्त होना कठिन हो गया था। इस बढ़े हुए काम को संभालने के लिए अच्छे आदमी न मिल सके थे, यहाँ के कुशल तथा अनुभवी आदमी तो सैनिक कार्यों में व्यस्त थे, इनके स्थान पर अनुभवहीन व्यक्तियों की नियुक्ति की गई थी जो कि इस काम को संभालने में सर्वथा अयोग्य थे। इसी समय खाद्याभाव, सैनिक सामग्रियों के इधर-उधर भेजने के परिणामस्वरूप यह कठिनाई और बढ़ गई। काश्मीर के युद्ध तथा हैदराबाद की पुलिस कार्यवाही से दशा और भी बिगड़ गई। यही नहीं इन दिनों के औद्योगिक झगड़ों, हड़तालों आदि ने भी दशा को खराब करने में अपना हाथ बटाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध के बाद के दिनों में यातायात सम्बन्धी स्थिति और डांवाडोल हो गई थी।

इधर देश स्वतंत्र हुआ, अंगरेज यहाँ से चले गए, अब भारतीयों के हाथ में रेलों की भी व्यवस्था आ गई। कांग्रेसी शासन ने इस दिशा में सुधार करने के कई प्रयत्न किए। इन सबके परिणामस्वरूप १६४६ तक रेलों सम्बन्धी स्थिति कुछ सुधर गई। गाड़ियों के डिब्बों की बनावट आदि

में परिवर्तन किया गया। मुसाफिरों के आराम के लिए प्रयत्न किए जाने लगे । गाड़ियों में प्राथमिकता वाले सिद्धान्त को समाप्त कर दिया गया । इस समय आवश्यकता होने पर यातायात की अच्छी सुविधा प्राप्त हो सकती थी । अब स्टेशनों पर माल लदने के लिए पड़ा नहीं रहता था । कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय रेलों की व्यवस्था में काफी विकास हो गया । पहले से इस समय दशा काफी अच्छी हो गई ।

(२) **विभाजन का प्रभाव**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही साथ, १९४७ में हमें भारत के विभाजन को भी सहना पड़ा । इससे कर्मचारियों में और कमी हो गई । यहाँ के बहुत से कुशल कारीगर पाकिस्तान को चले गये । इससे रेलवे में भ्रष्टाचार तथा अकुशलता ने अपना पैर जमाना प्रारम्भ कर दिया । कुशल कर्मचारी तो गये ही साथ में हमारे हाथ से मुगलपुरा और किंचिनपाड़ा जैसे दो महत्वपूर्ण रेलवे के कारखाने भी निकल गये। करांची के बन्दरगाह के निकल जाने के कारण यातायात में और वृद्धि हो गई परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि १९४९ तक हमारे रेलवे विभाग ने इन सब कठिनाइयों पर अपनी विजय प्राप्त कर ली । यातायात के साधनों में काफी विकास किया गया । कांडला जैसे नवीन बन्दरगाहों का और विकास किया गया, १९५० तक यह स्थिति और सुधर गई ।

(३) **रेलों की नवीन व्यवस्था**—स्वतन्त्र भारत की सरकार ने रेलों की नवीन व्यवस्था करते समय उनके सामूहीकरण (ग्रूपिंग) की ओर विशेष ध्यान दिया । इस समय प्रबन्ध की दृष्टि से रेलवे नौ इकाइयों में बँटी हुई है । किसी समूह में माइलेज कम है जैसे आसाम में १,२३१ है और किसी समूह में अधिक है जैसे ईस्ट इंडियन रेलवे में ४,४५७ । इन समूहों में आपस में कार्य आदि करने की पद्धति में कुछ भिन्नता है ।

जब से (अप्रैल १९५०) से सरकार ने रेलों का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया तब से रेलों के पुनर्संगठन, तथा सामूहीकरण के प्रश्न का महत्त्व और बढ़ गया है । इस दिशा में अन्वेषण किया जा रहा है । अभी तो विभिन्न इकाइयों में विभिन्न पद्धतियों का प्रचलन है । अब इस बात की व्यवस्था की जा रही है कि समस्त रेलों को एक ही पद्धति के आधार पर व्यवस्थित किया जाय । इस नवीन पद्धति के अनुसार समस्त रेलवे शासन को छः बड़े वृत्तों में बाँटा जायगा । ऐसी आशा की जाती है कि इस व्यवस्था से रेलवे प्रबन्ध में कुशलता की वृद्धि के साथ ही साथ आर्थिक लाभ भी काफी होगा । जिन वृत्तों (Zones) में रेलों को बाँटा जायगा, वे निम्नलिखित हैं :—

प्रथम वृत्त (First Zone)—इस वृत्त या जोन में उत्तरी भाग की रेलें होंगी जिसमें ई० पी० रेलवे, ई० आई० रेलवे का पश्चिमी भाग (लखनऊ कानपुर व देहली से सहारनपुर); बम्बई बड़ौदा व सेन्ट्रल इंडिया रेलवे का आगरा से कानपुर वाला भाग तथा छपरा के पश्चिम भाग में अवध तिरहुत रेलवे सम्मिलित हैं ।

द्वितीय वृत्त (Second Zone)—इस पश्चिमी रेल मार्ग में बम्बई-बड़ौदा व सेन्ट्रल इंडिया के कानपुर से आगरा वाले भाग को छोड़कर शेष भाग, तथा सौराष्ट्र, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, राजस्थान व कच्छ राज्यों का रेलवे सम्मिलित हैं । इस वृत्त में कांदला के बन्दरगाह के विकास की आवश्यकताओं, सौराष्ट्र आदि के राजस्थान से व्यापारिक व आर्थिक सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए रेलों के विकास की व्यवस्था की जायगी ।

तृतीय वृत्त (Third Zone)—इस केन्द्रीय रेलवे में बम्बई-बड़ौदा व सेन्ट्रल इंडिया रेलों का बड़े गाज वाला भाग, जी० आई० पी० रेलवे का अधिकांश, सिंधिया तथा धौलपुर राज्यों की रेलवे सम्मिलित है ।

चतुर्थ वृत्त (Fourth Zone)—इस दक्षिण रेलवे में दक्षिण भारत रेलवे की बड़ी

में और अधिक डिब्बे जोड़ने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लिये कुछ डिब्बे स्विटजरलैण्ड से मंगाये गये हैं और कुछ भारत में ही निर्माण किये जा रहे हैं, प्रतिवर्ष गाड़ियों में नए डिब्बे जोड़े जा रहे हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में यातायात में भीड़ आदि की समस्या में काफी सुधार हो जायगा।

(५) भ्रष्टाचार तथा बिना टिकट की यात्रा—युद्ध का रेलों की स्थिति तथा उससे सम्बन्धित अन्य बातों पर विचार करते हुए, यदि रेलों में बढ़े हुए भ्रष्टाचार और जनता में बिना टिकट यात्रा करने की मनोवृत्ति पर कुछ प्रकाश डाल दिया जाय तो अनुचित न होगा। हम ऊपर कह चुके हैं कि युद्ध के बाद गाड़ियों में इतनी अधिक भीड़ होने लगी कि सर्व साधारण जनता को यात्रा करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। १६३६ से इस समय यात्रियों की संख्या दुगनी हो गई थी, जब कि गाड़ियों की क्षमता घटकर केवल ८५ प्रतिशत ही रह गई थी।* इस समय बहुत से मुसाफिर बिना टिकट यात्रा करने के भी आदी हो गए थे। इनको रोकने के लिए सरकार ने विशेष पुलिस तथा रेलवे मैजिस्ट्रेटों की नियुक्ति की। तब से इस दिशा में काफी सुधार हो गया है।

रेलवे बोर्ड ने रेलों में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार व घूसखोरी आदि का पता लगाने के लिए एक विशेष योजना निकाली थी। १६५० तक इस प्रकार की जाँच तथा छानबीन से लगभग एक हजार मामले पकड़े गये थे जिसमें से चार सौ पर कड़ी कार्रवाई की गई थी। इस योजना से स्थिति काफी सुधर गई है।

(६) रेलवे तथा रेलवे कर्मचारी—रेलवे भारतीय राष्ट्र का सबसे संगठित व विशाल उद्योग है और इसमें राष्ट्र की काफी पूँजी लगी हुई है। अतः ऐसे बड़े उद्योग के लिये यह आवश्यक है कि उसका प्रबन्ध ऐसा हो जिससे इस उद्योग में काम करने वाले कर्मचारी संतुष्ट रहें और जनता की अधिक से अधिक सेवा कर सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्य व्यक्तिगत उद्योगों से इस उद्योग में काम करने वाले कर्मचारियों की स्थिति काफी अच्छी है। यह उद्योग सरकार द्वारा नियंत्रित होता है। अतः सरकार इसके कर्मचारियों के सर्वांगीय विकास की एक निश्चित योजना, एक निश्चित कार्यक्रम आगे रखकर बढ़ रही है। सरकार ने रेलवे कर्मचारियों के लिये चिकित्सालय, औषधालय, स्त्रियों के कल्याण के लिये जच्चेखाने भी खोले हैं। कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल तथा अन्य शिक्षण संस्थाएँ खोली गई हैं। कर्मचारियों को केन्द्रीय वेतन आयोग के अनुसार वेतन तथा भत्ता आदि दिया जा रहा है।

रेलवे श्रमिकों की अन्य उचित माँगों को भी दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उनके छुट्टियों आदि के नियमों में कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। रेलवे के सभी प्रकार के कर्मचारियों के लिए प्रावीडेन्ट फन्ड की व्यवस्था कर दी गई है। इन सब सुविधाओं की व्यवस्था करने के कारण कर्मचारियों के वेतन सम्बन्धी व्यय में लगभग ३३ करोड़ की वृद्धि हुई है। रेलवे कर्मचारियों की संख्या में भी पहले से अब वृद्धि हो गई है। गत दस वर्षों में इनकी संख्या ६,४१,००० से बढ़कर ८,५०,००० हो गई है, और उधर इनके वेतन की रकम भी इतने ही समय के अन्दर ३५ करोड़ से १०७ करोड़ हो गई है। परन्तु यह दुख की बात है कि जब कि एक ओर रेलवे कर्मचारियों की इन सब सुविधाओं में वृद्धि का प्रयत्न किया जा रहा है, तो दूसरी ओर उनकी उत्पादकता में ह्रास हो रहा है। पिछले दस वर्षों में रेलवे कर्मचारियों के श्रम की उत्पादकता में काफी ह्रास हो गया है।

---

*देखिये जानमथाई का १६४८-४६ के बजट का भाषण पृष्ठ ६

आवश्यकता इस बात की है कि भारत सरकार द्वारा इतनी सब सुविधाएँ प्राप्त होने के पश्चात् रेलवे कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति समझें और अपने कर्त्तव्य को अच्छी प्रकार पूरा करने में कोई कोर-कसर न रख छोड़ें।

(७) तीसरे दर्जे के मुसाफिरों का सुविधायें—इधर तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की यात्रा सम्बन्धी स्थितियों को सुधारने के लिए सतत प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में सरकार ने कई प्रयोग भी किए। १९४९ की जनवरी में सरकार ने दो प्रयोग किये एक तो मध्यम श्रेणी (इन्टर-क्लास) का अन्त कर दिया तथा प्रथम श्रेणी में चलने वाले मुसाफिरों के लिए सोने की व्यवस्था की, परन्तु इन दोनों बातों का जनता ने कोई विशेष स्वागत नहीं किया, दूसरे इससे सरकार की आय में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। बाद में रेलों को द्वितीय श्रेणी के डिब्बों में चलने वाले मुसाफिरों से १०) अतिरिक्त लेकर सोने की सुविधा देने के लिए बाध्य होना पड़ा, परन्तु यह पद्धति भी सफल न हुई और दिसम्बर १९४९ से सरकार को उसी प्रकार चार श्रेणियाँ प्रथम, द्वितीय, मध्यम और तृतीय—रखनी पड़ीं। अब तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की सुविधा के लिए चौड़ी सीटों तथा छत वाले पंखों का प्रयोग किया जा रहा है। एक विशेष समिति के सुझावों के अनुसार एक पञ्चवर्षीय योजना के कार्यान्वित करने का कार्य १९५० से प्रारम्भ हो गया है। इसके अनुसार मुसाफिरों की सुविधा के लिए अच्छे प्रतीक्षा कक्षों आदि की व्यवस्था की जायगी। इन कार्यों में वर्ष में कम से कम तीन करोड़ रुपया अवश्य खर्च किया जायगा।

तीसरे दर्जे के मुसाफिरों के लिये प्रायः सभी लाइनों में 'जनता' एक्सप्रेस गाड़ियाँ चल रही हैं, जिनमें अन्य श्रेणियों के डिब्बे नहीं रहते। जनता गाड़ियों में बिजली के पंखों तथा चौड़ी गद्दियों आदि का बहुत अच्छा प्रबन्ध है। इस समय लगभग १२७ नई गाड़ियों का और प्रचलन किया गया है तथा ८८ पहले से चलने वाली गाड़ियों के क्षेत्र को बढ़ाया गया है।

अनुसन्धान-कार्य—हम ऊपर कह चुके हैं कि भारतीय रेल-विभाग अपने क्षेत्र में रेलों का विकास आदि करने के लिये काफी प्रयत्न कर रहा है। इन प्रयत्नों में उसका अनुसन्धान-कार्य भी काफी महत्व रखता है। रेलवे के अनुसन्धान कार्यों के फलस्वरूप अच्छे प्रकार के पुल आदि के नमूनों का आविष्कार किया गया है। यात्रियों के बैठने के लिए पूर्णरूप से स्टील से बनी हुई सीटों के निर्माण का कार्य भी किया जा रहा है। रेलवे का आर्थिक सलाहकार उनके आर्थिक विकास के लिये अच्छे प्रयत्न कर रहा है, इधर रेलों के भाड़े आदि के सम्बन्ध में भी काफी प्रयोग किए जा रहे हैं। आशा है इन सब कार्यों से रेलों की स्थिति काफी सुधर जायगी।

रेलों की दुर्घटनायें—इधर कुछ वर्षों से देश की रेलों के सन्मुख एक भयंकर समस्या खड़ी हो गई है—वह हैं रेलों की दुर्घटनायें। थोड़े समय पूर्व भारत में रेलों में ऐसी दुर्घटनायें नहीं के बराबर होती थीं किन्तु दो-तीन वर्षों से तो आए दिन हमें रेलों की एक न एक दुर्घटना की खबर सुनाई देती है। १९४९-५० का वर्ष तो इस दृष्टि से और भी बुरा रहा है। इस समय होने वाली सरहिन्द तथा बिहार में पटना के निकट रेल-दुर्घटनाओं में सैकड़ों आदमी काल-कवलित हो गए। अभी हाल में (अगस्त १९५१ में) आसाम तथा इलाहाबाद के निकट अवध तिरहुत रेलवे में जो दुर्घटनायें हुई हैं, वे भी बड़ी भयंकर हैं। अन्य देशों की भाँति भारत में रेल-दुर्घटनाओं के होने का कारण किसी से छिपा नहीं है। यहाँ पर कुछ दुर्घटनायें तो रेलवे कर्मचारियों की असावधानी, लापरवाही व भूल के कारण होती है तथा कुछ दुर्घटनायें देश के विद्रोही व्यक्तियों की धूर्त्तता के कारण होती हैं। रेलवे विभाग इन दुर्घटनाओं को रोकने के लिए काफी प्रयत्नशील है जनता को चाहिये कि वह सरकार को ऐसे व्यक्तियों के पकड़वाने में अपना पूरा सहयोग दे, जो इस प्रकार के कुकृत्य करते लज्जित नहीं होते।

रेलों का प्रबन्ध (Railway Administration)—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं भारत में रेलों का श्रीगणेश करने में लार्ड डलहौजी का बड़ा हाथ रहा। उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप यहाँ पर रेलों का प्रसार हो सका। प्रारम्भ में लार्ड डलहौजी ने रेलों के प्रबन्ध का कार्य लोक-निर्माण-विभाग (P. W. D.) के हाथ में सौंपा। परन्तु बाद में रेलों का जब काफी विकास होने लगा तो सन् १९०५ में एक रेलवे-बोर्ड की स्थापना की गई। इस बोर्ड में एक अध्यक्ष तथा कुछ सदस्य थे जिनका कार्य रेलों का प्रबन्ध करना था। इसके बाद समय-समय पर रेलवे के प्रबन्ध में कुछ परिवर्त्तन किया जाता रहा। १९२१ की आकवर्थ-समिति ने भी इस प्रश्न पर खूब विचार किया। फलतः १९२४ में रेलवे बोर्ड का पुनर्संगठन किया गया। इसकी मुख्य-मुख्य बातें ये थीं :—

(१) इस व्यवस्था के अनुसार बोर्ड के सभापति के स्थान पर चीफ कमिश्नर होने लगा। यही अधिकारी रेलवे-नीति का उत्तरदायी था, इसकी उपेक्षा बोर्ड के अन्य सदस्य नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त बोर्ड में दो सदस्यों की संख्या और बढ़ा दी गई। विषय के अनुसार सदस्यों में काम का विभाजन किया गया।

(२) एक वित्तीय आयुक्त (फाइनेन्सल कमिश्नर) की नियुक्ति की व्यवस्था की गई।

रेलवे शासन के इस पुनर्संगठन का मुख्य उद्देश्य चीफ कमिश्नर तथा अन्य सदस्यों को अनावश्यक कार्यों के बोझ को हल्का करना था, जिससे कि वे अपना सब समय रेलवे नीति सम्बन्धी मामलों में लगा सकें। तथा रेलवे के विभिन्न शासन-विभागों से अपना सम्बन्ध बनाए रख सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति सिविल इन्जीनियरिंग, मेकेनिकल इन्जीनियरिंग, राजस्व तथा स्थापन-विभाग के डाइरेक्टरों, तथा ११ डिप्टी व दो सहायक डाइरेक्टरों की नियुक्ति के द्वारा की गई।

इस समय श्रम-सम्बन्धी प्रश्न का महत्व और भी बढ़ता जा रहा था। अतएव सन् १९२९ में रेलवे बोर्ड में एक तीसरे सदस्य की और नियुक्ति की गई। उसका मुख्य उद्देश्य श्रम सम्बन्धी समस्याओं का हल करना था।

रेलवे बोर्ड के वर्त्तमान संगठन में एक चीफ कमिश्नर, वित्त कमिश्नर तथा तीन अन्य सदस्य हैं। उनके नीचे दस डाइरेक्टर बहुत से उप व सहायक डाइरेक्टरों तथा रेलवे विभाग के अन्य बड़े-बड़े अधिकारी हैं।

कुंजरू रेलवे जाँच समिति ने, जिसने अपना प्रतिवेदन १९४९ में पेश किया था, यह सुझाव रखा कि १९५३ से वर्त्तमान रेलवे प्रबन्ध के ऊपर एक 'सेन्ट्रल कन्ट्रोलिंग अथारिटी' की स्थापना की जाय।

यातायात के अन्य तीनों साधन—सड़कें, जलमार्ग तथा वायुमार्ग पर समिति ने प्रकाश नहीं डाला। परन्तु जिस समय हम एक 'नेशनल ट्रान्सपोर्ट अथारिटी' की स्थापना करें उस समय यातायात के इन चारों साधनों में आपस में सामञ्जस्य बनाए रखने का प्रयत्न किया जाय। ऐसा तभी हो सकता है जब अलग-अलग साधनों के लिये विभिन्न 'अथारिटी' या सत्ता न होकर एक ही 'अथारिटी' रहे।

रेलों का राजस्व (Railway Finances)—रेलवे से विशाल राष्ट्रीय उद्योग के राजस्व का क्या महत्व है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। हम यहाँ पर रेलवे राजस्व के विभिन्न अंगों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

(१) रेलवे का घाटा—१८५८ से लेकर **१८९८** तक भारत की रेलों को घाटा ही होता रहा। **इन** वर्षों में **कुल ५८** करोड़ का घाटा हुआ। इस घाटे का मुख्य कारण गारन्टी कम्पनियों की

अकुशलता, रेलों के निर्माण में कोई एक निश्चित आर्थिक योजना न रख कर कार्य करना, सीमान्त प्रदेश की रेलों के चलाने में हानियाँ आदि हैं।

(२) रेलों की बचत—(Railway Surpluses)—१८६८ तक घाटा होने के पश्चात् रेलों से अतिरिक्त लाभ या बचत होने लगी। केवल १९०८ और १९२१ को छोड़कर, १९३० तक रेलवे को यह अतिरिक्त लाभ होता रहा। इस अतिरिक्त लाभ का कारण पंजाब तथा सिंध की सिंचाई की नवीन योजनाओं की सफलता, देश के आर्थिक विकास के कारण यातायात की अधिकता, कम्पनियों द्वारा अच्छा मुनाफा तथा देश के विदेशी व्यापार की उन्नति थी।

(३) साधारण राजस्व से रेलवे राजस्व का पृथक्करण—आकवर्थ समिति ने जहाँ एक ओर रेलवे शासन के अन्य अंगों के सुधार के सुझाव उपस्थित किए वहाँ उसने एक महत्वपूर्ण सुझाव यह भी पेश किया कि साधारण राजस्व (General Finance) से रेलवे राजस्व (Railway Finance) को अलग किया जाय। अतः १९२४-२५ में रेलवे राजस्व को साधारण राजस्व से पृथक कर दिया गया। इस पृथक्करण के समर्थन में निम्नलिखित बातें कही गईं :—

पहली बात तो यह है कि जब तक रेलवे राजस्व और साधारण राजस्व एक रहे तो सरकार की नीति का, उसकी आर्थिक स्थिति का रेलवे पर भी अच्छा बुरा प्रभाव पड़ा। जब सरकार की आर्थिक स्थिति अच्छी रहती तो मनमाना रुपया फूँका जाता और जब आथिक स्थिति में जरा भी ढिलाव होता तो रेलवे को आवश्यक कार्यों के लिये भी पैसे का मिलना कठिन हो जाता था। इस प्रकार रेलवे कोई अपनी एक निश्चित नीति को आगे रखकर चलने में असमर्थ रहती थी। जब कभी रेलवे को अतिरिक्त-लाभ होता तो उस सारे के सारे अतिरिक्त लाभ को जन हितकारी कार्यों के निमित्त खर्च कर दिया जाता। इन सब बातों का रेलों के व्यावसायिक कार्यों पर बड़ा बुरा असर पड़ता।

दूसरे रेलवे बजट एक बहुत बड़ा बजट होता था। १९२४ में सौ करोड़ से ऊपर की आय हुई। इस वर्ष में रेलवे की अच्छी आय होने से केन्द्रीय सरकार को बड़ा लाभ मिल गया। इस वर्ष का केन्द्रीय बजट बड़ा सम्पन्न रहा। रेलों की सम्पन्नता मानसून पर निर्भर रहती थी। उचित समय तथा पर्याप्त वर्षा का प्रभाव यातायात पर बड़ा अच्छा पड़ता था। अतएव केन्द्रीय बजट की भी सम्पन्नता या असम्पन्नता बहुत कुछ वर्षा पर ही निर्भर रहती थी।

अतएव यह सुझाव पेश किया गया कि यदि रेलवे बजट को साधारण बजट से पृथक कर दिया जायगा तो रेलें व्यवसायिक आधार पर अपना कार्य करने में समर्थ हो सकेंगी। इससे केन्द्रीय बजट की अस्थिरता भी समाप्त हो जायगी।

इस प्रकार आकवर्थ समिति के सुझावों के अनुसार १९२४ में केन्द्रीय असेम्बली ने एक नवीन व्यवस्था का प्रचलन किया। इस व्यवस्था के अनुसार यह निश्चय किया गया कि रेलवे, सरकार को वर्ष में एक निश्चित रकम देगी। यह रकम प्रति वर्ष की लगी हुई कुल पूँजी का एक प्रतिशत तथा उस वर्ष होने वाले लाभ का $\frac{1}{5}$ भाग थी। इसके अतिरिक्त रेलवे को किसी अतिरिक्त बचत के तीन करोड़ के ऊपर की रकम पर एक तिहाई केन्द्रीय सरकार को और अधिक देने की व्यवस्था की गई। इन सब रकमों के देने के पश्चात् जो कुछ शेष बचता वह रेलवे के सुरक्षित कोष में जमा किया जाता। इस पर भी केन्द्रीय सरकार का उस समय अधिकार हो सकता था जब कि सरकार को अपनी निश्चित रकम न मिलती।

(४) युद्ध के पूर्व के वर्षों में—रेलवे ने १९२४-२५ से लेकर १९३०-३१ में साधारण राजस्व में इन सात वर्षों में कुल ४,१६५ लाख रुपया दिया परन्तु इस सातवें साल में ब्याज की दर

काफी ऊँची थी। यह रकम वास्तविक राजस्व से ५ करोड़ अधिक थी। अतएव यह रकम साधारण राजस्व में रेलवे के सुरक्षित कोष से दी गई।

इसके पश्चात् १९३६-३७ तक सूद की दर वास्तविक राजस्व से हमेशा अधिक रही। १९३७-३८ में वास्तविक राजस्व में सुधार हुआ, यह रकम सूद की रकम से २७६ लाख रुपया अधिक रही। इसी रकम को साधारण राजस्व में दे दिया गया।

ऋण चुकाने की बढ़ी हुई अवधि—(The Moretorium) १९२४ की प्रथा के अनुसार रेलवे के अतिरिक्त लाभ का सबसे पहला खर्चा 'डेप्रीसियेशन फन्ड' का था। १९२९-३० से लेकर १९३६-३७ तक रेलवे ने अपना सारा का सारा सुरक्षित कोष ही नहीं खर्च कर दिया परन्तु उसने उपरोक्त फन्ड से सूद पर रुपया उधार लिया। इस प्रकार १९३६-३७ की अतिरिक्त लाभ वाली रकम इसी कोष में चली गई और जो कुछ शेष बची यह साधारण राजस्व में चली गई। १९३७ में रेलवे सरकार ने इस ऋण के चुकाने की अवधि तीन वर्ष रखी, फिर यह अवधि १९४२ तक तथा उसके पश्चात् एक वर्ष और १९४३ तक बढ़ाई गई। १९४३ में किसी प्रकार ऋण की सारी रकमें चुकता कर दी गईं।

(५) युद्ध के दिनों में—द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर यातायात की वृद्धि के कारण रेलवे की आय में एकदम से वृद्धि हुई। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि रेलों ने अपनी सारी बकाया रकम भुगता दी। इस प्रकार युद्ध के प्रारम्भ से लेकर १९४५-४६ तक रेलवे को अच्छा आर्थिक लाभ हुआ। इस वर्ष साधारण राजस्व को रेलवे से १५८ करोड़ रुपये की भारी रकम मिली।

इस समय मुसाफिरों के भाड़े में भी वृद्धि कर दी गई, निचले दर्जों के यात्रियों को सुविधाएँ प्रदान करने के लिये कोयले के यातायात के भाड़े में अतिरिक्त कर लगा दिया गया। उस समय यह भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि रेलों की मरम्मत व अच्छी मजदूरी आदि की व्यवस्था के लिये सुरक्षित कोष को बढ़ाया जाय। इस आवश्यकता की पूर्ति भी हो गई। युद्ध के समय में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मुसाफिरों के आवागमन में माल-असबाब के यातायात से भी अधिक वृद्धि हुई, गाड़ियों में भीड़-भाड़ भी खूब होने लगी।

इधर रेलवे के आय में तो वृद्धि हो रही थी। उधर उसका व्यय भी कुछ कम नहीं हुआ। इस समय युद्ध के कारण वस्तुओं के मूल्य में भी काफी वृद्धि हुई। रेलवे विभाग ने अपने कर्मचारियों की भलाई के लिये उनकी सुविधा के वास्ते सस्ते मूल्य वाले गल्ले तथा अन्य आवश्यक उपभोग की वस्तुओं की दूकानें खोल दीं जिनमें नियन्त्रित मूल्य पर वस्तुएँ मिलती थीं।

रेलवे के व्यय में वृद्धि होने का एक दूसरा कारण यह भी था कि १९४४-४५ के बाद से मूल्य ह्रास खाते (Depreciation Account) की रकम चालू आय में सम्मिलित की जाने लगी। इस विशेष व्यय की पूर्ति के लिये, १९४४-४५ तथा १९४५-४६ बचत के बाँटने की अपेक्षा, साधारण राजस्व की रकम तीस करोड़ निश्चित कर दी गई। यह इसलिये किया गया जिससे मूल्य-ह्रास कोष तथा पूँजी खाता की रक्षा हो सके और युद्ध के बाद के वर्षों में बढ़े हुये व्यापार, उद्योग आदि की बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

रेलवे बजट के विषय में विशेष परिचय आगे दी हुई तालिका से लग जायगा।

रेलवे बजट (करोड़ रुपयों में)

	वास्तविक		संशोधित	बजट
	१९४५-४६	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१
कुल वास्तविक आय	२२५·७	२१३	२२५	२३५·५

खर्च	१६४·५	१७३	१८	१८२*
ट्रैफिक से वास्तविक आय	६१·२	४०	३६	५०·५
कई प्रकार की ट्रैफिक से वास्तविक आय	४·२	२	–४	–४·७
कुल नेट रेवन्यू	६५·४	४२	३४	४५·८
सूद में	२७·२	२२	२३	—
जनरल रेवन्यू में	—	—	—	३१·८
वर्ष के लिये बचत	३२·०	७·३४	७	—
रेलवे सुरक्षित कोष में	६·२	—	—	२
मूल्य ह्रास कोष में	—	११·८०	४	२
बेटरमेन्ट फन्ड में	—	·६	—	—
डेपलपमेन्ट	—	—	—	१०

युद्ध के बाद का रेलवे राजस्व—जहाँ तक रेलवे के राजस्व का सम्बन्ध है युद्ध के बाद का समय अच्छा नहीं रहा है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) द्वितीय महायुद्ध के कारण रेलवे पर काफी भार पड़ गया।

(२) विभाजन के परिणामस्वरूप संयुक्त रेलवे पद्धति भी विभाजित हो गई और वे सम्पूर्ण रेलें दो भागों में बँट गई।

(३) शरणार्थियों के ढोने आदि के कारण काफी आर्थिक हानि हुई।

(४) कश्मीर के झगड़े।

(५) हैदराबाद की पुलिस कार्रवाई।

(६) खाद्यान्न तथा कोयले आदि के सारे देश में वितरण की अवस्था।

इन सब कारणों से रेलवे राजस्व अच्छा नहीं रह सका। इन सबकी सब समस्याओं के खड़े हो जाने से काफी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं। अतः विभाजन के बाद के ७½ महीने तक आय में तो कमी हुई ही, दूसरी ओर व्यय भी काफी रहा। इस प्रकार इस समय २.७४ करोड़ का घाटा हुआ, इस घाटे की पूर्त्ति रेलवे के सुरक्षित कोष से लेकर की गई।

१६४८-४६ में वास्तविक आय पहले से अच्छी—८.६० करोड़ रुपए हुई, उधर अनुमानित व्यय भी पहले साल से बढ़कर ४.६० करोड़ हुआ। वास्तविक बचत २० करोड़ रुपया हुई। इस बचत से ७.३४ करोड़ रुपया साधारण राजस्व को दे दिया गया, ८४ लाख रुपया 'बेटरमेन्ट फन्ड' तथा शेष ११.८०करोड़ रुपया मूल्य ह्रास सुरक्षित कोष (Depreciaticon Reserved Fund) में डाल दिया गया।

१६४६-५० की संशोधित अनुमानित चालू आय २२५ करोड़ रुपया है, तथा कुल १८६ करोड़ रुपये के खर्च का अनुमान किया जाता है। जब कि बजट में १७२ करोड़ दिखाए गए हैं। लगाई हुई या विनियोजित पूँजी पर २३ करोड़ रुपया सूद देने के पश्चात्, ११ करोड़ की बचत में से ७ करोड़ रुपया सामान्य राजस्व (General Revenues) को तथा ४ करोड़ रुपया मूल्य ह्रास कोष में दे दिया गया।

१६५०-५१ का बजट—रेलवे राजस्व के इतिहास में १६५०-५१ के बजट का विशेष महत्व है। पाकिस्तान के साथ भविष्य में होने वाले व्यापारिक सम्बन्ध की अनिश्चितता के कारण इस

***इसमें मूल्य ह्रास सुरक्षित कोष में** दिये गये **१५ करोड़ रुपये** भी सम्मिलित हैं।

बजट के निर्माण में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यहीं नहीं भारत की विनिमय सम्बन्धी स्थिति की अस्थिरता के कारण भी इस कठिनाई में वृद्धि हो गई। वस्तुओं के मूल्य-वृद्धि तथा माल के यातायात से भी बजट-निर्माण की कठिनाई बढ़ती रही। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशी राज्यों की लाइनों के सम्बन्ध में सही जानकारी न मिल सकी। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस वर्ष के बजट के निर्माण में रेलवे विभाग को काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। किन्तु येनकेन प्रकारेण बजट तैयार हो गया। इस बजट में कुल आय २३२.५ करोड़ तथा कुल व्यय १८२ करोड़ रुपये दिखलाया गया।

इस बजट में यह आवश्यकता दिखलाई गई कि रेलवे मूल्य ह्रास कोष तथा साधारण राजस्व को, रेलवे आय के एक बड़े भाग की जरूरत है। जितना रुपया इन मदों में लगाने की आवश्यकता है उतना न तो रेलवे के साधारण सुरक्षित कोष में लगाने की जरूरत है और न किसी अन्य कोष में। वर्ष में कुल लाभ का $\frac{9}{10}$ भाग मूल्य-ह्रास-कोष में दिया गया, परन्तु इस कोष में और अधिक रुपया जमा करने की आवश्यकता थी, क्योंकि आने वाले वर्ष में इस कोष से खर्च के लिये काफी रकम निकाली जाने वाली थी।

ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि १९२४ की उस व्यवस्था की जिसके अनुसार केन्द्रीय विधान-सभा ने रेलवे राजस्व को सामान्य राजस्व से अलग किया था, पुनः जाँच की जाय।

इस अतिरिक्त लाभ को इस प्रकार उठाने का प्रबन्ध किया गया :—

	१९४८-४९	१९४९-५०
	रुपया	रुपया
रेलवे मूल्य ह्रास कोष	७.६५ करोड़	४.७२ करोड़
रेलवे सुधार कोष	०.८४ ,,	...
सामान्य राजस्व	७.३४ ,,	४.७२ ,,

रेलवे मूल्य-ह्रास कोष की सामान्य देनगी ११ करोड़ रुपये से थोड़ा ही ऊपर आती है, परन्तु १९४८-४९ में इस कोष से २२ करोड़ रुपया निकाला गया, और इसके अगले वर्ष में ३३ करोड़ निकाला गया। इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के निकाले जाने से यह सारा का सारा कोष बिलकुल खाली हो जायगा।

रेलवे राजस्व और उसका भविष्य—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि १९२४ से एक ऐसी परिपाटी का चलन हुआ जिसके द्वारा सामान्य राजस्व से रेलवे राजस्व को पृथक कर दिया गया। हाँ, यह व्यवस्था अवश्य की गई कि समय-समय पर इस परिपाटी में समयानुसार कुछ परिवर्त्तन या हेर-फेर होते रहना चाहिये। १९४२ में सर ए० क्लाऊ ने विचार प्रगट किया कि यह प्राचीन प्रथा ठीक नहीं बैठ सकती क्योंकि ऐसा करने का तात्पर्य करदाता को उन सब सुविधाओं से वंचित कर देना होगा जिनको कि माँगने का या पाने का अधिकार उसे विधान द्वारा प्राप्त है। १९४३ में सर ई० बेन्थल ने कहा कि 'यह प्रथा अपने उस उद्देश्य को जिस पर कि रेलवे का उत्थान निर्भर था प्राप्त करने में असफल रही है।' उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में यह तथ्य रखा कि १९३९-४० में सुरक्षित कोष से १८ करोड़ से कम रुपया नहीं निकाला गया; सामान्य राजस्व के मद में दी जाने वाली रकम में भी ह्रास हुआ और वह केवल ३६ करोड़ रुपया रह गई और सूद के व्यय की पूर्ति के लिए मूल्य ह्रास कोष से ३० करोड़ रुपया उधार लिया गया। यह प्रथा युद्ध के समय में भी सफल नहीं हुई, क्योंकि उस समय हम देखते हैं कि रेलवे ऋण चुकाने की अवधि में वृद्धि की सदैव माँग करती रही, ताकि वह सामान्य राजस्व की बचत का विशेष हिस्सा दे सके। अतएव सर ई० बेन्थल ने यह प्रस्ताव पेश किया कि केन्द्रीय सरकार तथा रेलवे के आपस की

राजस्व सम्बन्धी प्रथा को युद्ध के पश्चात् संशोधित किया जाय। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि रेलों को दिवालिया हालत में नहीं छोड़ देना चाहिये जिसमें कि वे १९१४-१८ में पड़ गई थीं, नहीं तो इसका परिणाम भयंकर ही होगा। सन् १९४९ में कुंजरू समिति ने यह विचार किया कि इस प्रथा को जाँच तो आवश्यक है ही किन्तु जब तक कि व्यापार की स्थिति ठीक नहीं होती, वस्तुओं के मूल्य ठीक नहीं हो जाते तब तक जाँच का कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलेगा। श्री गोपाल स्वामी आयंगर का विचार इससे कुछ भिन्न ही था। १९४९ के मार्च के महीने में इस प्रथा की देखभाल करने के लिए, रेलवे के सामान्य राजस्व से पृथक्करण के प्रश्न पर विचार करने के लिये, रेलवे मूल्य ह्रास कोष के वैधानिक प्रशासन का निरीक्षण करने के लिए, रेलवे सुधार (बेटरमेंट) कोष, रेलवे सुरक्षित कोष की समस्या का अध्ययन करने के हेतु नौ सदस्यों की एक समिति नियुक्त की गई।

नवीन संशोधित अभिसमय (The New Revised Convention)—१९४९ के दिसम्बर मास में उपरोक्त समिति के सुझावों को सरकार ने स्वीकृत कर लिया। इसके अनुसार एक नवीन अभिसमय (कन्वेंशन) का श्री गणेश किया गया है जिसका कि प्रचलन पाँच वर्ष तक रहेगा। यह अभिसमय १९५०-५१ से प्रारम्भ की गई है। इस अभिसमय की मुख्य बातें यह हैं :—

(क) रेलवे तथा सामान्य रजस्व को अलग रखा जाय परन्तु सामान्य राजस्व को रेलों पर लगाई हुई पूँजी से प्रतिवर्ष ४ प्रतिशत दायित्वयुक्त लाभांश प्राप्त होना चाहिये।

(ख) मूल्य ह्रास-कोष में प्रतिवर्ष कम से कम १५ करोड़ रुपया दिया जाना चाहिये।

(ग) पूँजी तथा राजस्व के बीच व्यय का विभाजन इस प्रकार किया जाना चाहिये :—

(१) यंत्रों आदि में लगी हुई पूरी लागत को मूल्य ह्रास कोष में दिखाया जाय।

(२) राजस्व लेने की आर्थिक परिधि प्रत्येक छोटी-मोटी वस्तु पर १०,००० से लेकर २५,००० बढ़ा दी जाय।

(३) लाभदायक वस्तुओं या योजनाओं पर किया गया व्यय जो कि तीन लाख से अधिक न हो उसे राजस्व से ही लिया जाना चाहिये। यदि इससे अधिक व्यय होता है तो उसे रेलवे विकास कोष से जिसका कि निर्माण आवश्यक है, लिया जाना चाहिये।

(४) ऐसे रेल मार्गों के निर्माण पर व्यय जो कि लाभदायक तो नहीं है किन्तु जिनका निर्माण अति आवश्यक है, उसके लिए रेलवे विकास कोष से, जहाँ तक सम्भव हो सके, धन प्राप्त किया जा सकता है।

(५) अलाभदायक किन्तु सैनिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण रेल मार्गों का व्यय मूलधन से लेकर किया जा सकता है, परन्तु मूलधन कोष से इस प्रकार व्यय किये गये किसी लाभांश को सामान्य राजस्व में देने की आवश्यकता नहीं है।

(च) रेवन्यू रिजर्व फन्ड से भविष्य में निम्नलिखित शर्तों के लिए ही खर्च किया जाना चाहिए :—

(१) यदि बजट में कोई कमी रह गई है तो उसकी पूर्त्ति के लिए।

(२) निश्चित किए हुए लाभांश को चुकती के लिये।

(छ) निम्नलिखित कार्यों की पूर्त्ति के लिए एक रेलवे विकास कोष (Railway Development Fund) का निर्माण किया जाना चाहिये :—

(१) मुसाफिरों की सुविधा के वास्ते आवश्यक उपकरणों की व्यवस्था में।

(२) श्रमिकों के हित के लिए; तथा

(३) ऐसी योजनाओं में पूँजी लगाने के लिए जो आवश्यक तो है किन्तु जिनके निर्माण के समय कोई तत्कालिक लाभ नहीं है, वर्त्तमान रेलवे सुधार-कोष को इसी कोष में मिलाकर सुरक्षित रख देना चाहिये जिससे अगले पाँच वर्षों तक मुसाफिरों की सुविधा के लिये, इस नए कोष से तीन करोड़ रुपया खर्च किया जा सके।

(ज) ऋण के खाते को अन्य खातों (ब्लाक एकाउन्ट से) अलग कर देना चाहिये। ऋण के खाते में किसी काय या योजना आदि में लगे हुए मूलधन का लेखा किया जाना चाहिए।

इस संशोधित अभिसमय (कन्वेंशन) से रेलवे की वित्त या राजस्व सम्बन्धी स्थिति को विकसित करने में अच्छी सहायता मिली है। इस क्षेत्र में १६२४ में जो व्यवस्था की गई थी, वह बड़ी पेचीदी थी। उसके स्थान पर एक सुलभ व बोधगम्य पद्धति को अपना लिया गया है। इस पद्धति से सामान्य राजस्व (General Revenues) को एक निश्चित लाभांश प्राप्त हो सकेगा जिससे भविष्य में किसी योजना के कार्यान्वित करने में एक अच्छा कदम उठाया जा सकेगा। साथ ही साथ रेलवे भी अपने अन्य विकास के कार्यों के करने में समर्थ हो सकेंगी। इसके अतिरिक्त मूल्य-ह्रास सुरक्षित कोष (Depreciation Reserve Fund) की भी आर्थिक स्थिति अच्छी रह सकेगी। पुनश्चः रेलवे विकास कोष के निर्माण से यह स्पष्ट हो जायगा कि भविष्य में रेलवे ऐसा कदम उठाने जा रही है जिसके द्वारा देश के आर्थिक विकास में अच्छी सहायता मिलेगी। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रेलवे का उद्देश्य अब व्यावसायिक नहीं रहा है, जैसा कि पहले था। विकास-कोष (Development Fund) से बिना ऋण लिये हुये रेलवे अपनी सेवाओं के क्षेत्र का विस्तार कर सकेगी। अतः भविष्य में मूल योजनाओं के कार्यान्वित करने के लिये सामान्य राजस्व तथा रेलवे राजस्व के ऋण-कोषों से आर्थिक सहायता ली जा सकेगी।

इस नवीन पद्धति को देखने से पता चलता है कि इसके द्वारा रेलवे राजस्व का सामान्य राजस्व से पूर्णरूप से पृथक्करण नहीं हुआ है। सामान्य राजस्व के साथ ही रेलवे के सुरक्षित-कोष जमा रहते हैं। हाँ, सामान्य राजस्व इन कोषों को अस्थायी रूप से अपने कार्यों के लिये प्रयुक्त करता है और इन पर कुछ सूद दे देता है। इस व्यवस्था से करदाता को तो लाभ पहुँचता ही है इससे केन्द्रीय सरकार का वित्तीय संगठन भी सुदृढ़ होता है।

रेलवे जाँच समितियाँ—(Railway Enquiry Committees):—

पोप समिति १६३२—(The Pope Committee) १६३० की उस भीषण मन्दी का प्रभाव रेलवे की आर्थिक स्थिति पर भी बहुत गहरा पड़ा। सामान्य राजस्व में वह जो साधारण राजस्व देती थी, उसके देने में तो असमर्थ रही ही, वह १६३१ के बाद के वर्षों में लगी हुई पूँजी पर सूद भी न दे सकी। रेलवे की इस आर्थिक दुरावस्था को सुधारने के लिये ब्रिटेन के एक रेलवे विशेषज्ञ श्री पोप महोदय को निमन्त्रित किया गया।

पोप महोदय के सुझावों के अनुसार मन्दी के समय में रेलवे की आर्थिक दशा सुधारने के कई प्रयत्न किये गये। उदाहरणार्थ उन क्षेत्रों में जहाँ मोटर गाड़ियाँ अधिक चलती थीं और रेलों को उनसे प्रतियोगिता लेनी होती थी। वहाँ पर सस्ते वापसी टिकटों की व्यवस्था की गयी, बड़े-बड़े नगरों के अन्दर स्टेशनों के अतिरिक्त टिकट घर, पार्सल घर आदि खोले गए, इन नगरों में शहर के अन्दर पार्सल आदि लेने तथा बाहर से आये हुये माल को देने की व्यवस्था की गई, माल के भाड़े को घटा दिया गया, तीर्थ यात्रा के लिये विशेष गाड़ियों का प्रबन्ध किया गया, खिलाड़ियों आदि के दलों के लिये विशेष रियायत की गई। मुख्य-मुख्य रेलवे लाइनों पर पड़ने वाले, धार्मिक ऐतिहासिक तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के लिये, प्रसिद्ध स्थानों में यात्रा करने के लिये लोगों को आकर्षित किया गया तथा उन्हें इसके लिये विशेष रूप से प्रोत्साहित किया गया। यात्रियों को सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की

गई। माल-असबाब के यातायात में वृद्धि करने के लिये आयात तथा निर्यात के भाड़े की दरों का उचित वैज्ञानिक अध्ययन कर उन्हें व्यवस्थित किया गया। कहने का तात्पर्य यह है कि रेलवे की इस दशा को सुधारने के लिये सभी प्रयत्न किये गये।

वेजवुड समिति १९३७—हम ऊपर कह चुके हैं कि १९३० से लेकर १९३६ तक रेलों की आर्थिक स्थिति बड़ी बुरी रही। रेलवे की इस दुरावस्था को देखकर उसकी जाँच की व्यवस्था करना अत्यावश्यक था। १९३६ में एक वित्तीय विशेषज्ञ जो कि भारत आये उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया कि भारतीय रेलवे की स्थिति की भली प्रकार जाँच की जाय। अतएव १९३६ में सर वेजवुड, जो कि ब्रिटेन में लन्दन तथा नार्थ ईस्टर्न रेलवे के चीफ जनरल मैनेजर थे, की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति में दो और सदस्य थे। इसने सन् १९३७ में अपना प्रतिवेदन उपस्थित किया। इस समिति के सुझाव निम्नलिखित थे :—

(१) रेलवे को सामान्य राजस्व को राजस्व देना बन्द कर देना चाहिये;

(२) रेलवे के मूल्य-ह्रास तथा सामान्य सुरक्षित कोषों में तब तक वृद्धि की जाय जब तक कि सब कार्यों के लिये, ये कोष पर्याप्त नहीं हो जाते।

(३) सड़कों की प्रतियोगिता का सामना करने के लिये ट्रेनों की रफ्तार आदि के बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(४) रेलवे के इंजीनियरिंग के कारखानों में यूरोप के कुशल कारीगरों को रखा जाय।

(५) देश के समाचार-पत्रों, व्यापारियों, व्यवसाइयों से निकट से निकट सम्पर्क स्थापित किया जाना चाहिये। इसके लिये एक सूचना ब्यूरो का संगठन किया जाना आवश्यक है।

समिति के इस सुझाव को कि भारतीय रेलवे की नौकरियों में अधिक से अधिक यूरोप-वासियों को नौकरी में रखा जाय तथा सामान्य राजस्व में रेलवे द्वारा दी जाने वाली रकम बन्द कर दी जाय, इसका भारतीय जनता द्वारा प्रबल विरोध किया गया। उस समय की केन्द्रीय विधान-सभा ने इन सुझावों को अस्वीकृत कर दिया। उस समय के रेलवे सदस्य सर सुल्तान अहमद ने विधान-सभा को यह विश्वास दिलाया कि सामान्य राजस्व में दी जाने वाली रकम बन्द नहीं की जायगी और रेलवे की नौकरियों के भारतीयकरण की नीति जैसी कि पहले से चली आ रही है, वैसे ही चलेगी। इसमें कोई परिवर्त्तन न होगा।

कुंजरू समिति—कुँजरू रेलवे समिति १९४६ के नवम्बर मास में नियुक्त की गई। देश के विभाजन के परिणामस्वरूप यह समिति १९४७ में अपना प्रतिवेदन न उपस्थित कर सकी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रेलवे पद्धति पर युद्ध के कारण काफी जोर पड़ा। यातायात में बड़े जोरों से वृद्धि हुई। खाद्यान्न के यातायात तथा शरणार्थियों के आवागमन से यह कठिनाई और बढ़ गई। देश की राजनैतिक परिस्थिति तथा साम्प्रदायिक तनातनी से दशा दिन पर दिन बिगड़ती गई, इसके अतिरिक्त देश के दो भागों में विभक्त हो जाने के कारण लेनी-देनी भी बँट गई। इस प्रकार इन सब कारणों से समिति ने जो सुझाव रखे वे इतने उपयोगी न हो सके जितने कि अविभाजित भारत में होते। पुनर्समूहीकरण की समस्या को स्थगित करने का अनुरोध करने के साथ ही साथ कुँजरू समिति ने यह सुझाव रखा कि वर्त्तमान बोर्ड के स्थान पर एक संघीय रेलवे अथारिटी की स्थापना की जाय कि जिससे यातायात के विभिन्न साधनों का उचित संगठन किया जा सके।

समिति ने यह पता लगाया कि श्रमिकों की कुशलता में औसतन ३३ से ४० प्रतिशत तक का ह्रास हो गया है। समिति ने कहा कि जितनी अच्छी मजदूरी श्रमिक पा रहा है उतना अच्छा काम नहीं कर रहा है। श्रमिकों की इस अकुशलता के कई कारण थे। समिति ने इस अकुशलता को दूर करने के लिये श्रमिकों को अच्छी से अच्छी औद्योगिक शिक्षा देने का अनुरोध किया।

रेलवे के भाड़े की दर—जब भारत में शुरू-शुरू में रेलों का निर्माण हुआ तो भारत सरकार ने कम्पनियों द्वारा निश्चित किए गये भाड़े की दरों में विशेष हस्तक्षेप न किया। हाँ उसने भाड़े की अधिकतम तथा न्यूनतम दर निश्चित की। प्रत्येक कम्पनी भारत मंत्री से अपनी अलग-अलग शर्तें तय करती।

फलतः भारत में जितनी कम्पनियाँ थीं उनके भाड़े की दरें भी उतनी ही थीं। इस विभिन्नता को दूर करने के लिए १८८७ में भारत सरकार ने रेलों की दर निश्चित करने के हेतु कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए। ये सिद्धान्त निम्नलिखित थेः—

(१) राज्य भाड़े की अधिकतम तथा न्यूनतम दर निर्धारित करने का अधिकारी था किन्तु एक बार निश्चित करने के पश्चात् बाद में उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार उसको नहीं था क्योंकि ऐसा करने से व्यापार पर उसका बड़ा बुरा असर पड़ता।

(२) राज्य को इस बात की देखभाल करनी थी कि रेलवे किसी व्यक्ति या संस्था विशेष का कोई अनुचित पक्षपात तो नहीं कर रही है।

वस्तुओं के वर्गीकरण से रेलवे के भाड़ों में एकरूपता लाने का प्रयत्न किया गया किन्तु यह प्रयत्न निष्फल रहा। वस्तुओं को १६ भागों में विभक्त किया गया तथा इन वस्तुओं के किराए की अधिकतम तथा न्यूनतम दर निश्चित कर दी गई। रेलवे बोर्ड की पूर्वानुमति प्राप्त किए बिना रेलवे को भाड़े की इन दरों में कोई परिवर्त्तन-परिवर्द्धन करने का अधिकार नहीं था।

कम से कम भाड़े का निश्चय करना भारतीय रेलों की एक सबसे बड़ी विशेषता थी। इस प्रकार का नियम अन्य किसी देश में नहीं है। ऐसा करने का मुख्य कारण यह था कि राज्य ने कम्पनियों को निश्चित सूद देने की गारन्टी दी थी, अतः वह यह नहीं चाहती थी कि व्यर्थ की प्रतियोगिता से उसके हितों पर आघात पहुँचे।

भारत की रेलों की दर अन्य देशों की रेलों की दरों की तुलना में कोई विशेष अधिक नहीं है। इसका पता नीचे दी हुई तालिका से चल जायगा :—

सेन्टाइम्स में (In Centimes)*

देश	मुसाफिर (किलोमीटर)	औसत आय (प्रति टन किलोमीटर)
भारत	१.२५	२.५०
संयुक्त राज्य अमरीका	३.६६	१.८५
कैनाडा	३.६८	१.८४
फ्रान्स	२'४१	४.४६
ग्रेट ब्रिटेन	२.३६	४.८३
जर्मनी	२.६६	४.३२

इसके दोष—ऊपर कहा जा चुका है कि कम्पनी के शासन प्रबन्ध में भारतीय उद्योग तथा विदेशी उद्योगों के भेदभाव की नीति के कारण भारतीय जनता ने रेलवे कम्पनी के शासन की अपेक्षा राज्य के शासन को ही अच्छा समझा।

रेलों के विरुद्ध एक यह भी शिकायत रही है कि यहाँ भाड़े की दर को भी उचित रूप नहीं निश्चित किया गया है। यदि माल दो लाइनों से होकर जाता है तो भाड़ा सीधे-सीधे नहीं लिया जाता

---

* यह एक फ्रैन्क का १०० हिस्सा होता है, १७५ फ्रैन्क में एक पौण्ड खरीदा जा सकता है।

मात्रा में सामान रेलों द्वारा भेजा जाता है और इतना दूसरे साधनों द्वारा। अतएव हमें आन्तरिक व्यापार के लिए अनुमानित आँकड़ों पर ही निर्भर रहेंगे। कई वर्षों से भारत सरकार भारत के आन्तरिक व्यापार विषयक एक मासिक पत्र—'भारत का आन्तरिक व्यापार' (Inland Trade of India) प्रकाशित करती है। इस पत्र के १९२०-२१ के संस्करण के अनुसार भारत के अन्तर्देशीय या आन्तरिक व्यापार का कुल अनुमान १,५०० करोड़ रुपया लगाया गया था। इस आंकड़े को भारत के विदेशी व्यापार के आंकड़ों से तुलना करने पर पता चलता है कि भारत के आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार में २½: १ का अनुपात है। यदि इन आंकड़ों को हम सही मान लें तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जायगा कि भारत की विशालता तथा उसकी महान जनसंख्या को देखते हुए हमारा अन्तर्देशीय व्यापार बहुत कम है।

इसके पश्चात् १९४० ई० में राष्ट्रीय योजना कमेटी की व्यापार सम्बन्धी एक उपसमिति ने प्रो० के० टी० शाह की खोजों के आधार पर यह परिणाम निकाला था कि भारत का आन्तरिक व्यापार अनुमानतः ७,००० करोड़ रुपये से कम का नहीं है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि यह अनुमान १९४० में लगाया गया था। तब से अब तक देश के आर्थिक वातावरण में बड़ा परिवर्तन हुआ है। युद्ध के समय से वस्तुओं के मूल्य में जो वृद्धि होनी शुरू हुई उसमें अभी तक कोई कमी नहीं हुई है, दूसरे इस समय आर्थिक नियंत्रणों (कन्ट्रोल) आदि के लगाने का भी आन्तरिक व्यापार पर गहरा असर पड़ा है।

यदि हम देश की रेलों के इन हाल के वर्षों में होने वाली आय तथा यातायात पर दृष्टि डालें तो हमें अपने आन्तरिक व्यापार के विषय में और भी कुछ मालुम हो जायगा। यह देखा गया है कि जब कि १९४६ में भारतवर्ष की उत्तम श्रेणी की रेलों में ५२ लाख डिब्बे माल से लादे गए थे जब कि विभाजन के पश्चात् १९४९ ई० में भारतीय संघ की रेलों के ६१ लाख डिब्बे माल से लादे गये, यह संख्या पहले वाली संख्या से १.७ प्रतिशत अधिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभाजन के पश्चात् भी इस दिशा में आशातीत वृद्धि हुई है। इसी तरह रेलों की आय में भी वृद्धि हुई। १९४६ ई० में भारतवर्ष को माल तथा मुसाफिरों से कुल २१५ करोड़ रुपये की आय हुई जब कि १९४९ में यह संख्या बढ़कर २४२ करोड़ हो गई। इन आँकड़ों को देखने से भारत के आन्तरिक व्यापार की विशालता का कुछ पता चल जाता है।

रेलों तथा नदियों द्वारा होने वाले व्यापार के खाते से भी यही पता चलता है कि १९३८-३९ में ९०० करोड़ रु० से कुछ अधिक ही कीमत का माल एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा गया। यह बात युद्ध के पूर्व की है। युद्ध के बाद स्वतन्त्र भारत में रेलों तथा सड़कों के पुनर्निर्माण की विशाल योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं। जैसे ही ये योजनायें पूरी होती है और रेलों के इंजनों तथा डिब्बों की स्थिति सुधरती है, तो ऐसी स्थिति में भारत के आन्तरिक व्यापार में वृद्धि होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त पहले की अपेक्षा अब भारत की राजनैतिक परिस्थिति में भी परिवर्तन हो गया है। विभाजन के पूर्व लगभग ६०० देशी राज्य थे जो भारत का कुछ नहीं तो कम से कम ४ प्रतिशत क्षेत्रफल घेरे हुए थे। इन देशी राज्यों में से अधिकांश में अपने चुङ्गी घर थे, इनसे वस्तुओं के स्वतन्त्रतापूर्वक आवागमन पर बड़ी बाधा खड़ी होती थी। अब ये छोटे-छोटे देशी राज्य समाप्त हो गये हैं और यह बाधा हट गई है। इस स्थिति का भी भारत के अन्तर्देशीय व्यापार पर गहरा असर पड़ेगा।

व्यापार का भविष्य—हम ऊपर कह ही चुके हैं कि यद्यपि हमें अन्तर्देशीय व्यापार सम्बन्धी सही-सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, तो भी भारत के आन्तरिक व्यापार के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है। देश के औद्योगिक विकास के हो जाने से, यातायात

के साधनों की उचित उन्नति हो जाने से भारत के अन्तर्देशीय व्यापार निश्चित रूप से कुछ न कुछ उन्नति होगी। सरकार की संरक्षण तथा औद्योगीकरण की इस नीति से देश के आयात में तो कमी होगी किन्तु उसके अन्तर्देशीय व्यापार में कोई कमी नहीं होने की। अब भारत के लिए व्यापार के उचित संतुलन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह गई है।

भारत ने अपना सम्पूर्ण स्टर्लिंग ऋण तो चुका ही दिया है साथ ही अब उसे लन्दन से विशाल मात्रा में स्टर्लिंग के आदेय प्राप्त होते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि देश में कच्चे माल का अधिक से अधिक उपयोग हो सकेगा और विदेशों से मूल्यवान वस्तुएँ समय-समय पर मंगाई जा सकेंगी। अतः आवश्यकता इस बात की है कि भविष्य में हमारे आन्तरिक या अन्तर्देशीय व्यापार को एक सुन्दर योजना के अनुसार आयोजित व व्यवस्थित किया जाय।

तटीय व्यापार

तटीय व्यापार का महत्व—जहाँ तक भारत की भौगोलिक स्थिति का सम्बन्ध है उसकी स्थिति काफी अच्छी है। उसकी भौगोलिक स्थिति, २५०० मील लम्बा समुद्र तट, उसके विदेशी व्यापार तथा उसकी जलयान सम्बन्धी स्थिति का द्योतक है। वास्तव में उसका जहाजी व्यापार बहुत बड़ा व अच्छा व्यापार होना चाहिए था परन्तु दुर्भाग्यवश वह १९४७ तक विदेशियों के, अंगरेजों की दासता में था जिसके परिणामस्वरूप समुद्री तथा तटीय दोनों व्यापार ब्रिटेन के जहाजों द्वारा होते थे। १९३९ तक कुल तटीय व्यापार का केवल २५ प्रतिशत ही भारतीय जहाजों द्वारा होता था। श्री हाजी तथा अन्य कई भारतीय सज्जनों ने सरकार से यह अनुरोध किया कि भारत के तटीय व्यापार को भारत के हितों के लिए ही सुरक्षित रख दिया जाय परन्तु उनके वे सारे प्रयत्न निष्फल रहे, कई कारणों से भारतीय जहाजी कम्पनियाँ विदेशी प्रतियोगिता का अच्छी तरह सामाना न कर सकीं। अन्त में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सरकार को भारत के लिए काफी व्यापारिक जहाजों तथा सुदृढ़ भारतीय नौसेना की स्थापना की आवश्यकता प्रतीत हुई।

बन्दरगाह (Ports)—यद्यपि भारत का समुद्र तट २५०० मील लम्बा है परन्तु उसके पास बहुत कम अच्छे बन्दरगाह हैं। वर्ष में तीन-चार महीनों तक मानसून का प्रबल प्रकोप रहने के कारण देश का पश्चिमीय समुद्र तट यातायात के लिए बन्द रहता है, हाँ केवल कच्छ तथा खम्भात की खाड़ी तथा बम्बई का बन्दरगाह इस परेशानी से बचा रहता है। हमारा पूर्वी समुद्र तट भी कोई विशेष अच्छा नहीं है। यहाँ पर केवल दो ही अच्छे बन्दरगाह हैं एक तो मदरास का और दूसरा विजगापट्टम। ये दोनों बन्दरगाह कृत्रिम हैं किन्तु ये सब मौसमों में जहाजों के लिए उपयोगी हैं; कलकत्ता समुद्र तट से कुछ दूर है, और वहाँ पर हुगली के बालू के कगारों से भी इस दिशा में बाधा खड़ी होती है।

विभाजन के कारण भारत के हाथ से कराँची के बन्दरगाह के निकल जाने के कारण भारत सरकार कुछ नवीन बन्दरगाहों के बनाने की ओर प्रयत्नशील है। कांदला, ओखा व मंगलौर में नवीन बन्दरगाह बनाने का विचार किया गया है। कांदला कच्छ की खाड़ी के पूर्वी सिरे पर स्थित है, यह एक प्रकार का प्राकृतिक बन्दरगाह है, इसका पानी तीस फीट गहरा है। यह देहली से ६५६ मील की दूरी पर है। इस बन्दरगाह से कराची की कमी दूर हो जायगी। ओखा काठियावाड़ पेनिन्सुला के बिल्कुल सिरे पर है। यहाँ पर हर मौसम में बड़े जहाज भी सुगमता से आ-जा सकते हैं। विजगापट्टम मदरास तथा कलकत्ता के बीच में स्थित है और मध्य प्रदेश के उत्पादन का निर्यात करता है। अब यह जहाज निर्माण करने का एक केन्द्र हो गया है। यहाँ दस-दस हजार टन के विशाल सागरों में चलने वाले जहाजों का निर्माण हो सकता है। १९४८ में आठ-आठ हजार टन के दो जहाज एक जल-उषा, दूसरा जलप्रभा बनाए गए थे। इस समय भी कई और जहाज बनाए जा रहे हैं।

भारत के जलयान—१६३६ में भारत में केवल तीस जलयान थे, जो कुल मिलकर १५०,००० टन के थे। भारत की विशालता को देखते हुये, उसके विशाल समुद्र-तट तथा महत्वपूर्ण सैनिक स्थिति को देखते हुये यह संख्या अत्यन्त अल्प है। इस सम्बन्ध में हमारी राष्ट्रीय सरकार अब काफी सतर्क है और जितनी जल्दी सम्भव हो सकता है, उतनी जल्दी इस स्थिति को सुधारने का प्रयत्न कर रही है।

वास्तव में इस ओर यदि सरकार उचित ध्यान नहीं देगी तो उसका सुधार होना असम्भव है। यह काम व्यक्तिगत कम्पनियों द्वारा नहीं होने का, उनके पास इसके लिए पर्याप्त पूँजी नहीं है और न हो ही सकती है। इसीलिए उन्होंने जलयान-निर्माण के लिये तीन संस्थाओं की स्थापना की है, इनमें से प्रत्येक संस्थाओं की व्यवस्था में दस-दस करोड़ की पूँजी लगी हुई है। ये कम्पनियाँ बाहरी समुद्र के व्यापार में अच्छा भाग लेंगी। इसमें सरकार ५१ प्रतिशत या इससे अधिक पूँजी लगायेगी। इन्होंने २० लाख टन का एक लम्बे मियाद वाला लक्ष्य बनाया है। १६४८ में ३ लाख टन का जहाजी वजन हो गया था, यह पहले से दुगना था और १६५० के अन्त तक इसको इसका दुगना—छै लाख—करने का निश्चय किया गया है। सरकार ने भी भारतीय कम्पनियों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने का विचार किया है। आवश्यकता इस बात की है कि भारत सरकार अपनी इस स्थिति को अच्छी तरह सँभाले और अपने व्यापारिक तथा सैनिक जलयानों की व्यवस्था में बड़ी सावधान रहे।

वाह्य व्यापार

(१) हिन्दू काल में विदेशी व्यापार—ईस्वी शताब्दी से हजारों वर्ष पहले से मिश्र, रोम, अरब, फारस, चीन तथा प्रशान्त महासागर के अन्य द्वीपों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। भारत से बढ़िया सूती कपड़े तथा अन्य बहुमूल्य सामग्रियाँ, सुन्दर वर्त्तन तथा इत्र आदि का निर्यात किया जाता था। इसके बदले में भारत विदेशों से भी कुछ चीजें जैसे अरबी घोड़े, फारसी शराब व सोना, तथा कुछ अन्य खनिज पदार्थ आदि मंगाता था। चीन का रेशम तथा लंका के मोती भी खूब मंगाए जाते थे।

यह तो रही हिन्दू काल की बात। इसके पश्चात् यहाँ पर मुसलमानों के पैर जमने लगे, उनके आगमन से तथा उनके हाथ में शासन यंत्र के चले जाने से हमारे वाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के व्यापारों पर गहरा असर पड़ा। यहाँ पर हम मुसलमानी काल के भारत के अन्य देशों के साथ होने वाले व्यापार पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(२) मुसलमानों के समय में—मुसलमानों के शासन-काल में और उसमें भी विशेषकर मुग़लों के समय में उत्तर-पश्चिम में काबुल और कन्धार के रास्तों से काफिलों द्वारा कुछ अन्य देशों से बड़े जोरों का व्यापार चलता था। उधर मालाबार का तट सुदूरपूर्व तथा लाल सागर से होने वाले व्यापार का अड्डा बन गया। इस समय में भारतीय व्यापार की रूपरेखा वही रही जो पहले थी, अब भी पहले की भाँति उसी प्रकार विलासिता की बहुमूल्य सामग्रियाँ विदेशों से बराबर मंगाई जाती थीं। ये सामग्रियाँ इतनी मूल्यवान होती थीं कि इनका प्रयोग साधारण जन समुदाय नहीं कर सकता था। डच तथा पुर्त्तगाली लेखों से यह पता चलता है कि भारतीय व्यापार इस समय भी उसी प्रकार था। विदेशों को ढाका की बढ़िया मलमल जो कि यूरोप में 'गैंजेटिका' के नाम से प्रसिद्ध थी, बड़े जोरों से भेजी जाती थी। इंगलैण्ड हमारे अच्छे ग्राहकों में से था, और वहाँ की शौकीन महिलाएँ सुन्दर भारतीय वस्त्रों को धारण कर अपने को गौरवान्वित समझती थीं। भारत के व्यापार का सन्तुलन और उसकी आय अब भी उसके पक्ष में थी। उसका आयात निर्यात से कम रहता था।

(३) **अंगरेजों के शासन के प्रारम्भिक काल में**—जब अंगरेज देश में आए तो उसके थोड़े दिनों बाद तक जो नीति रही उससे भारतीय उद्योग-धन्धों का विशेष अहित नहीं हुआ। ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत से गरम मसालों तथा रेशमी वस्त्रों का निर्यात करती थी। इसके पश्चात् १८वीं शताब्दी में इंगलैंड ने भारी कर आदि लगाकर भारत की बनी हुई वस्तुओं के आयात को बिल्कुल बन्द ही कर दिया। इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति से वहाँ के आर्थिक वातावरण में एक महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हो गया। अब इंगलैंड में बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे स्थापित होने लगे विज्ञान की सहायता से वे तरह-तरह के नवीन यंत्रों का आविष्कार करने लगे। इन सब का प्रभाव यह हुआ कि अब भारतीय बाजार इंगलैंड की बनी हुई वस्तुओं से पटने लगे और भारतवर्ष इङ्गलैंड को कच्चे माल का निर्यात करने वाला ही देश रह गया। इस प्रकार इस समय भारतीय व्यापार की रूप-रेखा बिलकुल परिवर्त्तित हो गई, अभी तक वह जिन वस्तुओं का निर्यात करता था, अब वह उन्हीं वस्तुओं के आयात करने वाला देश रह गया।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में (१८६४-१६१४)—१८६६ में स्वेज नहर खोली गई। इस नहर के खुल जाने से भारत के विदेशी व्यापार में काफी परिवर्त्तन हो गया। स्वेज नहर द्वारा भारत तथा इंगलैंड की यात्रा में लगने वाला समय अब पहले से आधा रह गया, इसके द्वारा ५,००० मील की दूरी कम हो गई। दूसरे इस समय देश में रेलों की स्थापना होने से देश के अन्दर के प्रमुख नगर बन्दरगाहों से मिल गये। इससे इंगलैण्ड के साथ होने वाले व्यापार में और भी वृद्धि हो गई।

इस समय तक भारत में आन्तरिक तथा वाह्य दोनों प्रकारों से शान्ति थी। अब वे चुंगीघर जिनके कारण देश के आन्तरिक व्यापार को आघात पहुँचता था; वह समाप्त हो गया। इंगलैण्ड भी अब से औद्योगिक उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच रहा था, अब वह मुक्त-व्यापार-नीति के आधार पर व्यापार कर रहा था, भारत भी उसके अनुसार ही चल रहा था। इन सब बातों के फलस्वरूप भारत के वाह्य व्यापार में खूब वृद्धि हुई। १८६४-६६ भारत का विदेशी व्यापार ८६ करोड़ रुपए का हुआ था, १८६६-१६०४ तक इस रकम में और वृद्धि हुई और इस समय विदेशी व्यापार बढ़कर २१० करोड़ रुपये का हो गया। विदेशी व्यापार की यह गति धीरे-धीरे बढ़ती ही गई और १६०६-१४ तक विदेशी व्यापार ३७६ करोड़ रुपये का हो गया।

युद्ध के समय में—१६१४ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। युद्ध से छिड़ने का प्रभाव भारत के व्यापार पर भी पड़ा। इसके कारण १६१४-१६१६ में भारत के आयात तथा निर्यात दोनों में ह्रास हो गया। इसका परिचय नीचे दी हुई तालिका से मिल जायगा :—

करोड़ रुपयों में (१६१३-१४ के मूल्य के आधार पर)

	निर्यात	आयात	कुल
१६१३-१४	२४४	१८३	४२७
१६१८-१६	१६०	६३	२२३

उपरोक्त आंकड़ों के देखने से यह पता चलता है कि इस समय जितना ह्रास आयात में हुआ उतना निर्यात में नहीं। इस समय आयात तथा निर्यात के व्यापार में कुल ह्रास ५.७ प्रतिशत का हुआ। १६१३-१४ में तैयार माल का निर्यात २२ प्रतिशत था, १६१८-१६ में यह बढ़कर ३६ प्रतिशत हो गया। यदि भारत आवश्यक यंत्रों का निर्माण कर सकता या विदेशों से ही मशीनें आदि मंगा सकता तो वह ऐसे अवसर से अच्छा लाभ उठा लेता। इस समय वह अपना और भी अच्छा औद्योगीकरण कर सकता था।

व्यापार के इस गिराव के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) शत्रु-देशों के साथ होनेवाला व्यापार बिल्कुल बन्द हो गया था; जबकि युद्ध में भाग न लेने वाले देशों के साथ होने वाले व्यापार पर कड़ा नियंत्रण लगा दिया गया था।

(२) बहुत से युद्ध-संलग्न देशों के कितने ही प्रदेशों के नष्ट हो जाने से उनके भारतीय वस्तुओं के क्रय करने की क्षमता कम हो गई।

(३) कुछ देशों में मुद्रा स्फीत (Inflation) का भी भारत के साथ होने वाले व्यापार पर गहरा असर पड़ा।

(४) जहाजों की कमी, भाड़े तथा बीमे आदि के महसूल में वृद्धि का भी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा।

युद्ध के बाद के समय में, १६१६-२६—जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ भारत के विदेशी व्यापार के भाग्य का उदय हुआ। इस समय भारतीय वस्तुओं की मांग में वृद्धि हुई। परन्तु भारत में रेलवे यातायात की कमी के कारण तथा रुपए के विनिमय के मूल्य में काफी वृद्धि हो जाने के कारण हमारा निर्यात उतना नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। यदि ये बाधाएँ न होतीं तो हमारा निर्यात और भी अधिक होता। इसके बाद ही जैसा कि प्रायः होता है, भारत में भीषण मन्दी का समय आया। इस समय १६२०-२१ व १६२१-२२ में हमारे व्यापार का सन्तुलन बिगड़ गया। १६२१-२२ के पश्चात् भारत के व्यापार की स्थिति धीरे-धीरे सुधरने लगी। नीचे दी हुई तालिका से इस सम्बन्ध में और प्रकाश पड़ जायगा।

तालिका

करोड़ रुपयों में

(इसमें पुनर्निर्यात सम्मिलित है किन्तु सरकारी स्टोर्स शामिल नहीं हैं)।

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल	सन्तुलन
१६१६-२०	२२२	३३६	५५८	+११४
१६२०-२१	३४७	२६७	६१४	—८०
१६२१-२२	२८२	२४८	५३०	—३४
१६२२-२३	२४६	३१६	५६२	+७०
१६२६-३०	२४६	३१८	५६७	+६६

ऊपर दी हुई तालिका से पता चलता है कि अब भी भारत तैयार माल का काफी आयात कर रहा था किन्तु इस काल में पहले की अपेक्षा आयात कम हो गया था। उसका एक कारण यह भी था कि इस समय देश में स्वदेशी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और देश में संरक्षण के कारण, यद्यपि यह संरक्षण औद्योगिक प्रगति में बाधक ही था, औद्योगीकरण उन्नति करता जा रहा था। इस समय सरकार भी अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ यदि वे उसे यहाँ आसानी से प्राप्त हो जातीं तो खरीद लेती थी।

'भीषण मन्दी' का समय १६२६-३३—१६२६ की न्यूयार्क की वाल स्ट्रीट वाली घटना—जिसका कि श्रीगणेश वस्तुओं के भाव में अचानक गिराव या उतार से हुआ तथा जिसका अन्त सारे संसार की व्यापक मन्दी से हुआ—इतिहास में अपना एक विशेष महत्व रखती है। इस समय समस्त संसार में वस्तुओं के मूल्य में भारी गिराव हुआ, इसका प्रभाव देश-विदेश के व्यापार पर भी गहरा पड़ा।

इस व्यापारिक मन्दी (Trade Depression) के कई कारण थे। इनमें से मुख्य ये हैं:—

(१) कच्चे माल तथा तैयार माल का अत्युत्पादन। इस समय कृषि में नवीन यंत्रों के प्रयोग किए जाने से उसका उत्पादन पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। खेती से उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ इस समय अत्युत्पादित हुईं। अधिक मात्रा में कच्चे माल के उत्पादित हो जाने से तैयार माल का भी अत्युत्पादन हुआ। इसका प्रभाव देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा गहरा पड़ा, व्यापारिक मन्दी में और वृद्धि हुई।

(२) मन्दी का एक सबसे मुख्य कारण संसार में सोने का अनुपयुक्त वितरण था। संसार के कुल सोने का ६० प्रतिशत से भी अधिक भाग फ्रान्स तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ में था। इसके परिणामस्वरूप अन्य देशों के सुरक्षित कोषों की स्थिति बिगड़ गई, और उन्हें अपनी मुद्रा सम्बन्धी नीति में परिवर्तन करना पड़ा।

(३) भारत, चीन, तथा दक्षिण अमरीका व अन्य देशों की राजनैतिक उथल-पुथल का भी संसार के आर्थिक वातावरण पर गहरा प्रभाव पड़ा।

इस मन्दी के फलस्वरूप प्रत्येक देश में आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना फैल गई। इसके कारण विभिन्न देशों ने टैरिफ़, (आयात-निर्यात कर सूची) कोटा, द्विपक्षीय संधियों आदि के द्वारा व्यापार पर नियंत्रण रखना शुरू कर दिया। इसका भी विश्व की व्यापारिक स्थिति पर गहरा असर पड़ा, विश्व के व्यापार में ह्रास हो गया। इस समय जब कि अन्य देश अपने-अपने सिक्कों के मूल्य में ह्रास कर रहे थे, भारतीय सिक्के— रुपये का मूल्य १ शिलिंग ६ पेंस हो गया था। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत का निर्यात कम होने लगा। जापान ने अपने सिक्के—पेन का इस समय पुनः मूल्य निर्धारण कर दिया और भारत में लागत से कम मूल्य पर माल भेजना शुरू कर दिया। इसके फलस्वरूप हिन्द-जापान व्यापार-अभिसमय (Indo-Japanese Trade Convention) की समाप्ति हो गई, उधर जापान भारतीय रुई का बहिष्कार करने लगा। इससे भारत की व्यापारिक स्थिति और बिगड़ गई। इस समय खेती की पैदावार व कच्चे माल के मूल्य में तैयार माल की अपेक्षा कहीं अधिक गिराव हो गया। अतएव इन कारणों से भारत के निर्यात-व्यापार में ह्रास होना अवश्यम्भावी था। जितनी कमी इस समय देश के निर्यात में हुई उतनी आयात में नहीं थी। इस आयात और निर्यात के अन्तर को दूर करने के लिए भारत को १९३१ व १९३८ के बीच में एक विशाल परिमाण में ३५० करोड़ रुपये से भी ऊपर के सोने का निर्यात करना पड़ा। इसका परिणाम अच्छा ही हुआ। यदि समय विशाल मात्रा में सोने का निर्यात न किया गया होता तो व्यापार का सन्तुलन भारत के पक्ष में न रह कर, विपक्ष में हो जाता और भारत की व्यापारिक स्थिति और डाँवाडोल हो जाती।

अमेरिका के प्रेसीडेन्ट रूजवेलट के 'रिकवरी प्लान' से संसार के मूल्य सम्बन्धी स्थिति पर कुछ अच्छा प्रभाव पड़ा, इसके द्वारा संसार में विभिन्न वस्तुओं के मूल्य में कुछ वृद्धि हुई। इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। १९३३-३४ में भारतीय निर्यात-व्यापार की स्थिति कुछ सुधरती हुई दिखाई पड़ी।

इस स्थिति से छुटकारा—हमने अभी ऊपर कहा कि १९३३-३४ में भारत के व्यापार की स्थिति कुछ सुधरती हुई दिखलाई पड़ी। इस स्थिति में सुधार होने के कई कारण थे :—

(१) संयुक्त राज्य अमरीका के 'रिकवरी प्लान' का पालन।

(२) रबर आदि कच्चे माल के उत्पादन पर नियंत्रण; तथा

(३) युद्ध की आशंका से संसार के सभी देशों के सैनिक अस्त्र-शस्त्रों पर किए जाने वाले व्यय से मन्दी सम्बन्धी स्थिति में काफ़ी सुधार हुआ।

१९३२ में कैनाडा में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों ने ओटावा पैक्ट पर अपने-अपने हस्ताक्षर

किये। इसका प्रभाव भारत के व्यापार पर अच्छा पड़ा, उसे इससे काफी सहायता प्राप्त हुई। ऐसा कहा जाता है कि यदि यह समझौता न किया जाता तो इससे जो व्यापार में अतिरिक्त वृद्धि हुई इसकी तो हानि होती ही साथ ही भारत के निर्यात व्यापार को भी काफी हानि उठानी पड़ती, क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों से भारत को व्यर्थ की प्रतियोगिता करनी पड़ती, और इस प्रतियोगिता में भारत साम्राज्य के अन्य देशों का सफलतापूर्वक मुकाबला न कर सकता। १६३४ में भारत-जापान व्यापार समझौता हुआ, इससे भारत का जापान के साथ होने वाले व्यापारिक सम्बन्ध में सुधार हुआ। भारतीय वस्तुओं के निर्यात के कारण इस समय कच्चे माल के मूल्य में भी धीरे-धीरे वृद्धि हुई। इस प्रकार १६३६-३७ तक हमारे व्यापार की इस स्थिति में धीरे-धीरे प्रगति होती रही परन्तु १६३७-३८ में व्यापार व वाणिज्य को फिर एक गहरा धक्का लगा। यह वह समय था जब कि संसार के प्रायः सभी मुख्य देश युद्ध की तैयारी में लगे हुए थे, इस समय जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में अधिक व्यय किए जाने से सारे संसार में वस्तुओं के मूल्य में कुछ वृद्धि हुई और व्यापार में विकास हुआ। इस समय द्वितीय विश्वयुद्ध के बादल आकाश में मंडरा रहे थे, लोगों में घबड़ाहट पैदा हो रही थी और व्यापारिक कार्यों की ओर लोग कुछ उदासीन से हो रहे थे। इस सारे समय में जापान चीन के साथ अपने निजी युद्ध में लगा हुआ था, इसके कारण उसकी भारत की रुई की माँग में भी काफी गिराव हो गया था। इस प्रकार इन सब कारणों से पहले वर्ष की अपेक्षा हमारे १६३७-३८ के निर्यात-व्यापार में काफी ह्रास हो गया। उधर खेती की पैदावार की मन्दी के कारण भारतीय कृषक की क्रय-शक्ति में भी काफी ह्रास हो हो गया था, इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा आयात-व्यापार भी गिर गया।

युद्ध के समय में व्यापार—१६३६ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, इससे भारत की व्यापारिक स्थिति में भी काफी परिवर्तन हुआ। युद्ध के कारण वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगा साथ ही भारत के कच्चे तथा तैयार माल की भी मांग बढ़ने लगी। इसके परिणामस्वरूप १६३६-४० में भारत के निर्यात-व्यापार में वृद्धि हो गई और युद्ध के कारण यद्यपि भारत के हाथ से कई बाजार निकल गये किन्तु फिर भी १६४१-४२ में भारत का कुल निर्यात-व्यापार काफ़ी बढ़ गया। इस सम्बन्ध में एक बात और कह देना होगा कि इन वर्षों के व्यापार सम्बन्धी आँकड़ों में कई दोष हैं। उदाहरण के लिये इसमें न तो ब्रिटिश सरकार द्वारा खरीदी गई वस्तुएँ सम्मिलित हैं और न इसमें संयुक्त राज्य अमरीका को भेजे गये माल के आँकड़े सम्मिलित हैं, और न इस देश द्वारा दी गई परस्परानुवर्त्ती सहायता ही सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त इसमें न तो भारतीय रेलवे की ही खरीद शामिल है और न भारतीय राज्यों की ही। इस प्रकार इन वर्षों के हमारे ये आँकड़े कई दोषों से मुक्त हैं फिर भी इससे हमें स्थिति का बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जायगा।

विदेशी या वाह्य व्यापार (करोड़ रुपयों में)

(इसमें पुनर्निर्यात भी शामिल है)

वर्ष	आयात	निर्यात	कुलयोग
१६४०-४१	१५७	१८७	३४४
१६४१-४२	१७३	२३७	४१०
१६४२-४३	११०	१८७	२६७
१६४३-४४	११८	१६६	३१७
१६४४-४५	२०४	२१०	४१४

उपरोक्त कुछ अभावों के होते हुए भी व्यापार सम्बन्धी इन आँकड़ों से हम कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

(१) भारत के आयात तथा निर्यात पर नियंत्रण लगाये गये। १९४२-४३ ई० में जब कि भारत का कुल व्यापार सबसे कम हुआ, उस वर्ष यह नियंत्रण और भी कठोर था। इस व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए ट्रेड कन्ट्रोलर्स नियुक्त किये गये और किसी भी प्राइवेट माल का बिना पहले से आज्ञा लिये हुये न तो निर्यात ही किया जा सकता था और न आयात ही हो सकता था। इसके लिये एक प्राथमिकता की पद्धति का प्रारम्भ किया गया और प्राइवेट व्यापारियों को पूर्ण जाँच के पश्चात लाइसेन्स दिये जाने लगे। कुछ तटस्थ देशों की व्यापारिक संस्थाएँ जिनसे यह भय था। कि वे शत्रु-देशों को रहस्य खोल सकते हैं, उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध बन्द कर दिया गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों व्यापार पर नियंत्रण और कठोर होता गया।

(२) ज्यों-ज्यों युद्ध बढ़ता गया त्यों-त्यों भारत के हाथ से बहुत से बाजार निकल गये। युद्ध के प्रथम बारह महीने में फ्रांस, इटली आदि जैसे बाजार निकल गये। १९४१ में जब मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध जापान युद्ध-क्षेत्र में उतरा तो उसके साथ का भी लेन-देन बिल्कुल बन्द कर दिया गया। दूसरे वर्ष जब बर्मा और आसाम में युद्ध चल रहा था तो भारत के हाथ से सुदूर पूर्व के बाजार भी निकल गये। परन्तु इन हानियों के होते हुये भी भारत का व्यापार बहुत बुरा नहीं रहा क्योंकि उसे मध्य पूर्व में कुछ नये बाजार मिल गये, दूसरे उसके मित्रराष्ट्रों के साथ होने वाले निर्यात में भी वृद्धि हुई।

(३) १९४२-४३ में हमारे व्यापार में रुकावट होने का एक कारण जहाजों की कमी भी थी। उस समय बहुत आवश्यक वस्तुओं का ही आयात-निर्यात होता था, अनावश्यक वस्तुओं का व्यापार बन्द कर दिया गया। उस समय बहुत से जहाज सिपाहियों तथा सैनिक सामग्रियों के ढोने में व्यस्त थे।

(४) समुद्र द्वारा होने वाले व्यापार में जहाजों के महसूल तथा बीमा आदि की दरों के बढ़ जाने से और भी रुकावट खड़ी हुई और समुद्री व्यापार कम हुआ।

(५) जब युद्ध की गति और तीव्र हुई तो युद्ध में व्यस्त होने के कारण ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका भारत को तैयार माल न भेज सके। ये ही मुख्य दो ऐसे देश थे जिनसे भारत में पर्याप्त मात्रा में तैयार माल आता था। इन देशों के पास अब माल भी बहुत नहीं रह गया था। इसके कारण आयात में और कमी हो गई अतः भारत को जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी वे नहीं प्राप्त हुईं। हाँ उसके पास कच्चा माल अवश्य था परन्तु यह सब कच्चा माल युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओं के निर्माण में लग जाता था।

(६) युद्ध के कारण वाह्य व्यापार की स्थिति काफी खराब रही, इस समय आयात में जितनी कमी हुई उतनी निर्यात में नहीं। युद्ध के अन्तिम वर्ष में आयात कुछ अधिक रहा इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय जहाजों के प्राप्त होने की काफी सुविधा हो गई। सबसे अधिक आयात खानों से निकलने वाले तेलों का हुआ क्योंकि इस समय इसकी सैनिक कार्यों के लिये काफी आवश्यकता थी।

युद्ध के बाद व्यापार—ऊपर हमने युद्ध के समय होने वाले आयात तथा निर्यात के आंकड़ों पर विचार किया। यहाँ पर युद्ध के बाद के व्यापार के आंकड़े दे रहे हैं :—

(करोड़ रुपयों में)
(इसमें पुनर्निर्यात भी शामिल है)

वर्ष	आयात	निर्यात	सन्तुलन
१९४५	२३२	२२९	—३
१९४६	२९२	२६६	—२६

१६४७	३३४	३२०	१४
१६४८	४७०	४२८	४२
१६४६	६२२	४३८	१८४

उपरोक्त आंकड़ों को देखने से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :--

(१) विदेशी व्यापार भारत सरकार की आयात तथा निर्यात नीति, उसके नियंत्रण आदि द्वारा काफी निर्देशित हुआ। सरकारी नियन्त्रणों आदि का आयात-निर्यात पर गहरा असर पड़ा।

(२) ज्यों-ज्यों युद्ध बढ़ता गया भारत के विदेशी व्यापार के परिणाम तथा मूल्य में काफी वृद्धि हुई।

(३) भारत के व्यापार के सन्तुलन में काफी कमी बनी रही। यह कमी अमरीका जैसे धात्विक मुद्रा वाले देशों के साथ और भी अधिक रही। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(अ) युद्ध के समय में खाद्यान्न की भयङ्कर कमी हो जाने से सरकारी खाते से खाद्यान्न का आयात हुआ;

(ब) औद्योगिक कार्यों के लिये कच्चा माल जैसे रुई इत्यादि की आवश्यकता काफी थी;

(स) पुराने यंत्रों, मशीनों आदि के लिये कुछ समान मंगाया गया;

(द) नदियों की उन्नति की बहुमुखी योजनाओं तथा जल-विद्युत की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये मशीनों की आवश्यकता थी, इसलिये इन मशीनों का आयात किया गया।

(४) धीरे-धीरे निर्यात पर से नियंत्रण ढीला कर दिया गया परन्तु फिर भी सब व्यापार पर कुछ न कुछ नियन्त्रण अवश्य रहा। पाकिस्तान के एक विदेशी राज्य के घोषित हो जाने से नियंत्रण की आवश्यकता और बढ़ गई। डालर तथा अन्य धात्विक मुद्राओं के प्राप्त होने में कठिनाई के कारण ऐसे देशों के साथ होने वाले निर्यात पर और आसानी से नियन्त्रण लगाया गया, इतना अन्य देशों के साथ नहीं।

(५) १६४६ के सितम्बर में, धात्विक मुद्रा वाले देशों के साथ होने वाले निर्यात को प्रोत्साहित तथा आयात को हतोत्साहित करने के लिये ३०·५ प्रतिशत के हिसाब से भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन किया गया। इस सब का उद्देश्य व्यापारिक घाटे को कम करना था। इस व्यवस्था तथा आयात में अन्य नियन्त्रण लगाने के परिणामस्वरूप उस घाटे में कुछ कमी हुई और १६४६ के नवम्बर में इस दिशा में कुछ बचत हुई।

देश में कच्चे माल की अधिकाधिक खपत तथा विदेशों के लिए कच्चे माल के अधिकाधिक निर्यात का प्रयत्न :—

देश में—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण, युद्ध के परिणामस्वरूप भारत के हाथ से कई अच्छे-अच्छे बाजार निकल गए। भारत का बहुत सा कच्चा माल जैसे रुई, तिलहन, चमड़ा, खाल पहले साधारणतया जर्मनी, फ्रान्स तथा जापान को भेज दिया जाता था परन्तु इस समय इन देशों को न भेजे जाने के कारण ये वस्तुएँ यहाँ पर बेकार पड़ी रहने लगीं। इस दुरावस्था को रोकने के लिए भारत सरकार ने ऐसे माल उत्पन्न करने के बजाय खाद्यान्न उत्पन्न करने का प्रोत्साहन प्रदान किया और कृषकों को यह आश्वासन दिलाया कि सरकार व्यर्थ में इन वस्तुओं के मूल्य में कोई अधिक कमी न होने देगी। ऐसा करने का एक कारण यह भी था कि बर्मा से न आने वाले चावल की पूर्ति हो जाती। इसके अतिरिक्त मध्यपूर्व की मित्र सेनाओं के लिए भी खाद्य-सामग्री की काफी आवश्यकता थी, लंका तथा ईरान भी भारत से खाद्यान्न मंगाने के लिए लालायित था। ऐसी स्थिति में देश में खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि करना कितना आवश्यक था, यह कहने

की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत देश में भी कितने ही प्रान्तों में खाद्यान्न की कमी थी, अन्य देशों में भी खाद्यान्न का काफी अभाव था। ऐसी दशा में यह भी नहीं आशा की जा सकती थी कि खाद्यान्न के मूल्य में कोई भारी कमी होगी। अतएव सरकार ने खाद्य सम्बन्धी स्थिति को सुधारने के लिए प्रयत्न करना शुरू कर दिया। किसानों को कृषि सम्बन्धी सहायता देने का वायदा किया गया, सरकार ने यह आश्वासन दिलाया कि यदि नई भूमि में खेती की जाती है तो सरकार कुछ वर्षों तक उस भूमि की छूट दे देगी। सरकार ने या तो कम मूल्य पर या मुफ्त अच्छे बीज बाँटने की व्यवस्था की।

सरकार के इन सब प्रयत्नों के बावजूद भी खाद्यान्न में भारी चढ़ाव हुआ और सरकार इस मूल्य वृद्धि को नियंत्रित करने में असफल रही। सरकार ने अन्य व्यावसायिक फसलों के उत्पादन को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से हतोत्साहित करने का प्रयत्न किया। सरकार ने कपास तथा जूट के सट्टा आदि को अवैध घोषित कर दिया। उसने मित्र राष्ट्रों के लिए बड़ी मात्रा में सूती कपड़े खरीदे तथा उनका मध्यपूर्व को निर्यात कर दिया, इस प्रकार सरकार ने मिलों में कपास की खपत के लिए काफी प्रोत्साहन प्रदान किया।

विदेश में—भारतीय उत्पादन के लिए विदेशों में नए बाजार प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किए गए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार डा० टी० ई० ग्रीगारी तथा सर डेविड मीक की अध्यक्षता में १९४० में एक मिशन संयुक्त राज्य अमरीका भेजा गया। उन्होंने १९४१ में अपना प्रतिवेदन उपस्थित करते हुए कहा कि संयुक्त राज्य अमरीका भारतीय कपास, तिलहन तथा अन्य कच्चा माल नहीं खपा सकेगा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि अमरीका जहाँ एक उच्चकोटि का औद्योगिक देश है, वहाँ उसने कृषि में भी अच्छी उन्नति कर ली है, इसलिए उसे भारत के कच्चे माल की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। उसे न तो भारतीय कपास की आवश्यकता थी और न तिलहन की ही। रुई तो वह अपने देश में ही काफी उत्पन्न कर लेता था और अपनी आवश्यकता भर के लिए वह अर्जेन्टाइना से तिलहन मंगा लिया करता था। इसलिए उसके द्वारा इन वस्तुओं की खपत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। हाँ, अमरीका को भारत की मैंगनीज, अभ्रक तथा रबर आदि की काफी आवश्यकता थी और वह इसे काफी खपा सकता था। इस प्रतिवेदन में यह कहा गया कि भारत के गलीचे, कम्बल, तथा धातुओं के सुन्दर बर्तनों आदि की अमरीका में अच्छी खपत हो सकती है। वहाँ काश्मीरी तथा बनारसी माल की अच्छी बिक्री हो सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक कच्चे माल का प्रश्न था, भारत को अमरीका में कोई स्थान न मिल सका।

सौभाग्य से भारत को मध्यपूर्व में अच्छा बाजार प्राप्त हो गया। टर्की, ईरान, ईराक, अरब, मिश्र तथा दक्षिण अमरीका में भारत के कच्चे माल की अच्छी बिक्री हुई। इन देशों को भारत के कच्चे माल तथा चाय की तो आवश्यकता थी ही साथ ही इन्हें भारतीय कपड़े की भी काफी जरूरत थी और वहाँ इसकी खपत भी अच्छी हुई। कैनाडा तथा आस्ट्रेलिया ने भी भारत का कुछ कच्चा माल खपाया। १९४० में भारतीय उद्योग तथा व्यापार की उन्नति में सहायता प्रदान करने के लिए तथा निर्यात को प्रोत्साहित करने के उपायों का पता लगाने के लिए एक निर्यात सलाहकार परिषद (Expert Advisory Council) का निर्माण किया गया। विदेशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा उसे बनाए रखने के लिए न्यूयार्क, लन्दन, नैटाल, केनया, मिश्र, आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना, कैनाडा, अफगानिस्तान आदि स्थानों में भारत सरकार ने ट्रेड कमिश्नर तथा कौंसलर्स की नियुक्ति की। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत के निर्यात को विशेष धक्का नहीं पहुँचा और उसकी स्थिति कुछ ठीक बनी रही।

व्यापारिक संगठन—भारत में प्रायः सभी राज्यों में वाणिज्य-सङ्घ (चेम्बर आफ कामर्स) हैं। इनमें से कुछ सङ्घ तो यूरोपीय हैं शेष बिलकुल भारतीय हैं। ये सङ्घ एक जिम्मेदार वाणिज्य सङ्घ है। ये सङ्घ आवश्यकता होने पर सरकार के कार्यों की आलोचना करते तथा सरकार को उपयोगी सुझाव देते हैं। भारतीय जनता को भी ये सामायिक, आर्थिक, औद्योगिक तथा व्यवसायिक बातों से परिचित तथा शिक्षित करते रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में इन वाणिज्य सङ्घों द्वारा काफी सहायता मिल रही है। वैसे तो जहाँ तक आर्थिक तथ्यों तथा व्यापारिक आँकड़ों के एकत्रित करने का सम्बन्ध है संयुक्त राज्य अमरीका, तथा ग्रेट ब्रिटेन आदि देशों की तुलना में भारत का स्थान नहीं के बराबर है। परन्तु पहले की अपेक्षा देश ने अब इस दिशा में अच्छी उन्नति कर ली है। भारत के रेलवे बोर्ड, कृषि विभाग तथा वाणिज्य सांख्यकी विभाग (Commercial Intelligence & Statisties Department) ने इस दिशा में अच्छी सहायता प्रदान की है। यह अन्तिम विभाग विदेशों में स्थित भारतीय व्यापार आयुक्तों व प्रतिनिधियों से भी अपना निकट सम्बन्ध बनाये रखता है और विदेशों में भारतीय उत्पादन के प्रचार के लिये काफी प्रयत्न करता है। भारत में स्थित व्यावसायिक तथा औद्योगिक संस्थाओं (फर्मों को) उद्योग विभाग आवश्यक सहायता देता रहता है।

भारतीय व्यापार की मुख्य गतिविधियाँ युद्ध के पूर्व के वर्षों में (१६३६ के पहले)—भारत के विदेशी व्यापार की युद्ध पूर्व की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :—

(१) प्रथम विश्वयुद्ध के पहले भारत के आयात तथा निर्यात व्यापार में ग्रेट ब्रिटेन का प्रमुख हाथ रहा। १६१४ के पूर्व के पाँच वर्षों में देश में होने वाले कुल आयात का ६३ प्रतिशत ग्रेट ब्रिटेन का था। धीरे-धीरे इस आयात में ह्रास होता गया और १६३८-३९ में यह केवल ३० प्रतिशत रह गया किन्तु अब भी उसकी स्थिति कोई खराब नहीं थी। ग्रेट ब्रिटेन का आयात इतना अधिक होने का मुख्य कारण यह था कि यह ही सबसे पहला देश था जिसने संसार में सर्वप्रथम अपना औद्योगिकरण किया। दूसरे लगभग सौ वर्ष तक इसी देश ने भारत पर अपना शासन किया। इसलिए इसे अपने देश के माल को भारत में बेचने के लिये प्रायः सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। यही कारण था कि वर्षों तक भारतीय आयात का अधिकांश ग्रेट ब्रिटेन का ही रहता था।

ग्रेट ब्रिटेन का आयात जितना अधिक था उतना उसका निर्यात नहीं। १६०६ से लेकर १६१४ ई० तक उसका निर्यात में कुल २५ प्रतिशत भाग ही रहा। धीरे-धीरे उसके निर्यात में वृद्धि होती गई और १६३८-३६ में यह ३४ प्रतिशत तक पहुँच गया। ग्रेट ब्रिटेन ने भारतीय रेलवे, कारखानों तथा चाय के बगीचों आदि में काफी पूँजी लगाई थी, इस प्रकार उसे भारत से इन स्रोतों द्वारा अच्छा लाभ मिल जाता था। यही नहीं ब्रिटेन के जहाजों, बैंकों आदि का भी भारतीय व्यापार में अच्छा हाथ था और इनके द्वारा उसे काफी लाभ मिलता था। इन सब कार्यों के लिये भारत को काफी अच्छी रकम देनी पड़ती थी। यही कारण है कि ग्रेट ब्रिटेन का भारत के निर्यात में कोई विशेष भाग न था।

(१) इसके बाद धीरे-धीरे अन्य देशों ने भी अपना औद्योगिक विकास करना प्रारम्भ किया, इन्होंने भारत से सीधे अपना व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया। इसके परिणामस्वरूप भारत के व्यापार में ब्रिटेन का भाग कुछ कम होने लगा। धीरे-धीरे जापान, जर्मनी तथा संयुक्त राज्य अमरीका ने ब्रिटेन का स्थान ले लिया। १६३८-३६ में हमारे कुल व्यापार का ८ प्रतिशत संयुक्त राज्य अमरीका का, ६.६ प्रतिशत जर्मनी का तथा ६.४ प्रतिशत जापान का भाग था। नीचे दी हुई तालिका से ग्रेट

ब्रिटेन के भारत के साथ होने वाले व्यापार में जो शनैः शनैः ह्रास हुआ है, उसका और परिचय मिल जायगा :—

भारत के व्यापार में ग्रेट ब्रिटेन का भाग
(लाख रुपयों में)

	१९०९-१४ औसत		१९१४-१९ औसत		१९३८-३९ औसत	
	मूल्य	प्रतिशत	मूल्य	प्रतिशत	मूल्य	प्रतिशत
आयात	९१,५८	६२.८	८३,५६	५६.५	४६,४९	३०.५
निर्यात	५६,३०	२५.१	६६,६२	३१.१	५८,२५	३४.३

(२) इन वर्षों में होने वाले भारतीय व्यापार की दूसरी विशेषता यह थी कि जो आयात होता था उसमें अधिकांश तैयार माल रहता था। कपड़ा, घड़ियाँ, शीशे का सामान, चमड़े का सामान, साइकिलें, मोटर गाड़ियाँ, सिलने की मशीनें आदि वस्तुओं का अधिक आयात होता था। धीरे-धीरे यह समय बीता, और इन वस्तुओं का निर्माण के लिए भारत ने अपने कारखाने खोल लिए और शनैः शनैः इन वस्तुओं का आयात घटने लगा, उधर कच्चे माल तथा खाद्यान्न के आयात में वृद्धि होने लगी।

नीचे भारत के युद्ध के पूर्व तथा युद्ध के समय तक के आयात की वस्तुओं का प्रतिशत दिया जा रहा है :—

(कुल आयात का प्रतिशत)

	१९२०-२१	१९३८-३९	१९३९-४०
१. तैयार माल	८४ प्रतिशत	६२ प्रतिशत	५६ प्रतिशत
२. कच्चा माल	५ प्रतिशत	२२ प्रतिशत	२२ प्रतिशत
३. खाद्यान्न, मदिरा व तम्बाकू	११ प्रतिशत	१६ प्रतिशत	२२ प्रतिशत

ऊपर की तालिका में दिये हुए आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि १९२०-२१ में तैयार माल का आयात हमारे कुल आयात का ८४ प्रतिशत था। तब तक भारत सरकार की राजस्व नीति मुख्य रूप से अंगरेजों के आर्थिक हित को ध्यान में रखकर निर्धारित होती थी। जब प्रथम विश्वयुद्ध आया तो उस समय भारत सरकार की इस नीति के दोष स्पष्ट रूप से झलकने लगे और भारतीय राजस्व नीति के रूप परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। अतएव युद्ध की समाप्ति पर १९२१ में एक आयात-निर्यात कर आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की गई। इसके सुझावों के अनुसार कुछ उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्राप्त हो गया। वैसे तो यह संरक्षण कोई विशेष लाभदायक न था किन्तु फिर भी लोहा, शकर जैसे उद्योग के विकास में इस संरक्षण से कुछ न कुछ सहायता प्राप्त हो गई। भारत के अतुल प्राकृतिक साधनों को देखते हुए यह संरक्षण नहीं के बराबर था क्योंकि यहाँ पर विदेशी कम्पनियाँ स्थापित हो रही थीं जिन पर आयात निर्यात कर का कोई विशेष प्रभाव ही नहीं था। देश में दियासलाई के आयात के कम होने का मुख्य कारण इसकी स्वीडेस कम्पनी का भारत में अपना कारखाना खोला जाना ही था। इसी प्रकार लीवर ब्रदर्स के भी कारखाने भारत में खुल जाने से साबुन का आयात कम हो गया। इसके अतिरिक्त कपड़ा, शकर, फौलाद आदि के लिए देश में भारतीय कारखाने खुलने लगे जिनके कारण इन वस्तुओं के भी आयात में कमी हुई। इस सम्बन्ध में एक और तालिका नीचे दी जा रही है इससे तैयार माल की कुछ मुख्य वस्तुओं के आयात के परिमाण का पता चल जायगा।

कुछ तैयार माल का आयात
(लाख रुपयों में)

		१९२०-२१	१९३२-३३	१९३८-३९
सूती कपड़े	...	८३,७८	१३,३७	१४,१५
शकर	...	१८,५०	४,२३	२४
दियासलाई	...	१,६७	१	...
सीमेन्ट	...	१,३९	२९	५
लोहा व फौलाद	...	३१,२९	५,३०	६,६६

उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश के तैयार माल के आयात में धीरे-धीरे कितना ह्रास होता चला गया है।

(३) इन वर्षों के भारत के व्यापार की दूसरी विशेषता यह थी कि भारत के निर्यात में कच्चे माल तथा कृषि उत्पदन की वस्तुओं की अधिकता रही। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व भारत के निर्यात में लगभग ७० प्रतिशत कच्चे माल तथा खाद्यान्न का रहता था। युद्ध के वर्षों में (१९१४-१८) तैयार माल के निर्यात में कुछ वृद्धि हुई परन्तु यह वृद्धि अधिक दिन तक नहीं बनी रही। उदाहरण के लिए १९२०-२१ में खाद्यान्न तथा कच्चे माल का निर्यात कुल का ६४ प्रतिशत था जब कि तैयार माल का निर्यात केवल ३४ प्रतिशत था। १९३९-४० में भी प्रायः यही प्रतिशत था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत अपने कच्चे माल का १९३९ तक उद्योग-धन्धों में कोई विशेष उपयोग न कर सका, और तब तक उसके निर्यात का अधिकांश कच्चा माल ही रहता था। नीचे दी हुई तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जाती है :—

निर्यात का प्रतिशत

	१९२०-२१	१९३२-३३	१९३८-३९	१९३९-४०
तैयार माल	३६	२९	३०	३८
कच्चा माल	३५	४२	४५	४३
खाद्यान्न, मदिरा और तम्बाकू	२८	२९	२३	२०

(४) इन वर्षों में होने वाले व्यापार की एक मुख्य विशेषता यह भी थी कि जब कि हमारे आयात में कई किस्म का माल रहता था तो निर्यात में बहुत ही कम प्रकार का। हमारे निर्यात की कुछ वस्तुएँ नीचे दी जा रही हैं :—

निर्यात की कुछ वस्तुएँ (लाख रुपयों में)

	१९२०-२१	१९३२-३३	१९३८-३९
कच्ची कपास	४१,६३	२०,३७	२४,८२
चाय	१२,१२	१७,१५	२३,२९
जूट का माल	५२,४५	२१,४०	२६,२६
कच्चा जूट	१६,३६	९,३७	१३,४०
बीज	९,००	८,००	८,००
सूती कपड़े	७,५१	२,०९	७,५७
चमड़ा व खाल	५,२४	२,७६	६,०४

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे निर्यात में कुछ चुनी-चुनी वस्तुएँ ही सम्मिलित रहती थीं, जिस प्रकार हमारा आयात बहुत सी वस्तुओं का होता था वैसा निर्यात नहीं।

(५) इन वर्षों में होने वाले भारत के विदेशी व्यापार की एक और विशेषता थी, वह यह कि इन वर्षों में भारतीय व्यापार का सन्तुलन उसके पक्ष में रहा। इसके द्वारा भारत सरकार के विनमय का स्थायी अनुपात, स्थापित करने आदि की सुविधा प्राप्त हो गई। केवल १९२०-२१ तथा १९२१-२२ के वर्ष ऐसे थे जिनमें कि व्यापार का सन्तुलन भारत के पक्ष में न था, शेष वर्षों में उसका यह संतुलन ठीक था। १९३१ से प्रारम्भ होने वाले मन्दी के दिनों में हमारा व्यापारिक सन्तुलन धीरे-धीरे देश के पक्ष में कम रहने लगा। इस समय भारत अपनी वस्तुओं का अच्छा निर्यात न सका, हाँ उसने अपने देश का सोना विदेशों को निर्यात कर इस कमी की पूर्ति करने का प्रयत्न किया। १९३१ में भारत के व्यापारिक सन्तुलन की स्थिति कुछ अधिक बिगड़ गई अतएव विदेशों में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भारत पर्याप्त मात्रा में सोने का निर्यात करता रहा, यह निर्यात द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक जारी रहा। इस समय भारत के व्यापार का सन्तुलन कुछ ठीक होने लगा। इन वर्षों में कुल मिलाकर भारत ने लगभग ३६२ करोड़ रुपये के मूल्य के सोने का निर्यात किया। भारतीयों द्वारा सोने की इस बिक्री से उनकी स्थिति कुछ ठीक हो गई। हम कह चुके हैं कि इन वर्षों में भीषण-मन्दी के कारण भारतीय जनता आर्थिक संकट में ग्रस्त थी, उसकी भी स्थिति सुधरी। सोने की बिक्री से विदेशों से कुछ धन प्राप्त हो जाने के कारण सरकार को घरेलू खर्चे (Home Charges) के लिये सहायता प्राप्त हो गई।

निष्कर्ष—उपरोक्त तथ्यों को अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन दो महायुद्धों के बीच के समय में संसार के प्रायः सभी देश विदेशी व्यापार को लाभ का एक अच्छा साधन समझते रहे। यहाँ तक कि इंगलैण्ड भी जो कि मुक्त व्यापार वाला देश था, उसने भी ऐसा ही किया। इधर भारत को भी अपने पूर्वकथित होम चार्जेज को सम्भालना पड़ता था। इस खर्चे में भारत स्थित ब्रिटिश सैनिक व अन्य साधारण अधिकारियों का वेतन भी सम्मिलित था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन वर्षों में सारे के सारे विदेशी व्यापार का संगठन भारत के औद्योगिक विकास के विपक्ष में था, इस प्रकार के विदेशी व्यापार से भारत के औद्योगिक विकास को जरा भी सहायता न प्राप्त हुई। इन वर्षों में अधिकांश रूप से कुछ मुख्य-मुख्य कच्चे माल का भारत से निर्यात होता रहा और विदेशों से तरह-तरह की उपभोग की वस्तुओं का आयात हुआ। इस समय संसार के प्रायः सभी देशों ने आत्मनिर्भरता की नीति अपना रखी थी, इसके लिये वे विदेशी व्यापार पर, आयात-निर्यात की मुख्य वस्तुओं पर काफी नियन्त्रण रखते थे। इन कारणों से यह सोच लिया गया था कि जहाँ तक सम्भव हो सके कोई भी देश कम से कम विदेशी व्यापार करे।

युद्ध के वर्षों में (१९३९-४५)—देशों के व्यापार कम करने की नीति थोड़े दिन तक ही चली ज्यों ही युद्ध शुरू हुआ सारे संसार के व्यापारिक क्रियाकलापों में बड़े जोरों से वृद्धि होने लगी। प्रत्येक देश ऐसे कच्चे तैयार माल जिसका कि उसके देश में अभाव था, अधिक से अधिक आयात, कर लेना चाहता था। अतएव भारत के कच्चे माल की माँग खूब बढ़ गई परन्तु जब फ्रान्स तथा कुछ अन्य देश युद्ध में पड़ गए तो भारत के हाथ से बहुत से बाजार निकल गए और उसके विदेशी व्यापार में काफी कमी हो गई। जापान के साथ युद्ध घोषित हो जाने से यह स्थिति और भी बिगड़ गई, परन्तु जैसे ही धीरे-धीरे मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ विजय प्राप्त करती गईं तो भारत के निर्यात की कुछ वस्तुओं—जैसे कपास, चाय तथा जूट के सामान आदि—की विदेशों में खपत भी बढ़ने लगी।

इस समय के व्यापार की रूपरेखा—इन वर्षों में होने वाले भारत के विदेशी व्यापार के तथ्यों को अध्ययन करने से हमें कई महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है, इस समय देश के आर्थिक जीवन में युद्ध द्वारा कई महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। द्वितीय महायुद्ध के समय में भारत के निर्यात में मुख्य रूप से निम्नलिखित परिवर्त्तन हुए :—

(१) निर्यात की वस्तुओं में जूट के सामान का स्थान काफी महत्वपूर्ण रहा। १६४२-४३ में जूट का निर्यात ३६ करोड़ रु० का, १६४३-४४ में ४६ करोड़ रु० का तथा १६४४-४५ में ६० करोड़ रुपये का हुआ।

(२) सूती कपड़े के निर्यात में भी काफी वृद्धि हुई। युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में इसका ६ करोड़ रुपये का निर्यात हुआ, १६४२-४३ में ४६ करोड़ का तथा १६४४-४५ में ३८ करोड़ रुपए का सूती कपड़ा विदेशों को भेजा गया। सूती कपड़े के निर्यात की वृद्धि का मुख्य कारण जापान के युद्ध में शामिल हो जाना था जिसके कारण मध्यपूर्व तथा अफ्रीका के बहुत से बाजारों में जिनमें पहले जापानी कपड़े की खूब बिक्री होती थी, अब वहाँ भारतीय कपड़ा पहुँचने लगा।

(३) यूरोप तथा अमरीका में हमारे देश की चाय की भी काफी खपत हुई, १६४४-४५ में इसका निर्यात ३८ करोड़ रुपए तक पहुँच गया।

(४) युद्ध के पूर्व के वर्षों में भारत यू० के० तथा फ्रान्स को मूंगफली भेजने वाला मुख्य देश था, उस समय इसका औसत निर्यात नौ लाख टन से भी अधिक होता था। युद्ध के समय में भारत ने स्वयं अपने बनस्पति घी के उद्योग का विकास किया और इस प्रकार इसके लिये उसकी विदेशों पर की निर्भरता समाप्त हो गई। इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने एक निश्चित नीति अपनाई और मूंगफली के तेल के व्यापार की सुन्दर व्यवस्था की।

(५) १६४३-४४ तथा १६४४-४५ में भारत का कुल निर्यात क्रमशः २१० करोड़ तथा २२७ करोड़ रुपयों का हुआ। इनमें से तैयार माल का निर्यात क्रमशः १०६ करोड़ तथा ११६ करोड़ रुपयों से कम का नहीं था।

नीचे दी हुई तालिका से भारत के तैयार माल, कच्चे माल तथा खाद्यान्न के निर्यात व आयात के अनुपात का स्पष्ट परिचय मिल जायगा। इस तालिका से युद्ध के समय में होने वाले भारतीय व्यापार की परिवर्तित रूप रेखा का भी आभास मिल जायगा :—

निर्यात (करोड़ रुपयों में)

वस्तुएँ	१६४०-४१	१६४१-४२	१६४२-४३	१६४३-४४	१६४४-४५
(१) कच्चा माल	६८	७३	४५	५४	५८
(२) तैयार माल	८६	११५	६८	१०६	११६
(३) खाद्यान्न (इसमें चाय भी शामिल है)	४२	६०	४६	४८	५०
(४) अन्य पदाथ	२	४	३	२	३
योग	१६८	२५२	१६५	२१०	२२७

आयात (करोड़ रुपयों में)

वस्तुएँ	१६४०-४१	१६४१-४२	१६४२-४३	१६४३-४४	१६४४-४५
(१) कच्चा माल	४२	५०	५२	६४	११९
(२) तैयार माल	७०	६४	४६	४५	६५
(३) खाद्यान्न	२४	२८	८	७	१६
(४) अन्य पदार्थ	२	२	१	२	२
योग	१३८	१७४	११०	११८	२०३

व्यापार की गतिविधि—जब हम इन वर्षों में होने वाले विदेशी व्यापार की गतिविधि पर प्रकाश डालते हैं तो हमें पता चलता है कि भारत ने इन वर्षों में मुख्य रूप से ब्रिटिश साम्राज्य

के देशों से अपना व्यापारिक सम्बन्ध खूब बढ़ाया। उसने आस्ट्रेलिया, कैनाडा, मिश्र, ईराक तथा मध्य पूर्व के अन्य देशों के साथ अच्छा व्यापार किया। संयुक्त राज्य अमरीका के साथ भी उसका अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध रहा। ईरान तथा बहारीन को छोड़कर जिनसे भारत को काफी पेट्रोलियम मिलता था, शेष अन्य देशों के साथ भारत का व्यापारिक सन्तुलन भी अच्छा रहा।

ईरान तथा बहारीन (Bahreins) ने १९४३-४४ तथा १९४४-४५ में क्रमशः ३१ करोड़ तथा ५३ करोड़ रुपये का खानों का तेल भारत को भेजा। इसके बदले भारत से होने वाले निर्यात की रकम उनके आयात से कम रही।

इस सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात जिस ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है वह यह कि इन वर्षों में भारत का संयुक्त राज्य अमरीका के साथ बड़ा अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध रहा। १९४५-४६ में संयुक्त राज्य अमरीका में ९५ करोड़ रुपये का माल भेजा गया जब कि उसी वर्ष यू० के० को कुल १०२ करोड़ रुपये का निर्यात हुआ।

व्यापार का सन्तुलन—१९४३-४४ तक भारत का आयात अन्य वर्षों की अपेक्षा कम ही रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि युद्ध के कारण अन्य देश भारत में खपने वाले माल का निर्माण न कर सके। उधर जहाजों की कमी होने के बावजूद भी भारत का निर्यात आयात से अधिक रहा। इस प्रकार व्यापार का सन्तुलन मुख्य रूप से भारत के ही पक्ष में रहा। इसका परिचय नीचे दी हुई तालिका से और लग जायगा :—

व्यापार का सन्तुलन (करोड़ रुपयों में)

वर्ष	सन्तुलन
१९३८-३९	+१७.५
१९३९-४०	+४८
१९४०-४१	+४२
१९४१-४२	+८०
१९४२-४३	+८४
१९४३-४४	+९२
१९४४-४५	+४२

युद्ध के बाद के वर्षों में—युद्ध के समाप्त हो जाने पर देश के व्यापार की गतिविधि में कई महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। कितने ही देश जिसमें भारत भी शामिल था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रति जो नीति अभी तक रखे हुए थे, उसकी आवश्यकता नहीं रही। अब व्यापार की एक निश्चित योजना अपनाने का समय आ गया है।

युद्ध के समय में देश के कारखानों व मिलों आदि पर काफी काम पड़ा, इसके कारण इनकी मशीनें तथा प्लान्ट इत्यादि काफी क्षीण हो गए, इसलिए आज उसे विदेशों से इन वस्तुओं के आयात के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता है जिससे वह अपने उद्योग-धन्धों का अच्छा विकास कर सके। इसके साथ ही उसके लिए एक उचित व्यापारिक संतुलन की भी जरूरत है जिससे वह विदेशों से आने वाली इन वस्तुओं के आयात की कीमत को अदा कर सके।

जब हम भारत के युद्ध के बाद के वर्षों की व्यापारिक स्थिति को देखते हैं तो हमें उसकी कई विशेषताओं का पता चलता है। इनमें मुख्य विशेषताएँ ये हैं :—

(१) भारतवर्ष के विभाजित हो जाने पर उसके व्यापार के परिणाम पर कोई बुरा असर नहीं पड़ा है। इसके विपरीत उसके आयात और निर्यात से होने वाली रकमों में कुछ वृद्धि हो गई

है। ऐसा होने का मुख्य कारण यह है कि युद्ध के बाद व्यापार पर कुछ नियंत्रण ढीला हुआ, संसार की व्यापारिक स्थिति में कुछ परिवर्तन हो जाने से भी व्यापार में वृद्धि हुई। युद्ध के बाद जहाजों की भी स्थिति में सुधार हुआ और विदेशी व्यापार के लिए जहाजों का मिलना आसान हो गया। इसके अतिरिक्त इस समय देश के स्वतन्त्र हो जाने पर देश में कृषि की उन्नति के लिए, जल विद्युत के विकास के लिए कई योजनाएँ कार्यान्वित की जाने लगीं। इन सबके लिए विदेशों से मशीनें आदि मंगाने की जरूरत हुई, इसके अलावा देश में खाद्यान्न आदि के अभाव के कारण भी विदेशों से अन्न इत्यादि आया। इन सब कारणों से हमारे देश का कुल व्यापार १६४८ तथा १६४६ में क्रमशः ६०१ तथा १०६० करोड़ रुपये का हुआ।

(२) जहाँ तक व्यापार के सन्तुलन का सम्बन्ध है अब उसकी स्थिति ठीक नहीं रही है, व्यापार का सन्तुलन अब भारत के पक्ष में न होकर विपक्ष में चला गया है। उसका यह सन्तुलन धात्विक मुद्रा तथा डालर वाले देशों के साथ और भी खराब हो गया है। इसका परिचय नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

व्यापार का सन्तुलन (करोड़ रुपयों में)

	कुल		स्टर्लिंग वाले देशों के साथ		गैर स्टर्लिंग वाले देशों के साथ	
	१६४८	१६४६	१६४८	१६४६	१६४८	१६४६
आयात	४७०	६२२	२३०	२८६	२४०	३३२.५
निर्यात	४२८	४२५	२२२	२३८	२०६	१८७
सन्तुलन	−४२	−१६७	−८	−५१	−३४	−१४५.५

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के निर्यात व्यापार की मुख्य समस्या धात्विक मुद्रा वाले देशों के साथ होने वाले निर्यात में वृद्धि करना है। १६४८ में संयुक्त राज्य अमरीका के साथ होने वाला भारत का निर्यात ७८ करोड़ रुपये का था तथा आयात १०८ करोड़ का हुआ। इस प्रकार हमें करीब ३० करोड़ का घाटा उठाना पड़ा। १६४६ में यह कमी ३३ करोड़ की हुई क्योंकि उस वर्ष संयुक्त राज्य अमरीका के साथ होने वाले व्यापार में १०० करोड़ रुपये का आयात हुआ तथा ६७ करोड़ का निर्यात हुआ। इसके परिणामस्वरूप, इस कमी को दूर करने के लिए सरकार ने विभिन्न देशों के साथ होने वाले व्यापार के कोटे निश्चित कर दिए और डालर क्षेत्र वाले देशों के साथ होने वाले व्यापार को काफी प्रोत्साहित किया। निर्यात सलाहकार परिषद (Export Advisory Council) जिसके कि अध्यक्ष श्री श्रीराम महोदय थे, ने यह सुझाव रखा कि हमें डालर प्रदेश वाले यात्रियों को भारत के प्रसिद्ध स्थानों में यात्रा करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, ऐसे यात्रियों को यात्रा आदि की काफी सुविधाएँ प्रदान कर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए और इस प्रकार हमें डालर पैदा करना चाहिए। परिषद ने यह भी सुझाव रखा कि धात्विक मुद्रा वाले प्रदेश तेल की अपेक्षा तिलहन या बीज अधिक चाहते हैं इसलिए हमें बीजों के निर्यात करने की अनुमति दे देनी चाहिए। परिषद ने चाय के अमेरिका में प्रचारित तथा विज्ञापित करने का भी सुझाव रखा जिससे उस देश में चाय का खूब निर्यात हो सके। परिषद ने अमरीका को भेजने वाले पीतल आदि के बर्तन के निर्यात के लिए साधारण लाइसेन्सों के देने का भी सुझाव रखा। इसके अतिरिक्त परिषद ने भारत के कुटीर उद्योगों के विकास के लिए एक निश्चित कार्यक्रम बनाने का विचार रखा तथा उसने कहा कि हमसे होने वाले उत्पादन की बिक्री को अमरीका तथा कैनाडा में बिक्री की जाय। इस समय हमारे व्यापार का संतुलन ठीक नहीं हो रहा था, स्टर्लिंग का मूल्य पुनः निर्धारित कर दिया गया था, भारतीय मुद्रा पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। व्यापार के सन्तुलन को

ठीक रखने के लिए डालर देशों वाले आयात पर नियंत्रण काफी कड़ा किया गया। इसके परिणाम-स्वरूप नवम्बर १९४९ से भारतीय व्यापार का सन्तुलन धीरे-धीरे सुधरने लगा। इस दिशा में अब भी विकास हो रहा है और ऐसी आशा है दिनोंदिन यह स्थिति सुधरती जायगी।

(३) जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि युद्ध के वर्षों में तैयार माल का निर्यात बड़े पैमाने में होता था, अब यह निर्यात कम हो रहा है। इसके साथ ही उद्योग-धन्धों में लगने वाला कच्चा माल, इसमें विशेषकर पूर्वीय अफ्रीका तथा मिश्र से आने वाली कच्ची कपास सम्मिलित है, इसका आयात धीरे-धीरे काफी बढ़ रहा है। भारत में बड़े रेशे की अच्छी कपास नहीं होती इसलिए विदेशों से इसे मंगाया जा रहा है। पाकिस्तान के अधिकार में कपास के क्षेत्र के चले जाने के कारण विदेशों से कच्ची कपास मंगाने की आवश्यकता में और वृद्धि हो गई है। भारत में अच्छी कपास का क्षेत्र बहुत कम रह गया है, इसलिए हमें मिश्र, सूडान, पाकिस्तान से काफी कपास का आयात करना होता है। नीचे दी हुई तालिका से भारत की आयात सम्बन्धी स्थिति का कुछ और पता चल जायगा :—

भारत में आयात (करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कच्चा माल	तैयार माल	खाद्यान्न	अन्य माल
१९४५	१२८	८८	२२	३
१९४६	७७	१४९	३३	७
१९४८	११०	२७०	८३	५
१९४९	१५९	३३४	१२४	५

(४) विभाजन के परिणामस्वरूप जूट वाले कुछ क्षेत्र का ७३ प्रतिशत भाग पाकिस्तान के अधिकार में चला गया। इसके कारण हमें पाकिस्तान से जूट का काफी आयात करना पड़ा। जूट की अधिकांश मिलें भारत में हैं, उनके लिए कच्चे जूट की लगभग ५० लाख गांठें पाकिस्तान से मंगानी पड़ती हैं। भारत की मिलों में उत्पन्न किया जाने वाला जूट का माल डालर वाले देशों को भेजा जाता है, उससे एक अच्छी आय होती है। भारत सरकार पाकिस्तान से कपास व जूट के आयात की कठिनाई के कारण कपास व जूट की अधिक उपज करने का प्रयत्न कर रही है। १९४९–५० में कपास की २८ लाख गांठें तथा जूट की ३० लाख गांठें उत्पन्न हुई थीं, १९५१ में इससे अधिक उत्पादन की आशा है।

(५) इधर देश में खाद्यान्न की कमी के कारण विदेशों से काफी खाद्यान्न मंगाना पड़ता है। १९४८ में विदेशों से मुख्यकर अर्जेन्टाइना, संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, इटली, टर्की, रूस, आस्ट्रेलिया, श्याम, बर्मा से ३० लाख टन खाद्यान्न मंगाया गया। इसकी कुल कीमत ११० करोड़ रुपया हुई। १९४९ में लगभग ४० लाख टन खाद्यान्न जो कि लगभग १५० करोड़ का होता है, विदेशों से आयात किया गया। १९५० में इससे भी अधिक खाद्यान्न मंगाया गया। अब भारत सरकार देश में खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि करने का काफी प्रयत्न कर रही है, वह इस दिशा में आत्म-निर्भर होने का विचार कर रही है।

(६) इधर धीरे-धीरे देश में औद्योगीकरण बढ़ता जा रहा है, और अब पहले से अधिक मात्रा तथा प्रकार में तैयार माल का निर्यात किया जा रहा है। रुपए के अवमूल्यन से तथा सरकार के प्रयत्नों से भारत से तैयार माल का और अधिक निर्यात हो रहा है। नीचे दी हुई तालिका से इस बात का और पता चल जाता है :—

निर्यात (प्रतिशत)

	१६०६-१४ (औसत)	१६३८-३६	१६४३-४४	१६४५	१६४६	१६४८	१६४६
ब्रि. साम्राज्य के देशों से	४१	५४	६५	६०	४८	५०	५४
अन्य देशों से	५६	४६	३५	४०	५२	५०	४६
आयात (प्रतिशत)							
ब्रि. साम्राज्य के देशों से	७०	५८	४८	३७	५६	४६	४६
अन्य देशों से	३०	४२	५२	६३	३४	५४	५४

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से होने वाला आयात व्यापार १६०६–१४ में ७० प्रतिशत था। तब से इसमें बराबर ह्रास हो रहा है, यहाँ तक कि **१६४६** में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों के साथ हमारा आयात केवल ४६ प्रतिशत ही रह गया, जब कि अन्य देशों के साथ होने वाला आयात ५४ प्रतिशत था। इस प्रकार हम देखते हैं इस दिशा में इन थोड़े से वर्षों में कितना परिवर्तन हुआ है। इस समय भारत मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमरीका, चेकोस्लोवाकिया, बेलजियम, जापान से जितनी मशीनें आदि मंगाता है, उतना यू० के० से नहीं। वह बर्मा, अर्जेन्टाइना, रूस, कनाडा, आस्ट्रेलिया व पाकिस्तान से खाद्यान्न मंगाता है। अभी तक हमने भारत के अन्य देशों के साथ के व्यापारिक सम्बन्ध पर सम्मिलित रूप से विचार किया। आगे हम भारत के कुछ अन्य प्रमुख देशों के व्यापारिक सम्बन्ध पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे।

भारत तथा ग्रेट ब्रिटेन—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत तथा यू० के० का काफी समय से व्यापारिक सम्बन्ध चला आ रहा है, और पहले अन्य देशों की अपेक्षा इसी देश से अधिक व्यापारिक सम्बन्ध रहता था। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व, दोनों विश्वयुद्धों के मध्य के समय में तथा द्वितीय विश्व युद्ध के वर्षों में भारत के निर्यात की सूची में सबसे प्रधान स्थान ग्रेट ब्रिटेन या यू० के० का ही रहता था।

जहाँ तक आयात का सम्बन्ध है, इस क्षेत्र में यू० के० की स्थिति दिनोंदिन घटती जा रही है। १६१४ के पहले यू० के० का आयात ६३ प्रतिशत था, इसके बाद द्वितीय महायुद्ध के वर्षों में यह केवल २५ प्रतिशत रह गया, युद्ध के बाद के वर्षों में यू० के० ने अपनी स्थिति में कुछ सुधार किया और भारत के आयात में उसका भाग ३० प्रतिशत हो गया। इसका मुख्य कारण भारत की इंगलैण्ड में पड़ी हुई स्टार्लिंग पूँजी थी। नीचे दी हुई तालिका से भारत तथा यू० के० व्यापारिक सम्बन्ध का और स्पष्टीकरण हो जायगा :—

भारत के व्यापार में यू० के० का भाग

समय	आयात	निर्यात
१६०६-१० से १६१३-१४ (औसत)	६२.८ प्रतिशत	२५.१ प्रतिशत
१६३८-३६ ...	३०.५ प्रतिशत	३४.३ प्रतिशत
१६४५-४६ ..	२५.३ प्रतिशत	२८.२ प्रतिशत
१६४६-४७ ...	३०.१ प्रतिशत	२०.० प्रतिशत
१६४८ ...	३१.७ प्रतिशत	२४.५ प्रतिशत
१६४६ ...	२७.८ प्रतिशत	२६.४ प्रतिशत

ऊपर के आँकड़ों को देखने से हमें यह पता चलता है कि भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन के हिस्से में कुछ कमी हुई है किन्तु कुल मिलाकर यह कमी बहुत नहीं है। सन् १६४७,

१६४८, व १६४६ के इन तीन वर्षों में युद्ध के समय में जितना ग्रेट ब्रिटेन भारत का माल आयात करता था उसकी अपेक्षा इन वर्षों में कुछ वृद्धि हुई है। इस समय यू० के० जिन वस्तुओं का भारत को निर्यात करता है, उनमें मशीनें तथा मशीनरी औजार मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन मोटर गाड़ियाँ, रासायनिक पदार्थ, औषधियाँ, रंग आदि भी काफी मात्रा में भेजता है। इसके बदले में भारत उसको चाय, जूट का सामान, चमड़ा व खाल तथा तिलहन अच्छी मात्रा में भेज रहा है।

भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका—गत द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका का भारत के साथ होने वाला व्यापार कोई विशेष महत्वपूर्ण नहीं था। १६३८-३६ में भारत की अवश्यकताओं का केवल ६ प्रतिशत से कुछ अधिक ही, संयुक्त राज्य अमरीका निर्यात करता था, और भारत के निर्यात-व्यापार का केवल १० प्रतिशत भाग ही वह लेता था। परन्तु जापान तथा कुछ अन्य देशों के साथ युद्ध छिड़ गया तो अमरीका भारत के व्यापार में दिनोंदिन हाथ बढ़ाने लगा। १६४४-४५ में भारत की आवश्यकता का २५ प्रतिशत से कुछ अधिक ही उसने निर्यात किया। १६४८ में कुल ४३६ करोड़ में से १०८ करोड़ की कीमत का माल अमरीका से भारत में आया। और इसके बदले में अमरीका ने लगभग ७८ करोड़ की कीमत का सामान भारत से खरीदा। १६४६ में अमरीका ने १०० करोड़ की कीमत का माल भारत को भेजा तथा ६६ करोड़ का माल भारत से मंगाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे आयात-निर्यात का १६ प्रतिशत भाग अमरीका के हिस्से में रहा जब कि इंगलैण्ड का भारत के साथ का आयात २८ प्रतिशत तथा निर्यात २६ प्रतिशत था।

वैसे तो अब भी भारत व्यवसायिक दृष्टि से यू० के० से सम्बद्ध है किन्तु भारत के साथ होने वाले व्यापार की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यू० के० के बाद उसका ही नम्बर आता है। संयुक्त राज्य अमरीका भारत से काफी मात्रा में कच्चा तथा तैयार जूट का माल, बकरी तथा भेंड़ की खाल, लाख, चन्दन की लकड़ी आदि मंगाता है। इसके अतिरिक्त भारतीय चाय, अंडी के बीज, गरम मसाले आदि की भी अमेरिका में काफी खपत होती है। अमरीका को भेजी जाने वाली वस्तुओं में जूट तथा जूट से बने हुए माल की आयात सबसे अधिक होती है, भारत का अमेरिका को होने वाले निर्यात व्यापार में इन वस्तुओं का भाग लगभग ५० प्रतिशत रहता है। अमरीका भारत की बकरी की खाल का भी अच्छा खरीददार है, युद्ध के पूर्व लगभग ३५ से लेकर ४० प्रतिशत तक निर्यात में इसका भाग रहता था। १६४५ में अमरीका ने १६० लाख डालर की चाय भारत से खरीदी थी।

जहाँ तक आयात का सम्बन्ध है भारत अमरीका से मशीनों के औजार, खानों में लगने वाली मशीनें, टाइप राइटर, मुख्य रूप से मंगाता है। गैस-इंजन, तेल निकालने की मशीनें आदि भी वह काफी मात्रा में मंगाता है। इसके अतिरिक्त मोटर गाड़ियाँ, ट्रकें, बसें आदि भी अमरीका से अच्छी मात्रा में मंगाई जाती हैं। पहले अमरीका लम्बे रेशे वाली कच्ची कपास भारत को खूब भेजता था, किन्तु अब भारत इसे मिश्र, सूडान तथा कैनाडा आदि से मंगाता था। अमरीका से औषधियाँ आदि भी अच्छी मात्रा में आती हैं, इनके आयात में दिनोंदिन वृद्धि भी होती जा रही है। १६३८ में ये वस्तुएँ १५ लाख डालर की आई थीं जब कि १६४५ में ५५ लाख डालर की आईं। सिगरेट के लिये वर्जीनिया तम्बाकू का ६० प्रतिशत भाग अमरीका से ही आता है। १६३८ में यह तम्बाकू लगभग २० लाख डालर की कीमत की अमरीका से आई थी, १६४५ में इसकी संख्या में भी वृद्धि हो गई, और यह इस वर्ष ६६ लाख डालर की आई। युद्ध के बाद के वर्षों में देश में खाद्यान की कमी हो जाने के कारण अमरीका से काफी मात्रा में खाद्यान भी मंगाया गया, इसके

अतिरिक्त अन्य खाने की वस्तुएँ जिसमें अंगूरी शराब, तथा सुखाया हुआ दूध मुख्य है काफी मात्रा में भारत में आया। अमरीका से अन्य शौक की वस्तुएँ भी अच्छी मात्रा में आती हैं। १६३८ से लेकर १६४५ तक लेन्ड-लीज-ट्रेड विशाल पैमाने पर हुई, इसकी कुल रकम २४ लाख डालर थी। यह रकम १६०० से १६३८ तक के अमरीका से आने वाले आयात की दुगना थी।

जहाँ तक व्यापार के सन्तुलन का प्रश्न है भारत को अमरीका के साथ व्यापार में कोई विशेष हाँनि नहीं उठानी पड़ी। सन् १६४२ से लेकर १६४५ ई० तक के व्यापार में सन्तुलन के आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि इस समय में भारत का अमरीका के साथ होने वाला कुल निर्यात आयात से अधिक, ४२१० लाख डालर हुआ। परन्तु जब युद्ध समाप्त हो गया तो हमारा यह व्यापारिक सन्तुलन हमारे विपक्ष में हो गया, १६४८ में यह सन्तुलन ३० करोड़ तथा १६४६ में ३१ करोड़ का हुआ। संयुक्त राज्य अमरीका के साथ होने वाले व्यापार के सम्बन्ध में सबसे प्रधान कठिनाई जिसका कि भारत को सामना करना पड़ता है, वह है अपने घाटे की डालर की कठिनाई। १६४८ में इस घाटे की पूर्ति के लिये भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय 'मानीटरी फन्ड' से ६२० लाख डालर लिये थे। अब भारत धात्विक मुद्रा वाले क्षेत्रों के साथ होने वाले व्यापार में भी वृद्धि व विस्तार करने का प्रयत्न कर रहा है। इन देशों से भारत को मशीनें, मशीनरी औजार आदि आसानी से मिल सकते हैं।

अभी भारत के औद्योगीकरण के लिए, उसके औद्योगिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसका संयुक्त राज्य अमरीका के साथ अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध बना रहे। देश के औद्योगिक-विकास के लिए अमरीका से अच्छी किस्म की मशीनें मिल सकती हैं, अमरीका भारत को कृषि तथा अन्य उद्योगों के लिए अच्छी मशीनें तथा कुशल कारीगर दे सकता है। इस प्रकार उससे हमें काफी अच्छी सहायता मिल सकती है। यदि एक बार भारत अपना अच्छा औद्योगिक विकास कर लेगा, और अपनी आवश्यकता भर के लिए खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुएँ निर्मित कर सकेगा तो संयुक्त राज्य अमरीका के साथ होने वाला उसका व्यापार सन्तुलित हो जायगा। इसके अतिरिक्त भारत अभी अमरीका की पूँजी के लिए भी काफी उत्सुक है जिससे वह अपना अच्छा औद्योगिक विकास कर ले, किन्तु अभी तक इस दिशा में अमरीकनों ने विशेष साहसपूर्वक कदम नहीं उठाया है। इस प्रकार इन सब कारणों को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत तथा अमरीका का व्यापारिक सम्बन्ध देश के लिए काफी हितकर है।

भारत तथा आस्ट्रेलिया—सन् १६३६ के पूर्व आस्ट्रेलिया कृषकों तथा सोना निकालने वालों का देश गिना जाता था। उसके निर्यात-व्यापार की मुख्य वस्तुएँ गेहूँ, गोश्त, फल, दूध की वस्तुएँ तथा ऊन थीं। बने हुए या तैयार माल के लिए वह मुख्य रूप से यू० के० पर निर्भर रहता था। जब युद्ध प्रारम्भ हो गया तो देश में औद्योगिक सामान का निर्माण करना अनिवार्य हो गया। इस समय आस्ट्रेलिया ने जिस गति से औद्योगिक विकास किया कि पहले की भारी कमियाँ दूर हो गईं। आस्ट्रेलिया की इतनी तीव्रगामी औद्योगिक उन्नति केवल इसी कारण से हो सकी कि वहाँ पर कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। इस प्रकार अपने कच्चे माल की सुविधा, शक्ति के सस्ते साधनों तथा कुशल श्रमिकों की सहायता से आस्ट्रेलिया ने बड़ी जल्दी औद्योगिक उन्नति कर ली।

अपने इन प्रयत्नों के फलस्वरूप आज आस्ट्रेलिया ने औद्योगिक क्षेत्र में अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया है, इधर भारत भी अपना औद्योगीकरण करना चाहता है। आस्ट्रेलिया से उसे इस दिशा में अच्छी सहायता मिल सकती है, वह ऊन, कागज, प्लास्टिक, प्लाईउड तथा चमड़े की वस्तुएँ बनाने के लिए भारत को मशीनें दे सकता है। आस्ट्रेलिया भारत को सड़क तथा कृषि के विकास के लिए

भी अच्छी मशीनें दे सकता है, पेन्ट आदि तैयार करने वाली मशीनें भी आस्ट्रेलिया से हमें आसानी से मिल सकती हैं।

इसके बदले में भारत आस्ट्रेलिया को तिलहन, चपड़ा, आँवला-हर्रा, बकरी की खाल, अभ्रक, गरम मसाला तथा जूट का बना सामान आदि भेज सकता है। आस्ट्रेलिया में भारत के ट्रेड कमिश्नर का ऐसा विचार है कि आस्ट्रेलिया में भारत अपने सूती कपड़े के व्यापार के लिए अच्छी सफलता नहीं प्राप्त कर सकेगा उसका मुख्य कारण यह है कि यू० के० तथा अमरीका इस दिशा में भारत से कहीं आगे बढ़े हुए हैं और निकट भविष्य में आस्ट्रेलिया में भारत वहाँ पर इनका मुकाबला नहीं कर सकेगा। ये देश केवल कपड़ा ही नहीं तैयार करते वरन् उसको तैयार करने के लिए मशीनें भी तैयार करते हैं। उधर आस्ट्रेलिया भी अपनी मांग की कुछ पूर्ति करने के लिए सूती कपड़ा तैयार कर रहा है।

नीचे दी हुई तालिका से भारत तथा आस्ट्रेलिया के व्यापारिक सम्बन्ध का कुछ परिचय मिल जायगा :—

भारत तथा आस्ट्रेलिया का व्यापार (लाख रुपयों में)

	१६०६-१४ औसत	१६३८-३६	१६४६-४७	१६४८	१६४६
आयात	१०१	२४१	१,०४०,	१६५१,	२,२२०
निर्यात	३१४	२६८	१३७५	२,३१८	२४,४८

यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि न्यूजीलैण्ड भी भारत को दूध से तैयार माल को भेज सकता है, वह भारत को जमाया हुआ गोश्त भेजकर भी अच्छी सहायता प्रदान कर सकता है। भारत में इन वस्तुओं की बड़ी आवश्यकता है, देश में जितनी आवश्यकता है उतना दूध भी नहीं उत्पन्न हो पाता, इस प्रकार न्यूजीलैण्ड से इन वस्तुओं का आयात कर हम अच्छी मदद प्राप्त कर सकते हैं। इसके बदले में हम उसको जूट का सामान, बकरी तथा भेड़ों की खालें, गलीचे तथा कुछ औद्योगिक वस्तुएँ भेज सकते हैं।

भारत तथा कनाडा—ये दोनों देश कृषि प्रधान देश हैं, इस समय ये दोनों अपना-अपना औद्योगिक विकास तेजी से कर रहे हैं। इन दोनों देशों में आपस में अच्छा सम्बन्ध है, ये एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करते रहते हैं। भविष्य में भारत तथा कनाडा के व्यापार के विकास के लिए काफी क्षेत्र हैं। भारत से कनाडा जाने वाली वस्तुओं में चाय, जूट का बना हुआ माल, बकरी तथा भेड़ की खाल, बनस्पति तेल, दाल, गरम मसाला, पीतल के बर्तन, नमदा, गलीचे इत्यादि मुख्य हैं।

इसके बदले में कनाडा गेहूँ तथा मशीनें, कृषि के औजार आदि भेजता है। जब से जापान अलग हुआ तब से भारत कनाडा को सूती कपड़े भी भेज रहा है। कनाडा में स्थित भारत के ट्रेड कमिश्नर ने यह कहा था कि भारत के इस व्यापार के बढ़ने की काफी आशा है। सन् १६४४ में भारत को कनाडा के साथ होने वाला व्यापार कुल २०२० डालर था, यह रकम १६३८ में होने वाली व्यापारिक रकम से १६ गुनी थी। व्यापार में इस वृद्धि के कारण कनाडा के आयात तथा निर्यात में भारत का तीसरा महत्वपूर्ण स्थान है।

जहाँ तक व्यापार के सन्तुलन का प्रश्न है, वह भी युद्ध के पूर्व के वर्षों में काफी अच्छा रहता था। सन् १६३८ में इस व्यापार में ४:१ का अनुपात था। युद्ध के समय में बहुत सी सैनिक सामग्री का निर्यात होता था। युद्ध के समाप्त हो जाने पर इन चीजों का निर्यात बन्द हो गया। युद्ध के पश्चात् कनाडा के साथ होने वाले व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में नहीं रहा। कनाडा ही नहीं

डालर वाले अन्य देशों के साथ भी हमारा व्यापार अच्छा नहीं रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि युद्ध के बाद देश के स्वतंत्र हो जाने पर उसके औद्योगिक विकास के लिये विदेशों से यंत्र आदि मंगाने पड़े, देश में खाद्य संकट उपस्थित हो जाने के कारण विदेशों से काफी मात्रा में खाद्यान भी मंगाया गया।

भारत तथा कनाडा का व्यापार (लाख रुपयों में)

	१६३८-३६	१९४२-४३	१९४८	१६४६
आयात	६२	५५३	७३८	१,२६६
निर्यात	२१४	३६१	६००	६१२

भारत तथा मध्यपूर्व—भारतवर्ष तथा मध्यपूर्व के देशों से शताब्दियों से व्यापार चलता चला आ रहा है परन्तु गत विश्वयुद्ध के समय इन देशों के साथ होने वाले व्यापार में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। इसका कारण यह था कि युद्ध की वजह से इन देशों को जापान तथा यूरोप से अपनी आवश्यकता का सामान नहीं मिल सका, इसलिए अब भारत हो ऐसा देश रह गया जिससे कि उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती थी। यदि इस समय भारत को यातायात सम्बन्धी कठिनाई न होती तो भारत इन देशों के साथ होने वाले व्यापार में और वृद्धि करता। मध्यपूर्व के ये देश मुख्य रूप से कृषि-प्रधान देश हैं। खेती करना, भेड़ें व घोड़ों आदि का पालना इनका मुख्य पेशा है। इन देशों में तेल आदि के कूपों के खोज निकालने के कारण इन देशों का संसार के व्यापारिक चेत्र में अच्छा स्थान प्राप्त हो गया है। इन प्रदेशों से भारत खानों के तेल तथा कपास आदि का काफी आयात कर रहा है। इसके बदले में भारत सूती कपड़ा, जूट का बना माल, फौलाद, चाय, मसाला आदि भेजता है परन्तु देश में कुछ वस्तुओं की कमी आदि के कारण, भारत इन देशों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता।

सूडान, टर्की, मिश्र हमारे जूट के बने माल को काफी खरीदते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तथा उसके बाद के समय में सूती कपड़े का भारत ने इन देशों को खूब निर्यात किया। सन् १६३८-३६ में निर्यात का कुल मूल्य ३१ लाख रुपया था। सन् १६४२-४३ में यह रकम बढ़कर १० करोड़ रुपये हो गई। अब भी सूती कपड़े व सूत आदि का निर्यात अच्छा हो रहा है।

मध्यपूर्व के इन देशों में हमारे चाय की खपत भी अच्छी होती है, वैसे तो जितनी यू० के०, कैनाडा आदि में चाय की खपत होती है, उतनी इन देशों में नहीं, इन देशों में ३ करोड़ रुपये की चाय की खपत होती है। परन्तु यदि इस दिशा में अच्छा ध्यान दिया गया तो कुछ और वृद्धि हो सकती है। यही बात तम्बाकू के विषय में भी कही जा सकती है। यदि भारतीय तम्बाकू की पैकिंग आदि की ओर अच्छा ध्यान दिया जाय तो इन देशों के तम्बाकू के निर्यात में भी काफी वृद्धि की जा सकती है। सूडान, मिश्र, केनया से जितना आयात होता है, उसका मूल्य हमारे निर्यात से अधिक रहता है। उदाहरण के लिए १६४६ में ७१ करोड़ रुपये की कीमत की वस्तुओं का कुल आयात किया, जो कि इसी समय इन अफ्रीकी देशों के साथ हमारा निर्यात केवल ३२ करोड़ रुपये का हुआ।

युद्ध के पूर्व भारत ने अपनी आवश्यकता का ४८ प्रतिशत तेल बर्मा से खरीदा, ११ प्रतिशत बाहरीन से, १३ प्रतिशत जावा से तथा २ प्रतिशत संयुक्त राज्य अमरीका से खरीदा। इसके बाद जब बर्मा व कुछ अन्य द्वीप जापान के हाथ में चले गये तो भारत को तेल के लिये बाहरीन तथा ईरान पर निर्भर रहना पड़ा। १६४२-४३ में भारत ने इन दो देशों से २८ करोड़ रुपये का तेल खरीदा। १६४४-४५ में यह रकम और बढ़ गई, इस वर्ष ईरान से भारत ने ४६ करोड़ रुपए का

तेल खरीदा और इसके बदले में भारत ने केवल ३ करोड़ रुपए का माल भेजा। १९४८ में ईरान का भारत में १९ करोड़ तथा १९४९ में ३१ करोड़ रुपए का निर्यात हुआ जब कि इसके बदले में भारत ने १९४८ में २'४ करोड़ तथा १९४९ में ५ करोड़ का निर्यात किया। इस प्रकार इन सब देशों से और मुख्यकर मिश्र के साथ होने वाले व्यापार का सन्तुलन भारत के पक्ष में नहीं रहा। इस विषय में नीचे दी हुई तालिका से और प्रकाश पड़ जायगा।

मध्यपूर्व तथा भारत का व्यापार (लाख रुपयों में)

देशों का नाम	१९३९-४०			१९४८			१९४९ (जनवरी से जून तक)		
	आयात	निर्यात	सन्तुलन	आयात	निर्यात	सन्तुलन	आयात	निर्यात	सन्तुलन
ईराक	६८	६०	−८	१४१	१५२	+११	९३	८६	−७
ईरान	३१२	८०	−२३२	१९०७	२३८	−१६६९	११९९	२१८	−९,८१
मिश्र	२८४	१५७	−१२७	२५९७	६५८	−१८३९	२३९७	२१८	−२२,७९
सादीअरबिया	४	७८	+७४	७२	८७	+१५	१९६	४७	−१४९
सीरिया	...	१९	+१९	...	३३	+३३	...	६३	+६३
पैलेस्टाइन	२	२९	+२७	५	५५	+५०	...	१	+१
	६७०	४२३	−२४७	४७२२	१२२३	−३३९९	३८८५	५३३	−३३५२

भारत तथा पाकिस्तान—देश के विभाजित हो जाने के कारण अब देश के वे कुछ भाग जो कि पाकिस्तान के अन्तर्गत हैं उनके साथ होने वाला व्यापार भी विदेशी व्यापार के अन्तर्गत आता है।

अतएव हम यहाँ पर भारत तथा पाकिस्तान के व्यापार पर विचार करेंगे। सुविधा की दृष्टि से भारत तथा पाकिस्तान के व्यापार को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

(१) १५ अगस्त १९४७ से लेकर ३० जून १९४८ तक।
(२) १ जौलाई १९४८ से लेकर ३० जून १९४९ तक।
(३) जौलाई १९४९ से लेकर दिसम्बर १९४९ तक।
(४) जनवरी १९५० से जौलाई १९५० तक।

(१) १५ अगस्त १९४७ से लेकर ३० जून १९४८ तक—यह समय बड़ी राजनैतिक अशान्ति का था। देश में चारों ओर साम्प्रदायिक उपद्रव फैल रहे थे, पाकिस्तान से बड़ी संख्या में शरणार्थी लोग भारत को आ रहे थे। इसके परिणाम स्वरूप इस काल के न तो आयात व निर्यात के आंकड़ों का ही पता चलता है और न व्यापार के सन्तुलन का ही कोई ठीक अनुमान लगाया जा सकता है।

(२) इसके बाद आने वाले समय में १ जौलाई १९४८ से ३० जून १९४९ तक के समय के विषय में हमें कुछ जानकारी प्राप्त है। इस समय के शुरू होने के पहले १९४८ के मई के महीने में भारत तथा पाकिस्तान में व्यापारिक समझौता हुआ। इस व्यापारिक समझौते में दोनों देशों में होने वाले व्यापार की मुख्य-मुख्य वस्तुओं का विवरण दिया गया। दोनों देशों के विनिमय सम्बन्धी नियंत्रण हट गए। इस समय में भारत के आयात-निर्यात के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नीचे दी हुई तालिका से लग जायगी:—

(करोड़ रुपयों में)

आयात (देनी)		निर्यात (लेनीं)	
कच्चा जूट	८०.२	सूत व सूती कपड़े	१७.५
कच्चा कपास	१७.३	जूट का बना माल	६.८
		कोयला	६.५
अन्य वस्तुएँ (चमड़ा, कपास के बीज, सुपाड़ी, सीमेन्ट, नमक, फल आदि)	१६.६	सरसों का तेल	६.८
		तम्बाकू	४.६
		कृत्रिम रेशम	४.८
		अन्य वस्तुएँ (रासायनिक वस्तुएँ, दवाइयाँ, लोहा-फौलाद, चमड़ा, रबड़, चाय आदि	३५.८
सेवाएँ (जल-विद्युत इत्यादि में)	.३	सेवाएँ	.१
		योग	८३.६
		घाटा	३३.८
कुल	११७.४	कुल	११७.४

इस घाटे का कारण—ऊपर दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में भारत को कुल ३४ करोड़ रुपये का घाटा हुआ । जब कि भारत ने व्यापारिक समझौते के अनुसार ८० प्रतिशत जूट तथा ५० प्रतिशत कपास का आयात किया, पाकिस्तान ने समझौते में दी हुई वस्तुओं का केवल ५० प्रतिशत से लेकर ६० प्रतिशत तक ही मंगाया । कोयला तथा सरसों का तेल ये केवल दो ही ऐसी वस्तुएँ थीं जिनका आयात पाकिस्तान ने समझौते के अनुसार किया । इसके अतिरिक्त पाकिस्तान ने भारी आयात-निर्यात कर भी लगा दिया जिसके कारण भारत को भी इसके बदले में उसी प्रकार कर लगाना पड़ा । कच्चे जूट तथा कपास पर लगने वाले कर से अकेले दस करोड़ रुपये का घाटा हुआ । पहले पाकिस्तान ने भारत के सूती कपड़े पर आयात-कर लगाया और बाद में उसका बहिष्कार किया । इधर भारत ने पाकिस्तान को भेजी जाने वाली उन वस्तुओं के निर्यात पर नियंत्रण लगा दिया जिन्हें वह डालर वाले देशों को भेज सकता था । पाकिस्तान की नई बैंक की शर्तों को पूरा करने के लिए भारत की व्यवसायिक बैंकों को पाकिस्तान को १४ करोड़ रुपया भेजना पड़ा, इस प्रकार पूँजी के चले जाने से चालू खाते में और भी घाटा हुआ ।

१६४६ की जौलाई से दिसम्बर तक—१६४६ के जून में इन दोनों देशों के व्यापारिक समझौते को नया किया गया । इस समझौते के अनुसार भारत के लिए कम व्यापार तथा कम घाटे की व्यवस्था हुई । दोनों देशों को अपनी-अपनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और दोनों देशों की व्यापारिक शर्तें पूरी न हो सकीं । इसके बाद १६४६ के सितम्बर में भारतीय मुद्रा का अवमूल्य हो गया । पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा के मूल्य में कोई परिवर्तन न करने का निश्चय किया, उसने अपने सिक्के का भारतीय सिक्के के साथ १४० रु० व १०० रु० का अनुपात रखा । इसके कारण पाकिस्तान के सब सामान का भारतीय मुद्रा की दृष्टि से काफी मूल्य बढ़ गया । अतएव भारत को लाचार होकर पाकिस्तान को भेजे जाने वाले माल पर नियंत्रण लगाना पड़ा तथा वहाँ से आने वाले माल को लेने से इन्कार करना पड़ा । इस काल में भारत को पाकिस्तान को ३५.४ करोड़ रुपये देने पड़े जब कि उसे वहाँ से केवल २६.२ करोड़ रुपये ही मिले ।

जनवरी १९५० से जौलाई १९५० तक—इस काल के व्यापार सम्बन्धी आंकड़े अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं परन्तु नेहरू-लियाकत समझौते के परिणाम स्वरूप, दोनों देशों में एक अल्प-कालिक व्यापारिक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार जो होने वाला व्यापार भारतीय मुद्रा के हिसाब से होगा जिसके लिए पाकिस्तान को अलग खाता रखना पड़ेगा। इस समझौते में यह निश्चय किया गया कि पाकिस्तान भारत को ८ लाख गाँठें कच्चे जूट की देगा जब कि इसके बदले में भारत पाकिस्तान को जूट का बना माल, सूती कपड़े, फौलाद का बना माल, सरसों का तेल आदि भेजेगा। पाकिस्तान को इस व्यापार के लिए एक विशेष खाता रखना था और दोनों देशों को व्यापार के सन्तुलन को भी ठीक रखना था।

अभी पाकिस्तान ने समझौते की शर्तों का पूर्णरूप से पालन नहीं किया है, अभी जब तक काश्मीर समस्या का हल नहीं हो जाता तब तक दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्ध के अच्छे होने की आशा नहीं की जा सकती।

भारत तथा सुदूर पूर्व के देश—भारत का इन देशों से सदा से कुछ न कुछ व्यापारिक सम्बन्ध बना रहा है। कुल मिलाकर इन देशों के साथ होने वाला व्यापार तो सन्तोषप्रद कहा जा सकता है किन्तु जहाँ तक अलग-अलग देशों के बर्मा, जापान तथा लङ्का के व्यापार का प्रश्न है, वह अच्छा नहीं कहा जा सकता। इन देशों के साथ होने वाले व्यापार का १९३८-३९ के वर्ष के आंकड़ों से और पता चल जायेगा।

सुदूर पूर्व के देश तथा भारत का व्यापार
(करोड़ रुपयों में)

	आयात	निर्यात	सन्तुलन
इन्डोनेशिया, इन्डोचीन, थाइलैण्ड, फारमोसा, फिलिप्पाइन्स आदि	२.५	३.९	+१.४
बर्मा	२४.३	१०	—१४.३
चीन	१.७	२.२	+०.५
जापान	१५.४	१४.६	—०.८
मलाया	४.१	२.४	—१.७
लंका	१.०	५	+४.०
कुल	४९	३८	—११

इससे यह पता चल जाता है कि लंका को छोड़कर अन्य किसी भी देश के साथ हमारा व्यापारिक सन्तुलन हमारे पक्ष में नहीं रहा। भारत का बर्मा के साथ होनेवाला व्यापार सदैव भारत के विपक्ष में रहा। १९३७-३८ में भारत से बर्मा का व्यापार १५ करोड़ का हुआ, १९३८-३९ में १४ करोड़ था, १९३९-४० में १८ करोड़ का, १९४०-४१ में ११ करोड़ का तथा १९४१-४२ में १९.५ करोड़ रुपए का हुआ। युद्ध के समय में बर्मा का भारत से व्यापार न हुआ। १९४६-४७ में यह व्यापारिक संतुलन हमारे पक्ष में रहा, इस वर्ष हमारे पक्ष में ४ करोड़ रुपए रहे, परन्तु विभाजन के पश्चात् दिसम्बर १९४७ से लेकर नवम्बर १९४८ तक के समय में यह सन्तुलन हमारे विपक्ष में हो गया। बर्मा से हम चीड़, चावल, मिट्टी का तेल मंगाते हैं और इनके बदले में हम सूती कपड़े, शकर, कागज, बोरे आदि का निर्यात करते हैं।

भारत तथा इन्डोनेशिया—आज से सैकड़ों वर्ष पहले इन दोनों देशों में आपस में अच्छा व्यापार होता था। युद्ध के पूर्व के वर्षों में भारत यहाँ से मिट्टी का तेल, मोम, चीड़, कुनैन, टीन, व मसाला आदि मंगाता था। इसके बदले में वह जूट का सामान, सूती कपड़े, वनस्पति घी, बीज, कोयला तथा लाख का निर्यात करता था। हमारा निर्यात लगभग एक करोड़ रुपए का तथा आयात दो करोड़ रुपए का होता था। युद्ध के समय में यह व्यापार बिल्कुल ही रुक गया। युद्ध के बाद दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध फिर स्थापित हुआ, और अब पहले की भाँति फिर अच्छा व्यापार होने लगा है। जहाँ तक व्यापार के सन्तुलन का प्रश्न है, वह भी पूर्व ही की भाँति रहा है, व्यापार का सन्तुलन पहले सदैव भारत के विपक्ष में रहता था परन्तु १९४९-५० में यह सन्तुलन हमारे पक्ष में पहुँच गया।

भारत तथा इन्डोनेशिया के व्यापार में काफी वृद्धि हो सकती है। भारत इन्डोनेशिया को औजार, अलमूनियम तथा अन्य धातुओं का सामान, रसायन, दवाइयां आदि भेज सकता है। इसके विपरीत इन्डोनेशिया से हमें मसाला, चावल, मक्का, चीड़ की लकड़ी आदि मँगा सकते हैं।

हम पहले कपड़ा तथा उपभोग की अन्य वस्तुएँ जापान से मंगाते थे और इसके बदले में जापान को कच्ची कपास, अरण्डी के बीज, कच्चा लोहा, मैंगनीज, अभ्रक आदि भेजते थे। युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् जापान के शासन का भार मित्र राष्ट्रों के सुप्रीम कमान्डर के हाथ में आ गया, इसके कारण जापान के आयात तथा निर्यात व्यापार पर काफी नियंत्रण रहा। १९४८ के अप्रैल मास में जापानियों का ट्रेड डेलीगेशन जिसके कि अध्यक्ष श्री डब्लू० आर० ईटन थे, भारत आया। बाद में जापान तथा राष्ट्र मंडल के पाँच देशों में, जिनमें कि भारत में सम्मिलित था, आपस में व्यापारिक समझौता हुआ। भारत में २६५ लाख पौण्ड की कीमत की मशीनें, साइकिलें, बिजली का सामान, सिलने की मशीनें आदि मंगाने का निश्चय किया। इसके बदले में उसने इन देशों को कच्ची कपास, ऊन, कच्चा लोहा, अभ्रक, मैंगनीज, कोयला तथा लाख भेजने का निश्चय किया।

अमरीका यह नहीं चाहता कि जापान भविष्य में फिर इस योग्य हो जाय कि उससे युद्ध का भय रहे। अतएव जापान ने जिन उपायों द्वारा आर्थिक उन्नति की थी, उन पर अब काफी नियंत्रण है और अभी आने वाले कुछ वर्षों तक जापान व्यापारिक क्षेत्र में भारत तथा अन्य पश्चिमीय देशों का सामना नहीं कर सकेगा।

एशिया तथा सुदूरपूर्व के देशों के लिए नियुक्त संयुक्त राष्ट्र संघ का आर्थिक आयोग कई बार मिल चुका है। १९४८ के जून में इस कमीशन की एक बैठक ऊटी में हुई थी, कमीशन ने इस बात पर प्रकाश डाला था कि इन देशों का आर्थिक विकास बड़ा एकांगी हुआ है। कमीशन का कथन था कि इन देशों में आर्थिक तथा अन्य दृष्टिकोणों से भारत का स्थान मुख्य है। यह क्षेत्र (भारत) कृषि तथा खनिज दोनों प्रकार के साधनों में सबसे अधिक धनी है। संसार में जितना चावल उत्पन्न होता है, उसका ९२ प्रतिशत भाग भारत में पैदा होता है, इसी प्रकार संसार में जितनी चाय उत्पन्न होती है, उसका ९६ प्रतिशत भारत उत्पन्न करता है। भारत अपना औद्योगिक विकास करने के लिए अच्छे से अच्छे प्रयत्न कर रहा है। इस दिशा में काफी कार्य भी किया जा चुका है। इस समय जापान औद्योगिक क्षेत्र में नहीं है, इसलिए ऐसी स्थिति में भारत इन देशों की बहुत सी मांगों की पूर्ति कर आगे बढ़ सकता है। इन देशों से भारत बहुत सा अच्छे किस्म का कच्चा माल ले सकता है। इन सब बातों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भविष्य में भारत अपना अन्य देशों से अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेगा।

भारत का समुद्री व्यापार (लाख रुपयों में)
(इसमें पुनर्निर्यात नहीं शामिल है)

देश का नाम	१९४८			१९४९		
राष्ट्रमंडलीय देश	निर्यात	आयात	सन्तुलन	निर्यात	आयात	सन्तुलन
यू० के०	९७,१८	१३३,८९	–३६,७१	१११,९६	१७३,२८	–६१,३२
आस्ट्रेलिया	२३,७९	१८,५४	+५२५	२४,४८	२२,२०	+२२८
पाकिस्तान	३८,२१	१२,२७	+२५,९४	१९,९२	२३,०४	–३,१२
कुल योग	२०७,७३	२०९,४१	–१९८	२३०,७६	२८४,५२	–१,६८
अन्य देशों से						
संयुक्त राज्य अमरीका	७७,४६	१०८,१३	–३०,६७	६८,५२	९९,८४	–३१३२
मिश्र	६,५८	२५,९७	–१८,३९	६,३०	४३,९२	–३७,६२
ईरान	२,४०	१९,१९	–१६,७९	५,०४	३०,६०	–२५,५६
बर्मा	११,५१	१७,८७	–५३६	९,३६	१६,२०	–६८४

व्यापार का निदेश, वस्तुओं के हिसाब से निर्यात—ऊपर हमने भारत का विभिन्न देशों के साथ होने वाले व्यापार पर विचार किया। यहाँ हम वस्तुओं के अनुरूप होने वाले भारतीय व्यापार की गतिविधि या निदेश (Direction of trade) पर विचार करेंगे। आइये पहले यहाँ से भेजी जाने वाली चीजों पर प्रकाश डालें।

जूट कच्चा तथा बना हुआ—विभाजन के बाद के समय में जूट के बने माल पर काफी नियंत्रण रहा परन्तु इसके उत्पादन युद्ध पूर्व के समय की अपेक्षा, इस समय ह्रास ही रहा जब कि मांग उसी प्रकार अच्छी बनी रही जैसी कि युद्ध के पूर्व के समय में थी। अतएव डालर पैदा करने के लिए जूट के बने माल का विभिन्न स्थानों को भेजा जाने वाला कोटा निश्चित कर दिया गया। ऐसा करने का एक कारण यह भी था कि जूट का माल भेजकर विदेशों से खाद्यान्न भी मंगाया जा सके। इस प्रकार धात्विक मुद्रा वाले देशों को होने वाले निर्यात में कुछ वृद्धि हुई। परन्तु १९४८ तथा १९४९ में संयुक्त राज्य अमरीका को होने वाले निर्यात में तो कमी हुई जब कि यू० के० तथा आस्ट्रेलिया के निर्यात में वृद्धि हुई। जूट के अधिकांश क्षेत्र के पाकिस्तान में होने के कारण तथा पाकिस्तान से कच्चा जूट प्राप्त करने में कठिनाई के कारण भारत के कच्चे जूट के निर्यात में काफी ह्रास हुआ है।

कुछ मुख्य देशों को जूट के निर्यात की इन्डेक्स संख्या (Index Numbers)
(१९४५-४६ = १००)

	१९४६-४७	१९४७-४८	१९४८-४९
आस्ट्रेलिया	१४९	३०५	२०६
कनाडा	७९	११०	७५
संयुक्त राज्य अमरीका	८७	९५	९०
यू० के०	१०७	१२२	१३४
अन्य देश	१०९	१०५	१३८

कपास कच्ची—१९४५-४६ में भारत ने १६ करोड़ रुपये की कच्ची कपास का निर्यात किया। विभाजन के बाद के वर्षों में भारत के लिए कपास के निर्यात को उसी प्रकार रखना सम्भव नहीं था क्योंकि लम्बे रेशे वाली कपास का क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में चला गया। इसलिये भारत को मिश्र, सूडान, केनया व पाकिस्तान से काफी मात्रा में कच्ची कपास मंगानी पड़ी।

१९४८-४९ में पाकिस्तान ने भारत को साढ़े छै लाख गाँठें कपास भेजी थीं जब कि १९४७-४८ में उसने ३,२८,००० गाँठों का निर्यात किया था। अब भारत केवल छोटे रेशे वाली कपास का निर्यात कर सकता है। उसकी इस कपास को खरीदने वाले देश यू० के०, जापान तथा इटली आदि हैं। सन् १९४८ में भारत ने ६५००० टन तथा १९४९ में ४८,००० टन कपास का निर्यात किया था।

सूत तथा सूती माल—जहाँ तक सूती माल के निर्यात का सम्बन्ध है १९४२-४३ में सूती माल का सबसे अधिक निर्यात हुआ। इस वर्ष भारत ने कुछ नहीं तो ४६८७ लाख रुपये की कीमत के सूती कपड़े का निर्यात किया। तब से निर्यात किए जाने वाले कपड़े के मूल्य में बराबर ह्रास हो रहा है। १९४५-४६ में केवल ३,२८० लाख रुपये की कीमत के ही कपड़े का निर्यात हुआ। भारत का सूती कपड़ा खरीदने वाले देशों में मध्यपूर्व के देश, पूर्वीय अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा लंका मुख्य हैं। अब धात्विक मुद्रा वाले देशों को छोड़कर अन्य देशों को कच्ची कपास का भेजा जाना बन्द कर दिया गया है। युद्ध के समय में विदेशों से कपड़े के आयात के न होने के कारण भारत में कपड़े की काफी माँग बढ़ गई। अतएव कपड़े के निर्यात पर नियंत्रण लगा दिया गया और विदेशों को भेजे जाने वाले कपड़े का कोटा निश्चित कर दिया गया। १९४६ में यह कोटा ४००० लाख गज निश्चित हुआ, १९४७ में ३८००, लाख तथा १९४८ में ३५०० लाख गज निश्चित हुआ। यह नियंत्रण १९४९ तक चलता रहा परन्तु विदेशी विनिमय को प्राप्त करने के लिए ४७०० लाख गज कपड़ा विदेशों को भेजा गया। नीचे दी हुई तालिका से इस बात का और स्पष्टीकरण हो जायगा :—

निर्यात (लाख रुपयों में)

	१९४३-४४	१९४५-४६	१९४८	१९४९
कच्ची कपास	७४२	१,५१०	२,२३०	१५८३
सूती माल	४२६२	३,२८०	३,६६०	४९३६

चाय—चाय का भारत के निर्यात में मुख्य स्थान रहा है। युद्ध तथा युद्ध के बाद के वर्षों में इससे हमें खूब आमदनी होती रही है। विदेशी विनिमय प्राप्त करने में जूट के बाद इसी का स्थान रहा है। भारत में काली चाय पैदा होती है। इस समय इस व्यापार में उसका केवल एक ही प्रतिद्वंदी है, वह है लंका। अब चीन तथा जापान की हरी चाय भारत की काली चाय की तुलना में दिनोंदिन महत्व खोती जा रही है, उसका मुख्य कारण यह है कि जो व्यक्ति साल भर तक काली चाय पी लेता है, उसे फिर हरी चाय में उतना स्वाद नहीं आता। यही कारण है कि भविष्य में चाय के निर्यात में कोई कमी होने की आशा नहीं है।

यू० के० हमारी चाय का सबसे सबसे अधिक (हमारे कुल निर्यात का $\frac{1}{3}$) भाग खरीदता है। यू० के० के बाद संयुक्त राज्य अमरीका का नम्बर आता है। कनाडा को भेजी जाने वाली चाय के निर्यात में भी इधर कुछ वृद्धि हुई है। आस्ट्रेलिया वर्ष भर में हमसे करीब दो करोड़ रुपए की चाय खरीदता है। धात्विक मुद्रावाले देशों को होने वाले चाय के निर्यात में भी इधर कुछ वृद्धि हुई है। सरकार चाय के कुल उत्पादन तथा देश की माँग का ध्यान में रखते हुए साल भर का चाय का कोटा निश्चित कर देती है तथा उसका निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाता है। १९४९ में भारत ने ४९२० लाख पौण्ड चाय का निर्यात किया था जब कि १९४८ में केवल ३५७० लाख पौण्ड चाय ही भेजी गई थी।

चाय का निर्यात (लाख रुपयों में)

	१९४३-४४	१९४५-४६	१९४८	१९४९
चाय	३७८५	३५५२	३७८४	३८८२

तिलहन तथा बनस्पति घी—भारत में उत्पन्न होने वाले तिलहनों में मूंगफली सबसे महत्त्वपूर्ण तिलहन है। मूंगफली के उत्पादन में १०% प्रतिवर्ष के हिसाब से वृद्धि हो गई है। युद्ध के समय में भारत ने वनस्पति उद्योग का प्रारम्भ किया था तथा साबुन, पेन्ट व रंग के उद्योगों का विकास किया था। देश के अन्दर तेल की खपत में वृद्धि हो जाने के कारण तिलहन का निर्यात कम हो गया है। इसके अतिरिक्त वनस्पति घी के निर्यात में भी काफी वृद्धि हो गई है, इसका पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा। तिलहन के निर्यात में कमी होने का एक कारण यह भी है कि देश में खली व मूंगफली की खपत में और वृद्धि हो गई है। भारत पाकिस्तान को काफी बड़ी मात्रा में सरसों का तेल भेजता है।

१९४८ में तिलहन पर ८० रु० प्रति टन तथा तेल पर २०० रु० प्रति टन निर्यात-कर लगा दिया गया था। १९४९ की फरवरी में इस कर को बिल्कुल हटा दिया गया। युद्ध के पूर्व के वर्षों में जितना तिलहन का निर्यात होता था १९४९ में उसके केवल १० प्रतिशत का ही निर्यात हुआ।

तिलहन तथा तेल का निर्यात (करोड़ रुपयों में)

	१९३८	१९४८	१९४९
तिलहन	१५	१०	९
तेल	१	१३.५	८

तम्बाकू—तम्बाकू द्वारा भी भारत को अच्छी आय होती है। आज सारे संसार में धूम्रपान का प्रचार काफी बढ़ा हुआ है, धूम्रपान के कारण तम्बाकू की भी खपत बढ़ती है। १९४६ में हमने कच्ची तथा बनी हुई तम्बाकू लगभग ६६६ लाख रुपये की विदेशों को भेजी थी। दक्षिण भारत में सरकार तथा 'इण्डियन सेन्ट्रल टोबैको कमेटी' तम्बाकू के सम्बन्ध में काफी अनुसन्धान कर रही है। भारतीय तम्बाकू की सबसे अच्छी खपत यू० के० में होती है। डालर की कमी के कारण यू० के० भारतीय तम्बाकू काफी खरीद रहा है।

तम्बाकू का निर्यात (करोड़ रुपयों में)

	१९३८	१९४८	१९४९
तम्बाकू	२.६	८	१०

कच्चा तथा कमाया हुआ चमड़ा व खाल—युद्ध के पूर्व के वर्षों में भारत चमड़ा व खाल का काफी बड़ी मात्रा में निर्यात करता था। युद्ध के समय में इनके विदेश भेजने में बड़ी कठिनाई थी, उस समय जहाज आदि की कमी के कारण उनका सरलता से तथा पर्याप्त मात्रा में भेजना सम्भव नहीं था। इसलिए धीरे-धीरे देश में ही चमड़े के कमाने के उद्योग का विकास होने लगा। जब युद्ध समाप्त हो गया और जहाजों का प्राप्त होना सुगम हो गया तो भारत सरकार ने पुनः इसके स्वतन्त्रतापूर्वक निर्यात का विचार किया किन्तु विभाजन के कारण जितनी आशा की गई थी उतना चमड़ा न प्राप्त हो सका। इसलिये सरकार को खाल व चमड़े के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देना पड़ा। केवल धात्विक मुद्रावाले देशों को ही इसका निर्यात किया जा सकता था। हाँ कमाया हुआ चमड़ा तथा खाल स्वतन्त्रतापूर्वक निर्यात किया जा सकता था। अब भी भारतीय चमड़े तथा खाल की विदेशों में काफी माँग है। १९४८-४९ के साल के निर्यात के आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि मुद्रा अवमूल्यन के बाद से इनके निर्यात में काफी वृद्धि हुई है। फ्रान्स, जर्मनी, यू० के० तथा संयुक्त राज्य अमरीका हमारे अच्छे ग्राहक हैं। नीचे दी हुई तालिका से चमड़े तथा खालों के निर्यात के सम्बन्ध में कुछ परिचय मिल जायगा :—

चमड़ों तथा खाल का निर्यात (करोड़ रुपयों में)

	१९३८	१९४८	१९४९
कच्चा चमड़ा व खाल	४	६	६·३
कमाया हुआ चमड़ा व खाल	५	१२	१५

आयात—ऊपर हमने भारत से निर्यात की जाने वाली कुछ वस्तुओं के विषय में विचार किया। यहाँ पर हम भारत में आनेवाली मुख्य वस्तुओं के विषय में विचार करेंगे।

इस सम्बन्ध में अगले पृष्ठ पर एक तालिका दी जा रही है, इससे आयात की कुछ मुख्य वस्तुओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जायगा।

कुछ वस्तुओं का आयात (लाख रुपयों में)

वर्ग	वस्तु	१९४८	१९४९
प्रथम वर्ग खाद्य व पेय पदार्थ तथा तम्बाकू	(१) अन्न, दाल, आटा	५७,१९	९८,१०
	(२) शराब	२०४	१६६
	(३) तम्बाकू	३२८	२१८
	(४) मसाला	३६६	४१३
	(५) अन्य वस्तुएँ	५३२	९२७
द्वितीय वर्ग कच्चा, बिना तैयार माल	(१) कपास	४,६५७	७,६७७
	(२) तेल (खानों का)	३३,७५	५,८०१
	(३) ऊन	२,७५	३,८०
	(४) ऊन व टिम्बर	४,९७	३४७
	(५) अन्य वस्तुएँ	२६३	२९०
तृतीय वर्ग तैयार माल	(१) मशीनें	७,[illegible]४६	१०७,५७
	(२) गाड़ियाँ	३०,४२	२९,२९
	(३) सूत व सूती कपड़े	१[illegible],४०	२५,१६
	(४) रासायनिक पदार्थ व दवाइयाँ	२[illegible],६३	[illegible]१,२४
	(५) नानफेरस मेटल	१८,४०	२०,१९
	(६) मशीनरी औजार आदि	१४,८२	१९,४९
	(७) बिजली का सामान	[illegible],६०	१५,०७
	(८) कागज	१२,२६	१४,५८
	(९) लोहे तथा फौलाद का माल	८,३५	१३,९२
	(१०) रंग आदि	१७,३४	११,४१
	(११) ऊनी माल	[illegible],७९	७,३९

युद्ध के समाप्त होने पर तथा विभाजन के पश्चात् भारत के आयात में काफी वृद्धि हुई है। दिसम्बर सन् १९४७ से लेकर नवम्बर १९४८ तक के व्यापार के आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि इन १२ महीनों में भारत में ४२९ करोड़ रुपये का आयात हुआ। आयात में इस वृद्धि के होने का मुख्य कारण देश में खाद्यान्न की कमी तथा औद्योगिक व कृषि के विकास के लिए विदेशों से कुछ मुख्य वस्तुओं का मंगाया जाना है। हाँ इस वर्ष तेल के आयात में अवश्य कमी हुई। सन् १९४४-४५ में ८० करोड़ रुपये का तेल आया था, १९४७-४८ में ३४ करोड़ रुपये के मूल्य के तेल का आयात हुआ। इसके अतिरिक्त ५४ करोड़ रुपये का खाद्यान्न, ४४ करोड़ रुपये की कच्ची कपास, ७५ करोड़ रुपये की मशीनें, २५ करोड़ रुपए की दवाइयाँ तथा अन्य रासायनिक वस्तुएँ,

२८ करोड़ रुपए से ऊपर की मोटर गाड़ियाँ तथा १८ करोड़ रुपये से अधिक के रंग तथा रंगने का अन्य सामान आदि आया।

जलाने तथा मशीनों का तेल अधिकतया ईरान से आया। लंका से हम लगभग एक करोड़ रुपए का वनस्पति तेल मंगाते है। जहाँ तक मशीनों तथा कपड़े व बिजली आदि के सामान का प्रश्न है, ये वस्तुएँ मुख्यरूप से यू० के० तथा संयुक्त राज्य अमरीका से मंगाई गई। वास्तव में बने हुये माल की हमारी बहुत कुछ आवश्यकता इन्हीं दो देशों द्वारा पूरी होती है। भारत प्रायः संसार के सभी देशों संयुक्त राज्य अमरीका, अर्जेन्टाइना, कनाडा, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान, टर्की, मिश्र, रूस, बर्मा तथा इटली तक से खाद्यान्न का आयात करता है। सन् १६४७-४८ में लगभग ४४ करोड रुपये की कपास विदेशों से आई, यह रकम १६४५-४६ की कपास की रकम से दुगनी थी। इसका मुख्य कारण यही है अच्छी कपास उत्पन्न करनेवाला अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान के हाथ में चला गया है। भारत अपनी आवश्यकता की कपास, मिश्र, केनया, टंगानिका व सूडान से मंगाता है।

आस्ट्रेलिया, कनाडा, स्विटजरलैंड, फ्रान्स, चेकोस्लोवाकिया व जापान से भी भारत में अच्छी मात्रा में तैयार या बना हुआ माल आता है।

व्यापार का सन्तुलन—द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व भारत के व्यापार का सन्तुलन प्रायः भारत के ही पक्ष में रहता था। सन् १६३१ से प्रारम्भ होने वाले मन्दी के वर्षों से हमारा यह सन्तुलन धीरे-धीरे हमारे विपक्ष में होने लगा। उस समय इस अभाव की पूर्त्ति के लिए भारत ने सोने का निर्यात करना शुरू कर दिया। व्यापार के इस सन्तुलन को पक्ष में रखने के लिए सबसे बड़ी जरूरत यह थी कि भारत को 'होम चार्जेज' की पूर्त्ति करनी पड़ती थी। नीचे दी हुई तालिका से अलग-अलग वर्षों में होने वाले 'होम चार्जेज' का पता चल जायगा :—

कुछ वर्षों के 'होम चार्जेज'

१६२० तक विनिमय की दर १ रु० = १ शि० ४ पे०
१६२० से १६२७ तथा १ रु० = २ शि०
१६२७ के बाद से १ रु० = १ शि० ६ पे०

औसत	करोड़ रुपयों में
१६०६-१४	२६·५
१६१६-२४	३५·५
१६२६-३०	४२·१
१६३२-३३	३६·४
१६३५-३६	३८·१
१६३८-३६	३२·८

इस तालिका से यह पता चल जाता है कि 'होम चार्जेज' के रूप में भारत को इंगलैण्ड को अच्छी रकम दे देनी पड़ती थी। यदि किसी वर्ष भारत का व्यापारिक सन्तुलन ठीक न रहता तो वह सोने का निर्यात कर इस सन्तुलन को ठीक रखता था। १६३१-३२ से लेकर १६३६-४० तक के समय में भारत ने कुछ नहीं तो ३६२ करोड़ रुपए के मूल्य के सोने का निर्यात किया था। इस समय सोने की इस बिक्री से आर्थिक संकट में पड़े हुए भारतवासियों को, तथा भारत के विदेशी व्यापार को बहुत कुछ सहायता मिली, सोने की इस बिक्री से भारत सरकार भी 'होम चार्जेज' के चुकाने में समर्थ हो सकी।

'होम चार्जेज' (Home Charges)—अब हम यहाँ पर इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि ये खर्चे या 'चार्जेज' आखिर थे क्या बला जिनसे उस समय की आर्थिक स्थिति पर गहरा प्रभाव

पड़ता था। भारत से ग्रेट ब्रिटेन को प्रतिवर्ष कुछ न कुछ रकम मिलती थी। इस रकम केभुगतान के लिए भारत को अपना व्यापारिक सन्तुलन ठीक रखना पड़ता था। भारत अपनी राजनैतिक दासता के कारण ही इंगलैण्ड को यह सालाना रकम चुकाता था। इसके कारण उधर जब कि इंगलैण्ड मालामाल हो रहा था, भारत निर्धनता की ओर बढ़ता जा रहा था। कुछ विद्वानों ने समय-समय पर इस व्यवस्था की कटु आलोचना की है, ऐसे लोगों का यह कहना था कि इंगलैण्ड भारत का 'अर्थ-शोषण' कर रहा है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि 'होम चार्जेज' के रूप में जो कुछ रकम भारत ने इंगलैण्ड को दी उसके बदले में यदि उसे कुछ मिला न होता तो अवश्य हम इन 'चार्जेज' को आर्थिक शोषण के साधन या स्रोत कहते किन्तु भारत को जो कुछ उसने दिया उसके बदले में भी उसे कुछ मिला, इसलिये इन चार्जेज के रूप में दी जाने वाली रकम को हम आर्थिक शोषण का साधन नहीं कह सकते।

हम यहाँ पर 'होम चार्जेज' के मुख्य-मुख्य अंशों को विचार करते हुए यह देखेंगे कि यह कहाँ तक सत्य है। इस 'चार्जेज' की मदों को हम मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) विदेशी ऋण के भुगतान की मद।
(२) सैनिक तथा असैनिक सेवाओं की मद।
(३) सरकारी खरीद की मद।

हम यहाँ इन पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे।

विदेशी ऋण के भुगतान की मद (Payments in connexion with the foreign loans)—इस व्यय की सबसे महत्वपूर्ण मद उस ऋण पर सूद देने की थी जो कि इंगलैण्ड में भारतीय रेलों, सिंचाई के कार्यों आदि में पूँजी लगाने के लिए लिया गया था। विदेशी पूँजी का देश में कहाँ तक उपयोग होना उचित है इस सम्बन्ध में हम 'औद्योगिक पूँजी' वाले परिच्छेद में प्रकाश डाल चुके हैं। हम यह देख चुके हैं कि विदेशी पूँजी का देश में इस तरह लगना राष्ट्र के हित में नहीं है। किन्तु जब देश में प्राकृतिक साधन तो पर्याप्त हों किन्तु उसके लिए, उनके विकास के लिए, उनके उचित प्रयोग के लिए पूँजी न हो और वह यदि बाहर से ले ली जाय तो यह कोई अनुचित बात नहीं है। जब भारत के लिए इंगलैण्ड से ऋण लेने की समस्या का प्रश्न आया था, उस समय भारत में पूँजी का बड़ा अभाव था। अतएव ऐसे समय में विदेशी पूँजी का लेना कोई अनुचित नहीं था। भारत ही नहीं संसार में अन्य कितने ही ऐसे देश हैं जिन्होंने अपने औद्योगिक विकास के लिए इंगलैण्ड से ऋण लिया, फिर भारत तो उस समय ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था और यदि उसने अपनी औद्योगिक उन्नति के लिए इंगलैण्ड से ऋण लिया और उसे सूद दिया तो कोई बुरा नहीं किया। इसलिए इन ऋण पर दिए जाने वाले सूद को आर्थिक शोषण का स्रोत या साधन कहना उपयुक्त नहीं है। फिर भारत को अन्य देशों की अपेक्षा इंगलैण्ड से कुछ कम सूद पर भी ऋण मिला। जितनी कम सूद की दर लन्दन में थी उतनी भारत में नहीं थी। इसलिए केवल यह कहना कि भारत की राजनैतिक दासता के कारण ही इंगलैण्ड से ऋण लिया गया उचित नहीं। उस समय सूद की दर इंगलैण्ड में भारत से ही कम नहीं थी वरन् संसार के अन्य देशों से भी कम थी।

इसके अतिरिक्त कुछ अर्थशास्त्रियों का यह कथन है कि भारत सरकार ने उस समय जो ऋण लिया उसका उचित उपयोग नहीं किया, यह भी न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। इस तथ्य को भी हम पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर सकते। हो सकता है कि कुछ इस सम्बन्ध में असावधानियाँ हुई हों तो ऐसी असावधानियाँ तो हम सब लोगों से भी होती हैं। यदि इस दिशा में सरकार कुछ और विशेष सावधानी बर्तती तो शायद कुछ और नहरें या रेलवे लाइनें आदि बन जातीं इससे अधिक और कुछ

होना असम्भव सा ही था और यदि दोष मान भी लिया जाता है तो सरकार को ही इस विषय में दोषी ठहराया जा सकता है न कि उस ऋण को या ऋणकर्त्ता को।

सैनिक तथा असैनिक सेवाएं (Civil & Military Services) – अब हम यहाँ पर उस समय सैनिक तथा असैनिक सेवाओं की मद में होनेवाले व्यय पर विचार करेंगे। जहाँ तक असैनिक सेवाओं (Civil Services) का सम्बन्ध है, इसमें भारत का बहुत बड़ा व्यय हो जाता था। उस समय इन नौकरियों के बड़े-बड़े पदों में अधिकतया अंगरेज व अन्य यूरोपियन अधिकारी थे। इन अधिकारियों को लम्बा वेतन तथा भत्ता आदि दिया जाता था। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता था कि जितना वेतन वा भत्ता इन अधिकारियों को दिया जाता है वह अत्यधिक है, विदेशियों को इतना ऊँचा वेतन वा भत्ता देने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हमारे देश का बहुत सा धन इस स्रोत के द्वारा विदेशों को चला जाता है। दूसरे इस विषय में यह भी कहा जाता था इन बड़े-बड़े पदों से विदेशियों को हटा कर उनके स्थान में भारतीयों को रखा जाय जिससे हमारा बहुत सा धन विदेशों को जाने से बच जायगा और भारतीय अधिकारियों को इतना अधिक वेतन भी न देना पड़ेगा। इस प्रकार असैनिक सेवाओं के भारतीयकरण की समस्या उस समय काफी उठ रही थी, इन सब प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भी उस समय भारत में काफी विदेशी नौकर थे जिनको हमें काफी वेतनादि देना पड़ता था। इस प्रकार यदि उस समय ध्यान दिया जाता तो इस मद में खर्च होने वाली रकम का एक काफी बड़ा अंश खर्च होने से बच जाता।

अभी हमने भारत की उस समय की असैनिक सेवाओं से सम्बन्ध में प्रकाश डाला, अब यहाँ सैनिक सेवाओं (Military Services) पर भी विचार करेंगे। उस समय भारत में जितना सैन्य बल था, वह भारत की आवश्यकता से कहीं अधिक था। इतनी विशाल सेना के रखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। असैनिक सेवाओं की भाँति इन सेवाओं में भी बहुत से विदेशी नौकर थे। इन सब में काफी व्यय होजाता था, यह व्यय भी आवश्यकता से अधिक था और देश के बाहर ही जाता था। फिर इस सम्बन्ध में एक बात यह भी कही जाती है कि भारत में जो सेना थी उसका कार्य या कर्तव्य मुख्यरूप से ब्रिटिश साम्राज्य के ही हित में था न कि उसका मुख्य उद्देश्य भारत का हित-साधन था। इसलिये इसमें होने वाले व्यय का कुछ भार ब्रिटिश सरकार के कोष से उठाया जाय, उसका सारा उत्तरदायित्व भारत पर ही क्यों लादा जाय। स्थल सेना के अतिरिक्त यही बात ब्रिटिश नौसेना (British Navy) के विषय में भी कही जाती। उसकी भी व्यवस्था मुख्य रूप से इस दृष्टि से नहीं की जाती थी कि वह केवल भारत के ही समुद्री तटों की रक्षा करे। उदाहरण के लिए ब्रिटिश नेवी से जितना लाभ आस्ट्रेलिया उठा लेता था उतना भारत नहीं, परन्तु आस्ट्रेलिया से कभी भी यह नहीं कहा गया कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक सेना रखे और उससे ब्रिटेन लाभ उठावे। वास्तव में भारत में उतनी ही सेना रखने की आवश्यकता थी जितनी कि भारत की सुरक्षा के लिए जरूरी थी, इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर भारतीय सेना के व्यय को निश्चित किया जाना था।

इस दिशा में भारतीयों के जोर देने पर सन् १६३४-३५ में ब्रिटिश सरकार ने भारत में स्थित सेना की व्यवस्था के लिए दो करोड़ रुपया प्रतिवर्ष देना स्वीकार कर लिया। सन् १६३८ तक ब्रिटेन के कोष में अपने समुद्री तटों की रक्षा के लिए भारत १००,००० पौण्ड वार्षिक दिया करता था, इस वर्ष से भारत ने ब्रिटेन को यह रकम देना इस आधार पर बन्द कर दी कि भारत स्वयं छः समुद्र सैनिक जलयानों की व्यवस्था करता है।

सेना के मद में किए जाने वाले व्यय की इस आधार पर और आलोचना की जाती थी कि एक ब्रिटिश सिपाही के रखने में जितना व्यय होता है उतना भारतीय सिपाही के रखने में नहीं, इसलिये लोग थे कहते कि ब्रिटिश सेना के स्थान पर सारी की सारी सेना भारतीय हो। फिर प्रथम तथा द्वितीय

विश्व-युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया था कि जहाँ तक युद्ध करने का प्रश्न है भारतीय सैनिक किसी से कम नहीं हैं। इस प्रकार सेना पर किए जाने वाले व्यय की काफी कड़ी आलोचना की गई और यह आलोचना बहुत सत्य थी।

सरकारी खरीद—पहले सरकार की सैनिक आवश्यकता की बहुत कुछ खरीद इंगलैण्ड में की जाती थी। जब से 'भारतीय सैनिक सामग्री समिति' (Indian Munitions Board) की, (जो कि बाद में शाही उद्योग तथा वाणिज्य विभाग में मिला दिया गया) स्थापना हुई तब से युद्ध सामग्री की खरीद भारत में होने लगी किन्तु फिर भी कुछ न कुछ सामग्री इंगलैण्ड से आती थी, इससे देश का कुछ धन इंगलैण्ड को ही जाया करता था।

ऊपर दी हुई मदों के अतिरिक्त भारत को कुछ अन्य मदों में भी व्यय करना पड़ता था। उदाहरण के लिये विदेशी जहाजों की माल की लदाई में, विदेशी कमीशन एजन्टों तथा बैंकरों को अच्छी रकम दे देनी पड़ती थी। भारत का निज का विनिमय बैंक (Exchange Bank) नहीं है। इसलिये इस सम्बन्ध में होने वाली जितनी आय होती है वह भी विदेशों को ही चली जाती है। विदेशी बीमा कम्पनियों को भी जो कि भारत में कार्य कर रही हैं, भारत से अच्छा लाभ हो जाता है। इसके अतिरिक्त देश के अन्य उद्योगों में भी विदेशी पूँजी लगी थी, इस पूँजी पर होने वाले लाभ तथा सूद के रूप में अच्छी रकम प्रतिवर्ष देश के बाहर चली जाती थी।

अब यह बड़े हर्ष की बात है कि ब्रिटिश सरकार की युद्ध के समय में भारत में अच्छी खरीद के कारण, हमारा सारा स्टर्लिंग ऋण समाप्त हो गया है। पहले भारत इंगलैंड का देनदार था, अब वह उसी देश का लेनदार हो गया है। भारत के लन्दन में विशाल मात्रा में स्टर्लिंग आदेय (Sterling Assets) पड़े हुए हैं। ब्रिटेन के वे लोग जो कि (१९४३ की फरवरी में) भारत में नौकर थे, उनके भी कुटुम्ब की पेन्शनें तथा प्रावीडेन्ट फन्ड पूँजी गत हो चुके हैं, रेलवे की वार्षिक वृत्तियाँ भी पूँजीगत हो चुकी हैं। युद्ध के दिनों में भारत ने अपना सारा ऋण चुका दिया, और भारत लगभग १०,००० लाख पौंड का इंगलैंड से लेनदार हो गया। युद्ध के बाद के वर्षों में और विशेष कर देश के विभाजन के बाद हमारा व्यापारिक सन्तुलन हमारे पक्ष में नहीं रह गया है। इस सन्तुलन के बिगड़ जाने के कई कारण हैं इन पर हम आगे विचार करेंगे।

ऊपर 'होम चार्जेज' के विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन खर्चों को आर्थिक शोषण का साधन कहना न्याय संगत नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि इन खर्चों की व्यवस्था में कुछ दोष अवश्य थे और यदि उन्हें दूर करने की ओर ध्यान दिया जाता तो वे आसानी से दूर हो सकते थे।

भारत का व्यापारिक सन्तुलन विपक्ष में क्यों?—हम ऊपर कह चुके हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व तथा युद्ध के समय में हमारा व्यापारिक सन्तुलन हमारे पक्ष में ही रहा। युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार में एक आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हुआ। युद्ध के बाद में होने वाले दो महत्वपूर्ण परिवर्त्तन एक तो अगस्त सन् १९४७ में देश का दो भागों में विभाजन तथा सितम्बर १९४९ में होने वाला मुद्रावमूल्यन ने देश के व्यापार पर अपना गहरा प्रभाव डाला। हम यहाँ पर व्यापारिक सन्तुलन के विपक्ष में हो जाने के कारणों पर विचार करेंगे:—

(१) देश के दो भागों में विभाजित हो जाने से, पाकिस्तान का निर्माण हो जाने से हमारे व्यापारिक सन्तुलन को एक गहरा धक्का लगा। जून १९४८ तक पाकिस्तान के समझौते (Stand

Still Agreement) के कारण इंगलैंड में पड़े हुये अपने पौंड पावने का हम पूर्णरूप से उपयोग नहीं कर सकते थे। इसके बाद के आने वाले साल में हमने अपनी इस रकम को बुरी तरह खर्च किया और उसकी अच्छी तरह पूर्ति न कर सके। इसका मुख्य कारण यह था कि हम जिस मात्रा में युद्ध के पूर्व कच्चा माल जैसे जूट, कपास, खाल व चमड़े आदि का निर्यात करते थे न कर सके। कपास आदि तो हमें ही पाकिस्तान तथा सूडान व मिश्र आदि से मंगानी पड़ती थी क्योंकि भारत में स्थित मिलों के लिये इनकी काफी आवश्यकता थी। सितम्बर १९४९ में जब मुद्रा का अवमूल्यन हो गया तो पाकिस्तान के साथ होने वाला हमारा व्यापार ठप हो गया। पाकिस्तान ने भारत के तैयार माल का बहिष्कार किया और भारतीय माल पर भारी कर लगा दिया। यही नहीं उसने उस कच्चे जट को जिसे कि भारत ने ही खरीद लिया था और उसकी रकम चुका दी थी, देने से इन्कार कर दिया। फिर पाकिस्तान ने तो अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था, इसलिये भारत को उसका माल काफी मंहगा पड़ता था। इसी कारण से भारत से पाकिस्तान को निर्यात होने वाले माल पर अपने करों में वृद्धि करनी पड़ी। भारत सरकार ने इसलिये पाकिस्तान के होने वाले निर्यात पर नियंत्रण भी लगा दिया। इन सब बातों के परिणामस्वरूप भारत को पाकिस्तान व संसार के अन्य देशों के साथ होने वाले व्यापार में काफी घाटा उठाना पड़ा।

(२) जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि युद्ध के समय में भारत का निर्यात, आयात से अधिक था। व्यापार के इस अन्तर की पूर्ति इंगलैंड भारत को स्टार्लिंग में देता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जितना सामान नहीं था उससे अधिक मुद्रा का प्रसार हुआ। इस प्रकार जहाँ तक खरीद का प्रश्न था भारत की स्थिति बुरी हो गई, वह केवल एक अच्छा विक्रय करने वाला देश रह गया।

(३) देश में मुद्रा के अधिक प्रसार हो जाने के कारण, आय में काफी वृद्धि हो जाने के कारण बाहर से मंगाये जाने वाले माल में तो वृद्धि हुई ही साथ ही देश में बनने वाले माल की भी मांग बढ़ी। इनमें बहुत सी ऐसी वस्तुएँ थीं जिनका पहले काफी बड़ी मात्रा में निर्यात होता था, अब इनका भी निर्यात कम हो गया। इनकी खपत देश में ही काफी हो जाती थी, विदेशों को भेजने के लिये बहुत कम बचती थी। ऐसी वस्तुओं में कच्चा लोहा, कपास, तथा तिलहन मुख्य हैं।

(४) युद्ध के बाद देश की खाद्य स्थिति बड़ी गम्भीर हो गई। चावल भेजने वाला वह विशाल प्रदेश बर्मा पहले से ही भारत का अंग न रह गया था। पाकिस्तान के बन जाने से पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध जैसे गेहूँ वाले क्षेत्रों के चले जाने से हमारे खाद्यान्न में जो बचत होती थी, वह भी समाप्त हो गई। उधर देश की जनसंख्या भी जोरों से (४० लाख सालाना के हिसाब से) बढ़ रही है। फिर कुछ प्राकृतिक प्रकोपों से भी फसलें अच्छी न हुईं। इन सब कारणों से भारत को विदेशों से बड़े पैमाने में खाद्यान्न मंगाना पड़ा। यह खाद्यान्न धात्विक मुद्रा वाले देशों से जिनके साथ हमारा व्यापारिक सन्तुलन पहले से ही ठीक नहीं है और भी आया। हमारी खाद्य सम्बन्धी स्थिति अब भी पूर्ण रूप से सुधरी नहीं है और हम अब भी विदेशों से खाद्यान्न मंगा रहे हैं।

(५) भारत में मुद्रा-प्रसार के कारण यहाँ उत्पादन का व्यय भी अधिक पड़ता था। यदि भारत में श्रमिकों के पारिश्रमिक में अधिक वृद्धि न हुई होती तो यहाँ उत्पादन भी इससे अधिक होता, और निर्यात में भी वृद्धि होती। इधर मजदूरों के पारिश्रमिक में तो १९३९ की तुलना में ४०० गुना की वृद्धि हुई, किन्तु उनकी कुशलता में बजाय वृद्धि होने के ह्रास ही हुआ।

यह सन्तुलन ठीक कैसे हो ?—भारत के व्यापार का सन्तुलन धात्विक मुद्रा वाले देशों के साथ तो असन्तुलित है ही साथ ही कागजी मुद्रा वाले (स्टर्लिंग) देशों के साथ होने वाला व्यापार भी उसके पक्ष में नहीं है। पाकिस्तान के भारत के व्यापारिक सम्बन्धों में तनातनी होने से

स्थिति और चिन्ताजनक हो गई है। अब लोगों का ध्यान इस ओर काफी आकर्षित हो गया है, लोग भारत के व्यापार-सन्तुलन को ठीक करने के लिए प्रयत्नशील हैं। कुछ लोग इस सम्बन्ध में यह कहते हैं कि इस सन्तुलन को ठीक करने के लिए यह आवश्यक है कि कम से कम आयात और अधिक से अधिक निर्यात की नीति का अनुसरण किया जाय। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिक निर्यात का तात्पर्य अधिक उत्पादन करना है और अधिक उत्पादन तब तक सम्भव नहीं है जब तक हमारे पास पर्याप्त मशीनें नहीं होतीं। इन मशीनों का निर्माण अभी भारत में तो हो नहीं सकता इन्हें हमें विदेशों से ही मंगाना पड़ेगा। इसलिये 'कम आयात' वाले सिद्धांत का हम पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकते।

व्यापारिक सन्तुलन ठीक करने के लिये हमें एक अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन योजना के निर्माण की आवश्यकता है साथ ही आवश्यकता है सरकार को जनता के सहयोग की। स्वतन्त्र भारत की सरकार इस दिशा में कुछ प्रयत्न कर रही है। उसने कई योजनाओं का निर्माण किया है। इनमें से कुछ योजनायें तो कार्यान्वित की जा रही हैं और कुछ विचाराधीन हैं। हम यहाँ पर सरकार के इन्हीं कुछ प्रयत्नों पर विचार करेंगे।

निर्यात-व्यापार के विकास के प्रयत्न—सन् १९४९ की जौलाई में भारत सरकार ने गोरवाला-निर्यात समिति (Gorwala Export Promotion Committee) की नियुक्ति की थी। इस समिति ने निर्यात व्यापार के विकास के लिए अपने सुझाव भारत-सरकार के सन्मुख उपस्थित किये। भारत सरकार ने समिति के सुझावों को स्वीकार कर लिया है। हम यहाँ पर इनमें से कुछ सुझावों का संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

(क) तैयार माल तथा अन्य माल पर निर्यात सम्बन्धी नियन्त्रण को कुछ ढीला किया जायगा तथा लाइसेन्स प्राप्त करने में कुछ सुविधा दी जायगी। किसी भी निश्चित कोटा के माल का तब तक स्वतन्त्रतापूर्वक निर्यात किया जायगा जब तक कि वह कोटा समाप्त नहीं हो जाता।

(ख) निर्यात किए जानेवाले सामान के बनाने के लिए नियन्त्रित मूल्य पर कच्चा माल दिया जायगा। साथ ही उसके निर्यात के लिए पैकिंग तथा यातायात सम्बन्धी अन्य सुविधायें प्रदान की जायेंगी।

(ग) इस बात का भी ध्यान दिया जायगा कि विदेशों में भारत के माल के निर्यात के सम्बन्ध में कोई शिकायत तो नहीं है, खरीददार को किसी प्रकार की आपत्ति तो नहीं है, यदि है तो उसके दूर करने का यथाशीघ्र प्रयत्न किया जायगा।

(घ) जूट के माल के सम्बन्ध में होनेवाले सट्टे को बन्द कर दिया गया है अन्य वस्तुओं के होनेवाले सट्टे को भी बन्द करने का प्रयत्न किया जायगा।

(च) यदि आवश्यकता हुई तो सरकार निर्यात कर में कुछ परिवर्त्तन करेगी।

इन सुझावों के मानने के अतिरिक्त सरकार ने निर्यात सलाहकार परिषद (Export Advisory Council) की नियुक्ति की है। इस परिषद का कार्य सरकार को निर्यात सम्बन्धी मामलों में सलाह देना है। सरकार हर छै महीने के बाद निर्यात-नीति में आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन करती रहती है। समय के अनुसार वह निर्यात के लिए आज्ञा देती या मना कर देती है। सरकार ने कच्चे माल के निर्यात पर भी रुकावट लगा दी है जिससे इस माल का देश में ही उपयोग किया जा सके।

उपरोक्त उपायों के अलावा भारत सरकार ने भारत के भावी व्यापार की गतिविधि को निश्चित करने के लिए एक कार्यक्रम बनाया है। इस कार्यक्रम की कुछ मुख्य बातें ये हैं :—

(अ) साख सम्बन्धी सुविधाओं को नियन्त्रित कर तथा कानून व अन्य उपायों द्वारा सट्टे वाली कीमतों को रोकना ।

(ब) धात्विक मुद्रा वाले क्षेत्रों को निर्यात किये जाने वाले माल पर बिना किसी भेदभाव के आयात-निर्यात कर लगाना जिससे हम अधिकतम विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकें ।

(स) राज्यों की सरकारों के सहयोग से उपभोग की आवश्यक वस्तुओं के फुटकर बिक्री के मूल्य में १० प्रतिशत की कमी करना । इन वस्तुओं में बना माल तो शामिल है ही साथ ही खाद्यान्न भी सम्मिलित है ।

(द) विदेशों से आने वाले हमारे देश के उद्योग-धन्धों में लगने वाले कच्चे माल के मूल्य में कम करने के प्रयत्न करना ।

(२) **उत्पादन में वृद्धि**—इधर सरकार देश में उत्पादन में भी वृद्धि करने का प्रयत्न कर रही है, क्योंकि जब तक देश में मांग के अनुसार हम उत्पादन में वृद्धि नहीं करते तब तक चाहे हम विदेशी व्यापार में नियंत्रण करें या और कुछ उपाय, उससे हमें कोई विशेष लाभ नहीं मिलने का । हम अपना व्यापारिक सन्तुलन तभी ठीक कर सकते हैं जब कि हम अपने देश के उत्पादन में वृद्धि करने में समर्थ हो सकेंगे । सरकार उत्पादन में वृद्धि करने के लिए कई बहु उद्देश्य वाली योजनाएँ कार्यान्वित कर रही है । अपने खाद्योत्पादन में आत्मनिर्भर होने के लिए वह अनेक प्रयत्न कर रही है । पाकिस्तान से जूट व कपास अधिक न मंगाया जाय इस उद्देश्य से देश में इन दोनों पदार्थों के भी उत्पादन में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जा रहा है । उधर दूसरी ओर चाय, मैंगनीज, छोटे रेशेवाली कपास, लाख अभ्रक आदि के अधिक निर्यात करने की ओर भी प्रयत्न किया जा रहा है ।

(३) **आयात पर नियत्रण**—हम पीछे कह चुके हैं कि भारत सरकार प्रति छै मास पर विदेशी व्यापार सम्बन्धी स्थिति पर विचार करती है और अगले डेढ़ वर्षों के लिए होने वाले व्यापार की गतिविधि निश्चित करती है । ऐसा करने में वह यह ध्यान रखती है कि हमारे विदेशी साधन आवश्यकता से अधिक न नष्ट हो जायँ । आयात-व्यापार के नियन्त्रण को कार्यान्वित करने के लिए 'आयात सलाहकार परिषद्' सरकार को सहायता प्रदान करती है । इस प्रकार के नियन्त्रण को सुव्यवस्थित करने के लिए माल को कई श्रेणियों में विभाजित कर दिया जाता है । पहली श्रेणी कागजी मुद्रावाले देशों से आने वाले माल की होती है, यह माल खुले हुए साधारण लाइसेन्स के अन्तर्गत आता है, दूसरे प्रकार की श्रेणी डालर वाले प्रदेशों से आनेवाले माल की होती है, तीसरी श्रेणी में आने वाले माल के लिए किसी लाइसेन्स के प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, चौथी श्रेणी के अन्तर्गत आनेवाले माल के आयात पर कुछ नियन्त्रण रहता है । इस माल के आयात की कुछ निश्चित सीमाएँ रहती हैं । भारत सरकार ने डालरों की रक्षा के हेतु धात्विक मुद्रा तथा डालर वाले क्षेत्रों के आयात को निरोधित कर दिया है । इस प्रकार का नियंत्रण स्टर्लिंग वाले देशों से होने वाले आयात पर भी लगा दिया गया है ।

मुद्रा अवमूल्यन (Devaluation)—इधर सरकार देश के विदेशी व्यापार को ठीक करने की कोशिश कर रही थी, उधर इन प्रयत्नों के बावजूद भी व्यापारिक सन्तुलन ठीक नहीं हो रहा था । उसका यह व्यापारिक सन्तुलन न तो डालर वाले देशों के साथ ठीक था और न स्टर्लिंग वाले देशों के ही साथ । इसी समय इंगलैन्ड की सरकार ने अपनी व्यापारिक स्थिति ठीक करने के लिए अपने सिक्के में ३०.५ प्रतिशत के हिसाब से कमी करके मुद्रा का पुनः मूल्य निर्धारण कर दिया, भारत तथा अन्य स्टर्लिंग वाले देशों ने भी (पाकिस्तान को छोड़कर) इसका अनुसरण किया । नीचे दी हुई तालिका से हमें इस स्थिति का और पता चल जायगा । इससे हमें पता चलता है कि अक्तूबर

सन् १६४६ के पूर्व हमारा व्यापार कितना असन्तुलित था और इसके बाद से यह सन्तुलन किस प्रकार हमारे पक्ष में रहने लगा :—

व्यापारिक सन्तुलन (करोड़ रुपयों में)

	निर्यात	आयात	सन्तुलन	
सन् १६४६ जुलाई	२६	५७	—२८	अवमूल्यन के समय में
अगस्त	३४	५१	—१७	
सितम्बर	३४	३६	— ५	
अक्टूबर	३५	५६	—२४	
सन् १६५० जनवरी	४७	३७	+१०	अवमूल्यन के बाद
फरवरी	४५	२६	+१६	
मार्च	४५	३३	+१२	

उपरोक्त तालिका के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवमूल्यन के बाद से हमारा व्यापारिक सन्तुलन हमारे पक्ष में रहने लगा है परन्तु इस सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते कि इस सन्तुलन के ठीक होने का सारा कारण अवमूल्यन ही है। यह बात किसी सीमा तक ठीक हो सकती है परन्तु इसका हमें ठीक-ठीक पता पूरे वर्ष के व्यापार को ही देखने से चलेगा।

राज्य और व्यापार—भारत से माल का निर्यात करने वाले बहुत से ऐसे व्यापारी हैं जो निर्यात करने वाले माल में अनेक प्रकार की बेईमानी करते हैं, इसका प्रभाव माल लेने वाले देशों पर बहुत बुरा पड़ता है। भारत सरकार को विदेशों में होने वाली इस बदनामी का कई बार पता चल चुका है। सरकार ने इस बेईमानी को रोकने के लिये विदेशी व्यापार में कुछ हस्तक्षेप करना आवश्यक समझा। राज्य के व्यापार में हस्तक्षेप करने की यह बात कोई नई बात नहीं है, संकट के समय में बहुत से ऐसे देश हैं जो इसमें हस्तक्षेप करते हैं। हाँ तो सरकार ने देश के विदेशी व्यापार के इस क्षेत्र को दूर करने के लिये ग्रेडिंग तथा मार्किंग, व भेजे जाने वाले माल की किस्म को अच्छा करने की ओर ध्यान दिया। उसने 'देशमुख-समिति' की नियुक्ति की जिससे कि वह राज्य के व्यापार पर अपने सुझाव उपस्थित कर सके। समिति ने १६५० की जुलाई में अपने सुझाव पेश किये। समिति ने यह सुझाव रखा कि विदेशी व्यापार के लिए एक अर्द्ध सरकारी संस्था की स्थापना की जाय जिसमें कि प्रारम्भ में पहले दो करोड़ रुपये की पूँजी लगाई जाय और फिर धीरे-धीरे इस पूँजी को बढ़ाकर दस करोड़ तक किया जाय। समिति ने यह सुझाव रखा कि यह संस्था भारत के खाद्यान्न, कोयला, कपास, फौलाद, बाँस तथा कुटीर उद्योगों के उत्पादन का विदेशी व्यापार करे। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि समिति ने यह सुझाव रखा है कि भारत के जहाजी व्यापार, बैंकिंग तथा बीमा आदि का धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण किया जाय। कुछ लोगों का विचार है कि भारत सरकार बहु-उद्देश्य-वाली ग्रामीण सहकारी समितियों के खोलने की ओर ध्यान दे रही है। समिति ने यह सुझाव रखा है कि इसका ५१ प्रतिशत हिस्सा केन्द्रीय सरकार का रहे शेष राज्यों की सरकारों का व व्यक्तिगत लोगों का। इस प्रकार सरकार धीरे-धीरे व्यापार के राष्ट्रीयकरण की ओर बढ़ रही है परन्तु अभी जनमत इस पक्ष में नहीं है। जनता का ऐसा विचार है कि सरकार को इस दिशा में बहुत हस्तक्षेप न करना चाहिए, उसे वही करना चाहिये जो कि वह कर सके।

बन्दरगाहों का पारस्परिक व्यापार (The Enterpot Trade of India)—किसी देश के बन्दरगाहों के पारस्परिक व्यापार में उन वस्तुओं का पुनर्निर्यात सम्मिलित होता है जिनका कि पहले आयात हो चुका है, वास्तव में ऐसा देश एक अच्छा वितरण केन्द्र होता है। बहुत प्राचीन काल से भारत का इस व्यापार में काफी हिस्सा रहा है। पूर्वी गोलार्द्ध के मध्य में स्थित होने

के कारण सुदूर पूर्व तथा पश्चिम में होने वाले व्यापार का एक सुविधापूर्वक रुकने वाला केन्द्र रहा है। चीन, सुदूरपूर्व व लंका से यूरोप जाने वाला माल यहीं पर रुकता था। यूरोप से आनेवाले माल का भी वितरण भारतीय बन्दरगाहों से ही होता है। तिब्बत, नैपाल, अफगानिस्तान ऐसे देश हैं जो समुद्र से दूर हैं। इन देशों में होने वाला निर्यात या आयात भारत से ही होकर गुजरता है। इन देशों का ऊन व खाल भारत में आता है और फिर यहाँ से ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका भेजा जाता है।

सन् १९२३-२४ तक भारत के पुनर्निर्यात व्यापार में बराबर वृद्धि होती रही, १९३३-३४ में इस व्यापार में एकदम से गिराव हो गया। इसके बाद धीरे-धीरे इसमें फिर वृद्धि होने लगी। यहां पर हम पिछले कुछ वर्षों के पुनर्निर्यात व्यापार के आंकड़े दे रहे हैं। इससे पुनर्निर्यात व्यापार के परिमाण का कुछ पता चल जायगा :—

पुनर्निर्यात

१९२०-२१	१८ करोड़ रु०
१९३१-३२	३ ,, ,,
१९३९-४०	१० ,, ,,
१९४२-४३	७ ,, ,,
१९४४-४५	१७ ,, ,,
१९४५-४६	२६ ,, ,,
१९४६-४७	२३ ,, ,,

भारत के पुनर्निर्यात व्यापार का भविष्य बहुत उज्वल नहीं दिखलाई पड़ता क्योंकि अब प्रत्येक देश अपना सीधा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने की ओर झुका हुआ है, केवल वे ही देश जो भारत के सीमान्त प्रदेशों के पार हैं, और समुद्र से दूर हैं भारत द्वारा अपना आयात तथा निर्यात करेंगे। हां भारत किसी सीमा तक उन एशियाई देशों के लिये जो समुद्र तट से दूर हैं वितरण-केन्द्र का कार्य करता रहेगा किन्तु अन्य देशों के साथ उसका यह व्यापार उतना नहीं रहेगा जितना कि पहले था।

अभी थोड़े दिन हुए, हिन्द-अफगानिस्तान व्यापारिक सन्धि पर हस्ताक्षर किए गए हैं। इस सन्धि के अनुसार इन दोनों देशों की मुख्य पैदावार का अच्छा आदान-प्रदान हो सकेगा। अफगानिस्तान समुद्र तट से दूर है, उसको इसके लिए भारत का सहारा लेना पड़ता है। हम यहां पर हिन्द-अफगानिस्तान के इस व्यापार के सम्बन्ध में कुछ आंकड़े दे रहे हैं, इनसे इन दोनों देशों के व्यापार पर कुछ प्रकाश पड़ेगा :—

सन् १९००-१९०५ तक (सालाना औसत)	१,३० लाख रु०
१९३७-३८	५,८७ ,, ,,
१९४१-४२	६,५२ ,, ,,

युद्ध के वर्षों में जब जापान में युद्ध घोषित कर दिया गया तो भारत अफगानिस्तान को उतना माल न भेज सका जितना जापान भेजता था। इतना होने पर भी भारत का अफगानिस्तान को होने वाले निर्यात में वृद्धि ही हुई। अफगानिस्तान से भारत में फल, मेवे, सब्जियां तथा ऊन आदि का आयात होता है। इसके बदले में वह कपास, चाय, चमड़े का सामान, रबर का सामान, शकर, रेशम तथा वैज्ञानिक यंत्रों का निर्यात करता है। भविष्य में भारत तथा अफगानिस्तान के व्यापार में और वृद्धि होने की आशा है।

जैसा कि पहले कई बार कहा जा चुका है कि भारत पाकिस्तान को भी काफी मात्रा में बने माल का निर्यात कर रहा है और उसके बदले में जूट, कपास, नमक व गेहूँ का आयात कर रहा है। भारत तथा पाकिस्तान इन दोनों देशों में चुङ्गी घर (Customs post) स्थापित कर दिए गए हैं परन्तु अभी तक इन दोनों देशों के स्थलीय व्यापार के आंकड़े प्राप्त नहीं हुए हैं, इसलिए अभी हम इस दिशा में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। कहना न होगा हमारे स्थल सीमान्त व्यापार का भविष्य हमारे सम्पूर्ण व्यापार के भविष्य से सम्बद्ध है। भारत को अपने माल की बिक्री के लिए अच्छे बाजारों की आवश्यकता है। इसलिये यदि पाकिस्तान से उसका अच्छा सम्बन्ध रहा तो उसका परिणाम अच्छा ही होगा, एक देश दूसरे देश से अच्छा लाभ उठा सकेंगे। इसके अतिरिक्त भारत को अन्य पड़ोसी राज्यों के साथ भी अपने सम्बन्ध को अच्छा बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारत के विदेशी व्यापार की गतिविधि—हम पीछे देख चुके हैं कि सन् १९४९ में भारत का व्यापारिक सन्तुलन ठीक नहीं रहा। सन्तुलन को ठीक करने के लिए भारत ने स्टर्लिंग के अवमूल्यन के पश्चात् अपनी मुद्रा का भी अवमूल्यन कर दिया। इससे धीरे-धीरे हमारा व्यापारिक सन्तुलन ठीक होने लगा। सन् १९५० के पूर्वार्द्ध में हमारे निर्यात में वृद्धि तथा आयात में ह्रास हुआ। व्यापार में इस परिवर्तन के होने का कारण केवल मुद्रा-अवमूल्यन ही नहीं था। आयात के नियंत्रण तथा निर्यात को विशेष प्रोत्साहन देने से भी हमारे विदेशी व्यापार की स्थिति में सुधार हुआ। वास्तव में हमें अपने विदेशी व्यापार को सुधारने के लिए कई बातों की ओर ध्यान देना होगा। देश के अन्दर होने वाली वस्तुओं के मूल्य में इस प्रकार की वृद्धि को भी ठीक करना होगा। इसके अतिरिक्त हमें अपने औद्योगिक विकास के लिए भी पूर्ण प्रयत्न करना होगा। इन सब बातों की ओर उचित रूप से ध्यान देने में हम अपनी विदेशी व्यापार सम्बन्धी स्थिति को ठीक करने में सफल हो सकेंगे।

भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति ठीक करने के लिए हम दो नीतियों को अपना कर आगे कदम बढ़ा सकते हैं—(१) अल्पकालीन नीति तथा (२) दीर्घकालीन नीति। हम यहां पर इन दोनों पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे।

अल्पकालीन व्यापारिक नीति (Short term Policy)—भारत की अल्पकालीन व्यापारिक नीति का उद्देश्य व्यापारिक सन्तुलन को सन्तुलित रखना, आवश्यक आयात के मूल्य के भुगतान के लिए पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय प्राप्त करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें अपने कृषि तथा औद्योगिक साधनों के विकास का प्रयत्न करना होगा। देश के उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं के निर्माण के अतिरिक्त नवीन वस्तुओं के निर्माण की ओर भी ध्यान देना होगा। भुगतान के सन्तुलन को ठीक रखने की ओर भी हमें सतर्क रहना होगा, इस समस्या का अध्ययन मांग तथा पूर्ति इन दोनों पहलुओं को ध्यान में रखकर करना होगा। इस दिशा में वित्तीय आयोग (Fiscal Commission) के सुझाव अनुकरणीय हैं। इस आयोग ने निम्नलिखित सुझाव पेश किए थे :—

(१) विनिमय के दर की उचित व्यवस्था।
(२) उत्पादन की उचित व्यवस्था।
(३) भारत तथा अन्य देशों के व्यापारिक सम्बन्ध की उचित व्यवस्था।
(४) देश के आन्तरिक आर्थिक स्थिरता की व्यवस्था।

भारत के व्यापारिक सन्तुलन को ठीक रखने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा स्फीत को रोकने का प्रयत्न किया जाय। इसके अतिरिक्त मुद्रा अवमूल्यन की ओर भी हमें उचित ध्यान देना

होगा परन्तु जब तक अन्य आर्थिक नियंत्रण नहीं लगाये जाते तब तक इससे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। यही बात अन्य देशों के साथ होने वाले व्यापारिक सम्बन्ध के विषय में भी कहीं जा सकती है, इस प्रकार के समझौतों से भी हम अपने व्यापारिक सन्तुलन को ठीक नहीं कर सकते, परन्तु इससे इतना अवश्य लाभ होगा कि भारत तथा अन्य देशों में अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध रहेगा। इस प्रकार इस अल्पकालीन योजना के अनुसार हम भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति को सुधारने में सफल हो सकेंगे।

दीर्घकालीन नीति (Long Term Policy)—दीर्घकालीन व्यापारिक नीति के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं :—

(१) जो कार्य अल्पकालीन नीति के अनुसार हुआ है, और उससे देश को जितना लाभ हुआ है कृषि तथा उद्योग-धन्धों में जितनी उन्नति हुई है, उसको और सुदृढ़ बनाना।

(२) ऐसे आयात-व्यापार को प्रोत्साहित करना जिससे भारत अपनी कृषि, अपने विशाल तथा कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास कर सके।

(३) भारत के ऐसे निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देना जिससे भारत अपने उस निर्यात में विशेषता प्राप्त कर सके जिसमें कि उसे कुछ विशेष सुविधाएँ हैं तथा जिससे वह अपना निर्यात उन स्थानों में व उन बाजारों में कर सके जिनमें कि वह अन्य देशों से अच्छी तरह मुकाबला ले सके। इसके अतिरिक्त ऐसे निर्यात-व्यापार को प्रोत्साहन देना चाहिये जिससे उसे इतनी अच्छी आय हो कि वह अपने आवश्यक आयात के मूल्य का भुगतान कर सके।

भारत के इस विदेशी व्यापार की दीर्घकालीन नीति का पालन धीरे-धीरे होता जायगा। ज्यों-ज्यों भारत अपना औद्योगिक विकास करता जायगा त्यों-त्यों इस दिशा में भी वृद्धि होती जायगी। इस नीति को कार्यरूप में परिणत करने के लिये हमें सबसे पहले भारत की कृषि, जल-विद्युत, सिंचाई आदि के कार्यों में लगने वाली मशीनों तथा अन्य बड़े व महत्वपूर्ण उद्योग-धन्धों में लगने वाली मशीनों के आयात का प्रयत्न किया जायगा। इसके बाद जब विदेशों से जरूरी मशीनें भारत में आ चुकेंगी और राष्ट्र की आय में वृद्धि होने लगेगी उस समय देश में उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में और वृद्धि की जायगी और विदेशों से भी इन वस्तुओं के आयात में काफी वृद्धि की जायगी। इससे ऐसा समय आ जायगा जब कि हमारे देश के बड़े-बड़े उद्योग और उन्नति कर जायँगे, हमारा आयात-व्यापार गिर जायगा तथा भारत के निर्यात-व्यापार के लिये हमें नए बाजार ढूँढ़ने पड़ेंगे। इस समय हमें केवल मुख्य-मुख्य वस्तुओं का ही आयात करना पड़ेगा, अन्य वस्तुओं का आयात कम हो जायगा।

इस प्रकार हमने देखा कि भारत के विदेशी व्यापार के विकास के लिये एक दीर्घ तथा अल्पकालीन योजना की आवश्यकता है। उपरोक्त बातों के अनुकरण से भारत इस दिशा में अपनी अच्छी उन्नति कर लेगा। अपनी व्यापारिक स्थिति के विकास के लिये उसे जापान से शिक्षा लेनी चाहिये और अपने छोटे तथा बड़े पैमाने वाले उद्योगों के विकास के लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये, उसे अपना यह औद्योगीकरण बहुत सोच-समझ कर करना चाहिये। इसके लिये उसे अपने आयात तथा निर्यात व्यापार सम्बन्धी सभी समस्याओं को सावधानी से समझ कर आगे बढ़ना होगा। कहना न होगा कि यदि भारत इस दिशा में सावधानी से कार्य करता जायगा तो उसका स्थान संसार के अच्छे व्यापारिक देशों के साथ गिना जाने लगेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ व भारत—द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होने पर संसार के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों व अर्थशास्त्र के विद्वानों को यह अनुभव होने लगा कि जब तक समस्त संसार में स्थिरता तथा सुसम्पन्नता की स्थिति नहीं स्थापित की जाती तब तक संसार के विभिन्न राष्ट्रों में न तो

मैत्रीपूर्ण भावना ही आ सकती है और न विश्व में शान्ति ही स्थापित हो सकती है। इस प्रकार विश्व-शान्ति की भावना को सफल बनाने के हेतु व्यापार आदि में भी सहकारिता की भावना का होना आवश्यक समझा गया। अतएव सन् १९४६ की फरवरी में संयुक्त राष्ट्र सङ्घ ने एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा रोजगार सम्मेलन के बुलाने का प्रस्ताव स्वीकृत किया। सम्मेलन का उद्देश्य जैसा कि प्रस्ताव में कहा गया यह था कि समस्त संसार में उत्पादन की वृद्धि, समस्त संसार में विनिमय तथा उपभोग का विकास और इस प्रकार एक सन्तुलित तथा विस्तृत आर्थिक जीवन का निर्माण करना था। सम्मेलन की बैठक २७ नवम्बर १९४७ को हवाना में हुई और चार मास तक विचार विमर्श करने के पश्चात् सम्मेलन ने एक अधिकार-पत्र तैयार किया, यह अधिकार-पत्र 'हवाना चार्टर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अधिकार-पत्र के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संघ की स्थापना की व्यवस्था की गई। इस व्यापार-सङ्घ का उद्देश्य इसके सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग से संसार में एक सन्तुलित आर्थिक विकास करना था। इस चार्टर पर २४ मार्च १९४८ को संसार के ५४ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये थे।

इस चार्टर के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) उत्पादन, मांग, उपभोग तथा आय की वृद्धि व वस्तुओं के विनिमय का प्रयत्न करना;

(२) संसार के सब और विशेषकर उन देशों का आर्थिक विकास करना जो अभी औद्योगिक उन्नति की प्रारम्भिक अवस्था में है;

(३) सभी देशों को उत्पादन तथा बिक्री आदि की समान सुविधाएँ देना;

(४) व्यापार में बाधा डालने वाली बातें जैसे आयात-निर्यात कर आदि इनको दूर करना तथा व्यापारिक क्षेत्र में भेदभाव की नीति को दूर रखना ;

(५) ऐसी बातें जिनसे संसार के व्यापार में बाधा खड़ी होती है उनका रोकना तथा विभिन्न देशों को अपने आर्थिक विकास के लिये प्रोत्साहित करना;

(६) संसार के आर्थिक विकास, रोजगार दिलाने, बेकारी को दूर करने तथा व्यापार सम्बंधी अन्य बातों के निश्चय आदि करने में पारस्परिक सहयोग व विचार विमर्श से सुविधाजनक बनाना।

इन उद्देश्यों में अन्तर्निहित मूल भावना व्यांवसायिक क्षेत्र के एक अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की स्थापना करना है जिनसे विश्व-व्यापार के पथ में आने वाली बाधाओं का अवरोध हो सके तथा संसार अपना आर्थिक उत्थान करने में समर्थ हो सके।

संयुक्त राष्ट्र के इस सम्मेलन के सदस्य तथा इस चार्टर पर हस्ताक्षर करने के नाते भारत के सामने भी यह प्रश्न है कि क्या वह इस चार्टर की सारी बातों को मान ले और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ का पूर्ण सदस्य बने या उसकी कुछ बातों को हटा दे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ (International Trade Organization) के सदस्य होने के रूप में भारत को विदेशों से आने वाली वस्तुओं के आयात में नियंत्रण करने में कुछ बाधा खड़ी होगी। यदि भारत ऐसा न कर पायेगा तो उसके प्राचीन उद्योगों के विकास में काफी रुकावट खड़ी होगी। इसके विपरीत यदि भारत इस व्यापार-संघ (I. T. O.) का पूर्ण सदस्य रहता है तो उसे भी अन्य पिछड़े हुए देशों की भांति संघ द्वारा आर्थिक विकास व औद्योगिक उन्नति में सहायता मिलेगी। परन्तु इस सम्बन्ध में यह कह देना अनुचित न होगा कि इस प्रकार के पिछड़े हुये देशों के आर्थिक विकास के लिए निकट भविष्य में कोई क्रियात्मक कदम उठाया जायगा, ठोस कार्य किया जायगा, ऐसा होना असम्भव ही दिखलाई पड़ता है क्योंकि इस चार्टर में जिस बात पर सबसे अधिक जोर डाला गया है और वह है विश्व व्यापार में होने वाले प्रतिबन्धों का अन्त। इस प्रकार की

मुक्त व्यापार नीति का परिणाम उन देशों पर बड़ा बुरा पड़ेगा जो अभी आर्थिक व औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं। इसलिए जब तक इन देशों के विकास पर पूर्ण जोर नहीं दिया जाता तब तक यह आशा नहीं की जा सकती कि इस चार्टर के नियमों का सभी देशों द्वारा अक्षरशः पालन होगा। इस प्रकार भारत के लिए भी यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वह इस चार्टर में आवश्यक सुधार कर उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार बनाकर उसका पालन करे।

हवाना चार्टर तथा वित्तीय आयोग—भारत के वित्तीय आयोग (Fiscal Commission) ने हवाना चार्टर पर खूब अच्छी तरह विचार किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब तक वर्त्तमान व्यापारिक सन्तुलन सम्बन्धी कठिनाइयाँ विद्यमान हैं तब तक यह चार्टर भारत सरकार को अपने देश की अपनी स्वतन्त्र व्यावसायिक नीति के पालन में कोई विशेष बाधा नहीं खड़ी करेगा, हाँ बाद में अवश्य भारत अपने राष्ट्र के हित के लिए उपयोगी व्यापारिक नीति का अनुसरण न कर पावेगा।

इस सम्बन्ध में अन्य कई आवश्यक बातों पर विचार करने के पश्चात् आयोग ने यह सुझाव रखा कि भारत को चार्टर में कुछ संशोधन करना चाहिए। इस आयोग की आशा है कि चार्टर में पिछड़े हुए देशों के औद्योगिक विकास के लिए संसार के औद्योगिक क्षेत्र में उन्नत देश, कुछ विशेष सुविधाओं के देने की व्यवस्था कराने का समावेश करेंगे। 'टैरिफ तथा ट्रेड' के समझौते के अनुसार जो सुविधाएँ भारत दूसरे देशों को दे रहा है और जो उसे प्राप्त हैं, इस सम्बंध पर प्रकाश डालते हुए कमीशन ने कहा कि भारत को इस समझौते से कोई विशेष लाभ नहीं प्राप्त हुए हैं। आयोग का ऐसा विचार था कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ (I. T. O.) का पूर्ण रूप से निश्चय नहीं हो जाता तब तक इस समझौते से अलग होने में भारत का कोई विशेष हित नहीं है। आयोग ने भविष्य में होने वाले व्यापारिक समझौतों को करते समय कुछ सिद्धान्तों को ध्यान में रखने का सुझाव रखा। इनमें से मुख्य बातें ये हैं :—

(१) जहाँ तक आयात-निर्यात कर सम्बन्धी सुविधाओं के प्राप्त होने देने का प्रश्न है इस सम्बंध में भारत को उन वस्तुओं के सम्बन्ध में विशेष ध्यान देना चाहिए जिसमें कि अन्य देश भारत का मुकाबला करते हैं, दूसरे ऐसी वस्तुओं की ओर उसे ध्यान देना चाहिए जिन्हें संसार के बाजारों में अन्य देशों द्वारा बनाई गई उसी प्रकार की दूसरी वस्तुओं से मुकाबला लेना पड़ता है।

(२) जहाँ तक आयात-निर्यात कर सम्बन्धी सुविधाओं के प्रदान करने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में भारत को मुख्य रूप से निम्नलिखित वस्तुओं की ओर ध्यान चाहिए :—

विदेशों से आने वाला आवश्यक कच्चा माल, मशीनें तथा अन्य औजार व कुछ बड़ी-बड़ी आवश्यक वस्तुएँ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि उपरोक्त इन दो सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर व्यापारिक समझौते किए जायँगे तो उससे भारत को कभी भी विशेष हानि होने की सम्भावना नहीं है।

इसके अतिरिक्त, आयोग ने और भी कुछ सुझाव रखे जिनके द्वारा कि भारत अपना औद्योगिक विकास कर सके। ये सुझाव निम्नलिखित हैं :—

(१) वे असंगठित कुटीर उद्योग तथा छोटे पैमाने पर किए जाने वाले उद्योग जो कि विशेष कर विदेशी बाजारों पर ही निर्भर रहते हैं, उनकी ओर व्यापारिक समझौता करते समय विशेष ध्यान दिया जाय। विदेशों में स्थित भारत के प्रतिनिधियों का यह मुख्य उद्देश्य होना चाहिए कि वे अपने देश में बने हुए माल को विदेशी बाजारों में प्रतियोगिता से बचाने का तथा आयात-निर्यात कर संबंधी अधिकतम सुविधाओं के प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

(२) 'टैरिफ तथा ट्रेड' के समझौते की मुख्य-मुख्य बातों पर विशेष ध्यान रखे तथा छःमाही व्यापारिक स्थिति के सम्बन्ध में एक छःमाही रिपोर्ट प्रकाशित की जाया करे।

(३) किसी भी नवीन व्यापारिक समझौते को करते समय विभिन्न उद्योगों, व्यापार तथा अन्य धन्धों के प्रतिनिधियों से इस सम्बन्ध में परामर्श लिया जाय कि भारत किन-किन व्यापारिक सुविधाओं की माँग करे।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

भारत की अर्थ-नीति

प्राक्कथन—किसी भी देश के औद्योगिक विकास में, उसकी आर्थिक उन्नति में उस देश की सरकार द्वारा अपनाई हुई अर्थनीति का गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार की अर्थनीति का अनुकरण भूतकाल में किया जाता है, उसी के अनुरूप भविष्य के उद्योग-धन्धे विकसित होते हैं। इस प्रकार किसी देश की अर्थ-नीति भी उस देश के आर्थिक विकास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। यदि कोई भी व्यक्ति किसी देश के आर्थिक विकास का सुचारुरूप से अध्ययन करना चाहता है, उस देस की वित्त-व्यवस्था से, उद्योग-धन्धों से भलीभाँति परिचित होना चाहता है तो उसे उस देश की सरकार द्वारा अनुसरित अर्थनीति (Fiscal Policy) का तथा तद्‌जनीन अन्य समस्याओं का अध्ययन करना नितांत आवश्यक हो जाता है।

भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए भी भारत सरकार द्वारा अपनाई हुई अर्थनीति का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अध्ययन से हम अपने भावी आर्थिक विकास की रूपरेखा स्थिर करने में समर्थ हो सकेंगे। आज जब कि संसार के प्रायः सभी देशों का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया है, और ये देश अपनी-अपनी अर्थ-नीति का पुनर्निर्माण कर रहे हैं, इस का अध्ययन करना और भी जरूरी हो जाता है। अभी थोड़े दिनों पूर्व भारत सरकार ने भी एक वित्तीय आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की थी। इस आयोग में छै सदस्य थे, और इसके अध्यक्ष श्री कृष्णनामाचारी थे। इस आयोग ने भविष्य में भारत सरकार द्वारा अपनाई जाने वाली नीति के सम्बन्ध में सुझाव उपस्थित किये हैं। इस सम्बन्ध में हम अगले पृष्ठों में विचार करेंगे, यहाँ पर हम भारत की अर्थनीति पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डालते हैं।

भारत की अर्थ-नीति पर एक दृष्टि—प्राचीन काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत की अर्थ-नीति को निर्देशित करने में बड़ा हाथ रहा। वह यहाँ के उन्हीं उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन प्रदान करती रही जिनके उत्पादन का वह अच्छे पैमाने में निर्यात कर सकती थी। १९वीं शताब्दी में धीरे-धीरे इंगलैण्ड तथा भारत में मुक्त-व्यापार नीति का महत्व बढ़ने लगा, परन्तु इस समय में ईस्ट-इंडिया कम्पनी ने जिस नीति का अनुकरण किया वह भारत के लिए हितकर नहीं थी। मुक्त-व्यापार नीति से भारत को कोई विशेष लाभ नहीं था। इस समय इंगलैण्ड अपना औद्योगिक विकास बड़ी तीव्र गति से कर रहा था। इसके पूर्व कि अन्य देश औद्योगिक विकास की ओर अपना कदम उठावें, इंगलैण्ड इस दिशा में कहीं आगे बढ़ चुका था। इस समय इंगलैण्ड विदेशों से खूब कच्चा माल लेता और इसके बदले में तैयार माल का काफी निर्यात करता। इस प्रकार मुक्त-व्यापार-नीति का उपयोग व महत्व जितना इंगलैण्ड के लिए था उतना अन्य किसी देश के लिए नहीं, यही कारण है कि इस समय इंगलैण्ड के अर्थशास्त्री मुक्त-व्यापार नीति पर बराबर जोर देते रहे और इंगलैण्ड बराबर इस नीति का अनुसरण करता रहा। भारत इंगलैण्ड के अधीन था अतएव इंगलैण्ड के हित को ध्यान में रखकर ही भारत की अर्थ-नीति (Fiscal Policy) का निर्देशन होता था। सन् १९२३ तक भारत मुक्त व्यापार नीति का अनुसरण करता रहा इस काल में विदेशों से आने वाले माल पर जो कुछ भी कर लगाया गया वह केवल राज्य के राजस्व के ही लिए लिया गया। उसके निर्धारित करने में अन्य किसी बात का ध्यान नहीं रखा गया। अन्य आयात कर लगने की बात तो दूर रही इस छोटे से राजस्व कर के लगने पर भी इंगलैण्ड के कितने ही लोगों को

बड़ी आपत्ति होती थी और वे इसका प्रबल विरोध करते थे। इस समय में इंगलैण्ड में जितने भी अर्थ-मन्त्री हुए वे सबके सब मुक्त-व्यापार-नीति के समर्थक थे, वे कहते कि इस प्रकार की नीति के अनुसरण से निर्धन भारतवासियों का बड़ा हित होगा। जब कभी भारत में अर्थाभाव होता और उन्हें आयात-निर्यात कर लगाना होता तो इंगलैण्ड के उत्पादकों के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रगट करते। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले मुक्त-व्यापार-नीति का अनुसरण कर भारत का बराबर अहित किया जाता रहा।

जब प्रथम विश्व युद्ध (१९१४-१८) का प्रारम्भ हुआ तो सरकार को बाध्य होकर टैरिफ में वृद्धि करनी पड़ी। युद्ध के समाप्त होने पर भी इस कर में (टैरिफ में) कमी न की जा सकी, इसका मुख्य कारण यह था कि युद्ध में काफी धन नष्ट हो गया था और सरकार को काफी धन की आवश्यकता थी। १९१४ के युद्ध के समय में इस चुङ्गी या टैरिफ की दर ५ से बढ़कर ७½ प्रतिशत हो गई। १९२१ ई० में भी जब कि भारत का अर्थाभाव दूर नहीं हुआ था इस अभाव की पूर्ति करने के लिए मोटर गाड़ियों, रेशमी कपड़ों आदि पर २० प्रतिशत के हिसाब से एक विशेष कर लगाया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९२३ ई० तक भारत सरकार की अर्थनीति मुक्त-व्यापार नीति पर ही आधारित रही। इस समय में यदि चुंगी की दरों में और वृद्धि की गई तो उसका मुख्य उद्देश्य केवल सरकारी राजस्व सम्बन्धी आवश्यकता की ही पूर्ति करनी थी। नीचे दी हुई तालिका से इस बात पर और प्रकाश पड़ जायगा।

आयात-निर्यात कर से होने वाली आय (१९०९-२२)
(लाख रुपयों में)

वर्ष	आयात कर	निर्यात कर	कुल कर	कुल आय	आय का
१९०९-१४ (औसत)	७,९९	१५,३०	९,२४	६६,७०	१३.९ प्रतिशत
१९१४-१५	८,०७	८३	९,९०	६२,८६	१४.१ ”
१९१९-२०	१५,४३	४,८१	२०,२४	११७,३७	१७.२ ”
१९२०-२१	२३,१५	४,८४	२७,९९	११६,८०	२३.९ ”
१९२१-२२	२७,६४	४,५०	२३,१४	११३,१५	२४.४ ”

भारत में संरक्षण—(Protection in India) ऊपर हमने भारत की अर्थनीति पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए देखा कि परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण भारत की अर्थनीति मुख्यरूप से हमारे अंगरेज शासकों द्वारा ही निर्देशित होती रहती थी और इनका उद्देश्य प्रधानतया इंगलैण्ड का ही हित साधन था। अब हम यहाँ पर संरक्षण-नीति के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डालेंगे। कहना न होगा कि कोई महत्वपूर्ण देश ऐसा नहीं है जिसने अपना औद्योगिक विकास बिना संरक्षण की सहायता से किया हो। चाहे आप इंगलैंड को ले लीजिए या संयुक्त राज्य अमरीका को या जर्मनी को या जापान को। इन सभी देशों ने संरक्षण नीति का अनुकरण करके ही अपना औद्योगिक विकास किया था। इनमें से कुछ देशों के पास तो पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल था, कुछ इस प्रकार के कच्चे माल का आयात करते थे किन्तु इनमें से प्रायः सभी देशों को किसी न किसी सीमा तक अपने विशाल उद्योगों की स्थापना के लिए संरक्षण की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस समय भारत स्वतन्त्र हो चुका है, वह भी अपने उद्योग-धन्धों का विकास कर रहा है, कुछ लोगों का कथन है कि उद्योग-धन्धों के सम्यक विकास के लिए संरक्षण-नीति का अनुसरण काफी उपयोगी है। हम यहाँ पर यह देखेंगे कि संरक्षण कहाँ तक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

संरक्षण के सम्बन्ध में मुख्यरूप से निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए जाते हैं :—

(१) **मूल उद्योगों के लिये संरक्षण**—मूल उद्योगों (Key Industries) का विकास अन्य उद्योगों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु इन उद्योगों का विकास बिना संरक्षण के होना सम्भव नहीं। मूल उद्योगों के ही विकास पर अन्य प्रकार के उद्योग-धन्धों का विकास निर्भर रहता है। बिना मूल उद्योगों के विकास से देश को अपनी आवश्यकता की मशीनों आदि के लिए विदेशों पर निर्भर रहना होगा। विदेशों पर इस कार्य के लिए हमारा निर्भर होना संकट से खाली नहीं है क्योंकि युद्ध आदि के समय में हमें विदेशों से अच्छी सहायता न मिल सकेगी और इसका परिणाम यह होगा कि हमारा सारा औद्योगिक संगठन अस्त-व्यस्त हो जायगा। इसलिए यह आवश्यक है कि अन्य उद्योगों के विकास के पूर्व हम अपने मूल उद्योगों के विकास का पूर्ण प्रयत्न करें। इसके विकास के लिए हम जो कुछ भी कर सकें उसे पूर्णरूप से करने की कोशिश करें। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा में 'संरक्षण' (Protection) भी अच्छी सहायता देगा।

(२) **आत्मनिर्भरता के लिये**—यदि कोई भी देश आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होना चाहता है तो उसे संरक्षण करों (Protective duties) द्वारा अपने विभिन्न प्रकार के उद्योगों की उन्नति करनी चाहिए परन्तु इस प्रकार की नीति का अनुसरण करते समय हमें अपने अन्य देशों के साथ होने वाले आर्थिक व राजनैतिक सम्बन्धों की उपेक्षा न करनी चाहिए। वर्त्तमान समय में जब कि यातायात और/आवागमन के साधनों की दिनोंदिन उन्नति होती जा रही है। इस प्रकार की नीति द्वारा थोड़े ही समय में देश का आत्म निर्भर होना सम्भव नहीं प्रतीत होता और यदि ऐसे समय इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया गया तो इसका प्रभाव देश के आर्थिक साधनों पर अच्छा नहीं पड़ेगा। इसलिए इस प्रकार की व्यवस्था करते समय हमें बड़ी सावधानी से काम लेना होगा।

(३) **नव-उद्योगों के लिये** (For Infant Industries)—जिस प्रकार मनुष्य को अपने शैशव काल में प्रायः सभी प्रकार की सहायता के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, उसी प्रकार उद्योगों को भी अपने प्रारम्भिक काल, अपने शैशव काल में दूसरों की सहायता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। जब तक कोई उद्योग अपना पूर्णरूप से विकास नहीं कर पाता, तब तक उसके लिए संरक्षण की आवश्यकता काफी रहती है। शैशवकाल में उद्योगों को संरक्षण की जितनी आवश्यकता होती है इस सम्बन्ध में कई विद्वानों ने अपने विचार प्रगट किए हैं और ऐसी स्थिति में संरक्षण के महत्व को स्वीकार किया है। जे० एस० मिल, फ्रेडरिक लिस्ट, प्रोफेसर टासिग मार्शल आदि ने इस तर्क का काफी समर्थन किया है।

इस समय भारत अपने औद्योगिक विकास की शैशवावस्था में है, १६वीं शताब्दी के मध्य काल में जो स्थिति अमरीका तथा जर्मनी की थी, आज भारत भी ठीक उसी स्थिति में है। इसलिए इस दृष्टिकोण को किसी सीमा तक माना जा सकता है और भारतीय उद्योगों के प्रारम्भिक जीवन को संरक्षण द्वारा सहायता पहुँचाई जा सकती है। आज भारत के कितने ही उद्योग हैं जो इस अवस्था में है और उनको विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए 'संरक्षण' नितान्त आवश्यक है। यदि ऐसा न किया गया तो इनको अपने सम्यक विकास का अवसर ही न मिल सकेगा। वित्तीय आयोग के सन्मुख भारतीय उद्योगों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हुए लाला हरकिशन लाल ने कहा था कि 'इस बच्चे का पोषण करिये, इस बालक की रक्षा करिए और प्रौढ़ों को इससे मुक्त करिये।' लाला हरकिशन लाल के ये शब्द वास्तव में काफी महत्वपूर्ण हैं, जिनकी ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है, इसकी उपेक्षा करने में हमारा हित नहीं है।

(४) **रक्षा के लिए** (For Defence)—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि आर्थिक क्षेत्र में किसी भी देश का आत्मनिर्भर होना काफी आवश्यक है क्योंकि जो देश अपनी औद्योगिक

आवश्यकता के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहता है वह युद्ध आदि के समय में काफी संकट में पड़ जाता है। युद्ध के प्रारम्भ हो जाने से आपस के राजनैतिक सम्बन्धों के अच्छा न होने से ऐसे देशों को अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ नहीं मिल पातीं, ऐसी स्थिति में या तो उन्हें अपने ही देश में उन वस्तुओं के पर्याप्त मात्रा में निर्माण करने का प्रयत्न करना होता है या वे अन्य उपायों द्वारा अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं। यह बात मूल उद्योगों या खाद्योत्पादन करने वाले उद्योगों के लिए और भी अधिक महत्व की हो जाती है। उदाहरण के लिए गत विश्वयुद्ध के समय के भारत को ही ले लीजिये, उस समय यदि भारत अपने मूल उद्योगों में अच्छी उन्नति किए होता तो उससे वह कहीं अच्छा लाभ उठाता। अपना उचित औद्योगिक विकास न करने के कारण भारत युद्ध से उतना लाभ न उठा सका जितना कि उठाना चाहिए था। इसलिए इस दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि अपनी रक्षा के लिए संरक्षण का होना आवश्यक है। आज जब कि भारत स्वतंत्र है उसकी रक्षा का भार उसके ही ऊपर है ऐसे समय में उसे अपनी रक्षा सम्बन्धी उद्योगों के विकास की ओर यथेष्ट ध्यान देना और इसके लिए संरक्षण का सहारा लेना और भी आवश्यक है।

(५) उद्योगों के विभेद के लिए (Diversification of Industries)—किसी भी देश के निवासियों के लिए शारीरिक, मानसिक आदि सर्वांगीय विकास के लिए विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों का, रोजगारों का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर उसके धन्धे का, उसके रोजगार का गहरा प्रभाव पड़ता है। कोई भी राष्ट्र यह नहीं चाहता कि वह केवल कृषकों का, क्लर्कों का और दुकानदारों का ही राष्ट्र रहे, वह अन्य रोजगारों, उद्योगों का होना भी आवश्यक समझता है। इसलिए कुछ उद्योग-धन्धों का उनके विकास के लिए उस देश में आवश्यक उपकरण न होना जरूरी है। ऐसे उद्योगों का विकास संरक्षण के ही द्वारा हो सकता है जैसा कि अभी तक हमने कुछ उद्योगों का विकास किया है। अन्य उद्योगों के भी विकास के लिए संरक्षण का होना आवश्यक है।

(६) लागत से कम मूल्य पर माल बेचने के अवरोध के लिये—यदि कोई अन्य देश हमारे देश में बाजार प्राप्त करने के लिए लागत से कम मूल्य पर माल बेचता है तो ऐसी स्थिति में भी संरक्षण का लगाना आवश्यक हो जाता है। पहले ऐसा करने वाले देश लागत से कम मूल्य पर माल बेचकर बाजार प्राप्त कर लेते हैं और बाद में उन वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि कर अपने उस घाटे की पूर्ति करते हैं, इसका प्रभाव उस देश के उद्योग धन्धों पर बुरा पड़ता है। इस प्रकार अपने देश के उद्योग-धन्धों को नष्ट न होने देने के लिए, अपने आर्थिक संगठन को सुदृढ़ रखने के लिए संरक्षण का लगाना आवश्यक हो जाता है।

(७) सरकारी सहायता प्राप्त माल के विरोध के लिए (Against Bounty Fed Goods)—विदेशों से आने वाले सरकारी सहायता प्राप्त माल से भी अपने देश के तैयार माल की रक्षा के लिए संरक्षण की व्यवस्था करनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो इसका प्रभाव बड़ा बुरा पड़ता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि पहले भारतीय शकर के उद्योग को यूरोप से आने वाली सरकारी सहायता प्राप्त शकर से बड़ा गहरा धक्का पहुँचा था। बाद में इसकी रक्षा के लिए संरक्षण की सहायता ली गई और इस प्रकार इस उद्योग को नष्ट होने के बचाया गया।

(८) मूल्य ह्रास करेन्सी वाले देशों के माल के विरोध में—मूल्य ह्रास करेन्सी (Depreciated Currency) वाले देश को और अधिक माल के निर्यात करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में खरीददार देश को अपनी करेन्सी के हिसाब से कम रकम देनी होती है और वह इस प्रकार के माल को अधिक से अधिक खरीदने के लिए लालायित रहता

है परन्तु इसका बाद में प्रभाव बड़ा बुरा पड़ता है। इसलिए ऐसे समय में सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह संरक्षण द्वारा इस सुविधा को दूर करे। द्वितीय विश्व युद्ध के कुछ वर्षों पूर्व के समय में जापान ने अपनी मुद्रा (येन) के मूल्य में ह्रास कर दिया, इसका परिणाम यह हुआ कि जो संरक्षण हमारी सरकार ने सूती कपड़े के उद्योग पर लगाया था उसका प्रभाव कम हो गया, उससे कोई विशेष लाभ न होने लगा, ऐसी दशा में भारत सरकार ने सूती कपड़े के उद्योग पर संरक्षण के क्षेत्र में और वृद्धि कर दी और इस प्रकार इस उद्योग की रक्षा की।

(९) राजस्व के लिये (For Revenue)—कुछ लोग संरक्षण कर को लगाने के लिये इसलिये भी जोर देते हैं कि ऐसा करने से राज्य को और भी अधिक आय हो जाया करेगी। यह ठीक है कि किसी सीमा तक सामान्य संरक्षण करों द्वारा राज्य को कुछ आय प्राप्त हो जायगी. परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि संरक्षण तथा राजस्व इन दोनों में आपस में विरोध रहता है। उदाहरण के लिये यदि किसी उद्योग को काफी संरक्षण प्रदान कर दिया गया तो उसी उद्योग के विदेशी माल की देश में बिक्री न हो सकेगी। विदेशी माल का आयात न होगा और जब आयात न होगा तो उससे राज्य को कोई आय भी नहीं होगी। १९३४ में और उसके बाद के समय में जब शकर के उद्योग को संरक्षण प्रदान कर दिया गया तो विदेशों से शकर का आना भी कम हो गया, इसका परिणाम यह हुआ कि इस स्रोत द्वारा होने वाली हमारी आय काफी कम हो गई, सरकार को घाटा होने लगा अतएव भारत सरकार ने इस कमी की पूर्ति करने के लिए देश में तैयार होने वाली शकर पर एक कर लगा दिया और इस प्रकार घाटे की पूर्ति की।

इसलिये यदि कोई भी देश अपने राजस्व में वृद्धि करना चाहता है तो बजाय इसके कि वह भारी संरक्षण करों द्वारा अपनी आय में वृद्धि करे वह विदेशों से आने वाले माल पर साधारण या सामान्य कर लगा कर, उस माल के आयात को प्रोत्साहित कर आय में वृद्धि कर सकता है। परन्तु इसका परिणाम यह होगा कि देश में बने माल को विदेशी माल से काफी प्रतियोगिता लेनी होगी उसे कोई संरक्षण न होगा। इस प्रकार इस रूप में दो ही रास्ते हैं या तो राज्य के राजस्व की वृद्धि की जाय या राज्य के उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारी संरक्षण करों द्वारा राज्य के राजस्व में वृद्धि करने की नीति उपयुक्त नहीं इसलिए इस तर्क को भी न्याय संगत नहीं कहा जा सकता।

(१०) बेकारी दूर करने के लिये—कुछ लोग संरक्षण के पक्ष में एक यह तर्क भी उपस्थित करते हैं कि यदि उद्योग-धन्धों का काफी विकास हो जाता है उसमें बहुत से लोगों को काम मिल जायगा, बेकारी के दूर करने में सहायता मिलेगी। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से यह तर्क उचित नहीं मालूम पड़ता क्योंकि जितना विदेशों से आयात होगा वैसा ही निर्यात किया जायगा, जब बाहर से कम माल मंगाया जायगा तो निर्यात भी कम होगा। इस बात का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ेगा। निर्यात वाले उद्योग को इससे बड़ी हानि होगी। किन्तु जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, यह बात लागू नहीं होती। यहाँ पर अभी ऐसे उद्योग-धन्धे बहुत कम विकसित हुए हैं जिनके उत्पादन का काफी मात्रा में निर्यात किया जा सके। हमारे यहाँ जितना कच्चा माल होता है, उसकी विदेशों में काफी आवश्यकता होती है, उन्हें हमारे इस कच्चे माल का आयात करना होता है। यदि हम संरक्षण द्वारा विदेशों से देश में आने वाले तैयार माल को दूर कर सकें तो हमारे उद्योग-धन्धों का अच्छा विकास होगा, साथ ही बेकारी के भी दूर होने में काफी सहायता प्राप्त होगी। वर्त्तमान समय में हमारी आर्थिक व्यवस्था असन्तुलित है। इस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता कृषि तथा उद्योग-धन्धों के बीच एक अच्छा सामञ्जस्य उपस्थित करना है। अतएव इसके लिये एक अच्छी संरक्षण-नीति काफी सहायता प्रदान करेगी।

(११) भारतीय जनता की संरक्षण प्रियता—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि भारतीय जनमत संरक्षणता के पक्ष में काफी है। मुक्त व्यापार नीति के कारण भारत को जो हानि उठानी पड़ी इससे अब देश के शिक्षित व्यक्तियों का वर्ग दिनोंदिन संरक्षण का समर्थन करता जा रहा है। कुछ भारतीयों का तो यहाँ तक कहना है कि संरक्षण द्वारा देश के उद्योग-धन्धों के सभी दोष दूर हो जायेंगे। कहना न होगा कि जापान, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमरीका आदि देशों ने अपनी बहुत कुछ उन्नति 'संरक्षण' के ही द्वारा की। भारत जैसा कृषि प्रधान देश जो कि अभी अपने औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में है निश्चित रूप से संरक्षण से काफी लाभ उठा सकेगा।

संरक्षण के दोष (Draw Backs of Protection)—हमने ऊपर देखा है कि संरक्षण से कई लाभ हैं किन्तु संरक्षण से सब लाभ ही लाभ नहीं है, उसमें कुछ ऐसे भी दोष हैं जिनका प्रभाव समाज के आर्थिक जीवन पर बड़ा बुरा पड़ता है। हम यहाँ पर इन्हीं दोषों पर विचार करेंगे। इससे होने वाले दोष मुख्य-मुख्य ये हैं :—

(१) सिद्धान्ततः इससे विदेशी व्यापार को बड़ी हानि होती है, विदेशी व्यापार से होने वाले सभी लाभ नहीं मिल पाते;

(२) जिन वस्तुओं में संरक्षण कर लगता है उनके मूल्य में काफी वृद्धि हो जाती है। इस का असर यह होता है कि इन वस्तुओं के उपयोग करने वाली जनता को काफी मूल्य देना पड़ता है। उसके रहन-सहन के स्तर पर इसका बुरा असर पड़ेगा। न तो इससे कृषकों को ही लाभ मिल पायेगा और उन श्रमिकों को जो इन उद्योगों में काम करते हैं।

(३) संरक्षण द्वारा सम्पत्ति के असमान वितरण को सहायता मिलती है, जिन लोगों के पास पहले से धन है उन्हें और धन मिलता है, दरिद्र और भी दरिद्र हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह कह देना अनुचित न होगा कि जब टैरिफ बोर्ड तथा भारत सरकार उपभोक्ताओं के हित का सदैव ध्यान रख रहें हैं तो वे यदि संरक्षण नीति का अनुसरण करेंगे, उस समय इस बात का पूरा ध्यान रखेंगे कि उनकी इस नीति का उपयोक्ताओं पर बुरा असर न पड़े। दूसरे दियासलाई व नमक आदि को छोड़कर अन्य संरक्षण वाले उद्योग लोहा, फौलाद, सीमेंट, कागज आदि के उद्योग हैं जिनको कि साधारणतया निर्धन जनता को खरीदने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इन वस्तुओं के संरक्षण का भार तो वास्तव में मध्यम श्रेणी के लोगों पर पड़ता है। ये लोग इस बात को भली भाँति समझते हैं कि किस बात में देश का हित है और किस में अहित।

(४) संरक्षण से राजनैतिक भ्रष्टाचरण का भी भय है। इस बात का उदाहरण संयुक्त राज्य अमरीका है। वहाँ पर बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाएँ मतदाताओं या विधान निर्माताओं को अनुचित रूप से प्रभावित करने के लिये काफी रकम खर्च करते हैं, जिससे कि जो कानून बने उससे उनके व्यावसायिक हितों पर आघात न पहुँचे। यदि एक बार किसी उद्योग को संरक्षण प्राप्त हो जाता है तो उस उद्योग पर से आसानी से संरक्षण का हटाया जाना सम्भव नहीं। परन्तु जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, उसे इस प्रकार के भ्रष्टाचरण का खतरा नहीं है।

(५) जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हो जाता है वे उस संरक्षण को बनाये रखने के लिये कोई कोर-कसर नहीं उठा रखेंगे। इस प्रकार जो उद्योग अपने विकास की शैशवावस्था में होंगे वे उसी अवस्था में बने रहने का दावा करेंगे, इस बात को वे आसानी से नहीं स्वीकार करेंगे कि वे अब उस अवस्था को पार कर चुके हैं और उन्हें अब संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस संरक्षण को इस बात का इतना भय नहीं है जितना अन्य बातों का। जब कोई भी उद्योग अपने ऊपर से संरक्षण हटाये जाने का इस प्रकार विरोध करे तो उसे यह कहकर रोका जा सकता है कि अब उस

उद्योग को संरक्षण से कोई लाभ नहीं होगा, इसलिये उस पर से संरक्षण के हटाये जाने का कोई विरोध नहीं होना चाहिये।

(६) इसके अतिरिक्त एक बात यह भी कही जाती है कि यदि अच्छी प्रकार से संरक्षण लगा दिया गया तो सरकारी राजस्व या आय में धीरे-धीरे ह्रास होने लगेगा, परन्तु यह तर्क भी न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि सरकार अपने आय की इस कमी को उत्पत्तिकर तथा आयकर आदि लगाकर पूरी कर सकती है।

ऊपर हमने संरक्षण के दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला। हमने देखा कि संरक्षण से कुछ दोष और कुछ लाभ दोनों के ही होने की सम्भावना रहती है। अब प्रश्न यह उठता है कि देश की वर्त्तमान दशा को देखते हुए भारत में सरकार द्वारा संरक्षण नीति के अपनाए जाने का समर्थन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि देश की जो आर्थिक दशा इस समय है, उसमें संरक्षण का प्रयोग किया जाना अच्छा ही नहीं किन्तु नितान्त आवश्यक है। भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है, यहाँ पर वर्त्तमान उद्योगों का विकास अभी थोड़े दिनों से ही हुआ। वह अभी तक मुख्य-रूप से विदेशों को कच्चा माल आदि का निर्यात करता रहा है और वहाँ से तैयार माल का आयात करने वाला देश रहा है। इस प्रकार की आर्थिक स्थिति का क्या प्रभाव हुआ है और अब भी क्या हो रहा है, इस विषय पर हम पिछले परिच्छेदों में प्रकाश डाल चुके हैं। हम यह भी कह चुके हैं कि कोई भी देश पूर्णरूप से कृषि पर ही निर्भर रह कर अपना सम्यक आर्थिक विकास नहीं कर सकता। किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए उसका औद्योगिक विकास काफी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत भी एक कृषि प्रधान देश है, अभी वह भी अपने औद्योगिक विकास की पहली सीढ़ी ही पार कर रहा है। ऐसी स्थिति में उसे अपना सम्यक औद्योगिक विकास करने के लिए संरक्षण की जो आवश्यकता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम आँख मूँदकर सभी उद्योगों को संरक्षण की सुविधा प्रदान कर दें। हमें इस दिशा में बड़ी सावधानी से कार्य करना होगा, उन्हीं उद्योगों को यह सुविधा प्रदान करनी होगी जो वास्तव में संरक्षण के योग्य हैं, ऐसा करने के पूर्व हमें ऐसे उद्योगों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने का प्रबन्ध करना होगा। ऐसा करने में ही हमें संरक्षण से उचित लाभ मिल सकेगा नहीं तो इसका प्रभाव उल्टा ही होगा और देश का औद्योगिक विकास उचित रूप से नहीं हो सकेगा।

आर्थिक स्वतन्त्रता अभिसमय (Fiscal Autonomy Convention)–प्रथम विश्वयुद्ध (सन् १९१४-१८) के समय में भारत सरकार को यह पूर्णरूप से ज्ञात हो गया कि जब तक भारत के उद्योगों का उचित रूप से विकास नहीं किया जाता तब तक भारत से लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना अधिक है। अतएव देश में कुछ उद्योगों की स्थापना का निश्चय किया गया। इसके लिए १९१६ में एक 'औद्योगिक आयोग' की भी नियुक्ति की गई। इस आयोग ने १९१८ में अपना प्रतिवेदन उपस्थित किया जिसमें यह सुझाव रखा कि भारतीय औद्योगिक विकास में भारत सरकार को अपना अच्छा सहयोग प्रदान करना चाहिए। इस 'औद्योगिक आयोग' ने भारत के औद्योगीकरण पर काफी जोर दिया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार का ध्यान धीरे-धीरे इस ओर आकर्षित हो रहा था। परन्तु ब्रिटिश पार्लियामेन्ट भारत को किसी प्रकार की आर्थिक स्वतन्त्रता देना उचित नहीं समझती थी, इस समस्या को सुलझाने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के दोनों सदनों ने मिल कर एक समिति (ज्वाइन्ट सेलेक्ट कमेटी) की नियुक्ति की। समिति ने अपने प्रतिवेदन (१९१९ ई०) में कहा कि भारत के लिए चाहे किसी भी आर्थिक नीति का अनुकरण किया जाय किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा तथा दक्षिण अफ्रीका की भाँति भारत को भी अपने हितों के विचार करने की होनी चाहिए। समिति ने आगे कहा कि सेक्रेटरी आफ स्टेट को इस विषय में तब तक हस्तक्षेप करने की विशेष

आवश्यकता नहीं है जब तक कि भारत सरकार और भारतीय विधान सभाएँ इस सम्बन्ध में एक मत हैं। यही वह प्रसिद्ध अभिसमय (कन्वेंशन) है जिसके द्वारा यह आशा की गई थी कि भारतवर्ष अपनी सुविधा के अनुसार एक उपयोगी अर्थनीति के निर्माण में सफल हो सकेगा। सेक्रेटरी आफ स्टेट ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया।

इस अभिसमय की काफी आलोचना भी की गई है। इस सन्बन्ध में यहाँ कहा गया है कि इस अभिसमय का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है, क्योंकि इसमें जिन आवश्यक शर्तों का उल्लेख किया गया वे व्यावहारिक नहीं हैं। इन आवश्यक शर्तों में से एक शर्त तो यह थी कि भारत सरकार तथा भारतीय विधान सभा जब एक मत हों तभी सेक्रेटरी आफ स्टेट अर्थ-नीति में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। दूसरी शर्त यह थी कि इसमें केवल भारतीय हितों का ही समावेश हो अन्य देशों या देश का नहीं। ये दोनों शर्तें ही अव्यावहारिक सिद्ध प्रतीत हुई। उस समय की विदेशी सरकार और भारतीय विधान सभा की जो स्थिति थी, उससे सभी परिचित हैं, साधारणतया दोनों के आपस के व्यापार अच्छे नहीं थे। वैसे तो यह भारतीय विधान सभा भारतीय जनता का सच्चा व सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करती थी किन्तु आखिरकार थी तो वह भारतीय। तत्कालीन भारतीय सरकार कभी यह नहीं चाहती थी कि ऐसी नीति का अनुसरण हो जिससे इंगलैण्ड का अहित हो और भारत का हित। इस प्रकार उस समय के अधिकांश व्यक्तियों का यह विचार था कि इस अभिसमय का कोई मूल्य नहीं है, इसके द्वारा भारत को आर्थिक स्वतंत्रता के मिलने की आशा करना दुराशा मात्र है।

भारतीय अर्थ-आयोग (Indian Fiscal Commission)—सन् १९२१ में भारत सरकार की टैरिफ नीति का निरीक्षण करने के लिए सर इब्राहीम रहिमतुल्ला की अध्यक्षता में एक अर्थ-आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग के अधिकांश सदस्यों ने अपने प्रतिवेदन में यह सुझाव रखा कि किसी उद्योग को संरक्षण सम्बन्धी सुविधा प्रदान करते समय निम्नलिखित तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए (१) सर्व प्रथम यह देखना चाहिए कि जिस उद्योग को संरक्षण प्रदान किया जा रहा है, वह ऐसा उद्योग हो जिसे पर्याप्त मात्रा में अपनी आवश्यकता के लिए कच्चा माल, सस्ती बिजली या अन्य शक्ति, पर्याप्त श्रम तथा बिक्री के लिए अच्छा बाजार प्राप्त हो; (२) दूसरे वह उद्योग ऐसा हो जिसे यदि संरक्षण नहीं प्राप्त होता तो उसका यथेष्ट विकास नहीं हो सकता और जिसका विकास होना देश के हित के लिए आवश्यक है; (३) तीसरे वह उद्योग ऐसा होना चाहिए जो बाद में ऐसी स्थिति में हो जाय कि बिना संरक्षण प्राप्त किए वह विदेशी प्रतियोगिता का अच्छी तरह सामना कर सकें।

इस अर्थ आयोग ने एक विवेचनात्मक संरक्षण (डिस्क्रिमिनेटिंग प्रोटेक्सन) का सुझाव रखा। इसके अनुसार किसी एक या प्रत्येक उद्योग को संरक्षण की सुविधा नहीं प्रदान कर दी जाती। बल्कि ऐसे उद्योग को, जो कि संरक्षण चाहता है, पूरी जाँच की जाती है और उसे संरक्षण तभी प्रदान किया जाता है जबकि वह कुछ शर्तों को पूरी कर देता है इन शर्तों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

उपरोक्त तीन शर्तों के अतिरिक्त कमीशन ने कुछ और साधारण शर्तें रखीं जिनकी पूर्ति होने पर किसी उद्योग को संरक्षण प्रदान किया जा सके। ये शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(क) वह उद्योग जो कि अच्छे लाभ पर या कम लागत पर बड़े पैमाने के अनुसार उत्पादन कर सके, ऐसा उद्योग संरक्षण के अधिक योग्य है।

(ख) ऐसा उद्योग जो समय पाकर देश की सारी मांग की पूर्ति कर सके, उसे संरक्षण अन्य उद्योगों की अपेक्षा पहले प्रदान किया जाय।

(ग) ऐसा उद्योग जिसका राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से विशेष महत्व है, या मूल उद्योग है, उसे संरक्षण अवश्य प्रदान किया जाय, चाहे वह उपरोक्त शर्तें पूरी करता हो या नहीं।

(घ) उन उद्योगों के लिए विशेष प्रकार के संरक्षण के प्रदान करने का सुझाव रखा गया, जिनके कि उत्पादन को विदेशों से आए हुए ऐसे माल का सामना करना पड़ता है जो लागत से कम मूल्य पर बेंचा जा रहा है। इसके अतिरिक्त यदि माल किसी मूल्य ह्रास मुद्रा या मुद्रा अवमूल्यन वाले देश से आ रहा है, या उस माल के आयात को सरकारी सहायता प्राप्त है तो भी उसी प्रकार के माल के उत्पादन करने वाले अपने देश के उद्योग को संरक्षण प्रदान किया जाय।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि कमीशन अपने विचारों में एकमत नहीं था, वह दो दलों में बँट गया था। कमीशन के बहुसंख्यक दल ने अपने प्रतिवेदन में कहा कि भारत के औद्योगिक विकास में ब्रिटिश हितों का बलिदान नहीं होना चाहिए, ब्रिटेन का ध्यान रखते हुए ही भारत का औद्योगिक विकास किया जाना चाहिए। उन्होंने यह स्पष्टरूप से कह दिया कि हम यह नहीं भूले हैं कि यू० के० ब्रिटिश साम्राज्य का मुख्य अंग है, उसकी दृढ़ता पर समस्त साम्राज्य की दृढ़ता व सम्पन्नता अवलम्बित है। यही कारण था कि भारत में उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्रदान करने में कमीशन के बहुसंख्यक सदस्यों ने इस प्रकार की विवेचनात्मक नीति का समथन किया था। कमीशन के अल्पसंख्यक वर्ग ने भी, जिसमें कि कमीशन के अध्यक्ष भी सम्मिलित थे, अविवेचनात्मक संरक्षण का समर्थन नहीं किया था परन्तु वे यह भी नहीं चाहते थे कि भारतवर्ष को औद्योगिक क्षेत्र में एक बाल या नवीन देश के समान ही माना जाय। उन्होंने संरक्षण प्रदान करने के लिए एक उदारतापूर्ण नीति के अपनाने का समथन किया।

यह तो रहे संरक्षण के सम्बन्ध में अर्थ-आयोग के सुझाव। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या नवीन तथा प्राचीन उद्योगों को बिना किसी भेदभाव के संरक्षण प्रदान कर दिया जाय? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पुराने उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने में इतना खतरा नहीं रहता जितना कि नवीन उद्योगों को। इसका मुख्य कारण यह है कि पुराने उद्योगों के सम्बन्ध में सही जानकारी विश्वसनीय आंकड़े आदि प्राप्त हो सकते हैं, और नवीन उद्योगों के सम्बन्ध में उतना नहीं। नव-उद्योगों के सम्बन्ध में केवल विदेशों से ही आंकड़े या जानकारी प्राप्त की जा सकती है परन्तु कुछ भी हो चाहे कोई उद्योग प्राचीन हो या अर्वाचीन दोनों को ही संरक्षण प्रदान करने में कुछ न कुछ अनिश्चितता अवश्य बनी रहेगी। साधारणतया विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminate protection) की नीति का तात्पर्य नवीन उद्योगों को सहायता प्रदान करनी होती है परन्तु कभी-कभी किसी पुराने उद्योग को भी सङ्कट के समय संरक्षण की आवश्यकता होती है।

ऊपर हमने किन उद्योगों को किन स्थितियों में संरक्षण प्रदान किया जाय इस प्रश्न पर विचार किया अब हम यहाँ पर यह देखेंगे कि जिन उद्योगों को संरक्षण दिया जाय, उसकी दर क्या होनी चाहिए। वास्तव में संरक्षण की दर ऐसी न होनी चाहिए जिससे कि उपभोक्ता पर अनावश्यक भार पड़े और न वह ऐसी ही होनी चाहिए जिससे उद्योग निश्चित होकर पतन की ओर अग्रसित होने लगे और अपने विकास के कुछ भी प्रयत्न न करे। अतएव हमें इन दोनों दोषों से बचने की व्यवस्था करते हुए ही संरक्षण की उचित नीति का अनुसरण करना होगा।

इंडियन टैरिफ बोर्ड—(Indian Tariff Board) फिसकल कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार सन् १९२३ में लेजिस्लेटिव एसेम्ली में एक प्रस्ताव पेश किया गया जिसके अनुसार टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति का सुझाव रखा गया। प्रस्ताव में यह कहा गया कि सर्वप्रथम टैरिफ बोर्ड की अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए ही नियुक्ति की जाय। यह टैरिफ बोर्ड एक जाँच करने वाली

तथा सलाह देने वाली संस्था हो तथा टैरिफ बोर्ड में तीन सदस्य से अधिक न हों जिनमें से एक सदस्य सरकारी पदाधिकारी होना चाहिए। उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति की गई। इस बोर्ड में साधारणतया एक सभापति तथा दो अन्य सदस्य होते थे। यह बोर्ड किसी उद्योग का जिसको कि संरक्षण दिया जाना होता पूर्णरूप से जाँच करता। यह बोर्ड उन सभी व्यक्तियों के या सङ्घों के जिन पर कि संरक्षण का प्रभाव पड़ता, उनके स्मृतिपत्रों की पूर्ण रूप से जाँच करता। संरक्षण के लिए जिन शर्तों की व्यवस्था अर्थ-आयोग ने की थी, उन सभी शर्तों को देखने का काय भी इसी बोर्ड का था। सारी जाँच पड़ताल करने के पश्चात् तथा आवश्यक बातों पर विचार करने के पश्चात् यह बोर्ड सरकार के समक्ष संरक्षण की अवधि आदि के सम्बन्ध में अपने विचार उपस्थित करता। संरक्षण की अवधि समाप्त होने पर भी बोर्ड संरक्षण वाले उद्योग की पूरी जाँच करता। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि संरक्षण के प्रयोग का पूरा कार्य भार इसी बोर्ड या समिति पर था। संरक्षण-नीति के उद्देश्य की पूर्ति का सारा दारोमदार इसी समिति के सदस्यों तथा उनके कार्य करने की पद्धति पर निर्भर था। यदि वे लोग अपनी नीति और व्यवहार में कुछ उदारता रखते तो संरक्षण का लाभ भी अच्छा होता, इसके विपरीत यदि उनका व्यवहार कठोर और विचार अनुदार रहते तो उससे कोई लाभ न मिल पाता। सबसे पहले १६२४ में प्रथम टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति की गई, इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व सन् १६३६ में दूसरे टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति हुई।

विवेचनात्मक संरक्षण कार्य रूप में--हमने संरक्षण के विषय में प्रकाश डाला, अब हम यहाँ पर कुछ उन उद्योगों पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे जिनको कि सरकार द्वारा संरक्षण प्राप्त हुआ।

आइये पहले लोहे और फौलाद के उद्योग पर विचार करें।

(१) **लोहे और फौलाद का उद्योग** - सन् १६०७ में जमशेदपुर में 'टाटा स्टील वर्क्स' की स्थापना हुई, इस कारखाने की स्थापना के साथ ही साथ देश में लोहे और फौलाद के उद्योग का श्रीगणेश हुआ। कम्पनी ने सन् १६१३ से फौलाद का निर्माण करना शुरू कर दिया, प्रथम विश्वयुद्ध के समय में इस उद्योग ने अद्भुत उन्नति कर ली। परन्तु जब युद्ध समाप्त हो गया तो इस उद्योग को विदेशों से काफी कड़ी प्रतियोगिता लेनी पड़ी। अतएव इस उद्योग के संरक्षण के लिए सरकार से प्रार्थना की गई। टैरिफ बोर्ड ने इस उद्योग की जाँच पड़ताल की और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि इस उद्योग को संरक्षण प्रदान कर दिया जाता है तो थोड़े समय में कम लागत पर भारत अपनी आवश्यकता भर के लिए फौलाद उत्पन्न करने में सफल हो सकेगा। संरक्षण की दर का निश्चय भारत में फौलाद के आयात तथा उसके बिक्री के मूल्य के आधार पर किया गया। ३० रुपये से लेकर ४० रुपए तक प्रति टन की दर के हिसाब से फौलाद पर कर लगा दिया गया। जब बाद में यह पता लगा कि यह कर फौलाद के लिए पर्याप्त नहीं है तो बोर्ड ने इसमें और वृद्धि करने की माँग की। इस उद्योग की समय-समय पर (१६२५, १६२६, १६३३) जाँच भी की गई। १६३३ में संरक्षण की अवधि आने वाले सात वर्षों तक और बढ़ा दी गई। सबसे अन्तिम जाँच सन् १६४७ में हुई जिसमें उद्योग ने संरक्षण जारी रहने के लिए कोई विशेष जोर नहीं दिया, बोर्ड ने भी इस पर से संरक्षण हटा लिए जाने का सुझाव रखा। इस प्रकार २३ वर्ष तक संरक्षण से लाभ उठाने के पश्चात् अब यह उद्योग स्वयं अपने पैरों पर खड़ा है। संरक्षण के फलस्वरूप इस उद्योग ने बड़ी तीव्रगति से अपनी उन्नति की है। आज यह उद्योग सरकार को एक खासी अच्छी रकम कर के रूप में देता है। टाटा के इस कारखाने में काम करने वाले श्रमिकों को प्रायः वे सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं जो कि उनकी स्थिति के व्यक्तियों को मिलनी चाहिये। उपभोक्ताओं को भी अच्छे मूल्य पर अपनी आवश्यकता के

लिए इस उद्योग से वस्तुएँ मिलती जा रही हैं। इस प्रकार आज इस उद्योग से सरकार को (जिसे १६३६-४० में किसी न किसी रूप में ३७२ लाख रुपये प्राप्त हुए) उपभोक्ता को तथा उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों को सभी को अच्छा लाभ प्राप्त हो रहा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध से इस उद्योग की स्थिति और भी सुधर गई है। अब ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह उद्योग बिना सरकार की किसी प्रकार की सहायता प्राप्त किए हुए संसार की प्रतियोगिता का सामना कर सकेगा। अब देश में विशेष प्रकार की कितनी ही श्रेणियों के फौलाद का निर्माण किया जा रहा है। टाटा का लोहे और फौलाद का कारखाना इस दिशा में दिनोंदिन प्रगति करता जा रहा है। अभी थोड़े दिन हुये इसने पहियों, टायरों तथा रेलवे की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये एक नया प्लान्ट लगाया है। मिहीजान (चितरंजन) के इंजन बनाने में भी यह सहायता प्रदान कर रहा है। जितना फौलाद १६३८-३६ में उत्पन्न किया गया था उसका १६४२-४३ में २८ प्रतिशत अधिक उत्पादन हुआ। इस उत्पादन के अधिकांश का उपयोग देश में ही हो गया। युद्ध के समय में तो माँग इतनी बढ़ गई थी कि बिना लाइसेन्स प्राप्त किये किसी को न तो लोहा ही मिल सकता था और न फौलाद ही। इससे यह मालूम पड़ता है कि इस उद्योग का भविष्य उज्वल है। संरक्षण के समय में इस उद्योग ने जो प्रगति की उसका पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा।

भारत में फौलाद का उत्पादन

सालाना औसत

वर्ष	उत्पादन	
१६३६	८२४०००	टन
१६४३	११,६६०००	,,
१६४५	११४१,०००	,,
१६४६	६६७,०००	,,
१६४७	६७४,०००	,,
१६४८	६५३,०००	,,
१६४६	१०२८०००	,,

इन आंकड़ों को देखने से यह पता चलता है कि इधर कुछ वर्षों (१६४६-१६४८) में फौलाद के उत्पादन में ह्रास हो रहा है। वास्तव में बात यह है कि इस समय कोयले की, श्रम की, यातायात आदि की कठिनाई के कारण इस उत्पादन में कमी हुई। इसी समय देश का भी विभाजन हुआ। देश के विभाजन के परिणामस्वरूप कुशल कारीगरों की भी कमी हुई। हड़तालों आदि में भी वृद्धि हुई। इन सभी बातों का उत्पादन पर प्रभाव पड़ा। बाद में (१६४६) में इन सभी अभावों की पूर्ति की गई। औद्योगिक झगड़ों में कमी हुई, यातायात के साधनों में भी सुधार किया जिसके परिणामस्वरूप अब मिलें पहले की भांति फिर अच्छी तरह कार्य कर रही हैं, इधर उत्पादन भी ठीक से हो रहा है। इस समय इस उद्योग में कुछ नहीं तो २,२०,००० लोग कार्य करते हैं। परन्तु अभी जितना उत्पादन किया जा रहा है, वह पर्याप्त नहीं। फौलाद के उत्पादन में और वृद्धि किए जाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

सूती कपड़े का उद्योग—सूती कपड़े के उद्योग के विकास के इतिहास पर हम उद्योग-धंधों वाले परिच्छेद में प्रकाश डाल चुके हैं। देश में सूती कपड़े का उद्योग एक पुराना उद्योग है, हम यह नहीं कह सकते कि इस उद्योग का जन्म अभी हाल में हुआ है, इस तर्क पर हम उसके लिए संरक्षण की भी माँग नहीं कर सकते थे, किन्तु कई कारणों से हमारे इस उद्योग की दशा अच्छी नहीं रही। बम्बई में मजदूरी की ऊँची दर, शक्ति के साधनों के मंहगेपन आदि के कारण कुछ समय तक बम्बई के उद्योग की दशा अच्छी नहीं रही। अतएव १६२६ में यह प्रश्न टैरिफ बोर्ड के संमुख पेश किया

गया। बोर्ड ने उद्योग की भलीभांति जांच की। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक है।

(१) सन् १९२३ से लगातार जापानी मुद्रा का बराबर ह्रास होता रहा, इसका प्रभाव जापान के निर्यात पर खूब पड़ा, भारत में जापानी कपड़े का खूब आयात हुआ।

(२) जापान की मिलें दो शिफ्टों में काम करती थीं और यद्यपि जापान की मिलों में काम करने वाले मजदूरों को भारतीय मजदूरों की अपेक्षा थोड़ी ही अधिक मजदूरी मिलती थी पर प्रति वर्ष जापानी मजदूरों का औसत उत्पादन जितना होता था उतना भारतीय मजदूरों का नहीं।

(३) जापान ने अपने उद्योग का पुनर्संगठन कर लिया था जब कि इधर भारत में विश्व-व्यापी भीषण मन्दी के कारण भारतीय उद्योग की दशा बड़ी खराब थी। यदि हम इस काल के जापान से आनेवाले माल के आंकड़ों को देखें तो हमें पता चल जायगा कि १९२२-२३ में जापान से १०२८ लाख गज कपड़ा आया जबकि १९३८-३९ में ४२५० लाख गज जापानी कपड़े का आयात हुआ।

इस समय यू० के० तथा अन्य देशों की अपेक्षा जापान का आयात में भाग अधिक रहा। सन् १९२२-२३ में ब्रिटेन से १४४० लाख गज कपड़ा आया जबकि १९३८-३९ में केवल २०५० लाख गज ही कपड़े का आयात हुआ। इस प्रकार इस समय हम देखते ह कि भारत में जापान का माल काफी मात्रा में आया। उसके आयात की इस वृद्धि का मुख्य कारण उसका अपने उद्योग का पुनर्संगठन ही करना था।

(४) यह तो रही जापानी माल की प्रतियोगिता की बात। इसके अतिरिक्त भारत में सूती कपड़े का उद्योग सबसे बड़ा राष्ट्रीय उद्योग था। इसमें इस समय (१९२६ में) कुल ४२ करोड़ रुपया लगा हुआ था और साढ़े चार लाख आदमी इसमें काम करते थे। इसलिए इस उद्योग को संरक्षण प्राप्त होना अत्यन्त आवश्यक था।

उपरोक्त कुछ कारणों से भारत में इस उद्योग की दशा उस समय अच्छी नहीं थी। देश में उपस्थित इन दोषों के कारण बम्बई की कितनी मिलों की संख्या में कमी होती गई। सन् १९२५ में बम्बई में सूती कपड़े की ८० मिलें थीं जबकि १९३५ में इनकी संख्या घटकर केवल ६८ ही रह गई। देश की इस उद्योग की दशा को देखकर टैरिफ बोर्ड ने सूती कपड़े के उद्योग को संरक्षण प्रदान करने का सुझाव रखा। अतएव सूत के कोये आदि पर मूल्यानुसार ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत कर निश्चित किया गया, तथा ब्रिटेन में तैयार किए हुए सूती माल पर मूल्यानुसार २५ प्रतिशत तथा अन्य देशों के माल पर ३१$\frac{1}{4}$ प्रतिशत के हिसाब से कर निश्चित कर दिया गया, बाद में अन्य देशों के सूती कपड़े आदि पर मूल्यानुसार ५० प्रतिशत कर की दर निश्चित की गई। इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि ब्रिटेन के उत्पादकों को यह रियायत प्राप्त होने के कारण भारत द्वारा उसे अच्छा लाभ प्राप्त हुआ। इस प्रकार की व्यवस्था के किए जाने से तथा थोड़ा-बहुत संरक्षण प्राप्त हो जाने पर भारतीय सूती कपड़े के उद्योग को काफी लाभ प्राप्त हुआ। इस बात का पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा:—

सूती माल (दस लाख गजों में)

वर्ष	भारत	आयात
१९२६–२७	२,२५८	१,७८८
१९३८–३९	४,२६९	६४७

सूती कोया (दस लाख पौण्ड में)

वर्ष	भारत	आयात
१९२६–२७	८०७	४९
१९३८–३९	१,३०३	३६

भारत में प्रतिवर्ष लगभग ५०,००० लाख गज मिल के बने कपड़े की आवश्यकता होती है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम अपने सूती कारखानों की मशीनों आदि को ठीक कर लें तो हम अपने देश की कपड़े की मांग को तो पूरी कर ही लेंगे साथ ही मध्यपूर्व के देशों की भी कपड़े की कुछ मांग की पूर्ति कर सकने में समर्थ हो सकेंगे। युद्ध के समय में हमने इन देशों को काफी मात्रा में सूती कपड़ा भेजा था।

नीचे हम सूती कपड़े के उत्पादन तथा उसके निर्यात के सम्बन्ध में कुछ आंकड़े दे रहे हैं। ये आंकड़े युद्ध तथा युद्ध के बाद के वर्षों के हैं।

सूती माल का निर्माण

वर्ष	निर्यात (दस लाख गज में)	आयात (दस लाख गज में)	सूती माल (दस लाख गज में)
१९३९	१९२	६४६	४,११६
१९४३	अप्राप्य	अप्राप्य	४,७५१
१९४६	३४८	१२	४,०२५
१९४८	३०८	३५	४,३९३
१९४९	४६८	९१	३,९१०*

शकर का उद्योग—गन्ना भारतवर्ष की मुख्य उपज है, भारत से ही यह संसार के अन्य देशों में फैला है। भारत में जो शकर बनती है, वह इसी गन्ने से बनती है। देश में इस उद्योग को पनपे हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए। इस दिशा में बहुत दिनों तक हम विदेशों पर ही निर्भर रहे। सन् १९३१-३२ तक देश में विदेशी शकर का ही बोलबाला रहा, यहाँ केवल इसी एक साल में (१९३१-३२ में) साढ़े पाँच लाख टन विदेशी शकर का आयात हुआ। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि विदेशों से कितनी विशाल मात्रा में हम शकर का आयात करते थे। सन् १९३०-३१ में देश के शकर के उद्योग ने संरक्षण के लिए प्रार्थना की। टैरिफ बोर्ड ने उद्योग की खूब अच्छी तरह जाँच की और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस उद्योग में संरक्षण के लिए आवश्यक सभी शर्तें उपलब्ध हैं। बोर्ड ने १५ वर्ष की अवधि तक के लिए ७।) प्रति हन्डरवेट संरक्षण कर लगाने का निश्चय किया। सितम्बर १९३१ में कर की इस दर में २५ प्रतिशत के हिसाब से और वृद्धि कर दी गई। संरक्षण से इस उद्योग को काफी अच्छा लाभ पहुँचा, संरक्षण प्राप्त होने के बाद से शकर के उत्पादन में भी काफी वृद्धि होती गई। इस बात का पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

भारत में शकर के उद्योग का विकास (सन् १९३१-३२ से)

वर्ष	कारखानों की संख्या	कितनी शकर उत्पन्न की गई (टनों में)
१९३१-३२	३२	१५८,५००
१९३३-३४	११२	४५४,०००
१९३५-३६	१३७	९३२,१००
१९३८-३९	१४०	९५०,०००
१९४३-४४	१५१	१,२१६,४००
१९४४-४५	१४०	९५३,५००
१९४५-४६	१४५	९४४,८००
१९४६-४७	१४६	१,०००,०००

*अपूर्ण है।

इस प्रकार देश के शकर के उद्योग में धीरे-धीरे विकास होता गया, उद्योग आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने लगा और विदेशों से जो लगभग औसतन १५ करोड़ रुपये की शकर का आयात होता था वह बन्द हो गया। सन् १६३७ में दूसरे टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति की गई परन्तु उसकी रिपोर्ट जल्दी न प्रकाशित हुई, उसका प्रकाशन १६३६ के मार्च मास में हुआ। इस टैरिफ बोर्ड ने उद्योग के विकास के लिए कई महत्वपूर्ण सुझाव रखे। इस बार सरकार ने दो वर्षों (१६३६-४१) के लिए संरक्षण कर को घटा कर ६।।।) कर दिया। यह अप्रैल १६४६ से लेकर १६५० की मार्च तक चालू रहा बाद में संरक्षण कर हटा दिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय शकर पर से संरक्षण कर हटा दिया गया है। यह उद्योग अब आत्मनिर्भर हो गया है किन्तु इस उद्योग में कई दोष हैं जिनका दूर करना हमारे लिए नितान्त आवश्यक है। इनमें से मुख्य-मुख्य दोष ये हैं :—

(१) इस उद्योग को काफी कर देना पड़ता है। इस उद्योग में लगने वाली बाहर से आने वाली मशीनों पर आयात कर लगता है, साथ ही केन्द्रीय सरकार द्वारा उत्पत्ति कर व प्रान्तीय सरकारों द्वारा गन्ने पर भी एक प्रकार का कर लगता है। इसके अलावा आयकर, व अधिक लाभ पर अतिरिक्त कर भी लगता है। इन सब करों का प्रभाव इस उद्योग पर भी बहुत बुरा पड़ता है।

(२) देश में प्रति एकड़ गन्ने का उत्पादन भी बहुत कम होता है। सन् १६२८ में जावा में ५२.५ टन प्रति एकड़ गन्ना पैदा हुआ।

(३) देश में गन्ना तो कम होता ही है साथ ही यहाँ उससे जो शकर बनाई जाती है वह भी अन्य देशों की अपेक्षा कम ही होती है। उदाहरण के लिए १६३१-३२ भारत में शकर के उत्पादन का औसत प्रतिशत ८.८६% था, जब कि उसी वर्ष जावा में १०.४६ प्रतिशत था। १६३८-३६ में इसमें वृद्धि हुई, इस वर्ष भारत का औसत उत्पादन ६.२६ प्रतिशत जब कि जावा का ११.६१ प्रतिशत था। देश में शकर के इस कम उत्पादन के होने का मुख्य कारण कारीगरों में कुशलता का अभाव है।

(४) इस उद्योग के विकास की जो गति रही है, वह भी अच्छी नहीं थी। इस उद्योग का विस्तार जिन-जिन क्षेत्रों में हुआ है, वह भी अनुकूल नहीं रहा है। टैरिफ बोर्ड ने अपनी १६३१-३२ तथा १६३७ की रिपोर्ट में इस ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था, उसने कहा था कि इसके लिए उपमानसूनी प्रदेशों की अपेक्षा मानसूनी प्रदेश अधिक उपयुक्त है। बोर्ड ने इस बात पर जोर दिया कि भविष्य में इस उद्योग का विकास उत्तर प्रदेश तथा बिहार को छोड़कर अन्य प्रदेशों में किया जाय।

(५) इस उद्योग में एक और दोष है वह यह कि उसकी उपोत्पत्तियों (शीरे आदि) का उचित उपयोग नहीं किया जाता। इसका उपयोग अच्छी खाद, पशुओं के चारे आदि में किया जा सकता है। उपोत्पत्तियों का उचित उपयोग न होने से राष्ट्र को एक बड़ी भारी क्षति उठानी पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उद्योग में कई दोष हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी दोषों को दूर किया जाय, सरकार इस दिशा में अच्छा कार्य कर रही है और उद्योग को सभी दोषों से मुक्त करने के लिए पूर्णरूप से प्रयत्नशील है। सरकार द्वारा उद्योग को जब से संरक्षण प्राप्त हुआ उद्योग बराबर प्रगति करता गया, जितनी तीव्रगति से देश में इस उद्योग ने उन्नति की उतनी अन्य किसी उद्योग ने नहीं। उसकी यह प्रगति मन्दी के दिनों में भी कम नहीं हुई, वह आगे बढ़ता ही गया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १६३५-३६ में इस उद्योग में प्रत्यक्ष रूप से १३१ लाख श्रमिक कार्य करते थे, इसके अतिरिक्त कम से कम इसमें २५ लाख नये श्रमिक थे और कम से कम २५ लाख ऐसे भी थे जो संरक्षण के कारण उद्योग में लग गए थे। संरक्षण के बाद के वर्षों में शकर के कारखानों या मिलों तथा उत्पादन आदि में जो वृद्धि उसकी जानकारी पीछे दी हुई तालिका

से लग जायगा। देश में यह उद्योग इतनी तीव्र गति से बढ़ रहा था कि युद्ध के पूर्व के वर्षों में सरकार के सन्मुख यह समस्या खड़ी हो गई थी कि शकर का अत्युत्पादन कैसे रुके, सरकार ने इसके नियंत्रण के लिए कई प्रयत्न भी किये थे। जब युद्ध प्रारम्भ हो गया तो और अधिक शकर की आवश्यकता पड़ने लगी। देश में सैनिकों तथा नागरिकों के लिए तो शकर की आवश्यकता थी ही और उसकी पूर्ति भी की गई साथ ही संयुक्तराष्ट्रों को भी कुछ शकर भेजी गई।

विभाजन के बाद देश में शकर की फिर कमी हो गई, माँग के अनुसार शकर की पूर्ति न की जा सकी अतएव सरकार ने शकर के वितरण पर नियंत्रण लगा दिया। सरकार ने इस वर्ष (१९४९-५० में) शकर के उत्पादन में भी वृद्धि करने के प्रयत्न किए परन्तु ये प्रयत्न निष्फल रहे। शकर की कमी बनी ही रही अतएव सरकार ने १९५० के सितम्बर मास में विदेशों से एक लाख टन शकर के आयात का निश्चय किया। सरकार ने इसी वर्ष इस अभाव को दूर करने के लिए एक जाँच-समिति की भी नियुक्ति की। इसके पूर्व १९४९ में सरकार ने 'शुगर सिन्डीकेट' का जिसपर भी इस कमी का कुछ दोष था अन्त कर दिया। इस प्रकार सरकार उत्पादन की वृद्धि की ओर काफी प्रयत्नशील है। यदि शकर के उद्योग के सभी दोषों को दूर कर दिया जाय तो हमारा यह उद्योग अपने देश की शकर की मांग की तो पूर्ति कर ही लेगा साथ ही विदेशों जैसे पाकिस्तान, लंका, बर्मा तथा मध्यपूर्व के भी देशों की मांग की पूर्ति करने में समर्थ हो सकेगा।

कागज का उद्योग—कागज के उद्योग के सम्बन्ध में भी हम उद्योग-धन्धे वाले परिच्छेद में प्रकाश डाल चुके हैं। हमने देखा कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से कुछ छुटकारा मिला था किन्तु ज्यों ही युद्ध समाप्त हुआ, इसे पुनः विदेशों से मोर्चा लेना पड़ा, यूरोप से भारत में कागज आने लगा और इस उद्योग की स्थिति बिगड़ गई। अतएव इस उद्योग ने १९२४ में सरकार से संरक्षण की प्रार्थना की। टैरिफ बोर्ड ने उद्योग की दशा की जाँच की। देश में जो कागज बनता था, उसका अधिकांश सबाई घास से बनाया जाता था, सबाई घास से कागज के निर्माण में लागत इतनी अधिक बैठ जाती थी कि विदेशी कागज से इस कागज की प्रतियोगिता करना मुश्किल था। हाँ बाँस की गूदी अवश्य इस दिशा में हमें अच्छी सहायता प्रदान कर सकती थी। इन सब बातों का विचार करने के पश्चात् मुद्रण तथा लिखने वाले कागज पर एक आना प्रति पौण्ड की दर से संरक्षण प्रदान कर दिया गया। रैपिंग तथा पैकिंग के कागज को किसी प्रकार संरक्षण न दिया गया, इसका मुख्य कारण यही था कि इस प्रकार के कागज़ के लिए यह सिद्ध नहीं किया जा सका कि उसके उत्पादन के लिए भारत में भी प्राकृतिक साधन अच्छी मात्रा में उपलब्ध हैं। अखबारी कागज के सम्बन्ध में भी यही बात थी। टैरिफ बोर्ड ने कुछ मिलों को प्रयोगात्मक रूप में आर्थिक सहायता प्रदान करने का भी सुझाव रखा था किन्तु सरकार ने इसे अस्वीकार कर दिया। बाद में, सन् १९३५ में देश में आने वाली बांस की गूदी पर ४५ रुपया प्रति टन के हिसाब से संरक्षण कर लगा दिया गया। १९३९ में संरक्षण तो और तीन वर्ष के लिए जारी रखा गया किन्तु विदेशों से आने वाले कागज पर के आयात कर में कमी कर दी गई। सन् १९४७ में टैरिफ बोर्ड के समक्ष फिर यह बात रखी गई और कागज पर से संरक्षण उठा लिया गया।

जब से इस उद्योग को संरक्षण प्राप्त हुआ इसने काफी अच्छी प्रगति की। संरक्षण के बाद से देश में कागज के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई साथ ही उसकी लागत में पहले की अपेक्षा इस समय ह्रास हुआ। सन् १९२५ में देश में केवल २०,००० टन कागज ही उत्पन्न होता था, १९४८ में एक लाख टन कागज बनाया गया और यद्यपि देश में कागज के निर्माण करने के लिये अच्छी मशीनें आदि नहीं हैं किन्तु फिर भी पहले की अपेक्षा अब इसके निर्माण की लागत में कमी हो गई है। सन् १९२४-२५ में कागज के निर्माण की लागत २२७ रुपया प्रति टन थी, १९३६-३७ में इसमें

कमी हुई और इस समय केवल १२३ रुपया प्रति टन ही पड़ी। इस उद्योग को अपने पैरों पर पूर्ण रूप से खड़े होने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि लागत में और कमी हो। इसी प्रकार कागज की मिलों की भी संख्या में काफी वृद्धि हुई। १९२५ में देश में कागज की केवल ९ मिलें थीं, १९४८ में इनकी संख्या १६ हो गई।

उद्योग की इस आश्चयजनक प्रगति से यह पता चलता है कि देश में निरक्षरता का निवारण हो रहा है और साक्षरता का प्रचार बड़ी तीव्र गति से बढ़ रहा है, तथा भविष्य में कागज की मांग में और अधिक वृद्धि होने की आशा है। उद्योग ने अभी तक जो प्रगति की है वह देश की मांग को देखते हुए बहुत थोड़ी है। युद्ध के समय देश के कागज के उत्पादन में काफी वृद्धि हो गई थी, और आयात में कमी। युद्ध के बाद जब जहाजों आदि की सुविधा प्राप्त हो गई तो संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, स्वीडेन, नार्वे आदि देशों से भी भारत में कागज आने लगा। इधर देश में भी बनने वाले कागज के उत्पादन में दिनोंदिन वृद्धि हुई। इस बात का पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

कागज (हजार हन्डरवेटों में)

वर्ष	आयात	उत्पादन
१९३८	६,००	११,६४
१९४५	७,०८	१९,६४
१९४८	१३,१७	१६,८८
१९४९	१४,७६	२०,६४

इस समय देश के कागज के उद्योग को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, इसलिए देश में कागज की मांग की अच्छी पूर्ति नहीं हो रही है, कागज की भारी कमी हो रही है। इस उद्योग के उचित विकास के लिये आवश्यकता है अच्छे श्रमिकों की तथा सस्ते कच्चे माल की जिससे कि कागज का भलीभाँति निर्माण किया जा सके। इन सब बातों की पूर्ति होने पर ही हम इस उद्योग की उन्नति करने में सफल हो सकेंगे।

दियासलाई का उद्योग—दियासलाई के उद्योग के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश हम पीछे डाल चुके हैं। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि सन् १९२२ तक भारत को दियासलाइयों के लिये विदेशों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। इस समय १॥) प्रति ग्रुस के हिसाब से विदेशों से आने वाली दियासलाई पर आयात-कर लगा दिया गया। इस सुविधा के प्राप्त हो जाने से धीरे-धीरे देश में दियासलाई के छोटे-छोटे कारखाने खुलने लगे। भारत में इस उद्योग में मुख्य रूप से दो देशों में संघर्ष बना रहता था एक था जापान और दूसरा स्वीडेन। भारत में अधिकतया स्वीडेन से ही दियासलाइयाँ आया करती थीं। थोड़े दिनों में भारत में दियासलाइयों की स्वीडेश कम्पनी स्थापित हो गई। सन् १९२६ में इस उद्योग को टैरिफ बोर्ड के समक्ष उपस्थित किया गया। बोर्ड ने १॥) प्रति ग्रुस के हिसाब से कर निश्चित किया। इस प्रकार १९२८ में यह राजस्व कर आयात-कर के रूप में परिवर्तित हो गया, परन्तु स्वीडेश कम्पनी को जो कि देश में दियासलाई निर्माण करने वाली मुख्य कम्पनी थी, कोई हानि नहीं हुई उल्टे भारत में बाजार प्राप्त करने में इससे उसे सहायता ही मिली। यह स्वीडेश कम्पनी भारतीय दियासलाई के कारखानों से प्रतियोगिता लेने के लिये तथा उन्हें माल देने के लिये अपने कम्पनी की दियासलाइयों के विक्रेताओं को पुरस्कार, इनाम आदि अनेक सुविधायें प्रदान करती थीं। इस कम्पनी की ऐसी नीति का प्रभाव भारत के दियासलाई के छोटे-छोटे कारखानों पर बहुत बुरा पड़ा, कितने ही कारखाने इसके आगे बैठ गए। यह सब होते हुए भी 'टैरिफ बोर्ड' ने इस स्वीडेश कम्पनी को नियंत्रित करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया और यह कम्पनी दिनोंदिन

विकास-पथ पर बढ़ती ही गई। इस स्वीडिश कम्पनी (विमको) के पाँच कारखानों से १६४८ में १८० लाख ग्रुस दियासलाई का निर्माण हुआ जब कि दो सौ भारतीय कारखानों द्वारा केवल ७६ लाख ग्रुस दियासलाई का ही निर्माण किया जा सका। गत पिछले वर्षों में सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया परन्तु सरकार ने इधर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। आवश्यकता इस बात की है कि अब स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार इस उद्योग की ओर अपना पूरा ध्यान दे और उद्योग को विकास के पथ पर अग्रसित करने का प्रयत्न करे। इस उद्योग की वर्तमान दशा क्या है, इस सम्बन्ध में हम एक तालिका दे रहे हैं, इससे दियासलाइयों के आयात तथा उत्पान आदि का कुछ परिचय प्राप्त हो जायगा।

दियासलाइयों का आयात व उत्पादन

(लाख ग्रुस में)

वर्ष	आयात	भारतीय उत्पादन
१६३२-३३	६,१४०	१६०
१६३८-३६	१,२६०	२१०
१६४६	×	२६०

नमक का उद्योग—भारत के पूर्वीय प्रदेश ऐसे हैं जो नमक का बिल्कुल उत्पादन नहीं कर सकते। इसलिये सरकार ने यह निश्चय किया कि भारत के इन पूर्वीय जिलों की नमक सम्बन्धी आवश्यकता की भलीभाँति पूर्ति करने के लिये देश में पर्याप्त मात्रा में नमक का उत्पादन किया जाय। इस प्रश्न पर विधान सभा में काफी गरमा-गरमी के साथ बहस हुई। बाद में १६२६ में यह प्रश्न 'टैरिफ बोर्ड' के समक्ष उपस्थित किया गया। १६३० में बोर्ड ने इस विषय की अपनी रिपोर्ट उपस्थित की और कहा कि यह उद्योग भारत की मांग की पूर्ति करने के लिये अच्छी तरह विकसित किया जा सकता है। १६३१ में जब कि नमक की जाँच-समिति ने अपने सुझाव उपस्थित कर दिये तो सरकार ने बाहर से आने वाले (अदन को छोड़कर) नमक पर साढ़े चार आने प्रति मन के हिसाब से अतिरिक्त कर लगा दिया। इस कर के लगाने से भारतीय उद्योग को अच्छी सहायता प्राप्त हुई। सन् १६३२ में भारत तथा अदन के नमक के मूल्य के सम्बन्ध में काफी विरोध सा चलता रहा। इसमें इटली वाले, पूर्वी अफ्रीका ने भी हाथ बँटाया। फलतः १६३५ में मूल्य का स्थायीकरण करने तथा आन्तरिक प्रतियोगिता को दूर करने के लिये 'साल्ट मार्केटिंग बोर्ड' की स्थापना की गई। तब से भारत में नमक का उत्पादन एक ही गति से चलता जा रहा है। इस समय देश में ३६,१८ लाख आदमियों में केवल २१ लाख टन नमक की खपत होती है, जब कि अमेरिका में १२०० लाख अमरीकनों के बीच ८० लाख टन नमक की खपत होती है। वास्तव में जब तक देश में औद्योगिक कार्यों में काफी मात्रा में नमक नहीं खपाया जाता तब तक इस उद्योग का और विकास नहीं हो सकता। नमक के उद्योग की वर्तमान दशा को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस उद्योग को अब संरक्षण की आवश्यकता नहीं रह गई है।

कुछ अन्य छोटे-छोटे उद्योग—उपरोक्त उद्योगों के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे उद्योगों को भी संरक्षण प्राप्त हुआ। इन उद्योगों में चाय की पेटियों का उद्योग, सोने के तार का उद्योग, मैगनेशियम क्लोराइड, प्लाईउड आदि के उद्योग मुख्य हैं। इन उद्योगों में भी संरक्षण के लिये आवश्यक बातें उपलब्ध थीं।। संरक्षण प्राप्त होने के पश्चात् इन उद्योगों ने भी अच्छी उन्नति की। इन उद्योगों के अतिरिक्त मदरास में, मलाया व थाइलैण्ड से आने वाले टूटे चावल आदि पर भी कर लगाकर देश के कृषकों व कृषि की रक्षा की थी।

अभी तक हमने संरक्षण वाले उद्योगों पर संक्षेप में विचार किया। अब हम यहाँ ऐसे उद्योगों या धन्धों पर प्रकाश डालेंगे जिन्हें संरक्षण प्राप्त नहीं है।

वे उद्योग जिन्हें संरक्षण प्राप्त नहीं है—बहुत से उद्योग थे जिनको कि 'टैरिफ बोर्ड' ने संरक्षण प्रदान करने का सुझाव रखा था परन्तु सरकार ने उसे अस्वीकृत कर दिया। इनमें से मुख्य-मुख्य उद्योग निम्नलिखित हैं :—

(१) भारी रासायनिक उद्योग;
(२) कोयले का उद्योग;
(३) तेल का उद्योग;
(४) काँच का उद्योग;
(५) सीमेन्ट का उद्योग।

बड़े रासायनिक उद्योग (Heavy Chemicals Industry)—पहले डेढ़ वर्ष (अक्तूबर १९३१ से लेकर १३ मार्च १९३३ तक) तक इस उद्योग को संरक्षण प्राप्त रहा किन्तु बाद में कुछ कारणों से इस पर से संरक्षण हटा लिया गया। भारी रासायनिक पदार्थों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक तो एसिड (द्रव पदार्थ) जैसे सलफ्यूरिक, हाइड्रोक्लोरिक, नाइट्रिक आदि, दूसरे पदार्थ अलकालीज (क्षार पदार्थ) हैं। सोडा ऐश, कास्टिक सोडा, सोडियम सलफाइड, जिंक क्लोराइड आदि ऐसे ही पदार्थों में हैं। इन पदार्थों का निर्माण अभी भारत में नहीं हो रहा है। द्रव पदार्थों का उत्पादन प्रथम विश्वयुद्ध के समय में होने लगा परन्तु इस समय जितना उत्पादन हुआ, वह पर्याप्त नहीं था, दूसरे इसमें लागत भी अधिक लगती थी परन्तु बाद में इस उद्योग को काफी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। अतएव इस उद्योग की दशा की जाँच करने के लिए टैरिफ बोर्ड से प्रार्थना की गई। टैरिफ बोर्ड ने इसकी अच्छी तरह जाँच की और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस उद्योग के लिए संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इस उद्योग से उत्पन्न होने वाले रासायनिक पदार्थों की देश के बहुत से उद्योग जैसे कागज के उद्योग, काँच के उद्योग, साबुन के उद्योग, पेन्ट वार्निश के उद्योग, कृत्रिम रेशम के उद्योग आदि में काफी उपयोग होता है। औद्योगिक कार्यों के अतिरिक्त रासायनिक पदार्थों का उपयोग कृषि में भी होता है। अमोनिया सलफेट, सुपर फासफेट जैसी खादें, धान, गन्ना, रबर तथा चाय की फसलों के लिए बड़ी उपयोगी होती हैं। टैरिफ बोर्ड ने कहा था कि जिस देश की ९० प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर रहती है उसे इस प्रकार की उपयोगी खादों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़े यह आश्चर्य नहीं तो और क्या है? रासायनिक उद्योग के उत्पान का महत्व देश की सुरक्षा के लिए भी काफी है। टैरिफ बोर्ड ने इस उद्योग की दशा सुधारने के लिए कई सुझाव पेश किए। उसने इस उद्योग की रक्षा के लिए विशेष संरक्षणकर, तथा १८ रुपया प्रति टन के हिसाब से सुपर फास्फेट पर जो कि खाद के रूप में प्रयुक्त होता था सरकारी सहायता दी। रेलवे के भाड़े में भी कमी करने का सुझाव रखा। इसके अतिरिक्त बोर्ड ने इस उद्योग को एक राष्ट्रीय आधार पर सुसंगठित करने की भी सलाह दी परन्तु सात वर्ष पश्चात् इस उद्योग की जाँच करने की फिर व्यवस्था की गई। परन्तु सरकार ने इस समस्या की ओर सहानुभूतिपूर्वक ध्यान नहीं दिया। उसने इस आधार पर कि सल्फर (गन्धक) का अभाव है संरक्षण देने से इन्कार किया। बाद में विधान सभा तथा जनता द्वारा जोर दिए जाने पर केवल अठारह मास के लिए संरक्षण प्रदान किया गया बाद में इसे बन्द कर दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के समय इस उद्योग की महत्ता का पूरा पता चला। सरकार यह अच्छी तरह समझ गई कि इस उद्योग का उद्योग तथा कृषि दोनों ही दृष्टिकोणों से काफी महत्व है। अब सरकार इस उद्योग को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है। उसने १९४८ में बिहार में सिन्दरी नामक स्थान में अमोनिया सलफेट के निर्माण

के लिए एक कारखाना भी खोला है। १६४६ में भारत ने १५,८३००० हन्डरवेट सलफ्यूरिक एसिड का निर्माण किया, इसी वर्ष उसने विदेशों से २१ करोड़ रुपए की कीमत के रासायनिक पदार्थों का आयात किया। आशा है निकट भविष्य में यह उद्योग अपनी आवश्यकता के लिए आत्मनिर्भर हो जायगा।

कोयले का उद्योग—कोयले का उद्योग भी बड़ा महत्वपूर्ण उद्योग है। देश में कोयले की सबसे अधिक खपत रेलें करती हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से महत्वपूर्ण उद्योग जैसे कपड़े, जूट, लोहे, फौलाद आदि में भी इसकी खपत काफी होती है। रेलवे के पास अपनी निजी कोयले की खानें हैं और वे बाजार से तभी कोयला खरीदती हैं जब कि उसके भाव में काफी गिराव होता है। १६२६ में इस उद्योग की दशा काफी खराब हो गई। उस वर्ष टैरिफ बोर्ड ने इसको संरक्षण प्रदान करने के लिए जाँच की। उसे पता लगा कि कुल २४० लाख टन उत्पन्न होने वाले कोयले में से ६५ लाख टन कोयला केवल रेलों द्वारा प्रयुक्त किया गया। देश में गाड़ी के डिब्बों की कमी तथा दक्षिण अफ्रीका से आने वाले सरकारी सहायता प्राप्त कोयले के कारण देश के कोयले के उद्योग की स्थिति बड़ी खराब हो गई थी। टैरिफ बोर्ड ने इस बात पर जोर दिया कि अत्यधिक विकास के कारण इस उद्योग की दशा अच्छी नहीं है। बोर्ड के कुछ सदस्यों ने दक्षिण अफ्रीका से आने वाले कोयले पर १॥) रु० के हिसाब से समप्रभावोत्पादक कर लगाने का सुझाव रखा परन्तु बहुमत इसके पक्ष में नहीं था, उसने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। सरकार भी बहुसंख्यक वर्ग के विचारों से सहमत हुई और उसने सहायता देने से इनकार कर दिया। यदि यह कहा जाय कि सरकार ने इस उद्योग को संरक्षण इसलिए नहीं प्रदान किया कि इसको संरक्षण प्रदान करने से कोयले के साधनों की सुरक्षा पर आक्षेप आवेगा तो यह बात उपयुक्त नहीं हो गई। वास्तव में सरकार का दृष्टिकोण ही कुछ दूसरा था, उसने करांची से बम्बई भेजे जाने वाले कोयले के भाड़े में भी किसी प्रकार की कमी नहीं की जिससे इस उद्योग को कुछ सुविधा प्राप्त हो जाती। इसे सुविधा न प्रदान करने के पक्ष में सरकार ने कहा कि रेलवे एक व्यावसायिक संस्था है, अतएव ऐसी सुविधा नहीं प्रदान की जा सकती। कोयले जैसे महत्वपूर्ण वस्तु की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप यह उद्योग काफी विकसित हो जायगा और अभी जो करीब ५० प्रतिशत कोयले की निकालते समय हानि होती है, वह भी बच जायगी अच्छे वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से कोयला निकालने में सुविधा प्राप्त हो जायगी।

मिट्टी के तेल का उद्योग—सन् १६२८ में 'स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी' तथा 'बर्मा शेल ग्रुप' में तेल के मूल्य आदि के सम्बन्ध बड़ी प्रतियोगिता चल रही थी। उस समय बर्मा भारतवर्ष का एक भाग था। भारतवर्ष में संसार के अन्य देशों की अपेक्षा कम मूल्य पर मिट्टी का तेल बेचा जा रहा था। जब 'टैरिफ बोर्ड' ने इस मामले की जाँच की तो उसे पता चला कि इस प्रतियोगिता के सञ्चालन में मुख्य हाथ 'बर्मा शेल ग्रुप' का है जिसका उद्देश्य 'स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी' को अपने तेल के मूल्य में परिवर्तन करने के लिए बाध्य करना है। इसलिए उस समय यह स्पष्ट हो गया कि संरक्षण की जो माँग की गई है वह उचित नहीं है, उसका प्रभाव भारत में मिट्टी के तेल के उपभोक्ताओं पर बुरा पड़ेगा। अतएव 'टैरिफ बोर्ड' तथा सरकार दोनों ने ही इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने से इनकार कर दिया।

सीमेन्ट का उद्योग—इस उद्योग की स्थापना सबसे पहले मदरास में १६०४ ई० में हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के समय में इस उद्योग ने अच्छी उन्नति की। युद्ध के पूर्व (१६११) देश में केवल ६४५ टन सीमेन्ट उत्पन्न की गई जब कि १६२० में सीमेन्ट के दस कारखानों ने ५,५०,००० टन सीमेन्ट तैयार की। इसके बाद इस उद्योग की ब्रिटिश तथा अपनी आन्तरिक प्रतियोगिता के कारण

स्थिति बड़ी खराब हो गई। ब्रिटेन की सीमेन्ट को भारतीय लोग काफी पसन्द करते थे यद्यपि यह सीमेन्ट किसी रूप में भारतीय सीमेन्ट से अच्छी नहीं होती थी किन्तु फिर भी ब्रिटिश सीमेन्ट को लोग अधिक पसन्द करते थे। ब्रिटिश सीमेन्ट की स्थिति बन्दरगाहों वाले नगरों में और अच्छी थी, रेलवे के भाड़े आदि के कारण भारतीय सीमेन्ट इन नगरों में विदेशी सीमेन्ट से अच्छी तरह मुकाबला नहीं कर पाता था। इन नगरों में भारतवर्ष की कुल सीमेन्ट की खपत के आधे से भी अधिक की खपत होती थी। टैरिफ बोर्ड ने भारतीय सीमेन्ट के उद्योग की इस स्थिति की भलीभाँति जाँच की। बोर्ड ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत में इस उद्योग के विकास के लिए प्रायः सभी प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं। यहाँ पर पर्याप्त मात्रा में चूना तथा अच्छी मिट्टी उपलब्ध है, यहाँ जिप्सम भी काफी अच्छी मात्रा में मिलता है। श्रम की भी कोई कमी नहीं है। इस प्रकार इस उद्योग के विकास के लिए प्रायः सभी साधन थे किन्तु बोर्ड ने कहा कि उद्योग के विकास में अच्छी सहायता संरक्षण करों से नहीं मिल सकती क्योंकि यहाँ पर आन्तरिक प्रतियोगिता बहुत है जिसे संरक्षण करों से दूर नहीं किया जा सकता। इसके स्थान पर बोर्ड ने संरक्षण के अतिरिक्त बन्दरगाहों या इसी प्रकार के नगरों को भेजी जाने वाली सीमेन्ट को सरकारी सहायता देने का सुझाव रखा। परन्तु इसके साथ एक यह शर्त लगा दी कि जब तक सरकार इस बात पर पूर्णरूप से सन्तुष्ट नहीं हो जाती कि उसके सहायता प्रदान करने से भारतीय सीमेन्ट के मूल्य में ह्रास होगा तब तक उसे सरकारी सहायता न प्रदान की जाय। परन्तु सरकार ने इन प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया।

यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि सन् १६२४ में जब कि 'टैरिफ बोर्ड' ने इस उद्योग की जाँच की उस समय यह उद्योग संरक्षण प्राप्त होने की स्थिति में था, उसमें संरक्षण की भारी आवश्यक शर्तें प्राप्य थीं। सरकार के इस उद्योग को संरक्षण न प्रदान करने की घोषणा के पश्चात् तीन नवीन सीमेन्ट के कारखाने बैठ गये और यदि इस उद्योग ने अपना सङ्गठन न किया होता तो और भी कितने कारखाने लुप्त हो जाते। इससे यह स्पष्ट है कि सरकार ने इस उद्योग को संरक्षण न प्रदान करके एक बड़ी भूल की। अब इस समय यह उद्योग काफी अच्छी स्थिति में है, इस समय वह आत्मनिर्भर है। सन् १६४६ में देश में २१ लाख टन सीमेन्ट का उत्पादन हुआ था। आशा है निकट भविष्य में यह उद्योग और उन्नति करेगा।

काँच का उद्योग—काँच का उद्योग भारत में काफी प्राचीन काल से चला आ रहा है परन्तु इस उद्योग को आधुनिक रूप प्रथम विश्वयुद्ध के समय प्राप्त हुआ। १६१२ में यह अनुमान लगाया गया था कि देश में इस समय काँच के बीस कारखाने हैं। सन् १६३१ में जब टैरिफ बोर्ड ने इसकी जाँच की तो पता चला कि अब ५६ कारखाने हो गए हैं। टैरिफ बोर्ड ने इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए उन्हीं तीन शर्तों पर विचार किया। बोर्ड ने यह निष्कर्ष निकाला कि सोडा ऐश को छोड़कर इस उद्योग के लिए अन्य सभी वस्तुएँ भारत में उपलब्ध हैं। केवल सोडा ऐश ही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं था। परन्तु सोडा ऐश के उत्पादन के लिए सोडियम कार्बोनेट तथा सोडियम सलफेड देश में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। बाद में १६३४ में काठियावाड़ में 'श्री शक्ति अल्कली वर्क्स' ने अच्छी मात्रा में सोडा ऐश बनाना शुरू कर दिया। आज तो 'टाटा केमिकल्स' तथा 'इम्पीरियल केमिकल्स' काफी मात्रा में सोडा ऐश निर्मित करने लगे हैं। इन स्थितियों में टैरिफ बोर्ड ने उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए सुझाव उपस्थित किया था और कहा था कि देश में निकट भविष्य में सोडा ऐश उत्पन्न किए जाने की काफी आशा है। परन्तु सरकार ने इस आधार पर काँच के उद्योग को संरक्षण प्रदान करने से इन्कार कर दिया कि सोडा ऐश विदेश से आसानी से मंगाया जा सकता है और वहीं से मंगाना चाहिए। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है सरकार का उद्देश्य बाहर से सोडा ऐश मंगाकर ब्रिटिश रासायनिक उद्योगों को सहायता देनी थी। यदि

सरकार उस समय जरा भी उदार होती तो यह उद्योग अपने पैरों पर आसानी से खड़ा हो जाता और देश में काँच की मांग को आसानी से पूरा करने में समर्थ होता।

इस विवेचनात्मक संरक्षण के परिणाम—हमने ऊपर विवेचनात्मक संरक्षण के अन्तर्गत कुछ उद्योगों पर प्रकाश डाला। यहाँ पर हम देखेंगे कि सरकार की इस नीति से क्या-क्या लाभ हुए और कौन-सी हानियाँ हुईं। इन लाभ और हानियों को हम नीचे लिखे भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) मन्दी के समय में उन उद्योगों की स्थिति काफी अच्छी रहीं जिन्हे संरक्षण प्राप्त था। मन्दी के समय में इन उद्योगों ने काफी उन्नति की।

(२) जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हुआ वे १९२३ के बाद से बराबर प्रगति करते गए। इस बात का पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

उत्पादन १९२२–१९४९

	१९२२	१९३२	१९३९	युद्ध के समय	१९४९
स्टील (००० टनों में)	१३१	५९१	१०४२	१३४३	१३३०
कपास (दस लाख गजों में)	१७१४	३१७०	४११६	४८५२	४३१९
गन्ना (००० टनों में)	२४	१५३	९३१	१२१०	१०१०
कागज व कागजी दफ्ती (००० टनों में)	३४	४०	६७	९८	१०३
दियासलाई (दस लाख ग्रुस में)	१६	१९	२२	३३	२६

(३) संरक्षण के कारण कितने ही ऐसे उद्योग जो कि संरक्षण वाले उद्योग पर अवलंबित थे विकसित हो गए। इससे देश की आर्थिक स्थिति में भी कुछ सुधार हुआ।

(४) प्राचीन उद्योगों के विकास तथा नवीन उद्योगों की स्थापना के फलस्वरूप देश के उद्योगों में बहुत से लोगों को नौकरी या अन्य काम-काज मिल गया। १९३१ में कारखानों में काम करने वालों की संख्या १४ लाख थी, १९३९ में इस संख्या में वृद्धि हुई, इस समय कारखानों में काम करने वाले लोगों की संख्या बीस लाख हो गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संरक्षण द्वारा देश के उद्योग को कई लाभ प्राप्त हुए। परन्तु कुछ लोगों का कथन है कि भारत के उपभोक्ताओं पर संरक्षण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संरक्षण के कारण वस्तुओं के मूल्य में कुछ वृद्धि हो जाती है, इस वृद्धि के कारण उपभोक्ताओं को अधिक दाम देने पड़ते हैं, उन पर भार अधिक हो जाता है किन्तु यह भार इस बात पर निर्भर रहता है कि संरक्षण कितने दिनों के लिए दिया गया है और कितने परिमाण में दिया गया है। इस भार का ठीक से पता लगाने के लिए हमें संरक्षण करों की दर तथा राजस्व की दर की तुलना करनी पड़ती है। हमें यह भी देखना पड़ता है कि संरक्षण से पूर्व विदेशों से कितने परिमाण में वस्तुएँ आईं, देश में कितनी मात्रा में उनका उत्पादन हुआ, घरेलू बाजारों में उनकी क्या कीमत रहीं और इन्हीं सब बातों की स्थिति संरक्षण के बाद क्या रही। इन तथ्यों से हम किसी भी देश के संरक्षण से मिलने वाली अतिरिक्त आय का अनुमान निकाल सकते हैं। इस वास्तविक अतिरिक्त आय में मजदूरी पूँजी का सूद, लाभांश आदि सम्मिलित रहता है।

उपरोक्त बातों को देखते हुए हम यह निष्कष निकाल सकते हैं कि संरक्षण से काफी लाभ प्राप्त होते हैं। सन् १६४५ के बाद जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हुए हैं उनके विषय में अभी कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सकती। इन वर्षों में मुद्रास्फीत, मजदूरी में वृद्धि, पूँजी प्राप्त होने में कठिनाइयों आदि के कारण संरक्षण का भार अधिक रहा है। यदि भूतकाल में संसार की स्थिति अच्छी रहती, और यदि संरक्षण और उदार तथा वैज्ञानिक ढंग से दिया जाता तो भारत की आर्थिक स्थिति काफी अच्छी रहती, औद्योगिक क्षेत्र में वह और आगे बढ़ सकता था।

क्या संरक्षण एक भार है—हम संरक्षण से होने वाले लाभों और हानियों के विषय में पीछे प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ पर हम देखेंगे कि संरक्षण को भार कहना कहाँ तक न्यायसंगत है। संरक्षण के विपक्ष में सबसे बड़ी बात यह कही जाती है कि संरक्षण एक भार है। यह देश के निर्धन मनुष्यों पर एक आवश्यक तथा अनुचित बोझ सा होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संरक्षण एक भार है किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह भार निर्धन व्यक्तियों पर ही पड़ता है? क्या इससे होनेवाली हानि लाभ से अधिक रहती है? आइये हम यहाँ इन्हीं प्रश्नों पर विचार करें। प्रायः लोग यह कहा करते हैं कि संरक्षण बड़ा मँहगा पड़ता है और कृषक को इस बोझ से बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस प्रश्न पर जरा शान्तिपूर्वक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन वस्तुओं के संरक्षण प्राप्त होता है वे गाँवों तक पहुँचती ही नहीं। सुन्दर वस्त्र, शराब, काँच के बर्तन, घड़ियाँ तथा बिसातखाने के अन्य बहुमूल्य सामान गाँवों में नहीं बिकते। ग्रामीणों को न तो कागज की आवश्यकता होती है, न शकर की और न फौलाद ही की। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि संरक्षण का भार इन निर्धन व्यक्तियों पर ही अधिक पड़ता है। वास्तव में संरक्षण का भार तो शिक्षित मध्यम वर्ग के लोगों पर पड़ता है। वर्तमान काल में करों आदि में बराबर वृद्धि होती जा रही है। विलासिता की वस्तुओं पर बिक्री कर, अतिरिक्त कर आदि लगते चले जा रहे हैं और धनी व्यक्ति काफी मात्रा में सरकारी कोष में कर देता चला जा रहा है। इन सब का भार धनियों पर ही है न कि निर्धनियों पर। देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाने पर भी इस दिशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है, मध्यमवर्ग की दशा अब भी खराब बनी हुई है। अतएव हम यह नहीं कह सकते कि संरक्षण द्वारा निर्धनों को बड़ी हानि उठानी पड़ती है।

एक बार फिर यह कह देना अनुचित न होगा कि संरक्षण से जितनी हानियाँ होती हैं उससे अधिक लाभ हैं। भारत में यद्यपि संरक्षण की स्थिति अच्छी नहीं रही है किन्तु फिर भी देश को इससे काफी लाभ प्राप्त हुए हैं, कितने ही लोगों को रोजगार मिल गया, नौकरियाँ मिल गईं, देश के कितने ही प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग हो गया, विदेशों को बहुत सा धन जाने से बच गया। इन्हीं सब बातों से हम कह सकते हैं कि भारत को संरक्षण से कोई हानि नहीं हुई है।

विवेचनात्मक संरक्षण पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विवेचनात्मक संरक्षण से देश के कितने ही प्राचीन उद्योगों को जो कि लुप्तप्राय थे प्राण मिले, कितने ही उद्योगों का विकास हुआ और कितने ही सहायक नवीन उद्योगों को स्थापना का अवकाश मिला। किन्तु यह सब होते हुए भी कुछ भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इस विवेचनात्मक संरक्षण की काफी कटु आलोचना की। कुछ विद्वानों ने कहा कि इस विवेचनात्मक संरक्षण को संरक्षण कहना भूल होगी। सरकार की इस विवेकपूर्ण या विवेचनात्मक संरक्षण-नीति ने भारतीयों की आकांक्षाओं और आशाओं की पूर्ति नहीं की है। गत बीस वर्षों में भारत में संरक्षण से जितना लाभ हुआ है, उससे कहीं अधिक लाभ इससे कम समय में रूस तथा जापान को अपनी-अपनी संरक्षण-नीति द्वारा हुआ है। यदि यह कहा जाय कि संरक्षण-नीति से भारत के औद्योगिक विकास को बहुत बड़ा लाभ हुआ है तो यह अत्युक्ति होगी, जिस प्रकार आज से बीस वष पूर्व हमारा देश एक

कृषि प्रधान देश कहलाता था, उसी प्रकार औद्योगीकरण से कितनी ही दूर आज का भारत भी पहले की भाँति एक कृषि प्रधान देश बना हुआ है।

भारतीय अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर आदरकर ने भी कहा था कि इस संरक्षण से उन उद्योग-धन्धों को जिन्हें बाद में जाकर स्वयं ही अपने विकास का रास्ता ढूँढ़ना पड़ा, थोड़ी सी नाम-मात्र की सहायता मिल जाने के अतिरिक्त और कुछ लाभ नहीं मिला। वास्तव में संरक्षण से अधिक लाभ न मिलने का कारण संरक्षण प्रदान करने के लिये आवश्यक शर्तों का कठोर ही होना है। उदाहरण के लिये पहली शर्त को ही ले लीजिये। इसके अनुसार यदि किसी उद्योग को आवश्यक प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं तो उसे संरक्षण प्रदान कर दिया जाना चाहिए जिससे कि वह अपना विकास कर सके। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यदि किसी उद्योग को सभी प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं तो उसे संरक्षण की आवश्यकता ही क्या, क्या वह बिना संरक्षण के अपना विकास नहीं कर सकता। फिर यदि किसी उद्योग को अपने उत्पादन की बिक्री के लिये देश में बाजार नहीं प्राप्त होता किन्तु विदेशों में उसकी खपत काफी हो सकती है तो फिर क्यों उसे संरक्षण से वंचित रखा जाय। इसके अतिरिक्त यदि कोई उद्योग ऐसा है जिसमें उपयुक्त होने वाले कच्चा माल विदेशों को काफ़ी मात्रा में भेज दिया जाता है किन्तु ऐसा होते हुए भी वह अपना अच्छा विकास कर सकता है तो फिर उसे भी क्यों न संरक्षण प्रदान किया जाय। यदि हम अन्य देशों के उद्योगों पर दृष्टि डालें तो हमें पता चल जायगा कि इनमें से अधिकांश देशों के उद्योग ऐसे थे जिनमें संरक्षण के लिये ये आवश्यक शर्तें उपलब्ध नहीं थीं, यदि इन उद्योगों को इन्हीं शर्तों के अनुसार संरक्षण प्रदान किया जाता तो उनका विकास करना असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य था। अगर मान लीजिये कि ये शर्तें कठोर थीं तो भी उन्हें किसी सीमा तक माना जा सकता था किन्तु इसके साथ ही सरकार की नीति ऐसी थी। ये शर्तें उन्हीं उद्योगों के लिए थीं जो कि पुराने थे और पहले से चले आ रहे थे। नवीन उद्योगों के लिए जो उस समय पनपे नहीं थे संरक्षण के लिये कोई स्थान नहीं था।

यह तो रही संरक्षण-नीति की बात, इसके अतिरिक्त टैरिफ बोर्ड जिसका कार्य संरक्षण के लिये उद्योग की जाँच करना और इस सम्बन्ध में अपने विचार उपस्थित करना था। उसका भी सङ्गठन और कार्यप्रणाली ऐसी नहीं थी जिससे उद्योग को यथा समय उचित सहायता प्राप्त होती। बोर्ड के सदस्यों की नियुक्ति कार्यकारिणी द्वारा होती थी, ये सदस्य दुबारा फिर नियुक्त किये जाते थे। ये सदस्य साधारणतया सरकारी अधिकारी ही हुआ करते थे और इनसे निष्पक्षता की आशा करना दुराशा मात्र थी। प्रत्येक उद्योग के लिये एक नवीन टैरिफ बोर्ड नियुक्त किया जाता था इस प्रकार उनमें एक लम्बे अनुभव की कमी रहती थी। उनका दृष्टिकोण संकुचित रहता था, जो कुछ अनुभव या ज्ञान उन्हें एक जाँच में प्राप्त हो जाता उसका कोई उपयोग न हो पाता था। टैरिफ बोर्ड आराम के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमता और सदस्यों की सुविधा के अनुसार रिपोर्ट तैयार की जाती, इसके बाद फिर सरकार भी इसमें कुछ समय लगाती। इस प्रकार कभी-कभी रिपोर्ट के तैयार होने में एक साल से भी अधिक हो जाता। इस प्रकार की दीर्घसूत्री संस्था का व्यावसायिक प्रगति के साथ चलना सम्भव नहीं था। चाहे कोई उद्योग बिल्कुल लुप्तप्राय ही क्यों न होता हो किन्तु उसे उचित समय पर सहायता न मिल पाती। कभी-कभी सरकार स्वयं टैरिफ बोर्ड के सुझावों या प्रस्तावों को अस्वीकृत कर देती। फिर संरक्षण देते समय विदेशी हितों का भी ध्यान रखा जाता। 'इम्पीरियल प्रिफरेन्स' का भी बोर्ड के निर्णयों पर बुरा प्रभाव पड़ा।

जब हम अपने देश के कतिपय उद्योग जैसे तेल, ऊन, छापने वाली स्याही के उद्योगों को देखते हैं, जिन्हें संरक्षण नहीं प्राप्त हुआ तो हमें पता चल जाता है कि यह संरक्षण-नीति विचारशील नहीं थी। देश में उस समय कितने ही ऐसे उद्योग थे जिन्हें काफी प्रोत्साहन और सहायता मिलने

की आवश्यकता थी। इनमें से साबुन, जलयान, वायुयान, बिजली के निर्माण तथा आटम्बाइल्स के उद्योग मुख्य थे। अन्य देशों जैसे आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमरीका आदि में स्थायी रूप से टैरिफ कमीशन रहते हैं। इनका कार्य, औद्योगिक क्षेत्र में होने वाली अव्यवस्था या गड़बड़ जाँच करना था। ग्रेट ब्रिटेन की आयात सलाहकारिणी समिति भी इस दिशा में अच्छा कार्य करती है। यदि भारत में भी औद्योगिक विशेषज्ञों की एक विशाल एवं स्थायी संस्था रहती और उसके सदस्यों को अपने कर्त्तव्य-पालन में स्वच्छन्दता होती तो उससे भारतीय उद्योगों को काफी सहायता मिल जाती। तब हमारे उद्योग के विकास की यह गति न रहती जैसी कि आज है, उससे भारत के औद्योगीकरण में काफी सहायता मिलती।

ऊपर हमने विवेचनात्मक संरक्षण की नीति में थोड़ा सा प्रकाश डाला। इस सम्बन्ध में श्री बी० पी० आदरकर महोदय के भी विचार काफी महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने भारत में संरक्षण नीति के सम्बन्ध में अपने सुझाव देते हुये लिखा है कि हमें विवेचनात्मक संरक्षण की नीति में उसके आधारभूत सिद्धान्तों में आमूल परिवर्त्तन करना होगा। जिन सिद्धान्तों के आधार पर संरक्षण की व्यवस्था की जाय वे सरल एवं सुगम होने चाहिए। संरक्षण प्रदान करने के लिये आवश्यक शर्तों को भी कुछ ढीला करना चाहिये। कच्चे माल आदि की शर्त्त को उतना कड़ा नहीं होना चाहिए। इस बात को कार्य रूप में परिणि, करने का सबसे अच्छा तरीका किसी विशेष उद्योग के प्राकृतिक साधनों के भूत तथा वर्तमान के आंकड़ों को देखना चाहिये। उस संरक्षण सिद्धान्त की तीसरी शर्त्त को तो समाप्त कर देना चाहिये।

दूसरे टैरिफ बोर्ड के सङ्गठन तथा उसकी कार्यपद्धति में भी अच्छी तरह परिवर्त्तन किया जाना चाहिये और इस समय जो संरक्षण के प्राप्त होने में अनेक बाधाएँ व रुकावटें होती हैं, उन्हें दूर कर दिया जाना चाहिए। उद्योगों के विकास के लिए दिए जाने वाले संरक्षण, रक्षा के लिये तथा राजस्व के लिये लगने वाले संरक्षण या संरक्षण करों में पूर्णरूप से विभेद होना चाहिये, तीनों के कार्यक्षेत्र को पूर्णरूप से स्पष्ट कर दिया जाना चाहिये। राजस्व के लिए लगे हुए टैरिफ का यदि उद्योग-धन्धों के विकास पर बुरा असर पड़ता है। पाँचवे, सरकार को प्रयोगात्मक टैरिफ के द्वारा उद्योगों के विकास का प्रयत्न करना चाहिये और यदि इसका कोई लाभ न हो तो उसे इसको बंद कर देना चाहिये।

साम्राज्यान्तर्गत रियायत (Imperial Preference)—साम्राज्यान्तर्गत रियायत की नीति का जन्म गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। इसके जन्मदाता जोसेफ चेम्बरलेन जैसे योग्य राजनीतिज्ञ थे। वैसे तो इङ्गलैण्ड में इसका प्रचलन १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में ही हो चुका था। उस समय मातृभूमि (इंगलैंड) को निर्यात करने की प्राथमिकता या रियायत थी। साम्राज्यान्तर्गत रियायत का तात्पर्य साम्राज्य के व्यापार को इस प्रकार प्रसारित करना है जिससे साम्राज्य के विभिन्न अङ्ग या सदस्य आपस में सुगमता से व्यापार कर सकें और जिससे टैरिफ सम्बन्धी रुकावटों में कमी हो। इस पद्धति के अनुसार साम्राज्य के विभिन्न अंगों को अपने आयात-निर्यात करों को नियन्त्रित करने का पूरा अधिकार हो, साम्राज्य को या साम्राज्यान्तर्गत देशों को रियातत देना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर रहेगा।

सन् १९०३ के पूर्व साम्राज्यान्तर्गत रियायत के सम्बन्ध में जितनी भी बातें हुईं उनसे भारत को अलग ही रखा गया। १९०३ में भारत-सचिव के निमंत्रण पर भारत सरकार ने इस प्रश्न पर कुछ विचार किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि भारत को इस योजना में सम्मिलित होने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा, उल्टे उसे इससे हानि होने का ही भय है। थोड़े समय के लिए इस प्रश्न को छोड़ दिया गया। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् साम्राज्य के अधिकांश सदस्य इस योजना में

सम्मिलित होगए, कितने ही सदस्य रियायत सम्बन्धी इस सिद्धान्त को मानने के लिये विचार कर रहे थे। अतएव ऐसे समय में भारत को भी उससे अलग रहना असम्भव सा ही प्रतीत होने लगा। सन् १९१७ से यह प्रश्न भारत सरकार के सामने बड़े जोरों से उठने लगा। सन् १९२१ में अर्थ आयोग ने इस प्रश्न पर अच्छी तरह विचार किया कि इस नीति का जितना उपयोग कच्चे माल के निर्यात करने में नहीं होगा, उससे अधिक उपयोग तैयार माल के आयात में होगा। कमीशन ने कहा कि यह उपयुक्त नहीं कि भारत विदेशी हितों के लिये स्वयं अनावश्यक भार ग्रहण करे जिससे उसे कोई सुविधा न मिले। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के कारण साम्राज्य को एक दृढ़ आर्थिक इकाई बनाने का विचार इतना जोर पकड़ता जा रहा था कि अर्थ-आयोग ने रियायत सम्बन्धी नीति को हानिकारक समझते हुये किसी सीमा तक रियायत की नीति का समर्थन किया। उसने कुछ वस्तुओं को जब कि टैरिफ बोर्ड उनकी जाँच करले तथा विधान-सभा उन पर अपनी स्वीकृत दे दे तो उन्हें साम्राज्यान्तर्गत रियायत के अनुसार भारत इंगलैण्ड को मुक्त भेंट रूप में प्रदान कर दे। कमीशन ने बाद में कहा कि 'हम यह नहीं चाहते कि भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हुए भी साम्राज्य से नैतिक रूप से अलग रहे। भारत द्वारा दी गई यह भेंट अल्प होने पर भी दोनों देशों की मित्रता की द्योतक होगी।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय साम्राज्यान्तर्गत रियायत नीति के पक्ष में नहीं थे। इस नीति के विरोध करने के मुख्य तीन कारण थे। एक तो भारतीय जनता यह समझती थी कि साम्राज्यान्तर्गत रियायत से संरक्षण में बाधा पहुँचेगी, उसमें कमी होगी, दूसरे भारतीय उपभोक्ताओं पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, तीसरे इससे भारत की आर्थिक स्वतंत्रता पर भी गहरा आघात पहुँचेगा। परन्तु इन सब विरोधों के होते हुए भी रियायत सम्बन्धी इस सिद्धान्त को भारत को मानना ही पड़ा, यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से उसने इसे नहीं माना किन्तु व्यवहार में उसे इसे स्वीकार करना ही पड़ा। १९२७ में ब्रिटिश स्टील को और १९३० में सूती कपड़े के आयात को एक प्रकार का संरक्षण प्रदान किया गया, ये दोनों बातें इस बात की प्रमाण हैं।

ओटावा सम्मेलन, १९३२—सन् १९३२ में ब्रिटिश साम्राज्य के सदस्यों का एक सम्मेलन ओटावा में हुआ। इस सम्मेलन में सदस्यों में आपस में एक प्रकार का व्यापारिक समझौता सा किया गया जिसके अनुसार भावी आयात-निर्यात व्यापार की गतिविधि का निश्चय हुआ। इस समय ब्रिटिश सरकार ने अपनी अर्थ नीति में परिवर्तन किया। उसने संरक्षण के लिये मुक्त व्यापार तथा साम्राज्यान्तर्गत रियायत नीति को त्याग देने की घोषणा की। ओटावा में होने वाले इस समझौते के अनुसार यू० के० ने भारत के कुछ वस्तुओं को माल के मुक्त रूप से आयात करने का वायदा किया। इन वस्तुओं में जूट तथा सूत का माल, कमाया हुआ चमड़ा व खालें, चावल, मूंगफली, काफी, तम्बाकू, चाय, चीड़, मैंगनीज, मैगनेशियम क्लोराइड आदि मुख्य थीं। इसके साथ ही यू० के० ने उन सभी सुविधाओं या रियायतों को जारी रखने का वचन दिया जो कि पहले से जारी थीं, साथ ही उसने अन्य देशों से आने वाली अंडी (लिनसीड) पर १० प्रतिशत के हिसाब से कर लगाने का वायदा किया। सन् १९३२ में भारतीय विधान सभा ने इस समझौते को मान्यता प्रदान की और इसे तीन वर्ष के लिये जारी रखने की घोषणा की। उपरोक्त रियायतों के बदले में भारत ने यू० के० से आने वाली मोटर गाड़ियों पर (मोटर साइकिलों के अलावा) ७½ प्रतिशत की रियायत तथा कुछ अन्य वस्तुओं पर १० प्रतिशत की रियायत दी। इस प्रकार जब कि सामाज्य से बाहर वाले देशों को स्प्रिट, सुगन्धि, बिजली के बल्व आदि पर ५० प्रतिशत देना पड़ता था तो इसी प्रकार के ब्रिटिश माल को ४० प्रतिशत। विदेशी मोटर गाड़ियों को जब कि ३७½ प्रतिशत देना पड़ता था तो ब्रिटिश मोटरगाड़ियों को केवल ३० प्रतिशत। इस प्रकार जब कि अन्य प्रकार के विदेशों से आने वाले माल को ३० प्रतिशत देना पड़ता था, तो उसी प्रकार के इंगलैण्ड के माल को केवल २० प्रतिशत।

यह समझौता तीन वर्ष तक चला। इन वर्षों में यह पता लग गया कि समझौते से भारत को कोई लाभ नहीं हुआ है। इस प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे।

ओटावा समझौते का भारत में प्रभाव—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि भारतीय जनमत पहले से ही किसी प्रकार की रियायतें प्रदान करने के विपक्ष में था, अतः यह बात स्वाभाविक थी कि ओटावा समझौते का भी भारत में कोई स्वागत नहीं होगा, उसे कटु आलोचनाओं का शिकार बनना होगा। ओटावा समझौते के समर्थकों का कथन था कि भारत व्यापारिक मन्दी तथा आर्थिक राष्ट्रीयता की ओर बढ़ती हुई विचारधारा के कारण भारत के व्यापार को बहुत धक्का पहुँचा है और यदि इस प्रकार की रियायती नीति का अनुसरण नहीं किया जाता तो भारत का व्यापार और भी कम हो जायगा। समर्थकों का इस सम्बन्ध में यह भी कथन था कि विदेशों में भारतीय निर्यात एक प्रकार से बन्द सा हो गया है, इसलिए ऐसी योजना का जिससे कि भारतीय निर्यात में वृद्धि हो, हमें खुले हृदय से स्वागत करना चाहिए। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि यदि भारतको इस समझौते से कोई विशेष लाभ नहीं होगा तो उससे कोई अधिक हानि भी नहीं होगी, इसलिए इस समझौते को अस्वीकृत करना भारी भूल होगी।

जब भारत सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त करने के पश्चात् तीन वर्षों तक इस समझौते के अनुसार आयात-निर्यात किया गया तो उस समय यह स्पष्ट हो गया कि इस समझौते के समर्थकों की बातें पूरी नहीं हुईं। इस समझौते द्वारा भारत के निर्यात-व्यापार के विस्तार को कोई विशेष लाभ नहीं प्राप्त हुआ, इंगलैंड द्वारा जो रियायतें भारत को मिली थीं उनका उसके निर्यात व्यापार पर कोई अच्छा असर नहीं हुआ। वास्तव में समझौते से जितना लाभ इंगलैंड को प्राप्त हुआ उतना भारत को नहीं। सन् १९३१-३२ से लेकर १९३४-३५ तक रियायत प्राप्त वस्तुओं का भारत का निर्यात जो कि इंगलैंड को हुआ केवल ७½ प्रतिशत बढ़ा जब कि रियायत प्राप्त वस्तुओं का इंगलैंड का भारत को आने वाले आयात में ३४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारतीय व्यापार के हित की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ओटावा समझौते का कोई लाभ नहीं हुआ। भारतीय जनसमुदाय के आर्थिक हितों की दृष्टि से भी यह समझौता सन्तोषपूर्ण नहीं था।

समझौते के बारे में सरकारी अधिकारियों का कथन था कि भारत ने जितना दिया नहीं उससे अधिक उसे लाभ मिला। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि यह लाभ केवल देखने भर को था। वास्तव में ब्रिटेन में भारत की जिन वस्तुओं को रियायत प्राप्त थी उनमें मुख्य थीं चावल, चाय, तम्बाकू तथा जूट। इन्हीं वस्तुओं से विशेष लाभ रियायत वाली अन्य वस्तुएँ कोई विशेष महत्व की नहीं थीं। इन वस्तुओं में से जिस चावल को रियायत प्राप्त हुई वह बर्मा का चावल था, चाय तथा जूट के तैयार माल का भी लाभ भारतीयों की जेब में नहीं जाता था वरन् वह अंगरेज स्वामियों व उद्योगपतियों के हाथ में जाता था। इस प्रकार यह हम बिना सन्देह कह सकते हैं कि भारत को इस समझौते से कुछ भी न मिला, उसे हानि ही हुई। उस समय हमारे व्यापार को कृत्रिम रूप से ब्रिटिश साम्राज्यों के देशों की ओर मोड़ा गया। इसके परिणामस्वरूप भारत के हाथ से यूरोप के तथा संयुक्त राज्य अमरीका और जापान जैसे ऐसे अच्छे बाजार निकल गये। इस समझौते को उस समय लाभदायक कहा जा सकता था जब कि भारत का व्यापार ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर वाले देशों के साथ बढ़ता।

ओटावा समझौते के विषय में एक यह भी बात कही जाती है कि यह समझौता औद्योगिक सहकारिता का द्योतक है। इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि इस औद्योगिक सहकारिता के उद्देश्य की पूर्ति इस आधार पर हो सकती है जब कि यू० के० यह भलीभाँति मान ले भारत अभी अपना औद्योगीकरण कर रहा है और इंगलैंड को चाहिये कि वह भारत को बड़ी-बड़ी मूल्यवान

वस्तुएँ जैसे मशीनें, मशीनों के औजार तथा शौकीनी की वस्तुएँ भेजकर ही सन्तोष रखे। जब भारत इन वस्तुओं का निर्माण करने लगे तब यू० के० भारत की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करे। भारत में अभी एक विशाल बिक्री-क्षेत्र पड़ा हुआ है। ज्यों-ज्यों भारतवासियों के रहन सहन का स्तर उच्च होगा त्यों-त्यों उनकी बढ़िया वस्तुओं की माँग की वृद्धि होती जायगी, उस समय इंगलैंड को भारत से अच्छा लाभ प्राप्त होने का अवसर मिल जायगा। भारत तथा इंगलैंड का सम्बन्ध अभी तक अच्छा बना हुआ है, राष्ट्रमंडल में सम्मिलित होकर भारत ने अपनी मित्रता का परिचय दिया है। यदि दोनों देश अपने अपने उत्तरदायित्व को ठीक से समझेंगे और एक दूसरे के हितों का ठीक से ध्यान रक्खेंगे तो औद्योगिक सहकारिता के उद्देश्य की पूर्ति होने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

बम्बई—लंकाशायर टेक्सटाइल समझौता १९३३—इस समझौते को मोदी-लीज समझौता भी कहते हैं। सन् १९३३ की सितम्बर में सर विलियम क्लारे-लीज की अध्यक्षता में ब्रिटिश टेक्सटाइल मिशन बम्बई आया। उस समय बम्बई मिल-मालिक असोशियेशन के अध्यक्ष श्री होमी मोदी (जो कि आजकल उत्तर प्रदेश के गवनर हैं) थे। इन दोनों अध्यक्षों ने मिलकर एक समझौता किया। इस समझौते का प्रभाव १९३५ के दिसम्बर के अन्त तक रहा। इस समझौते के अनुसार यू० के० से आने वाले कुछ माल के टैरिफ के स्थायीकरण की व्यवस्था की गई। लंकाशायर से आने वाले कृत्रिम रेशमी तथा सूती माल पर भारत की ओर से कम कर लगाने का वायदा किया गया। इसी प्रकार की अन्य कई सुविधाएँ ब्रिटेन को भारत ने प्रदान करने का वचन दिया। इसके बदले में भारतीय कपास के लंकाशायर की मिलों में अधिक से अधिक खपाने, भारत को यू० के० के व्यापारिक कोटे हिस्सा देने का वायदा किया, जो सुविधाएँ साम्राज्य में ब्रिटेन के माल को प्राप्त थीं उसी प्रकार की सुविधाएँ भारतीय वस्तुओं के लिए भी प्रदान करने का विचार किया गया।

मोदी-लीज समझौता भारतीय तथा ब्रिटेन के व्यापारिक हितों में सामञ्जस्य स्थापित करने वाला एक प्रकार से सबसे पहला समझौता था, परन्तु वास्तव में इस समझौते से भी कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हुआ।

भारत तथा ब्रिटेन का व्यापारिक समझौता १९३५—बम्बई-लंकाशायर समझौते के पश्चात् १९३५ की जनवरी में इन दोनों देशों में एक और समझौता हुआ। इस समझौते द्वारा भारत में ब्रिटिश उद्योग को और भी सुविधाएँ प्रदान की गईं। इस समझौते की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) जब कि किसी भारतीय उद्योग को पूर्ण संरक्षण प्रदान किया जाना हो तो उस उद्योग से सम्बन्धित ब्रिटिश उद्योगों को भी अपनी बात टैरिफ बोर्ड के समक्ष रखने का पूरा अवसर मिले;

(२) संरक्षण लग जाने पर भी यदि ब्रिटिश सरकार के निवेदन पर भारत सरकार को स्थिति की दुबारा जाँच करना चाहिये और आवश्यकता हो तो संरक्षण कर की दरों में संशोधन किया जाय;

(३) भारतीय उद्योग को दिया हुआ कोई भी संरक्षण इतना अधिक न हो कि इस उद्योग का भारत में विक्रय-मूल्य उसी उद्योग के ब्रिटेन से आनेवाले माल के विक्रय मूल्य से बहुत कम हो, तथा जहाँ तक सम्भव हो सके ब्रिटेन के माल पर अपेक्षाकृत कम कर लिया जाय;

(४) ब्रिटिश सरकार भी अपने देश की अंगरेजी मिलों में भारतीय कपास का प्रचार करे, भारत के कच्चे लोहे का बिना किसी प्रकार का कर लिए आयात करती रहे, परन्तु यह बात तभी तक रहे जब तक कि ब्रिटेन के फौलाद को भारत में उसी प्रकार की रियायतें प्राप्त हों।

इस समझौते का भारतीय विधान सभा ने काफी विरोध किया किन्तु गवर्नर जनरल ने इसे स्वीकार कर लिया। सरकार ने समझौते के समर्थन में कई बातें उपस्थित कीं, जनता ने इसका

प्रबल विरोध किया किन्तु उसका कोई परिणाम न हुआ और यह समझौता १६३६ तक चलता रहा।

भारत तथा ब्रिटेन का व्यापारिक समझौता १६३६—लगभग तीन वर्षों तक दोनों दलों में समझौते की बातें चलती रहीं। आखिरकार उपरोक्त दोनों समझौतों के स्थान पर एक नवीन व्यवस्था करने के लिये भारतीय विधान सभा के समक्ष एक विधेयक उपस्थित किया गया। विधान सभा ने इस विधेयक को अस्वीकृत कर दिया परन्तु गवर्नर जनरल ने उसे स्वीकृत कर दिया। इस समझौते की मुख्य मुख्य बातें ये थीं :—

(१) यू० के० ने भारत की कुछ वस्तुओं पर १० से लेकर २० प्रतिशत के हिसाब से रियायत देने का विचार किया तथा उसी प्रकार के कुछ अन्य वस्तुओं के मुक्त आयात की आज्ञा दे दी। इस प्रकार १६४१ तक भारत के कच्चे लोहे को मुक्त आयात का अधिकार प्राप्त रहा।

(२) भारत ने भी ब्रिटेन की बीस वस्तुओं को ७½ प्रतिशत से लेकर १० प्रतिशत की रियायत दी। यू० के० से आने वाली इन वस्तुओं में पेन्ट, सिलने की मशीनें, रासायनिक पदार्थ आदि मुख्य थीं।

(३) यू० के० से आने वाले कपड़े के आयात के हिसाब से ही भारतीय कपास के निर्यात की व्यवस्था की गई और इसी के अनुसार दोनों के करों को भी निश्चित करने का प्रयत्न किया गया।

(४) भारत तथा साम्राज्य के अन्य देशों में अच्छा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि गवर्नर जनरल ने इस समझौते को मान्यता प्रदान कर दी परन्तु भारतीय जनता ने इसका बड़ा विरोध किया। वस्तु के मूल्यानुसार वाली आयात-निर्यात व्यवस्था का जिसके अनुसार यू० के० से आने वाले सूती माल तथा भारत से भेजी जाने वाली कपास के निर्यात में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। उसका जनता ने और भी विरोध किया। इस व्यवस्था के अनुसार तो भारत के और भी आर्थिक अधःपतन को लाने का प्रयत्न किया गया। कुछ भी हो यह समझौता ओटावा के समझौते के पश्चात् अपना एक विशेष स्थान रखता था। इसके अनुसार भारत का अभ्रक, लाख, जूट के माल आदि को यू० के० में मुक्त रूप से आयात का अधिकार मिल गया। ये चीजें ऐसी थीं कि जिनका भारत के लिये विशेष आर्थिक महत्व था किन्तु इंगलैंड को इन वस्तुओं के कच्चे माल के रूप में काफी आवश्यकता थी। और उनका भारत द्वारा भेजा जाना आवश्यक था। कपास के निर्यात के सम्बन्ध में हम ऊपर कह ही चुके हैं। इसके द्वारा इंगलैंड ने भारत से खूब लाभ उठाया और भारत को बड़ी हानि सहनी पड़ी।

१६५० के अर्थ-आयोग ने भी इस समझौते के प्रभावों पर विचार किया है किन्तु उसे ऐसा करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। इसका मुख्य कारण यह है कि समझौते के काय रूप में परिणत किए जाने के बाद वाले छै महीनों के ही व्यापार सम्बन्धी विश्वसनीय आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। दूसरे युद्ध तथा युद्ध के बाद के वर्षों में जो रियायतें भारत के लिए स्वीकृत हुईं थीं उन पर आयात-निर्यात के नियंत्रण का बड़ा प्रभाव पड़ा। इन्हीं कठिनाइयों के कारण अर्थ-आयोग को १६३६ के समझौते के प्रभावों का आंकना कठिन प्रतीत हुआ।

यदि हम इस समझौते पर ध्यान से विचार करें तो हमें पता चल जायगा कि इस समझौते में ओटावा समझौते से कुछ ही बातें विशेष थीं। ओटावा समझौते की भाँति इस समझौते में भी काफी दोष थे जिनके कारण भारत को कोई विशेष लाभ मिलना असम्भव सा ही था। यू० के० के

साथ होने वाले व्यापारिक समझौते के अतिरिक्त भारत ने जापान तथा बर्मा से भी व्यापारिक समझौते किये। नीचे हम इन्हीं देशों के साथ होने वाले समझौते पर प्रकाश डालेंगे।

भारत तथा जापान का समझौता १९३४—ऊपर हम कह चुके हैं कि जापान ने अपने मुद्रा के मूल्य में ह्रास कर दिया था। जापान से भारत में काफी मात्रा में कपड़ा चला आ रहा था, इसका परिणाम यह निकला कि भारत की सूती कपड़े सम्बन्धी स्थिति बड़ी खराब हो गई थी। १९३२ में भारत सरकार ने इस स्थिति को दूर करने के लिए ब्रिटेन को छोड़कर अन्य देशों से आनेवाले माल पर ७५ प्रतिशत के हिसाब से मूल्यानुसार कर लगा दिया गया था किन्तु इससे भी स्थिति नहीं सुधरी। इसके बाद भारत सरकार ने जापान को १९०४ के समझौते को अन्त करने की नोटिस दे दी। इसका प्रभाव यह हुआ कि जापान ने भारत की कपास का बहिष्कार करना शुरू कर दिया। भारत को भी अब विदेशी वस्तुओं पर ७५ प्रतिशत के हिसाब से कर लगाने की सुविधा प्राप्त हो गई। सन् १९३३ की अक्तूबर में जापान से भारत को एक प्रतिनिधि मण्डल आया, तीन महीने से ऊपर तक समझौते की शर्तें चलती रहीं अन्त में दोनों देशों में समझौता हुआ। इस समझौते में होने वाले अभिसमय (कन्वेंशन) के अनुसार दोनों देशों ने एक दूसरे के प्रति अच्छे से अच्छा व्यवहार करने का विचार किया। दोनों देशों ने आवश्यकता होने पर विशेष आयात-निर्यात कर लगाने का अधिकार अपने हाथों में सुरक्षित रखा। इस समझौते के अनुसार भारत में आनेवाला जापानी कपड़े के आयात का तथा भारत से जापान को भेजी जानेवाली कपास के निर्यात का कोटा निश्चित कर दिया गया। इसके अनुसार जापान भारत को अधिक से अधिक ४००० लाख गज कपड़ा भेज सकता था। इसके अतिरिक्त भारत ने जापान से आनेवाले माल पर ७५ प्रतिशत के स्थान पर अब मूल्यानुसार ५० प्रतिशत कर लगा दिया।

इस समझौते द्वारा दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्धों को अच्छा करने का प्रयत्न किया गया। दोनों देशों में आपस में जो पहले कुछ कटु भावनाएँ आई थीं, उनका अन्त हो गया। परन्तु थोड़े ही दिनों बाद जापान के विरुद्ध भारतीय मिलों के मालिक कई शिकायतें करने लगे। इसका मुख्य कारण यह था कि जापान वाले भारत के लिए जितना कोटा निश्चित किया गया था उससे अधिक माल भेजने लगे। इसके लिए उन्होंने कई चालाकियां कीं। वह यहां बनावटी रेशम का माल तथा सिले कपड़े जो कि कोटे में सम्मिलित नहीं थे भेजने लगा। वह यहां कटपीस के कपड़े भी भेजने लगा, इन पर उसे कम कर देना पड़ता था। इन सब के परिणाम स्वरूप जापान का भारत को आने वाला निर्यात काफी बढ़ गया। इन कपड़ों के अतिरिक्त जापान छाते, साइकिल खिलौने तथा बिसातखाने के अन्य सामान का भी भारत को काफी निर्यात करता था। जापान के इस प्रकार के निर्यात का प्रभाव भारतीय उद्योगों पर बड़ा बुरा पड़ रहा था। इसलिये १९३७ में जापान के साथ एक नवीन समझौता किया गया।

भारत तथा जापान का नवीन समझौता १९३७—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत में जापान के साथ होने वाले इस पहिले समझौते के प्रति लोगों की भावना काफी विपरीत थी। १९३४ के समझौते की अवधि ३१ मार्च १९३७ थी। इसलिए प्रथम समझौते की समाप्ति और नवीन समझौता करने के समय पहले वाले समझौते पर तथा उसके विरुद्ध की गई शिकायतों पर काफी विचार किया गया। भारत सरकार के वाणिज्य विभाग के गैर सरकारी भारतीय सदस्य इस नवीन समझौते में उन सभी दोषों को दूर करने के लिए जोर दे रहे थे जिनके कारण भारत को बड़ी हानि हो रही थी। उन्होंने भारत को आने वाले जापान के सूती कपड़े में लगभग ५० प्रतिशत की कमी करने का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त जापानी कृत्रिम रेशमी माल के आयात को भी सामान्य कोटे के अन्तर्गत रखने की माँग की। जापान से भारत के कुटीर उद्योगों

की रक्षा करने के लिए इन गैर सरकारी सदस्यों ने भारत सरकार को जापान से आने वाली अन्य वस्तुओं के आयात के भी कोटे को निश्चित करने का सुझाव दिया।

जापान के साथ होने वाले भारत का यह संशोधित या नवीन समझौता १९३७ की पहली अप्रेल से कार्यरूप में परिणत किया गया, इसकी अवधि ३१ मार्च १९४० तक रखी गई थी। यह नवीन संशोधित संधि-पत्र साधारणतया पहले वाले समझौते से मिलता जुलता ही था, इसमें केवल थोड़े से ही संशोधन किए गए थे। ये संशोधन प्रधानतया बर्मा के भारत से अलग हो जाने के कारण किए गए थे। समझौते के अनुसार जापानी माल के आयात का वार्षिक मूल कोटा जो कि पहले ३२५० लाख गज था, इस समय केवल २८३० लाख गज रह गया। इस नवीन समझौते के अनुसार जापान भारत को काफी मात्रा में सूती तथा गैर सूती माल भेजता रहा। जितना इस समझौते से जापान ने लाभ उठाया उतना लाभ भारत न उठा सका। भारत सरकार जापान की भारतीय कपास सम्बन्धी मांग की भी पूर्ति न कर सकी। समझौते में पहले की भांति अब कई दोष रह गए जिनकी पूर्त्ति न की जा सकी। इस समय भी न तो सरकार जापान से आनेवाली अन्य वस्तुओं को कोटे में सम्मिलित कर सकी और न तो कपड़े के अतिरिक्त आयात की ही व्यवस्था कर सकी। इन सब बातों के कारण इस समझौते की काफी आलोचना की गई। सन् १९४० में इस समझौते को पुनः संशोधित किया जाता किन्तु इसके पहले कि इस दिशा में कुछ कार्य होता, द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया, समझौता टूट गया।

भारत तथा बर्मा का व्यापारिक समझौता १९४१—सन् १९३७ में बर्मा भारत से अलग हो गया। १९३७ से लेकर १९४१ तक दोनों का व्यापारिक सम्बन्ध इन्डो-बर्मा रेग्यूलेशन द्वारा निर्देशित होता था। १९४१ की अप्रेल में बर्मा से एक नवीन समझौता किया गया। इस समझौते के अनुसार बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य के माल के विपरीत १० प्रतिशत तथा ब्रिटिश सामाज्य को छोड़ कर अन्य देशों के माल के विपरीत १५ प्रतिशत की रियायत दी। बर्मा से आने वाले चावल, चीड़ की लकड़ी आदि के आयात को बिना किसी कर के आयात करने का अधिकार दे दिया। इससे बर्मा के किसानों आदि को अच्छा लाभ मिला। बर्मा में भारतीय शक्कर तथा कपास को अच्छी सुविधा प्राप्त हुई, इससे इन वस्तुओं के उत्पादकों को अच्छा लाभ मिला। उस समय भारत को बर्मा के चावल तथा अन्य कच्चे माल की काफी आवश्यकता थी। इसके कारण भारत में आने वाले बर्मा के माल के आयात में काफी वृद्धि हुई, जितने मूल्य का माल भारत में बर्मा से आया उतना यहां से बर्मा को नहीं भेजा गया। इस प्रकार बर्मा ने भारत से अधिक लाभ उठाया।

युद्ध के बाद के वर्षों में—

१९४७ का टैरिफ बोर्ड—भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने के तथा देश विभाजन हो जाने के पश्चात् सन् १९४७ में भारत के टैरिफ बोर्ड का पुनर्संगठन किया गया। इस समय इस बोर्ड को कुछ विशेष अधिकार व कर्त्तव्य सौंपे गए। अब उसकी स्थिति साधारणतया आस्ट्रेलिया व संयुक्त राज्य अमरीका के टैरिफ बोर्डों जैसी हो गई है। इस समय इसमें एक अध्यक्ष तथा दो अन्य सदस्य होते हैं। इस बोर्ड को अब निम्नलिखित कार्यों के करने का और अधिकार प्राप्त हो गया है—

(१) जब सरकार को आवश्यकता हो तो उस समय इस बोर्ड का कार्य होगा कि वह सरकार को यह बतलाए कि कम से कम लागत लगने पर देश के उत्पादन की किस प्रकार वृद्धि की जा सकती है।

(२) जब और जिस समय सरकार को यह आवश्यकता हो कि देश की अमुक वस्तु के उत्पादन में कितनी लागत लगेगी उस समय बोर्ड का कार्य होगा कि वह इस बात की जांच करे और

इस सम्बन्ध में उसके थोक, फुटकर या अन्य भावों का निश्चय करे तथा इसकी अपनी रिपोर्ट सरकार को दे।

(३) जब और जिस समय आवश्यकता हो उस समय बोर्ड यह देखे कि विदेशों से आने वाली वस्तुओं के विपरीत किन कारणों से देश में होने वाले उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन की लागत में वृद्धि हो रही है। इन बातों की जाँच करने के पश्चात बोर्ड सरकार को अपनी अपनी रिपोर्ट देगा।

(४) यदि भारत में उत्पादित माल विदेशों में लागत से कम मूल्य पर बिक रहा है तो उस समय भारतीय उद्योगों के संरक्षण के लिये बोर्ड भारत सरकार को आवश्यकता होने पर आवश्यक सुझाव दे।

(५) जब इस बात की आवश्यकता हो कि विदेशों को दी गई व्यापार सम्बन्धी रियायतों, मूल्यानुसार करों तथा परिमाण करों आदि का क्या प्रभाव हो रहा है, उसका देश की अर्थ-व्यवस्था पर कैसा असर पड़ रहा है, तो उस समय इन बातों का बोर्ड अध्ययन करेगा और सरकार के समक्ष अपने सुझाव उपस्थित करेगा।

(६) जब आवश्यकता होगी तो बोर्ड इस बात की जाँच करेगा कि सरकार द्वारा किसी उद्योग को संरक्षण-करों आदि के रूप में जो सहायता दी गई है उसका क्या प्रभाव हुआ है वह उन उद्योगों पर, जिन्हें संरक्षण प्राप्त है हमेशा निगरानी रखेगा और समय समय पर जाँच आदि के द्वारा वह यह देखा करेगा कि उद्योग ने कैसा विकास किया। इस सम्बन्ध में वह सरकार को आवश्यक सलाह और सुझाव आदि देता रहेगा।

(७) जब आवश्यक हो तो बोर्ड ट्रस्ट, एकाधिपत्य आदि व्यापार पर लगे हुए नियंत्रणों का जिनका प्रभाव संरक्षण वाले उद्योगों पर पड़ता है, उनकी जाँच करेगा और ऐसी बातों को रोकने के लिए सरकार को आवश्यक सुझाव देगा।

बोर्ड ने काँच, स्लेट, मैगनेशियन लगे क्लोराइड, दोनों प्रकार की रेशम, सोने चाँदी के तार, प्लास्टिक आदि के उद्योगों की जाँच की और इनमें से अधिकांश उद्योगों के सम्बन्ध में बोर्ड ने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी है। इनके अतिरिक्त सूत तथा सूती कपड़े, फौलाद, कागज आदि के मूल्यों के सम्बन्ध में जाँच की और अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष पेश की। सरकार ने भी इनमें से अधिकांश सुझावों के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। बोर्ड के इन नवीन कार्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सरकार उपभोक्ताओं के हितों का पूर्ण ध्यान रख रही है। बोर्ड ने साइकिल, कैलशियम क्लोराइड, कास्टिक सोडा आदि के उद्योगों के सम्बन्ध में जाँच की और इनमें से क्लोराइड के उद्योग के संरक्षण तथा कास्टिक सोडा व ब्लीचिंग पावडर के उद्योग को सरकारी सहायता देने का सुझाव दिया था। बोर्ड ने शक्कर के उद्योग के संरक्षण की भी सलाह दी थी और एक वर्ष के लिये इस उद्योग की संरक्षण भी मिल गया था, १६५० में इस उद्योग की फिर जाँच की गई और पहली अप्रैल से संरक्षण समाप्त कर दिया गया।

स्वतन्त्र भारत में आए दिन टैरिफ सम्बन्धी नवीन समस्याएँ अधिक उटती जा रही ह। इस लिए व्यापार के नियन्त्रण के लिए कुछ नवीन पद्धतियों को प्रकाश में लाना होगा। अभी वर्त्तमान टैरिफ बोर्ड विदेशी व्यापार आदि के सम्बन्ध में सरकार की अच्छी सहायता दे रहा है। अभी थोड़े दिनों पूर्व अर्थ—आयोग ने (फिज़कल कमीशन) एक 'टैरिफ मेकिंग अथारटी' की स्थापना का सुझाव दिया था। इस सम्बन्ध के उपरोक्त आयोग ने निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए हैं :—

इस भावी 'टैरिफ अथारटी का नाम 'टैरिफ कमीशन' होना चाहिए। अन्य देशों की भाँति इसे भी एक स्थायी संस्था होना चाहिए, इसकी व्यवस्था वैज्ञानिक आधारों पर होनी चाहिये। इस संस्था में चेयर-मैन या अध्यक्ष सहित कुल पाँच सदस्य होने चाहिये परन्तु विधान में यह व्यवस्था कर दी

जानी चाहिये कि आवश्यकता होने पर इसके सदस्यों की संख्या ज्ञात की जा सके। संस्था को यह भी अधिकार होना चाहिए कि जब जरूरत हो तो कुछ विरोध विशेष पर अन्य सलाहकरों से सहायता ले सके। कमीशन ने यह स्पष्ट रूप से लिख दिया था कि इस 'टैरिफ कमीशन' में प्रादेशिक स्वार्थों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं होना चाहिये।

आयोग से (फिजकल-कमीशन) ने इस 'टैरिफ कमीशन' को निम्नलिखित कार्यों के करने का सुझाव उपस्थित किया था :—

(अ) संरक्षण तथा आय सम्बन्धी करों (टैरिफ) के सम्बन्ध में जाँच करना;

(१) संरक्षण प्रदान करने आदि के लिए उचित जाँच आदि करना;

(२) लागत से कम मूल्य पर माल की बिक्री (डम्पिंग) आदि के सम्बन्ध में जाँच करना;

(३) आय तथा संरक्षण के लिए करों के वैभिन्यीकरण के लिए जाँच करना;

(४) व्यापारिक समझौतों के अनुसार दी गई रियायतों व सुविधाओं की जाँच करना।

पहली तथा चौथी प्रकार की जाँचें भारत सरकार स्वयं करेगी, अन्य दो प्रकार की जाँचें कमीशन अपने प्रस्तावों द्वारा कर सकता है।

(ब) संरक्षण का वस्तुओं के मूल्य तथा देश पर और क्या प्रभाव पड़ा है इस बात की भी जाँच करने का अधिकार कमीशन को प्राप्त होगा किन्तु इस प्रकार की जाँच सरकार के कहने पर ही की जायँगी।

(स) जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हुआ है, उनकी भी जाँच करने का अधिकार कमीशन को होगा। इस जाँच में कमीशन संरक्षण वाले उद्योग के उत्पादन की लागत, उसकी किस्म, तथा उस उद्योग के विकास के लिए अन्य बातों का ध्यान रखेगा। इसके अतिरिक्त वह ऐसे उद्योगों के व्यापार के विकास में आनेवाली अन्य रुकावटों की भी जाँच करेगा। आयोग ने यह भी सुझाव दिया है, कि टैरिफ कमीशन संरक्षण वाले उद्योगों की जाँच के सम्बन्ध में तीसरे वर्ष एक रिपोर्ट प्रकाशित करता रहे।

यह तो रही कमीशन के कार्यों की बात, इन कार्यों को सुचारू रूप से करने के लिए कुशल स्टाफ भी होने की आवश्यकता है। इस कमीशन का सेक्रेटरी ही मुख्य कर्त्ता-धर्त्ता होगा, वही इसकी व्यवस्था आदि करेगा। कमीशन अपने कार्य का भलीभाँति निर्वाहन कर सके इसलिए उसको कुछ विशेष अधिकार—गवाहों को बुलाना आदि अधिकार दिए गए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस टैरिफ कमीशन को एक अच्छी संस्था के बनाने का प्रयत्न किया है। अभी तक टैरिफ बोर्ड जिस रूप से कार्य करता रहा है वह बड़ा दोषपूर्ण है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं बोर्ड जब किसी उद्योग की जाँच करता तो उसकी रिपोर्ट के प्रकाशित करने में महीनों और पूरा साल तक लग जाता था किन्तु उपरोक्त 'टैरिफ कमीशन' के सम्बन्ध में यह सुझाव उपस्थित किया गया है। वह किसी उद्योग के सम्बन्ध में अपनी जाँच पूरी करने के शीघ्र ही पश्चात सरकार को अपनी रिपोर्ट दे दे और सरकार भी कमीशन के सुझावों के अनुसार दो मास के अन्दर ही अपना निर्णय निश्चित कर ले। इस प्रकार व्यर्थ की देरदार को रोकने का काफी प्रयत्न किया गया है। भारतीय उद्योगों के विकास के लिए संरक्षण के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सहायता के देने का विचार किया गया है।

भारत की भावी अर्थ नीति

संरक्षण के नवीन सिद्धान्त—हम पीछे कह चुके हैं कि भारतीय उद्योगों के विकास के लिए संरक्षण का उपयोग किया जाना नितान्त आवश्यक है। उद्योग-धन्धों को किन आधारों

पर और किस रूप में संरक्षण प्रदान किया जाय। इस सम्बन्ध में १६४६-५० के अर्थ आयोग ने कुछ सिद्धान्त निश्चित किए हैं। ये सिद्धान्त १६२१ के अर्थ-आयोग के विवेचनात्मक संरक्षण सम्बन्धी सिद्धान्तों से भिन्न है और भारत के नवीन सिद्धान्तों के आधारों पर आधारित है, इसके अनुसार इस बात की व्यवस्था की जायगी कि जिससे देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग हो, उत्पादन और उत्पादकता के स्तर में वृद्धि हो, कृषि के विकास के लिए, कुटीर उद्योगों तथा छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योगों की उन्नति के लिए सहकारिता के आधार पर प्रयत्न किया जाय, विशाल पैमाने पर देश का औद्योगीकरण हो, बेकारी दूर हो, लोगों को रोजगार, धन्धा व नौकरियाँ मिलें। संविधान की इन्हीं बातों के आधार पर अर्थ-आयोग ने संरक्षण के लिए निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए हैं :—

(१) आयोग का यह सुझाव है कि चाहे कितना ही व्यय हो सुरक्षा तथा सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाय, जहाँ तक मूल-उद्योगों के विकास का प्रश्न है इस सम्बन्ध में 'टैरिफ अथारिटी' संरक्षण के रूप का तथा संरक्षण की शर्तों आदि का निश्चय करेगी, वह समय-समय पर इस बात का जाँच करती रहेगी कि इन शर्तों की कहाँ तक पूर्ति हो रही है।

अन्य उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए कमीशन ने कहा कि 'टैरिफ अथारिटी' यह देखे कि उस उद्योग को कौन-कौन सी आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हैं, उसके उत्पादन की वास्तविक लागत क्या होती है या क्या होने की सम्भावना है। 'अथारिटी' यह देखे कि क्या उद्योग ऐसी स्थिति में हैं जो थोड़े समय में बिना संरक्षण के या संरक्षण सहित अपना उचित विकास कर लेगा, आत्मनिर्भर हो जायगा, या वह ऐसा उद्योग है जिसे राष्ट्र की हित की दृष्टि से संरक्षण या अन्य सरकारी सहायता प्रदान करना आवश्यक है। उपरोक्त बातों के अतिरिक्त कमीशन ने निम्नलिखित सुझाव और पेश किए थे :—

(१) कमीशन ने कहा था कि संरक्षण प्रदान करने के लिए इस बात का होना कि अमुक उद्योग को अपने निकटवर्ती प्रदेश में कच्चा माल मिलेगा या नहीं—आवश्यक न होना चाहिए। यदि उद्योग को अन्य सुविधाएँ जैसे श्रम, आन्तरिक बिक्री, क्षेत्र आदि प्राप्त हैं परन्तु उसे कच्चे माल प्राप्त होने की स्थानीय सुविधाएँ नहीं है तो उस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने में कोई आपत्ति न उठाई जानी चाहिए;

(२) किसी उद्योग को संरक्षण प्रदान करते समय अच्छे विदेशी बाजारों या बिक्री क्षेत्रों का ध्यान रखना चाहिए; दूसरे शब्दों में उन उद्योगों को आसानी से संरक्षण प्रदान कर दिया जाना चाहिए जिनके उत्पादन की बिक्री के लिए विदेशों में अच्छा क्षेत्र है।

(३) संरक्षण प्रदान करते समय इस बात को विशेष महत्व न दिया जाना चाहिए कि यह उद्योग देश की पूरी मांग की पूर्ति करता है या नहीं;

(४) देश के वे उद्योग जो संरक्षण वाले उद्योगों के उत्पादन का उपयोग कर रहे हैं, उन्हें भी एक प्रकार के क्षतिपूर्त्यात्मक संरक्षण (Compensatory Protection) की आवश्यकता होगी;

(५) नवीन उद्योगों के लिए, जिनमें कि काफी मात्रा में पूँजी लगती है और जिनके लिए कुशल कर्मचारियों की आवश्यकता होती है, उनको संरक्षण प्रदान करना काफी आवश्यक है;

(६) राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए कृषि-उत्पादन की कुछ वस्तुओं को संरक्षण प्रदान किया जा सकता है किन्तु ऐसा संरक्षण प्रदान करते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि जितनी कम वस्तुओं को संरक्षण प्रदान किया जाय उतना ही अच्छा है। इस संरक्षण का समय भी बहुत कम होना चाहिए और पाँच वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिए। संरक्षण के साथ ही साथ कृषि के विकास का भी

प्रयत्न करते रहना चाहिए। इन संरक्षण वाली वस्तुओं ने कितनी उन्नति की है इस सम्बन्ध में एक वार्षिक रिपोर्ट सरकार के सामने उपस्थित करते रहना चाहिए।

(७) जहाँ तक हो सके संरक्षण वाले उद्योगों पर उत्पादन-कर न लगाया जाय, ऐसा तभी किया जाय, जब सरकार को काफी आर्थिक आवश्यकता हो।

संरक्षण के अतिरिक्त किसी भी देश के उद्योगों की सहायता देने के लिए अन्य और कई रास्ते हैं। अर्थ-आयोग का ऐसा विचार है कि इसके लिए एक 'डेवलपमेन्ट फन्ड' की रचना की जाय, इस फन्ड या कोष में संरक्षण करों से जो आय हो उसका थोड़ा अंश जमा करते रहना चाहिए। ऐसे कोष से जिन उद्योगों की आवश्यकता हो उन्हें सहायता प्रदान की जाय। ऐसे उद्योगों में जहाँ देश का उत्पादन देश की माँग के केवल थोड़े से अंश की पूर्ति करता है और जहाँ पर कुछ वस्तुओं के उत्पादन में संरक्षण की आवश्यकता है किन्तु वहाँ संरक्षण तथा गैर संरक्षण वाली वस्तुओं में अन्तर निकालना कठिन हो जाता है। ऐसे उद्योगों को उपरोक्त प्रकार की सहायता देना अधिक उचित है।

संरक्षण की अवधि के सम्बन्ध में कमीशन का कहना था कि जहाँ तक हो सके संरक्षण की अवधि लम्बी हो जिससे संरक्षण प्राप्त वाले उद्योगों के विकास का अच्छा अवसर मिल सके। संरक्षण के परिमाण के लिए टैरिफ अधिकारियों को चाहिए कि वे निश्चित नियमों का निर्माण करें। कमीशन का ऐसा विचार था कि परिमाण सम्बन्धी प्रतिबन्धों को बहुत कम प्रयुक्त किया जाय, जब काफी मात्रा में आयात होने लगें। उस समय अस्थायी रूप से इस प्रकार के प्रतिबन्धों का प्रयोग किया जा सकता है। यह निश्चित करना कि अमुक उद्योग अपने विकास की ऐसी स्थिति में है जिससे टैरिफ कोटा पद्धति से अच्छा लाभ होगा, बड़ा कठिन है। कुछ दशाओं में इस प्रकार की पद्धति से अच्छा लाभ मिलता है क्योंकि इसके द्वारा उपभोक्ताओं को वस्तुओं के प्राप्त होने की आशा हो जाती है। उपभोक्ताओं के स्वार्थों की सुरक्षा के लिए कमीशन ने संरक्षण वाले उद्योगों के लिए कुछ कर्त्तव्य या दायित्व निश्चित किए हैं। उद्योगों के ये कर्त्तव्य मुख्य रूप से वस्तुओं के मूल्य तथा उत्पादन, वस्तुओं की किस्म, अनुसन्धान, शिल्पियों की शिक्षा आदि से संबंधित हैं। कमीशन का ऐसा विश्वास है कि संरक्षण वाले उद्योग अपने इस दायित्व का अच्छी तरह पालन करेंगे। टैरिफ बोर्ड का भी यह कार्य होगा कि अपने निरीक्षण के समय उद्योग की इन बातों की ओर भी वह पूरा ध्यान दे। कमीशन का विचार है कि उद्योगों के इन कर्त्तव्यों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए एक निश्चित कार्य-क्रम तैयार कर दिया जाना चाहिए। टैरिफ अथारिटी इस बात की सरकार को समय-समय पर यह रिपोर्ट देती रहे कि संरक्षण वाले उद्योग अपने इस दायित्व का किस प्रकार पालन कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने एक यह भी सुझाव दिया है कि सरकार अपनी आवश्यकता के लिए जो ख़रीद करे इस सम्बन्ध में उसकी नीति ऐसी हो, जिससे देश के पुराने उद्योगों के विकास की अच्छी सुविधा प्राप्त हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्र भारत के (१९५० के) इस अर्थ-आयोग ने भारतीय अर्थ-नीति को एक अच्छी दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया है। आशा है कि इस प्रकार की नीति को अपना कर तथा समय-समय पर नवीन नीति का अनुकरण कर भारत सरकार देश के औद्योगिक विकास के लिए अच्छा कार्य करेगी।

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

बैंकिंग और साख

प्राक्कथन—भारतीय बैंकिंग या महाजनी इतनी प्राचीन है जितना कि भारतीय वाणिज्य व व्यवसाय। सम्भवतः अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष बैंकिंग के सम्बन्ध में सबसे अधिक जानता था। मनु की मनुस्मृति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डालते हैं। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में सूद की कितनी दर होनी चाहिए, इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन दिया है। धर्मशास्त्रों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि जाति के अनुसार विभिन्न ऋणकर्ताओं से ली जाने वाली सूद की दर विभिन्न होनी चाहिए। जब देश में मुसलमान आक्रमणकारियों का आगमन हुआ तो देश की बैंकिंग व्यवस्था को भी बड़ा आघात पहुँचा। बैंकिंग संस्थाएँ तो प्रायः नष्ट ही हो गईं, हाँ व्यक्तिगत महाजन लोग धीरे-धीरे अपना कार्य करते रहे। ये महाजन या बैंकर भारतवर्ष के आन्तरिक व्यापार को तो सहायता देते ही थे साथ ही विदेशी व्यापार को भी अच्छी मदद पहुँचाते थे। वे राज्य को भी ऋण प्रदान करते थे। कितने ही राजकुमार और दरबारी लोग इन्हीं महाजनों से ऋण लेते थे। उस समय ऐसे बहुत कम राजदरबार थे जहाँ पर राज्य का कोई बैंकर न हो। जगत सेठ और उमा सेठ ने तत्कालीन भारतीय राजनीतिक क्रिया-कलापों में जो हाथ बँटाया था, उससे सभी परिचित हैं। ईस्ट इन्डिया कम्पनी भी इन महाजनों, बैंकरों पर काफी विश्वास करती थी और इनसे काफी काम निकालती थी। जब देश में 'यूरोपियन एजेन्सी हाउसेज़' की स्थापना होने लगी तो इन बैंकरों की स्थिति पर और आघात पहुँचा, हमारी प्राचीन बैंकिंग व्यवस्था को एक बार फिर संकट का सामना करना पड़ा किन्तु इन सब बाधाओं के होते हुए आज भी हमारी प्राचीन भारतीय बैंकिंग देश में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। ये भारतीय बैंकर आज भी देश के प्रत्येक स्थान, गाँवों, कस्बों और नगरों में किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं। अपने-अपने क्षेत्रों में ये महाजन, बैंकर आदि जो कार्य करते हैं, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

भारत में अंगरेजों के, यूरोपियनों के आगमन से एक नवीन बैंकिंग व्यवस्था ने अपना स्थान प्राप्त कर लिया है। प्राचीन बैंकरों के साथ ही साथ इस नवीन बैंकिंग व्यवस्था के कारण देश में बैंकिंग सम्बन्धी एक नूतन वातावरण बन गया है। अतएव ऐसी स्थिति में भारतीय बैंकिंग सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करना काफी महत्वपूर्ण है, परन्तु इस सम्बन्ध में हमें एक बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, वह है बैंकिंग सम्बन्धी आंकड़ों की। दुर्भाग्यवश हमें ये आंकड़े उचित और पर्याप्त रूप में उपलब्ध नहीं हैं। गाँवों के महाजन या साहूकार तथा नगरों के शर्राफ अपने हिसाब-किताब को न तो प्रकाशित करते हैं और न उनसे सुगमता से वाणिज्य सम्बन्धी आंकड़े ही प्राप्त किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त देश की कितनी ही बैंकिंग संस्थाएँ ऐसी हैं जो न स्वयं अपने लेनी देनी के पूरे आंकड़े प्रकाशित करती हैं और न वे इनको रिजर्व बैंक को ही देती हैं जिससे कि वह इन्हें प्रकाशित कर सके। इस प्रकार बैंकिंग सम्बन्धी आंकड़ों की इस कमी से हमें इस सम्बन्ध की समस्याओं के हल करने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इस कमी के कारण कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना जिससे की हमारी वर्त्तमान बैंकिंग व्यवस्था के दोष दूर हों कठिन हो जाता है।

भारतीय बैंकिंग की वर्त्तमान व्यवस्था—इस समय भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के मुख्य अंग ये हैं :—

(१) देशी बैंकर या सर्राफ।
(२) सहकारी बैंकें।
(३) भूमि-बन्धक बैंकें।
(४) पोस्ट आफिस सेविंग बैंकें।
(५) मिश्रित पूँजी वाली बैंके (इसमें इम्पीरियल बैंक भी सम्मिलित है)।
(६) विदेश विनिमय बैंक।
(७) बीमा कम्पनियाँ।
(८) स्टाक तथा बुलियन एक्सचेन्ज।
(९) भारत का रिजर्व बैंक।

ब्रिटिश द्रव्य बाजारों की तरह भारतीय द्रव्य बाजार सुसंगठित नहीं है। उसका संगठन अत्यन्त ढीला है। यहाँ देशी बैंकर सर्राफ आदि तो और भी असंगठित हैं। कभी-कभी कुछ लोग भारतीय द्रव्य बाजार के अन्तर्गत बीमा कम्पनियां तथा पोस्ट आफिस के सेविंग बैंकों को सम्मिलित नहीं करते। इस सम्बन्ध में ऐसे लोगों का कथन है कि ये संस्थाएँ विशेष प्रकार के बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को करती हैं परन्तु कोई भी संस्था जो कुछ लोगों से द्रव्य एकत्रित कर दूसरों को ऋण रूप में प्रदान करती है, वह निश्चित रूप से द्रव्य-बाजारों के अन्तर्गत ही आती है। यदि एक गाँव का महाजन जिसका कार्य केवल रुपया उधार देना है, वह जब द्रव्य-बाजार का एक अंग है, तो फिर बीमा कम्पनी भी 'जो कि लाखों आदमियों से रुपया एकत्रित कर सरकार को या अन्य स्रोतों में लगाती है तो फिर उसे क्यों न इसके अन्तर्गत रखा जाय। हम नीचे भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के इन विभिन्न अंगभूतों पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

देशी बैंकर—(Indigenous Banker) ये देशी बैंकर देश के विभिन्न भागों में विभिन्न रूपों में पाये जाते हैं उत्तर प्रदेश व पंजाब में इन्हें महाजन, व साहूकार, खत्री, बंगाल में सेठ व बनिया, मद्रास में चेट्टी, तथा बम्बई में मारवाड़ी मुल्तानी व सर्राफ कहते हैं।

इन देशी बैंकरों को हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) ग्रामीण तथा नगर निवासी देशी बैंकर।

(२) वे जिनका मुख्य धन्धा बैंकिंग है किन्तु साथ ही साथ थोड़ा सा व्यापार भी करते जा रहे हैं, तथा वे जिनका मुख्य धन्धा व्यापार है किन्तु साथ ही साथ थोड़े रूप में बैंकिंग भी करते जाते हैं।

(३) तीसरे प्रकार के बैंकर वे हैं जो अभी प्राचीन परिपाटी के अनुसार तो कार्य कर रहे हैं किन्तु धीरे-धीरे आधुनिक पद्धति के अनुसार कार्य करने लगे हैं।

ये देशी बैंकर अब भी देश के बैंकिंग कार्यों में अच्छा हाथ बटाते हैं। भारत की कुछ नहीं तो ८७.२% जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। प्रत्येक तीन में से दो मनुष्य, इस समय भी जब कि औद्योगिक उन्नति तीव्र गति से हो रही है, कृषि पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर हैं। परन्तु इन गाँवों में साख की या ऋण की कोई अच्छी व्यवस्था नहीं है। भारत के अधिकांश कस्बे तथा गाँव ऐसे हैं जिन्हें बैंकिंग सम्बन्धी अच्छी सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं और उन्हें अपनी अर्थ सम्बन्धी आवश्यकता के लिए गाँव के महाजन या सहकारी समितियों पर निर्भर रहना पड़ता है। सन् १९४६-४७ में भारतीय संघ के क्षेत्रफल के अन्तर्गत केवल ११६,९१३ कृषि सहकारी साख समितियाँ थीं जिनके सदस्य केवल ५५ लाख थे जो कि कृषि धन्धे-वाली कुल जनसंख्या का केवल ७% था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गाँवों में इन कृषि सहकारी साख समितियों की संख्या भी बहुत कम है और हमारे किसान को अपनी

धन सम्बन्धी आवश्यकता के लिए अपने गाँव के साहूकार या महाजन का ही मुँह ताकना पड़ता है। कृषि सहकारी साख समितियों की कुल सक्रिय पूँजी १६४६-४७ में केवल ३०५६ लाख रुपये थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे कृषकों या ग्राम निवासी जनता के लिए साख सम्बन्धी सुविधा अत्यन्त स्वल्प है। गाँव का महाजन जिस रूप में किसान को ऋण देता है और किसानों से वह जिस प्रकार का अनुचित लाभ उठाता है, इस सम्बन्ध में हम ग्रामीण राजस्व वाले परिच्छेद में थोड़ा प्रकाश डाल चुके हैं। आगे हम इस विषय पर और प्रकाश डालेंगे।

गाँव का महाजन—गाँव का महाजन गाँव वालों को ऋण देता है। वह या तो सोने चाँदी के आभूषणों को लेकर गिरवी रखकर या दूसरे फसल के तैयार होने पर ऋण का रकम चुकाने के वायदे पर ऋण देता है। साधारणतया गाँवों में वह परचूनी की दूकान खोल लेता है और अपने उन किसानों को जिन्होंने उससे ऋण ले रखा है, फसल खरीद लेता है, और स्वयं किसी मंडी आदि में उसकी बिक्री की व्यवस्था करता है। यह महाजन प्रत्येक आदमी से एक ही दर पर सूद नहीं लेता है, जिस आदमी पर उसे अधिक विश्वास होता है उससे वह कम सूद लेता है इसके विपरीत गर्जबन्द तथा कम जानने वाले लोगों से वह अधिक सूद लेता है।

हमारी ग्रामीण जनता प्रायः अशिक्षित तथा अपढ़ है, गांव का महाजन इसकी इस अशिक्षा से अनुचित लाभ उठाता है, एक बार ऋण ले लेने पर महाजन के चंगुल से ऋण-कर्ता का निकलना कठिन हो जाता है। उधर साधारणतया हमारा किसान भी काफी निर्धन होता है, वह अपनी आय से बहुत कम रकम बचा पाता है, अतएव लाचार होकर उसे गाँव के महाजन से ऋण लेना पड़ता है, इस ऋण के लेने में भी उसे कभी-कभी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि इन किसानों के लिए ऋण देने की अच्छी व्यवस्था की जाय। व्यावसायिक बैंक्स ऐसी स्थिति में नहीं हैं जिससे कि वे किसानों से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर, उन्हें उचित सूद की दर पर ऋण प्रदान करें, सहकारी समितियों से भी इस कमी को दूर करने की आशा नहीं की जा सकती है। अब एक यही रास्ता रह जाता है कि किस प्रकार इन देशी महाजनों से काम लिया जाय जिससे ग्राम-वासियों को सुगमता से और उचित सूद पर ऋण प्राप्त हो जाय। गाँव का महाजन इन लोगों से अधिक सूद लेता है किन्तु साथ ही उसका ऋण डूबने का भय भी अधिक रहता है अतएव गाँव के महाजन की हम उपेक्षा भी नहीं कर सकते। आवश्यकता इस बात की है कि इन महाजनों को कानूनों आदि के द्वारा इस प्रकार नियन्त्रित किया जाय जिससे कि वे किसानों से नाजायज लाभ न उठा सकें। इन महाजनों को निर्धारित पद्धति के अनुसार अपना हिसाब-किताब रखने, और आवश्यकता होने पर अपने निकटवर्ती व्यावसायिक बैंकों के सन्मुख जांच के लिए अपना हिसाब प्रस्तुत करने के लिए वाध्य किया जा सके। इस प्रकार की व्यवस्था से हम इनके द्वारा होने वाले बहुत से दोषों को दूर करने में समर्थ हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को भी ग्रामीण राजस्व को सुधारने के लिए काफी प्रयत्न करना चाहिए। व्यावसायिक तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकें भी रिजर्व बैंक की संरक्षणता तथा निर्देशन द्वारा इस स्थिति को सुधारने में काफी सफलता प्राप्त कर सकती हैं।

भारत में ग्रामीण बैंकिंग का महत्व—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि हमारा ग्रामीण राजस्व अपना एक विशेष स्थान रखता है, उसका एक विशेष महत्व है। इसके अतिरिक्त हम पिछले परिच्छेदों में यह बात कई बार कह चुके हैं कि भारत को कृषि की मुख्य पैदावार—खाद्यान्न, जूट तथा कपास में आत्मनिर्भर होना चाहिए। इस आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने के लिए हमें अपनी कृषि तथा कृषक दोनों की स्थिति को सुधारना होगा, कहना न होगा आज के कृषक की सबसे बड़ी आवश्यकता उसके साख तथा ऋण सम्बन्धी है। आज भारत के किसान अन्य देशों

के कृषकों की अपेक्षा कहीं अधिक निर्धन हैं। उनकी जोतें आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं हैं, उनमें शिक्षा का, स्वच्छता का बहुत बड़ा अभाव है। अतएव यदि हम अपने कृषकों की इस स्थिति को ठीक करना चाहते हैं, यदि हम देश की बढ़ती हुई जनता को भूखों मरने से बचाना चाहते हैं, यदि हम देश के व्यापारिक सन्तुलन को अपने पक्ष में लाना चाहते, यदि हम अपनी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आत्मनिर्भर होना चाहते हैं तो हमारी सबसे पहली आवश्यकता यह है कि हम ग्रामीण क्षेत्रों में अल्प तथा दीर्घकालीन ऋण की उचित व्यवस्था करें। कहना न होगा कि कोई भी सरकार चाहे वह साम्यवादी हो या जनतंत्रवादी अथवा फैसिस्ट, उसे अपने आर्थिक क्रियाकलापों के उचित रूप से संचालन के लिए ऋण सम्बन्धी उचित व्यवस्था करनी ही होगी। यह बात अन्य कार्यों की अपेक्षा कृषि कार्यों के लिए और भी आवश्यक हो जाती है।

इसके अतिरिक्त इन वर्षों में जीवन के लिए आवश्यक खाद्यान्न तथा अन्य उपकरणों के मूल्य में काफी वृद्धि हो जाने के कारण जिसके द्वारा कृषि-क्षेत्रों में राष्ट्रीय आय का एक खासा अच्छा भाग चला गया है, ग्रामीण राजस्व की उचित व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है। वैसे तो आवश्यक आंकड़ों के अभाव के कारण यह निष्कर्ष निकालना कि ग्रामीण क्षेत्रों में इस मंहगी के कारण कितनी बचत हुई है, बड़ा मुश्किल है किन्तु इतना तो हम निश्चित रूप से कह ही सकते हैं कि इस मंहगी से जितना लाभ किसानों, कृषकों को, कृषि श्रमजीवियों को नहीं हुआ उससे कहीं अधिक लाभ उन बड़े-बड़े जमींदारों को हुआ है जिनके पास काफी भूमि थी। इस प्रकार आज गांवों में काफी परिमाण में बचत पड़ी हुई है किन्तु आवश्यक बैंकिङ्ग सम्बन्धी सुविधाओं के न प्राप्त होने के कारण उसका उचित उपयोग नहीं किया जा रहा है। आज जब कि कृषि तथा उससे सम्बन्धित अन्य उद्योगों के विकास के लिए बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता है, ग्रामीण क्षेत्रों की इस बचत वाली पूँजी का महत्व और भी अधिक हो जाता है।

इस प्रकार गाँव की इस बचत का उचित उपयोग करने तथा कृषि के विकास के लिए, कृषकों की दशा सुधारने के लिए आवश्यक ऋण सम्बन्धी व्यवस्था करने के लिए ग्रामीण राजस्व की ओर उचित ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। इस समस्या का अध्ययन कर उसके सम्बन्ध में उपयुक्त हल निकालने के हेतु भारत सरकार ने १९४९ में एक ग्रामीण बैंकिङ्ग जांच समिति (Rural Banking Enquiery Committee) की नियुक्ति की थी। इस समिति ने अभी थोड़े दिनों पूर्व अपना सुझाव उपस्थिति किया था।

ग्रामीण बैंकिङ्ग सम्बन्धी अन्य सामान्य समस्याओं के अध्ययन करने के अतिरिक्त तहसीलों में सरकारी खजाने सम्बन्धी कार्यों को इम्पीरियल बैंक, व्यावसायिक बैंकों या अन्य किन्हीं बैंकों को हस्तान्तरित करने के प्रश्न पर भी विचार करने के लिए समिति से कहा गया था। समिति ने अभी तक अपना प्रतिवेदन जनता में प्रकाशित नहीं किया है किन्तु उसके कुछ मुख्य-मुख्य सुझाव तथा निष्कर्ष यहाँ पर हम संक्षेप में दे रहे हैं:—

(१) समिति का यह सुझाव है कि रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह हो सके तो भारतीय सङ्घ के सभी राज्यों में नहीं तो प्रमुख राज्यों की राजधानियों में अपनी एक-एक शाखा खोले,

(२) इम्पीरियल बैंक तहसीलों आदि में अपनी शाखाएँ खोले,

(३) अन्य व्यावसायिक या सहकारी बैंकों को भी तहसीलों, छोटे-छोटे कस्बों आदि में अपनी शाखाएँ खोलने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये,

(४) गांवों में सहकारी समितियां तथा पोस्टल सेविङ्ग बैङ्कों के विस्तार का प्रयत्न करना चाहिए।

(५) सहकारी साख तथा बहुउद्देश्यवाली समितियों को और सुसंगठित किया जाय और सहकारी संस्थाओं के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाय तथा प्रयत्न किया जाय।

(६) कृषि के लिए अल्प तथा मध्यकालिक ऋण के लिये वर्त्तमान प्रान्तीय सहकारी बैङ्कों के क्षेत्र को बढ़ाया जाय और जहाँ यह सम्भव न हो वहाँ राज्य की ओर से कार्पोरेशनों की सम्भावना की जाय,

(७) कृषि के लिए अधिक समय के लिए लम्बी अवधि लिए ऋण अलग संस्थाओं द्वारा दिया जाय जिनकी स्थापना ऐसे स्थानों में की जानी जाहिए जहाँ ऐसी संस्थाएं न हों।

जहां तक ग्रामीण बचत (सेविङ्ग) के परिमाण का प्रश्न है समिति कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल पाई है किन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों में चला गया है। समिति का ऐसा विचार है कि इस अतिरिक्त आय में से बहुत सा अंश खर्च कर दिया गया है और केवल थोड़ा सा ही भाग बचत के रूप में बचा है। परन्तु फिर भी इस बचत का कुल परिमाण काफ़ी है और इसको उचित रूप से प्रयुक्त किये जाने के लिए उचित कार्रवाई की जाने की आवश्यकता है।

नगरों में देशी बैंकर—नगरों के बैंकिङ्ग कार्यों में ये देशी बैंकर जिस प्रकार हाथ बँटाते हैं, जितना सहयोग प्रदान करते हैं उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में एक विद्वान का कथन है कि कुल बैंकिङ्ग और क्रेडिट कार्यों का लगभग ९० प्रतिशत इन्हीं बैङ्करों द्वारा लिया जाता है। नगरों के ये बैङ्कर या सर्राफ साधारणतया पुश्तैनी होते हैं। ये अपने कुटुम्ब की रकमों से व्यापार करते दूसरे लोगों का भी रुपया जमा कर उसे अपने व्यापार में लगाते तथा उस पर बैङ्क से अधिक सूद देते हैं। ये व्यापारियों की हुँडियों को भी सम्भालते तथा उस पर बैङ्क से अधिक सूद वसूल कर उनकी व्यवस्था करते हैं। ये व्यापारियों को पूँजी देते, तथा व्यावसायिक बैङ्कों और बाजार के बीच एक कड़ी का कार्य करते हैं। ये आभूषणों, बुलियन, या अन्य सामान अथवा किसी को केवल विश्वास पर ही ऋण देते हैं। जो लोग बैङ्कों आदि में नहीं जाना चाहते, उन्हें ये ऋण देकर सहायता पहुँचाते हैं, परन्तु बैङ्कों की अपेक्षा इनके सूद की दर अधिक होती है। इस प्रकार ये बैङ्कर महाजनी तथा साख सम्बन्धी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं।

इस देशी बैंकिंग के दोष—इन देशी बैङ्करों का सबसे बड़ा दोष उनकी रूढ़िवादिता तथा कार्य करने की प्राचीन परिपाटी है, उनका बहुत सा कर्म गुप्त होता है जिसके कारण इन बैङ्करों तथा संगठित द्रव्य बाजार में सहयोग बैठाने में बड़ी बाधा खड़ी होती है। दूसरे ये बैङ्कर अधिकतया अपने निजी साधनों पर ही निर्भर रहते हैं, जो कि आज के उद्योग तथा व्यापार सम्बन्धी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कम है। उनके व्यापार लेन-देन में हुँडियों का स्थान बहुत कम है। इसके अतिरिक्त ये देशी बैङ्कर बिल्कुल ही असंगठित एवं अव्यवस्थित है, उनमें तथा देश के द्रव्य-बाजार में बहुत ही कम सम्बन्ध है। इन सब बातों के कारण हमारी बैङ्किंग सम्बन्धी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो पाता। आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी दोषों को दूर कर इनको पूर्ण रूप से सङ्गठित किया जाय।

इस भारतीय देशी बैङ्किंग की दशा को सुधारने, तथा उसको विकसित करने तथा उसे पुनसँगठित करने के लिए काफी प्रयत्न किया जाना चाहिये। इन देशी बैङ्करों के अनुभवों से तथा उनके ज्ञान व सहयोग से भारतीय द्रव्य-बाजार के संगठन में काफी सहायता पहुँचेगी। बिना इन बैङ्करों के सक्रिय सहयोग तथा बिना उनको आधुनिक बैङ्किंग पद्धतियों से शिक्षित किए हुए हम इस क्षेत्र में कोई अच्छी सफलता नहीं प्राप्त कर सकते।

देशी बैंकर तथा रिज़र्व बैंक—इस बात को प्रायः सभी लोग मानने लगे हैं कि देश के पूँजी सम्बन्धी साधनों के उचित रूप से एकत्रीकरण के लिए तथा द्रव्य-बाजार पर एक प्रकार के एकात्मक नियन्त्रण की स्थापना के हेतु यह आवश्यक है कि देशी बैङ्किग पद्धति तथा नवीन बैङ्किग पद्धति में परस्पर एक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। इस दिशा में सर जे० बी० टेलर ने जो कि एक समय रिज़र्व बैङ्क के गवर्नर थे एक योजना बनाई थी जिसमें उन्होंने देशी बैङ्करों को रिज़र्व बैङ्क से मिलाने का सुझाव दिया था। इसकी मुख्य-मुख्य बातें ये थीं:—

(१) वे देशी बैङ्कर जो दो लाख रुपये पूँजी लगाकर अपना कार्य कर रहे थे और पांच वर्ष के अन्दर उसे पाँच लाख तक बढ़ाने के लिए तैयार थे उन्हें रिजर्व बैङ्क के रजिस्टर में दर्ज करने का सुझाव दिया गया।

(२) ये देशी बैङ्कर थोड़े समय के लिए अपना सभी गैर-बैंकिंग सम्बन्धी कार्य बन्द कर केवल बैंकिंग का कार्य ही करें।

(३) वे लोग अपना नियमित और उचित रूप से हिसाब-किताब रखें और उनका समय-समय पर निरीक्षण करवाते रहें, रिजर्व बैंक भी उनका समय-समय पर जांच करती रहे।

(४) वे अपने आंकड़ों को जनता के हित के लिए प्रकाशित करते रहें तथा समय-समय पर रिजर्व बैङ्क को अपनी स्थिति से परिचित करते रहें।

(५) इसके बदले में उन्हें अन्य बैङ्कों की भाँति रकम भेजने या जमा करने आदि की सुविधाएँ प्राप्त हो गई, उन्हें सरकारी पत्र पर पेशगी लेने का अधिकार प्राप्त हो गया, उन्हें अपने रिज़र्व बैङ्क से प्रत्यक्ष रूप से हुंडी आदि के पुनः भुगतान की सुविधा प्राप्त हो गई।

वे देशी बैङ्कर जो इस योजना के अनुसार रिजर्व बैङ्क तक पहुँचने में असमर्थ थे एक सीमित क्षेत्र के अन्दर ही मिलकर भुगतान कम्पनियाँ (Discount Companies) बना सकते थे और अपने पत्रों या हुंडी आदि का पुनः भुगतान कर सकते थे। इस योजना का विशेष स्वागत नहीं हुआ, देशी बैङ्करों ने अपने गैर बैङ्किग सम्बन्धी कार्यों को छोड़कर इन सुविधाओं का उपयोग करना उचित नहीं समझा। बम्बई का सर्राफ असोसियेशन सोने, चाँदी तथा आभूषण आदि के व्यापार को नहीं बन्द करना चाहते थे। वे अपने आँकड़ों को भी प्रकाशित करना नहीं चाहते थे, उनका कहना था कि ऐसा करने में उन्हें लाभ की अपेक्षा अधिक हानि होने की आशंका है। रिजर्व बैङ्क के इस प्रस्ताव के अस्वीकृत कर दिए जाने के पश्चात् इस दिशा में अभी और कार्य नहीं हुआ है परन्तु रिज़र्व बैङ्क का राष्ट्रीयकरण हो जाने के फल स्वरूप इस दिशा में अच्छा कार्य किए जाने की आशा है।

आवश्यकता इस बात की है कि ये देशी बैङ्कर अपने को संगठित करें, गैर-बैङ्किंग सम्बन्धी कार्यों को छोड़ दें, आधुनिक बैङ्किंग सम्बन्धी पद्धतियों का अनुसरण करने लगें, और इस प्रकार भारतीय बैङ्किग के विकास में अपना सहयोग प्रदान करें। इसमें उनका, उनसे सम्बन्धित अन्य लोगों का तथा देश का हित निहित है।

सहकारी तथा भूमि बन्धक बैङ्क—ग्रामों में मध्य तथा अल्पकालिक ऋण सहकारी समितियों तथा संघों द्वारा दिया जाता है। कृषि के विकास के लिए दीर्घकालिक ऋण की कितनी आवश्यकता है, इस सम्बन्ध में पीछे कई स्थानों पर ज़ोर दिया जा चुका है। भूमि-बन्धक बैङ्कों का यह कार्य है कि वे योग्य कृषकों को महाजन के चंगुल से बचने के लिए, उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने के लिए, अधिक भूमि खरीदने के लिए, अपनी भूमि के विकास के लिए मूल्यवान औजारों को खरीदने के लिए ऋण दें। हम इन प्रश्नों पर भूमि-बन्धक बैङ्क तथा सहकारी बैङ्कों के विस्तृत कार्यों

पर सहकारिता वाले परिच्छेद में प्रकाश डाल चुके हैं, यहाँ हमें इस सम्बन्ध में अधिक नहीं कहना है।

पोस्ट-आफिस सेविंङ्ग बैङ्क—सबसे पहले सन् १८३३ से लेकर १८३५ तक के समय में प्रेसीडेन्सी नगरों में सरकारी सेविङ्ग बैङ्कों की स्थापना हुई। १८३७ में कुछ चुने हुए जिले के खजानों से सम्बन्धित जिला सेविङ्ग बैङ्क खोले गए। १८८२ से लेकर १८८३ तक के समय में सारे भारत में पोस्ट आफिस सेविंङ्ग बैङ्कों की स्थापना की गई। इन्होंने १८८६ में जिला सेविंङ्ग बैङ्कों तथा १८९६ में प्रेसीडेन्सी सेविङ्ग बैङ्कों के कार्यों को अपने हाथ में ले लिया। अविभाजित भारत में इन सेविङ्ग बैङ्कों की प्रधान तथा उप शाखाएँ २७,००० थीं, इसका तात्पर्य यह है कि उस समय प्रत्येक २४ गाँवों के बीच एक सेविङ्ग बैङ्क थी। इन बैङ्कों का उद्देश्य निर्धन व्यक्तियों में मितव्ययिता की भावना को जाग्रत करना है। अपने उद्देश्य की पूर्ति में इन बैङ्कों ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। १९४९ के मार्च के अन्त में भारतीय सङ्घ में कुल २६,७६० डाकखाने थे, जिसमें से ६,४६५ सेविङ्ग बैङ्क का कार्य कर रहे थे। सेविङ्ग बैङ्क वहीं खोला जाता है जहाँ कि यह आशा की जाती है कि हिसाब या एकाउन्ट की संख्या बीस से कम न होगी। इस समय के ९,४६५ सेविङ्ग बैङ्कों में से ६,४०१ सेविङ्ग बैङ्क ग्रामीण क्षेत्रों में थे जो कि दो हजार से ऊपर वाली जनसंख्या के गाँवों के ४० प्रतिशत भागों को ढके हुए थे। नीचे दी हुई तालिका से इस सम्बन्ध में और प्रकाश पड़ेगा :—

पोस्ट आफिस सेविङ्ग बैङ्क (ग्रामों में)

	१९४३	१९४९
(१) उन कार्यालयों की संख्या जो सेविङ्ग बैङ्क का कार्य कर रहे हैं—	५,५१२	६,४०१
(२) खातों (एकाउन्ट) की संख्या (लाखों में)—	७	१२
(३) सन्तुलन (लाख रुपयों में)—	१७,७१	६३,१४
(४) प्रति खाते औसत सन्तुलन—	२४५	५२८

उपरोक्त आंकड़ों को देखने से यह ज्ञात होता है कि १९४३ से लेकर १९४९ तक के समय में सेविङ्ग बैङ्कों आदि की संख्या में अच्छी वृद्धि हुई है किन्तु यह वृद्धि कोई सन्तोषजनक नहीं है, यदि हम इस दिशा में विदेशी जमाखातों (डिपोजिट) पर दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि भारत इस क्षेत्र में भी अभी काफी पीछे है, नीचे दी हुई तालिका से यह स्थिति कुछ स्पष्ट हो जायगी :—

कुछ देशों में पोस्टल सेविङ्ग बैङ्क के डिपोजिट

देश का नाम	जन संख्या (लाख में)	डिपोजिट (लाख रुपयों में)	डिपोजिट प्रति व्यक्ति (रुपयों में)
संयुक्त राज्य अमरीका	११२०	३३,४४०	३०
यू० के०	४४०	४,३८००	९८
कनाडा	१००	६३०	६
जापान	६००	३८,३२०	६४
भारत	३८९०	५२३,३२०	१.२५

उपरोक्त आँकड़ों से हमारी इस क्षेत्र सम्बन्धी स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, हमें पता चल जाता है कि अभी हम कितने पिछड़े हुए हैं। केन्द्रीय बैकिङ्ग रिपोर्ट में यह कहा गया था कि देश के आन्तरिक भाग में निवास करने वाले, दूर-दूर भागों में स्थित व्यक्तियों के पास तक हमें पहुँचना है, छोटे-छोटे आदमियों को मितव्ययिता की शिक्षा देना है और उन्हें बचत का रास्ता दिखाना है। इन

सेविङ्ग बैङ्कों की दशा को सुधारने के लिए कई सुझाव पेश किए गए हैं। इस सम्बन्ध में लोगों का कहना है कि यदि द्रव्य या रुपयों के जमा करने पर जो सीमाएँ लगाई गई हैं, उनमें वृद्धि कर दी जाय, और अन्य सुविधाएँ प्रदान कर दी जायँ, यदि भारतीयों की बोलचाल की या प्रादेशिक भाषाओं में चेक द्वारा जमा के निकालने की व्यवस्था हो जाय तो इन सेविङ्ग बैङ्कों की स्थिति काफी सुधर सकती है।

इसमें से सरकार ने प्रथम सुझाव को स्वीकृति कर लिया है। १९४३ में सेविङ्ग बैङ्क में जमा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ७५०० के स्थान पर १,०००० रु० तक के जमा करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। औरतों को अपने प्रतिनिधियों द्वारा अपना खाता खोलने का अधिकार प्राप्त हो गया है। इस प्रकार तब से सेविङ्ग बैङ्कों की स्थिति में काफी सुधार हुआ है। अभी थोड़े दिनों पूर्व केन्द्रीय सरकार ने सेविङ्ग बैङ्कों में रुपया जमा करने तथा सेविङ्ग सार्टीफिकेट खरीदनेके लिए लोगों को काफी प्रोत्साहित किया है। सरकार के प्रयत्न के फलस्वरूप गाँव-गाँव में सेविङ्ग सार्टीफिकेट की बिक्री की गई जिसके परिणाम- स्वरूप १९४९-५० में, सेविङ्ग बैङ्कों की जमा ४०४६ लाख रुपया हो गई। चेक द्वारा हिसाब-किताब करने के सुझाव का सफल होना सम्भव नहीं है।

युद्ध का सेविङ्ग बैङ्कों पर प्रभाव—जब द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ तो बहुत से लोगों ने सेविङ्ग बैङ्कों से अपना रुपया निकालना शुरू कर दिया था, धीरे-धीरे १९४३ में स्थिति कुछ सुधरी, इन बैङ्कों में जमा की हुई रकम में वृद्धि होने लगी, १९४४-४५ में ८० करोड़ से भी ऊपर रुपया जमा हो गया। १९४७-४८ में (अविभाजित भारत में) यह रकम १४७ करोड़ रुपया हो गई। १९४१ में पोस्ट आफिस सेविङ्ग बैङ्क में रुपया जमा करने के लिए एक नई योजना कार्यान्वित की गई। इसके अनुसार २½ प्रतिशत के हिसाब से सूद देने की व्यवस्था की गई। १९४७ की अप्रैल में इस कोष में कुल रुपया ११ करोड़ था किन्तु ३ मार्च १९४८ को इसमें केवल ३.१६ करोड़ रुपया रह गया। इस ह्रास का मुख्य कारण यह था कि युद्ध समाप्त हो चुका था और इसमें से सरलता से रुपया निकाला जा सकता था। इसके पश्चात् सरकारी 'नेशनल सेविङ्ग सर्टीफिकेट, योजना के कारण तथा सूद की दर में वृद्धि किए जाने के कारण जमा में फिर वृद्धि होने लगी। छोटी बचत कोषों में १९४९-५० में ९८ करोड़ रुपया जमा था, इसमें भारतीय संघ का विभाजन के पूर्व का ४३ करोड़ रुपया सम्मिलित नहीं है। इस रकम के अन्तर्गत, पोस्टल कैश सर्टीफिकेट, डिफेन्स तथा नेशनल सेविंग सर्टीफिकेट, तथा डिफेन्स सेविङ्ग बैङ्क की रकम सम्मिलित है।

भारत में ज्वाइन्ट स्टाक बैंकिङ्ग—भारत में आधुनिक बैंकिंग का श्रीगणेश १८वीं शताब्दी में हुआ। सबसे पहले कलकत्ता और बम्बई में 'एजेन्सी हाउस' खोले गए। वैसे तो इनका मुख्य उद्देश्य या कार्य व्यापार या व्यवसाय करना था किन्तु उसके साथ ही साथ वे बैंकिंग का भी कार्य करते थे। इनके बाद जिन ज्वाइन्ट स्टाक बैङ्कों की स्थापना हुई वे अपरिमित दायित्व वाले थे उनका प्रबन्ध यूरोपियनों द्वारा होता था। सन् १८२९-३० के व्यावसायिक ऐक्ट ने 'एजेन्सी' घरों (Agency House) पर अपना गहरा असर डाला। १८३० से लेकर १८८० तक इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। बहुत से ज्वाइन्ट स्टाक बैङ्क जो कि इस युग में स्थापित हो चुके थे, वे बाद में बन्द हो गए। बाद में सन् १८६० से परिमित दायित्ववाले सिद्धान्त का पालन किया जाने लगा।

प्रेसीन्डेसी बैंक—१९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में देश का विदेशी व्यापार बहुत अधिक नहीं था, और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि आन्तरिक व्यापार को पूँजी सम्बन्धी सहायता देशी बैङ्करों से मिलती थी। जब धीरे-धीरे व्यापार की वृद्धि होने लगी तो योरोपियन पद्धति की बैंकों कीस्थापना की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। ऐसी स्थितियों में कलकत्ते में १८०६ में बैंक आफ बंगाल की

स्थापना हुई। सन् १८४० में,पहली बैंक आफ बाम्बे'की स्थापना की गई परन्तु सन्१८६८ में कुछ कारणों से यह बैंक बन्द हुई हो गई और इसी वर्ष में एक दूसरी 'बैंक आफ बाम्बे' की स्थापना की गई। इसकी पूँजी एक करोड़ रुपया थी। सन् १८४३ में ३० लाख पूँजी से 'बैंक आफ मदरास' को चलाया गया। सन् १८६२ के पूर्व ये सीधे सरकार द्वारा नियंत्रित होती थीं और उनके क्रियाकलापों पर सरकार कुछ प्रतिबन्ध रखती थी। सन् १८७६ में एक कानून पास किया गया जिसके द्वारा इन बैंकों से सरकार ने अपना हिस्सा निकाल लिया और बैंकों के डायरेक्टरों सेक्रेटरी तथा ट्रेज़रर की नियुक्ति का अधिकार छोड़ दिया। इसके बाद यद्यपि वे स्टेट बैंक नहीं रह गई थीं किन्तु अब भी सरकार से उनका सम्बन्ध बना हुआ था, अन्त में १६२१ में इन बैंकों को इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया में मिला दिया गया।

सन् १८८१ में' अवध कामर्शियल बैंक की स्थापना की गई ' यह सब से पहला मिश्रित पूँजी वाला भारतीय बैंक था। १८६४ में पंजाब नेशनल बैंक तथा १६०१ में 'पीपुल्स बैंक आफ इण्डिया' की स्थापना की गई। सन् १८८० तक वस्तुओं के मूल्य आदि में गिराव होने के कारण बैंकिंग में कोई विकास न हो सका परन्तु इसके बाद के दशाब्द में इसकी स्थिति काफी अच्छी हुई। सन् १६०५ के स्वदेशी आन्दोलन में भारतीय बैंकिंग को विशेष प्रोत्साहन मिला। इस समय वस्तुओं के मूल्य में धीरे-धीरे वृद्धि होने के कारण,तथा १८६८ में चलताऊ सिक्कों में वृद्धि होने के कारण यह स्थिति और सुधरी कितने ही नवीन बैंकों का उदय हुआ, कुछ बैंक असफल भी हुए बैंक आफ इन्डिया, बैंक आफ बड़ौदा तथा पंजाब व सिंध बैंकों ने अच्छी उन्नति की उनके विकास की यह गति १६१३ तक चलती रही, इस समय फिर उनकी स्थिति बिगड़ गई,देश के एक बड़े बैंक पीपुल्स बैंक आफ इंडिया के फेल हो जाने से कितने ही बैंक फेल हुए, एक-एक करके करीब ५० बैंक फेल हो गए। प्रथम विश्वयुद्ध से भारतीय बैंकिंग को फिर सहारा मिला किन्तु युद्ध के बाद की आने वाली मन्दी के कारण इसको फिर धक्का लगा और इस समय शिमला की अलाइन्स बैंक' जैसी बैङ्किग संस्था फेल हो गई। इसके अतिरिक्त इस मन्दी से और कितने ही बैंक फेल हो गए। १६३१ से लेकर १६३६ तक कुछ नहीं तो २३८ बैंक बन्द हो गए परन्तु इनमें से अधिकांश बैंक छोटे-छोटे बैंक थे केवल पाँच ही बैंक ऐसे थे जिनके पास एक लाख से अधिक की पूँजी थी। १६३८ में बैंकों के सन्मुख फिर एक संकट आ खड़ा हुआ किन्तु सौभाग्य वश यह संकट दक्षिण भारत में ही रहा। इस संकट के समय दक्षिण भारत के दो बड़े बैंक त्रावंकोर नेशनल बैंक तथा क्विलन बैंक फैल हो गए। वह बैंक उस समय फेल हुआ था जब कि रिज़र्व बैंक की स्थापना हुए केवल तीन वर्ष हुए थे और रिज़र्व बैंक भी बिना उसकी उचित जाँच किए हुए इस मामले में हाथ नहीं डालना चाहता था।

ऊपर हमने भारत में बैंकों के विकास के इतिहास पर एक दृष्टि डाली। हमने देखा कि भारतीय बैंकिंग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु इन कठिनाइयों का सामना करने के बाद भी वह आगे बढ़ता ही गया। उसे दो विश्वयुद्धों तथा एक भीषण मन्दी का सामना करना पड़ा किन्तु उसने अपनी स्थिति को बड़ी अच्छी तरह संभाला। भविष्य में अब इस प्रकार के संकटों का बैंकों को सामना न करना पड़े और उनके कारण वे फेल न हों इस सम्बन्ध में हमें कई सावधानियाँ बर्त्तनी होंगी।

इन बैंकों के फेल होने के कारण—अन्य मिश्रित पूजी वाली संस्थाओं की भाँति बैंकों की स्थित नहीं है। इन बैंकों के नष्ट होने के प्रभाव इनके साझेदारों पर तो पड़ता ही है, साथ ही उनमें जमा करने वाले लोगों पर भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए इन बैंकों के फेल होने के कारण का जानना हमारे लिए और भी आवश्यक हो जाता है, जिससे कि भविष्य में ऐसी गलतियाँ न हों इन बैङ्कों के फेल होने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) उपरोक्त बैङ्कों तथा इनके अतिरिक्त जितनी इस समय अन्य और बैंकें फेल हुईं उनमें से दो-तिहाई ऐसी थीं जिनकी स्थापना हुए दस वर्ष भी नहीं हुए थे, उनमें से अधिकांश की भुगताई हुई पूँजी एक लाख रुपये से भी कम थी, वे इतनी छोटी थीं, कि कुछ के तो यदि आज नाम का भी पता लगाया जाय तो मुश्किल होगा। फिर इन बैंकों के प्रबन्धकों या व्यवस्थापकों में अनुभव तथा योग्यता का काफी अभाव था। जब तक कि योग्य और शिक्षित व्यक्तियों के हाथ में किसी भी संस्था के चलाने का कार्य भार न सौंपा जाय तो चाहे वे बैङ्क हों या अन्य कोई संस्था उनका सफलतापूर्वक चलना बड़ा मुश्किल है।

(२) इन बैंकों में कुशल प्रबन्धकों की कमी तो होती ही थी साथ ही कुछ बैंकें अपना हिसाब-किताब भी बड़ा गलत रखती थीं, और रुपये लगाने वालों को धोखे में फंसा कर अनेक चालाकियाँ की जाती थीं, बैङ्क के डायरेक्टरों या उनके मित्रों को बिना जमानत के या अधूरी जमानत पर ऋण दे दिया जाता था, जिससे रुपया डूबने का बड़ा खतरा बना रहता था।

(३) सट्टेबाजी तथा जल्दी से लाभ कमाने की भावना से भी बहुत सी बैंकों को गहरा धक्का पहुँचा। चांदी में सट्टा करने से कारण ही इंडियन स्पेसी बैंक बैठ गया था।

(४) कुछ बैंकें अपनी लापरवाही, असावधानी और अकुशलता के कारण भी फेल हुईं। शिमला की अलाइंस बैंक अपने लन्दन के एजेन्टों की लापरवाही के कारण ही बैठ गई थी।

(५) उस समय इन बैंकों की स्वीकृत या अधिकृत पूँजी प्राप्त, या प्रदत्त तथा बिकी हुई हिस्सा पूँजी में बड़ा अन्तर रहता था, इसका भी प्रभाव बड़ा बुरा पड़ता था। अभी थोड़े दिनों पूर्व सरकार ने इस दोष को दूर करने के लिए एक कानून बना दिया है।

(६) वे व्यावसायिक बैङ्क जिनकी अमानत अल्पकालीन रहती है उनका औद्योगिक कार्यों में पूँजी का विनियोग करना सुगम नहीं रहता, यदि वे ऐसा करती हैं तो अपने को जान-बूझकर संकट में डालती हैं। पीपुल्स बैङ्क के दो बार फेल होने का मुख्य कारण यही था कि अपने औद्योगिक कार्यों में अपनी बहुत पूँजी उठा दी थी। इसी कारण से टाटा इन्डस्ट्रियल बैङ्क को भी सेन्ट्रल बैङ्क आफ इंडिया में मिलकर अपनी रक्षा करनी पड़ी थी।

(७) बैङ्कों की चल लेनी का अनुपात देनी से सदैव अधिक होना चाहिए और फिर भारत जैसे देश में जहाँ की अधिकांश जनता अशिक्षित है वहाँ पर इसकी आवश्यकता और भी अधिक बढ़ जाती है।

बैङ्कों के फेल होने के इन विभिन्न कारणों को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारी उन बहुत सी बैङ्कों के फेल होने का मुख्य कारण उनके कर्मचारियों की अनुभवहीनता तथा अयोग्यता ही थी। इस समय हमारी बैंकिंग का एक और दोष है वह यह कि देश में अलग-अलग सैंकड़ों बैंकें इधर-उधर फैली हुई हैं जिनमें से अधिकांश को रिजर्व बैंक की नामावली में अंकित भी नहीं किया सकता, वे अपने खाते का साप्ताहिक हिसाब नहीं रखतीं, उनकी लेनी तथा देनी का अनुपात भी अच्छा नहीं है।

आज आवश्यकता है कि हम बैङ्किंग सम्बन्धी अपनी पिछली असफलताओं से शिक्षा ग्रहण करें और भविष्य में इस प्रकार की भूलें न हों ऐसा प्रयत्न करें, आज इङ्गलैण्ड जो बैङ्किंग के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है उसे भी इस दिशा में पहले कितनी ही असफलताओं का सामना करना पड़ा और उसने इन असफलताओं से काफी शिक्षा ली। हमारी आज की बैङ्किंग की एक विशेषता यह भी है कि बहुत से उद्योगपति, जिनसे कि कई-कई उद्योग चल रहे हैं वे भी अपने हाथों में किसी न किसी बैङ्क का रखना लाभदायक समझते हैं। भारत बैङ्क, ओरियन्टल बैङ्क आफ कामर्स, यूनाइटेड कामर्शल बैङ्क ऐसी ही बैंकें हैं। इस प्रकार की पद्धति अच्छी नहीं है।

देश की बैङ्किंग का एक बड़ा दोष तथा कुछ बैङ्कों के फेल होने का एक कारण पूँजी का अविवेक पूर्ण विनियोग करना भी है। विदेशी सरकार की मुक्त व्यापार नीति का भी बैङ्कों की आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा, उस समय कोई ऐसी संस्था नहीं थी जो विभिन्न बैङ्किंग संस्थाओं को एक सूत्र में बाँध सके। अभी कुछ दिनों पूर्व १९४९ की फरवरी के बैङ्किंग विधान द्वारा इस कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया गया है।

ज्वायन्ट स्टाक बैंकों का कार्य—भारत के ज्वायन्ट स्टाक बैङ्कों के कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) सब प्रकार की अमानतों को जमा करना।

(२) हुंडी तथा अन्य बिलों को भुनाना। अचल सम्पत्ति, स्टाक व हिस्सों तथा अन्य वस्तुओं पर ऋण देना।

(३) कमीशन के आधार पर अपने आसामियों के लिए शेयर खरीदना।

(४) दस्तावेजों तथा आभूषणों आदि को अपने यहाँ सुरक्षित रखना।

(५) बैङ्कों के ड्राफ्ट आदि के द्वारा अपने ग्राहकों के लिए रकम को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना।

साधारणतया ये बैंकें देश के सारे आन्तरिक व्यापार के पूँजी सम्बन्धी कार्य को सम्भालती हैं, विदेशी व्यापार से इनका बहुत कम सम्बन्ध रहता है, विदेशी व्यापार का कार्य तो मुख्य रूप से विदेशी विनिमय बैङ्क सम्भालती हैं। ये बैङ्कें कृषि के उत्पादन की बिक्री आदि के लिए किसानों को कुछ भी सुविधा नहीं पहुँचातीं, इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे किसान अशिक्षित हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ये बैंकें इस क्षेत्र में भी अपनी सहायता प्रदान करें, अच्छे गोदाम तथा अन्न भण्डार खोले जायँ और ये बैंकें कृषि सम्बन्धी बिलों को भुनाने में अपना सहयोग प्रदान करें।

लेनी तथा देनी—(Assets and Liabilities) मिश्रित पूँजी वाले या ज्वायन्ट स्टाक बैङ्कों की देनी में उनकी सुरक्षित तथा जमा पूँजी सम्मिलित रहती है। किसी बैङ्क की पूँजी को देखकर ही जनता का उसके प्रति विश्वास बढ़ता है। कैश तथा डिपाजिट में साधारणतया १२ और १५ प्रतिशत का अनुपात रहता है, यह अनुपात भारत के प्रामाणिक (Scheduled) बैङ्कों का है। यह अनुपात साधारणतया देश की आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहता है। इन मिश्रित पूँजी वाली बैङ्कों की लेनी में कैश, भुनने वाले बिल, सरकारी तथा अन्य सेक्यूरिटियाँ, लोगों की पेशगी दी हुई रकम तथा अचल सम्पत्ति जैसे इमारत इत्यादि सम्मिलित रहती हैं।

किसी बैङ्क की लेनी तथा उसकी नकदी का जो अनुपात होता है उसका बड़ा महत्व होता है। इसके बाद सरकारी सेक्यूरिटियों तथा भुने हुए बिलों का महत्व होता है। वैसे तो ये कैश नहीं होते किन्तु ये कैश के ही समान होते हैं क्योंकि इन्हें सरलता से बेचा जा सकता है और उनकी कीमत को वसूल किया जा सकता है। ब्रिटेन तथा अमरीका आदि देशों की बैङ्कों के नकदी या कैश का अनुपात कुछ कम रहता है। परन्तु भारत में इस अनुपात को अधिक रखने की इसलिए आवश्यकता होती है कि यहाँ जरा सी अफवाह या अशान्ति आदि फैलने से बैंकों से होनेवाली निकासी में एकदम से वृद्धि हो जाती है।

प्रामाणिक बैंक (Scheduled Banlks)—नीचे दी हुई तालिका से भारत के ज्वायन्ट स्टाक बैंकों की स्थिति का कुछ पता चल जायगा। इससे यह पता चल जायगा कि थोड़े समय से वे नकद सुरक्षित पूँजी अच्छे परिमाण में रख रही हैं।

प्रामाणिक बैङ्कों की स्थिति (रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद)

वर्ष	प्रामाणिक बैङ्कों की संख्या--	देनी समय	देनी माँग	कैश	रोकड़ बाकी (रिजर्व बैंक से)	कैश का देनी से प्रतिशत
१६३६-४०	५०	१०६,०३	१३६,६५	७,०८	१७,४३	१०.०%
१६४२-४३	६१	१०४,२१	३०६,२८	१२,६७	५५,७३	१६.७%
१६४७-४८	१०१	३४३,८६	७०६,६५	३६,६२	१००,८१	१३.४०%
१६४८-४६	६४	३०३,८८	६७४,५६	३७,५१	७६,४६	११,६५%
१६४६-५०	६४	२७२,५६	५६७,७६	३४,४७	६५,८५	११,५३%

गत दो वर्षों में होने वाली अमानत (डिपाजिट) की गति युद्ध तथा युद्ध के बाद के वर्षों की अपेक्षा बिल्कुल विपरीत रही है। इसमें सन् १६४८-४६ में कुल ७१ करोड़ रुपया का गिराव हुआ था १६४६-५० में फिर १०८ करोड़ रुपया का ह्रास हुआ।

अप्रमाणिक बैंक (Non Scheduled Banks)--अप्रमाणिक बैंक वे बैंक हैं जिनका नाम रिजर्व बैंक के परिशिष्ट में नहीं दिया गया है। इन बैंकों की संख्या १६३८ में १,४२१ थी। इनमें १६४६ के अन्त में केवल ३५८ बैंकों ने अपना ब्योरा दिया था जब कि १६४८ में ५१८ बैंकों ने अपना ब्योरा रिजर्व बैङ्क के समक्ष पेश किया था। इन बैङ्कों ने जो प्रगति की है, उसका पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

अप्रमाणिक बैङ्क

(लाख रुपयों में)

वर्ष (दिसम्बर)	बैङ्कों की संख्या (जिन्होंने अपना ब्योरा दिया)	देनी समय	देनी माँग	कुल	नकदी	प्रतिशत
१६४०	६०४	११४८	५२६	१६,७४	१३०	७.८%
१६४४	६१३	२८२६	२४८४	५३,१३	६,०४	११.०%
१६४७	६८५	......	.....	४५,४६	...	७.१४%
१६४८	४१६	१७,६२	४४,५६	२६,६४	३८४	८,६%
१६४६	३५८	२४,६२	१५,३८	४०,००	३६१	६,०%

जैसा कि उपरोक्त आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि १६४६ में अप्रमाणिक बैङ्कों की संख्या, जो कि रिजर्व बैङ्क को अपना ब्योरा पेश करते थे ३५८ थी जब कि १६४८ में ऐसे ४१६ बैङ्कों ने अपना ब्योरा रिजर्व बैङ्क के समक्ष पेश किया। इन बैङ्कों के साधन अपर्याप्त थे और इनके पास कम से कम आवश्यक कैश ही रहता था। युद्ध के समय तथा उसके बाद के वर्षों में इन्होंने अपनी रोकड़ बाकी में वृद्धि की। १६४६ में इनकी कुल लेनी केवल ४० करोड़ रुपया थी जब कि १६४६ में ७८ करोड़ रुपया थी। इन बैङ्कों की अमानत (डिपाजिट) में इतनी कमी होने का मुख्य कारण देश की राजनैतिक स्थिति का उलथ-पुथल होना ही है, इन भयावह स्थितियों के कारण देश की कुछ बैङ्कें भी फेल हो गईं, पश्चिमी बंगाल की नाथ बैङ्क ऐसी ही बैङ्कों में से थी। इन अप्रमाणिक बैङ्कों में से ६८ बैङ्क ऐसे हैं जिन्हें रिजर्व बैङ्क द्वारा रकम भेजने आदि के सम्बन्ध में कुछ विशेष रियायत प्राप्त है। १६४५ की फरवरी में यह निश्चय किया गया था कि वे अप्रमाणिक बैंकें जो कि रिजर्व बैंक से आपना खाता

खोलना चाहें उन्हें यदि रिजर्व बैंक अनुमति दे दे तो ऐसा कर सकें, परन्तु ऐसी स्थिति में उन्हें कम से कम दस हजार रुपये की बाकी रखनी होगी।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की इन बैङ्कों की स्थिति को और दृढ़ किए जाने की आवश्यकता है। अन्य देशों की तुलना में अभी हमारे देश की बैंकें काफी छोटी हैं। अतएव यदि भारतीय बैंङ्किग को दृढ़ करना है तो छोटी-छोटी बैङ्कों को बड़ी बैंकों से मिला दिया जाय।

सन् १९४८ की ३१ मार्च तक प्रमाणिक बैंकों की कुल शाखाएँ २९९३ थीं १९४९ में ये ३००८ हो गईं। इसी समय में २०८ कार्यालय और बढ़े जब कि १०८ कार्यालय परिशिष्ट से हटा दिये गए। इनमें कुछ कार्यालय तो बन्द हो गए थे, और दो बैंकों के द्वितीय परिशिष्ट में सम्मिलित न किये जाने से हटा दिये गये थे। इस कमी के होने का मुख्य कारण यह था कि विभाजन के बाद देश में भयानक अशान्ति फैली जिससे प्रामाणिक बैंकों को अपने कुछ कार्यालयों को बन्द करना पड़ा, इस कमी का दूसरा कारण १९४७ का बैंङ्किंग कम्पनीज एक्ट था।

युद्ध तथा युद्ध के बाद के वर्षों में ज्वाइन्ट स्टाक बैंकिंग—द्वितीय विश्व युद्ध का भारतीय बैंकों ने अच्छी तरह सामना किया। जब १९३९ में युद्ध प्रारम्भ हुआ तो बैंकों से लोगों ने दनादन रुपया निकालना शुरू कर दिया, १९४० में जब कि फ्रान्स की पराजय हुई उस समय भी यही स्थिति बनी रही किन्तु भारतीय बैंकों ने स्थिति का अच्छी तरह सामना किया। जब बाद में जापान भी युद्ध में शामिल हो गया और युद्ध की अग्नि भारतीय सीमा के निकट तक आ पहुँची तो देश में और अशान्ति फैली, लोग घबराहट के कारण बैंकों से बराबर रुपया निकालने लगे किन्तु इस स्थिति में भी उनकी दशा कोई खराब नहीं हुई, हाँ दक्षिण के कुछ बैंकों ने इस समय अवश्य रिजर्व बैंक से सहायता की प्रार्थना की थी और रिजर्व बैंक ने अपने कर्तब्य का कुछ पालन भी किया था।

इसके बाद ज्यों-ज्यों युद्ध बढ़ता गया स्थिति में कुछ परिवर्तन होता गया, इस समय प्रामाणिक बैङ्कों की अमानत में काफी वृद्धि होने लगी। सन् १९३७-३८ में यह अमानत २४२ करोड़ रुपया थी, १९४५ की जौलाई में ८७१ करोड़ रुपया हो गई। इस समय मुद्रा में भी काफी विस्तार हुआ। इस समय प्रामाणिक बैङ्कों की माँग की देनी में काफी वृद्धि हुई। सन् १९३९-४० में यह देनी १४० करोड़ रुपया थी, १९४५-४६ में ७०४ करोड़ रुपया हो गई। इसके विपरीत समय वाली देनी में कुछ भी वृद्धि नहीं हुई, उल्टे उसमें ह्रास ही हुआ। इस ह्रास का कारण लोगों में फैली हुई युद्ध-जन्य अशान्ति ही थी। १९४५-४६ में यह स्थिति कुछ सुधरती हुई दिखलाई पड़ी। युद्ध के समय इन बैङ्कों की अधिकांश जमा या अमानत ऐसी रहती थी जिसे मांग होने पर देना जरूरी था, इसलिए बैङ्कों को काफी कैश रिजर्व रखना पड़ता था। सरकारी ट्रेजरी बिलों से भी इन्हें कोई विशेष लाभ नहीं मिलता था, इसलिए ये बैंकें रिजर्व बैङ्क में काफी रकम सुरक्षित रखती थीं।

युद्ध के प्रारम्भ होने पर बैङ्कों के ऋण आदि में बड़ी कमी हुई, सन् १९४२-४३ तक बिल आदि भी बहुत कम भुने। इसका मुख्य कारण यह था कि सरकार ने युद्ध के लिए जो सामग्री आदि खरीदी उसका भुगतान स्वयं ही और शीघ्र ही कर दिया। उद्योग-धन्धों को भी काफी अच्छा लाभ प्राप्त हुआ, इससे भी भुनने वाले बिलों या हुँडियों आदि की संख्या कम रही। उधर ज्यों-ज्यों विदेशों से आने वाले माल में कमी होती गई, त्यों-त्यों व्यापारी हुँडियों की संख्या में ह्रास होता गया। इसके बाद यह स्थिति बदली, व्यापार आदि में काफी वृद्धि हुई, प्रामाणिक बैङ्कों के अग्रिम में वृद्धि होने लगी और उसके साथ ही साथ भुने हुए बिलों की संख्या में भी वृद्धि हुई। नीचे दी हुई तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जायगी :—

प्रामाणिक बैंकों के अग्रिम ऋण तथा भुनाए गए बिल
(लाख रुपयों में)

वर्ष	बैङ्कों की संख्या	अग्रिम	बिल (भुनाए गए)
१६३६-४०	५५	१२१,४७	४,६७
१६४२-४३	६१	६५,६८	२,१८
१६४७-४८	१०१	४२७,५४	१६,८२
१६४८-४६	६४	४२४,८५	१६,४४
१६४६-५०	६४	४२६,७४	१५,३५

ऊपर दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में इन बैङ्कों के अग्रिम तथा भुनाई गई हुँडियों आदि की संख्या में काफी कमी रही, यह स्थिति १६४२-४३ तक बनी रही, हां इस समय व्यक्तिगत बैङ्कों की सरकारी ट्रेजरी बिलों में विनियोजित पूँजी में अवश्य वृद्धि हुई, १६४८-४६ तथा १६४६-५० में इसमें ह्रास हो गया, इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय युद्ध के समाप्त हो जाने तथा भारतवर्ष को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने से देश के उद्योग तथा वाणिज्य व व्यापार की स्थिति काफी सुधर गई थी।

युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ नवीन बैङ्कों की भी स्थापना की गई, सन् १६४३ में विशाल पूंजी लगाकर भारत बैङ्क तथा बैङ्क आफ जयपुर की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त कुछ अप्रमाणिक अन्य बैंकें भी जिनमें पहले पूंजी कम थी और इस समय उनमें काफी वृद्धि हो गई थी वे अब प्रामाणिक बैंकें बन गईं। युद्ध के प्रारम्भ होने पर ऐसे बैंकों की संख्या, जो कि रिजर्व बैंक को अपनी रिपोर्ट देती थीं, ५५ थी, १६४६ में यह संख्या ६१ हो गई। अविभाजित भारत में इनकी संख्या १०१ हो गई थी, सन् १६५० में विभाजित भारत में इनकी संख्या ६४ हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध के पूर्व तथा युद्ध के समय तथा युद्ध समाप्त होने पर हमारी बैङ्किंग सम्बन्धी स्थिति में काफी अन्तर रहा, धीरे-धीरे इसमें विकास होता गया। इम्पीरियल बैङ्क की हुँडी की दर तथा बैंक की अन्य दरों में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ, इस समय ये दर ३ प्रतिशत के हिसाब से ही स्थिर रही।

विभाजन के बाद की बैंकिंग या आधुनिक महाजनी—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि हमारी बैंकिंग में युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा। हमने देखा कि बैंकों की सावधि दायित्व में खूब वृद्धि हुई, सन् १६४८ में मार्च तक यह ३४४ करोड़ रुपए थी। जब भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ और देश दो भागों में विभाजित हुआ तो इस विभाजन का भी प्रभाव हमारी बैंकिंग सम्बन्धी इस स्थिति पर पड़ना अवश्यंभावी था। विभाजन के पश्चात् देश की बैंकिंग सम्बन्धी स्थिति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, किन्तु भारत की बैंकों ने स्थिति का साहसपूर्वक सामना किया। पञ्जाब तथा पश्चिमी बङ्गाल की बैंकों को तो और भी कठिनाई का सामना करना पड़ा, बैंकों की धरोहर या अमानतों में एकदम से गिराव हो गया, भारतीय बैंकों की इन अमानतों में जितना गिराव हुआ उतना गिराव बहुत कम देशों की बैंकों की अमानतों में हुआ है। भारतीय बैंकों के विभाजन के फलस्वरूप जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं उनमें से मुख्य ये हैं :—

(१) युद्ध के कारण आय के वितरण में काफी असमानता आ गई थी, इस समय बड़े आदमियों के हाथ से पूँजी निकलकर छोटे-छोटे व्यक्तियों के हाथ में पहुँच गई, इन व्यक्तियों में पूँजी का बैङ्कों में जमा आदि करने की भावना बहुत कम या नहीं के बराबर थी।

(२) विभाजन के पश्चात् जो शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आए उन्हें अपनी जीविकोपार्जन के लिए, अपने जीवन-निर्वाह के लिये बैङ्कों में जमा की हुई अपनी पुरानी रकम का निकालना

आवश्यक हो गया। इस रूप में भी बैङ्कों से खासी अच्छी रकम जो अभी अमानत के रूप में थी निकल गई।

(३) इन वर्षों में भारतीय व्यापार तथा उद्योग का भी विकास होने लगा, इनके विकास के लिए लोगों ने अपनी पुरानी रकम बैङ्कों से निकालना शुरू कर दिया ।

(४) उन देशी राज्यों की सरकारों ने भी जो निकटवर्ती प्रान्तों या राज्यों में मिल गईं, अपने पूँजी-विनियोग (Ienvestment) को बेच दिया।

(५) कपास तथा जूट जैसे कच्चे माल के खरीदने तथा आयात के वास्ते पूँजी के प्रतिबन्धन (Financing) के हेतु बैङ्कों द्वारा दिए जाने वाले अग्रिम आदि में धीरे-धीरे वृद्धि होती गई।

(६) पश्चिमी बंगाल में कुछ बैङ्कों के बैठ जाने से लोगों में अशान्ति तथा अश्रद्धा की भावना फैल गई और लोगों ने बैङ्कों से अपनी रकम निकालना शुरू कर दिया। बैङ्कों के इस प्रकार से बैठ जाने के कारण हमारी बैङ्कों की स्थिति और भी खराब हो जाती और लोगों में यह भावना और भी बलवती हो जाती किन्तु रिजर्व बैङ्कों के सहायता प्रदान करने से यह स्थिति सम्भल गई।

भारत में बैंकिंग सम्बन्धी विधान—ऊपर हमने देखा कि भारतीय बैङ्किंग को समय-समय पर अनेक आघात प्रतिघातों का सामना करना पड़ा परन्तु धीरे-धीरे वह अपने विकास पथ पर अग्रसित होता ही गया। सरकार ने भी समय-समय पर कानूनों का निर्माण कर इस दिशा में अच्छी सहायता प्रदान की। हम यहाँ पर बैङ्किंग सम्बन्धी इन्हीं कानूनों पर प्रकाश डालेंगे।

*१६ वीं शताब्दी में भारतीय बैङ्किंग को आधुनिक रूप प्रदान करने के लिए कोई विशेष कानूनों का निर्माण नहीं हुआ। भारत सरकार उसी मुक्त नीति का अनुसरण करती रही जिसका पालन उसने व्यापार आदि में किया था १६१३ में इंडियन कम्पनी कानून पास हुआ जिसमें अन्य कम्पनियों से बैङ्किंग कम्पनियों के अन्तर को स्पष्ट करने की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विशेष बात नहीं की गई। प्रथम विश्वयुद्ध के समय कुछ बैङ्कों के फेल हो जाने पर भी बैङ्किंग सम्बन्धी कानूनों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। केन्द्रीय बैङ्किंग जाँच समित ने बैङ्किंग सम्बन्धी अच्छे विधान के निर्माण का सुझाव दिया था किन्तु सरकार ने १६३६ में १६१३ वाले कम्पनी कानून को ही सन्शोधित कर के प्रचलित कर दिया। इस कानून में बैङ्कों के लिये एक अलग ही हिस्सा रख दिया इस संशोधित कानून की मुख्य-मुख्य बातें ये थीं:—

(१) इस कानून में बैंङ्किंग कम्पनी की परिभाषा देते हुए कहा गया कि बैङ्किंग कम्पनी वही संस्था कहला सकती है जो धरोहरों को या अमानतों को चालू खाते पर जमा करती, और चेक या ड्राफ्ट आदि के होने पर वापस दे देती है।

(२) किसी बैङ्किंग कम्पनी को चलने के लिये यह आवश्यक रखा गया कि वह प्रारम्भ में कम से कम ५०,००० रुपयों की सक्रिय पूँजी की व्यवस्था करले।

(३) बैङ्किंग-कम्पनी के लिए सुरक्षित कोष का रखना आवश्यक कर दिया गया। लाभ में प्राप्त होने वाली रकम के २०% का सुरक्षित कोष में जमा करना आवश्यक समझा गया। यह रकम हर वर्ष और तब तक जमा की जाय जब तक कि प्रदत्त पूँजी के वह बराबर न हो जाय।

(४) कानून में यह उल्लेख किया गया कि सावधि दायित्व के विपरीत डेढ़ प्रतिशत कैश रिजर्व तथा मांग वाली या दर्शनी दायित्व के विपरीत ५% रखी गई। इन बैङ्किंग कम्पनियों से यह अनुरोध किया गया कि वे कम्पनियों के रजिस्ट्रार को प्रति माह अपनी रिपोर्ट भेजें।

(५) भविष्य में स्थापित की जाने वाली बैङ्किंग कम्पनियों के प्रबन्ध से मैनेजिंग एजंटों को वंचित कर दिया गया।

(६) किसी भी बैङ्किंग कम्पनी को यह अधिकार नहीं रह गया कि वह एक दूसरी सहायक कम्पनी खोले या उसके हिस्से खरीदे यह तब तक नहीं हो सकता था जब तक कि वह ऐसी कम्पनी न हो जो कि किसी जायदाद या ट्रस्ट आदि के प्रबन्ध के लिए स्थापित की गई हो ।

(७) कोई बैङ्किंग कम्पनी बैठ न जाय इससे बचाने के लिए भुगतान की बढ़ी हुई अवधि (Moratorism) की व्यवस्था की गई ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस १६३६ के कानून द्वारा बैंकिंग सम्बन्धी कई कठिनाइयों के दूर करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु इससे कोई विशेष लाभ न प्राप्त हुआ । वास्तव में इस समय आवश्यकता इस बात की थी कि भारतीय बैंकिंग को नियन्त्रित करने के लिए एक अलग ही कानून का निर्माण किया जाय । सन् १६३६ में रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर सर जेम्स टेलर ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ सुझाव रखे थे किन्तु युद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर ऐसा न हो सका । जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि युद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर सन् १६४२ तक बैङ्कों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा, बाद में जब जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया और मित्र राष्ट्रों ने जापान से मोर्चा लेने के लिए भारतवर्ष को ही अपना आधार माना तो भारत के व्यापार में वृद्धि होने लगी, युद्ध तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए भारतीय वस्तुओं की खूब बिक्री हुई । मुद्रास्फीत के कारण बैङ्कों की अमानत तथा अग्रिम में कुछ वृद्धि हुई, परन्तु सबसे अधिक वृद्धि तो प्रामाणिक बैङ्कों की सक्रिय पूँजी में हुई । गत दो वर्षों में अमानत वाले दायित्वों, कटौती किए गए बिलों तथा अग्रिमों सम्बन्धी स्थिति में परिवर्त्तन हो गया, इनकी स्थिति बदल गई, साथ ही साथ नोटों के चलन में भी कमी हुई है ।

नीचे दी हुई तालिका से ये बातें और स्पष्ट हो जायेंगी :—

(करोड़ों रुपये में)

वर्ष	प्रामाणिक बैङ्कों की संख्या	शाखाओं की संख्या	माँग वाले दायित्व	सावधि—दायित्व	नकद	अग्रिम तथा बट्टे किए गए बिल
१६३८-३६	५३	१,१२८	१३०	१०८	७	१२१
१६४५-४६	६१	३,११५	६५५	२६०	३५	३०१
१६४७-४८	१०१	३,४६०	७०७	३४४	४०	४४४
१६४८-४६	६४	२,९६३	६७५	३०४	३७.५	४४५
१६४६-५०	६४	३,००८	५६८	२७३	३४.५	४४२

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय बैंकिंग ने युद्ध के समय में अच्छी उन्नति की परन्तु उसकी यह उन्नति कुछ दोषों से पूर्ण रही है, भारत सरकार ने कानून निर्माण करके इन दोषों के दूर करने का प्रयत्न किया । रिजर्व बैङ्क ने भारतीय बैंकिंग के उचित विकास के लिए तथा बैङ्कों में जमा करने वाले लोगों के हितों की रक्षा करने की ओर काफी ध्यान दिया । उसने भारतीय बैंकिंग को उसके दोषों से अवगत कराने की ओर भी ध्यान दिया । बैंकिंग सम्बन्धी दोषों में से कुछ दोष ये हैं :—

(१) गैर बैकिंग कम्पनियों पर अधिकार जमाने की प्रवृत्ति । साधारणतया बैकिंग संस्थाओं की प्रवृत्ति अपनी संस्था में जनता द्वारा जमा की हुई पूँजी को प्रबन्धकों के लाभ के लिए प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति रहती है, इससे बैङ्कों के बैठ जाने का तथा किसी भी समय उनके संकट में पड़ जाने का बड़ा अन्देशा रहता है;

(२) बैङ्कों की लेनी-देनी का झूठा चिट्ठा तैयार करना । इससे बैङ्कों की वास्तविक आर्थिक स्थिति का पता नहीं लगता जिसका प्रभाव बाद में जाकर बड़ा बुरा पड़ता है;

(३) सरकारी सुरक्षित प्रतिभूतियों, अचल सम्पत्ति तथा हिस्सों आदि में सट्टेबाजी करना;

(४) अधिक अमानत के आकर्षित करने के हेतु अविवेचनात्मक ब्रान्च बैंकिंग करना इसका भी प्रभाव बड़ा बुरा पड़ता है;

(५) लाभों को बजाय सुरक्षित रखने के लाभांशों में वितरित कर देना।

भारतीय बैंकिंग को इन दोषों से दूर करने के लिए किसी प्रकार के कानून या विधान का निर्माण करना आवश्यक था।

अतएव १६४८ में बैंकिंग कम्पनी बिल विधान सभा में पेश किया। यह बिल पहले १६४५ में पेश किया गया था किन्तु असेम्बली के भङ्ग हो जाने पर उस समय यह पास न हो सका। इस बीच (१६४५ से लेकर १६४८ तक के समय में) सरकार ने भारतीय बैंकिंग के दोषों को दूर करने के हेतु तथा रिजर्व बैङ्क में इसके लिए अधिकार प्रदान करने के हेतु कुछ अध्यादेश जारी किए। १६४६ के अध्यादेश द्वारा रिजर्व बैङ्क को भारत की किसी भी बैंक के खातों में जांच करने का अधिकार प्रदान किया गया। इस अध्यादेश द्वारा सरकार को भी यह अधिकार प्राप्त हो गया कि यदि वह यह देखे कि कोई बैङ्क ऐसा कार्य कर रहा है जिससे उसके निक्षेपकों या जमा करने वालों (डिपाजिटरों) को हानि उठानी पड़ेगी तो वह उसे ठीक करने के लिए उचित कार्रवाई कर सकती थी। सरकार ऐसे बैंक को प्रामाणिक बैंकों की परिशिष्ट-सूची (Scheduled list) से हटा सकती थी या नई अमानतों को जमा करने से रोक सकती थी। इसके अतिरिक्त १६४६ में ही बैंकिंग को नियंत्रित करने के हेतु दो और नियम पास किए गये। इनमें से एक नियम के द्वारा बैंकों को वाहक देय प्रामिसरी नोट (Promissory notes payable to bearer) जारी करने से रोक दिया गया। दूसरे नियम के अनुसार कोई भी बैंक बिना रिजर्व बैंक की आज्ञा प्राप्त किये हुए न तो नई शाखा खोल सकती थी और न किसी पहले से स्थित शाखा के स्थान को परिवर्तित कर सकती थी।

इसके पश्चात् सन् १६४७ में भारत सरकार ने एक और अध्यादेश जारी किया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह यदि किसी बैंक को आवश्यकता हो तो पर्याप्त प्रतिभूतियों पर विशेष अग्रिम दे सके। सरकार ने यह अध्यादेश इसलिए जारी किया था जिससे विभाजन के परिणामस्वरूप होने वाली कठिनाइयों से बैंकों को कुछ छुटकारा मिल सके। इसके पश्चात् १६४७ की सितम्बर में एक और अध्यादेश पास किया गया इसके अनुसार सरकार को तीन मास के लिए ऋण चुकाने की बढ़ी हुई अवधि के घोषित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इससे उन बैंङ्कों की कठिनाइयां, जिनकी स्थिति विभाजन के पश्चात् काफी बड़ी खराब हो गई थी, कुछ दूर हो गई। इस अध्यादेश की अवधि मार्च १६४८ तक रही।

बैंकिंग कम्पनी कानून १६४६—(Banking companie's Act 1949—सन् १६४६ का पुराना बैंकिंग बिल संविधान सभा से हटा लिया गया तथा १२ मार्च १६४८ को एक नवीन विधेयक पेश किया गया, यह विधेयक १६४६ की फरवरी में स्वीकृत कर दिया गया। इस कानून की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) यह कानून भारत के सभी राज्यों में स्थिति बैंकिंग कम्पनियों के लिए लागू होता है। इसमें सहकारी बैंकें सम्मिलित नहीं हैं।

(२) इस कानून में बैङ्किंग की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि वह एक वर्ग के लोगों की बचतों को जमा करके दूसरे वर्ग के लोगों को उधार देती तथा मांग होने पर जमा करने वाले लोगों को चेक, ड्राफ्ट या अन्य किसी रूप में रकम वापस कर देती है। कोई भी संस्था या कम्पनी

यह काम तब तक नहीं कर सकती जब तक कि वह अपने नाम के साथ बैंक, बैंकिंग या बैंकर शब्द का प्रयोग न करे। कानून में इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया कि प्रत्येक बैंक या बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैङ्क से एक प्रमाण-पत्र प्राप्त करना होगा। रिजर्व बैङ्क प्रमाण-पत्र प्रदान करने के पूर्व कम्पनी की आर्थिक स्थिति की अच्छी तरह जाँच करेगी।

(३) इस कानून में यह उल्लेख कर दिया गया है कि किसी बैङ्क को कम से कम कितना मूलधन तथा सुरक्षित धन या पूँजी होनी चाहिए। यह मूलधन तथा सुरक्षित पूँजी बैङ्कों के कार्य-क्षेत्र के अनुसार विभिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए यदि किसी बैङ्क का कार्य-क्षेत्र एक राज्य से अधिक है तो उसका कम से कम मूलधन पांच लाख रुपया होना चाहिए और इसके साथ यदि बम्बई या कलकत्ता में भी उसका व्यवसाय है तो उसकी पूंजी दस लाख होनी चाहिए, इसी प्रकार इस पूंजी में कार्य-क्षेत्र के अनुसार वृद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई बैंकिंग कम्पनी भारत से बाहर भी कार्य कर रही है तो उसकी प्राप्त हिस्सा पूंजी तथा सुरक्षित पूंजी कम से कम पन्द्रह लाख रुपया होनी चाहिए और यदि इसके साथ बम्बई या कलकत्ता में भी उसका व्यवसाय है तो उसकी यह पूंजी बीस लाख रुपया होनी चाहिए। जब तक कम्पनी रिजर्व बैंक में इतनी रकम नकदी में या प्रतिभूतियों आदि के रूप में नहीं जमा कर देगी तब तक इस शर्त्त की पूर्त्ति नहीं समझी जायगी।

(४) स्वीकृत या अधिकृत पूंजी से बैंक की बिकी हुई हिस्सा पूंजी ५० प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिये, इसके अतिरिक्त उसकी प्राप्त हिस्सा पूंजी (Paid-up Capital) बिकी हुई हिस्सा पूंजी के ५० प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिए।

(५) प्रत्येक प्रामाणिक बैंक रिजर्व बैङ्क में अपनी सावधि दायित्व की २ प्रतिशत के हिसाब से तथा माँग वाली दायित्व या देनी के ५ प्रतिशत के हिसाब से सुरक्षित पूंजी रखेगा।

(६) अप्रमाणिक बैङ्कों को भी इसी हिसाब से सुरक्षित पूंजी के रखने की आज्ञा दी गई है। ये बैङ्क यह रकम या तो अपने पास रखेंगी या रिजर्व बैंक के पास। इन बैंकों को अपने साप्ताहिक खाते की रिपोर्ट प्रतिमास रिजर्व बैङ्क को देनी होगी।

(७) इस कानून के पास हो जाने के बाद दो वर्ष समाप्त हो जाने पर प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी भारत में अपनी मांग वाली तथा सावधि दायित्व के कम से कम २० प्रतिशत रकम नकदी, सोने आदि के रूप में सुरक्षित रखेगी (इसमें रिजर्व बैङ्क में जमा सुरक्षित पूंजी भी सम्मिलित है)। भारत के राज्यों तथा राज्य संघों में स्थिति किसी बैंकिंग कम्पनी के आदेय अपनी धरोहर के ७५ प्रतिशत से कम नहीं होने चाहिए।

(८) इस कानून द्वारा किसी फर्म को या डायरेक्टरों को असुरक्षित ऋण देना मना करवा दिया गया है। बैङ्कों द्वारा दिये जाने वाले इन ऋणों का मासिक व्योरा रिजर्व बैङ्क के समक्ष उपस्थित किया जाया करेगा। इस विषय में बैङ्कों द्वारा दिए जाने वाले किसी अग्रिम आदि के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक को कोई निश्चित नीति निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

(९) बिना रिजर्व बैङ्क से पूर्व अनुमति प्राप्त किये न तो कोई बैङ्क कहीं अपनी नवीन शाखा ही खोल सकती है और न अपनी किसी शाखा का स्थान ही परिवर्त्तित कर सकती है।

(१०) कोई भी बैंकिंग कम्पनी तब तक अपने लाभांश को वितरित नहीं कर सकेगी जब तक कि उसका सारा पूंजीगत व्यय चुकता नहीं कर दिया जाता। लाभ में से कम से कम २० प्रतिशत रकम रिजर्व फन्ड में रखी जायगी जब तक यह कोष प्राप्त हिस्सा पूंजी के बराबर नहीं हो जाता, तब तक इस लाभ की रकम बराबर इसमें जमा की जाती रहेगी।

(११) कोई भी बैंकिंग कम्पनी व्यवसाय के रूप में व्यापार नहीं कर सकेगी। बैंकिंग कम्पनी का प्रबन्ध न तो किसी मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा हो सकेगा और न ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा ही जो कि दिवालिया घोषित किया जा चुका है, या वह ऐसा व्यक्ति है जिसे किसी नैतिक अपराध के लिए सजा मिल चुकी है। ऐसे व्यक्तियों को भी जो किसी अन्य व्यवसाय में लगे हुए हैं या कम्पनी से कमीशन लेते हैं प्रबन्धक नहीं बनाया जा सकेगा।

(१२) कोई भी बैङ्किंग कम्पनी ऐसी सहायक कम्पनी नहीं बना सकेगी जिसका कार्य-क्षेत्र बकिंग से बाहर है।

(१३) बैङ्कों को अपने ही हिस्सों से न तो ऋण देने का अधिकार है और न अग्रिम।

(१४) इस कानून द्वारा रिजर्व बैङ्क को भारत की समस्त ज्वायंट बैङ्किंग पद्धति को नियंत्रित करने के पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गए हैं। अब रिजर्व बैङ्क किसी भी बैङ्क की जाँच कर सकती है बैङ्किंग सम्बन्धी मुख्य नीति निर्धारित कर सकती है। बैङ्कों के सामयिक या तात्कालिक ब्योरे को मांग सकती तथा उन्हें प्रकाशित कर सकती है। आवश्यकता होने पर रिजर्व बैङ्क का गवर्नर एक मास के लिए इस कानून के प्रभाव को रोक भी सकता है। रिजर्व बैङ्क को बैङ्कों के एकीकरण आदि के सम्बन्ध में भी पूरे अधिकार प्रदान किए गए हैं।

(१५) रिजर्व बैङ्क को भी देश की बैङ्किंग सम्बन्धी प्रगति, उसकी मूल प्रवृत्तियों तथा उसके विकास के लिये सुझावों आदि के देने के लिए केन्द्रीय सरकार के समक्ष एक वार्षिक रिपोर्ट उपस्थित करनी होगी।

रिजर्व बैंक के अधिकार – उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि रिजर्व बैङ्क को विधान द्वारा काफी अधिकार प्राप्त हो गए हैं। इस १९४९ के विधान द्वारा बैङ्किंग पद्धति में फैले हुए कई दोषों को दूर करने की सुविधा रिजर्व बैङ्क को प्राप्त हो गई है। अभी तक भारतीय बैंकें जो मनमाने ढंग से कार्य करती थीं उस पर काफी नियंत्रण लग गया है। अब रिजर्व बैङ्क का भारतीय बैङ्कों के कार्यों पर एक अच्छा नियंत्रण है। अब वह बैङ्कों की जाँच कर सकती, उनके ब्योरे को मांग सकती और यदि आवश्यकता हो तो किसी भी बैङ्किंग को नई अमानतें लेने से मना करने के लिए सरकार को सुझाव दे सकती है। बैंकें किन आधारों पर अग्रिम या ऋण प्रदान करें, उनके सूद की दर क्या हो आदि बातों के निश्चय करने का अधिकार रिजर्व बैङ्क को प्राप्त हो गया है। रिजर्व बैङ्क को ये अधिकार प्रदान करते समय १९४९ के बैङ्किंग कम्पनी कानून में कहा गया था कि अब रिजर्व बैङ्क की जिम्मेदारी और बढ़ गई है और वे अपनी इस जिम्मेदारी की अच्छी तरह तभी पूर्ति कर सकता है जब कि उसे बैङ्किंग कम्पनियों से पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त हो। आवश्यकता इस बात की है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए रिजर्व बैङ्क अच्छी बैङ्किंग सम्बन्धी स्थिति की अच्छी तरह जाँच करता रहे।

इस सम्बन्ध में रिजर्व बैङ्क को जो अधिकार दिए गए हैं उनमें से मुख्य ये हैं :—

(१) बैङ्कों की जाँच आदि करना— इस कानून द्वारा रिजर्व बैङ्क को यह अधिकार प्राप्त हो गया है कि वह स्वयं बैङ्कों की स्थिति का समय-समय पर जाँच करती रहे। इस कार्य की पूर्ति के लिये रिजर्व बैङ्क एक अच्छा संगठन बना रहा है, इससे प्रत्येक बैङ्क की वार्षिक जाँच सरलता से हो सकेगी। इस प्रकार की जाँच द्वारा बैङ्कें अपने दोषों को दूर कर अपना समुचित विकास कर सकेंगी।

(२) बैङ्क को प्रमाण-पत्र आदि देना— रिजर्व बैङ्क किसी बैंकिंग कम्पनी को आवश्यक जाँच के पश्चात् प्रमाण-पत्र प्रदान करती है। जाँच करने पर रिजर्व बैङ्क बैंकिंग कम्पनी की स्थिति से पूरी तरह सन्तुष्ट हो जाती है तभी प्रमाण-पत्र प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त

रिजर्व बैङ्क से बिना पूर्वानुमति लिए हुए कोई भी बैङ्किंग कम्पनी अपनी नवीन शाखा नहीं खोल सकती। रिजर्व बैङ्क अपनी यह अनुमति भी आवश्यक जाँच करने पर देती है।

(३) बैङ्कों को सलाह आदि देना—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि रिजर्व बैङ्क से भारतीय बैङ्कों को काफी सहायता प्राप्त हुई है कई ऐसे दोष जिन्हें आसानी से दूर नहीं किया जा सकता वे अब रिजर्व बैङ्क की सहायता से तथा उसकी सलाह से दूर कर दिये गए हैं। पहले बैङ्क थोड़ी अचल सम्पत्ति पर काफी मात्रा में अग्रिम या ऋण दे देतीं थी। इनके अतिरिक्त बैङ्क डायरेक्टरों या उनके मित्रों को बिना अच्छी प्रतिभूतियों के ऋण दे देतीं थी जिससे रुपया डूबने का बड़ा अन्देशा रहता था। बैंकें, अन्धाधुन्धी के समय अपनी वास्तविक आर्थिक स्थिति को छिपाकर झूठा हिसाब दिखलतीं थी। रिजर्व बैङ्क ने प्रबन्धकों का ध्यान इन सभी बातों की ओर आकर्षित किया, बैङ्कों को अपने इन दोषों को दूर कर उचित विकास करने को सलाह दी। अभी थोड़े दिनों पूर्व जब कि भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन हुआ था और इस अवमूल्यन से यह आशा की जाती थी कि सट्टे में वृद्धि होगी, उसे प्रोत्साहन मिलेगा अतएव इस समय रिजर्व बैङ्क ने सब बैङ्कों को यह सलाह दे दी कि सट्टेबाजों के लिये किसी प्रकार के ऋण या अग्रिम न दिए जायँ।

बैङ्कों के निर्धारित व्योरे की प्राप्ति तथा उसका निरीक्षण करना—रिजर्व बैङ्क, बैङ्किंग कम्पनियों द्वारा भेजे गए निर्धारित व्योरे का उचित निरीक्षण करती और यह देखती है कि उसके आदेशों या हिदायतों का उचित पालन हो रहा है अथवा नहीं।

(५) यदि कोई बैङ्किंग कम्पनी अपने हिसाब निपटाने के लिये निवेदन करती है तो रिजर्व बैङ्क को सरकारी निस्तारक (Official Liquidator) नियुक्त किया जा सकता है।

(६) रिजर्व बैङ्क को किसी भी बैङ्क के एकीकरण की योजना स्वीकृत या अस्वीकृत करने का पूर्ण अधिकार है।

(७) कोई भी न्यायालय बैङ्क की व्यवस्था की किसी योजना को तब तक नहीं स्वीकृत कर सकता जब तक कि रिजर्व बैङ्क अपना यह प्रमाण-पत्र न दे दे कि इस व्यवस्था से बैङ्क के जमा करने वालों के हितों पर कोई आघात नहीं पहुँचेगा।

दिसम्बर सन् १६४६ 'इंश्योरेंस कम्पनीज़ इन्डस्ट्रियल ट्रिब्युनल एक्ट' पास हुआ जिसके अनुसार बैङ्किंग या इंश्योरेन्स कम्पनियों के उनके कर्मचारियों के साथ होने वाले झगड़ों का निपटारा केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये अखिल भारतीय इन्डस्ट्रियल ट्रिब्युनल द्वारा ही किया जा सकेगा अन्य किसी के द्वारा नहीं।

जब बैङ्किंग कम्पनी कानून लागू किया गया तो उसके कई दोष दिखलाई पड़ने लगे अतएव १६५० की मार्च में इसमें फिर संशोधन किया गया। परन्तु अभी इस कानून में कई दोष हैं उदाहरण के लिये प्रत्येक बैङ्क को अपने वास्तविक लाभ का २०% सुरक्षित कोष में दे देना पड़ता है। यह रकम तब तक जमा की जाती है जब तक कि वह प्राप्त हिस्सापूँजी (पेडअप कैपिटल) के बराबर नहीं हो जाता। यह नहीं पता कि इस कोष की आवश्यकता क्यों है जब कि इससे रकम नहीं निकली जा सकती। इसी प्रकार कुछ अन्य दोष भी हैं। आवश्यकता इस बात है कि इन सभी दोषों को दूर किया जाय, और कानून को उपयोगी बनाया जाय।

विदेशी विनिमय बैङ्क (Foreign Exchange Banks)—भारत में ये विनिमय बैङ्क मुख्य रूप से भारत के विदेशी व्यापार को अर्थ-प्रबन्धन करने के हेतु स्थापित किये गये थे। भारत में पहले जो विनिमय बैङ्क थे वे लन्दन में स्थित विदेशी विनिमय बैङ्कों की शाखाएँ थीं। बाद में भारत के बढ़ते हुए विदेशी व्यापार को देखकर कुछ विनिमय बैङ्कों की भारत में भी स्थापना की गई। सन् १६४६ में भारत में १५ विनिमय बैङ्क थे, ये बैङ्क अधिकांश

रूप से विदेशों में स्थित बैंकों की शाखाएँ हैं। वैसे तो ये बैंक भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत नहीं आते किन्तु नए बैंकिंग विधान द्वारा रिजर्व बैंक को इन बैंकों के नियंत्रित करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। नीचे दी हुई तालिका से इन बैंकों की स्थिति और स्पष्ट हो जायगी :--

वर्ष	संख्या	मूल तथा सुरक्षित धन (लाख पौंड में)	भारत में अमानत (करोड़ रुपयों में)	भारत में रोकड़ बाकी (करोड़ रुपयों में)	अग्रिम तथा बट्टा किए गए बिल
१६२०	१५	६००	७५	२५	—
१६४०	२०	१२८०	८५	१७	२८
१६४५	१५	१५३०	१७६	१८	४६
१६४८	१५	१५६०	१६०	१७	११४

लायड बैंक, चार्टर्ड बैंक आफ इन्डिया आस्ट्रेलिया एन्ड चाइना, नेशनल बैंक आफ इन्डिया, मर्कन्टाइल बैंक आफ इन्डिया, नेशनल सिटी बैंक आफ न्यूनार्क प्रसिद्ध विनिमय बैंकों में से हैं। अमरीकन एक्सप्रेस ऐन्ड कम्पनी तथा टामज कुक एन्ड सन्स मुख्य रूप से टूरिस्ट ट्रैफिक का कार्य करती है।

विनिमय बैंकों के कार्य—ये विनिमय बैंक मुख्य रूप से भारत के विदेशी व्यापार को अर्थ—प्रबन्धन का कार्य करती हैं, इस व्यवसाय से इन्हें खासा अच्छा लाभ प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में कुछ विशेषज्ञों का ऐसा कथन है कि भारतीय बैंक केवल १५% विदेशी व्यापार को ही प्रबन्धित करती हैं। ये विदेशी विनिमय बैंकों की शाखाएँ प्रायः समस्त भारत में फैली हुई हैं, अविभाजित भारत में १६४० में इनकी संख्या १०१ थी, सन् १६४६ में ये भारतीय संघ में ६२ रह गई। इनमें से अधिकांश शाखाएँ बड़े बड़े नगरों में ही स्थित हैं। उदाहरणार्थ बम्बई में १५, कलकत्ता में १७, दिल्ली में १० तथा मदरास में ६ हैं। वे भारतीयों की अमानत उठाती हैं और आर भारतीय व्यावसायिक बैंकों से मिलता जुलता कार्य करती है। सन १६४८ में भारतीय संघ में इन बैंकों की यह जमा वाला दायित्व १६० करोड़ रुपए था। ये विनिमय बैंक भारतीय निर्यात हुन्डियों (Export Bills) को खरीदती हैं।

ये बिल या हुंडियाँ तुरन्त लन्दन को भेज दी जाती हैं और वहाँ पर कुछ हल्की प्रचलित दर पर भुना ली जाती हैं। अपने फन्ड को भारत वापस भेजने के लिए ये बैंकें कई तरकीबें करते हैं। पत्र मुद्राओं को लन्दन में खरीद कर भारत को भेजना, लन्दन में रिजर्व बैंक को स्टार्लिंग बेचना, भारत में रुपए प्राप्त हो जाने पर इंगलैन्ड में विद्यार्थियों तथा यात्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना। इंगलैन्ड से भारत को बेचने के लिए बुलियन भेजना।

भारत में यूरोप से आनेवाले अधिकांश निर्यात व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन साठ दिनों की हुन्डी जिसे 'डाकूमेन्ट आव पेमेन्ट' (डी० पी०) कहते हैं, उसके द्वारा होता है। ये बिल लन्दन में भुनते तथा वसूली के लिए विनिमय बैंकों द्वारा भारत भेजे जाते हैं। इन डी० ए० बिलों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस समय भी यह बिल बैंक द्वारा विदेशी माल को आयात करने वाला स्वीकार कर लेता है उसे माल पर स्वत्व प्राप्त हो जाता है जब कि बिल का भुगतान वह मियाद पूरी होने पर कर सकता है। इससे सौदागर को बड़ी सुविधा प्राप्त हो जाती है। परन्तु इन डी० पी० बिलों द्वारा भारत में विदेशी माल के आयात करने वाले को तुरन्त ही माल पर अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता, वह जब रकम चुका देता है तब उसे माल पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि डी० ए० बिलों को भारत में ही भुनने की व्यवस्था की जाय, इस रूप में भारतीय आयात व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन करने से देश में अच्छे बट्टा बाजार का विकास हो सकता है। सन्

१९४८ में भारतीय संत्र में विनिमय बैंकों द्वारा ११४ करोड़ की कीमत के बिल भुने तथा अग्रिम दिए गए।

इन विनियम बैंकों के दोष—देश में इन बैङ्कों के विरुद्ध काफी विरोधी भावना फैली हुई है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ये बैंके जितनी सुविधाएँ अपने देश वालों या विदेशियों को देती हैं उतनी भारतीयों को नहीं। इनके द्वारा भारत के विदेशी व्यापार में जो लाभ विदेशी उठा लेते हैं उतना यहाँ वाले नहीं। ऐसा कहा जाता है कि ये बैङ्क भारत से निर्यात करने वाले भारतीयों को अपने माल का विदेशी कम्पनियों द्वारा बीमा करने के लिए बाध्य करते हैं। इससे भारतीय बीमा कम्पनियों को इस प्रकार के विकास का अवकाश नहीं मिल पाता। ये विनिमय बैंकें विदेशी व्यापार में तो अपना पूरा अधिकार रखती ही थी, अब देश के आन्तरिक व्यापार में भी ये काफी हस्तक्षेप करने लगी हैं। इन बैङ्कों की आर्थिक स्थिति अच्छी है इसलिए ये सस्ते दर पर भी अमानतों को आकर्षित कर सकती हैं। इन सब कारणों से भारतीय व्यावसायिक बैङ्कों को काफी हानि उठानी पड़ती है, उन्हें इनसे गहरी प्रतियोगिता लेनी पड़ती है। ये विदेशी विनिमय बैंकें भारतीय पूँजी को विदेशी औद्योगिक प्रतिभूतियों की ओर भी आकर्षित करती हैं। इसके अतिरिक्त इन बैंकों में भारतीयों को भी अच्छे स्थान पर पहुँचने का अवकाश नहीं मिल पाता, सबसे ऊँचा पद जिस पर कोई भारतीय पहुँच सकता है वह है इन बैंकों के खजान्ची का। यही नहीं इन बैंकों में काम करने वाले कर्मचारियों का भी भारतीय बैंकों के साथ व्यवहार अच्छा नहीं रहता। सन् १९४९ तक ये विदेशी बैंकें भारतीय कानूनों के अन्तर्गत भी नहीं आती थीं, उनका नियंत्रण विदेशी डायरेक्टरों द्वारा ही होता था, वे भारत से सम्बन्धित मामलों का कोई ब्योरा भी नहीं प्रकाशित करती थीं। किन्तु १९४९ के बाद से अब इस दिशा में कुछ सुधार हो गया है फिर भी अभी इनमें कई दोष हैं जिन्हें दूर करने के लिए अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए।

भारतीय विनिमय बैंक का प्रश्न—अब प्रश्न यह उठता है कि जब विदेशी विनिमय बैंक भारत से अच्छा लाभ उठा रहे ह तो क्यों न कोई भारतीय विनिमय बैंक स्थापित किया जाय? इस सम्बन्ध में कई तर्क उपस्थित किए जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि विनिमय बैंकों के संचालन के लिए देश में योग्य व कुशल कर्मचारियों का अभाव है। दूसरे यदि भारतीय ज्वायन्ट स्टाक बैंकें यह कार्य हाथ में ले भी लें तो उन्हें सबसे बड़ी कठिनाई विदेशों में अपनी शाखाओं को खोलकर उन्हें सफलतापूर्वक संचलित करने में होगी। उन्हें कई राजनैतिक तथा मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना होगा। विदेश में स्थापित की जाने वाली शाखा के लिए काफी परिमाण में पूँजी, काफी अनुभव तथा अपनी ओर जमा आकर्षित करने के हेतु अच्छी प्रतिष्ठा के होने की आवश्यकता है। हमारी व्यावसायिक बैंके इस स्थिति में नहीं हैं कि वे इस कार्य को अपने हाथ में फिर इन बैंकों को जितना लाभ देश के आन्तरिक व्यवसाय के अर्थ-प्रबन्धन में होता है उतना इस कार्य से होने की आशा नहीं। इसलिए भारतीय व्यावसायिक बैंकों से यह आशा नहीं की जाती कि वे अपने इन साधनों से इस कार्य को सफलतापूर्वक चला सकें।

हर्ष की बात है कि अभी थोड़े दिनों पूर्व लन्दन में 'बैंक आफ इन्डिया' की एक शाखा खोली गई है, आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार की शाखायें कुछ अन्य देशों विशेष कर यू० के० तथा संयुक्त राज्य अमरीका में खोली जायँ। भारतीय व्यावसायिक बैङ्कों को भी चाहिये कि वे सहकारिता के आधार पर विदेशों में एजन्सियाँ स्थापित करने का प्रयत्न करें। सेन्ट्रल बैंकिङ्ग रिपोर्ट में यह सुझाव रखा गया था कि भारत की इम्पीरियल बैङ्क विदेशी विनिमय के कार्य को अपने हाथ में ले, परन्तु उसमें ७५ प्रतिशत डाइरेक्टर भारतीय होने चाहिए, उसे विदेशी कर्मचारियों की भर्ती

बिल्कुल बन्द कर देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त एक और सुझाव भी दिया गया है वह यह कि तीन करोड़ की पूँजी लगाकर एक भारतीय विनिमय बैङ्क स्थापित किया जाय, यह बैङ्क रिजर्व बैङ्क आफ इन्डिया की अधीनता में अपना कार्य करे।

विनिमय बैङ्कों को नियंत्रित करने के लिए कुछ सुझाव—जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि भारत में जो विनिमय बैङ्क कार्य कर रही हैं, और उससे भारतीय व्यावसायिक बैङ्कों को जिस प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है, उनके कार्य से भारतीय जिस लाभ से वंचित रह रहे हैं, उस पर कुछ नियन्त्रण लगाना आवश्यक हो जाता है। कुछ भारतीय अर्थशास्त्रियों का ऐसा कथन है कि भारत में काम करने वाली विनिमय बैङ्कों पर काफी कड़ा नियन्त्रण लगना चाहिये। ऐसे लोगों का कथन है कि ये बैंकें अपना कार्य बन्दरगाह वाले नगरों तक ही सीमित रखें, वे विदेशी व्यापार सम्बन्धी कार्यों को छोड़कर भारतीयों से अमानत न स्वीकार कर सकें, वे, भारतीय को अपने यहाँ उच्च से उच्च पद प्रदान करें परन्तु इस प्रकार के कठोर नियन्त्रणों का प्रभाव भारत के पक्ष में अच्छा नहीं पड़ेगा। अतएव इन विनिमय बैंकों से मोर्चा लेने के लिये सबसे अच्छा उपाय भारतीय बैंक की स्थापना करना है, वैसे तो इन बैंकों के हाथ से काम ले लेना सरल कार्य नहीं है किन्तु स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सरकार की सहायता से इस दिशा में अच्छी सहायता प्राप्त की जा सकती। है।

इन बैंकों पर नियन्त्रण लगाने के लिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि भविष्य में किसी भी विनिमय बैंक को बिना लाइसेन्स प्राप्त किये हुए खोलने की आज्ञा न दी जाय, वर्तमान विनिमय बैंकों से भी लाइसेन्स प्राप्त करने को कहा जाय। दूसरे ये बैंकें रिजर्व बैंक को भारत में व्यापार होने वाले अपने कार्यों का पूरा ब्योरा दें, तीसरे भारतीयों को भी अच्छे पदों पर नियुक्त करें, चौथे भारतीय व्यवसाय में वे भारतीय फन्ड का ही उपयोग करें और उसे बाहर न भेजे। सन् १६४६ के भारतीय बैंकिंग कम्पनी कानून के पास हो जाने से विदेशी विनिमय बैंकों की वह स्थित नहीं रह गई है जो पहले थी। अब रिजर्व बैंक इन बैंकों को भी अन्य बैंकों के समान भारतीय हितों को ध्यान में रखकर काय करने के लिये बाध्य कर सकती है। इस कानून के निम्नलिखित नियमों से विशेष रूप से भारतीय अमानतदारों के हितों की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है :—

(१) ऐसी बैंक जिसका सम्बन्ध भारत के किसी प्रान्त से न हो कर विदेशों से है उसे रिजर्व बैंक में कम से कम १५ लाख रुपये की ग्रहीत तथा सुरक्षित पूँजी रखनी होगी, यदि उसका व्यवसाय कलकत्ता या बम्बई में से किसी नगर में है तो उसे यह पूँजी बीस लाख रुपये की रखनी होगी।

(२) ऐसी बैंक द्वारा रिजर्व बैंक में जमा की हुई कोई रकम एक प्रकार से प्रणीध के रूप में उस समय प्रयुक्त की जायगी जब कि वह बैंक किसी कारण से अपना कार्य नहीं कर सकेगी और इस प्रणीध (असेट) पर उस कम्पनी के क्रेडीटरों का अधिकार हो।

(३) वर्ष के अन्त पर प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी एक वार्षिक लाभ तथा हानि का ब्योरा जो कि उसे भारत स्थित शाखाओं द्वारा हुई है तथा रोकड़ बाकी (बैलेन्स शीट) तैयार करेगी। इस रोकड़ बाकी की अच्छी तरह जाँच की जायगी तथा इसे प्रकाशित किया जायगा।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि इस बैंकिंग कानून से विदेशी बैंकों को भी नियन्त्रित करने का कुछ प्रयत्न किया गया है।

इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया—सन् १६२० के इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया एक्ट के द्वारा तीन प्रेसीडेन्सी बैंक तथा उनकी ५६ शाखाओं को मिलाकर इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया की स्थापना की गई। भारतीय बैंकिंग को नियंत्रित व व्यवस्थित करने के लिये इस प्रकार के

बैंक की आवश्यकता बहुत दिनों पहले से महसूस की जा रही थी, और इस सम्बन्ध में कई प्रस्ताव भी रखे गए थे परन्तु वे प्रस्ताव मान्य नहीं किए जा सके। अन्त में उपरोक्त कानून द्वारा इस बैंक की स्थापना की गई। इस नवीन योजना द्वारा इस नवीन बैंक का मूलधन ३७५ लाख रुपये के स्थान पर अब ५६२ लाख रुपया कर दिया गया। वैसे तो यह पहले एक व्यक्तिगत या प्राइवेट संस्था थी परन्तु इसका उद्देश्य राज्य के आर्थिक क्रियाकलापों में उसकी सहायता करना था, अतएव इसके कार्यों व प्रबन्ध आदि में सरकार का पूरा अधिकार व नियंत्रण था।

इस इम्पीरियल बैंक की एक केन्द्रीय समिति (सेन्ट्रल बोर्ड) थी तथा तीन स्थानीय समितियाँ (लोकल बोर्ड्स) थीं। केन्द्रीय समिति में सरकार को दो प्रबन्धक गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार सुरक्षित था। सरकारी हितों का ध्यान रखने के लिये एक कन्ट्रोलर आफ करेंसी नाम का अधिकारी भी नियुक्त किया जाता था। यह बैंक सरकार के सामान्य बैंकिंग सम्बन्धी कार्य को करता, वह सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करता, वह देश के शोधन गृहों का भी प्रबन्ध करता था। वह एक प्रकार से बैंकरों के बैंक का कार्य करता था। सन् १९२६ में इस बैंक की कुल शाखाओं की संख्या १६१ थी। सन् १९३४ में इसकी व्यक्तिगत अमानतें (Private Deposites) ७४ करोड़ तथा सार्वजनिक अमानतें (Public Deposits) ७ करोड़ रुपये की थी, जब कि इसी समय इसकी नकदी तथा स्वीकृत प्रतिभूतियों में लगी हुई रकम ५७ करोड़ रुपया थी। इस प्रकार इस बैङ्क की स्थिति काफी अच्छी हो गई, उसका कार्य भी काफी बढ़ गया। यह बैंक सरकार के बैंकिंग कार्य को काफी संभालता था इसलिए उसके कार्यों की जाँच भी काफी की जाती थी और सरकार उस पर काफी नियंत्रण रखती थी। उदाहरणार्थ छैः मास से अधिक के लिये वह ऋण नहीं दे सकता था, वह अचल सम्पत्ति पर या अपने ही हिस्सों पर भी ऋण नहीं दे सकता था। वह व्यक्तिगत प्रतिभूमि या सेक्यूरिटी पर भी तब तक ऋण नहीं दे सकता था जब तक कि दो स्वतन्त्र व्यक्ति या फर्म ऋण की गारन्टी न लें।

किसी भी व्यावसायिक बैंक का मुख्य उद्देश्य लाभ प्राप्त करना होता है। जो रूप रेखा किसी राज्य बैङ्क की होती है या दूसरे शब्दों में यूँ कह लीजिये कि जो विशेषताएँ किसी सरकारी केन्द्रीय बैङ्क की होनी चाहिये उनमें और व्यावसायिक बैङ्कों में काफी अन्तर होता है, अतएव उस समय इम्पीरियल बैङ्क में इन दोनों विशेषताओं का पूर्णरूप से प्राप्त होना सम्भव नहीं था। इम्पीरियल बैङ्क ने अपने व्यवसायिक कार्यों द्वारा काफी लाभ प्राप्त किया, अन्य मिश्रित पूँजी वाली बैङ्कों को इससे काफी प्रतियोगिता भी सहनी पड़ी। इन कारणों से इम्पीरियल बैङ्क के विरुद्ध कई बातें भी कही गई, लोगों को इसके विरुद्ध कई शिकायतें थीं। इम्पीरियल बैङ्क की अन्य बैङ्कों की अपेक्षा बैङ्क दर भी कम थी। इसके अतिरिक्त उसके विपक्ष में एक यह भी बात कही जाती थी कि यह बैङ्क यूरोपियन संस्थाओं के साथ पक्षपात करती है, भारतीयों के साथ भेद-भाव की नीति बर्तती है। इम्पीरियल बैङ्क के विरुद्ध एक और बात कही जाती थी वह यह कि यह विभिन्न स्थानों या समयों में होने वाले मुद्रा-दरों के चढ़ाव उतार में कोई परिवर्त्तन नहीं कर सकती थी। ऐसा होने का मुख्य कारण इम्पीरियल बैङ्क तथा भारत सरकार के बीच होने वाले बैंकिंग व करेंसी कार्यों का फैलाव था। इस कारण से बाजारू हुंडियों व तत्काल देय-द्रव्य दरों में अन्तर रहता था। इसके साथ ही विभिन्न वर्षों में बैङ्क की दर भी (४ से लेकर ७ तक) विभिन्न रहती थी। जहाँ तक बैङ्कों के भेदभाव या पक्षपात-व्यवहार का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि बैङ्क के कुल कार्य का अधिकांश भारतीयों के साथ ही होता था। १९२५ में कुछ नहीं तो ६७ प्रतिशत अमानतें भारतीयों की थीं और कुल अग्रिमों में से ६८ प्रतिशत अग्रिम भारतीयों को ही प्राप्त हुए थे, हाँ यह कहना कि उस समय बैङ्क का प्रबन्ध यूरोपियनों के हाथ में था, यह तर्क कहीं तक ठीक हो सकता है। इस बैङ्क में अन्य

बैङ्कों की अपेक्षा अमानतें अधिक जमा होती थीं, इसका मुख्य कारण उसकी साख थी। वह चालू खातों पर कोई भी सूद नहीं देती थी।

इससे कुल को मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि इम्पीरियल बैङ्क द्वारा भारतीय बैंकिंग के विकास में काफी सहायता पहुँचाई। उसने ७५ ऐसे स्थानों में अपनी शाखाएँ खोलीं जहाँ पर पहले से न कोई बैङ्क थी और न उसकी शाखा। उसने संकट के समय कितनी ही बैङ्कों जैसे शिमला का अलायन्स बैङ्क, इलाहाबाद बैङ्क, बङ्गाल का नेशनल बैङ्क को अच्छी सहायता पहुँचाई। इसके अतिरिक्त इम्पीरियल बैङ्क ने देश के सहकारिता आन्दोलन तथा आन्तरिक विकास के अर्थ प्रबन्ध में अच्छी सहायता पहुँचाई है।

इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया संशोधन विधान १६३४ तथा उसके बाद—सन् १६३५ में रिजर्व बैङ्क की स्थापना से इम्पीरियल बैङ्क का वह सरकारी स्थान नहीं रह गया जो कि पहले था। इस समय सरकार ने अपने हाथ में बोर्ड के डायरेक्टरों के दो सदस्यों के नियुक्त करने का अधिकार रखा, परन्तु बैङ्क के कार्यों पर जो पहले नियंत्रण लगे थे उन्हें हटा दिया गया। अब वह इस समय विदेशी विनिमय में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग ले सकती थी, नवीन शाखाएँ खोल सकती थी तथा भारत के बाहर से ऋण ले सकती थी। उसे अब अचल सम्पत्ति पर ऋण भी दे सकती थी। भारतीय बाजार में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखने के कारण वह रिजर्व बैङ्क की एजेन्ट नियुक्त कर दी गई, इसके लिये उसे कमीशन मिलता था। इससे उसे साल में लाखों रुपये और की आमदनी होने लगी।

इस प्रकार आज इम्पीरियल बैङ्क की भारतीय द्रव्य बाजार में अच्छी स्थिति हो गई है, अन्य व्यावसायिक बैङ्कों की अपेक्षा उसके साधन अधिक हैं, कैश तथा जमा में अन्य प्रामाणिक बैङ्कों की अपेक्षा उसका अनुपात अधिक है। इससे उसकी स्थिति और भी बढ़ जाती है। सन् १६५० के अप्रेल के अन्त में इम्पीरियल बैङ्क की कुल अमानत जिसमें सुरक्षित तथा मूल पूँजी भी सम्मिलित है २६० करोड़ रुपये थी, उसकी सरकारी तथा अन्य अधिकृत प्रतिभूतियों में विनियोजित पूँजी १०४ करोड़ रुपये थी, उसके अग्रिम ११२ करोड़ रुपये थे। इसके विपरीत उसका कैश ३० करोड़ रुपया था।

इम्पीरियल बैंक की उपरोक्त तमाम सुविधाओं को देखकर कुछ लोग उसके कार्यों की ओर नियंत्रित करने पर काफी जोर देने लगे हैं, कुछ लोगों का तो यह कथन है कि इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

इम्पीरियल बैंक की सुविधाओं के विरोध में—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध बहुत सी विरोधी भावनाएँ जनता में अपना स्थान जमाती जा रही है। इस सम्बन्ध में यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि एक ही व्यावसायिक बैंक को सारा सरकारी कार्य सौंप देना सिद्धान्ततः अनुचित है क्योंकि इससे उसके एकाधिपत्याधिकार में काफी वृद्धि हो सकती है और जिससे वह अन्य बैंकों तथा सार्वजनिक हित की अवहेलना कर सकता है। अतएव लोगों का ऐसा कहना है कि या तो उससे इस एकाधिपत्याधिकार को नियंत्रित किया जाय अथवा उसे रिजर्व बैंक के बन के जाने के बाद भी जो सुविधाएँ प्राप्त हो गई हैं उनका अन्त कर दिया जाय। इम्पीरियल बैंक के विरोध में जो एक ओर बात कही जाती है वह यह है कि इम्पीरियल बैङ्क का वर्त्तमान संगठन अच्छा नहीं है और उसकी कार्यकारिणी ऐसी स्थिति में है जिससे वह डायरेक्टरों के निर्वाचन आदि को नियंत्रित कर सकती है। फिर बैङ्क ने अपने तीस वर्ष के जीवन में बहुत कम उच्च पद भारतीयों को प्रदान किए हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इम्पीरियल बैङ्क के विधान में काफी संशोधन किए जाँय। जिससे बैङ्क के मैनेजिंग डायरेक्टर तथा डिप्टी डायरेक्टर की

नियुक्ति में सरकार का पूरा हाथ रहे, और बोर्ड आफ डायरेक्टरों में भेजे गये सरकारी अधिकारियों को ऐसे प्रश्नों को स्थगित कराने आदि का अधिकार रहे जिनका प्रभाव सरकार की राष्ट्रीय नीति पर पड़ता हो, इसके साथ ही साथ केन्द्रीय समिति में भेजे गये प्रतिनिधि को और प्रभावशाली बनाया जा सके।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव—सन् १९५० की ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने इम्पीरियल बैङ्क के विरुद्ध की गई आलोचनाओं पर काफी विचार किया और इस सम्बन्ध में उसने अपने सुझाव उपस्थित करते हुए कहा कि इस बैङ्क को जो विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं वे न्याय संगत नहीं हैं। अतएव या तो बैंकिंग एकाधिपत्य को राज्य नियंत्रित कर दे या उसे नकदी के काम से तथा अन्य विशेष सुविधाओं से बिल्कुल वंचित कर दिया जाय। दूसरे इन बैंकों के अच्छे-अच्छे पदों पर भारतीयों को रखा जाय, इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि सन् १९५५ तक इस कार्य की पूर्ति कर दी जायगी। अभी इम्पीरियल बैङ्क की अन्य बैङ्कों से कोई अनुचित प्रतियोगिता नहीं है इसलिए इम्पीरियल बैङ्क को अपने व्यावसायिक कार्यों को किए जाने में कोई विशेष आपत्ति नहीं की जानी चाहिए। जितने अभी नियंत्रण लगे हैं उतने पर्याप्त हैं परन्तु अन्य सब बैङ्कों को और सस्ती दर पर ट्रेजरी द्वारा रकम भेजने की सुविधा प्राप्त हो जानी चाहिए।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न इम्पीरियल बैङ्क समस्त भारत में रिजर्व बैङ्क के एजेन्ट के रूप में कार्य कर रहा है। देश की यह सबसे विशाल बैंकिंग संस्था है जिसकी भारतीय संघ में (१९५० में) ३६७ तथा विदेशों में ८४ शाखाएँ कार्य कर रही हैं। इस बैंक के विरोध में कई बातों के कहे जाने से तथा रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से सन् १९४८ में भारत सरकार ने यह विचार किया था कि भविष्य में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। किन्तु भारत के बाहर इस बैंक की अनेक शाखाओं के होने से तथा इस दिशा में अनेक राजनीतिक कठिनाइयों के आजाने के कारण कुछ समय के लिए राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को स्थगित कर दिया गया। परन्तु सरकार ने यह कह दिया कि भविष्य में यदि कभी इस बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जाता है तो उसके हिस्सेदारों को उचित मुआवजा दिया जायगा। सरकार ने यह भी विश्वास दिला दिया कि अन्य व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का विचार नहीं हैं।

यदि भविष्य में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जाता है तो उसे उसके व्यावसायिक कार्यों से वंचित कर देना उचित न होगा। इस बैंक ने इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण सेवाएँ की हैं, इस लिए उसका संगठन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे व्यावसायिक तथा केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों का पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो सके और जनता उससे पूर्ण लाभ उठा सके।

भारतीय द्रव्य-बाजार के दोष तथा एक केन्द्रीय बैङ्क संघ की आवश्यकता—जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि भारतीय द्रव्य-बाजार पहले बड़ी ही असंगठित अवस्था में था। गाँव के महाजन तथा देशी बैंकरों का व्यावसायिक बैंकों से कोई संबंध नहीं था। सहकारी साख का इससे कुछ सम्बन्ध ही नहीं था, विनिमय बैंकें विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन करने के साथ ही साथ देश के आन्तरिक व्यापार तथा मिश्रित पूँजी वाली बैंकों के कार्य में हाथ डाल रही थीं। सरकार से सम्बन्ध होने के नाते इम्पीरियल बैंक भी अच्छा लाभ कमा रहा था। इस प्रकार उस समय की बैङ्किंग व्यवस्था में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं थी।

इम्पीरियल बैंक जैसा कि कई बार कहा जा चुका है कोई समन्वयात्मक संस्था नहीं थी वरन् वह एक ऐसी संस्था थी जिससे अन्य बैंकों को काफी प्रतियोगिता लेनी पड़ती थी अतएव मिश्रित पूँजी वाली बैंकें उससे अपनी हुंडियों को भुनाने में बड़ी सावधानी व मितव्ययिता बर्तती थीं। भारत में एक अच्छे हुंडी बाजार का बड़ा अभाव था, ऐसे अच्छे बिलों की जिनमें कि बैंक अपने अतिरिक्त फन्ड

को लगा सके बिलकुल ही कमी थी। बाजारू हुंडियाँ उतनी अच्छी नहीं होती थीं जितनी कि होनी चाहिए। उस समय अधिकांश लेन-देन मुख्य रूप से कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित रहता था किन्तु अच्छे पर्याप्त गोदामों या अन्न भंडारों की सुविधा न होने से ऐसे बिलों का होना असम्भव सा ही था।

इसके अतिरिक्त उस समय हमारी बैंकिंग व्यवस्था में एक और बड़ा दोष था, वह यह कि करेंसी और बैंकिंग एक दूसरे से बिलकुल ही भिन्न थे, इसमें से करेंसी के लिए तो सरकार जिम्मेदार थी परन्तु उस समय करेंसी के स्वतः गतिशीलन अथवा संकुचन का बड़ा अभाव था। फसल कटने के बाद उसको बन्दगाहों तक ले जाने के लिए काफी द्रव्य की आवश्यकता होती थी, द्रव्य-चढ़ाव की (Tight Money) की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती थीं। मुद्रा में इस लोच के अभाव के कारण वर्ष के विभिन्न भागों में सूद की चालू दरों में बड़ी असमता हो जाती थी, इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों में यह सूद की दर भी विभिन्न थी। करेंसी अथारटी होने के नाते सरकार को रुपए के विदेशी मूल्य को स्थिर रखना पड़ता था, इसका भी मुद्रा के गतिशीलन या संकुचन पर बड़ा प्रभाव पड़ता था।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय देश के बैंकिंग सम्बन्धी साधन बड़े अस्त-व्यस्त से थे, उनमें एकरूपता का बड़ा अभाव था, कोई ऐसी क्रियाविधी या कोई ऐसा यंत्र नहीं था जो इस अस्तव्यस्तता को दूर करता। केवल एक ही ऐसा यंत्र जो कि इन दोषों को दूर कर सकता था, वह थी केन्द्रीय बैंकिंग एजेन्सी। अतएव भारत में ऐसी संस्था की स्थापना की आवश्यकता काफी थी। बहुत दिनों से देश में इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा था कि भारत में इसके लिए कोई ऐसी बैंक हो जो प्राइवेट हिस्सेदारों की हो या ऐसी बैंक हो जिस पर राज्य का पूरा अधिकार हो। उस समय इस दिशा में सबसे आवश्यक बात जिसका होना आवश्यक था वह यह थी कि इस नवीन संस्था का संगठन इस प्रकार किया जाय जिससे वह राजनैतिक दलबंदियों से दूर ही रहे साथ ही पूँजीपतियों के भी चंगुल में न पड़े। वह ऐसी हो जिससे साख तथा मुद्रा दोनों को ही नियंत्रित कर सके। काफी लाभ कमाने की ओर वह विशेष ध्यान न दे। यदि वह ऐसा करेगी तो उसका बैङ्किंग संसार में कोई शासन न रह सकेगा। बाद में सेन्ट्रल बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव के अनुसार एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना के लिए विशेष जोर दिया जाने लगा। अन्त में रिजर्व बैंक आफ इंडिया कानून के अनुसार १९३४ में हिस्सेदारों वाली एक बैङ्क की स्थापना कर दी गई।

रिजर्व बैङ्क आफ इंडिया--रिज़र्व बैंक आफ इंडिया की स्थापना हिस्सेदारों की बैंक के रूप में की गई थी। इसकी हिस्सा पूँजी पाँच करोड़ रुपया थी जो कि सौ-सौ रुपए के हिस्सों में बँटी हुई थी जो कि पूर्णरूप से चुकता कर दिए गए थे। ये हिस्से कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मदरास तथा रंगून इन पाँच वृत्तों में बँटे हुए थे। बैंक ने इन्हीं पाँच केन्द्रों में अपने कार्यालय भी खोले। प्रारम्भ में किसी व्यक्ति को पाँच से अधिक हिस्सों के लेने का अधिकार नहीं था। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो कि भारत का निवासी नहीं था, वह इन हिस्सों को नहीं खरीद सकता था। प्रत्येक पाँच हिस्सों के लिए एक वोट था, किसी हिस्सेदार को दस से अधिक वोट रखने का अधिकार नहीं था। बाद में १९४० में यह कानून बना दिया गया कि कोई भी व्यक्ति न तो अकेले अपने नाम से और न अन्य लोगों से मिलकर बीस हजार से अधिक की कीमत के हिस्से नहीं खरीद सकता था। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप कुल हिस्सेदारों की संख्या में धीरे-धीरे ह्रास होता गया। इस प्रकार हिस्सों के धीरे-धीरे केंद्रित होने के कारण मत-दान का अधिकार भी कुछ ही हाथों में केन्द्रित होता गया।

इस बैंक के प्रबन्ध व शासन का भार केन्द्रीय समिति पर है। समिति में सोलह सदस्य होते हैं। ये सदस्य मुख्यतः ये हैं:—समिति के सुझाव के अनुसार सरकार द्वारा नियुक्त किया गया एक

गवर्नर तथा दो डिप्टी गवर्नर, सरकार द्वारा मनोनीत चार डायरेक्टर, बम्बई, कलकत्ता तथा दिल्ली के हिस्सेदारों द्वारा चुने गए दो-दो तथा रंगून व मदरास के हिस्सेदारों द्वारा चुने गए एक-एक डायरेक्टर, सरकार द्वारा नियुक्त किया गया एक सरकारी अधिकारी। प्रत्येक वृत्त के लिए एक-एक स्थानीय समिति(Local Board) थी। इस समिति में हिस्सेदारों में से ही निर्वाचित पाँच सदस्य केन्द्रीय समिति द्वारा हिस्सेदारों की सूची से मनोनीत तीन सदस्य थे।

रिजर्व बैङ्क के कार्य—इस रिजर्व बैंक को निम्नलिखित कार्य करने का अधिकार है :-

(१) केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकार, बैंक, अन्य स्थानीय संस्था या व्यक्ति की अमानतों को बिना सूद पर जमा करना।

(२) समय-समय पर प्रकाशित होनी वाली बैंक की प्रामाणिक दरों पर निम्नलिखित बिलों का क्रय-विक्रय व बट्टा करना।

(अ) ऐसे विनिमय बिल तथा प्रामिसरी नोट जो कि भारत में ही निकाले व अदा किए जा सकते हैं,

(ब) कृषि कार्यों तथा फसलों की बिक्री आदि के अर्थ-प्रबन्धन के लिए किए गए फसली बिलों को जो कि खरीदने या बट्टा वाली तिथि से नौ मास के अन्दर हो जाँय ,

(स) भारत सरकार तथा राज्य की सरकारों द्वारा निकाले व भेजे गए बिल जिनकी मियाद नौ मास हो।

(३) कम से कम एक लाख रुपए के मूल्य वाले स्टर्लिङ्ग को प्रामाणिक बैंकों के हाथ विक्रय करना। यू० के० के किसी भी नगर में किए गए विनिमय बिलों (इसमें ट्रेजरी बिल भी सम्मिलित हैं) को जिनकी मियाद ६० दिन है उनको सम्भालना तथा यू० के० की बैंकों के साथ होने वाले हिसाब की व्यवस्था करना।

(४) प्रामाणिक बैंकों, प्रान्तीय सहकारी समितियों, राज्यों व अन्य स्थानीय अथारटियों को विश्वसनीय सेक्युरटियों, सोने-चाँदी, विनियम बिलों या किसी प्रामाणिक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैङ्कों के प्रामिसरी नोटों पर ६० दिन के अन्दर ही चुकता कर दिए जाने के लिए ऋण या अग्रिम देना।

(५) केन्द्रीय तथा अन्य स्थानीय सरकारों को ६० दिन के लिए दिये जाने वाले अग्रिमों को देने के लिए व्यवस्था करना।

(६) दर्शनी ड्राफ्टों को, जो उसके ही एजंसियों या कार्यालयों में भुन सकें निकालना।

(७) यू० के० की दस वर्ष की मियाद वाली सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदना व बेचना।

(८) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की कुछ सेक्यूरटियों को बेचना व खरीदना।

(९) किसी भी देश की केन्द्रीय बैङ्क तथा भारत की प्रामाणिक बैङ्कों से ऋण लेना किन्तु इस ऋण की अवधि तीस दिन से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(१०) अन्य देशों की केन्द्रीय बैङ्कों से खाता खोलना या एजेन्सी बनाने सम्बन्धी समझौते करना, तथा

(११) उन सभी कार्यों को करना जो साधारण किसी भी देश के केन्द्रीय बैङ्क द्वारा किए जाते हैं। इन कार्यों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालेंगे।

बैंकिंग का नियन्त्रण—देश की बैंकिंग व्यवस्था को पूर्णरूप से नियन्त्रित करने का अधिकार इस बैंक को प्राप्त है। कोई भी मिश्रित पूँजी वाली बैंक जिसकी ग्रहीत तथा सुरक्षित पूँजी पाँच लाख रुपये से कम नहीं है तो वह रिजर्व बैंक के परिशिष्ट दो के अन्तर्गत आ सकती

है। ऐसी बैंक को रिजर्व बैंक में अपनी मांग वाली देनी का पाँच प्रतिशत तथा सावधि देनी का दो प्रतिशत (जिस पर कि किसी प्रकार का सूद नहीं मिलेगा) रखना पड़ता है। मिश्रित पूँजी वाले बैंकों में 'पाँच बड़े' बैंक—सेन्ट्रल बैंक आफ इन्डिया, बैंक आफ इन्डिया, इलाहाबाद बैंक, बड़ौदा बैंक, पंजाब नेशनल बैंक—मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक बैङ्क की जमा पाँच करोड़ रुपये से अधिक ही है कम नहीं तथा प्रत्येक बैङ्क की शाखाएँ सारे भारत में फैली हुई हैं। सन् १९५० में इस द्वितीय परिशिष्ट के अन्दर ९८ बैङ्क जिसमें इम्पीरियल बैंक भी सम्मिलित है तथा १५ विनिमय बैङ्क थे। ये प्रामाणिक बैङ्क रिजर्व बैंक से स्वीकृत प्रतिभूतियों पर अग्रिम आदि प्राप्त कर सकते हैं। ये बैंक रिजर्व बैङ्क से ऐसी हुन्डियों व प्रामिसरी नोटों को भी भुना सकते हैं जिनकी निश्चित मियाद ९० दिन से अधिक नहीं है, जो भारत में ही निकाले वे चुकाये जाते हैं, जिनमें दो या दो से अधिक हस्ताक्षर रहते हैं। कृषि सम्बन्धी बिलों की मियाद नौ महीने रखी गई है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक का एक और कार्य है वह है साख का नियन्त्रण करना। वह इन सदस्य बैंकों की तथा इनके द्वारा भारतीय द्रव्य बाजार के अन्य अंगों की बैंक दर घटा बढ़ाकर, सरकारी प्रतिभूतियों को या अन्य बिलों को खुले बाजार में क्रय-विक्रय कर, साख का नियन्त्रण करते हैं। इन प्रतिभूतियों के खुले बाजार में खरीदने के कारण द्रव्य बाजार में कैश की वृद्धि होगी और इनकी बिक्री का उल्टा प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार प्रतिभूतियों को बेच और खरीदकर केन्द्रीय बैंक दूसरे बैंकों के रिजर्वों को घटा-बढ़ा सकता है। रिजर्वों को घटा-बढ़ाकर, मुद्रा की दरों को बदल कर देश के साख भंडार को भी कम-वेश कर सकता है।

नोटों का चलाना—इस बैंक को सन् १९३५ से नोटों के चलाने का पूरा अधिकार प्राप्त हो गया है। नोटों को चलाने के लिये इस बैंक का एक अलग विभाग है इसे 'इसू डिपार्टमेंट' कहते हैं। इस विभाग की पूँजी (Assets) बैंकिंग विभाग से बिल्कुल अलग रखी जाती है। इस विभाग की प्रणिधि (असेट्स) में स्वर्ण-मुद्राएँ, बुलियन या स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ, सम्मिलित होती हैं परन्तु इसमें ४० करोड़ से कम कीमत का सोना नहीं रहता। यदि इस प्रणिधि में किसी प्रकार का दोष रहता है, उस पर सरकार की स्वीकृति की आवश्यकता होती है और कुछ नहीं तो उस पर ६ प्रतिशत के हिसाब से अर्थ-दण्ड दिया जाता है। युद्ध के समय में बैंक की स्टर्लिंग सेक्युरटियों में काफी वृद्धि हो गई। इस वृद्धि का मुख्य कारण भारत सरकार द्वारा उठाए गये खर्चे का स्टर्लिंग में भुगतान किया जाना था। सन् १९४५ में बैंक की स्टर्लिंग होल्डिंग १,०३४,२३ करोड़ रुपये हो गई थी जब कि सन् १९३९ में यह केवल १०७.५ करोड़ रुपये थी। इस प्रकार जितने नोट चलाये गये उसको देखते हुये सोने तथा स्टर्लिंग के सन्तुलन में काफी वृद्धि हो गई, इस समय यह ६० से कुछ ऊपर ही ९३ तक पहुँच गई, सन् १९५० में इस अनुपात में फिर ह्रास हो गया और यह ५६ रह गया। इसके साथ ही इस समय कुल उन नोटों की कीमत जो कि चलाये गये २५४ करोड़ से १,१०५ करोड़ रुपये हो गई।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि ४० प्रतिशत पूँजी या 'असेट्स' स्वर्ण मुद्रा बुलियन या स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों में होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त शेष ६० प्रतिशत आदेय (असेट्स) में रुपये वाले सिक्कों, भारत सरकार की रुपये वाली प्रतिभूतियों तथा भारत में अदा किए जाने वाले स्वीकृत विनिमय बिल हो सकते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में पहले एक शर्त थी वह यह कि रुपये वाली प्रतिभूतियाँ कुल पूँजी की एक चौथाई से अधिक नहीं होनी चाहिये थीं परन्तु बाद सन् १९४३ के अध्यादेश द्वारा यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया। १९४३ की मार्च में रुपये वाली प्रतिभूतियाँ १७४ करोड़ थीं जब कि १९४५ में ये केवल ५३ करोड़ रुपये रह गईं।

रुपये के विदेशी मूल्य को स्थिर रखना—रिजर्व बैंक को एक शिलिंग छै पेन्स के हिसाब से रुपये के विदेशी मूल्य को भी स्थिर रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को लन्दन सरकार की स्टर्लिङ्ग आवश्यकताओं की पूर्ति करना पड़ता है। ऐसा करने के लिये वह प्रामाणिक बैंकों से साप्ताहिक टेन्डरों या अन्य स्रोतों द्वारा स्टर्लिंग खरीदता है। इस क्रिया से विनिमय बैंकों को अपने कोषों को लन्दन से भारत भेजने की सुविधा प्राप्त हो जाती है।

शोधन गृह या क्लियरिङ्ग हाउस—प्रामाणिक बैंकों के लिये रिजर्व बैंक शोधन गृहों को नियंत्रित करता है, और इस प्रकार उन्हें एक बैंक से दूसरे बैंक को कैश भेजने के झंझट से मुक्त कर लेता है। ये शोधन-गृह एक प्रकार से स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं और अभी तक रिजर्व बैंक को इसके कार्य में विशेष हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं हुई है। सन् १६४६ में भारतीय संघ से कुल ६३२१ करोड़ रुपये की चेकें भुनीं जब कि १६४८ में ६६,६६ करोड़ रुपये की चेकें भुनी थीं। पाँच सबसे मुख्य शोधन-गृह बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर में है।

सरकारी कार्य—रिजर्व बैंक को भारत सरकार के बैंकिंग सम्बन्धी आवश्यक लेन-देन के कार्य को करना होता है। इन कार्यों में केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारों के लिये द्रव्य को स्वीकृत करना उसे व्यवस्थित रखना, इनसे विनिमय तथा अन्य आदान-प्रदान कार्यों को करना है। इनमें से बैङ्क के आदान-प्रदान के कार्य का बड़ा महत्व है। यह बैङ्क सभी इम्पीरियल बैङ्कों तथा सरकारी खजानों में अपने कोष रखता है। ऐसा करने से जनता तथा सरकार दोनों को ही सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। १६४० की अक्टूबर से प्रामाणिक बैंकों तथा जनता को अतिरिक्त ७६ अप्रमाणिक बैंकों तथा ५ देशी बैंकरों को आदान-प्रदान की रियायती दर सम्बन्धी सुविधायें प्राप्त हो गईं। इन विभिन्न श्रेणियों के रिमीटेन्स (Remittance) की दरों का नीचे दी हुई तालिका से पता चल जायगा :—

रिमीटेन्स की श्रेणियाँ	पाँच हजार तक				पाँच हजार से ऊपर			
	दर प्रतिशत	न्यूनतम चार्ज			दर प्रतिशत	न्यूनतम चार्ज		
		रु०	आ०	पा०		रु०	आ०	पा०
(१) सरकारी	१/१६	०	४	०	१/३२	३	२	०
(२) सार्वजनिक	१/८	०	४	०	१/१६	६	४	०
(३) प्रामाणिक बैंक	१/१६	१	०	०	१/३२	३	२	०
(४) सहकारी बैंक तथा समितियाँ	१/१६	०	४	०	१/३२	३	२	०
(५) स्वीकृत अप्रमाणिक बैंक तथा देशी बैंकरों से	१/१६	१	०	०	१/३२	३	२	०

सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था—रिज़र्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य देश सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करना भी है। सन् १६५० की ३१ मार्च को भारत सरकार का कुल सार्वजनिक ऋण २,०८७ (संशोधित अनुमान) करोड़ रुपया था जब कि १६४६ में २,०३० करोड़ तथा १६३६ में ६५० करोड़ रुपये थे। इस २,०८७ करोड़ के ऋण में २१ करोड़ रुपया ब्रिटिश युद्ध का ऋण, (जो कि अब समाप्त कर दिया गया है) १३ करोड़ रुपया रेलवे की वार्षिक वृत्तियों का ऋण (Railway Ammunities) जिसकी रकम यू० के० सरकार में जमा कर दी गई है, ३ करोड़ रुपये का स्टर्लिङ्ग ऋण, १७ करोड़ का डालर ऋण तथा २,०३४ करोड़ का रुपये वाला ऋण है। १६४६-५० के अन्त में भारत सरकार की कुल सूद वाली रकम (Interest bearing Obligations) २,५१२

करोड़ रुपया थी। इस रकम में प्रावीडेन्ड फन्ड, पोस्ट आफिस सेविंग बैंक, नेशनल सेविंग सार्टीफिकेट, रेलवे का सुरक्षित तथा मूल्य ह्रास कोष आदि सम्मिलित है। इस ऋण के विपरीत सरकार के पास सूद मिलने वाली (Interest Yieldins Assets) पूँजी थी। १६५०-५१ के अन्त के अभी आंकड़े प्राप्त नहीं हुए हैं किन्तु ऐसी आशा की जाती है कि सूद वाली रकम २,५६१ तथा सार्वजनिक ऋण १,१२६ करोड़ रुपये का होगा। सन् १६३८ में ४७७ करोड़ रुपए के स्टर्लिङ्ग ऋण तथा ४०० करोड़ के सार्वजनिक ऋण का कर्ज़दार था, तब से अब तक ४३३ करोड़ रुपये का स्टर्लिङ्ग ऋण अदा किया जा चुका है।

कृषि साख विभाग—रिज़र्व बैंक का अपना एक कृषि साख-विभाग भी है। इस विभाग का कार्य कृषि साख सम्बन्धी सभी समस्याओं का अध्ययन करना, कृषि साख के सम्बन्ध में बैंक के कार्यों को उसके इसी सम्बन्ध में प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा व्यावसायिक या वाणिज्य बैंकों के साथ होने वाले क्रिया-कलापों को संगठित करना है। इस प्रकार इस विभाग का मुख्य कर्त्तव्य कृषि साख सम्बन्धी कार्यों के विषय में सलाह देना तथा अन्य सहायता प्रदान करना है। इस विभाग का भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिये कितना महत्व है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह विभाग, भूमि-बन्धक बैंकों, सहकारिता आन्दोलन, ऋण के देन-लेन के सम्बन्ध में बनने वाले कानून, कृषि उत्पादन की बिक्री आदि के प्रश्नों पर बराबर विचार कर रहा है। अब स्वतन्त्र भारत में इस विभाग से और भी अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस विभाग ने भारत के कुछ प्रान्तों तथा कुछ अन्य देशों के सहकारिता आन्दोलनों के ऊपर छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करके जनता को सहकारिता के लाभ से अवगत कराने का प्रयत्न किया है। इस विभाग ने लोगों में फैली हुई सहकारिता के प्रति रिजर्व बैंक की उदासीनता वाले विचारों को दूर करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है। इसके परिणामस्वरूप अब रिजर्व बैंक से सहकारिता के लिये सहायता प्राप्त करने की ओर अच्छा ध्यान दिया जा रहा है। रिज़र्व बैंक सहकारी बैंकों को अच्छी रियायतें दे रही है। डेढ़ प्रतिशत की रियायती दर के अतिरिक्त अनुच्छेद १७ (२) ब और ४ (स) के अनुसार इन बैंकों को बैंक दर भी मिलने की स्वीकृत मिल गई है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद १७ (४) (अ) के अनुसार इनको अग्रिम देने की भी सुविधा प्रदान कर दी गई है, परन्तु इस संबन्ध में एक शर्त्त रखी गई है वह यह कि ऐसा अग्रिम तभी दिया जा सकेगा जब कि वे बैंक उस पूँजी को कृषि सम्बन्धी फसली कार्यों के करने में ही लगा रही होंगी।

जैसा कि पीछे सहकारिता के परिच्छेद में हम कह चुके हैं कि १६३५ में डार्लिङ्ग महोदय को देश में कार्य करने वाली सहकारी समस्याओं के जाँच की आज्ञा दी गई थी। डार्लिङ्ग महोदय ने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से यह प्रकाश डाला कि रिज़र्व बैंक किन-किन रूपों में और किस-किस तरह कृषि साख की समस्या को हल कर सकता है। इन सुझावों के अनुसार रिज़र्व बैंक ने भी काफी कार्य किया। रिज़र्व बैंक ने बाद में इस बात पर काफी जोर दिया कि देश के सम्पूर्ण सहकारी संगठन को पुन: संगठित करने की आवश्यकता है। रिज़र्व बैंक के कृषि-विभाग ने सरकार को एक अखिल भारतीय अर्थ-प्रबन्धन संस्था (All India Agricultural Finance Corporation) की स्थापना की योजना प्रस्तुत की थी। अभी थोड़े दिनों पूर्व ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने इस योजना तथा १६४६ में नियुक्त की गई गैडगिल समिति के सुझावों पर विचार किया था। परन्तु समिति ने इन सुझावों को पसन्द नहीं किया है। उसका कहना है कि इस प्रकार की संस्था की स्थापना से कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। देश के सहकारी आन्दोलन के विकास में इससे अड़चन पड़ेगी। समिति का ऐसा कथन है कि सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए जो उसे रिज़र्व बैंक से अभी सहायता मिल रही है और भविष्य में मिल सकती है, वह पर्याप्त है।

आंकड़ों के एकत्रित करने का कार्य—रिज़र्व बैंक अर्थ सम्बन्धी आंकड़े तथा अन्य सूचना भी एकत्रित करती तथा उन्हें प्रकाशित करती है। वह केन्द्रीय सरकार को अपने इशू तथा बैंकिंग विभाग का एक साप्ताहिक हिसाब देती है। इसके अतिरिक्त वह आंकड़ों सम्बन्धी एक मासिक पत्रिका तथा करेंसी व फाइनेन्स पर एक वार्षिक रिपोर्ट मुद्रित व प्रकाशित करती है।

बैङ्क-दर समय-समय पर रिज़र्व बैंक विनिमय बिलों तथा अन्य वाणिज्य पत्रों के बट्टे आदि के लिये प्रामाणिक दर (Standard Rate) घोषित करती है। बैंक के शुरू होने से अभी थोड़े दिनों पूर्व तक बैंक की यह दर ३% थी, अभी हाल में यह ३½ % कर दी गई है। द्रव्य बाजार को नियन्त्रित करने के लिये बैंक-दर का बड़ा महत्व रहता है, अन्य बैङ्कों के बट्टे आदि का कार्य इसी पर निर्भर रहता है।

सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनी कानून के अनुसार रिजर्व बैंक को भारत के किसी भी बैंक द्वारा उत्पन्न किए गए साख के परिणाम पर प्रत्यक्ष नियंत्रण का अधिकार प्राप्त हो गया है। रिज़र्व बैङ्क कोई लाभ कमाने वाली संस्था ही नहीं रह गई है। उपरोक्त कानून के ४७वें अनुच्छेद के अनुसार हिस्सेदारों को दिये जाने वाले लाभांश को सीमित कर दिया गया है। साधारणतया रिज़र्व बैंक ३½% सालाना के हिसाब से लाभांश देती थी। बैङ्क द्वारा लाभांश देने की अधिकतम दर ६% थी। अतिरिक्त लाभ की बचने वाली रकम सरकारी आय में सम्मिलित की जाने को थी, किन्तु यह तभी तक हो सकता था जब तक कि बैङ्क का सुरक्षित कोष (Reserved Fund) हिस्सा पूँजी से कम था। अब तो बैङ्क का राष्ट्रीयकरण हो गया है अतएव हिस्सेदारों को लाभांश देने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

रिजर्व बैङ्क और इम्पीरियल बैङ्क—रिजर्व बैङ्क ने इम्पीरियल बैङ्क से एक समझौता कर लिया है। इस समझौते के अनुसार उसने इम्पीरियल बैङ्क को पन्द्रह वर्ष के लिये अपना सोल एजेन्ट नियुक्त कर दिया है। यह समझौता तभी तक अच्छा रहेगा जब तक कि इम्पीरियल बैङ्क अपनी आर्थिक स्थिति काफी अच्छी रखेगा और उसकी शाखाओं की भी स्थिति अच्छी रहेगी जिनके कि बदले में पहले पांच वर्षों के लिये ९ लाख रुपया सालाना, दूसरे पाँच वर्ष के लिये ६ लाख रुपया सालाना तथा तीसरे अन्तिम पाँच वर्ष के लिये ४ लाख रुपये सालाना मिलेगा। इसके अतिरिक्त कुल लेन-देन पर इम्पीरियल बैङ्क को एक और कमीशन मिलने का अधिकार दिया गया है जिसके अनुसार पहले ५ वर्ष के लिये २५० करोड़ रुपये पर $\frac{१}{१६}$% तथा बचे हुये दस वर्षों के लिये $\frac{१}{३२}$% की दर निश्चित की गई। सन् १९४५ में इम्पीरियल बैङ्क के कमीशन की दर फिर संशोधित की गई। एक सरकारी विज्ञप्ति में पहली अप्रैल १९४५ से लेकर ३१ मार्च १९५० तक सरकारी काम के लिये इम्पीरियल बैङ्क को दी जाने वाले कमीशन की निम्नलिखित दर निश्चित की गई :—

प्रथम	१५० करोड़ रुपये पर	$\frac{१}{१६}$	प्रतिशत
द्वितीय	१५० करोड़ रुपये तथा उससे ऊपर पर	$\frac{१}{३२}$	,,
तृतीय	३०० करोड़ रुपये ,, ,, ,,	$\frac{१}{६४}$	,,
शेष पर		$\frac{१}{१२८}$	,,

यदि १९५० में किसी भी पक्ष की ओर से पाँच वर्ष की नोटिस दे दी जाती है तो यह एजेन्सी वाला समझौता रद्द किया जा सकता है। कमीशन की ये संशोधित दरें विशेषज्ञों द्वारा काफी छानबीन करने के पश्चात् निश्चित की गई हैं। इस सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि जब कि इम्पीरियल बैङ्क पाँच वर्षों तक चार लाख रुपया सालाना के हिसाब से निश्चित वृत्ति पायेगी तो उसे किसी प्रकार के भत्ते देने की आवश्यकता नहीं है। रिजर्व बैङ्क की बिना पूर्वानुमति के इम्पीरियल बैङ्क को अपनी कोई नवीन शाखा के खोलने के अधिकार नहीं है।

रिजर्व बैङ्क की सफलताएँ—रिजर्व बैङ्क की स्थापना जैसा कि हम पहले कह चुके हैं सन् १९३५ में हुई थी। अपनी स्थापना के समय से आज तक रिजर्व बैङ्क बड़ी सफलतापूर्वक उचित रूप से कार्य करता जा रहा है। इसने देश के बैङ्किंग सम्बन्धी कार्य में अपना जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। रिजर्व बैङ्क की स्थापना के पूर्व देश की बैङ्किंग व्यवस्था में कितने ही दोष थे किन्तु रिजर्व बैङ्क ने इन सभी दोषों को दूर कर उसे व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये बैङ्क-दरों को ही ले लीजिये, इसकी स्थापना के पूर्व यह दर ७ से लेकर ९% तक रहती थी परन्तु बाद में रिजर्व बैङ्क ने उसको निश्चित कर दिया। यह नहीं, द्रव्य-दरों के मौसमी उतार-चढ़ाव में तो स्थिरता आई ही, साथ ही विभिन्न व्यावसायिक केन्द्रों में जो इस सम्बन्ध में अस्थिरता रहती थी वह भी दूर हो गई है। जब फसलों के तैयार होने पर उन्हें दूसरे स्थान को भेजा जाता था और उस समय जो माँग में वृद्धि होती थी या होती है, उसका सारा भार अब रिजर्व बैङ्क के हाथ में है और रिजर्व बैङ्क ने अपने इस उत्तरदायित्व को, अपने इस कार्य को बड़ी सफलतापूर्वक निभाया है। रिजर्व बैङ्क ने आदान-प्रदान सम्बन्धी सुविधाओं को प्रदान करके सरकार, जनता, प्रामाणिक तथा सहकारी बैङ्कों को अच्छी सहायता प्रदान की है। बैङ्क ने सार्वजनिक ऋण का भी बड़ी सफलतापूर्वक प्रबन्ध किया है। उसने सस्ते दर पर केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों को ऋण देने की व्यवस्था की है। केन्द्रीय सरकार के ट्रेजरी बिलों की भी इसने अच्छी व्यवस्था की है।

बैंक ने भारत में ग्रामीण साख को विकसित तथा उसे व्यवस्थित करने की ओर भी अच्छा ध्यान दिया है। उसने बड़ी कठिन परिस्थितियों में भी भारतीय मुद्रा के विनिमय मूल्य को स्थिर रखने में अच्छी सफलता प्राप्त की है युद्ध-जन्य कितनी ही महत्वपूर्ण समस्याओं को जैसे स्टर्लिंग ऋण इत्यादि इस बैंक ने बड़ी सफलतापूर्वक सुलझाया है। बैंकरों के बैंक के रूप में भी उसने अच्छा कार्य किया, उसी के प्रयत्नों के फलस्वरूप बैंकिंग सम्बन्धी कितने ही विधान बने और उस प्रामाणिक अप्रमाणिक, तथा देश में स्थित विदेशी बैंकों के नियंत्रित करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

बैंक ने बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों तथा आवश्यक आंकड़ों आदि के अन्वेषण की ओर भी अच्छा ध्यान दिया है, इसके लिए उसका एक अलग ही विभाग है जिसमें कुशल योग्य तथा विद्वान अर्थशास्त्री कार्य कर रहे हैं। देश की आर्थिक समस्याओं सम्बन्धी प्रश्नों पर प्रकाश डालते हुए इसके द्वारा एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की जा रही है। इसने सरकार को आंकड़ों आदि के सम्बन्ध में होने वाली धांधली की ओर आकर्षित कर इसे व्यवास्थित करने की ओर प्रयत्न करवाया है। अधिक काल के लिए ऋण देने की सुविधा के लिए औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन संस्था को संगठित करके भी अच्छी सेवा की है। यह बैंक अब 'बैलेंस आफ पेमेन्ट' का एक नवीन विभाग संगठित कर रहा है।

उपरोक्त विवरण के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रिजर्व बैंक ने बैंकिंग सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों में अच्छी सफलता प्राप्त की है परन्तु कुछ ऐसे कार्य बाकी रह गए हैं जिन्हें रिजर्व बैंक को अपने हाथ में लेकर सफलतापूर्वक करना चाहिए था। उदाहरण के लिए देशी बैङ्करों को ही ले लीजिये। रिजर्व बैङ्क को चाहिए था कि वह इन बैङ्करों के साथ अपना अच्छा सम्बन्ध स्थापित करता जिससे कुछ अच्छे परिणाम निकलते, उसने अभी प्रामाणिक बैङ्कों को भी सारी वे सुविधाएँ नहीं प्रदान की हैं जिनसे वे संकट में पड़ने से दूर ही रहें। विदेशी विनिमय व्यवसाय में भी वह भारतीय मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों को उचित स्थान दिलाने में सफल नहीं हुई है। भारतीय बैङ्क अपने अतिरिक्त कोषों को लगाकर अच्छा लाभ उठा सकें इसके लिए वह एक अच्छी हुँन्डी-बाजार बनाने में भी सफल नहीं हुई है। वह करेंसी इकाई (यूनिट) के आन्तरिक मूल्य को भी स्थिर रखने में सफल नहीं हुई है परन्तु इस क्षेत्र में उसकी असफलता का सारा दोष हम उसके ही सर पर नहीं थोप सकते, हमें यह

ध्यान रखना चाहिए कि उस समय भारतीय द्रव्य-बाजार भी एक अच्छे संगठित रूप में नहीं था, यही नहीं उस समय भारत एक परतंत्र देश था और उसकी अर्थ-नीति ब्रिटेन के हित को ध्यान में रखकर नियंत्रित होती थी। इस प्रकार जब कि यू० के० मुद्रा-स्फीत और मूल्य-वृद्धि को दूर कर रहा था, भारत उसको माल भेजता जा रहा था और साथ ही मुद्रा स्फीत की ओर बढ़ता जा रहा था उस समय बैङ्क इसको रोकने में असमर्थ था। परन्तु फिर भी इन सब कठिनाइयों के, इन बाधाओं के होते हुए भी वह विकास के पथ पर अग्रसित होता ही गया, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भी उसने अपनी स्थिरता सुरक्षित रखी और भारत में बैङ्किंग के विकास में सहयोग प्रदान किया। उसके कृषि विभाग ने कृषि साख सम्बन्धी प्रश्नों और आवश्यकताओं को काफी हल करने का प्रयत्न किया है, किन्तु भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए कृषि-साख को और भी अच्छी तरह संगठित करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में हमें न्यूजीलैण्ड के रिजर्व बैङ्क तथा आस्ट्रेलियन कामनवेल्थ बैङ्क से अच्छी शिक्षा मिल सकती है। आशा है अब स्वतंत्र भारत में जब कि उसका राष्ट्रीयकरण हो चुका है रिजर्व बैङ्क अपनी इन कुछ कमियों को दूर कर देश के बैंकिंग को समृद्धि के पथ पर अग्रसित करने में कोई कोर कसर नहीं रख छोड़ेगा।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—सन् १९४८ के रिजर्व बैङ्क एक्ट द्वारा रिजर्व बैङ्क का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और वह पूर्णरूप से राज्य के अधिकार में आ गई। इस कानून के अनुसार बैङ्क के वे सभी शेयर या हिस्से जो जनता के थे उन पर पहली जनवरी १९४९ को केन्द्रीय सरकार का अधिकार हो गया। सरकार ने ११८ रुपया १० आने प्रति शेयर के हिसाब से मुआवजा दिया। यह मुआवजा कुछ तो नकदी में दिया गया और कुछ ३ प्रतिशत के प्रामिसरी नोटों में दिया गया। केन्द्रीय समिति तथा स्थानीय समितियों के विधान को संशोधित कर दिया गया जिसके अनुसार उनके सभी डायरेक्टर सरकार द्वारा मनोनीत किये जाने लगे। केन्द्रीय बोर्ड के डाइरेक्टरों में एक सरकारी पदाधिकारी, चार स्थानीय समितियों के सदस्य तथा छै सदस्य अन्य हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं। स्थानीय बोर्ड में तीन सदस्य होते हैं, इनमें से प्रत्येक की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। सन् १९३४ के रिजर्व बैंक कानून में कुछ और संशोधन किए गए जिससे रिजर्व बैंक को किसी अन्य ऐसे देश की जो कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष का सदस्य है, करेंसी तथा प्रतिभूतियां को सम्भालने का अधिकार प्राप्त हो गया, इस प्रकार के संशोधन की इसलिए आवश्यकता पड़ी क्योंकि इस समय भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष (International Monetary Fund) की सदस्यता स्वीकार कर ली थी।

सन् १९४८ के इस राष्ट्रीयकरण कानून की काफी आलोचना की गई है। इस सम्बन्ध में लोगों का ऐसा कथन है कि इस बैङ्क की नीति निर्देशन का सम्पूर्ण अधिकार सरकार के हाथ में चला गया है जिसके कारण इस बैंक को जो कोई भी दल शक्ति में आयगा उसकी नीति का अनुसरण करना पड़ेगा, इसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ेगा। इस आलोचना के प्रत्युत्तर में यह कहा जाता है कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार विशाल पैमाने पर देश के औद्योगीकरण करने का प्रयत्न कर रही है, देश के आर्थिक विकास की योजनायें बना रही है किन्तु ऐसी योजना बिना एक राष्ट्रीय संस्था के सफल नहीं हो सकती। सरकार की अर्थनीति, तथा देश के केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति में समाञ्जस्य होना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक रिजर्व बैंक एक राष्ट्रीय संस्था नहीं थी तब तक इस बात का हमेशा अन्देशा बना रहता था। बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से अब यह भय जाता रहा है। दूसरे एक प्राइवेट बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को इतनी सुविधायें भी नहीं दी जा सकती थीं जितनी कि उसे अब मिल गई हैं। इसके अतिरिक्त भारत ही नहीं कुछ अन्य देशों की सरकारों ने जैसे फ्रांस, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि ने केन्द्रीय बैंकों की राज्य की अधीनता व स्वामित्व

में ला दिया है। इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत सरकार ने रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करके कोई अनुचित कार्य नहीं किया है।

भारत में औद्योगिक बैंकिंग—कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत का औद्योगिक विकास तब तक भलीभांति नहीं हो सकता जब तक कि देश के उद्योगों का भली-भांति अर्थ प्रबन्धन नहीं होता। इस सम्बन्ध में हम पिछले परिच्छेद में भली-भांति विचार कर चुके हैं। हम उस परिच्छेद में देख चुके हैं कि जर्मनी, जापान, आदि देशों ने अपने उद्योगों की उन्नति के लिये किस प्रकार औद्योगिक पूँजी की व्यवस्था की थी। अब भी इन देशों में तथा इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देशों में उद्योग-धन्धों को दीर्घकाल के लिये ऋण प्राप्त होता है परन्तु अभी भारत में इस तरह का कोई अच्छा प्रयत्न नहीं किया गया है। यहाँ पर औद्योगिक बैंकिंग का प्रयत्न किया गया किन्तु वह असफल रहा। यहां की बैंकों ने औद्योगिक कार्यों में अपनी काफी पूँजी फंसा दी, यही नहीं उन्होंने अपनी अल्पकालिक धरोहरों को भी इसमें विनियोजित कर दिया परन्तु यह पद्धति सफल न हुई।

अतः देश के उद्योग-धन्धों के लिए एक दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता को देखकर स्वतन्त्र भारत की सरकार ने १९४८ की जुलाई में एक औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन संस्था (Industrial Finance Corporation) की स्थापना की थी। यह संस्था मूल उद्योगों के पुनर्संस्थापन, मशीनरी औजार तथा अन्य वस्तुओं के खरीदने के हेतु ऋण प्रदान करती है। सन् १९५० की ३१ मार्च तक इस संस्था द्वारा दिया गया ऋण कुल ३१५ लाख रुपया था यह ऋण मुख्य कर विशाल पैमाने वाले उद्योगों को दिया गया था। नवीन उद्योगों के विकास के लिये इसने अभी अपनी सहायता नहीं प्रदान की है।

अब कुछ राज्यों की सरकारें भी अपने-अपने प्रदेश में इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना कर रही हैं। १९४९ की मार्च में मदरास में 'इन्डस्ट्रियल इन्वेस्टमेंट कार्पोरेशन' की स्थापना की गई थी, इस संस्था का मूलधन दो करोड़ रुपया था। सौराष्ट्र सरकार ने भी ऐसी ही संस्था की स्थापना की है। उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा बिहार की सरकारें भी इसी प्रकार के प्रयत्न कर रही हैं। इन सभी संस्थाओं के कार्यों का अखिल भारतीय अर्थ-प्रबन्धन संस्था के कार्यों से मेल बैठना आवश्यक है, इन सब को मिलकर के मध्यम तथा छोटे पैमाने वाले उद्योगों के लिए दीर्घकालिक ऋण की व्यवस्था करनी चाहिये। बिना इस प्रकार के संगठित प्रयत्न से उद्योग-धन्धों का विकास और उनका पुनर्निर्माण होना सम्भव नहीं है।

'स्टाक एक्सचेन्ज' (Stock Exchange)—दीर्घकालिक औद्योगिक पूँजी विनियोग के लिये 'स्टाक एक्सचेन्ज' भी काफी उपयोगी संस्थाएँ हैं। परन्तु यह बात अंशतः ही सत्य है। भारत के कलकत्ता तथा बम्बई के स्टाक एक्सचेन्ज जो देश के सबसे अधिक संगठित 'एक्सचेन्ज' हैं केवल पूर्वास्थापित औद्योगिक संस्थाओं के हिस्सों का ही सौदा करती हैं, नवीन कम्पनियों को इनमें स्थान नहीं मिल पाता। भारत में संगठित तथा अच्छे स्टाक एक्सचेन्ज केवल दो ही हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दिल्ली, कानपुर तथा मदरास के एक्सचेन्ज इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं। सरकार ने थोड़े दिनों पूर्व इन एक्सचेन्जों को कुछ वस्तुओं का सौदा करना अवैध घोषित कर दिया है एक्सचेन्ज के कार्यों को सीमित करने के वास्ते विधान निर्माण करते समय हमें इन एक्सचेन्जों के महत्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। ये एक्सचेन्ज कई महत्वपूर्ण कार्य करते हैं जो अन्य संस्थाओं द्वारा नहीं किये जाते। ये प्राइवेट व्यक्तियों को अपनी पूँजी उद्योग में विनियोजित करने के लिये उत्साहित करते हैं। देश में कितनी ही पूँजी ऐसी है जिसका अच्छी तरह उपयोग नहीं किया जाता। ऐसी पूँजी का विनियोग देश में काफी संख्या में संगठित स्टाक एक्सचेन्जों की स्थापना से ही की जा सकता है।

द्रव्य का संचय, विनियोग तथा बचत—आज स्वतन्त्र भारत पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त होकर देश के आर्थिक नवनिर्माण की ओर व्यस्त है। उत्पादन के बढ़ाने के लिये अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं विदेशों से मशीनें, मशीनरी औजार आदि प्राप्त करने के लिए पूँजी उधार ली जा रही है। इसलिये यह आवश्यक है कि देश में जितनी बची हुई पूँजी है, भले ही वह कितनी ही कम है उसका उचित उपयोग किया जाय। इसके लिये हमें देश में कितनी संचित पूँजी है, उसका पता लगाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। वैसे तो संचित द्रव्य का आसानी से पता लगना फिर उसको एकत्रित करना काफी कठिन कार्य है आज गाँवों में कितने ही करोड़ रुपये की संचित पूँजी पड़ी हुई है जिसका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। हमें इसके प्रयोग के लिए लोगों में बचत की पूँजी को उचित रूप से विनियोजित करने के लिये काफी प्रयत्न करना होगा। पूँजी बचत, कुल उत्पादन तथा कुल उपयोग या खपत के अन्तर पर निर्भर रहती है। दुर्भाग्यवश देश में लोगों में बचत की भावना नहीं के बराबर है। यह बात गाँवों तथा नगरों दोनों स्थानों के लिये लागू होती है। नगरों में इधर थोड़े दिनों से पूँजी का झुकाव एक ऐसे वर्ग की ओर होता जा रहा है जो खाए-खर्चे बराबर रहता है। रही गाँवों की बात वहाँ के अधिकांश जमींदार अनार्थिक जोतों को जोतते हैं जिनसे उन्हें अपना खर्चा सम्भालना मुश्किल हो जाता है और जिन लोगों के पास कुछ बचत होती भी है वे उससे सोने-चांदी के आभूषण बनवा लेते हैं, उन्हें अभी उस बचत को बैंकों आदि में जमा कर रखने की भावना नहीं है, दूसरे वहां सेविंग बैंक इत्यादि हैं भी नहीं जो ग्रामीणों को अपने यहाँ जमा करने के लिये आकर्षित कर सकें। परन्तु हम देश की विशाल जनसंख्या को देखते हुए, जो कि समस्त विश्व की सारी जनसंख्या का पाँचवाँ भाग है, यह नहीं कह सकते, गत साढ़े चार सौ वर्षों में भारतवर्ष ने संसार के उत्पादित कुल सोने के सातवें हिस्से को ही खपाया था।

भारतवर्ष में द्रव्य को संचित रखने की भावना लोगों में इसलिए और थी तथा अब भी है कि पहले लोगों के जान-माल का बड़ा खतरा बना रहता था, दूसरे भारतीय समाज में कुछ ऐसी सामाजिक रीतियाँ थीं जिनके लिए द्रव्य जोड़कर रखना आवश्यक था। परन्तु अब इन सभी स्थितियों में काफी परिवर्तन हो गया है और अब भी धीरे-धीरे ये परिस्थितयां हटती जा रही हैं। अतएव ऐसी स्थिति में ग्राम तथा नगरनिवासियों के द्रव्य को संचित कर घर में रखने की भावना को परिवर्तित करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। नगरों में तो इस दिशा में अब काफी सुधार हो गया है।

इस स्थिति को सुधारने के लिए हमें कई बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। बड़े-बड़े नगरों की अपेक्षा छोटे-छोटे स्थानों में जहाँ बैङ्किंग सम्बन्धी सुविधाएँ नहीं हैं वहाँ पर बैङ्किंग संस्थाओं के खोलने की काफी आवश्यकता है। ग्रामों में बैङ्कों का होना तथा ग्रामवासियों का अपना पैसा इन बैङ्कों में जमा करना नितान्त आवश्यक है। डाकखानों को भी जमा करने के लिए लोगों को काफी सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए। सेविंग बैङ्कों में जमा करने के लिए छोटी-छोटी अमानतों को जमा करने वालों को अधिक सूद की दर देकर इस ओर आकर्षित करना चाहिए। डाकखानों में प्रादेशिक भाषाओं में लिखी गई चेकों द्वारा यदि रुपया निकालने की सुविधा प्रदान कर दी जाती है तो इससे और भी लाभ मिलने की आशा हो जायगी। गाँवों में स्त्रियों की सहकारी समितियों के खोलने के लिए और भी प्रयत्न किया जाना चाहिए। भारतीय महिलाएँ साधारणतया बड़ी मितव्ययी होती हैं। यदि उनके अन्दर द्रव्य को घर में जोड़कर रखने की भावना का अन्त कर दिया जाता है तो उससे काफी लाभ प्राप्त हो सकेगा। मिश्रित पूँजी वाली बैङ्कों को भी स्त्रियों के लिए विशेष विभाग खोलने चाहिए। इन विभागों में स्त्रियों को ही कर्मचारी रखा जाय। इस प्रकार की व्यवस्था से महिलाओं में भी व्यवसायिक मनोवृत्ति की वृद्धि होगी और वे आभूषण बनाने के बजाय ऐसी बैङ्कों में

अपना रुपया जमा करना अधिक पसन्द करेंगी। इन सब बातों को और अधिक सफल बनाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि लोगों में इस विषय के ज्ञान का काफी प्रचार और प्रसार किया जाय, इसके लिए लोगों की प्रादेशिक भाषाओं में आवश्यक सहित्य का वितरण किया जाय। इसके लिए व्याख्यानों, भाषणों, रेडियों, चलचित्रों आदि द्वारा भी काफी सहायता ली जा सकती है।

क्या देश में बैंकिंग सुविधाएँ पर्याप्त हैं—हम ऊपर देख चुके हैं कि भारत में विविध प्रकार की बैंकिंग संस्थाएँ हैं। भारत जैसे विशाल देश के लिए ऐसी विविधिता का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। ऐसे विशाल देश के लिए और फिर उसमें निवास करने वाले लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक ही प्रकार की संस्था का होना और उसके द्वारा सभी कार्यों की पूर्ति हो जाना सम्भव नहीं है। इस प्रकार हमारे देश में आधुनिक पद्धति के अनुसार कार्य करने वाली निम्नलिखित बैंकिंग संस्थाएँ जो समस्त देश में फैली हुई हैं :—

(१) प्रामाणिक बैङ्क (Scheduled Bank)
(२) अप्रमाणिक बैङ्क (Non Scheduled Bank)
(३) सहकारी बैङ्क (Co-operative Bank)
(४) पोस्ट आफिस सेविंग बैङ्क (Post Office Saving Bank)

इन बैङ्कों की देश में १९४९ के प्रारंभ तक कितनी शाखाएँ या कार्यालय थे उसका पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा।

(अ)

सहकारी बैंकें	५८३
विनिमय बैंक	९२
इम्पीरियल बैङ्क	३९७
अन्य प्रमाणिक बैङ्क	२,४८४
अप्रमाणिक बैङ्क	१,७८१

(ब)

वे डाकखाने जो सेविंग बैङ्क का कार्य करते हैं	९,४६५
" " ग्रामों में हैं	६,४०१

प्रथम कोटि के बैंकों के १,५३४ स्थानों में ५,२७७ कार्यालय थे। इनमें से पाँच हजार से कम आबादी वाले १७१ स्थानों में केवल २३७ कार्यालय थे, अन्य प्रामाणिक बैंक ऐसे ९९ स्थानों में थे, १२१ ऐसे ही स्थानों में अप्रमाणिक बैङ्क थे, ऐसे ही ३३ स्थानों में सहकारी बैङ्क थे, जब कि विनिमय बैङ्क ऐसे किसी भी स्थान में थे ही नहीं। सन् १९४९ में २९,७६० डाकखाने थे, जिसमें से ९,४६५ डाकखाने सेविंग बैङ्क का कार्य कर रहे थे परन्तु केवल ६,४०१ डाकखाने ही ऐसे थे जो ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य कर रहे थे। भारत में बैङ्किंग सम्बन्धी सुविधाएँ ठीक या पर्याप्त हैं अथवा नहीं इस सम्बन्ध में कोई निश्चित उत्तर देना सरल कार्य नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें कार्यालयों की की संख्या, उनकी सम्पन्नता, उनकी कार्य-पद्धति तथा अन्य सुविधाएँ जो कि वे प्रदान करते हैं, देखना होगा। आइए हम विदेशों की भी बैङ्किग स्थिति पर एक दृष्टि डालें। नीचे दी हुई तालिका से इस बात पर कुछ प्रकाश पड़ जायगा।

बैङ्किग-कार्यालय क्षेत्रफल और जनसंख्या
(१९४९ की)

देश	क्षेत्रफल (हजार वर्गमील में)	जनसंख्या (दस लाख में)	बैङ्किग कार्यालयों की संख्या	औसत क्षेत्रफल जो कि बैङ्किंग संस्थाओं द्वारा दिया जाता है (वर्ग मील में)
आस्ट्रेलिया	२,९७५	८	३,५९०	८२७
कनाडा	३,६९०	१३	३,३२३	१,११०
यू०के०	८९	५०	११,४६१	८
संयुक्त राज्य अमरीका	६७४	१४७	१८,६७५	१६४
भारत	१,२२१	३४२	५,२७७	२३१

उपरोक्त तालिका को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम भारत की अन्य देशों से तुलना करें तो हमें पता चल जायगा कि भारत में व्यावसायिक बैङ्किंग तो बिल्कुल ही अपर्याप्त स्थिति में है परन्तु इस सम्बन्ध में हमें एक बात का स्मरण रखना चाहिए वह यह जैसा कि ग्रामीण बैङ्किंग जाँच समिति ने कहा था कि हम यह तुलना केवल जनसंख्या और क्षेत्रफल के ही अनुसार करके निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल सकते क्योंकि बैङ्किंग सम्बन्धी सुविधाओं का विकास किसी देश के आथिक विकास उस देश की कृषिकी स्थिति पर, उद्योग पर, व्यापार, राष्ट्रीय आय तथा उस आय के वितरण पर निर्भर रहता है। भारत आर्थिक दृष्टि से बड़ा ही पिछड़ा हुआ देश है उसकी कुल राष्ट्रीय आय भी काफी कम है। उदाहरण के लिये सन् १९४६-४७ में भारत राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति २२८) की थी जब कि उस समय मूल्य देशनांक (Price Index) लगभग ३०० था।

अतः जब कि यहाँ की अधिकांश जनता की राष्ट्रीय आय इतनी कम है उसे बैङ्किंग सम्बन्धी सुविधाओं की भी विशेष आवश्यकता नहीं होती , इसलिए देश की वर्तमान दशा को देखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि हमारी ये बैङ्किंग सम्बन्धी सुविधाएँ अपर्याप्त हैं। हाँ इस सम्बन्ध में एक बात कह देना अनुचित न होगा वह यह कि युद्ध के समय में हमारे देश की बैङ्किंग का विस्तार अधिक नहीं हो सका। लागत और आय का बिना ध्यान दिये हुए ही शाखाओं को खोला गया । सन् १९४९ में में भारत में कुल ५,२७७ बैङ्किंग कार्यालय थे इनमें से केवल २३७ ऐसे कार्यालय थे जो पाँच हजार से कम आबादी वाले स्थानों में थे। आवश्यकता इस बात की है कि बैङ्क अपने कार्य-क्षेत्र को ग्रामों तक पहुँचाने का पूर्ण प्रयत्न करें छोटे-छोटे नगरों या कस्बों में अपनी शाखाएँ खोलें अभी तक व्यावसायिक बैङ्कों ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है। गाँवों में सहकारी साख समितियों तथा डाकखानों द्वारा ही सहायता प्राप्त करते हैं। इसलिए कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि अभी ग्रामीण क्षेत्रों में बैङ्किंग सम्बन्धी सुविधाओं का बहुत विस्तार नहीं हुआ है ।

इसमें सुधार कैसे हो ?—भारत जैसे विशाल देश की विशाल जनसंख्या की विभिन्न आवश्यकताओं को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि देश में सभी प्रकार की अच्छी बैङ्किंग सुविधाओं के विकास व विस्तार की आवश्यकता है। हमें नगरों के साथ-साथ ग्रामों में भी इनके सम्यक विस्तार की ओर ध्यान देना होगा। ग्रामीण बैङ्किंग जाँच समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों में उन कुछ बाधाओं का उल्लेख किया है जिनके कारण बैङ्किंग सुविधाओं के विस्तार में बाधा होती है। ये बाधाएँ निम्नलिखित है :—

(१) इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई आवागमन या यातायात के साधनों की है अभी गाँवों में इन साधनों की अच्छी सुविधा प्राप्त नहीं है ।

(२) ग्रामीण जनता अशिक्षित है। इससे वे चेक, पास बुक आदि को अच्छी तरह सम्भाल नहीं सकते।

(३) ग्रामीणों में रूढ़िवादिता के कारण बैंक में अपनी रकम जमा करने की भावना नहीं है। उनमें शिक्षा का प्रचार वा प्रसार होने से ही उनकी यह भावना दूर हो सकती है।

(४) गांवों में जिन लोगों के पास पैसा है उसे वे गाँव में ही अच्छे सूद पर उठा देते हैं, बैङ्क की वर्तमान दरों से उन्हें इनमें रुपया जमा करने में कोई आकर्षण नहीं होगा।

(५) गाँवों में विशेष आय की आशा न होने के कारण बैंकों द्वारा नवीन शाखाओं के खोलने में काफी कठिनाई है।

(६) इम्पीरियल बैंक तथा अन्य बैङ्कों ने यह सुझाव रखा था कि ग्रामीण क्षेत्रों में उन्हें अपने कार्यों के विस्तार करने में सबसे बड़ी कठिनाई कृषि सम्बन्धी कानूनों की है। इन कठिनाइयों को निम्नलिखित उपायों द्वारा दूर किया जा सकता है :—

(क) ग्रामीण क्षेत्रों में एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र के कोष को एकत्रित करने के लिये सुविधाएं प्रदान की जा सकती हैं।

(ख) इम्पीरियल बैंक की शाखाओं में और वृद्धि करके तथा ट्रेज़रियों के कार्यों को और बढ़ा करके इस प्रकार की व्यवस्था की जाय कि ये ग्रामीण क्षेत्रों में नोटों तथा अन्य मुद्राओं को बदल सकें तथा उनका विनिमय कर सकें। इसके अतिरिक्त बैङ्कों को इस प्रकार की काफी सुविधा दी जा सके जिससे ट्रेजरियों में वे अपनी पेटियाँ खूब सुरक्षित रख सकें।

(ग) बैंकों को ऋण तथा सहायता आदि देकर गोदामों (वेयर हाउसिंग) के विकास के लिये एक समिति तैयार की जाय जिसमें कि केन्द्रीय व राज्य की सरकारें तथा रिजर्व बैङ्क को अपनी सहायता दें।

जहाँ तक सहकारी समितियों का प्रश्न है इस सम्बन्ध में कुछ विशेष सुझाव दिए गए हैं। वैसे तो अभी सहकारी संस्थाओं को कई सुविधाएँ जैसे आयकर, स्टाम्पकर, रजिस्ट्रेशन फीस आदि से मुक्त रखने की सुविधाएँ प्राप्त हैं परन्तु अभी उन्हें कुछ और सुविधाएँ दिए जाने का सुझाव रखा गया है। इन सुविधाओं में मुख्य ये हैं :—

(अ) डाकखानों द्वारा कम दर पर रकम के भेजने आदि की सुविधाएँ दी जाँय;

(ब) डाकखानों में और अधिक रकम के जमा करने की तथा और अधिक रकम के निकालने की सुविधा दी जाय,

(स) नेशनल सेविङ्ग सार्टीफिकेट के बेचने के लिये उन्हें अच्छा अधिकार प्रदान किया जाय;

(द) उन स्थानों में जहाँ पर अभी बैङ्किंग सम्बन्धी सुविधाएं नहीं हैं वहा अपने कर्मचारियों को शिक्षित आदि करने में जो व्यय पड़े उसके लिये इन संस्थाओं को सहायता दी जाय।

उधर सहकारी बैंकों तथा समितियों को भी संचित द्रव्य (सेविंग) के एकत्रित करने तथा लोगों के मितव्ययिता का प्रचार करने के लिए पहले की अपेक्षा अब अधिक ध्यान देना चाहिए। पोस्ट आफिस सेविंग बैङ्क सेविंग ग्रामीण क्षेत्रां में सेविंग अच्छी तरह एकत्रित कर सकते हैं क्योंकि डाकखाने समस्त देश में फैले हुए हैं और जनता का उन पर विश्वास भी काफी है, इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने वाले डाकखानों की संख्या में वृद्धि की जाय इसके लिये निम्नलिखित उपाय किये जाने चाहिये :—

(अ) डाकखानों के कर्मचारियों को सेविंग बैङ्क के कार्यों की ओर विशेष प्रयत्न करना चाहिये;

(ब) जिन ग्रामीण स्थानों में सेविंग प्राप्त होने की विशेष सम्भावना है वहाँ पर और नए डाकखानों के खोलने का प्रयत्न करना चाहिये;

(स) डाकखाने के सेविंग बैङ्कों के प्रचार के लिये गाँवों में विशेष प्रयत्न किया जाय;

(द) अभी जिस आदमी का रुपया जमा होता है उसके मरने के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों को रुपए प्राप्त करने में बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं, इस सम्बन्ध में जो अभी नियम बने हैं उनको कुछ ढीला करना आवश्यक है। इसके साथ ही सेविंग बैङ्कों में जो अभी सब कार्य अंग्रेजी में होता है उसे प्रादेशिक भाषाओं में भी परिवर्तित करने की आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—हमने राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, युद्ध को समाप्त हुये पाँच वर्ष से भी ऊपर हो गये किन्तु अब भी हम अपना सम्यक आर्थिक विकास नहीं कर पाये हैं। देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये राजनैतिक स्वतंत्रता ही पर्याप्त नहीं होती, उसके लिए एक निश्चित और सुयोजित योजना की आवश्यकता होता है। हर्ष की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार इस दिशा की ओर काफी प्रयत्नशील है।

यदि भारत अपना आर्थिक पुनर्निर्माण करना चाहता है और अन्य उन्नत देशों के समान स्तर पर आना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अन्य देशों का भी अच्छा सहयोग प्राप्त करे। थोड़े दिनों पूर्व संसार के आर्थिक विकास के लिए होने वाले कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत ने भाग लेकर इस सम्बन्ध में अपनी क्रियाशीलता का परिचय दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank) की स्थापना में भी अपना हाथ बंटाकर भारत ने विश्व-बन्धुत्व तथा अपने देश के आर्थिक विकास की भावना का परिचय दिया है। युद्ध के कारण जिन देशों की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई थी उनकी दशा सुधारने तथा विश्व के उन देशों को जो कि आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं, उनको विकास की सुविधा प्रदान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई। इस प्रकार यह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक विश्व में शान्ति को चिरस्थायी बनाने में सहायता प्रदान करने के साथ ही साथ संसार के पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास में सहायता पहुँचायेगी। वह अपने सदस्य राष्ट्रों को लम्बी अवधि के लिए ऋण प्रदान करेगी। इस ऋण के देने का उद्देश्य उन देशों जिन की आर्थिक दशा युद्ध के कारण बड़ी अस्तव्यस्त हो गई थी और उन देशों को जिनको उत्पादन सम्बन्धी काफी सुविधाएँ प्राप्त हैं, उन्हें अपना सम्यक आर्थिक विकास के लिए सहायता प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त विश्व-वाणिज्य को एक और अच्छे स्तर पर लाने को हेतु तथा विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्थिर बनाने के लिए भी इस बैंक की बड़ी आवश्यकता थी।

सन् १६४६ की ३१ मार्च को बैंक की हिस्सा पूँजी ८३३६० लाख डालर थी और इसके सदस्य देशों की कुल संख्या ४७ थी। भारत ने प्रारम्भ में इसमें ४०० लाख डालर जमा किए जिसमें से ८० लाख डालर स्वर्ण के रूप में या यू० एस० की करेंसी के रूप में, १२० लाख डालर का स्वर्ण तथा २०० लाख डालर रुपयों में देने थे। उस समय यह विचार किया गया कि यदि भारत, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष (I.M.F.) का सदस्य हो जाता है तो उसे काफी लाभ प्राप्त हो सकेगा। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इस बैङ्क में भारत का कुल कोटा ४००० लाख डालर, यू० के० का २०,००० डालर, संयुक्त राज्य अमरीका का २,४१५० लाख डालर है। इस प्रकार बैंक के पास अपनी आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए पर्याप्त पूँजी है। इस प्रकार अपने इन साधनों से बैङ्क सदस्य राष्ट्रों को अपने-अपने कच्चे माल, यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ, शक्ति के साधन आदि का उचित उपयोग कर अपना विकास करने में सहायता पहुँचायगी। इन कार्यों की पूर्ति के लिये बैङ्क ने बहुत से देशों को दीर्घकाल के लिये ऋण प्रदान किया है। उसका सर्वप्रथम तथा सबसे अधिक ऋण फ्रान्स को दिया जाने वाला ऋण था जिसकी कुल रकम २,५०० लाख डालर थी। इसके बाद उसने चिली, लक्जेम्बर्ग, डेनमार्क, नीदरलैण्ड को २,६३० लाख डालर दिया। ये रकम ६½ से लेकर ३० वर्षों तक के बीच अदा की जाने वाली थी और इसका सूद ४¼ प्रतिशत था, इसमें १ प्रतिशत कमीशन बैङ्क का भी शामिल था। प्रायः ऋण की सारी रकम डालर में दी जाती है क्योंकि इस रकम से खरीदी जाने वाली अधिकांश वस्तुएँ संयुक्त राज्य अमरीका में प्राप्त होती हैं। ऋण देने के पूर्व बैङ्क जिस देश को ऋण देती है उस देश की आर्थिक स्थिति की पूरी तरह जाँच करती है। उस देश की समस्याओं की जाँच करने के लिये केवल कागज पत्रों के ही आधार पर निष्कर्ष नहीं निकाल लेती बल्कि व्यक्ति विशेषज्ञों के मिशनों को भेजकर वह उसकी स्थिति का पता लगाती है। भारत को भी ऋण प्रदान करने के लिये बैङ्क के उपसभापति श्री एस० जी० होर महोदय १९४९ के प्रारम्भ में भारत आये थे और उन्होंने यहाँ की आर्थिक स्थिति का अच्छी तरह अध्ययन किया था।

यह बैंक मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों की जाँच करके ऋण प्रदान करता है :—

(१) वह यह देखता है कि जिस योजना की पूर्ति करने के लिये अर्थ प्रबन्धन की बैंक से प्रार्थना की है वह योजना अच्छी प्रकार विचार करके तैयार की गई है अथवा नहीं, दूसरे उनके अर्थ प्रबन्धन करने में सफलता प्राप्त होगी अथवा नहीं;

(२ जो देश ऋण ले रहा है उसकी अर्थनीति और आर्थिक क्रिया-कलाप सुव्यवस्थित है अथवा नहीं;

(३) वह देश अपने देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये जो सारी योजनाएँ बना रहा है वह सुविचारित हैं अथवा नहीं।

श्री होर महोदय ने कहा कि बैंक यह नहीं चाहता कि जो देश ऋण ले रहा है, वह सभी दृष्टियों से ही पूर्ण है, परन्तु वह यह चाहता है कि जो देश ऋण ले रहा है वह अपनी अर्थ-नीति को एक सुविचारित आधार पर कार्यान्वित कर रहा है अथवा नहीं, दूसरे वे बाधाएँ जो कि उस देश के आर्थिक विकास में रोड़े अटकाती हैं उन्हें वह दूर करने के अच्छे प्रयत्न कर रहा या नहीं। और भविष्य में इन्हीं आधारों पर वह अपना आथिक विकास करने की क्षमता रखता है अथवा नहीं उन्होंने यह सुझाव दिया कि किसी देश को तभी नवीन योजनाओं को हाथ में लेना चाहिये जब कि उसे यह विश्वास हो जाय कि इस योजना की पूर्ति के लिये देश में सभी साधन उपलब्ध हैं। इस योजना का पूरा होना अत्यन्त अनिवार्य है, इस योजना का पूरा होना अन्य योजनाओं के लिये नितान्त आवश्यक है, उस योजना को पूरी होने के लिये आवश्यक सामग्री और साधन अच्छे मूल्य में प्राप्त हो जायँगे।

बैङ्क द्वारा भेजे गये मिशन ने भारत के आर्थिक विकास की सभी योजनाओं पर अच्छी तरह विचार किया था। इस बैङ्क ने १९४९ की अगस्त में भारत की रेलों के लिये ३४० लाख डालर, १९४९ की सितम्बर में कृषि के विकास के लिये १०० लाख डालर तथा १९५० की अप्रैल में नदियों की घाटियों की योजनाओं को अग्रसित करने के लिये १८५ लाख डालर ऋण स्वीकृत किया। इसके अतिरिक्त अन्य कई भारतीय योजना पर ऋण देने के लिये विचार कर रही है किन्तु इसने देश की कई योजनाएं जैसे चितरंजन में इंजन बनाने के उद्योग की वृद्धि की योजना तथा खाद तैयार करने

के लिये अन्य कई योजनाओं के वास्ते ऋण देने से इन्कार कर दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के प्रतिनिधि श्री रामास्वामी मुदालियर ने संयुक्त राष्ट्र संघ की अर्थ तथा समाज परिषद में भाषण देते हुये कहा था—'बैंक भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये देश के आर्थिक विकास के लिये विशेष ध्यान नहीं दे रहा है।' मुदालियर महोदय के विचारों का समर्थन पीरू, ब्राज़ील तथा चिली के प्रतिनिधि ने भी किया था।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि (I. M. F.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। दोनों युद्ध से बरबाद देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण करने के लिये स्थापित किये गये हैं। दोनों का शासन एक बोर्ड द्वारा होता है जिसमें १२ डाइरेक्टर होते हैं। दोनों को अपने सदस्यों की आर्थिक अवस्था की जाँच-पड़ताल करने का अधिकार है। लेकिन जब कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को दीर्घकालीन ऋण देने का अधिकार है अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रानिधि को केवल अल्पकालीन ऋण देने का ही अधिकार है।

अट्ठाइसवाँ परिच्छेद

मुद्रा तथा विनिमय

(करेन्सी तथा एक्सचेञ्ज)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—भारत की वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम उसके अतीत पर भी एक विहङ्गम दृष्टि डाल लें।

प्राचीन काल में हिन्दू राजागण स्वर्ण-मुद्राओं का परिचालन अत्यन्त पसन्द करते थे, इन मुद्राओं में वे अपना नाम और कभी-कभी अपने शासन के प्रतीक आदि का चित्रण भी करा देते थे। जब राज्य का भार किसी नवीन शासक या राजा के हाथ में आता, या कोई राजा किसी राजा को पराजित कर वहाँ पर अपनी अधिकार जमाता तो विशेषकर के वह अपनी मुद्रा प्रचलित करता। उस समय भारत अधिकतया कई भागों में विभाजित रहता था अतएव विभिन्न प्रदेशों या राज्यों में प्रचलित मुद्राएँ भी विभिन्न रहती थीं।

मुगलों के शासन काल में चाँदी का रुपया तथा सोने की मोहर दोनों प्रकार की सरकारी मुद्रायें जनता में प्रचलित थीं और यद्यपि उन दोनों में कोई निश्चित अनुपात नहीं था किन्तु दोनों का 'दाम' से जो कि एक तांबे का सिक्का था निश्चित सम्बन्ध रहता था। दक्षिण भारत में जहाँ कि मुगलों का आधिपत्य विशेष नहीं जम पाया था, वहाँ विभिन्न हिन्दू-राज्यों में विभिन्न स्वर्ण मुद्रायें प्रचलित थीं। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारत में राजनीतिक उथल-पुथल हुई, मुगल साम्राज्य कितने ही छोटे छोटे राज्यों में विभाजित हो गया, प्रत्येक राज्य अपना अलग ही सिक्का चलाए हुए था। इस प्रकार १८वीं शताब्दी के मध्यकाल में भारत में लगभग ९९४ सोने-चाँदी की मुद्रायें प्रचलित थीं। ये सब की सब अपनी बनावट तथा वजन में एक दूसरे से भिन्न थीं।

इस प्रकार की मौद्रिक स्थिति का आन्तरिक तथा वाह्य दोनों प्रकार के व्यापारों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, इससे व्यापार की गति मन्द पड़ गई। ऐसी स्थिति में ईस्ट इन्डिया कम्पनी जिसने कि १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने को एक दृढ़ प्रशासक सत्ता के रूप में अधिकृत कर लिया था समस्त भारतवर्ष के लिये एक-एक रूपात्मक मुद्रा के पद्धति के विकास की ओर पैर बढ़ाया।

इस प्रकार १९ वीं शताब्दी की भारतीय मुद्रा के इतिहास को हम चार सुस्पष्ट भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) १८००-१८३५—एकत्व का प्रयास।
(२) १८३५-१८७४—प्रयोगात्मक काल।
(३) १८७४—१८९३—मौद्रिक मूल्य ह्रास काल।
(४) १८९३—१९००—एक धातवीय रजत मुद्राविधि का परित्यागन।

प्रथम युग (१८००—१८३५)— १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक यूरोप में द्विधातवीय मुद्राविधि का ही बोलबाला था। ईस्ट इन्डिया कम्पनी भी इससे प्रभावित हुई और उसने यहाँ अपने अधिकृत क्षेत्रों में उसी द्विधातवीय मुद्रा-विधि के परिचालन का प्रयत्न किया। उसने इसके लिए एक नहीं कई प्रयास किये और सब के सब असफल रहे। इन प्रयत्नों के असफल होने का मुख्य कारण सोने का टकसाल द्वारा न्यून-मूल्यांकन के कारण अधिकृत अनुपात को ठीक न रख सकना था। इस प्रकार ईस्ट इन्डिया कम्पनी को फिर चाँदी का सहारा लेना पड़ा।

द्वितीय युग (१८३५-७४)—सन् १८१८ में मदरास प्रेसीडेन्सी ने १८० ग्रेन का चाँदी का रुपया चलाया। १८२३ में इसी का पालन बम्बई प्रेसीडेन्सी ने किया और अन्त में १८३५ में यही रजत मुद्रा भारत में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के अधिकृत क्षेत्रों की पूर्ण वैध मुद्रा घोषित कर दी गई। इस प्रकार द्विधातवीय मुद्रा के कुछ प्रयोग करने के पश्चात् ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने रजत एकधातवीय मुद्रा-विधि को अपनाया। इसके अनुसार कोई भी आदमी टकसाल में अपनी चाँदी लेकर जाता और उसके १८० ग्रेन (११/१२ फाइन) के वजन वाली मुद्रायें ढलवा लाता। इसका कोई शुल्क न लिया जाता। परन्तु इसका तात्पय यह नहीं कि स्वर्ण-मुद्रा क्षेत्र से बिल्कुल ही हट गई थी। १८३५ के करेंसी कानून के अनुसार सोने की मुहरों आदि के ढालने का अधिकार था। १८४१ में कम्पनी सरकार ने १:१५ की दर से लेन-देन में सोने की मुहरें लेने की भी आज्ञा दे दी। इसी बीच १८४८ से लेकर १८४६ तथा आस्ट्रेलिया तथा कैलीफोर्निया की सोने की खानों के खोज से, सोने की पूर्ति और बढ़ गई। इस प्रकार टकसाल में सोना काफी हो गया और चाँदी को उसने अपने स्थान से हटा दिया। इस प्रकार देश में सोने की भरमार और चाँदी की कमी होने लगी। उधर यह कमी होती जा रही थी दूसरी ओर जनता की मुद्रा (द्रव्य) सम्बन्धी मांग बढ़ती जा रही थी, उस समय एक प्रकार से मुद्रा का अकाल सा ही फैल गया था। अमरीका आदि देशों से भी भारत में सोना काफी परिमाण में आ रहा था, यह सोना भारत से भेजी गई कपास के बदले में था, अतएव यहाँ की जनता और विशेषकर व्यापारी वर्ग सरकार से स्वर्ण प्रमाप (Gold Standard) की स्थापना की बड़ी मांग कर रहा था। अन्त में १८६४ की नवम्बर में सरकार ने गिन्नियाँ (सावरेन) लेना स्वीकार कर लिया। इसी बीच भारत की समस्त मौद्रिक समस्या का अध्ययन करने के लिये "मैंसफील्ड कमीशन" की स्थापना की गई थी। इस कमीशन ने सोने तथा चाँदी पर आधारित एक मुद्रा-प्रमाण की स्थापना का सुझाव दिया था। इस कमीशन ने १५, १० तथा ५ रुपये की मूल्यवाली स्वर्ण-मुद्राओं के परिचालन का भी सुझाव दिया था। परन्तु इस कमीशन के प्रतिवेदन पर सरकार ने कुछ भी ध्यान न दिया। १८७२ में सर रिचार्ड टेम्पल ने भी भारत में स्वर्ण-प्रमाप की स्थापना की सलाह दी परन्तु इसका भी कोई असर न हुआ। इस प्रकार यह प्रयोगात्मक काल भी बिना किसी सफलता के समाप्त हुआ।

तृतीय युग (१८७४-१८६३) - १८७३ ई० के बाद से चाँदी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में परिवर्त्तन होना प्रारम्भ हुआ, इसका भारतीय मौद्रिक तथा विनिमय पद्धति पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति के कारण समस्त विश्व में चाँदी के मूल्य में भारी गिराव हो गया। यूरोप के व्यापार तथा सरकारी बजट पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा, भारत सरकार भी इस प्रभाव से बची न रह सकी। धीरे-धीरे भारतीय रुपये के मूल्य में ह्रास होता चला गया। १८६२ में देश की इस विनिमय तथा मौद्रिक पद्धति का अध्ययन करने के लिए 'हरशेल' समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने भारतीय टकसालों में पहले की भाँति स्वतन्त्रतापूर्वक निःशुल्क रूप से रुपये के ढालने को बन्द कर देने का सुझाव दिया। हाँ सरकार अवश्य सोने के विनिमय के लिये १ शि० ४ पे० प्रति रुपया के हिसाब से रुपयों को ढलवा सकने का सुझाव दिया। इस प्रकार १८६३ के एक्ट (८) के साथ ही तीन और घोषणायें प्रकाशित कर दी गई जिसके अनुसार इन सुझावों को क्रियात्मक रूप प्रदान करने की व्यवस्था की गई।

चतुर्थ युग (१८६३-१६००)—सन् १८६८ में एक कानून पास किया गया जिसके अनुसार इङ्गलैंड में भारत सचिव द्वारा प्राप्त किए गए सोने पर प्रति एक रुपया ७·५३३४४ ग्रेन पक्के सोने की दर से पत्र-मुद्राओं के प्रचलन का अधिकार प्रदान किया गया। भारतीय पत्र-मुद्रा के सुरक्षित कोष के एक अंग के रूप में यह सोना बैङ्क आफ इङ्गलैंड में रखा जाने को था। इन १८६३

९८ तक के करेंसी सुधारों का मुख्य उद्देश्य भविष्य में रुपये के सोने वाले मूल्य के गिराव को रोकना, स्वर्ण उपयोग से भारतीयों को परिचित कराना, तथा १ शि० ४ पे० प्रति रुपया के अनुपात से रुपये तथा स्टर्लिङ्ग के अनुपात को स्थिर रखना था। इस प्रकार इन सभी सुधारों का मुख्य उद्देश्य भारत में स्वर्ण प्रमाप का प्रचलन करना था। १८९८ ई० में सरकार ने भारतीय मौद्रिक व्यवस्था पर अपने निश्चित विचार उपस्थित करने के लिये 'फाउलर समिति' (Fowler Committee) की नियुक्ति की गई।

'फाउलर' समिति, १८९८—फाउलर समिति ने करेंसी सुधार सम्बन्धी उन कई योजनाओं और प्रस्तावों पर विचार किया जो कि उसके समक्ष उपस्थित किए गए थे। इन प्रस्तावों में से एक प्रस्ताव वा उद्देश्य पुनः चाँदी की स्वतंत्रतापूर्वक मुद्रा ढालने की आज्ञा दे देना था। परन्तु यह प्रस्ताव इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया कि ऐसी व्यवस्था करने से भारतीय करेंसी की वही दशा हो जायगी जो कि १८७८-९३ में हुई थी। इसके अतिरिक्त लेजले प्रोबिन तथा श्री लिन्डसे महोदयों की भी योजनाएँ थीं। प्रोबिन ने एक प्रकार के स्वर्ण बुलियन-प्रमाप (Gold Bullion Standard) जो बाद में स्वर्ण विनिमय प्रमाप के नाम से प्रसिद्ध हुआ, की योजना उपस्थित की। समिति ने इन दोनों महोदयों की योजनाओं को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया कि जनमत इन योजनाओं के बहुत विरुद्ध है। इन योजनाओं के स्थान पर समिति ने स्वर्ण मुद्रा प्रमाप की स्थापना का समर्थन किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये समिति ने निम्नलिखित सुझाव पेश किये :—

(१) भारतीय टकसालों में ब्रिटेन वाले सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन बनने दिया जाय।

(२) ब्रिटिश सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन को वैध मुद्रायें घोषित कर दिया जाय जिससे उनका भारत में भी चलन हो जाय।

(३) विनिमय की दर स्थायी रूप से १ शि० ४ पे० स्थिर रखा जाय,

(४) रुपये को असीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा के रूप में जारी रखी जाय;

(५) सरकार को चाहिए कि स्वर्ण के बदले में रुपया देना जारी रखे;

(६) सरकार को स्वर्ण की पूर्ति के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए विशेषकर उस समय जब कि व्यापार का सन्तुलन भारत के विपक्ष में हो। इस पूर्ति की ओर और भी ध्यान रखना चाहिए; आदि।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि फाउलर समिति ने इस बात पर काफी जोर दिया कि एक निश्चित विनिमय प्रभाव युक्त स्वर्ण प्रमाप के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। फाउलर-समिति की प्रायः इन सभी बातों को सरकार ने स्वीकार कर लिया और उसको कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया।

स्वर्ण विनिमय प्रमाप का विकास-(Evolution of Gold Exchange Standard))—सरकार ने इन सभी प्रस्तावों को स्वीकार कर, उनको क्रियात्मक रूप प्रदान करने का विचार किया। सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन को कानून ग्राह्य सिक्का (Legal Tender) बना दिया गया, एक पौण्ड पन्द्रह रुपये के बराबर कर दिया गया। भारत में स्वर्ण-मुद्रा बनाने के लिए एक टकसाल खोलने का प्रयत्न किया गया, परन्तु १९०२ में यह योजना स्थगित कर दी गई, इसका मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश ट्रेजरी ने कुछ कठिनाइयाँ खड़ी कर दी थीं। १९०० में स्वर्ण-प्रमाप-सुरक्षित कोष की भी स्थापना हो गई। फाउलर समित के सुझावों को कार्य रूप में परिवर्तित करने के लिए करेंसी कार्यालयों से यह कहा गया कि जहाँ तक हो सके जनता को सावरेन दिए जाँय, परन्तु इसका परिणाम कोई अच्छा न निकला। दुर्भिक्ष आदि के कारण देश में रुपये की माँग बहुत बढ़ गई इसके अतिरिक्त अन्य कोई और माध्यम भी नहीं था जिससे कि

इस मांग की पूर्त्ति हो जाती। इस अभाव को देखकर १९०० ई० में एक अच्छे पैमाने पर सरकार ने रुपयों को फिर से ढलवाना प्रारम्भ कर दिया, १८९८ का कानून दो वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया। जहाँ तक स्वर्ण सुरक्षित-कोष का सम्बन्ध है उसका निर्माण रुपयों के गढ़ने से होने वाले लाभ द्वारा किया गया। पहले भारत सरकार का ऐसा विचार था कि भारत में ही इस सोने को विशेष पेटी में सुरक्षित रखने का विचार था परन्तु भारत सचिव ने यह तय किया कि इसे लन्दन भेज दिया जाय और वहीं इसे स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में विनयोजित कर दिया जाय। इस सम्बन्ध में यह कहा गया कि लन्दन में इसका अच्छा उपयोग हो सकेगा और आवश्यकता के समय इससे अच्छी सहायता ली जा सकेगी।

इस प्रकार रुपयों के गढ़ने से जो लाभ होता उसे लन्दन भेज दिया जाता, वहाँ उसे सुरक्षित रखा जाता। इसे स्वर्ण-प्रमाण सुरक्षित कोष (Gold Standard Store) कहा जाता था। इस रूप में लन्दन में स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष तथा पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की स्थापना की गई। १९०६ ई० में स्वर्ण-प्रमाप-सुरक्षित कोष की भारतीय शाखा की भी स्थापना की गई जो कि यहाँ रुपये वाले सिक्कों के रूप में सुरक्षित रखा जाना था। उस समय स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष इन्हीं लन्दन और भारत में स्थित कोषों को कहा जाता था। इसी बीच एक नवीन पद्धति का और जन्म हुआ। भारत से लन्दन को जहाज में लादकर सोने का भेजना ठीक नहीं समझा गया, इस सम्बन्ध में कहा गया कि व्यर्थ में ही वहाँ भेजने का व्यय बढ़ाया जाता है। यदि भारत में रुपयों के विनिमय के रूप में लन्दन में ही स्वर्ण ले लिया जाता है तो इस व्यय को रोका जा सकता है।

अतएव १९०४ में सेक्रेटरी आफ स्टेट ने कौंसिल बिलों को १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पेंश की दर से विक्रय कर देने की इच्छा प्रकट की। इसी बीच लन्दन में इन्हीं अग्रिमों से रजत का क्रय करके उसके रुपये गढ़ने के लिए भारत भेजा गया। परन्तु अब भी मिश्र तथा आस्ट्रेलिया से कुछ सोना भारत आता और उसको पुनः लन्दन भेजा जाता। १९०५ में इस व्यय को भी दूर कर दिया गया। इस प्रकार रुपये-स्टर्लिंग विनिमय की घटा-बढ़ी की ऊपरी सीमा १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पे० के हिसाब से निश्चित हो गई। जब तक सेक्रेटरी की कौंसिल बिलों को उस मूल्य पर बेचने की इच्छा थी तब तक विनिमय की दर में इस बिन्दु से ऊपर कोई वृद्धि नहीं हो सकती थी। परन्तु साधारणतया जब तक भारत का व्यापारिक सन्तुलन पक्ष में था तब तक ऐसा नहीं हो सकता था। परन्तु १९०७ में संसार की मौद्रिक स्थिति तथा देश में जल-वृष्टि न होने के कारण यह घटना आ घटी और भारतीय विनिमय पर बड़ा आघात पहुँचा। २३ नवम्बर को यह १ शि० ३$\frac{2}{3}\frac{9}{2}$ पेंस हो गया। यह स्थिति तब तक नहीं सुधरी जब तक कि भारत सरकार ने तार द्वारा होने वाले आदान-प्रदानों को बेचना स्वीकृत न किया। इन सब बातों के परिणाम स्वरूप एक नवीन पद्धति का जन्म हुआ जिसे साधारणतया स्वर्ण विनिमय प्रमाप (Gold Exchange Standard) कहते हैं।

इस नवीन पद्धति की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :—

(१) रुपए को स्वर्ण में केवल बाहरी कार्यों के लिए ही परिवर्त्तित किया जा सकता था जिसकी दर एक रुपए की सोलह पेंस थीं।

(२) आन्तरिक करेंसी में रुपए तथा पत्र-मुद्राएं थीं। इसके अतिरिक्त कुछ सहायक सिक्के थे सीमित राशि में सावरेन का भी प्रचलन था।

(३) रुपये का स्टर्लिंग (स्वर्ण) मूल्य १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पें० तथा १ शि० ३$\frac{2}{3}\frac{9}{2}$ पें० के बीच नियंत्रित करने की व्यवस्था की गई।

(४) इस पद्धति की पूर्ति के लिए दो सुरक्षित कोष एक इंगलैण्ड तथा दूसरा भारत में रखा गया।

लन्दन सुरक्षित कोष में (अ) पत्र-मुद्रा की लन्दन वाली शाखा, (ब) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष (स) सेक्रेटरी आफ स्टेट के सन्तुलन। भारतीय सुरक्षित कोष में (क) पत्र करेंसी सुरक्षित कोष (Paper Currency Reserve) का भारतीय हिस्सा, (ख) सरकारी ट्रेजरी बैलेन्स, (ग) स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष की रजत शाखा। ये सुरक्षित कोष विभिन्न कार्यों की पूर्त्ति के लिए निर्मित किए गए थे परन्तु वास्तव में बात यह थी आवश्यकता होने पर विनिमय की सहायता के लिए इनसे काम ले लिया जाता था। प्रथम विश्व युद्ध तक यह पद्धति सुगमतापूर्वक चलती रही, युद्ध प्रारम्भ होने पर इसका अन्त हो गया।

चेम्बरलेन कमीशन—१६१३ की अप्रेल में चेम्बरलेन कमीशन की नियुक्ति की गई। इस कमीशन के अध्यक्ष श्री आस्टिन चेम्बर लेन महोदय थे। कमीशन का कार्य भारतीय मौद्रिक पद्धति का अध्ययन कर, उसके विकास के सम्बन्ध में सुझाव उपस्थित करना था। कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में (फरवरी १६१४ में) सरकार द्वारा विनिमय को स्थिर करने वाले कार्यों का समर्थन किया। उनका इस सम्बन्ध में दृढ़ विचार था कि भारत में स्वर्ण विनिमय-प्रमाप भारत के लिए अत्यन्त उपयुक्त तथा आवश्यक है। भारतीय जनता में संचयन की मनोवृत्ति अधिक होने के कारण उन्होंने फाउलर समिति के स्वर्ण मुद्रा युक्त स्वर्ण प्रमाप का समर्थन नहीं किया। उनका कहना था कि यदि भारतीय जनता चाहती है और सरकार व्यय सहन कर सकती है तो भारत में सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन के निर्माण में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कमीशन ने लन्दन में स्वर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रखने के महत्व पर बड़ा जोर दिया। परन्तु इसके पूर्व कि इस कमीशन के सुझावों पर पूर्ण रूप से विचार किया जाता, प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया।

स्वर्ण विनिमय-प्रमाप का अन्त—अगस्त १६१४ में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ। युद्ध के प्रारम्भ होने पर जैसा कि लोगों में प्रायः हुआ करता है, अशान्ति फैल गई, लोगों में विश्वास की भावना घटने लगी, लोग बैङ्कों से अपनी धरोहर या अमानतें निकालने लगे तथा नोटों के बदले में नकदी मांगने लगे। परन्तु सरकार ने स्थिति को बड़ी अच्छी तरह सँभाला। सरकार ने सेविंग बैङ्क से अमानतों को निकालने तथा नोटों को बदलवाने की अच्छी सुविधाएँ प्रदान करके जनता में अविश्वास की भावना नहीं फैलनी दी। सन् १६१६ में स्थिति फिर बिगड़ गई। इस समय देश में चाँदी की मुद्राओं या रुपयों की मांग बढ़ रही थी, दूसरी युद्ध-जन्य स्थितियों के कारण चाँदी का भाव भी उठ रहा था, इस समय सरकार विनिमय के स्थायित्व को स्थिर न रख सकी। रुपये की इस अधिक मांग होने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) आयात से निर्यात का अधिक होना, इस समय युद्ध के कारण जलयानों आदि के प्राप्त होने में बड़ी कठिनाई हो रही थी, दूसरे ग्रेट ब्रिटेन तथा मित्र राष्ट्र युद्ध के लिए सामग्रियाँ खरीद रहे थे। इससे आयात में कमी हुई और निर्यात में वृद्धि।

(२) युद्ध जन्य अवरोधों के कारण चाँदी का आयात नहीं किया जा सकता था, इससे रुपए के अभाव सम्बन्धी कठिनाई और भी बढ़ती गई।

(३) युद्ध के पूर्वीय क्षेत्र पर लड़ने वाले सैनिकों की माँगों की पूर्त्ति के लिए मुद्रा की और भी आवश्यकता थी।

इन सब कारणों से देश में रुपये का बड़ा अभाव हो गया। सरकार को बढ़ती हुई कीमतों पर चाँदी खरीदनी पड़ी। २७ पेंस प्रति औंस से लेकर १६१६ में चाँदी का भाव ४३ पेंस प्रति औंस हो गया, १६२० में ८६ पेंस प्रति औंस के हिसाब से इसका भाव चढ़ गया। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि चाँदी की पूर्त्ति के अभाव के कारण तथा उसकी मांग अधिक बढ़ जाने के कारण और डालर के रूप में स्टर्लिंग का मूल्य ह्रास हो जाने के कारण, चाँदी का भाव काफी चढ़ गया था।

चाँदी के मूल्य में इस वृद्धि का भारतीय विनिमय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। भारत में लोग रुपये को गलाकर उसकी चाँदी को बेंच कर काफी लाभ उठाने लगे। इसलिए सरकार के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह इस बढ़े हुए मूल्य पर चाँदी खरीदे और एक शिलिंग चार पेंस के हिसाब से रुपयों की पूर्ति करे, ऐसा करने में उसे काफी हानि उठानी पड़ती, दूसरे जैसा कि हम अभी कह चुके हैं कि रुपए बाजार में दिखलाई भी नहीं पड़ते थे लोग उन्हें गला-गलाकर चाँदी बना रहे थे।

ऐसी स्थिति में सरकार ने यह घोषित कर दिया कि जैसा चाँदी का मूल्य होगा, उसी हिसाब से रुपए के मूल्य का भी निर्धारण होगा, यह एक प्रकार से रजत-प्रमाप का पुनर्परिचालन था। सेक्रेटरी आफ स्टेट ने (२८ अगस्त १९१७ को) तार द्वारा होने वाले आदान-प्रदानों (Telegraphic Transfers) की दर भी १ शि० ४½ पेंस से उठाकर १ शि० ५ पेंस कर दी। बाद में इस दर में समय-समय पर और वृद्धि होती रही, ११ अगस्त १९१९ को यह दर २ शि० ४ पेंस तक पहुँच गई।

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त सरकार कुछ स्थिति को सुधारने के लिए कुछ अन्य उपायों को भी प्रयोग में लाई। ये उपाय ये हैं :—

(१) गैर-सरकारी लोगों के लिए चाँदी के आयात की बन्दी कर दी गई, उधर सरकार ने मुद्राओं के गढ़ने के हेतु विशाल परिमाण में अमरीका में चाँदी की खरीद की।

(२) सरकार ने २० दिसम्बर १९१६ से कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री को भी सीमित कर दिया।

(३) आयात होने वाले सभी सोने की खरीद सरकार करने लगी और उसे पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष में सुरक्षित रखकर नोटों को परिचालित करती रही।

(४) अमौद्रिक कार्यों के लिये सोने तथा चाँदी का उपयोग अवैध घोषित कर दिया गया।

(५) बुलियन तथा रजत-मुद्रा के निर्यात को बन्द कर दिया गया।

(६) ढाई तथा एक रुपये के नोट चालू कर दिये गये।

(६) इसके अतिरिक्त अतिरिक्त-कर, बड़े-बड़े खर्चों को बन्द करके भी मुद्रा सम्बन्धी इस कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न किया।

इन सब प्रयत्नों के बावजूद भी विनिमय को एक कृत्रिम स्तर पर रखने में असफल रही और इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय प्रमाप का अन्त हो गया।

स्मिथ समिति—जब युद्ध समाप्त हो गया तो मौद्रिक स्थिति को व्यवस्थित करने के लिए और भी प्रयत्न किये गये। १९१९ की मई में सर हेनरी बेबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किये :—

(१) रुपये को बिना किसी प्रकार का उसके वजन इत्यादि में परिवर्त्तन किये उसे असीमित वैधानिक मुद्रा (Legal Tender) बना रहने दिया जाय।

(२) रुपये का विनिमय मूल्य दो शिलिंग स्वर्ण रहने दिया जाय।

(३) १० रुपया प्रति सावरेन के हिसाब से भारत में सावरेन को भी असीमित कानून ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender) के रूप में माना जाय।

(४) जैसे ही रुपये तथा सावरेन बीच में नवीन अनुपात का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया जाता है तब से स्वर्ण के आयात तथा निर्यात पर से नियंत्रण बिल्कुल हटा लिया जाय। बम्बई में सोने के सिक्के ढालने के लिये टकसाल स्थापित की जाय।

(५) चाँदी के आयात तथा निर्यात की रुकावटों को भी हटा दिया जाय तथा जब सरकार की स्थिति ठीक हो जाय तो चाँदी पर से आयात-कर भी उठा लिया जाय।

स्मिथ समिति का सबसे प्रधान सुझाव रुपये के विनिमय मूल्य से सम्बन्धित था। समिति का कथन था कि चाँदी के मूल्य में इस प्रकार की वृद्धि हो जाने से उस १ शि० ४ पे० की पुरानी दर से रखना सम्भव नहीं है। अतएव समिति ने यह निश्चय किया कि उस समय रुपये के प्रचलित मूल्य को जो कि २ शि० स्वर्ण के लगभग था, जारी रखा जाय। समिति ने यह निष्कर्ष काफी सोच-समझ कर निकाला था। उसका कथन था कि विनिमय की इस ऊँची दर से वस्तुओं के मूल्य में काफी गिराव होगा जिससे उपभोक्ताओं को काफी लाभ मिलेगा। इससे उत्पादकों को भी लाभ मिलेगा क्योंकि उन्हें विदेशी माल रुपये के हिसाब से कुछ सस्ते रूप में प्राप्त हो जायगा। ऊँची विनिमय दर से सरकार को भी अच्छा लाभ मिलेगा।

श्री डी० एम० दलाल महोदय जो कि इस समिति में एक मात्र भारतीय सदस्य थे, रुपये के दो शिलिंग वाले विनिमय मूल्य की कड़ी आलोचना की। परन्तु सरकार ने इस ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। सन् १९२० की दो फरवरी से रुपये के नवीन अनुपात को व्यहृत किया गया। इसके अनुसार सोने की कीमत १५।।।=) तोला थी जब कि बाजार में सोने का वास्तविक मूल्य २२।) तोला था। इसलिये सरकार को दो शिलिंग (स्वर्ण) की दर से स्टर्लिङ्ग की पूर्ति करना असम्भव हो गया। व्यापारिक सन्तुलन भारत के विपक्ष में चले जाने के कारण स्टर्लिङ्ग की माँग भी बढ़ गई, दूसरे इस समय विनिमय में सट्टा बड़े जोरों से होने लगा। लाभ कमाने के लालच से रुपयों को स्टर्लिङ्ग में बदलने लगे। यूरोपियनों ने भी इस नई दर से अच्छा लाभ उठाया, माल के आयात करने वालों ने इस अवसर को नहीं खोया। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी लोगों ने इस विनिमय की दर का दुरुपयोग करने में कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़ी। स्वर्ण के रूप में स्टर्लिङ्ग के मूल्य-ह्रास हो जाने के कारण सरकार को दो शिलिंग से अधिक देना पड़ता था। पहले सरकार ने दो शि० स्वर्ण की दर से विनिमय की दर स्थिर रखनी चाही किन्तु इस सबका कुछ भी परिणाम न निकला। उसे काफी हानि उठानी पड़ी। विनिमय की दर में धीरे-धीरे गिराव होता गया, यहाँ तक कि जुलाई १९२१ में वह ११$\frac{3}{16}$ पेंस स्वर्ण या १ शिलिंग ३$\frac{5}{32}$ पेंस स्टर्लिङ्ग रह गई। इसका प्रभाव भारत के विदेशी व्यापार पर गहरा पड़ा।

अब इस समय सरकार ने विनिमय को विश्व स्थिति के अनुरूप नियन्त्रित होने के लिये छोड़ दिया। सन् १९२३ की जनवरी से विनिमय में पुनः वृद्धि होने लगी। १९२४ ई० की अक्तूबर में यह १ शि० ४ पें० स्वर्ण या १ शि० ६ पें० स्टर्लिङ्ग पहुँच गई। इस समय सरकार से इस दर के स्थायित्व के लिये काफी जोर दिया गया, परन्तु सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। १९२५ की अप्रैल में १ शि० ६ पेंस स्वर्ण की दर से यह अनुपात स्थिर कर दिया। इसके कुछ ही महीनों बाद शाही कमीशन (Royal Commission) की नियुक्ति की गई, जिसने इस समस्या का अच्छा अध्ययन किया।

विशेष वक्तव्य—हम ऊपर कह चुके हैं कि सरकार की ऊँची विनिमय दर सम्बन्धी नीति से देश को काफी हानि उठानी पड़ी। भारतीय जनता द्वारा सरकार की इस नीति की काफी आलोचना की गई। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इस समय चाँदी का भाव काफी चढ़ा हुआ था, स्टर्लिङ्ग डालर का भी भाव ऊँचा ही था।। इसलिये ऐसी स्थिति में सरकार को कोई भी निश्चित कदम उठाने के लिये शीघ्रता न करनी चाहिये था। फिर यह बात बिल्कुल ही स्पष्ट थी कि युद्ध के बाद आयात में निश्चित रूप से वृद्धि होगी, निर्यात कम होगा। इन सब के परिणामस्वरूप स्टर्लिङ्ग की माँग बढ़ने में भी कोई संदेह नहीं था।

अतएव अधिकारियों को यह भलीभांति समझ लेना चाहिये था कि उनकी ऊँची दर वाली यह योजना सफल नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में यदि विनिमय को अपना स्तर प्राप्त कर लेने के लिये

छोड़ दिया जाता तो वह बाद में कुछ निम्नतर स्तर पर स्थिर हो जाता और देश का व्यापार इतना असन्तुलित न हो पाता जितना कि हुआ। सरकार ने विनिमय की इस दर को लगाकर तो एक भारी भूल की ही थी, साथ ही उसने सबसे बड़ी भूल उसको जारी रख कर की।

प्रश्न उठता है कि आखिर सरकार इस ऊँची विनिमय दर के पीछे क्यों पड़ी रही ? इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल साधारण सा है। ब्रिटिश सरकार अपने हितों की पूर्ति के लिये भारत के हित-अहित की विशेष चिन्ता नहीं करती थी। उसका उद्देश्य भारत के लिये अधिक से अधिक यातायात को प्रोत्साहन प्रदान करना था और यह कार्य भारतीय रुपये की अंगरेजी मुद्रा के हिसाब से मूल्य बढ़ा देने से काफी सुगम हो गया। उधर ब्रिटेन इस दर से लाभ उठा रहा था और भारत को काफी हानि सहनी पड़ रही थी। सरकार की इस नीति से अधिक आयात से भारत के उद्योग-धन्धों को काफी हानि उठानी पड़ी, भारत ने युद्ध के समय जो माल मित्र राष्ट्रों को भेजा वह 'स्टर्लिङ्ग क्रेडिट' के रूप में मिला, विनिमय की दर को एकदम से गिरा देने के कारण भारत में माल आयात करने वालों को काफी आर्थिक हानि हुई। इस प्रकार सरकार की इस नीति से ब्रिटेन को भले ही लाभ हुआ हो किन्तु भारत को उससे हानि ही हुई। इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश अगले परिच्छेद में डालेंगे।

स्वर्ण-विनिमय प्रमाप—जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि भारत को स्वर्ण-विनिमय प्रमाप की इस ऊंची दर से अनेक हानियाँ उठानी पड़ी, लंदन में स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) में ३५ करोड़ रुपया का घाटा हुआ, इन सब कारणों से सरकार ने भविष्य में इस दर को त्याग देने का निश्चय किया। २५ अगस्त १६२५ को लेफ्टीनेन्ट कमान्डर हिल्टन यंग की अध्यक्षता में, भारतीय मौद्रिक व्यवस्था की जाँच के लिए 'शाही कमीशन' (Royal Commission) की नियुक्ति की गई। इस कमीशन के मुख्य तीन कार्य थे :—

(१) भारत के लिये सर्वोत्तम मौद्रिक पद्धति के सुझाव देना ;

(२) स्टर्लिङ्ग तथा रुपये के अनुपात के सम्बन्ध में सुझाव देना;

(३) एक केन्द्रीय बैङ्क की स्थापना के लिये सुझाव देना।

इस कमीशन की रिपोर्ट ४ अगस्त १६२६ को प्रकाशित हुई। भारत के लिये किसी निश्चित और स्थायी मौद्रिक पद्धति के सम्बन्ध में परामर्श देने के पूर्व उसने तात्कालीन मौद्रिक पद्धति की जाँच की, और उसके निम्नलिखित दोष बतलाए :—

(१) यह पद्धति बड़ी पेचीदी है, और साधारण आदमी इसे आसानी से समझ नहीं सकता है। करेंसी में दो सांकेतिक मुद्रायें—रुपये तथा रुपयों वाले नोट—हैं, साथ ही पूरे मूल्य का एक तीसरा सिक्का (सावरेन) भी प्रचलित है जिसकी कोई आवश्यकता नहीं। इनमें से एक प्रकार की सांकेतिक मुद्रा (रुपये) काफी व्यय साध्य हैं और यदि चाँदी के मूल्य में वृद्धि होती है तो यह सिक्का क्षेत्र से लापता भी हो सकता है।

(२) सुरक्षित कोषों का व्यर्थ का दुहराव है। स्वर्ण प्रमाप, पत्र मुद्रा तथा बैंकिंग ये तीन प्रकार के सुरक्षित कोष (रिजर्व) हैं, जिनमें करेंसी तथा साख के नियंत्रण का उत्तरदायित्व बड़े अव्यवस्थित ढंग से विभाजित है। यह उत्तरदायित्व अन्य देशों में केन्द्रीय बैङ्क के हाथ में रहता है।

(३) इस पद्धति से मुद्रा का न तो स्वतः विस्तरण ही होता है और न संकुचन को ही सहायता प्राप्त होती है।

(४) इस पद्धति में लोचकता का अभाव है।

इसके अतिरिक्त कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में कुछ अन्य दोषों का भी उल्लेख किया था। जब कमीशन को यह निश्चय हो गया कि वर्तमान पद्धति में कई दोष हैं और इसका परिवर्तन करना अत्यन्त अनिवार्य है तो उसने स्वर्ण-बुलियन-प्रमाप (Gold Bullion Standard) की

स्थापना का सुझाव दिया। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व उसने स्वर्ण-विनिमय-प्रमाप तथा स्वर्ण-मुद्रा-युक्त स्वर्ण-प्रमाप के स्थापित करने पर भी काफी विचार किया था किन्तु इसे उसने अच्छा न समझा। कमीशन ने कहा कि हमारे मौद्रिक सम्बन्धी जितने भी दोष हैं वे सब स्वर्ण बुलियन प्रमाप के चलन से दूर हो जायँगे। अतएव कमीशन के सुझावों के अनुसार इस नवीन पद्धति की स्थापना की गई। इस पद्धति की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित थीं :—

(१) करेंसी अथारटी (प्रस्तावित रिजर्व बैङ्क) को स्वर्ण का निश्चित दर पर क्रय-विक्रय करना था जो कि राशि में १,०६५ तोला (४०० पक्के औंस) से कम न हो। स्वर्ण की बिक्री की व्यवस्था इस प्रकार की जाने को थी कि साधारणतया करेंसी अथारटी को अमौद्रिक कार्यों के लिये स्वर्ण की पूर्ति करने की आवश्यकता नहीं थी।

(२) रुपयों को पूर्ण रूप से कानून-ग्राह्य सिक्का घोषित किया गया, परन्तु सावरेन और अर्द्ध-सावरेन को हटा दिया गया।

(३) जनता को तीन या पाँच साल के सरकारी सेविंग सार्टीफिकेट देना जिसकी रकम वह सोने या रुपयों में दे सकती थी। इस व्यवस्था का उद्देश्य नवीन पद्धति के प्रति लोगों के विश्वास को जागृत करना था।

(४) उस समय प्रचलित करेंसी नोटों के रुपये भुनाने की सुविधा बराबर दी जाती रही।

(५) एक रुपये वाले नोटों को परिचालित किया गया जो कि पूर्ण रूप से कानून ग्राह्य सिक्का (Legal Tender) थे परन्तु उन्हें रुपये वाले सिक्कों में नहीं बदला जा सकता था।

(६) स्वर्ण-प्रमाप तथा पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोषों को एक ही में मिलाया जाना।

ऊपर हमने इस नवीन पद्धति की विशेषताओं पर विचार किया। इस पद्धति के सम्बन्ध में कहा गया कि इससे कई लाभ होंगे।

(१) सर्वप्रथम इस पद्धति से विनिमय की स्थिरता को बड़ी भारी सहायता पहुँचेगी।

(२) यह पद्धति सुगम, सरल एवं निश्चित है और इससे जनता में विश्वास की भावना उत्पन्न होगी।

(३) सस्ता सोना सुरक्षित रहेगा और उसका परिचालन नहीं होगा।

(४) जब पर्याप्त मात्रा में सोना एकत्रित हो जायगा तो इससे भविष्य में स्वर्ण-मुद्रा के परिचालन में सहायता प्राप्त होगी।

(५) जब रुपयों तथा नोटों के विनिमय में स्वर्ण प्रदान किया जाने लगेगा तो इससे मुद्रा के स्वतः विस्तरण में सहायता पहुँचेगी और जब स्वर्ण के विनिमय में नोट तथा रुपया दिया जायगा तो उसके संकुचन की वृद्धि होगी।

यह तो रही स्वर्ण-बुलियन के पक्ष में कुछ बातें, इसके अतिरिक्त इसमें कुछ दोष भी थे जिनकी जनता ने कड़ी आलोचना की थी। इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह था कि केवल बड़े-बड़े सर्राफ या अन्य धनी व्यक्ति ही ४०० औंस राशि के स्वर्ण को खरीद सकते थे, साधारण आदमी के मान की बात नहीं थी। ये व्यक्ति भी साधारणतया करेंसी अथारटी से सोना लेना लाभकारी समझते थे। करेंसी अथारटी से सोना लेने में तभी लाभ था जब कि किसी विदेशी रकम का भुगतान करना हो। इस प्रकार यह कहा गया कि स्वर्ण विनिमय पद्धति तथा कमीशन द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण बुलियन प्रमाप में कोई विशेष अन्तर नहीं है। भारतीय जनता स्वर्ण मुद्रा युक्त एक पूर्ण स्वर्ण प्रमाप की स्थापना चाहती थी। इस बात का समर्थन कई अन्य विद्वानों ने भी किया था।

मौद्रिक अनुपात का प्रश्न—मौद्रिक प्रमाप की समस्या को हल कर लेने के पश्चात् करेंसी कमीशन ने विनिमय की स्थिरता सम्बन्धी समस्या पर विचार किया। कमीशन ने १ शि० ६ पै०

इसमें कई दोष थे, इन पर कमीशन ने प्रकाश भी डाला था। नोटों का रुपये वाले सिक्कों में बदलने की व्यवस्था, सुरक्षित कोषों का दुहरावा तथा साख नियंत्रण से करेंसी का अलग किया जाना आदि कुछ मुख्य दोष थे। प्रमाप वाली यह नवीन पद्धति बहुत दिनों तक न चल सकी। १६३१ की सितम्बर में ग्रेट ब्रिटेन को कुछ कारणों से स्वर्ण-प्रमाप स्थिर कर देना पड़ा। इसका भारत की माद्रिक तथा विनिमय सम्बन्धी स्थिति पर भी गहरा प्रभाव पड़ा।

सन् १६२७ के करेंसी कानून के अनुसार सरकार ने स्वर्ण का क्रय किया था और १६ सितंबर तक निम्नतर स्वर्णविन्दु (Lower gold Point) पर स्टर्लिंग की बिक्री की थी। जब ब्रिटेन की स्वर्ण प्रमाप को समाप्त कर देने की बात का समाचार मिला तब गवर्नर जनरल ने १६२७ के करेंसी कानून के पाँचवें अनुच्छेद को समाप्त कर देने के लिये अध्यादेश जारी किया। उसी दिन लन्दन में सेक्रेटरी आफ स्टेट ने गोलमेज परिषद की उपसमिति को रुपये की १ शि० ६ पेंस की दर चालू करने के निश्चय की सूचना दी। अतएव २४ सितम्बर को पहले वाले अध्यादेश को वापस लेने के हेतु एक दूसरे अध्यादेश को पास किया गया। इसके अनुसार १६२७ का करेंसी कानून पुनः पूर्णरूप से स्थित रहा, साथ ही सरकार को कुछ विशेष कार्यों के लिये स्वर्ण या स्टर्लिंग के बेचने का अधिकार दिया गया। इम्पीरियल बैंक को कुछ मुख्य कार्यों के लिये विनिमय माध्यम वितरित करने का अधिकार रहा।

इस प्रकार भारतीयों के विरोध करने के बावजूद भी रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया। इस सम्बन्ध का एक परिणाम यह हुआ कि स्टर्लिंग के साथ स्वर्ण तथा अमरीका फ्रान्स आदि देशों के सिक्कों की तुलना में रुपये के मूल्य का ह्रास होने लगा। देश से सोना बाहर जाने लगा। सरकार ने इस बात को रोकने के लिये कुछ भी प्रयत्न न किया।

सरकार की इस सम्बन्ध में जो नीति रही है उसकी निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है :—

(१) रुपये को बजाय स्वर्ण के स्टर्लिंग से सम्बन्धित करना।

(२) १ शि० ६ पेंश के अनुपात को रखना।

(३) स्वर्ण का विदेशों को प्रवाह।

हम यहाँ इन पर कुछ विशेष प्रवाह डालेंगे।

रुपया और स्टर्लिंग ऊपर जैसा कि हम कह चुके हैं कि सरकार ने रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित किया और इस सम्बन्ध में उसने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये थे :—

(१) सरकार का कथन था कि एक ऋणी के रूप में भारतीय रुपये को ऐसे ही छोड़ देना अच्छा नहीं होगा।

(२) भारत का स्टर्लिंग पर इंगलैंड तथा कुछ अन्य देशों के साथ खासा अच्छा व्यापार है, इसलिये इस व्यापार को स्थायी रखने के लिये यह आवश्यक है कि उसे किसी स्थिर आधार पर आधारित किया जाय।

(३) स्वर्ण के हिसाब से रुपये के मूल्य ह्रास से भारत के स्वर्ण प्रमाप व ले देशों के साथ होनेवाले निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा।

(४) उस समय भारत के ऊपर ३५,०००,००० पौंड स्टर्लिंग ऋण, तथा ३२,०००,००० अन्य देनी थी। यदि रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित न किया जाता तो देनताओं (Payments) के लिये धन का प्राप्त होना कठिन हो जाता।

यदि सरकार स्टर्लिंग से भारतीय रजत-मुद्रा को सम्बन्धित न करती तो उसके लिये केवल दो ही और रास्ते थे, या तो स्वर्ण-प्रमाप को अपनाया जाय अथवा एक स्वतन्त्र प्रमाप को अपनाया

जाय। भारत चिरकाल तक स्वर्ण-प्रमाप को स्थिर नहीं रख सकता, केवल अमरीका जैसा देश ही अपने असाधारण सुरक्षित स्वर्ण-कोष से ऐसा कार्य करने में सफल हो सकता था। ऐसे समय में जब कि स्वर्ण के लिये काफी माँग थी रुपये का स्वर्ण में परिवर्तित करना सम्भव नहीं था। अपस्फीति से मन्दी में और वृद्धि होती। इसके अतिरिक्त जब तक स्वर्ण के रूप में स्टर्लिंग का मूल्य-ह्रास होता तब तक स्वर्ण के रूप में रुपये के निश्चित अनुपात का प्रभाव स्टर्लिंग पर बड़ा बुरा पड़ता। स्टर्लिंग वाले देशों से हमारा व्यापार बिगड़ जाता। जहाँ तक स्वतन्त्र स्वर्ण-प्रमाप का प्रश्न है, यह कहा नहीं जा सकता कि भारत एक ऋणी देश के रूप में इसको व्यवस्थित करने में सफल हो पाता अथवा नहीं।

इसके विपरीत रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित करने का विरोध करनेवाले लोगों का कहना था कि रुपये को स्टर्लिंग के साथ सम्बन्धित करके भारत को स्टर्लिंग की घटा-बढ़ी में एक प्रकार का साझीदार सा बना दिया। भारत एक अपने उपयुक्त विनिमय की दर को अपनाने से वंचित रखा गया। दूसरे यद्यपि भारत का स्वर्ण-प्रमाप वाले देशों के साथ होने वाला निर्यात-व्यापार अवश्य बढ़ता, उसे अवश्य प्रोत्साहन मिलता और मिला, किन्तु इससे इन देशों से आने वाले आयात में कमी होती जब कि इंगलैंड को भारतीय बाजार में एक प्रकार से 'इम्पीरियल प्रिफरेन्स' सा मिलता रहा। तीसरे इन लोगों का कहना था कि इससे भारत पुनः स्वर्ण प्रमाप की स्थिति में आ जायगा। इसके अतिरिक्त आलोचकों का कथन था कि स्वर्ण के रुपये वाले मूल्य में वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप स्वर्ण-निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा। वास्तव में आलोचकों का कथन सत्य ही निकला। स्टर्लिंग से सम्बन्धित होने के कारण भारत को कई हानियाँ उठानी पड़ीं। भारत के विदेशी व्यापार की गतिविधि बदल गई, उस भीषण मन्दी के समय देश की दशा और भी खराब रही। इस प्रकार रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध स्थापित होने के परिणामस्वरूप भारत का भविष्य स्टर्लिंग वाले देशों के भाग्य के साथ सम्बद्ध हो गया।

स्वर्ण-निर्यात—(The Export of gold)—१६३१ से रुपए के स्टर्लिंग से सम्बन्धित होने के बाद से भारत से विशाल परिमाण में सोने का निर्यात होने लगा। ३१ वर्षों में १६००-०१ से लेकर १६३०-३१ में भारत ने कुल ५४७ करोड़ रुपये से ऊपर के ही सोने के सिक्कों तथा बुलियन का आयात किया था, जब कि केवल नौ वर्षों में १६३१-३२ से लेकर १६३६-४० तक ३८२ करोड़ से ऊपर की कीमत के स्वर्ण-बुलियन देश से बाहर चले गए। इस स्वर्ण-निर्यात ने उस समय रुपए और स्टर्लिंग की विनिमय दर स्थिर करने में काफी महत्वपूर्ण कार्य किया जब कि भारत के सामान्य अतिरिक्त निर्यात का एक प्रकार से अन्त हो चुका था। स्वर्ण के रूप में स्टर्लिङ्ग का मूल्य ह्रास हो रहा था और उधर रुपया स्टर्लिंग से सम्बन्धित था। अतएव धीरे-धीरे स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि होने लगी। स्वर्ण की इस असाधारण मूल्य वृद्धि से लोगों ने सोना बेचना खूब शुरू कर दिया। वे लोग जिनको कि आर्थिक कठिनाई थी उन्होंने ऐसे अवसर से और भी लाभ उठाया।

जब स्वर्ण का निर्यात इस रूप में होने लगा तो भारतीय जनता ने इसका कड़ा विरोध करते हुए सरकार से इसको रोकने का आग्रह किया। परन्तु सरकार ने इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया, उल्टे उसने इसका बचाव करते हुए कहा कि (१) स्वर्ण निर्यात किसी देश के व्यापार का आवश्यक अंग होता है, कोई असाधारण बात नहीं है, (२) स्वर्ण के निर्यात से सरकार की साख अच्छी हुई है, उसे विनिमय को स्थिर रखने में सहायता पहुँची है, इससे सरकार को १५० लाख पौण्ड के स्टर्लिंग ऋण को अदा करने में मदद प्राप्त हुई है, (३) स्वर्ण के निर्यात से भारत के सार्वजनिक कोष (Public reserves) की शक्ति बढ़ी है, (४) स्वर्ण की बिक्री से कठि-

नाई के समय में कृषकों को अपना निर्वाह करने में सुविधा प्राप्त हुई है, (५) स्वर्ण के निर्यात से भारत को विदेशी माल खरीदने का और अवसर प्राप्त हुआ, और इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

यह तो रही सरकार की बात, इसके अतिरिक्त स्वर्ण निर्यात की आलोचना करने वालों ने सरकार पर दोषारोपण करते हुए कहा था कि स्वर्ण-निर्यात से भारत के स्वर्ण-स्रोतों को हानि पहुँची है, सदियों से संचित किया हुआ द्रव्य हाथ से निकल गया है, देशी बैङ्किंग को गहरा आघात पहुँचा है। स्वर्ण के इतनी अधिक मात्रा में चले जाने से भारत को अब स्वर्ण-प्रमाप के ध्येय तक पहुँचना कठिन हो गया है। इसके अतिरिक्त आलोचकों का कथन था कि यह निर्यात किया जाने वाला सोना लोगों द्वारा कठिनाई के समय में निकाला गया सोना है, इससे लोगों को कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा अतएव इसका परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा। इसके साथ ही इन लोगों का यह भी कहना था कि जब कि संसार के अन्य देश अपने स्वर्ण सम्बन्धी स्रोतों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न कर रहे हैं तो भारत ही ऐसा क्यों कर रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीयों द्वारा स्वर्ण-निर्यात की काफी आलोचना की गई। इन लोगों ने सरकार को इस स्वर्ण-प्रवाह को रोकने के लिए कहा। इन लोगों ने कहा कि या तो सरकार स्वयं इस स्वर्ण का क्रय करे या रिजर्व बैङ्क द्वारा इस स्वर्ण का क्रय करवा कर उसके सुरक्षित कोषों को और सुसम्पन्न बनवाए। कुछ लोगों ने स्वर्ण के निर्यात पर भारी कर आदि लगाने का भी सुझाव दिया। परन्तु इस सम्बन्ध में १६३६ में विधान-सभा में भाषण देते हुए अर्थ-मंत्री ने कहा था कि यदि इस प्रकार का कर लगा दिया जाता है तो स्वर्ण का विक्रय करने वाले कृषक पर यह भार और भी बढ़ जायगा।

जहां तक रिजर्व बैङ्क द्वारा स्वर्ण के क्रय करने का प्रश्न था, इस सम्बन्ध में कहा गया कि इससे स्वर्ण की सट्टेबाजी में वृद्धि होगी। इस सम्बन्ध में सरकार की ओर चाहे कुछ भी तर्क उपस्थित किया जाय किन्तु इतना अवश्य है कि यदि सरकार इस ओर कुछ प्रयत्न करती तो इस स्वर्ण प्रवाह को रोकने में अवश्य सफल होती। सरकार का यह कहना कि स्वर्ण निर्यात से भारत को अपने शोधनाधिक्य (Balance of Payments) को ठीक करने में सहायता मिली, इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते ह कि शोधनाधिक्य को ठीक करने का यह कोई वैज्ञानिक उपाय नहीं था। उस समय सबसे प्रधान कारण तो रुपए की वह अधिमूल्यन था जो १६२७ से चल रहा था और जिस पर बाद में जाकर विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी ने अपना प्रभाव डालकर स्थिति को और भी गम्भीर बना दिया था। यदि सरकार जरा भी भारतीय हित का ध्यान रखती तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह स्वर्ण के इस प्रवाह रोकने में सफल होती। यदि रिजर्व बैङ्क उस समय पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण का क्रय कर लेती तो वर्त्तमान समय में जब कि स्वर्ण का मूल्य इतना बढ़ गया है, वह उससे अच्छा लाभ उठाती। डा० दे ने अपनी पुस्तक 'अर्वाचीन भारत की आर्थिक समस्याओं' में जो यह बात लिखी है कि सरकार ने स्वर्ण का क्रय न करने तथा और स्वर्ण-निर्यात को नियंत्रण न करने की जो नीति अपनाई थी वह काफी विवेकपूर्ण नीति थी उससे हम सहमत नहीं। सरकार की नीति पूर्णतया स्वार्थपूर्ण थी। इसमें भारत के हित का कोई ध्यान न रखा गया।

रुपये के पुनः मूल्य निर्धारण का प्रश्न :—जब से सरकार ने १६२७ के करेंसी कानून के अनुसार १ शि० ६ पें० के अनुपात निर्धारित किया तब से बराबर जनता उसको परिवर्तित करने के लिए मांग करती रही। जनता की यह मांग तब तक जोरों से बनी रही जब तक कि द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारम्भ न हुआ। सन् १६२६ से लेकर १६३६ तक मुद्रा के अवमूल्यन के लिए जो माँग की जाती रही उस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए जाते थे :—

(१) भारतीय उद्योग तथा कृषि पर सरकार की मुद्रा सम्बन्धी इस नीति का बुरा असर पड़ा। सरकार ने १ शि० ६ पे० के हिसाब से रुपये की दर निश्चित कर दी थी। वह मुद्रा के संकुचन, स्टर्लिंग आदि की बिक्री करके इस दर को स्थिर रखने में समर्थ थी।

(२) उस समय रुपये के इस नवीन दर के हिसाब से अधिमूल्यन हो जाने के कारण व्यापारिक सन्तुलन विपक्ष में हो गया था, औद्योगिक प्रगति रुक गई थी, वस्तुओं के मूल्य में मन्दी बनी हुई थी। सन् १६२८ से लेकर १६३३ तक भारतीय वस्तुओं के मूल्यों में ४०% का गिराव हुआ जब कि ब्रिटेन में वस्तुओं के मूल्य में ३६.४% का गिराव हुआ था और जब कि १६३६ में ब्रिटेन की वस्तुओं के मूल्य में १६.३% चढाव हुआ, भारत के मूल्यों में केवल ५.७ की ही वृद्धि हुई। युद्ध के समय में भारतीय वस्तुओं के मूल्यों में और भी गिराव रहा। देश की औद्योगिक प्रगति भी एक प्रकार से रुकी सी रही। जितने माल का भारत से निर्यात किया जाता था उसका मूल्य आयात वाले माल से कहीं गिरा हुआ रहता था सन् १६३३-३४ तक निर्यात कीजाने वाली वस्तुओं के मूल्यों के देशनांक में जब कि ४६.४% का गिराव हुआ, आयात वाली वस्तुओं के मूल्यों में केवल ३४.८% का ही गिराव हुआ।

मन्दी के समय में व्यक्तिगत सामग्रियों (Private Merchandise) का निर्यात हुआ उसका पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

वर्ष	करोड़ रुपए में
१६३०-३१	६१.०
१६३१-३२	३४.०
१६३२-३३	३.५
१६३३-३४	३४.४
१६३४-३५	२३.४
१६३५-३६	२६.८
१६३६-३७	७७.१
१६३७-३८	१५.४
१६३८-३६	१६.८
१६३६-४०	४७.८

यह तो रही भारत की बात, अन्य देशों विशेषकर कृषि प्रधान देशों में ऐसी स्थिति का सामना सरकारों ने अपनी-अपनी करेंसी का मूल्य ह्रास करके किया। भारत में १६३१ में रुपए को स्टर्लिंग के साथ मिलाकर स्वर्ण के हिसाब से उसका जो मूल्य-ह्रास किया गया था, वह पर्याप्त नहीं था। अन्य देशों की तुलना में भारत की स्थिति असुविधाजनक थी, इसका पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा।

देश का नाम	१६३३ में करेंसी का मूल्य तथा १६१३ के उस मूल्य का प्रतिशत।
आस्ट्रेलिया	७५.० प्रतिशत
इटली	४२.० ,,
जापान	५०.० ,,
पुर्त्तगाल	४५ ,,
फ्रान्स	३१.५ ,,
बेल्जियम	२२.६ ,,

संयुक्त राज्य अमरीका	६०.० ,,
यूनान	४.५ ,,
स्पेन	६८.० ,,
न्यूजीलैंड	७५.० ,,

(४) सरकार के समक्ष रुपए के अवमूल्यन की मांग करते हुए कहा गया स्वर्ण के निर्यात से अभी हमारी वास्तविक मौद्रिक सम्बन्धी स्थिति छिपी है। इसी निर्यात के कारण सरकार १ शि० ६पेंश की दर को बनाए रखने में सफल है परन्तु स्वर्ण का यह निर्यात अधिक दिनों तक नहीं चल सकता इसलिए सरकार को चाहिए कि वह स्थिति को अच्छी तरह समझते हुए रुपए का पुनः मूल्य निर्धारण करे।

(५) लोगों का कहना था कि इस नवीन अनुपात (१शि० ६पेंश) के कारण मन्दी में और वृद्धि हो गई है, भारतीय वस्तुओं के मूल्यों का संसार के मूल्यों से सामञ्जस्य बैठना असंभव सा हो गया है। इसलिए ऐसी स्थिति में मूल्यों में कुछ वृद्धि करने तथा निर्धन कृषक को सहायता देने के लिये रुपए का पुनः मूल्य निर्धारण करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में लोगों का यह तर्क था कि आयात वाली वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण कृषकों तथा अन्य उपभोक्ताओं की कठिनाई में और वृद्धि हो गई है। यदि देश की मुद्रा की दर में परिवर्तन कर दिया जाता है तो उससे उत्पादन में अच्छी वृद्धि हो जायगी जिससे उत्पादकों को काफी लाभ मिलेगा साथ ही अन्य लोगों को भी इससे काम या धन्धा प्राप्त हो जायगा, बेकारी के दूर होने में सहायता मिलेगी।

यदि मुद्रा का अनुपात अच्छा है उसका उस देश की वस्तुओं के मूल्यों के स्तर तथा आयात व निर्यात से सम्यक सामञ्जस्य है तो अनुपात में, या मुद्रा की उस दर में स्थिरता बनी रह सकती है। सरकार ने उस समय जो विनिमय की दर को स्थिर करने का प्रयत्न किया था और जिसके कारण भारत के राष्ट्रीय हितों पर आघात पहुँचा था उस नीति को उपयुक्त नीति नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में आलोचकों का कथन था कि यदि सरकार कि विनिमय दर की नीति लोचपूर्ण रहती है तो इससे वस्तुओं की लागत तथा उनके मूल्यों में परस्पर में अच्छा सन्तुलन बना रह सकता है और इससे कृषि तथा उद्योग दोनों लाभपूर्ण स्थिति में चल सकते हैं। इस प्रकार की विनिमय की दर उस देश का स्वाभाविक अनुपात होता है। इंगलैंड ने १६३१ में अपनी स्टर्लिंग का मूल्य ह्रास करके इसी प्रकार के स्वाभाविक स्तर को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। परन्तु जो स्तर इंगलैंड के लिए स्वाभाविक हो सकता है, वह भारत के लिए नहीं।

इसके अतिरिक्त लोगों का कहना था कि १ शि० ६ पेंश की इस ऊंची विनिमय दर के कारण देश में बेकारी फैल रही है, उत्पादन में ह्रास हो रहा है, वस्तु की लागत और विक्रय मूल्य में असमानता बढ़ गई है, इससे जमींदारों तथा काश्तकारों, लेनदारों तथा देनदारों, मजदूरों तथा मालिकों सभी की स्थिति को आघात पहुँचा है। इसलिए यह आवश्यक है कि विनिमय की इस दर में मुद्रा के इस अनुपात में परिवर्तन किया जाय। इस प्रकार इन सब आधारों पर अनुपात में परिवर्त्तन करने की प्रबल मांग थी किन्तु इस ओर सरकार ने कुछ भी ध्यान न दिया इसके बाद ही द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया, और इस सम्बन्ध में सारी विचार धारा ही परिवर्तित हो गई।

एक मौद्रिक सत्ता के रूप में रिजर्व बैङ्क (The Resevre Bank as Currency Authority)—सन् १६३५ की पहली अप्रेल से करेंसी के नियंत्रण का अधिकार सरकार के हाथ से हटकर एक नई केन्द्रीय बैङ्क—रिजर्व बैङ्क आव इंडिया—के हाथ में चला आया। इसी बैङ्क के हाथ में पहले से ही पत्र-मुद्रा तथा स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष आ गए थे। इस नवीन

व्यवस्था द्वारा सुरक्षित कोषों के दुहरावें तथा करेंसी व साख के नियंत्रण सम्बन्धी उत्तरदायित्व का विभाजन समाप्त हो गया था। हम इस पर विशेष प्रकाश आगे डालेंगे। यहाँ पर हम स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप को स्थिर रखने में रिजर्व बैङ्क ने जो कार्य किया, उस पर विचार करेंगे।

रिजर्व बैङ्क कानून के चालिसवें अनुच्छेद के अनुसार रिजर्व बैङ्क किसी भी व्यक्ति को जो उसकी कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मदरास या रंगून की शाखाओं में मांग करे, उसे स्टर्लिंग बेंच सकती थी। इसके बदले में वह व्यक्ति (कम से कम १ शि० ५ $\frac{४९}{६४}$ पेंस प्रति रुपया की दर से) कानून-ग्राह्य-करेंसी में इसका मूल्य अदा कर देता था। इसी कानून के ४१ वें अनुच्छेद के अनुसार यह भी व्यवस्था कर दी गई थी कोई भी व्यक्ति जो स्टर्लिंग की बिक्री करना चाहे उससे रिज़र्व बैङ्क स्टर्लिंग खरीद ले जिसकी दर १ शि० ६ $\frac{३}{१६}$ पें० प्रति रुपया से अधिक न होनी चाहिए। इस प्रकार रिजर्व बैङ्क निश्चित दर पर स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय करके १ शि० ६ पेंश का स्टर्लिंग अनुपात स्थिर किए रही। रिजर्व बैङ्क कानून ने इस अनुपात को वैधानिक बना दिया था। इस कानून में यह उल्लेख कर दिया गया था कि भारत के लिए सर्वोत्तम मौद्रिक प्रमाप का तब विचार किया जाना चाहिए जब कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक स्थिति पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाय, जिससे कि इस दिशा में जो नीति अपनाई जाय उसका परिणाम स्थायी रहे। जब इस प्रकार की स्थिति हो जाय तो रिजव बैङ्क गवर्नर जनरल को अपने सुझाव दे जिससे सरकार भारत की भावी मौद्रिक नीति को स्थायी रखने के हेतु नियमों का निर्माण कर सके। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ जाने के कारण इस प्रकार के उपायों को अपनाने की तिथि स्थगित कर दी गई।

भारतीय पत्र-मुद्रा १६२५ तक—भारत में सबसे पहले १८०६ ई० में बैङ्क आफ बङ्गाल को नोट चलाने की सुविधा दी गई। इसके पूर्व व्यवहारतः भारत में नोटों का प्रचलन नहीं था। इसके बाद १८४० ई० में बैङ्क आफ बाम्बे तथा १८४३ में बैङ्क आफ मदरास को यह सुविधा प्रदान की गई। जैसा कि हम पिछले परिच्छेद में कह चुके हैं कि ये बैङ्क कोई सरकारी संस्थाएं नहीं थीं, हाँ सरकार का इनके प्रबन्ध में थोड़ा हाथ था, बैङ्कों की पूँजी में भी उसका कुछ हिस्सा रहता था।

इनमें से प्रत्येक प्रेसीडेन्सी बैङ्क को निश्चित सीमा में नोट चलाने का अधिकार था। उन्हें पहले ३३$\frac{१}{३}$% सुरक्षित कोष रखने का अधिकार था, बाद में इसे घटाकर २५% कर दिया गया। ये नोट कानून ग्राह्य मुद्रा नहीं थे, और इनका प्रचलन प्रेसीडेन्सी नगरों में ही था। सन् १८६१ में सरकार ने इन बैङ्कों से नोट चलाने का अधिकार अपने हाथ में लिया। सारा देश वृत्तों में विभाजित किया गया और जो नोट चालू किए जाते थे वे केवल उसी वृत्त में कानून ग्राह्य मुद्रा के रूप में प्रचलित होते थे। ये नोट १८४४ के बैङ्क चार्टर कानून में दिए गए मौद्रिक सिद्धान्तों के अनुसार चालू किए जाते थे। पत्र-मुद्रा-सुरक्षित कोष की रकम भी निश्चित कर दी गई।

जहाँ तक नोटों के चलन की सुरक्षा का प्रश्न था उपरोक्त सुविधा बड़ी सुन्दर थी परन्तु नोटों के चलन में न तो यह सुविधाजनक ही मालूम पड़ती थी और न इससे उनके चलन में लोच ही मिलती थी। नोटों के चलन का क्षेत्र सीमित होने के कारण तथा निश्चित क्षेत्र में मुद्रा के कानून ग्राह्य होने के कारण यह कठिनाई खड़ी होती थी। बाद में यह दोष दूर कर दिया गया। इस चलन का एक दोष जैसा कि ऊपर कह चुके हैं उसकी अलोचकता भी था। इस अलोचकता को दूर करने का कुछ प्रयत्न भी किया गया, सन् १८६३ में रुपए को सांकेतिक मुद्रा बना देने से इस दिशा में कुछ प्रगति भी हुई।

पहले पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष में रजत मुद्रा, बुलियन तथा भारत सरकार की रुपए वाली प्रतिभूतियाँ सम्मिलित थीं। बाद में कुछ कानूनों के निर्मित हो जाने से स्वर्ण-मुद्राएँ, बुलियन तथा

स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ भी भारतीय पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में रखी जाने लगीं। पत्र-मुद्रा दोषों से मुक्त नहीं थी, इसमें कई दोष थे, इनमें से मुख्य ये हैं—

(१) यह मौद्रिक पद्धति स्वतः परिचालित नहीं थी।

(२) पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष का धातवीय अंश काफी बड़ा था।

(३) सुरक्षित कोष का एक अंग भारत के बजाय लन्दन में रखा जाता था।

(४) करेंसी तथा बैङ्किंग में कोई सम्बन्ध नहीं था।

(५) केन्द्रीय बैङ्क के न होने के कारण सरकार को बाध्य होकर अपने कोषों को 'रिज़र्व ट्रेज़रियों' में रखना होता था। इससे समय-समय द्रव्य बाजार में आर्थिक संकट खड़ा हो उठता था।

(६) यह करेंसी पद्धति अलोचपूर्ण थी। अन्य देशों में बैङ्कों की चेकें, धरोहरें तथा परिचालित नोट करेंसी पद्धति को लोचकता प्रदान करते हैं परन्तु भारत में बैङ्किंग के विकसित न होने के कारण तथा हुंडी बाजार के असंगठित होने के कारण तथा केन्द्रीय बैङ्क के न होने के कारण ऐसा न हो सका। चैम्बरलेन कमीशन ने लोचकता प्रदान करने के लिए कोष के फ्यूडीशरी अंश को अच्छे ढङ्ग से निश्चित करने का सुझाव दिया। कमीशन ने आगे कहा कि नोटों के उपयोग को प्रोत्साहित किया जाय, नकदी की सुविधाओं में वृद्धि की जाय।

प्रथम विश्व युद्ध (१६१४-१८) के समय भारतीय पत्र-मुद्रा पद्धति पर बड़ा आघात पहुँचा। लोग नोटों को परिवर्त्तित कराने की ओर जोरों से बढ़ने लगे। युद्ध के प्रारम्भ वाले आठ महीनों में ही दस करोड़ रुपए के नोट परिवर्त्तित किए गए। सरकार ने स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। एक तथा ढाई रुपए के नए नोट चलाए गए, नोटों को परिवर्त्तित कराने की जो अतिरिक्त सुविधाएँ प्रदान की गई थीं, उन्हें बन्द कर दिया गया। जब युद्ध समाप्त हो गया तो बेबिंगटन स्मिथ समिति ने भारतीय मौद्रिक पद्धति की काफी जाँच की। इस समिति ने नोटों के परिवर्त्तित करने के लिए जो पहले नियंत्रण लगाए गए थे उन्हें हटा लेने का सुझाव दिया। उसने पत्र मुद्रा कोष के धातवीय अंश को नोटों के कुल चलन को कम से कम ४०% रखने का सुझाव दिया। सरकार ने इस समिति के सुझावों को कार्यरूप में परिणित करने के लिए कानूनों का निर्माण किया।

बाद में १६२६ के हिल्टन यंग कमीशन ने रिज़र्व बैङ्क की स्थापना का सुझाव दिया, इसी बैङ्क को नोटों के परिचालन का पूर्ण अधिकार सौंपा जाने को था। कमीशन के सुझावों के अनुसार स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष तथा पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष को मिला दिए जाने का भी सुझाव दिया। १६२७ का करेंसी कानून पास किया गया जिसके अनुसार पत्र-मुद्रा-सुरक्षित कोष की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का पुनर्मूल्यन किया गया।

रिज़र्व बैङ्क नोटों को परिचालित करने वाली सत्ता के रूप में—१६३४ ई० के रिज़र्व बैङ्क कानून के अनुसार रिज़र्व बैङ्क को नोटों के परिचालन का पूर्ण अधिकार प्रदान किया गया। बैङ्क ने १६३५ की पहली अप्रेल से काम करना शुरू कर दिया। स्वर्ण प्रमाप तथा पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोषों को मिला दिया गया। रिज़र्व बैङ्क के इशू विभाग के आदेयों में स्वर्ण बुलियन, स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ, रुपए वाली मुद्राएँ तथा प्रतिभूतियाँ सम्मिलित थीं। कुल आदेयों (Assets) या पूँजी में से ४०% स्वर्ण मुद्राएँ, स्वर्ण बुलियन या स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ सम्मिलित थीं। केन्द्रीय सरकार की पूर्वानुमति लेकर यह बैङ्क ४०% से कम की भी स्टर्लिंग प्रतिभूतियों, या स्वर्ण बुलियन तथा स्वर्ण मुद्राओं का अवधारण कर सकती थी। वास्तव में बैङ्क अपने कुल दायित्वों से कहीं अधिक स्वर्ण रखती थी।

मुद्रा का विस्तरण व संकुचन—जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं कि रिज़र्व बैंक कानून के अनुसार बैङ्क का 'इशू डिपार्टमेन्ट' निम्नलिखित पूँजी (Assets) को रख सकती थी :—

(१) स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ, (२) रुपए वाली प्रतिभूतियाँ जिसमें ट्रेजरी बिल भी सम्मिलित हैं, (३) स्वर्ण मुद्राएँ तथा बुलियन, (४) रुपए वाली मुद्राएँ इसमें रुपए वाले नोट भी सम्मिलित हैं।

यदि परिचालित नोटों को वापस कर, आदेयों को कम कर दिया जाता तो इससे मुद्रा का संकुचन हो जाता। इसके विपरीत यदि इन्हीं आदेयों की वृद्धि की जाती तो मुद्रा का विस्तरण होता। साधारणतया रिजर्व बैङ्क अपने 'इशू विभाग' के आदेयों (assets) में वृद्धि रुपए या स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को हस्तान्तरित करके या अन्य उपायों द्वारा मुद्रा का विस्तरण करती। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैङ्क इन्हीं प्रतिभूतियों को 'इशू विभाग' से बैङ्किङ्ग विभाग में हस्तान्तरित करके मुद्रा का संकुचन कर सकती थी। युद्ध के समय में नोटों के परिचालन में काफी वृद्धि हुई। युद्ध के कारण एकत्रित स्टर्लिंग प्रतिभूतियों पर इन नोटों को परिचालित किया गया था। युद्ध प्रारम्भ होने के समय (१६३६ की सितम्बर में) कुल १८२ करोड़ रुपए के नोट परिचालित थे। १६४५ की तीसरी अगस्त को ये ११३३ करोड़ रुपए के हो गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय कुल परिचालित नोटों में काफी वृद्धि हुई। इस युद्ध का भारतीय मौद्रिक पद्धति पर क्या प्रभाव पड़ा इस पर अगले परिच्छेद में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

———

उन्तीसवाँ परिच्छेद

मुद्रा तथा विनिमय

(द्वितीय विश्व युद्ध के समय)

प्राकथन—जैसा कि हम पिछले परिच्छेद में कह चुके हैं कि १६३६ की सितम्बर में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध के प्रारम्भ होने से पुरानी मौद्रिक सम्बन्धी समस्याएँ तो जहाँ थीं वहीं रह गईं, उसके स्थान पर कितनी ही नवीन समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। युद्ध के समय की सबसे महत्वपूर्ण मौद्रिक समस्या विनिमय के नियंत्रण सम्बन्धी थी। इसके अतिरिक्त करेंसी की राशि में हुई अतुल वृद्धि, उसके परिणामस्वरूप होनेवाली वस्तुओं की मूल्य वृद्धि तथा कुछ अन्य समस्याएँ थीं जिनका कि सम्बन्ध युद्ध से था। हम यहाँ पर इन्हीं समस्याओं पर विशेष प्रकाश डालेंगे।

युद्ध तथा हमारी मौद्रिक स्थिति—युद्ध का हमारी करेंसी या मौद्रिक स्थिति पर यह प्रभाव पड़ा :—

(१) युद्ध का तत्कालीन सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि लोगों ने नोटों को एकदम से परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप सरकार को रुपयों का राशनिङ्ग करना पड़ा।

(२) सरकार ने एक तथा दो रुपयों वाले नोटों को परिचालित कर दिया।

(३) नई अठन्नियाँ चालू कीं।

(४) नये रुपये वाले सिक्के जिनमें कि चाँदी कम राशि में थी चालू किये गये।

(५) पुराने प्रामाणिक रुपयों को वापस ले लिया।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि युद्ध के समय में नोटों के परिवर्तन की माँग बड़े जोरों से बढ़ने लगी। सन् १६४० की जून के बाद लगभग १ करोड़ रुपया प्रति सप्ताह की कीमत के नोट परिवर्तित किये जाने लगे। इसके परिणामस्वरूप 'इशू' विभाग में रुपयों की कमी हो गई। युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व ७५,४७ करोड़ रुपयों का स्टाक था। १६४० की पाँच जुलाई को केवल ३२ करोड़ रुपया रह गये। इसलिये सरकार ने आवश्यकता से अधिक मुद्राओं का रखना अवैध घोषित कर दिया। युद्ध के समय रुपए वाले सिक्कों की तो कमी थी ही, साथ ही अन्य छोटे-छोटे सिक्कों में भी काफी कमी रही, बाद में रिजर्व बैंक ने इन कमियों को दूर करने का पूरा प्रयत्न किया। इस कमी को दूर करने के लिये २४ जून १६४० को सरकार ने एक रुपए वाले नोट चालू किये। इन नोटों को रुपये वाले सिक्कों में नहीं परिवर्तित किया जा सकता था। १६४३ की फरवरी में दो रुपये वाले नोटों को भी चालू किया गया। छोटे-छोटे सिक्कों की कमी पूरी करने के लिये १६४० में चवन्नियाँ तथा अठन्नियाँ भी चलाई गईं। इनके संचयन को रोकने तथा चाँदी की किफायत करने के लिये इनमें चाँदी का अंश $\frac{11}{12}$ के स्थान पर $\frac{1}{2}$ (पक्का) कर दिया गया। १६४१ की ३१ मार्च से महारानी विक्टोरिया तथा १६४२ की ३१ मार्च से जार्ज सप्तम वाला रुपया तथा अठन्नी, तथा १६४३ की ३१ मार्च से जार्ज पञ्चम तथा षष्ठम वाले रुपये तथा अठन्नियाँ कानून ग्राह्य मुद्रा न रह गईं। इनके स्थान पर चाँदी तथा गिलट मिले हुए सिक्के चलाये गये।

विनिमय नियंत्रण (Exchange Control)—हम पिछले परिच्छेद में देख चुके हैं कि युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ वर्षों पूर्व सरकार को १ शि० ६ पें० के हिसाब से रुपए और

स्टर्लिंग की दर को स्थिर रखना कठिन हो गया। सरकार ने मुद्रा-संकुचन तथा स्वर्ण-निर्यात करके इस दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया। मन्दी के समय हमारे निर्यात में कमी हो जाने से स्थिति और भी बिगड़ गई। युद्ध के प्रारम्भ होने पर इस निर्यात में वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक ने काफी मात्रा में स्टर्लिङ्ग खरीद लिये, उसे उस दर के भी स्थिर रखने में कोई कठिनाई नहीं मालूम पड़ी। जहाँ तक स्टर्लिंग का सम्बन्ध था वहाँ तक रुपये की स्थिति ठीक बनी रही किन्तु डालर के हिसाब से उसका मूल्य कम हो गया। डालर ही नहीं 'येन' तथा कुछ अन्य मुद्राओं के हिसाब से भी उसका मूल्य कम हो गया।

ग्रेट ब्रिटेन के अनुसार भारत सरकार ने भी विनिमय को नियंत्रित करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९३९ के भारत सुरक्षा अध्यादेश (Defence of India Ordinance) के अनुसार सरकार को विदेशी विनिमय के क्रय को नियंत्रित करने, विदेशी विनिमय तथा विदेशी प्रतिभूतियों के प्राप्त करने, प्रतिभूतियों के क्रय तथा निर्यात पर नियंत्रण लगाने का अधिकार प्राप्त हो गया। विनिमय के नियंत्रण के लिये सारे साम्राज्य को केवल एक मौद्रिक इकाई मान लिया गया, इस इकाई को 'स्टर्लिंग क्षेत्र, (Sterling Area) कहा जाता था। इस क्षेत्र के अन्तर्गत होने वाले कोषों (फन्डों) के स्वतंत्र स्थानान्तर पर किसी प्रकार की रुकावटें नहीं लगाई जाती थीं। इस क्षेत्र के बाहर खरीदी तथा बिकने वाली मुद्राओं (करेंसियों) पर कड़ा नियत्रण लगाया जाता था। समस्त विदेशी विनिमय सम्बन्धी काम-काज अधिकृत व्यापारियों द्वारा होता है, इन पर रिजर्व बैंक-अपने विनिमय-नियंत्रण-विभाग (Exchange Control Department) द्वारा होता था। कोई भी रकम स्टालिंग क्षेत्र से बाहर वाले देश को तब तक नहीं भेजी जा सकती थी, जब तक कि उस रकम को भेजनेवाला एक आवेदन-पत्र में उस रकम के भेजने के कारण तथा अन्य बातों का पूर्णरूप से उल्लेख न कर देता।

जिन कार्यों के लिये कोई रकम बाहर भेजी जा सकती थी, वे कार्य मुख्यतः ये थे :—

(१) आयात वाले माल के भुगतान के लिये;

(२) कुछ छोटे-छोटे निजी कार्यों के लिये;

(३) यात्रा के व्यय के लिये, ये एक निश्चित सीमा तक ही स्वीकृत किये जाते थे;

(४) अन्य व्यापारिक कार्यों के लिये, इसके लिये प्रार्थी को अपने भुगतान की पुष्टि के हेतु चार्टर्ड एकाउन्टैन्ट्स आदि के प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करने पड़ते थे;

(५) कुछ अन्य कार्यों के लिये।

इन नियमों या नियंत्रणों का उद्देश्य इस बात का प्रयत्न करना था कि विदेशी विनिमय केवल व्यापार के प्रबन्धन तथा कुछ अन्य संशोधित कार्यों के लिये किया जाता है अथवा नहीं। इन नियंत्रणों द्वारा विनिमय में होनेवाली गड़बड़ी को रोकने का पूर्ण प्रयत्न किया गया था।

निर्यात-नियंत्रण—जब धीरे-धीरे विनिमय नियंत्रण में वृद्धि होने लगी तो भारत से गैर-स्टर्लिङ्ग देशों को भेजे जाने वाले माल पर भी नियंत्रण लगाना आवश्यक प्रतीत होने लगा। अतएव रिजर्व बैंक ने एक निर्यात-नियंत्रण योजना तैयार की। इस योजना का उद्देश्य यह देखना है कि निर्यात वाले माल का विदेशी विनिमय भारत को वापस आ जाता है या नहीं, कहीं ऐसा तो नहीं होता कि वह विदेशों में ही रह जाता है, दूसरे यह देखना कि निर्यात का अर्थ-प्रबन्धन कुछ निश्चित स्रोतों में (जिससे कि अधिकतम विनिमय मूल्य प्राप्त हो जाय) हो रहा है या नहीं।

आयात-नियंत्रण—पहले बैंकों को विदेशी विनिमय की प्राप्ति के लिये काफी सुविधा प्रदान की गई परन्तु ज्यों-ज्यों युद्ध बढ़ता गया ये सुविधाए कम की जाती गईं। बाद में वे प्रामाणिक आयात के माल तथा कुछ निजी कार्यों के भुगतान के लिये ही विनिमय का क्रय कर सकती थीं।

आयात पर भी कड़ा नियंत्रण लगा दिया गया, बिना लायसेन्स प्राप्त किये स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से बाहर वाले किसी भी देश का आयात नहीं हो सकता था।

विदेशी करेंसी तथा बुलियन प्रतिभूतियों पर नियन्त्रण— इन सामान्य वस्तुओं के नियन्त्रण के अतिरिक्त बुलियन प्रतिभूतियों तथा करेंसी नोटों के निर्यात-आयात पर भी नियन्त्रण लगाया गया। स्वर्ण के आयात के लिये लायसेन्स तो लेना पड़ता था किन्तु यदि वे किसी विशेष मुद्रा विशेषकर डालर आदि का व्यय नहीं पैदा कर देते तो उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक आने दिया जाता था। जहाँ तक प्रतिभूतियों का सम्बन्ध था, ये किसी भी ऐसे व्यक्ति से जो कि भारत का रहनेवाला न हो नहीं ली जा सकती थीं और न तो ये रिजर्व बैंक की अनुमति से भेजी ही जा सकती थीं। विदेशी प्रतिभूतियों की बिक्री के लिये लायसेन्स प्राप्त करना होता था, यह लायसेन्स तभी दिया जा सकता था जब कि विनियम की रकम भारत की किसी बैंक के विदेशी एजेन्ट को दी जाती थी। भारत से बाहर ले जाने के जवाहरातों तथा नकदी पर भी नियन्त्रण लगाया जाता था। हाँ कुछ निश्चित न्यूनतम रकम अवश्य बिना किसी लायसेन्स के ली जा सकती थी परन्तु इसके ऊपर के लिये रिजर्व बैंक के विनिमय नियन्त्रण विभाग से प्रमाण-पत्र प्राप्त करना होता था। जिन देशों पर शत्रुओं का अधिकार था वहाँ से करेंसी नोटों का आयात नहीं हो सकता था।

भारत तथा युद्ध के समय का डालर पूल—(India and War-time Doller pool) युद्ध के समय में होने वाले विनिमय नियन्त्रण का वर्णन करते समय यह अत्यन्त आवश्यक है कि उस समय स्थापित किये गये 'इम्पायर डालर पूल' का वर्णन कर देना भी आवश्यक है। यह 'पूल' (Pool) किस प्रकार स्थापित हुआ और इसकी क्यों स्थापना की गई इस विषय पर हम यहाँ कुछ विशेष प्रकाश डालेंगे।

युद्ध के समय प्रायः स्टर्लिङ्ग ब्लाक वाले देश अपना विदेशी विनिमय सन्तुलन स्टर्लिङ्ग के रूप में लन्दन में रखते थे। उस समय स्टर्लिङ्ग को किसी भी देश की (ऐसा देश जो कि स्टर्लिङ्ग सन्तुलन रखता था) करेंसी या मुद्रा में आसानी से परिवर्तित किया जा सकता था। परन्तु युद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर इस दिशा में अनेक बाधायें खड़ी हो गईं और इस पद्धति का सुचारू रूप से चलना कठिन प्रतीत होने लगा।

१९३९ ई० में यू० के० 'स्टर्लिङ्ग' समूह के सदस्यों के विदेशी विनिमय सुरक्षित कोषों के नियन्त्रण का कार्य अपने हाथ में ले लिया। किसी भी स्टर्लिङ्ग क्षेत्र वाले देश के व्यापारिक सन्तुलन के आधिक्य का भुगतान यू० के० स्टर्लिङ्ग के रूप में करता था। इसी रूप में भारत का भी स्टर्लिङ्ग बाकी काफी हो गया। परन्तु इसके अतिरिक्त वह शोधनाधिक्य जो कि स्टर्लिङ्ग देश का गैर स्टर्लिङ्ग देश वालों के साथ होता था वह भी स्टर्लिङ्ग प्राप्ति के द्वारा समाप्त कर दिया जाता था। इस संघ में संयुक्त राज्य अमरीका की डालर मुद्रा सबसे महत्वपूर्ण थी, इसलिए बजाय इसके कि इसका नाम विदेशी विनिमय वाला स्टर्लिंग क्षेत्र निधि नाम रखा जाता, इसका नाम 'एम्पायर डालर पूल' रखा गया।

इस प्रकार इस पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण स्टर्लिङ्ग क्षेत्र व्यवहारतः एक मौद्रिक इकाई बन गया और विनिमय नियन्त्रण के लिये इनमें प्रायः एक ही से नियमों और नियन्त्रणों को कार्यान्वित किया जाता था। युद्ध के प्रारम्भ से लेकर ३१ मार्च १९४६ तक भारत ने अनुमानतः ४०५ करोड़ रुपये के डालर पैदा किये तथा २४० करोड़ खर्च किये, इसके अतिरिक्त भारत ने लगभग ४१ करोड़ की अन्य धात्विक मुद्रायें भी खर्च की, इस प्रकार इस 'पूल' में १९४५-४६ के अन्त तक भारत ने कुल ११४ करोड़ रुपये दिए। परन्तु उस समय भारतीय जनता यह नहीं चाहती थी कि ऐसे समय में जब कि भारत को अपने पुनर्निर्माण के लिए काफी पूँजी की आवश्यकता है, वह इस 'पूल' में

अपनी रकम खपाये। वैसे तो भारत की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये, १९४४ तथा १९४५ में २०० लाख डालर स्वीकृत किये गये किन्तु उस समय आवश्यक वस्तुओं के प्राप्त न होने के कारण इसका कोई उपयोग न हो सका। परन्तु सिद्धांततः भारत इस प्रकार के नियन्त्रण के विरुद्ध था, वह चाहता था कि उसकी डालर वाली आय पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रहे। अतः १९४७ में भारत को अपने डालर स्रोतों को स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त करने का विश्वास दिलाया गया, इसी समय उसे अपनी स्टर्लिङ्ग वाली भी बाकी प्राप्त हो गई और उसकी स्थिति कुछ सुधर गई। इसके बाद १९४८ में इस दिशा में उस पर कुछ नियन्त्रण फिर लगाए गए किन्तु १९४९ में इन्हें हटा लिया गया।

करेंसी की युद्ध के समय में खपत—युद्ध के समय में भारतीय मौद्रिक सम्बन्धी स्थिति में जो परिवर्तन हुए, उनमें करेंसी का अधिक प्रसरण भी एक था। युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व (१ सितम्बर, १९३९ में) रिजर्व बैंक द्वारा परिचालित नोटों का कुल मूल्य १८२.१३ करोड़ रुपया था। १९४५ की १९वीं अक्तूबर को कुल ११५९.८५ करोड़ रुपये के नोट चालू थे। इसका तात्पर्य यह है कि इस समय में लगभग ९७७.७२ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। सन् १९३९ की सितम्बर से १९४५ की अगस्त तक कुल १४२.१९ करोड़ की रुपये वाली मुद्राएँ खपीं, इसी समय अन्य छोटी मुद्राए ६७.५९ करोड़ रुपये की खपीं। बैंक की अमानतों में भी वृद्धि हुई। युद्ध के प्रारम्भ से लेकर ३१ मार्च १९४५ तक प्रामाणिक बैंकों की अमानतों की कुल रकम ४६० करोड़ रुपया थी। इस प्रकार युद्ध के पूरे समय में नोटों के प्रचलन में कुल ११९८.६४ करोड़ की वृद्धि हुई। इस वृद्धि में से ८२.५ प्रतिशत वृद्धि नोटों के चलन के कारण हुई, ११.९ प्रतिशत रुपये वाली मुद्राओं तथा ५.६ प्रतिशत छोटी मुद्राओं के परिचालन के परिणामस्वरूप हुई।

मूल्यों में वृद्धि—करेंसी या मुद्रा में वृद्धि होने के साथ ही साथ सामान्य मूल्य स्तर में भी वृद्धि हुई, इस विषय में नीचे दी हुई तालिका से और प्रकाश पड़ जायगा :—

थोक मूल्यों का देशनांक

(१९ अगस्त १९३९ = १००)

वर्ष	कृषि उत्पादन	बना माल	कच्चा माल	सामान्य देशनांक
१९३९-४०	१२७	१३१	११९	१२६
१९४५-४६	२७३	२४०	२१०	२४५

यही नहीं मूल्यों की वृद्धि तथा करेंसी के प्रसरण में घनिष्ट सम्बन्ध था, इस बात का पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

जुलाई १९३९ = १००

(ये सारे आंकड़े प्रत्येक वर्ष के प्रथम तीन महीनों के हैं)

	१९४०	१९४२	१९४३	१९४४	१९४५	१९४६
मांग वाली अमानतें	१०५	१९७	२७३	३९०	४५५	५८२
परिचालित नोट	१३२	२०४	३५६	५०५	६१३	७०५
थोक मूल्य	१२५	१५४	२५८	२९९	३०१	२९५

स्टर्लिंग आदेय—हम पिछले परिच्छेद में कह चुके हैं कि इसके पूर्व कि रिजर्व बैंक अपने नोटों के परिचालन में वृद्धि करता उसे बैंक के 'हेतु विभाग' के आदेयों में वृद्धि करनी होती। परन्तु वास्तव में आदेयों में कोई वृद्धि नहीं होती थी। इस बात का पता नीचे दी हुई तालिका से लग जायगा :—

ह्रास (—) या वृद्धि (+)
३१-८-४५ अन्त १-६-१६३६ प्रारम्भ

		करोड़ रुपयों में
(१) स्वर्ण मुद्राएँ तथा बुलियन		×
(२) स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ	+	६७४.८
(३) रुपये वाली मुद्राएँ	—	५८.४
(४) रुपये वाली प्रतिभूतियाँ	+	२०.५
(५) कुल आदेय	+	६३६.६
(६) कुल परिचालित नोट	+	६३६.६

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है करेंसी का अधिकांश प्रसरण स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के हिसाब से हुआ। ये प्रतिभूतियाँ लन्दन में स्टर्लिंग के रूप में विनियोजित थीं। दूसरे शब्दों में भारत ने इंगलैण्ड को ऋण रूप में दिया था। अब प्रश्न यह उठता है कि भारत ने इन स्टर्लिंग स्रोतों को किस तरह प्राप्त किया और लन्दन में ये इस रूप में क्यों रखीं गई ? इस बात को पूरी तरह से समझने के लिये हमें उस समय भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश सम्राट के लिये खरीदे जाने वाले माल की पूर्ति के अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था पर अच्छी तरह विचार करना आवश्यक है। आइये हम यहाँ पर इसी पर विचार कर।

कहने की आवश्यकता नहीं कि युद्ध के प्रारम्भ होने से भारत को भी उसमें सहयोग प्रदान करना पड़ा। युद्ध के लिये भारत सरकार कुछ माल की खरीद भारत के वास्ते करती थी। इस रूप में जो व्यय वह करती थी वह बजट में भारत की सुरक्षा के लिये किये गये व्यय के रूप में दिखलाया जाता था। इस व्यय की पूर्ति वह कुछ तो करों आदि के द्वारा तथा कुछ विभिन्न प्रकार के ऋणों आदि के, द्वारा करती थी। इसके अतिरिक्त भारत सरकार प्रति वर्ष ब्रिटिश सम्राट तथा मित्र राष्ट्रों की सरकारों के लिये भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की खरीद करती थी। इन सामग्रियों की पूर्ति की रकम ब्रिटिश सरकार लन्दन में स्टर्लिंग के रूप में देती थी। इस स्टर्लिंग का कुछ प्रयोग तो 'होम चार्जेज' के भुगतान में कर दिया जाता था और कुछ स्टर्लिंग ऋण की पूर्ति में कर दिया जाता था, शेष रकम इंगलैंड को ऋण-स्वरूप दे दी जाती थी। ब्रिटिश सरकार की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ भारत के रिजर्व बैंक के आदेय के रूप में लन्दन में रखे रहते थे। पहले तो ये बैंकिंग विभाग के आदेय के रूप में रहे, बाद में जब कि रुपये की अर्थ-प्रबन्धन की आवश्यकता खड़ी हुई इन्हें इशू विभाग को हस्तान्तरित कर दिया गया। इन्हीं आदेयों के हिसाब से भारत में नोटों का परिचालन किया गया। और भारत सरकार इन्हीं नोटों से आवश्यक सामग्रियों की खरीद करती थी। इस प्रकार ऐसी स्थितियों के कारण भारत में करेंसी का विस्तरण हुआ। परन्तु इस रूप में वे सारे स्टर्लिंग जो स्टर्लिंग प्रति-भूतियों के रूप में विनियोजित थे रिजर्व बैंक के अधिकार में नहीं आ गये। रिजर्व बैंक ने भारतीय माल के आयात करने वालों से कुछ स्टर्लिंग की खरीद की और भारतीय निर्यातकों को रुपये में उसका भुगतान किया। नीचे दी गई तालिकाओं से यह स्पष्ट हो जायगा कि किन-किन स्रोतों से स्टर्लिंग प्राप्त हुआ और उसका किन-किन बातों में उपयोग किया गया।

स्टर्लिंग की प्राप्ति	करोड़ रुपयों में
(१) रिजर्व बैंक के स्टर्लिंग आदेय, अगस्त १६३६	६४
(२) बैंक द्वारा क्रय किए गये स्टर्लिंग, सितम्बर १६३६ से मार्च १६४६ तक	८१३
(३) ब्रिटिश सरकार द्वारा दिए गये	१६३२

(४) कुछ अन्य स्रोतों से प्राप्त स्टर्लिंग	४५
कुल प्राप्ति	२५५४

स्टर्लिंग का उपयोग :—

	करोड़ रुपयों में
(१) ऋण चुकाने के लिये दिये गये स्टर्लिङ्ग, मार्च १६४५ के अन्त तक	४११
(२) जनता के हाथ बेचे गये स्टर्लिंग	७५
(३) सरकार द्वारा खर्च किये गए स्टर्लिंग	३१४
(४) रिजर्व बैङ्क द्वारा अवधारित स्टर्लिंग १६४५ के मार्च के अन्त तक	१७२४
कुल	२५१४

रुपये वाली प्रतिभूतियाँ—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि केवल स्टर्लिंग की प्रतिभूतियों की वृद्धि से ही करेंसी का विस्तार या प्रसार नहीं हुआ, रुपये वाली प्रतिभूतियों में वृद्धि हो जाने के कारण भी इसमें काफी वृद्धि हुई। पहले रिजर्व बैङ्क कानून के अनुसार ये प्रतिभूतियाँ ५० करोड़ रुपये से अधिक की नहीं रखी जा सकती थीं। परन्तु १६४१ की फरवरी के एक अध्यादेश द्वारा इस सीमा को दूर कर दिया गया। इससे सरकार को रिजर्व बैङ्क से उधार लेने की सुविधा प्राप्त हो गई।

मुद्रा स्फीति (Inflation)—जब (१६४३ में) मुद्रा में इस तरह का प्रसार होने लगा और वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि होने लगी तो कुछ लोग कहने लगे कि देश में मुद्रा-स्फीति का पूरा प्रकोप फैल गया है। इस सम्बन्ध में भारतीय अर्थशास्त्री तथा भारतीय जनमत पूर्ण रूप से सहमत था। उसका यह कहना था कि मुद्रा-स्फीति के सभी लक्षण देश में पूर्ण रूप से विद्यमान हो गये हैं किन्तु कुछ लोग विशेषकर सरकारी अधिकारी इस बात से नहीं सहमत थे। उनका कहना था कि भारत में मुद्रा-स्फीति बिल्कुल ही नहीं है। इस सम्बन्ध में वे निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते थे:—

(१) नोटों का परिचालन स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों के अनुसार ही किया जाता है इसलिये अत्यधिक परिचालन कभी हो ही नहीं सकता;

(२) जब तक कि देश के समस्त साधन पूर्ण रूप से नहीं लगते तब तक अतिरिक्त नोटों के प्रचलन से मुद्रा स्फीति नहीं हो सकती;

(३) वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने का कारण मुद्रा स्फीति नहीं बल्कि साधनों का युद्ध की ओर लग जाना तथा नागरिकों के उपभोग के लिये आवश्यक पदार्थों की कमी होना है। इसलिये इन सब दोषों को दूर करने का मुख्य उपाय उत्पादन में वृद्धि करना है। इन लोगों का कहना था कि देश में खाद्यान्न की कमी का मुख्य कारण चावल वाले प्रदेश-बर्मा से चावल का आयात रुक जाना, यातायात के साधनों का अभाव, गल्ला छिपाकर रखने की मनोवृत्ति तथा चोरबाजारी है। इसलिये इन्हीं सब दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार माँग के अनुसार पूर्ति न होने के कारण वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हो गई है।

परन्तु ये सब बातें तो इतनी अधिक महत्वपूर्ण नहीं थीं, ये ही कारण मूल्यों में वृद्धि होने के लिये विशेष उत्तरदायी नहीं थे, इनका मुख्य कारण अपस्फीति थी। आइये हम यहाँ पर इस विषय पर विशेष प्रकाश डालें।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि माल का एक स्थान से दूसरे स्थान को या दूसरे शब्दों में स्वतंत्रता-पूर्वक आयात या निर्यात होता तो स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के अनुसार नोटों के परिचालन से कोई विशेष हानि न होती। इतने विशाल परिमाण में स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ रिजर्व बैङ्क में न एकत्रित होतीं।

भारत से निर्यात होने वाले इतने अधिक माल के बदले में विदेशों से भी भारत में आयात होता। भारत से हजारों मील की दूरी पर स्थित स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ भारतीय मुद्रा में होने वाले मूल्य-ह्रास को रोकने में समर्थ नहीं हो सकती थीं। जहाँ तक लोगों का यह कहना है कि देश के समस्त साधनों का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं किया जाता तब तक अतिरिक्त करेंसी से मुद्रा-स्फीति नहीं हो सकती यह बात भी ठीक नहीं मालूम होती। भारत के पास पर्याप्त प्राकृतिक साधन हैं किन्तु क्या इन साधनों को बिल्कुल ही थोड़े समय में प्रयुक्त किया जा सकता है। युद्ध के समय में जितना भी इनका अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता था किया गया, औद्योगिक क्षेत्र में पुराने फर्मों में विकास हुआ, किन्तु कल-पुर्जों व अन्य यंत्रों आदि के न प्राप्त होने के कारण विशेष प्रगति नहीं की जा सकी, कृषि-क्षेत्र में पहले से ही भूमि पर अत्यधिक भार था। उस समय खाद्य तथा अखाद्य दोनों ही फसलों की काफी आवश्यकता थी, इनमें से एक की ओर अधिक ध्यान देने का तात्पर्य दूसरे का अभाव पैदा करना था।

फिर लोगों का यह कहना कि कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं का अभाव था इसलिये मूल्य वृद्धि हुई यह भी बात तर्कयुक्त नहीं मालूम पड़ती। जब कि सभी वस्तुओं के मूल्य में एकदम से वृद्धि हो रही थी तो इसका मुख्य कारण मौद्रिक स्थिति ही थी न कि अन्य वस्तु। उत्पादन की वृद्धि के अनेक प्रयत्न करने के फलस्वरूप उसमें केवल २०% की ही वृद्धि की जा सकी जब कि इसी समय करेंसी में ५३% की वृद्धि हुई। इस प्रकार मूल्य वृद्धि का सारा कारण मुद्रा स्फीति ही थी। एक बार भी यदि मुद्रा-स्फीति का श्रीगणेश हो गया तो फिर वह अपने-आप ही बढ़ता जाता है। करेंसी का जितना ही अधिक प्रसार होता है, मूल्यों में उतनी ही अधिक वृद्धि, मूल्य वृद्धि से अधिक करेंसी की आवश्यकता होती है, नवीन करेंसी के आने से मूल्यों में और भी वृद्धि होती है और इस प्रकार मुद्रा-स्फीति का एक कुचक्र सा फैल जाता है। इस प्रकार बिना उत्पादन की वृद्धि के ही मुद्रा में वृद्धि होती जाती है, सरकार इस रूप में एक प्रकार से लोगों में कृत्रिम क्रय-शक्ति सी उत्पन्न कर देता है।

युद्ध के समय में अपने-अपने देशों में मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये संयुक्त राज्य अमरीका, यू० के० आदि देशों ने कितने ही प्रयत्न किये। यदि हम १९३९ की जुलाई के लेकर १९४६ के अन्त तक के आंकड़ों को देखें तो हमें पता चल जायगा जब कि भारत में मूल्यों में १८०% यू० के० में ७३% तथा संयुक्त राज्य अमरीका में ४३% की वृद्धि हुई थी। नीचे दी हुयी तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जायगी

जुलाई १९३९=१००

वर्ष	संयुक्त राज्य अमरीका		यू० के०		भारत	
	मूल्य	नोट	मूल्य	नोट	मूल्य	नोट
१९४० के प्रथम तीन मास	१०४	१०८	२०१	१०४	१२५	१३२
१९४१ " " "	१०८	१३३	१५२	११८	१२०	१३६
१९४२ " " "	१२८	१८७	१६१	१४७	१५४	२०४
१९४३ " " "	१३६	२७७	१६५	१८०	२३८	३५६
१९४४ " " "	१३८	३८२	१६७	२१२	२९८	५०५
१९४५ " " "	१३९	४६१	१७०	२४०	३०१	६१३
१९४६ " " "	१००	५११	१७५	२६०	२९५	७०५

वर्तमान समस्यायें

भारतीय मौद्रिक पद्धति की विशेषतायें—वर्तमान मौद्रिक समस्याओं पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम भारतीय मौद्रिक पद्धति की विशेषताओं पर एक दृष्टि डाल लें। भारतीय मौद्रिक पद्धति की सबसे पहली विशेषता यह है कि यहाँ द्रव्य का कोई निश्चित प्रमाप (स्टैन्डर्ड) नहीं है जिससे कि राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन तथा परिवर्द्धन के मूल्य को आँका जा सके। रुपया कोई प्रामाणिक मुद्रा नहीं है, यह पौण्ड-स्टर्लिङ्ग पर आधारित रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि इनमें होने वाले परिवर्तनों या घटा-बढ़ी का प्रभाव हमारे देश की मुद्रा की स्थिरता पर भी बड़ा गहरा पड़ता है। इस प्रकार विनिमय की स्थिरता से भारतीय मौद्रिक पद्धति की स्थिरता निश्चित नहीं रखी जा सकती। वैसे तो यह बात अन्य देशों के लिए भी लागू होती है किन्तु अन्य देश से अस्थिरता की स्थिति में अपना प्रमाप ठीक निश्चित कर लेती है, किन्तु हम ऐसा नहीं कर पाते। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने रुपये को स्टर्लिङ्ग से मुक्त कर आत्म निर्भर बनाने का प्रयत्न करें। अब स्वतन्त्र भारत में जब कि उसका ऋण दूर हो चुका है, इस स्थिति को प्राप्त करने में आसानी से सफल हो सकते हैं।

दूसरे मूल्य का भी कोई निश्चित प्रमाप नहीं है जिसके हिसाब से करेंसी नोटों का स्पष्टीकरण किया जाय। यद्यपि नोट असीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा हैं किन्तु उन्हें स्वर्ण या रजत में परिवर्तित नहीं किया जा सकता केवल उन्हें कानून ग्राह्य मुद्रा में ही बदला जा सकता है, इसके अतिरिक्त एक और बड़ी कठिनाई है वह है करेंसी नोटों को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) में परिवर्तित करने के लिये स्टर्लिङ्ग पर निर्भर रहना, जिसके सम्बन्ध में कुछ प्रकाश ऊपर डाल चुके हैं।

तीसरे रुपये में धीरे-धीरे चाँदी की कमी जाती रही, गिलट का प्रयोग बढ़ता रहा और अब तो पत्र मुद्रा का ही विशेष प्रचलन है। इस समय चाँदी के मूल्य में काफी वृद्धि हो जाने के कारण चाँदी की मुद्राओं के निर्माण की विशेष आशा नहीं की जा सकती।

भारतीय मौद्रिक पद्धति में एक बड़ी कमी यह है कि वह व्यापार में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार स्वतः विस्तरण या संकुचनशील नहीं है। एक बार जिन रुपयों को परिचलित कर दिया जाता है उनका दुबारा वापस आना असम्भव सा ही रहता है, लोग उन्हें संचित कर लेते हैं। पुनः जब नवीन रुपयों की आवश्यकता होती है, टकसाल से फिर नवीन रुपये गढ़ कर आते हैं इससे देश के साधनों पर काफी जोर पड़ता है, उसके लिए विदेशों से और अधिक चाँदी खरीदना होता है, इससे व्यापारिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। नोटों के परिचालन में लोच का भी अभाव रहता है, क्योंकि इसके लिये रक्षित कोष के रखने की व्यवस्था करनी होती है। इसलिये जब तक ऐसी व्यवस्था है पत्र मुद्रा से विशेष लाभ नहीं प्राप्त हो सकता। इन सब बातों के अतिरिक्त हमारे देश में सब प्रकार के परिचालित द्रव्यों के मूल्य में तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में एकता नहीं है।

उपरोक्त विवरण को देखने से हमें भारतीय मौद्रिक व्यवस्था की कुछ विशेषताओं का परिचय प्राप्त हो गया अब हम यहाँ पर कुछ मुख्य मौद्रिक समस्याओं पर विचार करेंगे, मौद्रिक प्रमाप, अनुपात और स्टर्लिङ्ग सन्तुलन सम्बन्धी समस्यायें प्रधान हैं। हम यहाँ पर इन पर अलग-अलग विचार करेंगे।

विनिमय प्रमाप की समस्यायें—विभिन्न प्रमापों के प्रयोग के विषय में थोड़ा प्रकाश हम पिछले परिच्छेद में डाल चुके हैं, अभी हमारे योग्य मौद्रिक प्रमाप की व्यवस्था नहीं हुई। कहना न होगा कि भारतीय मौद्रिक व्यवस्था के बहुत से दोष हम एक अच्छे प्रमाप द्वारा दूर कर सकते हैं। भारत मुख्य रूप से प्रमाप सम्बन्धी क्षेत्र में निम्नलिखित रास्तों को अपना सकता है :—

(१) स्वर्ण प्रमाप को अपनाये;
(२) डालर विनिमय प्रमाप को अपनाये;
(३) स्टर्लिङ्ग विनिमय प्रमाप को जारी रखे; अथवा
(४) रुपये को सबसे बिल्कुल ही अलग ही रखे।

स्वर्ण-प्रमाप (Gold Standard)—इस समय स्वर्ण-प्रमाप के अपनाने की बात को उतना महत्व नहीं प्रदान किया जा सकता जितना कि भूतकाल में। वैसे तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वर्ण का अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि में काफी महत्वपूर्ण स्थान रहेगा किन्तु यह आशा नहीं की जाती कि स्वर्ण-प्रमाप अधिकांश देशों द्वारा अपना लिया जायगा। इसलिये यदि रुपये को स्वर्ण के साथ सम्बन्धित कर दिया गया तो उन देशों की मुद्राओं के साथ जिन्होंने स्वर्ण-प्रमाप को नहीं अपनाया है, स्थिति हमेशा अस्थिर रहेगी, उसमें अक्सर चढ़ाव-उतार होता रहेगा। यही नहीं स्वर्ण-प्रमाप के अपनाने में एक और कठिनाई होगी, वह यह कि भारत पर्याप्त मात्रा में रक्षित स्वर्ण रख सकने में समर्थ नहीं होगा।

डालर-प्रमाप (Dollar Standard)—कुछ लोग भारत के लिये डालर-प्रमाप को अपनाने का सुझाव रखते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि डालर काफी प्रतिष्ठित मुद्रा है; संयुक्त राज्य अमरीका ने युद्ध में अच्छी सफलता प्राप्त कर अपनी आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से बचाया है, इसलिये भारत के लिये भी डालर-प्रमाप से काफी अच्छी सुविधा प्राप्त होगी। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि हम डालर-प्रमाप को अपनाते हैं तो इसके लिये हमें एक अच्छे 'डालर रक्षित कोष' की स्थापना करनी होगी जिसमें कि पर्याप्त मात्रा में डालर रखने होंगे। ऐसी मात्रा में हमें डालर तभी प्राप्त हो सकते हैं जब कि हम या तो अमरीका से ऋण लें, या विशाल मात्रा में निर्यात करें, अथवा हम ग्रेट ब्रिटेन से अपने स्टर्लिङ्ग के एक अंश को डालर में परिवर्तित करने के लिये कहें। जहाँ तक अमरीका से भारत के ऋण लेने के प्रश्न हैं, इस सम्बन्ध में भारत सफल नहीं हो सकता क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन तथा कुछ अन्य यूरोपियन देशों के सामने भारत को अमरीका से ऋण मिलना सम्भव नहीं प्रतीत होता। यदि हम विशाल राशि में निर्यात कर डालर प्राप्त करें और इसका एक रक्षित कोष स्थापित करें तो यह भी सम्भव नहीं। अब रही यह बात कि स्टर्लिङ्ग के कुछ अंश को डालर में परिवर्तित कर लिया जाय यह भी सम्भव नहीं मालूम पड़ती। मान लीजिये यदि किसी प्रकार यह कोष स्थापित भी कर लिया तो चिरकाल तक अमरीका जैसे देश की मुद्रा के साथ यह सम्बन्ध बनाये रखना बड़ा कठिन हो जायगा। डालर से सम्बन्ध स्थापित होने का तात्पर्य लागत तथा मूल्य के पारस्परिक सम्बन्ध को अस्त-व्यस्त कर देना होगा। इसलिये डालर प्रमाप को अपनाना उपयोगी नहीं होगा।

स्टर्लिङ्ग विनिमय प्रमाप—जो लोग स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप का समर्थन करते हैं उनका कहना है कि भारत से निर्यात किए जाने वाले माल की रकम की अदायगी के लिए स्टर्लिंग से ही अच्छा लाभ मिल सकता है। भविष्य में, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की योजनाओं के होने के बावजूद भी स्टर्लिंग समूह वाले देशों की संख्या अधिक रहेगी, इस प्रकार स्टर्लिंग से सम्बन्धित होने पर भारत के व्यापार को काफी सुविधाएँ प्राप्त होंगी।

इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि स्टर्लिंग-प्रमाप को अपनाए रखने से भविष्य में कोई विशेष लाभ नहीं होगा, उल्टे कठिनाइयां ही होंगी, पारस्परिक विनिमय के लिए स्टर्लिंग कोई अच्छा आधार नहीं होगा। इसके अतिरिक्त वे सुविधाएँ जो अतीत में स्टर्लिंग से मिलती रही हैं अब वे नहीं रह गई हैं। हमारा स्टर्लिंग ऋण प्रायः समाप्त ही हो गया है, 'होम चार्जेज' भी समाप्त हो गए हैं। फिर इङ्गलैण्ड एक ऋणी देश रह गया है और वहाँ विनिमय की स्थिरता के

लिए हिसाब रखना बहुत अच्छा नहीं है। यू० के० तथा संयुक्त राज्य अमरीका की वस्तुओं की लागत तथा मूल्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भविष्य में डालर के हिसाब से स्टर्लिंग का मूल्य ह्रास भी हो जायगा। इस प्रकार स्टर्लिंग से सम्बन्धित होने का परिणाम भारतीय रुपए को ब्रिटेन की मौद्रिक नीति पर छोड़ देना होगा। फिर जब से भारत अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि का सदस्य हो गया है हमारी मुद्रा का एक नवीन ही सम्बन्ध हो गया है, स्टर्लिंग वाला सम्बन्ध पहले से अब धीमा पड़ गया है। इसलिए अब भारतीय प्रमाप को केवल स्टर्लिङ्ग विनिमय प्रमाप ही कहना न्याय संगत नहीं। न तो स्टर्लिङ्ग से सम्बन्धित होने पर अतीत में हमें कोई लाभ हुआ है और भविष्य में भी ऐसे लाभ की सम्भावना बहुत थोड़ी है। स्टर्लिङ्ग के ही कारण देश में मुद्रा-स्फीति का उदय हुआ है, स्टर्लिंग के ही कारण भारत एक स्वतंत्र मौद्रिक नीति का अनुकरण नहीं कर सका है। इसलिए भविष्य में स्टर्लिंग से भारतीय रुपए को सम्बन्धित रखना उपयुक्त नहीं किन्तु भारत तथा ग्रेट ब्रिटेन के सम्बन्धों को देखते हुए कुछ समय तक भारतीय रुपए का स्टर्लिंग से सम्बन्ध रहना कोई अनुपयुक्त नहीं होगा।

मुक्त रुपया (The Free Rupee)--इन सब बातों के अतिरिक्त कुछ लोगों का कहना है कि रुपये को किसी विशेष प्रमाप से सम्बन्धित न रखकर मुक्त रखा जाय और रुपए को मौद्रिक क्षेत्र में अपना स्थान प्राप्त करने के लिए मुक्त रूप से छोड़ दिया जाय। इन नीति के सम्बन्ध में कई लाभ बतलाए जाते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि इससे भारत विश्व में होने वाली वस्तुओं के मूल्यों के परिवर्त्तन से दूर रहकर अपनी विनिमय-दर में परिवर्त्तन, परिवर्द्धन करता रहेगा इससे देश के अन्दर वस्तुओं की लागत तथा मूल्यों को कोई विशेष आघात नहीं पहुँचेगा। इस नीति का वास्तविक लाभ तभी हो सकता है जब कि बहुत थोड़े देश इसका अनुसरण करें, यदि बहुत से देशों ने ऐसा करना शुरू किया और इन सभी देशों ने अपनी-अपनी मुद्रा का मूल्य ह्रास करना प्रारम्भ किया तो इससे अनेक कठिनाइयाँ उठ खड़ी होंगी और कोई विशेष लाभ न प्राप्त होगा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा खड़ी होगी। करेंसी दरों में होने वाले विशाल अन्तर 'अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि' के नियमों के अनुसार नहीं है, इस निधि के सदस्य होने के नाते भारत भी इसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता।

मुद्रा का किसी प्रकार की अन्य मुद्रा से कानूनी सम्बन्ध न होने का तात्पर्य यह है कि रुपये को बाजार में बिल्कुल ही मुक्त रूप से छोड़ दिया जाय। स्वर्ण अथवा किसी अन्य मुद्रा से रुपये का चाहे कोई कानूनी सम्बन्ध न हो किन्तु वास्तव में ऐसे सम्बन्ध को बनाये रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए भारत बिना किसी कानूनी पद्धति के स्वर्ण से अपना सम्बन्ध रख सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था उसी तरह उपयोगी हो सकती है जैसा कि स्वर्ण-प्रमाप वाली व्यवस्था। हाँ, इस पद्धति में इतना अवश्य है कि इससे विनिमय सम्बन्धी वैभिन्य या विविधताएँ उठ खड़ी हो सकती हैं परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस तरह की विभिन्नताएँ वास्तव में होती ही रहेंगी। इस तरह का वास्तविक सम्बन्ध स्टर्लिंग, डालर आदि से भी बनाये रखा जा सकता है।

अनुपात की समस्या—हम पीछे कह चुके हैं कि भारत में अनुपात सम्बन्धी समस्या ने पहले काफी विचार-द्वन्द उत्पन्न कर दिया था किन्तु युद्ध के प्रारम्भ होने पर इस द्वन्द का एक प्रकार से अन्त सा हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि के सदस्य के रूप में भारत ने अपना अनुपात १ शि० ६ पेंश घोषित कर दिया। पर प्रश्न यह है कि क्या यह निर्णय बिल्कुल उपयुक्त है। वास्तव में उपयुक्त अनुपात उसी को कहा जा सकता है जिसके अनुसार लागत तथा मूल्य में साम्य बना रहे। किसी भी

देश की विनिमय की दर उस देश के आर्थिक विकास, मूल्य स्तरों, तथा शोधनाधिक्यों के सम्बन्धों का देशनांक होती है। इन सब बातों को देखते हुए हमें यह प्रतीत होता है कि १ शि० ६ पेंश की विनिमय दर बिल्कुल उपयुक्त है। भारत की वर्त्तमान आर्थिक स्थितियों को देखते हुए यह अनुपयुक्त नहीं प्रतीत होती। भारत में मूल्य बहुत बढ़े हुए हैं इसलिए यदि अनुपात में और कमी की जाती है तो मूल्यों में और वृद्धि होगी। इस दर को अधिक रखने से एक और लाभ है वह यह कि आयात का माल हमें कुछ सस्ता पड़ता है। अभी हमें विदेशों से अभी काफी मात्रा में वस्तुओं का आयात करना है इसलिये विनिमय की दर में कमी करने से हमें कोई विशेष लाभ नहीं होगा।

वर्तमान समय में कोई ऐसी अव्यवस्था नहीं मालूम पड़ती जिससे कि इस दिशा में विशेष परिवर्तन करने की आवश्यकता हो। इस प्रकार कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि १ शि० ६ पें० का निर्णय काफी विवेकपूर्ण है। जब विश्व में वस्तुओं के मूल्यों का स्तर बिल्कुल स्थिर हो जायगा तब हमें अपनी सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का अध्ययन कर उसमें उपयुक्त परिवर्तन करने के लिए प्रयत्न करना होगा। सितम्बर १९४९ में जब कि स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन हुआ था, उस समय हमारे वाणिज्य विभाग के मन्त्री श्री सी० एच० भाभा ने कहा था—'स्टर्लिङ्ग के हिसाब से रुपये का भी अवमूल्यन कर दिया जाय, यानी १ शि० ६ पें० के स्थान पर उसे १ शि० ४ पें० कर दिया जाय।' परन्तु इस सुझाव को स्वीकार अनुपात में इस प्रकार का परिवर्तन करना उचित नहीं था, इससे देश को थोड़े समय के लिए अवश्य लाभ हो जाता, भारतीय व्यापार के सन्तुलन में अवश्य कुछ सुधार हो जाता किन्तु इससे कोई स्थायी लाभ की आशा नहीं की जा सकती थी।

हमें आज आवश्यकता है देश के कृषि तथा औद्योगिक विकास की। इसकी पूर्ति केवल थोड़े समय के लिए मुद्रा का अवमूल्यन करके ही नहीं की जा सकती। इस समय हम विदेशों से काफी परिमाण में खाद्यान्न खरीद रहे हैं, हमें विदेशों से अन्य सामान भी खरीदना है, यदि विनिमय के मूल्य में हम थोड़ी भी कमी करते हैं तो ये वस्तुएँ हमें बड़ी मंहगी पड़ेंगी। इसलिए वर्तमान स्थितियों में ऊंचे अनुपात से ही हमें लाभ मिल सकता है। अतः वर्तमान समय में इस अनुपात को ही रखना उपयुक्त होगा।

पौंड-पावना—(Sterling Balances) युद्ध के समय में लन्दन में काफी स्टर्लिङ्ग एकत्रित हो गया था। युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व लन्दन में ६४ करोड़ रुपया इस रूप में था, १९४५-४६ में यह रकम १,७३३ करोड़ रुपया हो गई, १९४६-४७ में १,६१२ करोड़ रुपये १९४७-४८ में १,५६५ करोड़ रुपये रह गई। ये स्टर्लिङ्ग, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं भारत द्वारा युद्ध के लिये खरीदी गई तथा निर्यात की गई रकम के भुगतान के रूप में एकत्रित हुये थे। स्टर्लिङ्ग में जो रकम ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार को दी, भारत सरकार ने उसे रिज़र्व बैंक के हाथ सौंप दिया। स्टर्लिङ्ग की प्राप्ति के इन स्रोतों के अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार ने भारत से जो प्रत्यक्ष खरीद की उसकी रकम, भारतीयों की डालर तथा गैर स्टर्लिङ्ग वाली रकम जिसे आवश्यक रूप से 'इम्पायर डालर पूल' में सम्मिलित कर लिया गया, भारत में अमरीका की सेना के लिये खर्चा की गई रकम तथा व्यापार में होने वाली सामान्य रकम से भी स्टर्लिङ्ग के एकत्रित होने में सहायता मिली। इस प्रकार ब्रिटेन पर भारत का काफी ऋण हो गया, यह ऋण भारत में पौंड-पावने के नाम से प्रसिद्ध है। युद्ध काल में भारत ने भूखे और नंगे बदन रहकर करोड़ों रुपये का माल ब्रिटेन को भेजा, इसके अतिरिक्त अन्य उपायों से भी भारत से जबरदस्ती ऋण प्राप्त किया। इस प्रकार ये पावने हमारे त्याग और बलिदानों के संग्रह के रूप में थे। उधर ब्रिटेन में चर्चिल के समान भारत-द्रोही इसे युद्ध ऋण के नाम से पुकारते और इसे कम करने की बात कर रहे थे। अमरीका ने भी अंशतः इस बात का समर्थन किया था। इस सम्बन्ध में इन लोगों का कहना था कि भारत ने

युद्ध का बहुत कम खर्च उठाया, उसने जो सामान भेजा उसके मुद्रा स्फीति वाले मूल्य लगाए। इन तर्कों पर वे पौण्ड-पावने को कम करने की बात करते थे। किन्तु भारत ने युद्ध के पूरे बोझ को संभाला, नियन्त्रित मूल्य पर वस्तुए भेजीं, इन सब बातों को उसने सिद्ध भी कर दिया।

भारत ने युद्ध को सफल बनाने के लिये जितना बलिदान किया वह किसी से छिपा नहीं। बंगाल का दुर्भिक्ष, वस्तुओं के मूल्यों का गगन स्तर इस बात के प्रमाण हैं। ये पौण्ड-पावने हमारे त्याग, हमारे बलिदान के फल हैं और इन्हें प्राप्त करने का हमें पूरा अधिकार है। इस प्रकार के तर्कों और तथ्यों के उपस्थित करने के पश्चात् इंगलैंड पौण्ड-पावनों का समझौता करने के लिये तैयार हुआ, जून १९४८ में भारत के तत्कालीन अर्थ-मन्त्री श्री षणमुखम चेट्टी की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि-मंडल इंगलैण्ड गया और इस सम्बन्ध में समझौता किया गया। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

पौंड-पावने का समझौता— उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि पौंड-पावने हमारे त्याग और बलिदान के फल हैं। हमने उनके लिये अनेक कष्ट उठाये हैं। इसलिए वे हमें एक सामान्य ऋण की ही भाँति प्राप्त हो जाने चाहिए। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम अपने ऋणी से इस रकम को बिना उसकी स्थिति का कोई ध्यान रखे हुये वसूल करें, इसके लिए हम अपने ऋणी देश-ग्रेट ब्रिटेन-का भी ध्यान रखें। हम यह देख रहे ह कि युद्ध के कारण इंगलैंड की आर्थिक स्थिति काफी डांवाडोल हो चुकी है, उसकी विदेशों में विनियोजित पूँजी समाप्त हो चुकी है, उसकी जलयान सम्बन्धी स्थिति भी काफी अस्त-व्यस्त हो चुकी है। उसे युद्ध से अस्त-व्यस्त अपनी आर्थिक स्थिति की पुनर्रचना करनी है। वह अपने विदेशी ऋण को तभी चुका सकता है जब कि विदेशों को काफी परिमाण में वस्तुएं भेजता तथा जलयान आदि की सुविधाएं प्रदान करता है। इस प्रकार ब्रिटेन को इस ऋण के चुकाने का केवल एक ही रास्ता है वह है अपने निर्यात की वृद्धि, इसे वह धीरे-धीरे ही पूरा कर सकता है।

हम अपने इस पौंड पावने को इङ्गलैंड से मुख्य रूप से निम्नलिखित उपायों द्वारा ले सकते हैं

(१) इङ्गलैंड से आवश्यक सामग्रियों को मंगा ले परन्तु वहाँ से उपभोग की वस्तुओं का मंगाना भारत के लिए हितकर नहीं होगा, हमें मुख्य कर भारी यन्त्र आदि को ही मंगाने में अपने इस साधन का प्रयोग करना चाहिये।

और क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन हमारी इस मांग की जल्द ही पूर्त्ति नहीं कर सकेगा इसलिये हमें स्टर्लिङ्ग के कुछ अंश को डालर में परिवर्त्तित कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त देश की सुरक्षा के लिए ब्रिटेन के जल तथा वायु सेना के लिए आवश्यक सामग्री खरीदकर ब्रिटेन के जल तथा वायु मार्ग सेवाओं के हिस्सों को प्राप्त कर यू० के० भारतीयों को औद्योगिक तथा अन्य उच्च शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान कर पौंड-पावने का प्रयोग किया जा सकता है।

पौंड-पावने सम्बन्धी समझौतेः— १९४७ ई० के प्रांरभ में पौंड-पावने सम्बन्धी जो समझौते हुए उनसे कोई निश्चित लाभ नहीं मिल सका, हाँ १९४७ की अगस्त में एक अन्तरिम समझौता हुआ। १९४८ की जनवरी में छै मास के लिये इस समझौते की अवधि और बढ़ा दी गई। १९४८ के प्रथम छै-छै महीनों के दो समझौतों से ८३० लाख पौंड-पावने भारत को मिले, इसमें से केवल ३० लाख पौंड प्रयुक्त किए जा सकते थे। इन छै-छै महीनोंवाली पद्धति भारत के लिये असन्तोषजनक प्रतीत हुई, इससे हमारे विदेशी विनिमय में अनिश्चितता बनी रही। इसके बाद १९४८ के जून में होनेवाले समझौते के अनुसार ३०जून १९५१ तक के समय में (तीन वर्षों में) १०७ करोड़ रुपए देने का वचन दिया। जून के इस समझौते के समय १,५४७ करोड़ की कीमत के पौंड-पावने हमें ब्रिटेन से मिलने थे। १९४८ में भारत को ८३० लाख पौंड ब्रिटेन से

मिले इसके अतिरिक्त उसने अपनी डालर सम्बन्धी कमी की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि से ११० लाख पौंड ऋण लिया।

सेवा-निवृत्त यूरोपियन पदाधिकारियों को पूर्व-सेवा वेतन देने के लिए भारत सरकार ने ब्रिटेन से वार्षिकी (annuites) भी खरीदी। युद्ध के अन्त होने पर ब्रिटिश सरकार ने भारत में जो कुछ भी स्टोर आदि छोड़ा था उसे भी भारत सरकार ने खरीद लिए, इसके लिये भारत ने १३३ करोड़ रुपया देना स्वीकार किया। उपरोक्त समझौते के समय पौंड-पावनों की राशि ५५० करोड़ रुपए थी। परन्तु इसमें से पाकिस्तान के हिस्से के पौंड़-पावने निकालने, फौजी सामग्री के लिये दी गई राशि को घटाने और पूर्व सेवा वेतन के लिये खरीदी गई वार्षिकी की राशि को कम कर देने के पश्चात १०६७ करोड़ रुपये के पौंड-पावने रह गए। इनमें से श्रीषणमुखम चेट्टी के अनुसार २६७ करोड़ रुपये के पौंड-पावने संचिताधिकोष की चलार्थ संचित रखे जा सकते हैं। इस प्रकार केवल ८०० करोड़ की शेष राशि बची।

भारत सरकार इन पौंड-पावनों को काफी राशि में उठा रही है, १९४८-४९ के प्रथम दस मास में रिजर्व बैङ्क के स्टर्लिंग आदेय (Assets) केवल ५५६ करोड़ रुपये रह गये। इस कमी के होने के मुख्य कारणों का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं।

१९४९ में इस दिशा में एक और समझौता किया गया। यह समझौता १९४८ के समझौते से कहीं अच्छा था। इस समझौते की मुख्य-मुख्य बातें ये थीं :—

(१) १९४८-४९ के वर्ष के लिये ८१० लाख पौंड उठाने का समझौता किया गया।

(२) पूरे साल में उठाई जाने वाली रकम में भी वृद्धि की गई, ४०० लाख पौंड के स्थान पर यह राशि ५०० लाख पौंड कर दी गई।

(३) यू० के० तथा भारत दोनों देशों ने अपने आयातों में कमी करने का विचार किया। यू० के० ने भारत की इस मद में अधिक खर्च होने वाली रकम की पूर्ति के हेतु कुछ अतिरिक्त रकम उठाने का निश्चय किया।

(४) सन् १९४९ के इस समझौते के अनुसार भारत केन्द्रीय संचिताधिकोषों (Reserves) से १४०० से लेकर १५०० लाख डालर उठा सकता था जब कि १९४८ के समझौते के अनुसार उसे केवल ६०० लाख डालर ही उठने का का अधिकार था।

१९४८ के समझौते के समय भारत के धात्विक मुद्रा में अनुमानतः १६०० से लेकर १८०० लाख डालर तक का घाटा था। भारत से आशा की जाती थी कि वह इस घाटे की पूर्ति करेगा और इसके लिये वह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि से भी कुछ ऋण प्राप्त कर लेगा। वास्तव में भारत का आयात निर्यात से कहीं अधिक रहा, इससे व्यापारिक सन्तुलन भारत के पक्ष में न रहा, भारत को काफी घाटा उठाना पड़ा। इस घाटे की पूर्ति के लिये उसने ५६० लाख डालर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि से लिये। १९४९ की फरवरी में यू० के० भारत को अगले समझौते के होने के पूर्व तक धात्विक मुद्रा की अग्रिम रूप में देने के मान्यता प्रदान की। इसके अतिरिक्त भारत को धात्विक मुद्रा सम्बन्धी इस स्थिति को दूर करने के हेतु यह परामर्श दिया गया कि वह डालर क्षेत्र से आनेवाले माल के आयात में कमी करे।

इस प्रकार १९४९ के इस समझौते को देखते हुये हम यह कह सकते हैं कि यह समझौता पहले वाले समझौते से काफी अच्छा था। परन्तु उस समय यह आशंका थी कि भारत की शोधनाधिक्यों सम्बन्धी स्थिति को देखते हुये उसके पौण्ड-पावने उपयुक्त नहीं हैं। यह आशंका सही ही निकली। आज इस क्षेत्र में भारत की स्थिति काफी गम्भीर हो गई है, उसका निर्यात बिल्कुल ही कम हो गया है, देश की खाद्य सम्बन्धी स्थिति खराब होने के कारण उसके आयात में भी कमी

करना सम्भव नहीं है। यू० के० तथा डालर क्षेत्रों के मूल्यों में काफी असमानता है। इससे यह स्पष्ट है कि भारत स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशों से ही आयात कर फायदे में नहीं रह सकता। एक सीमा तक ही हम अपने डालर-आयात को भी कम कर सकते हैं। अभी तक भारत अपने व्यापारिक सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि की सहायता से पूरा करता रहा है, परन्तु वह ऐसा कब तक करता रहेगा। बहुत दिनों तक यह बात नहीं चल सकती। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि पौण्ड-पावने के समझौते से चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो उससे देश की व्यापार सम्बन्धी समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं, उनके हल करने का केवल एक ही साधन है, वह है निर्यात की वृद्धि।

पौण्ड-पावने सम्बन्धी सबसे अन्तिम समझौता १९५० की दिसम्बर में हुआ था जिसके अनुसार हमारे पौण्ड-पावने को प्रत्येक छठें वर्ष के प्रारम्भ में ३५० लाख पौण्ड की निकासी की व्यवस्था की गई थी। यह व्यवस्था १९५१ की जुलाई से प्रारम्भ होने वाली थी। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने इन पौण्ड-पावने का उचित उपयोग करें, अभी तक हमने इनका उपयोग केवल खाद्यान्न तथा कुछ अन्य उपभोग की वस्तुओं के खरीदने में किया है। दिसम्बर १९५० में हमारे पौन्ड पावने के हिसाब में ६११० लाख पौण्ड की रकम थी।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि—सन् १९४३ में यू० के०, संयुक्त राज्य अमरीका तथा कनाडा ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक योजनाओं का निर्माण कर लिया था। १९४४ में ब्रेटेन वुड्स में इन योजनाओं पर विचार-विमर्श हुआ जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन योजना प्रकाश में आई। इसके अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के विषय में भारतीय बैंकिंग व्यवस्था सम्बन्धी परिच्छेद में विचार कर चुके हैं। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-निधि (International Monetary Fund) पर विचार करेंगे

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि की स्थापना सदस्य राष्ट्रों द्वारा प्रदत्त पूँजी से की गई है, यह पूँजी ८,८००,०००,००० डालर निश्चित की गई थी। इसमें निश्चित कोटे के अनुसार ही सदस्य राष्ट्रों ने पूँजी प्रदान की है। सदस्य राष्ट्र को निधि के साथ अपने अभ्यंश (कोटे) का ७५ प्रतिशत अपनी मुद्रा में तथा २५ प्रतिशत (या अपने स्वर्ण कोषका १० प्रतिशत) स्वर्ण में जमा करना पड़ा। अपना अभ्यंश सदस्य राष्ट्र अपने केन्द्रीय बैंक के साथ जमा कर सकते हैं। जो निर्धन राष्ट्र हैं वे अपने देश में ऋण लेकर ऐसा करेंगे। इसके बदले में वे थोड़ा (या एकदम ही नहीं) सूद दे सकते हैं।

इस 'निधि' का उद्देश्य विनिमय की स्थिरता वृद्धि में करना, विनिमय की मूल्य ह्रास प्रतिद्वन्दिता को दूर करना, सभी राष्ट्रों के पारस्परिक व्यापार में वृद्धि करना तथा उनकी मुद्राओं का बहुविधि परिवर्त्तन सुलभ करना है। विनिमय सम्बन्धी वे सभी नियंत्रण तथा प्रतिबन्ध जो निधि द्वारा स्वीकृत नहीं हैं, वे सब हटा दिये जायँगे, हाँ संक्रमण काल में कुछ नियन्त्रणों को अवश्य स्वीकृत कर लिया जायगा। 'निधि' ने अपने १९४९-५० के प्रतिवेदन में संयुक्त राज्य अमरीका जैसे देशों से यह निवेदन किया था कि वे व्यापार सम्बन्धी रियायतों को हटा दें, टैरिफ को कम करें तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को और सुलभ बनावें।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि का मुख्य कार्य सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय करना है, परन्तु वह किसी भी देश के अभ्यंश को अधिक से अधिक २०० प्रतिशत तक रख सकेगी। स्वर्ण-प्रमाप-ऋणी देश को अपने यहाँ से स्वर्ण का चालान करना पडता है किन्तु इस नवीन व्यवस्था के अनुसार उसे हरएक के सन्मुख हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं। वह इस संस्था की अनुमति से विनिमय-दर परिवर्त्तित कर सकता है, उससे दूसरे धनी देशों की मुद्राएँ ले सकता है। यदि

किसी देश का आयाताधिक्य उसके अभ्यन्श के ७५ प्रतिशत से अधिक हो जाता है तब यह संस्था उसके अभ्यन्श को अभावपूर्ण घोषित कर देगी। यह उसके संचिताधिकोष को उन देशों में सम-भाजित करेगी जिन्हें उसकी आवश्यकता है। यह संस्था विदेशी विनिमय बाजार में इस प्रकार की मुद्रा को स्वर्ण के परिवर्त्तन में मोल ले या यों ही उधार ले। आशा है कि इस यत्न से ऋणी देश को अच्छी सहायता मिलेगी किन्तु यदि इतने पर भी उसकी दशा नहीं सुधरती तो यह संस्था उसे अपने आयात-राशि को कम करने की चेतावनी दे देगी।

यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि किसी सदस्य-राष्ट्र को अल्पावधि के लिए ऋण भी प्रदान कर सकती है, उस राष्ट्र के जमा का २५% ऋण वह दे सकती है। परन्तु ऋण मिलने पर उसे अपनी मुद्रा में उतनी ही रकम जमा करनी होगी। इस ऋण पर उस देश को सूद देना पड़ेगा किन्तु यदि सूद ५% से बढ़ जायगा तो यह ऋणी देश को अपना ऋण कम करने की सम्मति दे सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि सदस्य-राष्ट्रों के शोधनाधिक्य को सन्तुलित रखने के लिए उसकी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी।

इस संस्था का प्रबन्ध बारह डायरेक्टरों की एक कार्यकारिणी समिति करती है। इन डायरेक्टरों में भारत, चीन, ब्रिटेन, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमरीका के प्रतिनिधि स्थाई रूप से रहते हैं। इनमें से दो स्थान लैटिन अमरीकन रिपब्लिक के हैं तथा ५ निर्वाचन द्वारा पूरे किये जाते हैं। इस संस्था द्वारा अन्तर्युद्धीय काल के मौद्रिक दोषों को दूर करने में रामबाण सिद्ध हुई है। भविष्य में बड़े-बड़े काम पूरे होने की आशायें हैं परन्तु इसकी सफलता के लिए आवश्यकता है अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि तथा भारत—कहना न होगा कि भारत को किसी भी ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक योजना को स्वीकार न करना चाहिये जब तक कि उसकी कुछ शर्तें पूरी न हों। ये शर्तें तथा इस निधि द्वारा जिस सीमा तक इनकी पूर्ति की जा रही है उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :—

(१) भारत को स्टर्लिंग से अपना सम्बन्ध रखने या न रखने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये, उसे अपने विनिमय के अनुपात को भी परिवर्तित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इस निधि ने भारत पर स्टर्लिङ्ग से सम्बन्ध बनाए रखने के लिए कोई मान्यताएँ नहीं लगाई है। यह निधि विनिमय की दरों में परिवर्तन करने के लिए सहानुभूतिपूर्वक विचार करती है।

(२) निधि को चाहिए कि वह भारत को आयात बढ़ाने की अपेक्षा निर्यात घटा कर अपना अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन ठीक करने में बाधा न पहुँचावे। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि निधि किसी देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करेगी इससे उसकी इस शर्त की भी पूर्ति हो जाती है।

(३) भारत को अपने औद्योगिक विकास के लिये अपनी अर्थ-नीति का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र होना चाहिए। इस क्षेत्र में सम्भवतः यह निधि सदस्यों की स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान करेगी।

(४) भारत को निधि के प्रबन्ध में स्थायी स्थान प्राप्त होना चाहिए, यह भी अधिकार अब उसे प्राप्त हो गया है।

इस प्रकार देखने से पता चलता है कि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि में अच्छा स्थान प्राप्त हो गया है। भारत का इस निधि में अभ्यंश (कोटा) ४००० लाख डालर है और १९४८ की मार्च से लेकर १९४९ की मार्च तक उसने इस निधि से कुछ नहीं तो ९२० लाख डालर ऋण लिया है। यह अल्पकालीन ऋण है और इसका उपयोग मुख्य रूप से शोधनाधिक्यों (Balance of payments) को व्यवस्थित करने के लिए किया जाता है। सन् १९४९ की मार्च में भी

एच० एच० बार्सन की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि मण्डल भारत आया था। इसका कार्य भारत को और डालर क्रय करने की सत्ता प्रदान करने की सम्भाव्यताओं का निरीक्षण करना था।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संघों में सम्मिलित होने से लाभ—भारत को अपने औद्योगिक विकास के लिए विशाल राशि में पूँजी की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्त्ति अन्तर्राष्ट्रीय बैङ्क द्वारा प्रदत्त सुविधाओं द्वारा हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय बैङ्क द्वारा उसे अपने स्टर्लिंग आदेयों के प्राप्त होने में सुविधा मिल सकती है। इन्हीं स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर वह दीर्घ-कालिक ऋण भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार यदि यू० के० अच्छा सहयोग प्रदान करे तो भारत को अपनी आवश्यकता के लिए पर्याप्त ऋण प्राप्त हो सकता है। भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक निधि का भी सदस्य बने रहना चाहिए। इससे कई लाभ हैं। सर्वप्रथम तो बिना इसके सदस्य हुए वह अन्तर्राष्ट्रीय बैङ्क का भी सदस्य नहीं बन सकता। दूसरे अभी थोड़े वर्षों तक भारत का व्यापारिक सन्तुलन उसके पक्ष में नहीं रह सकेगा, इस निधि के सदस्य होने के नाते उसे अपने शोधनाधिक्यों को ठीक रखने में सहायता मिलेगी। तीसरे, अन्य देशों ने इन योजनाओं को स्वीकार कर लिया है और भारत भी सबसे अलग नहीं रहना चाहता। भारत को अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों में अच्छा भाग लेना चाहिए और यदि वह अलग रहता है तो यह नहीं कर सकता। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता में हाथ न बँटाना उसके लिए लाभदायक भी न होगा। इन सब बातों को देखते हुए भारत ने इन अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं में सम्मिलित होकर कोई बुराई नहीं की है। इससे उसे काफी लाभ प्राप्त होने की आशा है।

अवमूल्यन (Devaluation)– युद्ध के बाद के वर्षों में स्टर्लिंग क्षेत्र की शोधनाधिक्य (Balance of payments) की समस्या बड़ी गम्भीर हो गई। यह समस्या कोई नवीन नहीं थी। युद्ध के पूर्व के कुछ वर्षों से स्टर्लिंग क्षेत्र को डालर वाले देशों के साथ व्यापारिक सन्तुलन प्राप्त करने में कठिनाई हो रही थी, यहाँ तक कि १६३८ में कुल १३०० लाख पौण्ड का घाटा हुआ था। युद्धोत्तर काल में इस घाटे में और भी वृद्धि हुई। सन् १६४६ में २२६० लाख पौण्ड तथा १६४७ में १०२४० लाख पौण्ड का घाटा हुआ था। बाद में व्यय में काफी कमी करने के पश्चात १६४८ में इसे कुछ कम किया गया, उस समय ४२३० लाख की कमी रही। इसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय संचिताधिकोष खाली होता जा रहा था। इस घाटे के होने तथा डालरों की कमी के लिए कई कारण उत्तरदायी थे। ब्रिटेन में लागत अधिक होने के कारण उसके निर्यात में कमी हो गई; मांग की वृद्धि होती गई और इसकी पूर्त्ति अमरीका करता गया। युद्ध के समय अमरीकन उद्योग ने अच्छी औद्योगिक कुशलता भी प्राप्त कर ली थी। अतः स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर वाले देशों उदाहरणार्थ बेल्जियम तथा स्विट्ज़रलैण्ड को डालर में काफी रकम भेजी गई। यही नहीं स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशों में मुद्रास्फीति भी अपना पूरा प्रकोप फैलाए थी, मूल्यों का देशनांक गगनस्तर पर पहुँच गया था। रहनसहन के व्यय में वृद्धि हो गई थी, मजदूरी में भी काफी वृद्धि रही। इसके परिणामस्वरूप डालर के हिसाब से इन देशों की क्रय-शक्ति तथा मुद्राओं के विनिमय मूल्य में बड़ी असमानता फैल गई थी। मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण निर्यात के वास्तविक मूल्य तथा अप्रत्यक्ष आय में भी ह्रास हो गया था। युद्ध के पूर्व ग्रेट ब्रिटेन अपने शोधनाधिक्य की पूर्त्ति कुछ तो विदेशों से होने वाली अप्रत्यक्ष आय से करता था और कुछ अपनी बस्तियों की डालर आय से। परन्तु युद्ध ने इन सभी साधनों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अन्त में ब्रिटेन ने अमरीका, कनाडा, 'मार्शल एण्ड' देयताओं, मुद्रानिधि आदि से ऋण प्राप्त कर इसकी पूर्त्ति करने का प्रयत्न किया, किन्तु इन सबसे स्थिति विशेष सुधरती हुई न दिखलाई पड़ी, स्थिति काफी गम्भीर मालूम पड़ने लगी। १६४६ के उत्तरार्द्ध में स्थिति इतनी गम्भीर हो गई कि इसको दूर करने के लिए कोई निश्चित, नवीन और अच्छा उपाय निकालने का प्रयत्न किया

जाने लगा। इस समय हाउस आफ कामन्स में भाषण देते हुए सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा कि "हमने अपनी उत्पादक शक्ति में विकास कर लिया है, परन्तु यह बहुत जल्दी नहीं हो सका है। समय इतना कम है और हमारे साधन इतने स्वल्प हैं कि केवल हम डालर-दर में परिवर्त्तन करके ही यथाशीघ्र मूल्यों में उतार ला सकते हैं।" अतः सन् १९४९ की जुलाई में राष्ट्र मंडल के अर्थ-मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ। सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने यह घोषणा की कि ग्रेट ब्रिटेन डालर की खरीद में २५% की कमी करेगा। राष्ट्र मंडल के अन्य देशों ने भी इसी प्रकार की कमी करने का विचार किया। राष्ट्र मंडल के अर्थमंत्रियों के सम्मेलन के पश्चात् संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा तथा ग्रेट ब्रिटेन के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन वाशिंगटन में हुआ। इसमें एक दस-सूत्री योजना तैयार की गई जिसका उद्देश्य ब्रिटेन की डालर सम्बन्धी कमी को पूरा करना था। अन्य बातों के साथ अमरीका से अपने टैरिफ में कमी करने अपने देश के आन्तरिक मूल्यों में वृद्धि करने को कहा गया।

इसके पश्चात १९४९ की १८ सितम्बर को ३०·५%के हिसाब से पौण्ड-स्टर्लिंग में अवमूल्यन करने की घोषणा की गई। पाकिस्तान को छोड़कर राष्ट्र मंडल के सभी देशों ने इस नीति को अपनाया। कनाडा तक ने अपने डालर में १०% के हिसाब से अवमूल्यन कर दिया। भारतीय रुपए का पौण्ड-स्टालंग के अनुसार ही अवमूल्यन कर दिया गया। रुपए का स्टालंग मूल्य १ शि० ६ पेंश ही रहा किन्तु अमरीकन करेंसी के हिसाब से वह ३२ सेन्ट के स्थान पर २१ सेन्ट रह गया। भारतीय मुद्रा का इसलिए अवमूल्यन किया गया कि स्टर्लिंग क्षेत्र की करेंसी के हिसाब से हमारी करेंसी का अधिमूल्यन न हो जाय जिससे कि इन देशों में हमारी वस्तुएँ मंहगी पड़ने लगें। वैसे तो भारतीय मुद्रा के अवमूल्यन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी परन्तु स्टर्लिंग समूह के सदस्य होने के नाते भारत को भी ऐसा ही करना पड़ा। भारत के निर्यात लगभग तीन-चौथाई स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशों को जाता है। यदि भारत अपनी मुद्रा का अवमूल्यन न करता तो इन देशों में हमारा निर्यात काफी कम या नहीं के बराबर हो जाता। अभी अपना देश ऐसी आर्थिक स्थिति में है कि इसके अतिरिक्त अन्य किसी रास्ते को अपनाना उसके लिए हितकर न होता। परन्तु ये सब होते हुए, पाकिस्तान के अपनी मुद्रा के अवमूल्यन करने के कारण तथा डालर क्षेत्र से खाद्यान्न तथा यन्त्रजातों के मंगाने के कारण स्थिति बिल्कुल ही बदल गई। इस स्थिति का सामना करने के लिए निम्नलिखित अष्टसूत्री कार्यक्रम निर्मित किया गया :—

(१) देश की आवश्यकताओं को देखते हुए ऐसी व्यापार-नीति का निर्माण करना जो हमारी विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकता को काफी कम कर सके।

(२) ऐसे देशों के आयात को, जिनकी मुद्रा का हमारी मुद्रा से हिसाब ठीक नहीं बैठता, उसके औद्योगिक पदार्थों के मूल्यों को कम करने का प्रयत्न करना।

(३) साख को नियंत्रित करके मूल्यों की वृद्धि को रोकना।

(४) धात्विक मुद्रा वाले देशों के निर्यात पर कुछ नियंत्रण लगाकर उससे लाभ पैदा करना।

(५) बैङ्किंग आदि सुविधाओं को प्रदान कर लोगों में द्रव्य-संचयन की भावना जागृत करना, तथा उत्पादन की वृद्धि को प्रोत्साहित करना।

(६) सार्वजनिक व्यय को कम करने के हेतु लोगों में मितव्ययिता की भावना भरना, जिससे कि लोग कुछ बचत (सेविंग) कर सकें।

(७) छिपाई हुई पूँजी को निकालने तथा उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्रयत्न करना।

(८) खाद्यान्न, तथा अन्य उपभोग की वस्तुओं में १०%के हिसाब से मूल्य की कमी करना।

अवमूल्यन के परिणाम—भारत को अवमूल्यन से निम्नलिखित लाभ प्राप्त हुए :—

(१) भारत तथा ग्रेट ब्रिटेन के वे चतुर सट्टेबाज जिन्होंने अवमूल्यन के पूर्व अपने कोषों को डालर क्षेत्र में हस्तान्तरित कर दिया, उन्हें ३०%का लाभ हो गया, इसके विपरीत अन्य सभी व्यापारी तथा कुछ अन्य लोगों को इससे हानि उठानी पड़ी।

(२) डालर क्षेत्रों में भेजे जाने वाले माल के निर्यात को प्रोत्साहन मिला, दूसरी ओर डालर क्षेत्र से आने वाले माल को हतोत्साहित होना पड़ा क्योंकि इस समय अमरीका से आने वाली वस्तुओं के काफी रुपए देने पड़ते थे जितने कि इसके पहले नहीं पड़ते थे।

(३) जहाँ पौण्ड पावनों से डालर क्षेत्र में वस्तुएँ खरीदने का प्रश्न था इस दिशा में हमारे पौण्ड-पावनों में ३०%का ह्रास हुआ।

अमरीका से आने वाले माल के मंहगे हो जाने से हमारी खाद्य स्थिति तथा विकास सम्बन्धी योजनाओं को कुछ आघात पहुँचा। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप हमारे शोधनाधिक्य पर भी गहरा असर पड़ा। आइये यहाँ पर इन्हीं सब बातों पर विचार करें। अवमूल्यन से हमारे शोधनाधिक्य को हमारे पक्ष में सन्तुलित होने का सहारा मिला। इस बात का पता हमें इससे लग जायगा कि अवमूल्यन के बाद के तीन महीनों में, १९४८ के पूर्वार्द्ध से लेकर इसी समय ४१·८ करोड़ रुपये की अतिरिक्त बचत हुई। १९५० के प्रथम तीन महीनों में पुनः बचत हुई परन्तु १९५० के दूसरे तीन महीनों (अप्रेल, मई, जून) में घाटा हुआ। धात्विक मुद्रा वाले क्षेत्रों को होने वाला निर्यात १९४९-१९५० की तुलना में ६९% बढ़ गया। परन्तु १९५० के उन्हीं दूसरे वर्ष-चौथाई में इसमें भी ह्रास हो गया। अवमूल्यन के पूर्व के छै महीनों की तुलना में अवमूल्यन के बाद के छै महीनों में हमारे निर्यात की कुल राशि में ४९% की वृद्धि हुई। इसी तरह १९४९ के पहले तीन महीनों का हमारा ३४.१ करोड़ रुपए का व्यापारिक घाटा दूसरे तीन महीनों १९.६ करोड़ रुपए के लाभ में परिवर्तित हो गया, इन सब लाभों के होने का श्रेय अवमूल्यन को ही है। शोधनाधिक्य में इसी प्रकार की उन्नति होने के परिणामस्वरूप युद्ध के बाद के समय में सबसे पहले १९४९ की जुलाई से लेकर १९५० की जून तक के वर्ष भारत ने स्टर्लिंग आदेयों में कुछ भी नहीं निकाला। जहां तक हमारे सूती कपड़े के निर्यात का प्रश्न है अवमूल्यन से उसे भी अच्छा लाभ प्राप्त हुआ। भारत के आगे अन्य देशों के सूती कपड़े की अधिक बिक्री नहीं हो सकी, इसका मुख्य कारण अवमूल्यन ही था। अवमूल्यन के प्रारम्भ होने के ६ महीने पूर्व इस स्रोत से औसत आय २.५ करोड़ रुपया होती थी, अवमूल्यन के बाद के छै महीनों में इससे ७.७ करोड़ रुपया हुई।

(४) अवमूल्य से हमें डालर देशों से आने वाला तैयार माल मंहगा पड़ने लगा है, तथा पाकिस्तान से कच्चा माल जैसे जूट व कपास आदि के प्राप्त करने में कठिनाई उत्पन्न हो गई है।

(५) यद्यपि अवमूल्यन से हमें शोधनाधिक्य के सन्तुलित होने में लाभ प्राप्त हो गया है किन्तु इससे मुद्रा-स्फीति के दूर होने में कोई सहायता नहीं प्राप्त हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अवमूल्यन के पश्चात् शीघ्र ही कुछ आवश्यक वस्तुएं जैसे सूत, कच्चा लोहा, फौलाद, आदि के मूल्यों को कम करने में सफल हुई। सामान्य मूल्य स्तर में कुछ ह्रास हुआ परन्तु १९५० की जून में इसमें फिर वृद्धि हुई और यह देशनांक ३८१·३% हो गया। सामान्य थोक मूल्य देशनांक में धीरे-धीरे लगातार वृद्धि होती चली जा रही है। बाढ़ तथा फसल न होने के कारण हमारी खाद्य समस्या और भी बुरी हो गई है। इसके परिणामस्वरूप खाद्यान्न के मूल्यों में दिनोंदिन वृद्धि होती जा रही है। जहाँ तक दो प्रकार वे कच्चे माल का—कपास और जूट—का सम्बन्ध है अवमूल्यन के कारण पाकिस्तान से इनका मिलना दुर्लभ हो गया है, क्योंकि पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया है। आयात पर कड़ा नियंत्रण होने के कारण कुछ वस्तुओं का अभाव और

खटकने लगा है। इन सब कारणों से १६५० के अक्तूबर में मूल्य देशनाँक ४१३·५ हो गया था। इस प्रकार सरकार को स्थिति के सम्भालने में कठिनाई खड़ी हो गई है किन्तु इस सबके लिए अवमूल्यन को ही हम दोषी नहीं ठहरा सकते। वास्तव में बात यह है कि अवमूल्यन देश के तमाम आर्थिक रोगों के दूर करने की कोई औषधि नहीं है। इससे केवल क्षणिक लाभ प्राप्त हो सकता है।

अवमूल्यन एक कृत्रिम उपाय है जिसके द्वारा हम विदेशों में अपने माल को सस्ते दामों पर बेंच सकते हैं। देश के आर्थिक रोगों को दूर करने का उपाय है उत्पादन की वृद्धि और उस उत्पादन में लगने वाली लागत का कम होना, साथ ही साथ उपभोग को भी कम करने का प्रयत्न करना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अवमूल्यन से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों की प्रतियोग्यात्मक वृत्ति को बलवती कर दिया है। अवमूल्यन के पूर्व स्टर्लिङ्ग क्षेत्र की स्थिति क्षीण थी जब कि डालर क्षेत्र की स्थिति दृढ़ थी। परन्तु अब स्टर्लिंग की स्थिति दृढ़ हो गई है और डालर की कुछ हल्की पड़ गई है। स्टर्लिंग क्षेत्र के केन्द्रीय संचिताधिकोष पहले से दुगने हो गए हैं। परन्तु इन सब बातों को इतना महत्व नहीं प्रदान किया जा सकता जितना कि अन्य बातों को जिससे कि देश की वास्तविक आर्थिक दशा में सुधार हो।

पाकिस्तान तथा अवमूल्यन—हम ऊपर कह चुके हैं कि पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। स्टर्लिंग समूह का केवल यही एक ऐसा देश था जिसने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। इस सम्बन्ध में लोगों का विश्वास है कि आर्थिक कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें थीं जिनके कारण उसने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। पाकिस्तान ने अपनी इस नीति को निम्नलिखित आधारों पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है:—

(१) इस सम्बन्ध में उसका कहना है कि पकिस्तान का व्यापारिक सन्तुलन उसके पक्ष में है और ऐसा कोई मौलिक असन्तुलन नहीं है जिसे दूर करने की उसे आवश्यकता हो। परन्तु इस बात को पूर्ण रूप से नहीं माना जा सकता। पाकिस्तान का यह व्यापारिक सन्तुलन अस्थिर और अनिश्चित है। केवल भारत के साथ ही उसका यह सन्तुलन पक्ष में कहा जा सकता है किन्तु शेष स्टर्लिंग क्षेत्र से उसका यह सन्तुलन ठीक नहीं है। भारत के साथ होने वाले व्यापारिक सन्तुलन के कारण ही वह संसार के अन्य देशों से क्रय करने में समर्थ है और यह सन्तुलन तभी तक बना हुआ है जब तक कि दोनों देशों के रुपयों में विनिमय साम्य बना हुआ है, जहाँ यह साम्य मिटा वहाँ सारी चीजों में परिवर्त्तन हो जायगा। अभी भारत पाकिस्तान से जूट तथा कपास अच्छी मात्रा में ले रहा है, जहाँ भारत इन वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति अपने ही उत्पादन से करने लगेगा वहाँ पाकिस्तान का वह उसके पक्ष वाला सन्तुलन नष्ट हो जायगा। पाकिस्तानी रुपए के अधिमूल्यन से उसके निर्यात में तो कमी होगी और आयात में वृद्धि। इससे व्यापारिक सन्तुलन बाद में पाकिस्तान के विपक्ष में चला जायगा। डालर देशों में भी उसके निर्यात को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा, क्योंकि डालर-देशों को स्टर्लिंग देशों से सस्ते मूल्यों पर माल प्राप्त होगा। इन सब बातों का परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे पाकिस्तान का व्यापारिक सन्तुलन उसके विपक्ष में चला जायगा, इससे उसे बहुत हानि उठाने की आशंका है।

(२) पाकिस्तान एक यह भी तर्क उपस्थित करता है कि उसका आन्तरिक मूल्य-स्तर ऐसा नहीं है जिसे अवमूल्यन की आवश्यकता हो, परन्तु उसकी यह बात भी सत्य नहीं है।

(३) इस सम्बन्ध में पाकिस्तान एक और तर्क उपस्थित करता है, वह यह कि मुद्रा का अवमूल्यन न करने के कारण पाकिस्तान को स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से सस्ते मूल्य पर यन्त्र-जात मिल जायेंगे साथ ही डालर देशों से भी इनके खरीदने में उसे कुछ लाभ होगा। परन्तु पाकिस्तान का यह केवल एक

बढ़ाना है, अभी पाकिस्तान के सन्मुख कोई विशाल योजनायें नहीं हैं जिससे कि उसे यन्त्र-जातों के क्रय करने की आवश्यकता हो, हाँ उसे अस्त्र-शस्त्र अवश्य विदेशों से खरीदने हैं।

(४) इस सम्बन्ध में पाकिस्तान को एक और लालच था वह यह कि उसका भारतवाला ऋण कलम के एक ही डोबे से समाप्त हो जायगा। परन्तु भारत के ऋण के मूल्य पर तभी और इसी सीमा तक असर पड़ेगा जब कि और जिस सीमा तक भारत के मूल्य स्तर में स्थायी रूप से वृद्धि होगी। यदि ऐसा न हुआ तो पाकिस्तान को उसी परिमाण में सामान देना पड़ेगा। पाकिस्तान यह जानकर उसे थोड़े से पाकिस्तानी रुपयों से मजे का सामान मिल जाता है परन्तु भारत के लिए पाकिस्तानी रुपयों का कोई महत्व नहीं है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सामान भेजकर पूरा किया जाता है न कि करेंसी को भेजकर।

(५) सम्भवतः पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन इसलिए भी नहीं किया होगा कि भारत को उसकी कपास, जूट तथा खाद्यान्न की काफी आवश्यकता है, भारत विवश हो कर उससे यह खरीदेगा, चाहे इसके लिये उसे जो मूल्य चुकाना पड़े। परन्तु पाकिस्तान की यह आशा दुराशा में परिवर्तित हो गई। भारतीय उद्योगपतियों ने उनके इस कच्चे माल को मनमांगे दामों पर लेने से इन्कार कर दिया।

(६) पाकिस्तान के अवमूल्यन न करने का एक कारण यह भी था कि इससे मुद्रा-स्फीति की विरोधी स्थितियों का उदय होगा परन्तु इन स्थितियों के उत्पन्न हो जाने के बावजूद भी पाकिस्तान अपस्फीति के चक्कर में आ गया है। कृषि-उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में एकदम से गिराव हो गया है, जनता जिसका अधिकांश अंश कृषक है, उसकी क्रय-शक्ति को भारी आघात पहुँचा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवमूल्यन न करने से पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। उसने अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन केवल राजनैतिक कारणों के लिए किया। पाकिस्तान ऐसे देश को जिसकी आर्थिक स्थिति अभी बिल्कुल अनिश्चित है, जिसने औद्योगिक विकास की पहली सीढ़ी पर भी कदम नहीं रखा, इस प्रकार की नीति अपनाना घातक है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी शकल को सुन्दर बनाने के लिए अपनी बढ़ी हुई नाक को ही काट डालता है। पाकिस्तान को सहकारिता का ध्यान रख कर भारत से मिल कर अपना आर्थिक विकास करना चाहिए, दोनों देशों की अर्थ-नीति में कुछ साम्य होना चाहिए, उसे अपनी मुद्रा के विनिमय मूल्य को व्यापार तथा वस्तुओं के मूल्य-स्तर को देखते हुए ही निश्चित करना चाहिए इसी में उसका कल्याण निहित है।

तीसवाँ परिच्छेद

सार्वजनिक राजस्व

किसी भी देश के सार्वजनिक राजस्व का प्रभाव उस देश के उद्योग-वाणिज्य-व्यवसाय कृषि आदि पर बड़ा गहरा पड़ता है। दूसरे शब्दों में किसी भी देश का आर्थिक संगठन उस देश के आर्थिक जीवन को पदे-पदे प्रभावित करता रहता है। आर्थिक संगठन का आधार राज्य की राजस्व-व्यवस्था होती है। राज्य की राजस्व-व्यवस्था के अनुसार ही देश की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का उत्थान या पतन निर्भर रहता है। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि यदि किसी देश के जनमार्ग अच्छी स्थिति में नहीं हैं, जनता के मानसिक तथा शारीरिक विकास के साधन पर्याप्त नहीं हैं, जनता को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ पर्याप्त रूप में सुलभ नहीं हो रही हैं तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस देश की राजस्व व्यवस्था में कुछ गड़बड़ी है, इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन नहीं प्राप्त हो रहा है। यदि इस गड़बड़ी को दूर कर राजस्व-व्यवस्था को सुव्यवस्थित कर दिया जाता है तो ये सारी की सारी आवश्यकताएँ आसानी से पूरी हो जायँगी।

सार्वजनिक राजस्व का एक दूसरी दृष्टि से महत्व और है वह यह कि यदि राजस्व-व्यवस्था अच्छी है तो उससे सम्पत्ति के उचित वितरण को काफी सहायता प्राप्त होगी। राज्य कर लगता है, उसकी आय से सार्वजनिक कल्याण के कार्यों की पूर्ति करता है। कर लगाने का उद्देश्य केवल राज्यकोष में वृद्धि करना ही नहीं वरन् उनको कुछ विशेष समर्थ वर्गों से वसूल कर जनता विशेषकर निर्धनों के हित के लिए कार्यों का शोधन करना है। सार्वजनिक राजस्व इन्हीं सब बातों का ध्यान रखता है। हम इस परिच्छेद में भारत में सार्वजनिक राजस्व की वर्त्तमान पद्धति तथा तद्सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करेंगे।

भारत में सार्वजनिक राजस्व—हम ऊपर कह चुके हैं कि किसी देश की आर्थिक परिस्थितियाँ उस देश के सार्वजनिक राजस्व की पद्धति द्वारा प्रभावित होती रहती हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जायगा कि आर्थिक परिस्थितियाँ सार्वजनिक राजस्व को प्रभावित करती हैं तो यह बात भी किसी सीमा तक सत्य होगी। यह बात भारत के सम्बन्ध में अधिक सत्य सिद्ध होती है। भारतीय सार्वजनिक राजस्व के स्रोत तथा उसके व्यय की रूपरेखा भारत की विशिष्ट प्रकार की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों पर निर्भर रहती है। भारत में जो बातें भारतीय राजस्व-व्यवस्था को प्रभावित करती हैं वे मुख्यतः ये हैं :—

(१) जनता की कृषि पर निर्भरता—कहना न होगा कि भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की दो-तिहाई जनता कृषि पर निर्भर रहती है। जब इतनी बड़ी जनसंख्या एक ही व्यवसाय पर निर्भर रहेगी तो उसके परिणाम-स्वरूप वह सार्वजनिक कोष में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक ही धन प्रदान करेगा। यहाँ की अधिकांश जनता कृषि पर निर्भर करती है, कृषि का उत्पादन वर्षा पर निर्भर करता है और उत्पादन पर निर्भर रहता है राजस्व। यहाँ की अधिकांश खेती वर्षा पर निर्भर रहती है, वर्षा अनिश्चित रहती है। यदि उचित समय पर उचित परिमाण में वृष्टि नहीं होती तो इससे राज्य की आय में कमी हो जाती है, किसानों को लगान में छूट दे दी जाती है, साथ ही उन्हें तकाबी, ऋण आदि के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है, इससे सरकार का व्यय भी अधिक रहता है। इस बात का प्रभाव मुख्य रूप से राज्यों या

प्रान्तों की सरकारों पर पड़ता है परन्तु इसका अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय सरकार के राजस्व पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। जनता की क्रय-शक्ति के कम हो जाने से सामान्यतः, व्यवसाय, आयात तथा रेलवे की आय आदि पर बुरा असर पड़ता है। इसके परिणाम-स्वरूप धीरे-धीरे रेलवे की आय, आयकर तथा आयातकरों आदि में धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है।

अन्य देशों में भूमिकर या लगान का इतना महत्व नहीं है जितना कि भारत में, इसका मुख्य कारण हमारी कृषि पर की निर्भरता ही है। इसी तरह यहां आयातकर का अभी उतना महत्व नहीं हुआ है जितना कि अन्य देशों में।

(२) **ग्रामों की अधिकता**—भारत कृषि प्रधान देश होने के साथ ही साथ गांवों का देश है। गांव वाले जो कुछ उनके आस-पास उत्पादन होता है, उसी का उपभोग करते हैं केवल नमक, शकर, दियासलाई मिट्टी का तेल आदि थोड़ी सी बाहर की वस्तुओं को छोड़कर अन्य सभी वस्तुएँ गांव वाले अपने आस-पास के स्थान से ही खरीद लेते हैं, इस कारण से आन्तरिक उत्पत्ति करों की आय के स्रोत में भी कमी हो जाती है।

(३) **निर्धनता**—भारतीय जनता कितनी निर्धन है, यह बात सभी जानते हैं। उनकी इस निर्धनता के कारण उनमें कर देने की क्षमता अधिक नहीं रहती, कर देने की क्षमता के कम रहने के कारण हमारे करों से विशेष आय भी नहीं हो पाती, भविष्य में कर बढ़ाने की भी विशेष आशा नहीं रहती। अधिक आय न होने के कारण सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा तथा जनता के हित के अन्य कार्यों की भी पूर्ति नहीं हो पाती, राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों में जितना व्यय किया जाना चाहिए उतना नहीं हो पाता।

(४) **कर तथा सम्पत्ति का असमान वितरण**—अपने देश में कर तथा सम्पत्ति का वितरण भी समान नहीं है। यहाँ किसी के पास तो काफी परिमाण में सम्पत्ति है तो किसी के पास खाने भर को अन्न भी नहीं हैं। इसी प्रकार कर-वितरण में भी असमानता है।

(५) **केन्द्रित शासन परिपाटी**—भारतवर्ष चिरकाल से केन्द्रित शासन-पद्धति का अनुगामी रहा है। भारतीय सदैव से इस बात के इच्छुक रहे हैं कि सरकार उनकी बहुत सी आवश्यकताओं की व्यवस्था करे। इसलिये भारत में सार्वजनिक व्यय की वृद्धि की महती आवश्यकता है। भारत में अन्य देशों की अपेक्षा स्थानीय राजस्व का विशेष महत्व नहीं है, उसका स्थान नगण्य है और वह सदैव प्रान्तीय या राज्यों की सरकारों की ही आर्थिक सहायता पर निर्भर रहता है। सन् १९२७-२८ में ब्रिटिश भारत की ग्राम्य संस्थाओं की कुल आय ४० लाख पौण्ड से भी कम थी, जब कि इसी समय में तथा इंगलैंड तथा वेल्स जिनकी संख्या ब्रिटिश भारत की जन-संख्या की केवल तीसवाँ भाग थी, उसकी ग्राम्य संस्थाओं से कुल आय २७० लाख पौण्ड हुई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के सार्वजनिक राजस्व व्यवस्था पर हमारे ग्रामों, ग्रामवासी निर्धन जनता, कृषि, कृषक कृषि का वर्षा पर निर्भर रहना, देश की अधिकांश जनता के रहन-सहन के स्तर का निम्न होना, सम्पत्ति का असमान वितरण होना तथा हमारी शासन पद्धति आदि का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है।

भारतीय राजस्व का विकास—भारतीय सार्वजनिक राजस्व व्यवस्था का उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके विकास पर भी एक दृष्टि डाल ली जाय। सन् १८३३ तक आर्थिक या राजस्व की दृष्टि से प्रत्येक प्रान्त स्वतन्त्र था, वह स्वयं अपनी आय करता और अपने अनुरूप जिस तरह चाहता उसका व्यय करता। सन् १८३३ के चार्टर एक्ट द्वारा इस दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया गया। इसके अनुसार बजट न के केन्द्रीकरण का उदय हुआ,

साथ ही विकास हुआ आर्थिक केन्द्रीयकरण का। अब प्रान्तों के हाथ से कर-निर्धारण के सभी अधिकार छिन गए और प्रान्तीय व्यय की छोटी से छोटी रकम के लिए भी केन्द्रीय सरकार से स्वीकृति लेनी पड़ती थी। प्रान्तीय सरकारें प्रति वर्ष एक निश्चित रकम पातीं, इस रकम का परिमाण विभिन्न राज्यों की कार्य-क्षमता पर निर्भर रहता था। उस समय मितव्ययिता का कोई प्रश्न ही नहीं था, यदि किसी वर्ष के बजट में कभी कुछ घाटा हो जाता तो दूसरे वर्ष उन्हें और लम्बी रकम मांगने का अवसर मिल जाता और प्रान्तीय सरकारें मनमाने ढङ्ग से व्यय करतीं। इस प्रकार केन्द्रीयकरण से प्रान्तीय शासन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। ऐसी स्थिति में केवल एक ही उपाय था—आर्थिक विकेन्द्रीकरण। भारत के सर्वप्रथम वित्त-मन्त्री श्री जेम्स विलियम तथा उनके बाद के श्री सैमुअल लेंग, मैसे तथा श्री रिचर्ड टेम्पल जैसे वित्त-मंत्रियों ने विकेन्द्रीकरण का काफी पक्ष और समर्थन किया था।

विकेन्द्रीकरण की ओर सबसे पहला कदम १८७० में लार्ड मेयो की सरकार ने उठाया था। इस समय लार्ड मेयो ने कुछ विभागों को प्रान्तों के हाथ में हस्तान्तरित कर दिया। इन विभागों से मिलने वाली रकम के अतिरिक्त प्रान्तों को कुछ और निश्चित रकम स्वीकृत कर दी गई जिससे कि वे इनका प्रबन्ध कर सकें। इसके बाद १८७७ में लार्ड लिटन के समय में कुछ और विभागों का व्यय सम्भालने का उत्तरदायित्व प्रान्तों के ऊपर छोड़ दिया गया। इस समय निश्चित वार्षिक रकम के अतिरिक्त प्रान्तों के हाथ में आय के कुछ और स्रोत आ गए। सन् १८८२ में लार्ड रिपन की सरकार ने एक नवीन व्यवस्था की। इसके अनुसार आय की कुछ मदें या तो पूर्ण रूप से इम्पीरियल होतीं अथवा पूर्ण रूप से प्रान्तीय ही होतीं। अन्य मदों को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में विभाजित कर दिया गया। इस व्यवस्था में प्रत्येक पाँच वर्ष बाद संशोधन करने का विचार किया गया, १८८७, १८९२ तथा १८९७ में इसमें थोड़ा बहुत परिवर्त्तन भी किया गया। सन् १९०४ में लार्ड-कर्ज़न ने इस व्यवस्था को अर्द्ध-स्थायी किया, सन् १९१२ में लार्ड हार्डिन्ग्ज की सरकार ने इसे पूर्ण रूप से स्थायी कर दिया। यह व्यवस्था १९१९ तक चलती रही, इस समय इसमें कुछ महत्वपूर्ण परिवर्त्तन किया गया।

१९१९ के विधान के अनुसार संघीय राजस्व—सन् १९१९ के कानून ने किसी सीमा तक केन्द्रीय तथा प्रान्तीय आय व व्यय के स्रोतों को बिल्कुल अलग कर भारतीय राजस्व की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। प्रान्तों को कर-निर्धारण तथा ऋण लेने के भी अधिकार प्रदान किए गए।

मेस्टन एवार्ड—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय आय की मदों के बिल्कुल अलग कर दिए जाने से केन्द्रीय बजट में काफी घाटा होने लगा। इस घाटे की पूर्त्ति के लिए प्रान्तों से सहायता मिलना आवश्यक था। अतः प्रान्तों द्वारा दी जाने वाली रकम का निश्चय करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति के अध्यक्ष लार्ड मेस्टन थे। समिति ने जो निर्णय किया, उसे मेस्टन एवार्ड कहा जाता है। समिति ने प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा प्रामाणिक अनुदानों का सुझाव दिया। प्रान्त की तत्कालीन आर्थिक स्थिति के अनुसार प्रारम्भिक अनुदानों को निश्चित किया गया, प्रामाणिक अनुदानों के अनुसार यह देखा जाता था कि बाद में जाकर कोई प्रान्त कितनी रकम दे सकता है और उसे कितनी रकम देनी चाहिए।

प्रायः सभी प्रान्तों में मेस्टन एवार्ड से असन्तोष फैल गया। मदरास, संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध (अब उत्तर प्रदेश) तथा पंजाब जैसे प्रान्तों ने अपने ऊपर लगाए गए भारी अनुदानों का तथा बम्बई व बंगाल ने अपनी आय के बड़े स्रोत—आय कर—से वंचित हो जाने का कड़ा विरोध किया।

इसके अतिरिक्त मेस्टन एवार्ड के विरुद्ध लोगों का कहना था कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्रोतों का जिस प्रकार निर्धारण किया गया है, वह उसमें उनके पारस्परिक आवश्यकताओं की उपेक्षा की गई है। उनका कथन था कि केन्द्रीय सरकार के कार्य कुछ स्थायी से हैं, उनके बढ़ने की कोई विशेष आशा नहीं है किन्तु केन्द्रीय सरकार के आय के साधनों को काफी सम्पन्न रखा गया है। दूसरी ओर जब कि प्रान्तों को जिनके कि हाथ में राष्ट्र निर्माणकारी जैसे कार्यों के पूरा करने का उत्तरदायित्व है और ऐसे कार्यों के बढ़ाए जाने की मांग बढ़ती जा रही है, उनके आय के स्रोतों को बहुत ही सीमित रखा गया है। प्रान्तीय आय के साधन की मुख्य स्रोत मालगुजारी या लगान पहले से ही काफी थी उसे और बढ़ाना सम्भव नहीं था, आबकारी कर में तभी वृद्धि हो सकती थी जबकि लोग शराब खूब पीने लगें परन्तु यदि कोई प्रान्त अपने प्रदेश में मद्यनिषेध करना चाहता, शराबबन्दी करना चाहता तो उसके इस स्रोत का अन्त ही समझिये। स्टैम्प शुल्क न्याय का कर था, जंगलों से भी विशेष आय होने की आशा नहीं थी। इस प्रकार इस योजना में काफी दोष था।

कुछ प्रान्तों का ऐसा विचार था कि उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया है। बंगाल तथा बम्बई जैसे औद्योगिक नगरों के हाथ से आयकर जैसा आय का अच्छा स्रोत निकल गया था जबकि पंजाब जो कि कृषि प्रधान प्रान्त था उसे विशेष हानि नहीं हुई क्योंकि उसका मुख्य स्रोत मालगुजारी था। यही नहीं इस योजना का एक बड़ा दोष यह था कि इसमें विभिन्न वर्गों के लोगों द्वारा दिए जाने वाले अनुदानों में कोई साम्य नहीं था। प्रान्तों को कृषकों से ही विशेष आय होती थी, व्यवसायी तथा उद्योगपतियों के अनुदान केन्द्र में चले जाते थे जब कि प्रान्त ने इन लोगों को भी वे ही सुविधाएँ प्रदान की थीं जो कि कृषकों या अन्य साधारण वर्गों के लोगों को मिलती थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मेस्टन एवार्ड' की योजना कई दोषों और अभावों से पूर्ण थी जिनके कारण प्रान्त काफी असन्तुष्ट थे। वास्तव में प्रान्त तथा केन्द्र के आय के स्रोतों का पूर्ण रूप से प्रथक्करण व्यावहारिक नहीं है। इस प्रकार की योजना एक संघीय राज्य के लिए उपयुक्त थी। संघों में भी इस सिद्धान्त का विशेष अनुसरण नहीं किया जाता। संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य संघीय राज्यों की भी प्रवृत्ति प्रथक्करण की ओर न होकर एकीकरण की ओर थी। अतः भारत में इस प्रकार की योजना की सफलता की आशा करना सम्भव नहीं था।

संघीय राजस्व १९३५ के विधान के अनुसार—प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत को एक बड़े आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। विनिमय व करेंसी की अस्थिरता, मूल्यों की घटा-बढ़ी सरकारी नौकरों के वेतन की अधिकता, तथा युद्ध के बाद किए जाने वाले पुनर्निर्माणकारी कार्यों में काफी रकम लग जाने के कारण प्रान्तीय बजट में काफी घाटा होने लगा। केन्द्रीय राजस्व की भी स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। अतएव केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को इस स्थिति को सम्भालने के लिए काफी प्रयत्न करना पड़ा। १९२३ के बाद से केन्द्रीय राजस्व की स्थिति अच्छी हो जाने पर प्रान्तीय अनुदानों में कमी कर दी गई, १९२८-२९ में इसे बिलकुल ही समाप्त कर दिया गया। परन्तु इन अनुदानों को बन्द करने से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

ऐसी दशा में, देश की आर्थिक स्थिति की काफी जाँच की गई और सन् १९३५ के संविधान के अनुसार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजस्व मदों का इस प्रकार वितरण किया गया :—

संघीय स्रोत—(१) आयत निर्यात कर,

(२) औषधियों तथा कुछ अन्य नशीले पदार्थों को छोड़कर भारत में तैयार किए जाने वाले माल पर उत्पत्ति कर।

इसके अतिरिक्त मेस्टन एवार्ड के विरुद्ध लोगों का कहना था कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्रोतों का जिस प्रकार निर्धारण किया गया है, वह उसमें उनके पारस्परिक आवश्यकताओं की उपेक्षा की गई है। उनका कथन था कि केन्द्रीय सरकार के कार्य कुछ स्थायी से हैं, उनके बढ़ने की कोई विशेष आशा नहीं है किन्तु केन्द्रीय सरकार के आय के साधनों को काफी सम्पन्न रखा गया है। दूसरी ओर जब कि प्रान्तों को जिनके कि हाथ में राष्ट्र निर्माणकारी जैसे कार्यों के पूरा करने का उत्तरदायित्व है और ऐसे कार्यों के बढ़ाए जाने की मांग बढ़ती जा रही है, उनके आय के स्रोतों को बहुत ही सीमित रखा गया है। प्रान्तीय आय के साधन की मुख्य स्रोत मालगुजारी या लगान पहले से ही काफी थी उसे और बढ़ाना सम्भव नहीं था, आबकारी कर में तभी वृद्धि हो सकती थी जबकि लोग शराब खूब पीने लगें परन्तु यदि कोई प्रान्त अपने प्रदेश में मद्यनिषेध करना चाहता, शराबबन्दी करना चाहता तो उसके इस स्रोत का अन्त ही समझिये। स्टैम्प शुल्क न्याय का कर था, जंगलों से भी विशेष आय होने की आशा नहीं थी। इस प्रकार इस योजना में काफी दोष था।

कुछ प्रान्तों का ऐसा विचार था कि उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया है। बंगाल तथा बम्बई जैसे औद्योगिक नगरों के हाथ से आयकर जैसा आय का अच्छा स्रोत निकल गया था जबकि पंजाब जो कि कृषि प्रधान प्रान्त था उसे विशेष हानि नहीं हुई क्योंकि उसका मुख्य स्रोत मालगुजारी था। यही नहीं इस योजना का एक बड़ा दोष यह था कि इसमें विभिन्न वर्गों के लोगों द्वारा दिए जाने वाले अनुदानों में कोई साम्य नहीं था। प्रान्तों को कृषकों से ही विशेष आय होती थी, व्यवसायी तथा उद्योगपतियों के अनुदान केन्द्र में चले जाते थे जब कि प्रान्त ने इन लोगों को भी वे ही सुविधाएँ प्रदान की थीं जो कि कृषकों या अन्य साधारण वर्गों के लोगों को मिलती थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मेस्टन एवार्ड' की योजना कई दोषों और अभावों से पूर्ण थी जिनके कारण प्रान्त काफी असन्तुष्ट थे। वास्तव में प्रान्त तथा केन्द्र के आय के स्रोतों का पूर्ण रूप से प्रथक्करण व्यावहारिक नहीं है। इस प्रकार की योजना एक संघीय राज्य के लिए उपयुक्त थी। संघों में भी इस सिद्धान्त का विशेष अनुसरण नहीं किया जाता। संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य संघीय राज्यों की भी प्रवृत्ति प्रथक्करण की ओर न होकर एकीकरण की ओर थी। अतः भारत में इस प्रकार की योजना की सफलता की आशा करना सम्भव नहीं था।

संघीय राजस्व १६३५ के विधान के अनुसार—प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत को एक बड़े आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। विनिमय व करेंसी की अस्थिरता, मूल्यों की घटा-बढ़ी सरकारी नौकरों के वेतन की अधिकता, तथा युद्ध के बाद किए जाने वाले पुनर्निर्माणकारी कार्यों में काफी रकम लग जाने के कारण प्रान्तीय बजट में काफी घाटा होने लगा। केन्द्रीय राजस्व की भी स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। अतएव केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को इस स्थिति को सम्भालने के लिए काफी प्रयत्न करना पड़ा। १६२३ के बाद से केन्द्रीय राजस्व की स्थिति अच्छी हो जाने पर प्रान्तीय अनुदानों में कमी कर दी गई, १६२८-२६ में इसे बिलकुल ही समाप्त कर दिया गया। परन्तु इन अनुदानों को बन्द करने से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

ऐसी दशा में, देश की आर्थिक स्थिति की काफी जाँच की गई और सन् १६३५ के संविधान के अनुसार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजस्व मदों का इस प्रकार वितरण किया गया :—

संघीय स्रोत—(१) आयत निर्यात कर,

(२) औषधियों तथा कुछ अन्य नशीले पदार्थों को छोड़कर भारत में तैयार किए जाने वाले माल पर उत्पत्ति कर।

(३) कारपोरेशन कर ।
(४) नमक कर।
(५) कृषि को छोड़ कर अन्य आय पर कर।
(६) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पत्ति कर।
(७) उत्तराधिकार कर (कृषि भूमि को छोड़कर)
(८) तमाम व्यावसायिक आदान-प्रदानों पर स्टाम्प कर ।
(९) वायु तथा रेलमार्ग द्वारा भेजे जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमा-कर।
(१०) मनोरंजन तथा द्यूतक्रीड़ा आदि पर कर।
(११) न्यायालयों के स्टाम्प से कर।
(१२) अन्तर्देशीय जलमार्गों द्वारा भेजे जाने वाले माल तथा मुसाफिरों पर कर।

निम्नलिखित कर संघ द्वारा लगाए तथा एकत्रित किए जाते परन्तु प्रान्तों के हिस्से में रख दिए जाते थे :—

(१) कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर (२) चेक, बिल आदि पर स्टाम्प शुल्क, (३) मुसाफिरों तथा माल पर के सीमा कर (४) भाड़े तथा महसूल पर लगाए हुए कर।

इसके अतिरिक्त आयकर (कृषि आय-कर को छोड़कर), प्रान्तीय सूची के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं को छोड़कर अन्य वस्तुओं पर उत्पत्ति कर, निर्यातकर, विशेषकर जूट का निर्यात-कर आदि से होने वाली आय का संघ तथा प्रान्तों में विभाजन हो जाता था किन्तु संघ-सरकार जब तक संघ सरकार की आर्थिक स्थिति अच्छी न रहती तब तक वह कोई हिस्सा नहीं दे सकती थी।

नीमियर रिपोर्ट :— हम ऊपर कह चुके हैं कि बम्बई तथा बंगाल जैसे उद्योग-प्रधान प्रान्त अपने आय कर के हिस्सों से सन्तुष्ट नहीं थे। अतः जब १९३५ के विधान के अनुसार प्रान्तों को स्वतंत्रता प्रदान की जाने लगी तो देश की राजस्व व्यवस्था का एक बार फिर जाँच करना आवश्यक समझा गया। १९३५ में सर ओटो नीमियर को इस कार्य के लिये नियुक्त किया गया।

सर ओटो नीमियर के सन्मुख सबसे प्रधान समस्या आय-कर के वितरण की थी। सर ओटो नीमियर ने इस सम्बन्ध में अपना परामर्श देते हुए किसी विशेष सिद्धान्त या मत को लेकर चलना अच्छा नहीं समझा उन्होंने इसके लिये ऐसी युक्ति निकाली जो व्यावहारिक और उपयोगी थी। हाँ अपने सुझाव देते हुए उन्होंने मुख्य दो बातों का ध्यान रखा एक तो यह कि केन्द्रीय सरकार की आर्थिक स्थिति पर कोई आघात न पहुँचे दूसरे प्रान्तों को ऐसी आर्थिक सहायता दी जाय जिससे कि प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना के समय उनके पास पर्याप्त साधन रहें।

नीमियर महोदय का लक्ष्य किसी प्रकार से प्रान्तों की असमानता को दूर करना न था, उनका उद्देश्य था विभिन्न प्रान्तों को अपने-अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य बनाना। इसकी पूर्ति उन्होंने ऋण के परिशोध, तथा अन्य आर्थिक सहायता दिलाकर, करने का प्रयत्न किया। उन्होंने आसाम, संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश), उड़ीसा तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त को वार्षिक अनुवृत्तियाँ देकर किया। बंगाल, बिहार, आसाम, उड़ीसा तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त के सम्पूर्ण वास्तविक ऋण का अन्त कर दिया गया। मध्य प्रान्त का भी १९३६ के पूर्व के घाटे वले ऋण का भी परिशोध कर दिया गया। इसके अतिरिक्त जूट के निर्यात कर पर १२½ % की वृद्धि कर के जूट उत्पन्न करने वाले प्रदेश को लाभ पहुँचाने का सुझाव रखा।

१४'५ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इस समय बंगाल का हिस्सा २० प्रतिशत के स्थान पर ८ प्रतिशत तथा पंजाब का ८ प्रतिशत के स्थान पर ५ प्रतिशत कर दिया गया। श्री देशमुख महोदय ने निम्न-लिखित प्रतिशत निश्चित किए :—

प्रान्त	प्रारम्भिक हिस्सा	अतिरिक्त	कुल
बम्बई	२० प्रतिशत	१ प्रतिशत	२१ प्रतिशत
मदरास	१५ प्रतिशत	२'५ प्रतिशत	१७'५ प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	१५ प्रतिशत	३ प्रतिशत	१८ प्रतिशत
पश्चिमी बंगाल	१२'५ प्रतिशत	१ प्रतिशत	१३'५ प्रतिशत
मध्य प्रदेश व बरार	५ प्रतिशत	१ प्रतिशत	६ प्रतिशत
पूर्वी पंजाब	४ प्रतिशत	१'५ प्रतिशत	५'५ प्रतिशत
उड़ीसा	२ प्रतिशत	१ प्रतिशत	३ प्रतिशत
बिहार	१० प्रतिशत	२'५ प्रतिशत	१२'५ प्रतिशत
आसाम	२ प्रतिशत	१ प्रतिशत	३ प्रतिशत

जूट के निर्यात के नवीन हिस्से निम्नलिखित थे :—

आसाम	४० लाख
पश्मिची बंगाल	१०५ लाख
बिहार	३५ लाख
उड़ीसा	५ लाख

देश मुख एवार्ड का भी विशेष स्वागत नहीं हो सका। कोई भी राज्य सन्तुष्ट नहीं था। जिन राज्यों को अधिक मिला था और अधिक माँग रहे थे जिन्हें कम मिला वे अत्यन्त ही असन्तुष्ट थे। बम्बई, पश्चिमी बङ्गाल, मदरास, बिहार सबके सभी राज्यों ने इस निर्णय के प्रति काफी असन्तोष प्रगट किया। इस सम्बन्ध में यह कह देना अनुचित न होगा कि देशमुख महोदय का कार्य वितरण सम्बन्धी किसी विशेष सिद्धान्त का निश्चय करना नहीं था। उन्होंने नीमियर महोदय के निर्णय के आधार पर ही अपने निष्कर्ष निकाले। उनका मुख्य उद्देश्य विभाजन के बाद होनेवाली गड़बड़ी के कारण बचे हुए अतिरिक्त कोष का उचित वितरण करना था। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में यदि विशेष परिवर्तन-परिवर्द्धन किया जाता तो देश के वर्तमान आर्थिक सन्तुलन के नष्ट होने का काफी भय था। अतएव ऐसी स्थिति में देशमुख के निर्णय को विशेष दोषपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता।

संघीय राजस्व—संघीय राजस्व के व्यवस्था को सफल बनाने के लिए कई बातों के ध्यान देने की आवश्यकता होती है। सर्व प्रथम राजस्व व्यवस्था ऐसी हो जो सुगमता से कार्य रूप में परिणित हो सके साथ ही जिसके प्रबन्ध में प्रशासन सम्बन्धी विशेष व्यय न हो। कर के वसूली आदि करने में विशेष व्यय न हो, कर का निर्धारण भी अच्छी तरह हो सके, लोगों को बेईमानी आदि का विशेष अवसर न मिले। इसके लिये संघ को चाहिये कि कुछ विशेष प्रकार के करों जैसे सम्पत्ति कर-कारपोरेशन कर, आयात-निर्यात करों को स्वयं वसूल करे।

दूसरे आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो जिससे कि प्रत्येक इकाई को अपनी तात्कालिक तथा विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त रकम प्राप्त हो सके।

तीसरे प्रत्येक राज्य अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वाधीन रहे। इसके साथ ही साधनों तथा प्रशासन सम्बन्धी कार्यों का इस प्रकार संगठन हो जिससे कि एक दूसरे के कार्यों में परस्पर साम्य रहे। इस प्रकार की व्यवस्था से ही संघीय राजस्व व्यवस्था सफल हो सकती है।

संघीय राजस्व व्यवस्था की इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए साधनों के उपयुक्त विभाजन के लिए विभिन्न प्रस्ताव उपस्थित किये जाते हैं। प्रोफेसर सालिग मैंन ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव पेश किए हैं :—

(१) साधनों का पूर्ण प्रथक्करण;
(२) प्रान्तों द्वारा कर निर्धारण,
(३) केन्द्र द्वारा कर निर्धारण तथा राज्यों द्वारा परिवर्द्धन।
(४) आय का विभाजन, तथा
(५) संघ सरकार द्वारा नकद सहायता।

वास्तव में इस सम्बन्ध में सबसे आदर्श उपाय पूर्ण पृथक्करण का है। परन्तु कहीं भी पूर्ण प्रथक्करण की व्यवस्था सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्ततः इकाइयों को प्रत्यक्ष कर तथा संघ के जिम्मे अप्रत्यक्ष करों का रखना अच्छा समझा जाता है। परन्तु इधर थोड़े दिनों की अनुभूतियों से यह बात टीक नहीं मालूम पड़ी है। इनका मुख्य कारण यह है कि इन दिनों संघ के हाथ में अधिक से अधिक कार्यों के करने का उत्तरदायित्व आता जा रहा है। सन् १९१३ में संयुक्त राज्य अमरीका में संघ सरकार के हाथ में आय कर आ गया था, आस्ट्रेलिया में भी संघ सरकार को आय कर का ६०% मिलता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस पद्धति का प्रचलन दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

साधारणतया तीन प्रकार की सूचियाँ रखी जाती हैं :—

(१) केवल संघीय सूची,
(२) केवल प्रान्तीय सूची,
(३) संयुक्त सूची।

संघ सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सहायता संघीय राजस्व का मुख्य अङ्ग है। इस प्रकार की नकद सहायता देने के कई कारण हैं। सर्व प्रथम तो यह कि प्रान्तों का कार्य मुख्य रूप से सार्वजनिक हित या कल्याण के कार्यों का विकास करना होता है। इन कार्यों की पूर्त्ति के लिए काफी पूँजी की आवश्यकता होती है, प्रान्तों के पास आय के इतने साधन नहीं होते जिनसे कि वे इन कार्यों की अच्छी तरह पूर्त्ति कर सकें। इनके अतिरिक्त प्रान्तीय असमानताओं को दूर करने के लिए भी केन्द्र द्वारा नकदी सहायता की आवश्यकता होती है। संघीय राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था की कठिनाइयों को दूर करने के सम्बन्ध में वित्त विशेषज्ञ बहुत दिनों से विचार कर रहे हैं। साइमन कमीशन के आर्थिक सलाहकार सर वाल्टेयर लेटन का कथन था कि भारत में प्रान्तों तथा केन्द्र के साधनों में पूर्ण पृथक्करण नहीं हो सकता। लेटन महोदय एक 'टैक्स पूल' स्थापित करने के पक्ष में थे जिससे कि प्रान्तों को उनकी आवश्यकता के अनुसार सहायता दी जा सके। वर्त्तमान राजस्व व्यवस्था बहुत कुछ लेटन महोदय के विचारों पर आधारित है।

नवीन संविधान में राजस्व व्यवस्था—भारत के नवीन संविधान में १९३५ ई० के विधान में दी गई वितरण-व्यवस्था को ही अपना लिया गया है। इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार के आय के स्रोत--आयात-निर्यात कर, कुछ वस्तुओं पर उत्पत्तिकर, आयकर (जिसमें कि कारपोरेशन कर भी सम्मिलित है), डाकखाने, तारघर तथा रेलवे—हैं। राज्यों को मालगुजारी, जंगल, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन, प्रान्तों की सूची के उत्पत्तिकर, कृषि-आय-कर तथा कुछ अन्य करों से आय प्राप्त होगी। विशेषज्ञ समिति ने वर्तमान वितरण-व्यवस्था को ही चालू रखने का सुझाव दिया था। वर्तमान व्यवस्था संविधान के लागू होने से पाँच वर्ष तक जारी रहेगी।

विशेषज्ञ समिति जिसके कि अध्यक्ष श्री एन० आर० सरकार थे, यह सुझाव दिया था कि केन्द्र को आयात-निर्यात कर, रेलवे के भाड़े तथा महसूल, तथा केन्द्र के उत्पत्ति करों से होने वाली आय को अपने हाथ में रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं की वास्तविक आय में भी केन्द्र का हिस्सा रहना चाहिए। संघीय स्टाम्प शुल्क, माल पर सीमा कर, औषधियों आदि पर उत्पत्ति कर का प्रबन्ध केन्द्र द्वारा होगा परन्तु ये सब प्रान्तों के हित के लिए किया जायगा। जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों के लिए दस वर्ष के लिए एक निश्चित रकम स्वीकृत कर दी गई है। पहले की अपेक्षा आसाम और उड़ीसा को अधिक नकदी सहायता दी गई है। पश्चिमी बंगाल तथा पूर्वी पंजाब को भी कुछ समय के लिए नकदी सहायता देने का विचार किया गया है। तम्बाकू की उत्पत्ति कर के ५०% को भी प्रान्तों में वितरित कर दिया जायगा। यह वितरण इन विभिन्न प्रान्तों के उपयोग के अनुसार किया जायगा। इसी प्रकार ६०% से ऊपर ही उत्तराधिकारी तथा सम्पत्ति करों का भी विभाजन किया जायगा।

संविधान में एक वित्तीय आयोग (Finance Commission) की भी नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। इस आयोग का मुख्य कार्य केन्द्र द्वारा प्रबन्धित करों में प्रान्तों के हिस्सों का निश्चय करना, प्रान्तों से आए हुए सहायता के लिए आवेदनों पर विचार करना, तथा राष्ट्रपति द्वारा पूछे गए अन्य विषयों पर परामर्श देना होगा। यह आयोग प्रति पाँचवें वर्ष सारी स्थिति का अध्ययन करेगा।

भारत में वर्तमान समय में राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था अच्छी नहीं है। जहाँ राज्यों का सम्बन्ध है उनके पास पर्याप्त साधन नहीं हैं जिससे कि वे समाज-सेवा सम्बन्धी कार्यों का भलीभाँति निर्वाहन कर सकें। केन्द्रीय सरकार के पास काफी बचत नहीं होती जिससे कि वे राज्यों को अच्छी सहायता प्रदान कर सकें। आवश्यकता इस बात की है कि भारत में केन्द्रीय सरकार अन्य संघीय सरकारों की भाँति सामाजिक संगठन की योजनाओं को कार्यान्वित करने में उनको निर्देशित व संगठित करने में काफी हाथ बटाए। राज्य तथा केन्द्र मिलकर राष्ट्र के विकास का प्रयत्न करें। आज भारत के सन्मुख कितनी ही महत्वपूर्ण आर्थिक समस्याएँ हैं, इन समस्याओं का अच्छा हल तभी हो सकता है जब कि केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें मिलकर इनको हल करने का प्रयत्न करें।

कुछ दिनों पूर्व देश के कुछ वाणिज्य संघों ने केन्द्रीय सरकार से प्रान्तों की आर्थिक नीतियों के विरुद्ध आवेदन किया था। उन्होंने कहा था कि प्रान्त बिना किसी अन्तर्प्रान्तीय बात का विचार किए हुए अन्धाधुन्धी कर लगाते चले जाते हैं जिसका प्रभाव उद्योग तथा व्यवसाय पर बड़ा बुरा पड़ता है। इन लोगों ने कुछ राज्यों द्वारा लगाए गए बिक्री कर आदि के विरोध में काफी असन्तोष प्रगट किया था। केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह इस ओर अच्छा ध्यान दे। ऐसी स्थिति में राजस्व सम्बन्धी क्षेत्र में एकत्व की स्थापना करने के लिए कर-निर्धारण, व्यय, ऋण आदि के सम्बन्ध में एकरूपात्मक नीति के अनुकरण करने की आवश्यकता है।

भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर, तथा देशी राज्यों के भारतीय संघ में मिल जाने से ऐसी आशा की जाती है कि राज्यों तथा प्रान्तों में रहा-सहा भेद बिल्कुल दूर हो जायगा। १९५० की पहली अप्रैल से भारतीय राज्यों में केन्द्रीय विषयों के आर्थिक नियंत्रण-नियमन आदि की ओर क्रियात्मक कदम उठाने का विचार किया है। दस वर्षों के अन्दर ही इस क्षेत्र में शासन तथा अन्य आर्थिक आवश्यकताओं के पूरा करने का विचार किया है। इस प्रकार धीरे-धीरे एकीकरण की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया गया है, जब तक एकीकरण का यह कार्य पूर्ण नहीं होगा तब तक राज्यों में केन्द्रीय विषयों का प्रबन्ध राज्य की सरकारें केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि के रूप में करेंगी।

देशी राज्य तथा राज्य-संघों की आन्तरिक राजस्व व्यवस्था का संगठन भी प्रान्तों के अनुरूप ही किया जायगा। इन राज्यों के भी वही अधिकार और कर्त्तव्य रहेंगे जो कि प्रान्तों के रहेंगे। प्रान्तों की भाँति इन राज्यों को भी केन्द्रीय सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होती। अब भारत की तमाम आन्तरिक व्यापारिक रुकावटों को दूर कर दिया गया है और सम्पूर्ण देश केवल एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य कर रहा है। केन्द्रीय सरकार ने राज्यों के लिए रेलवे, सुरक्षा, डाक व तार आदि के सम्भालने का उत्तरदायित्व अपने हाथ में ले लिया है। १६५० की पहली अप्रेल से आयकर, सेन्ट्रल एकसाइज, तथा अन्य केन्द्रीय कर सभी राज्यों में केन्द्रीय सरकार द्वारा लगा दिए गए हैं।

इकतीसवां परिच्छेद

केन्द्रीय राजस्व

पिछले परिच्छेद में हमने भारतीय राजस्व व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्वों पर प्रकाश डाला, साथ ही हमने यह भी देखा कि प्रान्तों तथा केन्द्र के सम्बन्धों में किस प्रकार विकास हुआ। इस परिच्छेद में केन्द्रीय राजस्व पर विचार करेंगे। केन्द्रीय राजस्व की मुख्य मदें आयात-निर्यात कर, केन्द्रीय उत्पत्ति-कर, कारपोरेशन कर, आय कर, तथा अफीम व नमक कर हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्र की आय की अन्य मदें रेलवे, डाक व तार, सिंचाई, नागरिक-प्रशासन मुद्रा तथा टकसाल, सुरक्षा सम्बन्धी सेवाएं तथा कुछ अन्य साधन हैं।

आइये अब हम इन मदों पर अलग-अलग प्रकाश डालें।

आयात-निर्यात कर—इस मद में जैसा कि उसका नाम सूचित करता है, आयात तथा निर्यात दोनों कर सम्मिलित रहते हैं। सन् १८५७ के महान विप्लव के पूर्व आयात कर ५% से कम था, विप्लव के बाद आर्थिक संकट के कारण इसे बढ़ाकर १०% कर दिया गया परन्तु इंगलैण्ड के उद्योगपतियों के विरोध के कारण १८७५ में इसे फिर ५% कर दिया गया, १८८२ में इसे बिल्कुल ही हटा दिया गया। १८९४ में भारत सरकार ने अपनी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए ५% के हिसाब से फिर आयात-कर लगा दिया। इस बार फिर लंकाशायर के उद्योग-पतियों ने इसका विरोध किया, अतएव उनको सन्तुष्ट करने के लिए भारत में बीस कोये तथा इससे उपर वाले कोये पर ५% के हिसाब से उत्पत्ति-कर लगा दिया। इससे भी उन्हें सन्तोष न हुआ तो सूती कपड़े पर से आयात-कर घटकर ३$\frac{1}{2}$% कर दिया गया, इसी तरह का उत्पत्ति कर भारत में भी बनाने वाले कपड़े पर लगा दिया गया।

भारत में अंगरेज-शासकों की इस दुर्नीति का विरोध किया गया, भारतीय नेताओं ने इस बात की कड़ी आलोचना की। परन्तु भारतीय कपड़े के उद्योग को हानि सहना ही बदा था। भारत में बना हुआ सूती कपड़ा मैनचेस्टर और लङ्काशायर में बने हुए महीन कपड़ों का मुकाबला नहीं कर सकता था। इससे यहां के धनी व्यक्ति जो कि महीन कपड़ा पहनते थे, उन्हें तो अच्छा लाभ हुआ किन्तु वे निर्धन व्यक्ति जो कि मोटा कपड़ा पहनते थे, उन्हें हानि उठानी पड़ी। बाद में समय-समय पर देश की आर्थिक कठिनाइयों को देखते हुए आयात कर में वृद्धि कर दी गई परन्तु उत्पत्ति कर वही ३$\frac{1}{2}$% रहा अन्त में १९२६ में इसे बिल्कुल उठा दिया गया। १९२४ में जब कि विवेचनात्मक संरक्षण-नीति का अनुसरण किया गया तो आयात कर संरक्षण-कर में परिवर्तित कर दिया गया। आयात-निर्यात-कर से सरकार को आर्थिक कठिनाइयों के समय काफी सहायता मिली।

जहाँ तक निर्यात-कर का सम्बन्ध है केवल जूट, चमड़ा व खाल पर ही यह कर लिया जाता रहा है। सन् १९४८-४९ में तिलहन तथा बनस्पति घी पर निर्यात-कर लगाया गया किन्तु १९४९-५० में इसे हटा दिया गया। १९४९-५० में सिंगार तथा सिगरेट पर एक नवीन निर्यात कर लगाया गया। १९४८ की नवम्बर में निकाले गए एक अध्यादेश द्वारा देश में फैली हुई मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए टैरिफ में कुछ परिवर्त्तन किए गए। इसके अनुसार विलासिता की कुछ वस्तुओं के कर में वृद्धि कर दी गई। १९४९-५० के बजट तक यह क्रम जारी रहा। अतएव शराब तथा रेशम, कृत्रिम रेशम, उन, व ऊनी माल आदि पर अतिरिक्त कर लगा दिया गया, कागज, स्टेशनरी का सामान, काँच का सामान, फोटोग्राफी का सामान, घड़ियाँ तथा धातु के बने हुए फर्नीचर आदि

पर के कर में वृद्धि कर दी गई। मोटर स्प्रिट पर भी बारह आने के स्थान पर आयात-कर पन्द्रह आना प्रति गैलन कर दिया गया। इन आयात-करों का प्रभाव सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर काफी पड़ा इसके बाद उससे कम प्रभाव विलासिता की वस्तुओं पर पड़ा तथा सबसे कम प्रभाव कच्चे माल तथा बड़े-बड़े सामानों पर पड़ा। आयात-निर्यात कर, कर-निर्धारण के समानता के सिद्धान्त की शर्तों को पूरा नहीं करता, क्योंकि इससे निर्धन व्यक्तियों पर जितना भार पड़ता है, उतना धनी व्यक्तियों पर नहीं।

अब भारत स्वतन्त्र हो गया है, वह अपने औद्योगिक विकास की ओर बढ़ता जा रहा है। अतएव भविष्य में इस स्रोत से विशेष अच्छी आय होने की आशा नहीं है।

उत्पत्ति कर (Union Excise Duties)—उत्पत्ति कर को अंग्रेजी में 'एक्साइज' कहते हैं। एक्साइज़ कर वह कर कहलाता है जो देश में उत्पन्न होने वाले कुछ विशेष पदार्थों पर या कुछ वस्तुओं के व्यापारिक लाइसेन्स पर लगता है। इस कर का उद्देश्य या तो सरकारी आय होता है अथवा कुछ वस्तुओं के उपयोग पर नियंत्रण। पहले अंग्रेज सरकार ने फौलाद, मोटर स्प्रिट, तथा मिट्टी के तेल पर यह कर लगाया था परन्तु १६३४ में सबसे महत्वपूर्ण उत्पत्ति-कर लगाये गये जिन वस्तुओं पर यह कर लगाया गया उनमें से मुख्य शकर तथा दियासलाइयाँ थीं। पहले देशी खाँडसारी शकर पर ।।।-) प्रति हन्डरवेट तथा चीनी पर १।-) प्रति हन्डरवेट के हिसाब से उत्पत्ति-कर लगाया गया। १६३७ में खांडसारी शकर की दर १।-) तथा मिल की बनी हुई चीनी पर २) प्रति हन्डरवेट के हिसाब से कर बढ़ा दिया गया। १६४० में युद्ध के समय में खांडसारी को छोड़कर अन्य शकर पर २ रुपये के स्थान पर तीन रुपया प्रति हन्डरवेट उत्पत्ति-कर कर दिया गया। इस बात का विरोध भी किया गया किन्तु कुछ लाभ न मिला। इसी प्रकार पहले दियासलाई पर भी ४० से कम सींक वाले बक्सों पर १) प्रति कोड़ी, ४० से लेकर ६० सींक तक के बक्सों पर १।।) तथा ६० सींक से ऊपर वाले बक्सों पर ३) प्रति कोड़ी के हिसाब से उत्पत्ति-कर लगाया गया। युद्ध के समय (१६४१ में) इन दरों को दुगना कर दिया गया १६४६-४७ के बजट में इस कर में कमी की गई परन्तु १६४८-४६ में ५० सींक वाले बक्सों पर २।।) प्रति कोड़ी के हिसाब से उत्पत्ति-कर बढ़ा दिया गया। इन करों के लगाने का मुख्य कारण भारतीय बजट के सन्तुलन को ठीक करना था।

सन् १६४८-४६ में चाय तथा कहवा पर ५०% के हिसाब से तथा बनस्पति घी पर ७ रुपये प्रतिशत के हिसाब से उत्पत्ति-कर लगाया गया। १६४६ की जनवरी से सुपरफाइन कपड़े पर मूल्यानुसार २५%, फाइन कपड़े पर ६$\frac{1}{4}$% तथा मोटे कपड़े पर एक पैसा प्रति गज के हिसाब से उत्पत्ति-कर लगाया गया। १६४६-५० के बजट में चीनी पर ३) के स्थान पर ३।।।) प्रति हन्डरवेट उत्पत्ति-कर कर दिया गया। मोटर टायर के उत्पत्ति-कर में भी वृद्धि कर दी गई।

हमने ऊपर कहा कि भारत सरकार ने सूती कपड़े पर भी उत्पत्ति-कर लगा दिया है। यहाँ पर हमें स्मरण रखना चाहिये कि सूती कपड़े पर लगाये गये इसी उत्पत्ति-कर का अंग्रेजों के समय में (१८६४ में) हमने बड़ा विरोध किया था और हमारे विरोध के कारण ही १६२६ में अंग्रेज सरकार को इसे हटाना पड़ा था। आज जब कि हम स्वतंत्र हो गये हैं, यह कर फिर हमारे मत्थे मढ़ दिया गया है। कहना न होगा कि कपड़ा हमारे दैनिक उपभोग की वस्तु है इस पर इस प्रकार का कर लगाया जाना उचित नहीं है।

आय-कर—यह कर विशेषतया लाभ या वेतन पर लगता है। कृषि से होने वाली आय पर यह कर नहीं लगता। उस पर कहीं-कहीं दूसरा कर लगता है जिसे कृषि आय-कर कहते हैं, इसके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा।

भारतवर्ष में आय-कर सन् १८६० ई० से लगने लगा है। वैसे तो समय-समय पर आय-कर व्यवस्था में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहा किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन १९०३ में किये गये, इस समय आय-कर की लगने की न्यूनतम रकम ५००) के स्थान पर २०००) कर दी गई। १९१६ में इसकी दरों में संशोधन किया गया, १९३१ में आय-कर से मुक्त होने वाली रकम की न्यूनतम सीमा १,००० कर दी गई तथा आय-कर व सुपर टैक्स पर अतिरिक्त कर लगा दिया गया, सुपर टैक्स का प्रचलन किया गया। १९३५ में आय-कर से मुक्त रकम की न्यूनतम सीमा दो हजार रुपया कर दी गई, १९४८ में यह ३,००० तथा १९५० में ३,६०० रुपया कर दी गई।

सन् १९३५ में भारत की आय-कर व्यवस्था का अध्ययन करने के लिये भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की। इस समिति के सुझावों के अनुसार १९३९ में आय-कर-कानून (Income-Tax Act) पास किया गया। इस कानून के अनुसार भारत की आय-कर व्यवस्था में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। अब आय-कर 'स्लैब सिस्टम' या परत-पद्धति से लगाया जाने लगा। आय की परतें निर्धारित कर दी गई और प्रत्येक आगे की परत पर कर की वर्द्धमान दरें निश्चित रहीं। इस पद्धति से यह आशा की जाती है कि आय-कर में वृद्धि होगी, साथ ही इससे निर्धन-कर-दाताओं को कुछ लाभ प्राप्त होगा। इस कर के द्वारा आय-कर व्यवस्था के दोषों और अभावों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। इस कानून के अनुसार न्यूनतम सीमा से ऊपर वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय का हिसाब रखना आवश्यक कर दिया गया है, जो व्यक्ति ऐसा नहीं करेंगे वे दण्ड के भागी होंगे। १९४५-४६ के बजट में उपार्जित तथा अनुपार्जित आय में अन्तर को निश्चित कर इस दिशा में और विकास किया गया जिसके अनुसार उपार्जित आय वालों को कुछ सुविधा प्रदान की गई किन्तु १९५०-५१ के बजट में इस अन्तर को दूर कर दिया गया।

हमारी आय-कर व्यवस्था में मुख्य रूप से दो दोष हैं। सर्वप्रथम इस पद्धति में व्यक्ति को इकाई न मान कर कुटुम्ब को इकाई माना गया है। वास्तव में समानता के सिद्धान्त के अनुसार हमें यह देखना चाहिये कि यदि दो व्यक्तियों की आय एक-सी है परन्तु एक व्यक्ति का कुटुम्ब दूसरे से काफी बड़ा है तो हमें बड़े कुटुम्ब वाले व्यक्ति को आय-कर में कुछ छूट देनी चाहिये। इङ्गलैण्ड में इस प्रकार की छूट दी जाती है किन्तु भारत में इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यहाँ साधारणतया सभी का परिवार बड़ा है इसलिये सभी को इस प्रकार की छूट देनी पड़ेगी। इससे प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होंगी।

हमारी आय-कर व्यवस्था का दूसरा दोष यह है कि अभी देश में कितने ही ऐसे प्रान्त हैं जहाँ पर कि कृषि से होने वाली आय, भले ही वह कितनी विशाल हो किन्तु उस पर आय-कर नहीं लिया जाता। हमारी आय-कर व्यवस्था का यह बड़ा दोष है और इसे दूर करने के लिये, इसमें सुधार करने के लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये।

आयात-निर्यात कर के बाद केन्द्रीय सरकार के आय का महत्वपूर्ण स्रोत आय-कर है। इससे केन्द्रीय सरकार को काफी आमदनी होती है। युद्ध के समय में आय-कर पर एक अतिरिक्त कर (सर-चार्ज) तथा एक अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax) भी लगा दिया गया था किन्तु बाद में १९४६ में इसे हटा दिया गया। १९४७-४८ के बजट में व्यापार से होने वाली आय पर एक व्यापार-लाभ-कर (Business Profits Tax) लगा दिया गया है। १९५०-५१ के बजट में यह अनुमान किया गया था कि आय-कर से १४३.९० करोड़ रुपये की आय होगी।

आय-कर की दर १९५०-५१ की—(अ)—प्रत्येक व्यक्ति, हिन्दू धर्म को मानने वाले संयुक्त कुटुम्ब, रजिस्ट्री न की हुई फर्मों (कोठियों) तथा व्यक्तियों के अन्य सङ्घों को आय-कर देना होगा। यह उसी समय देना होगा जब कि किसी व्यक्ति की आय ३,६०० रुपये से अधिक हो

जाती है तथा संयुक्त हिन्दू परिवार की आय ६,००० रुपये से बढ़ जायगी। आय की दर इस प्रकार है :—

कुल आय के पहले १,५०० रु० पर कुछ नहीं
,, ,, ,, अगले ३,५०० रु० पर)||| फी रुपया
,, ,, ,, ,, ५,००० रु० पर -)||| ,, ,,
,, ,, ,, ,, ५,००० रु० पर ≶) ,, ,,
,, ,, ,, ,, शेष पर |) ,, ,,

(ब) प्रत्येक कम्पनी रजिस्ट्री की हुई फर्म के लिए चाहे उसकी जितनी आय हो |) आना फी रुपया।

सुपर टैक्स की दर (अ)—प्रत्येक व्यक्ति, संयुक्त हिन्दू परिवार तथा रजिस्ट्री न किए हुए फर्म या अन्य संघों पर : —

कुल आय के पहले २५,००० रु० पर कुछ नहीं
,, ,, ,, अगले १५,००० रु० पर ≶) फी रुपया
,, ,, ,, ,, १५,००० रु० पर |) फी रुपया
,, ,, ,, ,, १५,००० रु० पर |=) फी रुपया
,, ,, ,, ,, १५, ०० रु० पर |≶) फी रुपया
,, ,, ,, ,, १५,००० रु० पर |≶)|| फी रुपया
,, ,, ,, ,, १५,००० रु० पर ||) फी रुपया
,, ,, ,, ,, शेष पर ||)|| फी रुपया

(ब) कम्पनियों से ली जाने वाली कर की दर |) फी रुपया चाहे जितनी आय हो।

कृषि आय पर कर—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारी कर व्यवस्था का एक बड़ा दोष यह है कि कुछ प्रान्तों में चाहे कृषि से होने वाली आय कितनी ही बड़ी है किन्तु उससे कोई कर नहीं लिया जाता। यह कहना कि कृषक लोग आय-कर के स्थान पर मालगुजारी देते हैं और यदि वे इस पर आय-कर भी देने लगे तो उन पर दुगना भार बढ़ जायगा, यह बात भी ठीक नहीं जँचती। मालगुजारी या तो स्थायी होती है या अस्थाई। जिन लोगों को मालगुजारी सदा एक सी देनी पड़ती है, उन्हें कृषि से समय-समय पर होने वाली आय की वृद्धि से काफी लाभ हो जाता है, जिन लोगों को अस्थायी बन्दोबस्त के अनुसार मालगुजारी देनी होती है, उनकी भी मालगुजारी की दर लम्बी अवधि के लिए निश्चित की जाती है, इस समय में खेती की पैदावार के मूल्य में जो वृद्धि होती है उस वृद्धि को देखते हुए मालगुजारी की दर में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, इस प्रकार वे उससे अच्छा लाभ उठा लेते हैं। इसलिए किसी आधार पर भी कृषि आय को आय-कर से मुक्त रखने की बात का समर्थन नहीं किया जा सकता। कृषि आय कर से राज्य के राजस्व में वृद्धि होगी, इससे कृषक तथा गैर कृषक जनता पर कर के भार के समान होने में सहायता मिलेगी। इससे काश्तकार तथा जमींदारों के कर सम्बन्धी भार के समान होने में सहायता मिलेगी।

आज जब कि युद्ध के समाप्त हो जाने के कारण कृषि उत्पादन के मूल्य में काफी वृद्धि हो गई है, कृषकों को काफी लाभ मिला है, ऐसी स्थिति में यदि उनसे उचित परिमाण में आय कर लिया जाने लगे तो कोई अनुचित बात न होगी। वैसे तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृषि से होने वाले लाभ का मूल्यांकन करना सुगम नहीं है परन्तु इस सम्बन्ध में अपने मालगुजारी वाले कागजातों, रिकार्डों से काफी सहायता मिलेगी, मालगुजारी वसूल करने के लिए सभी राज्यों में सरकारी कर्म-

चारियों का काफी अच्छा संगठन है, उनके सहयोग से इस कठिनाई के दूर होने में हमें काफी सुविधा प्राप्त होगी। देश के कुछ राज्यों ने अपने-अपने क्षेत्र में कृषि-आय-कर लगाना शुरू कर दिया है। आशा है निकट भविष्य में इस दिशा में अच्छे नियमों का निर्माण होगा और इस स्रोत से सरकार को अच्छी आय प्राप्त हो सकेगी।

नमक कर (Salt Tax) नमक कर देश के महत्वपूर्ण करों में से रहा है। इसी कर के विरुद्ध सन् १९३० में महात्मा गान्धी ने सत्याग्रह किया था। भारत में किसी भी कर का ऐसा प्रबल, व्यापक और संगठित विरोध नहीं हुआ जैसा कि इस कर का हुआ। भारत में विशाल समुद्र-तट, नमक की झील, नमक के पहाड़ होने के कारण यहाँ जनता की इस पदार्थ सम्बन्धी आवश्यकताएँ सहज ही पूरी हो सकती थीं तो भी कुछ नमक यहाँ बाहर से आता था। इसका कारण अंगरेज सरकार की नीति थी। वह स्वाभाविक रूप से मिलने वाले या बनाए जा सकने वाले नमक का जनता को यथेष्ट उपभोग नहीं करने देती थी। वह इस पर अपना एकाधिकार रखती थी तथा काफी कर लगाती थी।

अनुमानतः इस कर से नौ करोड़ रुपए की आय होती थी। इसी कारण जनता का विरोध होते हुए भी सरकार इस कर को लगाती थी। आखिर १ अप्रेल १९४७ से राष्ट्रीय सरकार ने इस कर को समाप्त किया। इससे भारत सरकार को लगभग ८ करोड़ रुपए की आय की हानि हुई है। अब लोगों को नमक बनाने की स्वतंत्रता है, इसके लिए उन्हें कोई लाइसेन्स लेने की जरूरत नहीं होती।

अफीम-कर—भारत सरकार का देश में उत्पन्न की जाने वाली अफीम के उत्पादन तथा वितरण पर एकाधिकार है। अफीम पोश्ते के दाने से बनाई जा सकती है। पोश्ता वही व्यक्ति बो सकता है जिसे कि लायसेन्स प्राप्त है, लायसेन्स प्राप्त व्यक्ति को पोश्ते की सारी उपज सरकार के हाथ में बेच देनी पड़ती है, इसके बाद सरकारी कारखानों में इससे अफीम का निर्माण किया जाता है।

अब से चालीस वर्ष पहले अफीम का चीन आदि देशों को निर्यात करके भारत-सरकार इस मादक पदार्थ के कर से प्रति वर्ष २०-२५ करोड़ रुपया पैदा करती थी। परन्तु यह आय अनैतिक थी, इससे चीन वालों के स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा असर पड़ता था। इसलिए सन् १९०८ से अफीम के निर्यात में क्रमशः कमी की जाने लगी। १९१७ से औषधि के रूप के सिवाय इसका निर्यात नहीं किया जाता। १९५०-५१ में अनुमानतः इस स्रोत से केवल १५५ लाख रुपए की आय हुई। प्रान्तीय सरकारों द्वारा मादक पदार्थों का उपयोग यथा सम्भव बन्द करने से इस कर का आय के रूप में रहा-सहा महत्व भी कम हो जायगा।

मृत्यु कर (Death Duty)—मृत्यु कर को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं एक तो जायदाद कर (Estate Duty) तथा उत्तराधिकार कर (Succession Duty)। जायदाद कर उस समय लगाया जाता है जबकि किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी जायदाद उत्तराधिकारियों के हाथ में चली जाती है। यह मृतक की जायदाद के कुल मूल्य के हिसाब से लिया जाता है। इसके विपरीत उत्तराधिकार कर प्रत्येक उत्तराधिकारी को मिले हुए हिस्से के हिसाब से लिया जाता है।

आधुनिक काल में प्रायः प्रत्येक राज्य के लिए मृत्यु-कर आय का एक अच्छा स्रोत माना जाता है। भारत में भी कर-निर्धारण समिति, १९२४-२५ (Taxation Inquiry Committee) ने इन करों के लगाने की सिफारिश की थी परन्तु उस पर कुछ कार्य नहीं किया जा सका। सन् १९३५ के कानून के पास होने के समय तक इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श होता

रहा। अन्त में १९३५ के कानून में एक संशोधन के द्वारा भारतीय विधान सभा को इस सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया। केन्द्रीय सरकार को मृत्यु-कर लगाने का अधिकार मिल गया। अतएव १९४६ में केन्द्रीय विधान सभा में जायदाद शुल्क विधेयक (Estate Duty Bill) पेश किया गया किन्तु राजनीतिक परिवर्त्तनों के कारण इस विधेयक को स्वीकृत न किया जा सका। अन्त में १९४८ में भारतीय संघ की पार्लियामेन्ट ने इस विधेयक को पेश किया। इस विधेयक के पेश करने का मुख्य उद्देश्य सम्पत्ति के असमान वितरण को दूर करना तथा राज्यों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करना था।

यह सम्पत्ति-कर मृतक द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के कुल मूल्य पर लिया जायगा। अभी इस विधेयक में दो बातों के और पूरे किए जाने की आवश्यकता है—एक तो शुल्क की दर, दूसरे उससे होने वाली आय का प्रान्तों में वितरण की व्यवस्था। शुल्क की दर केन्द्रीय सरकार द्वारा समय-समय पर निश्चित की जायगी तथा इससे होने वाली आय का प्रान्तों में वितरण प्रान्तों के परामर्श पर ही निश्चित किया जायगा। परामर्श के बाद होने वाले निर्णय को एक केन्द्रीय विधि में उल्लिखित कर दिया जायगा।

आशा है कि इस विधेयक के पास होने से राष्ट्रीय सम्पत्ति के और अच्छे वितरण में सहायता मिलेगी, सामाजिक न्याय तथा संगठन के और अधिक दृढ़ होने में सुविधा प्राप्त होगी। सम्पत्ति कुछ थोड़े से ही हाथों में एकत्रित रहने के बजाय अच्छे रूप से वितरित हो सकेगी। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह आशंका करते हैं कि इस कानून से संयुक्त हिन्दू परिवार की स्थिति को गहरा धक्का लगेगा।

रेलवे से—सन् १९०० तक रेलों से कुछ भी लाभ नहीं होता था, इसके बाद से रेलों से अच्छा लाभ होने लगा। इस सम्बन्ध में हम विशेष प्रकाश पहले डाल चुके हैं। १९५०-५१ के सामान्य बजट में इस मद से होनेवाली आय अनुमानतः ६.३७ करोड़ रुपए थी।

डाक व तार विभाग से—इस स्रोत की आय विशेष नहीं है। यह विभाग मुख्य रूप से सार्वजनिक कल्याण के लिए ही खुले हुए हैं। १९५०-५१ के बजट में इस विभाग की वास्तविक आय अनुमानतः ४.४८ करोड़ थी।

इसके अतिरिक्त आय की कुछ अन्य मदें भी हैं जो इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं।

केन्द्रीय व्यय (Central Expenditure)—रेलों को छोड़ कर केन्द्रीय सरकार की व्यय की मुख्य मदें—सुरक्षा, शान्ति और सुव्यवस्था तथा ऋण सम्बन्धी व्यय है। भारत में सार्वजनिक व्यय की रकम में शनैः-शनैः काफी वृद्धि होती चली गई है। सन् १८९९-१९०० में सरकारी व्यय ८८·०७ करोड़ रुपया था। सन्१९४९-५० में यह ३२२·५३ करोड़ रुपया हो गया। १९५०-५१ में कुल सरकारी व्यय अनुमानतः ३३७.८८ करोड़ रुपया थ। १९४९-५० में सुरक्षा सम्बन्धी व्यय १७०.०६ करोड़ तथा १९५०-५१ में अनुमानतः १६८.०१ करोड़ रुपया था। विभाजन के बाद से सुरक्षा सम्बन्धी व्यय में और वृद्धि हो गई है। इस वृद्धि का मुख्य कारण समस्त विश्व में फैली हुई राजनीतिक अस्थिरता, हैदराबाद की पुलिस कार्रवाई, काश्मीर का युद्ध तथा जल व वायु सेना के विकास के लिए किए गये कार्य हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से नागरिक-प्रशासन में भी काफी व्यय हुआ है। १९३८-३९ से लेकर १९४८-४९ तक के इस दशाब्द में यह व्यय २४·८ करोड़ रुपए के स्थान पर ४०.५ करोड़ रुपया हो गया। १९५०-५१ में यह व्यय अनुमानतः ५०.०६ करोड़ रुपया था।

वैसे तो युद्ध समाप्त हो जाने के बाद इस व्यय में कुछ कमी होनी चाहिए थी किन्तु युद्ध के समय जो बहुत से नए विभाग खोले गए वे अभी तक चल रहे हैं। इसलिए उनका खर्चा अभी

वैसा ही पड़ रहा है। फिर विभाजन के कारण, शरणार्थियों आदि के आवागमन से, स्वतंत्रता प्राप्ति के कारण, विदेशों में दूतावास स्थापित करने के कारण इस व्यय में और भी वृद्धि हुई है। १६४६ में केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त की गई अर्थ समिति (Economy Committee) ने प्रशासन में छै करोड़ रुपए की कमी करने का सुझाव दिया था। समिति ने कहा कि सरकार को चाहिए कि वह अपनी कुछ योजनाओं को कम करे। सरकार इन सुझावों के अनुसार कार्य कर रही है, अब कोई नवीन योजनाओं को न तो कार्यन्वित किया जायगा और न कोई नवीन दूतावास ही स्थापित किया जायगा। आशा भविष्य में सरकार इस दिशा में और कमी करने का प्रयत्न करेगी।

युद्ध के समय में केन्द्रीय राजस्व—युद्ध के समय में जहाँ पर भारत की अन्य स्थितियों पर प्रभाव पड़ा वहाँ उसके राजस्व पर भी बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १६३८-३६ में कुल व्यय ८५·१५ करोड़ रुपया था जब कि युद्ध के समय में १६४४-४५ में ५१२·६५ करोड़ रुपया हो गया। १६३६-४० में सुरक्षा सम्बन्धी व्यय ५३ करोड़ रुपया था, १६४४-४५ में यह व्यय ६०० करोड़ रुपया हो गया, १६४५-४६ में भी लगभग यही व्यय रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध के पूर्व की अपेक्षा युद्ध के समय में काफी वृद्धि हुई। व्यय के साथ ही साथ युद्ध के समय में सरकारी आय में भी वृद्धि हुई।

हम यहाँ पर युद्ध के समय सरकारी आय तथा व्यय दोनों पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे।

व्यय—युद्ध के छै वर्षों में सरकार का औसत व्यय १५६८ करोड़ रुपया था। युद्ध के पूर्व के समय में साधारणतया यह रकम ५११ करोड़ रुपया रहती। युद्ध के समय में सरकारी व्यय के इतने अधिक परिमाण में बढ़ जाने का कारण सरकार का सुरक्षा सम्बन्धी व्यय था जो कि युद्ध के पूर्व १६३८ में ४६·१८ करोड़, किन्तु युद्ध के समय में १६४४-४५ में ३६७·२३ करोड़, १६४५-४६ में ३६१·३५ करोड़ रुपया हो गया।

इन आँकड़ों से भी हम युद्ध में किये गये सुरक्षा सम्बन्धी व्यय का पूरा पता नहीं लगा सकते। इसके अतिरिक्त भी ब्रिटिश सम्राट के लिये कुछ और भी व्यय किया गया था।

आय—हम ऊपर कह चुके हैं कि युद्ध के समय में सरकार का व्यय बहुत बढ़ गया था। इस व्यय की पूर्ति के लिये आय में वृद्धि करना भी आवश्यक था। इसलिये भारत सरकार ने करों आदि की दर बढ़ाकर, नए कर लगाकर, जनता से ऋण लेकर तथा मुद्रा-स्फीति उत्पन्न कर इस व्यय की पूर्ति की। युद्ध के छै वर्षों में कुल आय ११,१३ करोड़ रुपया थी जो कि युद्ध के पूर्व सामान्यतः ५६७ करोड़ रुपया रहती। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस समय आय में १००% की वृद्धि हुई।

युद्ध के समय में सरकार ने जो अतिरिक्त कर लगाए उनसे अच्छी आय हुई। कुल वृद्धि का दो तिहाई भाग इन्हीं करों द्वारा हुआ। सन् १६४० में आयकर, सुपर-टैक्स, कारपोरेशन करों पर २५ प्रतिशत के हिसाब से अतिरिक्त कर लगाया गया, १६४१-४२ में इसे ३३⅓ प्रतिशत तथा १६४२-४३ में ५० प्रतिशत कर दिया गया। १६४३-४४ में कारपोरेशन कर, आयकर की दरों में वृद्धि कर दी गई तथा सुपर-टैक्स पर अतिरिक्त कर को भी बढ़ा दिया गया। १६४०-४१ में ५० प्रतिशत के हिसाब से अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profit Tax) लगाया गया, १६४१-४२ में यह दर ६६⅔ प्रतिशत कर दी गई। उद्योगपतियों ने इस अतिरिक्त लाभकर का विरोध भी किया था। उनका कहना था कि इस कर के लग जाने से उद्योगों के पुनर्निर्माण की योजनाओं के पूर्ण होने में बाधा खड़ी होगी, यदि कर हटा दिया जायगा तो इससे देश के उद्योग को लाभ मिलेगा। १६४६-४७ के बजट के भाषण में सर आर्कीबाल्ड रोलैण्ड्स ने भी यह स्वीकार किया था कि यह अतिरिक्त कर अनुचित है। बाद में इस कर को हटा लिया गया।

भारतीय उद्योगपति इस कर के हटाये जाने पर काफी प्रसन्न हुए। इसके अतिरिक्त सरकार ने मूल्य ह्रास भत्ता देकर भी उद्योग-धन्धों को सहायता प्रदान की। इन करों के अतिरिक्त युद्ध के कारण कुछ अन्य करों का भी लगाया जाना आवश्यक हो गया। १९४०-४१ में शकर पर के आयात कर तथा उत्पत्ति-कर में वृद्धि कर दी गई, दो रुपया प्रति हन्डरवेट के स्थान पर इस समय तीन रुपया प्रति हन्डरवेट कर दिया गया। पेट्रोल कर में भी दस आने प्रति गैलन के स्थान पर बारह आने प्रति गैलन कर दिया गया। १९४१-४२ में दियासलाइयों के उत्पत्ति-कर को दुगना कर दिया गया। टायर तथा ट्यूबों पर भी कर लगाया गया। कृत्रिम रेशम के कोये पर भी ≥) प्रति पौण्ड के स्थान पर।-) प्रति पौण्ड के हिसाब से आयात कर बढ़ा कर दिया गया। १९४२-४३ में सभी आयातकरों में १/५ के हिसाब से अतिरिक्त कर लगा दिया। इसके दूसरे वर्ष तम्बाकू तथा बनस्पति तेल आदि पर नये उत्पत्ति-कर लगा दिये। १९४४-४५ में सुपाड़ी, कहवा, चाय आदि पर उत्पत्ति-कर लगाया गया तथा तम्बाकू के उत्पत्ति-कर में वृद्धि की गई। इस प्रकार युद्ध के समय में कर सम्बन्धी इन परिवर्तनों के कारण भारतीय कर-व्यवस्था का रूप एकदम से बदल गया। १९३८-३९ में आय पर कुल कर १७·२८ करोड़ रुपया था, १९४५-४६ में यह १९०·५ करोड़ रुपया हो गया। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें बारह गुने की वृद्धि हो गई। इसी तरह उत्पत्ति-कर १९३८-३९ में ८·६६ करोड़ १९४४-४५ में ३९·०७ करोड़, तथा १९४५-४६ में ५५·२५ करोड़ रुपया हो गया। इन सब बातों को देखने से पता चलता है कि हमारी कर-व्यवस्था में काफी परिवर्तन हो गए हैं।

१९५०-५१ का बजट—भारत सरकार की मुख्य-मुख्य आय की मदें हम नीचे दे रहे हैं:—

केन्द्रीय सरकार की आय (लाख रुपयों में)

मद	१९४९-५० संशोधित	१९५०-५१ अनुमान
आयात-निर्यात कर	१,२०,४३	१,०६,५४
उत्पत्ति कर	६६,१६	७१,५५
कारपोरेशन कर	४०,६०	३८,७२ —६२
आयकर	१०८,४०	१,४३,९० —१४,३७
अफीम	१,२८	१,५५
सूद की आय	१,३२	१,१४
नागरिक प्रशासन	७,१७	७,८७
मुद्रा और टकसाल	९,९९	६,५२
सिविल निर्माण कार्य	१,१३	१,२७
अन्यकर	७,८२	९,७९
डाक, तार	३,७७	४,४८ —४४
रेलवे	७,००	६,३७
प्रान्तों को दिया जाने वाला आयकर का हिस्सा घटाइये	४५,७४	—५५,२० +७,१२
कुल आय	३८२,३६	३,४७,५० —८,३१

केन्द्रीय सरकार का व्यय
(लाख रुपयों में)

मद	१९४९-५० संशोधित अनुमान	१९५०-५१ अनुमान
विविध करों की प्राप्ति	१३,६६	१३,८१
आबपाशी	१०	२३
सुरक्षा सेवाओं में (वास्तविक)	१७०,०६	१,६८,०१
नागरिक प्रशासन	४०,८६	५०,०६
मुद्रा तथा टकसाल	२,४३	१,७६
नागरिक निर्माण कार्य	८,१३	६,६७
विविध	५०,७२	३८,७०
प्रान्तों से लेनी देनी	२,६६	१५,४१
असाधारण	८,३०	३,४४
ऋण का सूद आदि	३८,८१	३६,५०
कुल व्यय	३,३६,१०	३,३७,८८
बचत (+) घाटा (—)	—३,७४	+१,३१

पहले १९५०-५१ के बजट में यह आशा की गई थी कि १·३१ करोड़ रुपए की बचत होगी किन्तु कुछ कारणों से यह बचत न हुई उनमें से मुख्य कारण ये थे :—

(१) निम्नतर आय वाले लोगों को आय-कर से छूट दी गई,

(२) कुटीर उद्योगों तथा छोटे पैमाने के उद्योगों में बनने वाली दियासलाइयों पर की उत्पत्ति-कर को घटा दिया गया;

(३) सार्वजनिक गाड़ियों के मोटर के कल-पुर्जों के आयात पर छूट दी गई।

सन् १९५०-५१ का बजट समस्त भारत का बजट है, इसमें भारतीय संघ में मिले हुए राज्यों का भी आय-व्यय सम्मिलित है, पहले की तरह केवल ब्रिटिश भारत के प्रान्त ही नहीं हैं। इसलिए इन आँकड़ों की तुलना पिछले आंकड़ों से नहीं की जा सकती। किसी भी देश का बजट उस देश की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का दर्पण होता है। उससे हमें पता चल जाता है कि किसी राष्ट्र की किन-किन आर्थिक समस्याओं को किस तरह हाथ में लेना है। विभाजन के बाद से हमारे बजट का मुख्य उद्देश्य देश में फैली हुई मुद्रा-स्फीति को रोकना रहा है। इसके लिए लोगों की क्रय-शक्ति को बढ़ाने तथा उत्पादन में वृद्धि करने के प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया गया है। इस समय काश्मीर तथा शरणार्थियों के पुनर्संस्थापन आदि के कारण सरकार का व्यय भी अधिक रहा है। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी विभाजन के बाद के बजटों से यह बजट मिलता-जुलता रहा है।

१९५०-५१ के बजट में उद्योग आदि के विकास को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए सरकार ने कर सम्बन्धी निम्नलिखित सुविधाएँ दीं :—

(१) व्यापार-लाभ-कर हटा दिया गया।

(२) कम्पनियों द्वारा दी जाने वाली आय-कर की दर ५ आने के स्थान पर चार आना कर दी गई।

(३) १०,०००) से लेकर १५०००) तक की बिक्री पर कर ३½ आने के स्थान पर ३ आना कर दिया गया।

(४) १५,०००) से ऊपर की आय पर ।-) के स्थान पर ।) आय-कर कर दिया गया है।

(५) उपार्जित आय के लिए सुपर-टैक्स की अधिकतम दर ॥-) तथा अनुपार्जित के लिए ॥)॥ कर दी गई।

(६) व्यक्तियों के लिए अब ३,००० रु० के स्थान पर ३,६०० रु० तथा संयुक्त हिन्दू परिवार के लिए ५,००० रु० के स्थान पर ६,००० रु० आय-कर की सीमा निर्धारित कर दी गई।

(७) ३१ मार्च १६५० के पहले बनने वाले घरों पर से दो वर्ष के लिए आय-कर की छूट रखी गई।

(८) स्थानीय कार्यों के लिए डाक की दर भी कम कर दी गई।

(६) साधारण टेलीग्राम की न्यूनतम कर घटा कर एक आना तथा एक्सप्रेस टेलीग्राफ पर दो आना कर दिया गया।

(१०) टेलीफोन के ट्रंक काल की दर भी १६) के स्थान पर १२) तथा आवश्यक के लिए ३२) के स्थान पर २४) कर दिया गया।

इसके अतिरिक्त बजट में कुछ और भी महत्वपूर्ण परिवर्त्तन किए गए। सुरक्षा सम्बन्धी व्यय में भी दो करोड़ रुपये की कमी की गई परन्तु यह अब भी कुल बजट का ५०% था। इस समय उपार्जित तथा अनुपार्जित अन्तर को भी दूर कर दिया गया। कारपोरेशन टैक्स की दर दो आने प्रति रुपए के स्थान पर ढाई आने प्रति रुपया कर दिया गया। कपास पर के निर्यात कर में वृद्धि की गई, लोहा, फौलाद, सरसों के तेल आदि पर नए निर्यात-कर लगाये गये। इस प्रकार देखने से यह पता चलता है कि १६५१-५२ के इस बजट में काफी संशोधन किये गये। परन्तु इन सब सुधारों के होते हुए भी कुछ लोगों ने बजट की काफी आलोचना की है। उनका कहना है कि पूंजीपतियों को बहुत अधिक रियायतें देने से कोई लाभ नहीं है, इन्हें जितनी ही सुविधायें दी जाती हैं उतना ही अधिक ये शोर मचाते हैं। इन सुविधाओं के मिलने के बावजूद भी इन्होंने कोई विकास या प्रगति नहीं की है।

इसके अतिरिक्त व्यवसायी-वर्ग को भी बजट से कुछ सन्तोष नहीं हुआ है। मध्यम वर्ग के लोगों को भी इससे कोई लाभ नहीं मिला है। कुछ लोगों ने आलोचना करते हुए यह कहा कि अर्थमंत्री ने बजट में कोई कटौती नहीं की है। इन सब बातों को देखकर ऐसा मालूम पड़ता है कि वास्तव में हमारा इस वर्ष बजट काफी अभावों से युक्त है। परन्तु भारत की वर्त्तमान आर्थिक व राजनैतिक समस्याओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अर्थमंत्री ने इस दिशा में जो कुछ कार्य किया है, वह ऐसी स्थिति के लिए अनुचित नहीं था।

राजस्व की वर्त्तमान गतिविधियां—भारत की वर्त्तमान आर्थिक स्थितियों को देखते हुए हम कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इस समय देश में उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों दोनों के लिए माल या सामान की काफी माँग है, इसलिए अभी आयात में वृद्धि होती ही जायगी। परन्तु ज्यों-ज्यों देश का औद्योगीकरण होता जायगा, आयात कम होगा, आयात-कर की आय में कुछ कमी होगी और उत्पत्ति करों का महत्व बढ़ता जायगा। इसके साथ ही ज्यों-ज्यों देश समृद्ध होगा, अपना औद्योगिक उत्थान करता जायगा, त्यों-त्यों आयकर, सुपर टैक्स, कारपोरेशन टैक्सों से होने वाली आय में वृद्धि होती जायगी। प्रत्यक्ष करों का महत्व और बढ़ेगा। युद्ध के बाद की विकास

सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित किए जाने के लिए सार्वजनिक ऋण में वृद्धि होने लगेगी। भविष्य में सम्पत्ति-कर, कृषि आय-कर, बिक्री-कर आदि नवीन स्रोतों से अच्छी आय हो सकेगी। हाँ यदि देश में अपस्फीति सम्बन्धी स्थितियों का उदय हुआ तो सरकार को सरकारी कर्मचारियों के ऊँचे वेतन देने में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

कर-क्षमता का प्रश्न—वैसे तो कर-क्षमता से तात्पर्य कई बातों का हो सकता है किन्तु मुख्य रूप से इसका तात्पर्य उस सीमा से है जिसके कि आगे कोई भी कर दाता कर देने में असमर्थ रहता है। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि प्रत्येक कर का एक अनुकूलतम विन्दु होना चाहिए जिसके कि आगे कर में वृद्धि न होनी चाहिए। सर जोशिया स्टैम्प के अनुसार कर-क्षमता की आय कुल उत्पादन तथा कुल उपभोग की राशियों के अन्तर को निकाल कर की जानी चाहिए। भारत में उपभोग का प्रमाप तो कम है ही साथ ही जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं उत्पादन भी बहुत कम है, इस प्रकार इन दोनों का अन्तर भी बहुत कम है जिससे हम कह सकते हैं कि यहाँ लोगों के कर देने की क्षमता भी बहुत थोड़ी है। परन्तु इस प्रकार के किसी सिद्धान्त के अनुसार हम, लोगों के कर देने की क्षमता को भलीभाँति माप नहीं सकते। वास्तव में कर-क्षमता कोई अस्थिर और निश्चित वस्तु नहीं है, यह गतिशील होती है तथा परिस्थितियों के अनुसार यह परिवर्त्तित होती रहती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कर-क्षमता लोगों के कर देने की इच्छा तथा उनको प्रभावित करने वाली वृत्तियों पर निर्भर रहती है। कर की दर, उसके एकत्रित करने की पद्धति जिन कार्यों में उसका व्यय किया जाता है, वे कार्य तथा राष्ट्रीय आय का वितरण आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो कि कर-क्षमता को निश्चित करती हैं। इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सार्वजनिक थाती होती है इसलिए जब राज्य को आवश्यकता हो, इस थाती को उसके हाथ में सौंप देना चाहिए। यदि इस विचार को मान लिया जाय तो कर-क्षमता का प्रश्न ही नहीं उठता, राज्य अपनी आवश्यकतानुसार ही कर-निर्धारण करती रह सकती है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत में उपभोग बहुत कम है, यहाँ के लोगों के रहन-सहन का स्तर भी बड़ा निम्न है। यदि हम स्टैम्प महोदय के उपभोग और उत्पादन वाले सिद्धान्त को मान लें तो यह कहा जा सकता है कि यहाँ के लोगों की कर-क्षमता भी काफी है किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं, यहाँ उपभोग तो कम है ही साथ ही उत्पादन भी बहुत कम है। प्रत्येक व्यक्ति ही नहीं प्रत्येक कुटुम्ब के लिए एक अच्छे रहन-सहन के स्तर के होने की आवश्यकता है और इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही लगाया जाना चाहिये, ऐसा कर न होना चाहिये जिसका प्रभाव उनके रहन-सहन के स्तर पर बुरा पड़े। ब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री व राजस्व विशेषज्ञ सर वाल्टर लेटन का कथन है कि भारत में राष्ट्रीय आय का केवल ८% ही कर के रूप में लिया जाता है जब कि जापान तथा ग्रेट ब्रिटेन में यह २०-२० प्रतिशत है। उनका कहना है कि भारत में विशाल राशि में सम्पत्ति पड़ी हुई है जिस पर कि कर को बिना भारस्वरूप बनाए सरलता से कर लगाया जा सकता है।

युद्ध के बाद के वर्षों के बजटों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि भारत में लोगों की कर-क्षमता (Taxable Capacity) में वृद्धि हो गई है। इन करों से होनेवाली आय को विशेष रूप से सार्वजनिक कल्याण के कार्यों में ही लगाना हितकर होगा।

कर भार तथा उसका वितरण—हम ऊपर कह चुके हैं कि ब्रिटेन तथा जापान की तुलना में भारत में कर कम लिया जाता है। जब कि ब्रिटेन तथा जापान में राष्ट्रीय आय का २०% कर होता है, भारत में केवल ८% ही कर लिया जाता है। भारत १६३६-४० में प्रति व्यक्ति पाँच रुपया दो पाई कर भार था, युद्ध के समय से तथा युद्ध के बाद के वर्षों में नवीन करों के लगाने तथा कुछ करों की दरों में वृद्धि हो जाने से यह भार और भी बढ़ गया होगा, इस समय लगभग यह ६)

प्रति व्यक्ति होगा। इस प्रकार इन आंकड़ों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि कुछ अन्य देशों की तुलना में भारत में कर-भार कम है। परन्तु हम इन आकड़ों के आधार पर ही इस बात का समर्थन नहीं कर सकते। कर-भार के स्तर का तब तक विचार नहीं किया जा सकता जब तक कि हम सार्वजनिक व्यय की रूपरेखा का अध्ययन नहीं करते। यदि राज्य द्वारा नागरिकों को अच्छी सुविधाएँ नहीं प्राप्त होतीं तो थोड़ा से थोड़ा कर भी भार स्वरूप प्रतीत होगा। इसके विपरीत यदि राज्य सामाजिक कल्याण के अनेक कार्य करता है, तो,यदि कर कुछ अधिक लिए जायँगे तो भी जनता को वे बुरे नहीं प्रतीत होंगे। इसका तात्पर्य यह होगा कि जनता व्यक्तिगत रूप से अपने कार्यों को करने की अपेक्षा उनका सामाजिक रूप से लिया जाना अधिक पसन्द करती है।

यदि राज्य जनता के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करता है,सार्वजनिक दातव्य चिकित्सालय खुलवा देता है, प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार दिलाने का प्रयत्न करता है तो यदि वह हमारा आय का आधे से भी अधिक भाग आय-कर के रूप में ले ले तो कोई हानि नहीं। यही नहीं यदि राज्य-निवासियों के कपड़ों, उनके भोजन आदि की व्यवस्था करने लगता है, उनको मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करता है तो यदि वह उनकी आय का ७५% भी कर के रूप में तो लेता है तो कोई हानि नहीं। अन्य समृद्ध देशों की सरकारें निर्धनों को आर्थिक सहायता, बीमारी में बीमे की व्यवस्था, बेकारी को दूर करने का प्रयत्न, वृद्धावस्था में पेंशन का प्रबन्ध आदि करती है। ऐसे देशों में यदि कर का भार अधिक भी है तो वह भारस्वरूप नहीं मालूम पड़ सकता किन्तु भारत जैसे देश में जहाँ की आय का आधा और कभी-कभी आधे से भी अधिक भाग सैनिक-व्यय में चला जाता है, जहाँ की काफी रकम ऋण के सूद आदि में चली जाती है, जहाँ का नागरिक-प्रशासन कार्य में होने वाला व्यय काफी है, और जहाँ पर सार्वजनिक कल्याण के लिए नहीं के बराबर रकम बचती है, वहाँ थोड़ा सा भी कर भार स्वरूप प्रतीत होगा। अतएव भारतवासियों को वर्तमान अवस्था में जो कर देना होता है, उसे हल्का नहीं कहा जा सकता।

कर की रकम के कम या अधिक होने के अतिरिक्त उसके वितरण का भी काफी महत्व होता है। यदि हम भारतीय कर-व्यवस्था पर दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि यहाँ पर मालगुजारी, आयात निर्यात कर कुछ वस्तुओं पर उत्पत्ति-कर आदि ऐसे करों में से हैं जिनका भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है। कुल मिलाकर करों का निर्धनों पर भार जितना पड़ता है उतना धनियों पर नहीं। आय कर तथा आयात की कुछ ही वस्तुएँ ऐसी हैं जिन पर धनिकों को अधिक कर देना पड़ता है। इस तथ्य का समर्थन कितने ही अर्थ-विशेषज्ञों ने किया है। सन् १९२३-२४ के आंकड़ों के आधार पर श्री के० टी० शाह ने यह निष्कर्ष निकाला था कि भारत में आर्थिक दृष्टि से हीन व्यक्तियों पर कर का भार अधिक है। भारतीय कर निर्धारण समिति (१९२४-२५) तथा सर वाल्टर लेटन (१९३०) ने भी इस तथ्य का समर्थन किया था।

आवश्यकता इस बात की है कि कर-भार का वितरण समान हो जो, कार्य या वस्तुएँ सामान्य उपभोग की हों उन्हें या तो कर से बिलकुल मुक्त कर दिया जाय अथवा बहुत हल्का कर लगाया जाय, धनिकों द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं पर अधिक कर लगाया जाय। यह एक उदाहरण के रूप में बात थी, इसके अतिरिक्त भी कई बातें हो सकती हैं जिनके द्वारा इस दोष को दूर किया जा सकता है। युद्ध के समय में कर-भार बहुत अधिक बढ़ गया था, भारत जैसे निर्धन देश के लिए करों का इतना अधिक होना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

भारत का सार्वजनिक ऋण—सार्वजनिकण ऋण वह ऋण होता है जो सरकार द्वारा लिया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि कोई सरकार कोई व्यय उतने ही रुपए में चला लेती है जितनी कि उसे आय होती है, तो उस पर ऋण का भार नहीं होता। परन्तु जब वह अपना

व्यय इतना बढ़ा ले कि उसके लिए उसे पर्याप्त आय न हो सके तो ऋण लेने की आवश्यकता होगी। प्राचीन काल में राज्यों के ऋण लेने की प्रथा कम थी, उस समय राजा या बादशाह ऋण नहीं लेते थे, वे अपनी आय के अनुसार व्यय करते थे। यदि उस समय राज्य को पूँजीगत अथवा युद्ध सम्बन्धी व्यय के लिए रुपए की आवयश्कता होती थी तो बड़े-बड़े साहूकार लोग अपने फालतू रुपए को नाम-मात्र के ब्याज पर सरकारी ऋण में लगा देते थे। आजकल तो सरकारें अपनी साख का खूब उपयोग करती हैं।

अन्य देशों की सरकारों की भाँति भारत सरकार ने भी सार्वजनिक ऋण ले रखा है परन्तु हर्ष की बात यह है कि इस ऋण पर उसे जितना सूद देना पड़ता है, उसे उससे कहीं अधिक आय होती है। उसके ऋण का अधिकांश उत्पादक कार्यों जैसे रेलवे तथा सिंचाई आदि में लगा हुआ है, जिससे उसे काफी आमदनी होती है। १६४६ की ३१ की मार्च को भारत सरकार को रेलों से कुछ नहीं तो ७६७ करोड़ रुपय की आय हुई थी, डाक, तार व अन्य व्यावसायिक विभागों से ४२ करोड़ रुपए की। कुल सूदवाली देनी २१५६ करोड़ रुपए थी जिसमें से ६२९ करोड़ ऐसा ऋण था जो कि उत्पादक कार्यों में नहीं लगा था, किन्तु इस ऋण को भी पूर्णतया अनुत्पादक नहीं कह सकते।

सार्वजनिक ऋण का विकास— सन् १७६२ में सार्वजनिक ऋण केवल ७० लाख पौंड था परन्तु ज्यों-ज्यों ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटिश राज की स्थापना का प्रयत्न करती गई त्यों-त्यों सार्वजनिक ऋण में वृद्धि होती चली गई। सन् १८५७ के पूर्व यह ऋण ६०० लाख पौण्ड हो गया, १८६० में यह १००० पौण्ड हो गया। पहले इसमें से अधिकांश ऋण अनुत्पादक था किन्तु जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश सम्राट के हाथ में शासन-सत्ता आ गई तो यह ऋण धीरे-धीरे उत्पादक होने लगा, सरकार सिंचाई तथा रेलवे के विकास की योजनाएँ कार्यान्वित करने लगी। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के वर्षों में ब्रिटिश सरकार ने अनुत्पादक ऋण को कम करने का प्रयत्न किया। अतिरिक्त आय को सार्वजनिक कार्यों में लगाया जाने लगा। सार्वजनिक कार्यों में लगने वाली प्रत्येक अतिरिक्त आय से अनुत्पादक ऋण में ह्रास और उत्पादक ऋण में वृद्धि होने लगी। इसके परिणामस्वरूप १६१४ में अनुत्पादक ऋण केवल ३ करोड़ रुपया रह गया। यदि युद्ध न छिड़ जाता तो इस प्रकार थोड़े ही वर्षों में हमारा अनुत्पादक ऋण बिल्कुल ही समाप्त हो जाता। युद्ध के प्रारम्भ से लेकर बाद तक के समय (१६१४-१६२४) में हमारा अनुत्पादक ऋण २५८ करोड़ तथा उत्पादक ऋण ४०० करोड़ रुपए के स्थान पर ७०० करोड़ रुपए हो गया। अनुत्पादक ऋण के कम करने की सरकारी नीति की महामान्य गोखले जी ने बड़ी आलोचना की थी उनका कहना था कि इस प्रकार अतिरिक्त आय का अनुत्पादक ऋण में प्रयुक्त किया जाना उचित नहीं है, उसका उपयोग जन हितकारी कार्यों में किया जाना था।

नीचे दी हुई तालिका से भारत की वर्त्तमान सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी स्थिति का पता लग जायगा :—

(क) भारत में	३१ मार्च १६३६ को (करोड़ रुपए)	३१ मार्च १६४६ को (करोड़ रुपए)	३१ मार्च १६५० को (करोड़ रुपए)
दीर्घकाल ऋण	४३७·६	१४७८·४	१४६६·८
सरकारी हुंडियाँ	४६·३	३६६·३	३६६·३
खजाने में जमा की रसीदें	—	४·०	६·०
विशेष अल्पकालिक ऋण	—	१३३·६	१३३·६
बीती अवधि के ऋण	·६	५·४	३·२
योग (क)	४८४·८	१६६०·७	२०११·६

(ख) इंगलैण्ड में			
दीर्घकाल ऋण	३६६·५	३.४	२·६
युद्ध में अंशदान	२०·६	२०·६	२०·६
रेलों सम्बन्धी देयता	४७·८	१५·६	१३·३
योग (ख)	४६४.६	३६·६	३६.८
योग (क) और (ख)	६४६·७	२०३०·३	२०४८·७
(ग) डालर ऋण	—	--	४४० करोड़ डालर

प्रथम विश्वयुद्ध तक लोगों को भारतीय द्रव्य बाजार के सम्बन्ध में अच्छी भावना नहीं थी, परन्तु युद्ध के बाद जब उन्होंने स्थिति बदली हुई देखी तो उनका विचार बदल गया। द्वितीय विश्वयुद्ध तक जब कभी भारत सरकार को द्रव्य की आवश्यकता होती तो वह लन्दन के द्रव्य बाजार से अपना सम्बन्ध स्थापित करता, परन्तु जिन दरों पर यह ऋण दिया जाता उसके सूद की दर कभी-कभी बहुत ऊँची रहती। यही नहीं विदेशी ऋणदाता अपने द्रव्य की सुरक्षा के लिए हमेशा चिल्लाया करते और भारत के वैधानिक विकास में हमेशा रोड़ा अटकाया करते। युद्ध के बाद से भारतीय द्रव्य-बाजार से ही सहायता ली जा रही है, विदेशों की अपेक्षा यह काफी सस्ता भी पड़ रहा है।

भारत के कुल ऋण का ६०% भाग स्थायी ऋण है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय ट्रेजरी बिल इशू किए गए थे। साधारणतया ये तीन महीने बाद पुनः चुकाए जा सकते हैं, परन्तु जब पहले वाले पक जाते हैं तो नवीन इशू किए जाते हैं। परन्तु इस तरह के अल्पकालिक ऋण का होना अच्छा नहीं है।

ऋण परिशोध (Debt Redemption)। अभी कुछ दिनों पूर्व तक हमारे अर्थ-विभाग के पास ऋण-परिशोध की कोई सुन्दर व्यवस्था नहीं थी। परन्तु ऋण के भुगतान के लिए देश की साख को स्थिर रखने तथा उसे समुन्नत करने के लिए किसी प्रकार के व्यवस्थित ऋण परि-शोध कोष का होना नितान्त आवश्यक रहता है। सन् १७६८ में लार्ड वेलेजली ने प्रयोगात्मक रूप से एक ऋण परिशोध की योजना कार्यान्वित की थी परन्तु यह योजना बहुत दिनों तक न चल सकी। भारत सरकार ने ऋण को कम करने के लिए अतिरिक्त आय तथा कभी-कभी प्रति वर्ष दुर्भिक्ष के लिए निकाली जाने वाली रकम का उपयोग किया। रेलों की खरीद की भुगतान के लिए रेलवे ऋण परिशोध-कोष तथा वार्षिक वृत्तियों की आवश्यक योजनाओं का उपयोग किया गया। १६१७ में एक ऋण-परिशोध-कोष की भी स्थापना की गई। उस समय प्रतिवर्ष ५०,००० पौण्ड इस कार्य के लिए अलग निकाल देने का निश्चय किया गया।

परन्तु अभी तक जो कार्य किया गया था वह पर्याप्त नहीं था, ऋण-परिशोध की समस्या को अभी तक किसी वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित योजना द्वारा हल करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। अन्त में १६२४ दिसम्बर में भारतीय विधान सभा ने इस दिशा में एक व्यवस्थित योजना स्वीकार की, इस योजना के निर्माता सर बैसिल ब्लैकेट थे। इन्होंने ऋण-परिशोध के लिए प्रतिवर्ष चार करोड़ रुपए तथा अतिरिक्त ऋण के १/८० भाग को अलग निकाल कर रख देने का सुझाव दिया था। १६३३-३४ में जब रेलों को घाटा होने लगा और उन्होंने सामान्य राजस्व में अनुदान देना बन्द कर दिया तो ब्लैकेट साहब की यह योजना समाप्त कर दी गई। इस समय ऋण देने की रकम तीन करोड़ सालाना निश्चित कर दी गई। १६३० से 'कैश सार्टीफिकटों' को भी सरकारी ऋण के रूप में माना जाने लगा और इस दायित्व के भी चुकाने की उचित व्यवस्था की गई। अब रेलों ने पुनः अपना अनुदान देना प्रारम्भ कर दिया है किन्तु ऋण-परिशोध की रकम वही तीन करोड़ वार्षिक ही है।

अन्य देशों में ऋण परिशोध की काफी अच्छी व्यवस्था है, सार्वजनिक ऋण आयुक्त नियुक्त कर दिए गए हैं जो द्रव्य-बाजार से अपना सम्बन्ध बनाए रखते, उसकी गति विधि को देखते रहते और ऋण परिशोध की उचित व्यवस्था करते हैं। परन्तु अभी तक भारत में ऋण परिशोध के लिए उचित व्यवस्था नहीं की गई हैं। इस दिशा में कोई अच्छी वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया है।

सार्वजनिक ऋण तथा द्वितीय विश्वयुद्ध—हम पीछे कह चुके हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध के समय में युद्ध को अच्छे ढङ्ग से संचालित करने के लिए पर्याप्त राशि में ऋण प्राप्त करने का प्रयत्न किया। १९४० की जून में छै वर्ष के 'डिफेन्स बान्ड्स'; दस वर्षीय डिफेन्स सेविंग सार्टीफिकेट, तथा बिना ब्याज के बान्ड चालू किए गए। इनके अतिरिक्त तमाम सरकारी नौकरों के लिए 'डिफेन्स सेविंग प्रावीडेन्ट फन्ड' स्थापित किया गया, पोस्टल डिफेन्स सेविंग बैङ्क एकाउन्ट की भी स्थापना की गई। १९४५-४६ में ऋण लेने की इस योजना को और आगे बढ़ाया गया। युद्ध के प्रारम्भ से लेकर १९४६ की जनवरी के अन्त तक सार्वजनिक ऋण की कुल रकम १,१७३ करोड़ रुपया हो गई। सरकार की ऋण प्राप्त करने की इस योजना के परिणामस्वरूप जनता की बढ़ी हुई क्रय-शक्ति में ह्रास हुआ, साथ ही उधर सरकार भी युद्ध के बाद की विकास योजनाओं के लिए कुछ रकम सुरक्षित रख सकी।

भारत के स्टर्लिंग ऋण का परिशोध—द्वितीय विश्वयुद्ध की भारत के लिए सबसे बड़ी देन हमारे स्टर्लिंग ऋण का परिशोधन हो जाना है। युद्ध के पूर्व ग्रेट ब्रिटेन का भारत पर ३००,०००,००० पौण्ड ऋण था। युद्ध के समय में भारत का व्यापारिक सन्तुलन उसके पक्ष में रहा, उसने युद्ध में संलग्न ब्रिटेन तथा मित्र राष्ट्रों की आवश्यक सैनिक सामग्री की पर्याप्त मात्रा में पूर्ति की, मित्रराष्ट्रों के लिए उसने काफी खर्च उठाया युद्ध के व्यय के रूप में ब्रिटिश सरकार से उसे कुछ रकम भी मिलनी थी, भारतीय सेना को आधुनिक साधनों से पूर्ण बनाने के लिए भी उसे अच्छी रकम प्राप्त हुई। इन सब कारणों से भारत की आर्थिक दशा काफी अच्छी हो गई। पहले भारत ब्रिटेन का ऋणी था अब ब्रिटेन पर भारत की रकम चढ़ गई। ३१ मार्च १९४६ को भारत का पौण्ड पावना १३,३०० लाख हो गया। इसके बाद से भारत सरकार की इस रकम में धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है। स्वतंत्र भारत की सरकार तथा ब्रिटेन की सरकार के बीच पौण्ड-पावने सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण समझौते हो चुके हैं, ब्रिटेन धीरे-धीरे यह रकम चुका रहा है। १९५० के समझौते के बाद हमारे पौण्ड-पावने केवल ६११० लाख पौण्ड के रह गए। इधर भारत अपने औद्योगिक विकास के लिए, कृषि की उन्नति के लिए विदेशों से काफी मात्रा में यन्त्रजात इत्यादि मंगा रहा है, इससे यह रकम कम होती जा रही है। कहना न होगा कि ये पौण्ड-पावने हमारे त्याग और बलिदान के फल हैं। युद्ध कालीन समय में भारत ने भूखे पेट और नंगे बदन रहकर ब्रिटेन को करोड़ों रुपए का माल भेजा था। युद्धकाल में वस्तुएँ निर्यात करने का यहाँ की अर्थ-व्यवस्था पर कितना बुरा प्रभाव पड़ा है, यह किसी से छिपा नहीं है। बङ्गाल का अकाल, समस्त देश में खाने कपड़े का अभाव, वस्तुओं के मूल्यों में भीषण वृद्धि सब इसी के परिणाम थे। इसलिए ये पौण्ड-पावने अपना एक विशेष महत्व रखते हैं। इनका उपयोग भारतवासियों के कष्ट-निवारण, देश के आर्थिक संकट को दूर करने में ही होना चाहिए परन्तु यह बड़े दुख की बात है कि हमने अभी इन आदेयों का अच्छा उपयोग नहीं किया है, इसका एक खासा अच्छा भाग हमने अपने व्यापारिक सन्तुलन को ठीक करने में किया है। इस सम्बन्ध में यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि देश की शोधनाधिक्य (Balance & Payments) सम्बन्धी स्थिति इतनी बिगड़ गई थी, कि बिना स्टर्लिंग का सहारा लिये यह स्थिति नहीं ठीक की जा सकती थी। इसके उत्तर में यही कहना है कि इस सारी गड़बड़ी का कारण

केन्द्रीय सरकार की अदूरदर्शिता थी। खैर अभी तक जो त्रुटियाँ हुईं वे हुईं, भविष्य में इस दिशा में हमें बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है, अब बचे हुए आदेयों को हमें देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में ही विचारपूर्वक सावधानी से व्यय करना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—हमने ऊपर सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी स्थिति पर एक विहंगम दृष्टि डाली, हमने देखा कि हमारी सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी स्थिति धीरे-धीरे सुधर रही है। भारत सरकार पर दूसरों का जो ऋण है, उसे चुकाने के उत्तरदायित्व को वह अच्छी तरह अनुभव करती है और उसे अपने कर्त्तव्य-पालन का यथेष्ट ध्यान है। पर संयोग से भारत सरकार का ऋण जिन राज्यों की ओर निकलता है, वह पूर्णतः सुरक्षित नहीं है। बर्मा और पाकिस्तान से ऋण की पूरी रकम कब और किस रूप में मिलती है, यह समय ही बताएगा। भारत को इङ्गलैण्ड से जो स्टर्लिंग राशि लेनी है, वह भी जैसे और जब हम चाहेंगे नहीं ले सकेंगे। उसमें इङ्गलैण्ड की सुविधा को प्रधानता दी जायगी। दूसरों की सुविधा का ध्यान रखना ठीक है पर यह कार्य हम स्वेच्छा और स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर रहे हैं, हम तो ऐसा करने के लिए विवश हैं। यहाँ इसका दायित्व स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार पर नहीं है; यह तो ब्रिटिश सरकार की विरासत है। अस्तु, हमें इस अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के हिसाब को यथासम्भव सुन्दर ढङ्ग से निपटा लेना है। भविष्य में होने वाले ऋण सम्बन्धी कार्यों में तो भारत-सरकार भारतीय हित को ध्यान में रखकर उचित शर्त्तें ठहरायगी ही, और अब तो उसे उपर्युक्त बातों से शिक्षा भी मिल गई है, इसलिए ऐसी त्रुटियों की सम्भावना कम है।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

प्रान्तीय राजस्व

प्राक्कथन--हम पिछले परिच्छेद में कह चुके हैं कि पहले भारत में प्रान्तों की अपनी स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था नहीं रहती थी। वे केन्द्रीय सरकार के आश्रित रहते थे, उनको प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम मिलती थी, उसी से अपना व्यय सम्भालते थे। सन् १६१६ से प्रान्तों तथा केन्द्र की आय की मदों को विभाजित करने के कार्य को शुरू किया गया, धीरे-धीरे इस दिशा में विकास होता गया। अब इस समय प्रान्तों या राज्यों की आय की मुख्य मदें निम्नलिखित हैं:—(१) मालगुजारी, (२) आबपाशी, आबकारी, जंगल, स्टाम्प, रजिस्टरी तथा कुछ अन्य स्रोत।

हम यहाँ इन पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे—

मालगुजारी—आयात-निर्यात कर के बाद सरकारी आय का सबसे बड़ा साधन मालगुजारी है, इससे प्रतिवर्ष ३४ करोड़ रुपए की आय होती है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि में आय का यह सर्वप्रधान साधन है। पहले प्रायः प्रान्तों की आय का मुख्य साधन मालगुजारी ही रहता था, अब यह अनुपात घट गया है। भारतीय मालगुजारी व्यवस्था का अध्ययन करते समय कुछ ऐसी बातें सामने आ जाती ह जो काफी खटकती हैं। उदाहरण के लिए एक ऐसा व्यक्ति जो कि खेती नहीं कर रहा है, दूसरे साधन से वह लगभग तीन हजार रुपया सालाना पैदा कर रहा है किन्तु उससे कोई कर नहीं लिया जाता परन्तु एक निर्धन किसान चाहे वह इससे कहीं कम कमा रहा है मालगुजारी देने के लिए बाध्य होता है। यहाँ जैसा कि हम कृषि वाले परिच्छेद में कह चुके हैं कि लगातार ७५% ऐसी जोतें हैं जो अनार्थिक हैं उनसे अच्छा लाभ नहीं होता, इसलिए इन जोतों पर मालगुजारी ली जाना न्याय संगत नहीं किन्तु यदि सरकार इन सब जोतों से मालगुजारी लेना बन्द कर दे तो एक तो उसकी आय में भी कमी होगी, दूसरे इससे अनार्थिक जोतों में और वृद्धि होगी। यह तो रही अपनी मालगुजारी व्यवस्था की एक कठिनाई या विचित्रता। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था में एक विचित्र बात और है, वह यह कि मालगुजारी की दर सारे देश में एक सी नहीं है। उत्तर प्रदेश में यह ५०% से लेकर २०% मध्य प्रदेश में ४२% से लेकर ७% तथा मदरास में १००% से लेकर १०% तक है। यही नहीं कहीं मालगुजारी की वसूली स्थाई बन्दोबस्त (जैसा कि बंगाल में है) के अनुसार ली जाती है और कहीं पर अस्थाई। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संवहन (incidence) की दृष्टि से यह मालगुजारी व्यवस्था अनिश्चित है, कर निर्धारण तथा वसूली की दृष्टि से अनुपयुक्त, प्रबन्ध की दृष्टि से अनार्थिक, वितरण की दृष्टि से असमान तथा आलोचपूर्ण है। इस कर के प्रतिगामी होने में कोई सन्देह नहीं है।

आबपाशी (Irrigation)—प्रान्तों की आय का एक साधन आबपाशी से लिया जाने वाला कर भी है। यह आबपाशी का कर कभी-कभी कहीं मालगुजारी के साथ ही वसूल कर लिया जाता है, अथवा सिंचाई या गैर सिंचाई वाली भूमि पर अलग-अलग हिसाब से वसूल किया जाता है वैसे तो सिंचाई के लिए ली जाने वाली यह रकम कर के रूप में ही मानी जाती है किन्तु कोई ऐसा निश्चित सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर इसे वसूल किया जाता हो। वर्तमान समय में सिंचाई से ली जानेवाली रकमों की दर में बहुत कम परिवर्तन किया जाता है परन्तु समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार इसमें परिवर्तन करना जरूरी है। हाँ इस सम्बन्ध में एक बात न भूलना चाहिए वह यह कि सिंचाई में लाभ उठाने वाले कृषकों को आबपाशी कर की दर में परिवर्त्तन करने से विशेष असुविधा न हो, क्योंकि कृषक ही हमारे समाज के मुख्य अंग हैं, उनकी निर्धनता से सभी परिचित हैं, उनसे

हमें बहुत-कुछ लाभ प्राप्त होता है, अतः उनकी आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस दिशा में हमें कोई परिवर्त्तन करना चाहिए।

आबकारी कर—अफीम के विषय में हम पीछे कह चुके हैं। उसे छोड़कर अन्य मादक पदार्थों पर लगाया जाने वाला कर आबकारी-कर कहलाता है। यह कर प्रान्तीय है और भांग, चरस, शराब आदि नशीले पदार्थों पर लगता है। इनकी बिक्री से जो आय होती है, उसमें से लागत खर्च निकलने पर जो शेष रहे, वह सरकारी मुनाफा या आमदनी होती है, इस मद का ब्योरा यह है— लाइसेंस, डिस्टिलरी (शराब की भट्टी) की फीस, शराब और अन्य मादक पदार्थों की बिक्री पर महसूल, आबकारी-विभाग का अफीम की बिक्री से लाभ, मादक पदार्थों के सेवन सम्बन्धी जुर्माना; आदि।

विगत वर्षों में इस मद की आय में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही थी, प्रान्तीय सरकारों ने अपनी आय घटने की आशंका के कारण मादक पदार्थों के प्रचार को रोकने का विशेष प्रयत्न नहीं किया। १६२६-३० में इस मद की रकम २०,४१,२३,२८५ रुपया पहुँच गई। इतनी बढ़ी हुई रकम लोगों के नशीले पदार्थों के सेवन की वृद्धि की द्योतक थी। अतएव १६३७-३६ ई० में प्रान्तीय सरकारों विशेषकर काँग्रेसी सरकारों ने मादक द्रव्य-निषेध के सम्बन्ध में अच्छा कार्य किया था। भारत के स्वतन्त्र होने पर फिर सब प्रान्तीय सरकारों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ, परन्तु उन्हें बहुत से कार्य करने थे जिनके लिए रुपए की काफी आवश्यकता थी। इसलिये उन्होंने मद्य-निषेध-नीति को यथेष्ट रूप में नहीं अपनाया, अब धीरे-धीरे पूर्ण मद्य-निषेध की ओर कदम उठाया जा रहा है, बहुत सी प्रान्तीय सरकारों ने मद्य-निषेध की निश्चित नीति का अनुसरण करना शुरू कर दिया है। आशा है कि निकट भविष्य में इस दिशा में अच्छी सफलता प्राप्त हो जायगी।

जंगल—जंगलों से इमारती तथा जलाने की लकड़ी की बिक्री, चराई की फीस तथा कुछ अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं की बिक्री द्वारा आय होती है। प्रान्तीय सरकारों को जंगलों से औसतन तीन करोड़ रुपए सालाना की आमदनी होती है। यह बहुत थोड़ी है। यदि जंगलों में अच्छी पूँजी लगाई जाय उनकी अच्छी व्यवस्था की जाय तो उनसे काफी अच्छी आय हो सकती है।

स्टाम्प—यह दो प्रकार के होते हैं, अदालती और गैर अदालती। अदालती स्टाम्प की आय में कोर्ट-फीस या अदालतों में पेश होने वाले मुकदमों के कागजों और दरख्वास्तों पर लगाए जाने वाले टिकटों की आमदनी शामिल है। गैर अदालती स्टाम्प में व्यापार और उद्योग सम्बन्धी कागजों (हुँडी, पुर्जो, चेक, रुपयों की रसीद आदि) पर लगने वाले टिकटों की आमदनी गिनी जाती है।

अदालती स्टाम्प प्रत्यक्ष रूप से न्याय पर कर है। गैर अदालती स्टाम्प भी परोक्ष रूप में न्याय-कर ही है। १६४६-५० में प्रान्तीय सरकारों में से उत्तर प्रदेश की सरकार को इस मद से २ करोड़ ३० लाख रुपये की आय का अनुमान था।

रजिस्टरी—इस मद में दस्तावेजों की रजिस्टरी कराने की फीस, रजिस्टरी की हुई दस्तावेजों की नकल की फीस, और जुर्माने आदि की आय होती है। कागजों की रजिस्टरी होने से लोगों को बेईमानी करने का कम अवसर मिलता है। सन् १६४६-५० में उत्तर प्रदेश की सरकार को इस मद से लगभग २२ लाख रु० की आय का अनुमान था।

शेड्यूल्ड कर—(Scheduled Taxes) —ये वे कर थे जिनको कि लगाने का अधिकार १६१६ के कानून के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को मिल गया था। इस मद में विज्ञापन, मनोरञ्जन तथा उत्तराधिकार आदि कर सम्मिलित हैं।

प्रान्तीय व्यय—शासन प्रबन्ध करने के अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों को लोगों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है और शिक्षा, चिकित्सा व स्वास्थ्य तथा कृषि

एवं उद्योग जैसे राष्ट्र निर्माणकारी विभागों की भी व्यवस्था करनी होती है। अन्य देशों की तुलना में भारतीय राज्यों में इन सेवाओं पर बहुत कम व्यय किया जाता है। यही कारण है कि अधिकांश जनता अशिक्षित है तथा प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में स्त्रियाँ और बच्चे छूत की बीमारियों के कारण मौत के शिकार बनते हैं।

प्रान्तीय राजस्व पर एक आलोचनात्मक दृष्टि---हम पीछे कह चुके हैं कि प्रान्तीय या राज्य की सरकारों को जिन स्रोतों से आय प्राप्त होती है उनके बढ़ने की आशा नहीं है, बल्कि उनके कम होने की ही सम्भावना है। परन्तु उनसे जिन कार्यों के किए जाने की आशा की जाती है, उनमें दिनोंदिन और अधिक व्यय किए जाने की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। प्रान्तों की आय का मुख्य स्रोत मालगुजारी है। मालगुजारी का भार जनता पर पहले से ही काफी है, उसे घटाए जाने की मांग है, आबकारी-कर से होने वाली आय भी एक न एक दिन बिल्कुल ही बन्द हो जायगी, रजिस्ट्री से होने वाली आय नगण्य ही है। जंगलों से अच्छी आय प्राप्त करने के लिए उसमें काफी पूँजी के लगाए जाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त यदि हमें शिक्षा तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि के विकास करने के लिए भी काफी खर्च करने की जरूरत है। इस प्रकार प्रान्तीय आवश्यकताओं को देखते हुए हम कह सकते हैं कि प्रान्तीय आय के साधन कम ही नहीं बरन् वे अपर्याप्त तथा अलोचपूर्ण हैं।

इसके अतिरिक्त यदि हम प्रान्तीय करों के वितरण को देखें तो हमें पता चल जायगा कि इन करों का वितरण भी असमान है निर्धन जनता पर कर का भार काफी है। मालगुजारी तथा सिंचाई की वसूली से होने वाली आय का अधिकांश निर्धन जनता द्वारा दिया जाता है, यही हाल न्याय करों का भी है। रजिस्ट्रेशन की शुल्क भी जहाँ पर उसका भूमि से सम्बन्ध है निर्धन व्यक्तियों द्वारा लिया जाता है। इन करों का भार अधिकतया ग्रामीण जनता पर ही पड़ता, नगरों में रहने वाली जनता यदि मुकदमेंबाजी वगैरा में नहीं पड़ती तो उसे इससे कोई मतलब ही नहीं रहता, परन्तु प्रान्तीय सरकारों से जितना लाभ नगर-निवासी उठाते हैं उतना ग्रामवाले नहीं।

यदि हम प्रान्तीय सरकारों के व्यय की ओर देखें तो हमें पता चल जायगा कि इनका व्यय भी उचित और समान रूप से नहीं किया जाता। आय का अधिकांश शान्ति और सुव्यवस्था में ही खर्च हो जाता है, सामाजिक सेवाओं में बहुत ही कम खर्च किया जाता है। जंगलों आदि के विकास के लिए विशेष व्यय नहीं किया जाता जिससे कि उसके द्वारा होने वाली आय में वृद्धि हो। वर्त्तमान समय में प्रान्तीय राजस्व में सबसे प्रधान स्थान मालगुजारी का है। भारत में कुल आय का १६% भाग मालगुजारी का होता है, जब कि फ्रान्स में २% तथा इटली में ७% है। ग्रेट ब्रिटेन में १६३५-३६ ई० में कुल ८२४८० लाख पौंड आय में से मालगुजारी का भाग केवल ८० लाख था। अतएव भारत में आवश्यकता इस बात की है कि प्रान्त मालगुजारी पर ही विशेष निर्भर न रहें, निर्धन किसानों पर के इस भार को कम करने के साथ ही साथ वे खेती से अच्छी आय करने वाले धनी व्यक्तियों पर कर लगाने का प्रयत्न करें।

प्रान्तीय राजस्व में सुधार कैसे हो?—हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रान्तीय राजस्व में कई दोष हैं, इन दोषों को दूर करने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित उपाय अपनाए जा सकते हैं:—

(१) या तो प्रान्तों को अपने क्षेत्र के आय-कर के वसूल करने और उसका उपयोग करने का पूरा अधिकार दिया जाय अथवा वे प्रान्त जो उद्योग प्रधान हैं उनके हिस्से में वृद्धि की जाय।

(२) जो किसान निर्धन हैं, उनकी मालगुजारी में कमी की जाय जिससे कि धीरे-धीरे अनार्थिक जोतों में कमी हो जाय।

(३) धीरे धीरे कृषि आय पर आय कर लगाया जाय, इससे निर्धनों पर से मालगुजारी का भार कम होगा और धनिक भूमिधरों को उचित सहयोग देना पड़ेगा।

(४) धीरे-धीरे उत्तराधिकार कर भी लगाया जाय।

(५) प्रान्तीय तथा स्थानीय राजस्व में परस्पर सहयोग हो, तथा एक दूसरे को आत्मनिर्भर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि वे अपने-अपने कर्त्तव्यों का अच्छी तरह तरह पालन कर सकें।

(६) कर के भार का सामान रूप से वितरण रखने के लिए धनिकों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं पर नवीन कर लगाए जाँय।

(७) प्रान्तीय राजस्व की वर्त्तमान गतिविधि को भी परिवर्त्तित करने की आवश्यकता है उसे भूमि करों की निर्भरता से दूर रखने की आवश्यकता है। यदि ग्रामों में कुटीर उद्योगों का तथा नगरों में बड़े-बड़े उद्योगों का विकास किया जाय तो इस बात की पूर्त्ति की जा सकती है।

(८) सरकार को अपने बजट को सन्तुलित करने के फेर में ही नहीं रहना चाहिए उसे सार्वजनिक कल्याण के कार्यों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

अभी प्रान्तीय सरकारों के आय के साधन बड़े सीमित हैं, ऐसे साधनों से देश के पूर्ण आर्थिक विकास की आशा करना निराशा मात्र है। भारतीय जनता काफी निर्धन है, वह अधिक कर देने योग्य भी नहीं है। हमारी आर्थिक स्थिति तभी सुधर सकती है जबकि राज्य रुपया खर्च कर प्रान्त के साधनों को विकसित करें। यदि सरकार अच्छी तरह से व्यय करती है, सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयत्न करती है तो जनता समृद्धि के पथ पर अग्रसित होती जायगी, अधिक समृद्धि होने पर वह अधिक कर देने के योग्य भी हो जायगी।

प्रान्तीय राजस्व की वर्तमान गतिविधियाँ :—वर्त्तमान काल में प्रान्तीय राजस्व में काफी महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए हैं। प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित हो जाने से प्रांतीय मंत्रियों को अपने-अपने प्रान्तों में नए-नए कर लगाने का खूब प्रोत्साहन मिला। प्रान्तीय सरकारें आय के नवीन साधन खोजने लगीं। अतः कई नवीन करों का उदय हुआ। बिक्री-कर, मनोरंजन कर, मोटर-स्प्रिट की बिक्री पर कर, नगरों की अचल सम्पत्ति पर कर, तम्बाकू पर कर आदि ऐसे ही नवीन कर थे। इन नवीन करों के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की सरकार ने 'इम्प्लायमेन्ट कर' (Employment Tax) भी लगाया। इन नवीन करों के लगाने से प्रान्तीय क्रोड़-पत्रों (बजटों) की रूप-रेखा काफी बदल गई।

युद्ध के बाद के वर्षों में देश के पुनर्निर्माण की योजनाएँ जोरों से बनने लगीं और उन्हें कार्यान्वित किया जाने लगा। प्रान्तीय सरकारों के शिक्षा, चिकित्सा व सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि व उद्योग विभाग अपने-अपने कार्यों को बढ़ाने और उन्हें पूरा करने में लग गये। विभिन्न प्रान्तों में प्लानिंग समितियाँ नियुक्त की गईं। यातायात के साधनों के विकास तथा सिंचाई आदि की योजनाएँ तैयार की गईं। प्रत्येक प्रान्त अपनी-अपनी नवीन योजनाओं को तैयार करने लगा। केन्द्रों से भी आर्थिक सहायता प्रदान की गई। इन योजनाओं का प्रान्तीय राजस्व पर प्रभाव पड़ना निश्चित था। १५ अगस्त १६४७ को देश का विभाजन हुआ। पंजाब, बंगाल तथा आसाम प्रान्त विभक्त हो गये, इनके विभाजन से व्यापार व उद्योग पर गहरा धक्का लगा, आवागमन के साधन अस्त-व्यस्त हो गये, इन स्थानों में भीषण रक्तपात हुआ, हजारों आदमी काल के ग्रास बने, लोगों ने अपनी सम्पत्ति से हाथ धोया, फसलें नष्ट हो गईं। सरकार को शान्ति स्थापित करने, शरणार्थियों के निवास,

भोजन-वस्त्र आदि की व्यवस्था करने में काफी व्यय करना पड़ा। इन सब कारणों के फलस्वरूप सरकार का खर्च काफी बढ़ा। फिर देश में खाद्यान्न की कमी होने के कारण अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन तथा आन्तरिक सुरक्षा व कर्मचारियों को मंहगाई के भत्ते आदि के देने के कारण खर्च और भी बढ़ा। युद्ध के समय में सरकार की जो कुछ बचत हुई थी वह युद्ध के बाद के इन कार्यों में खर्च की जाने लगी, इस बचत से बजट के घाटे की भी पूर्ति का सहारा मिला। नवीन करों की आय से भी इस दिशा में सहायता प्राप्त हुई।

वैसे तो इन वर्षों में कर से मिलनेवाली आय में तो कमी ही रही किन्तु १९३८-३९ की तुलना में १९४८-४९ में सरकारी आय में तिगुनी वृद्धि हुई। इस सम्बन्ध में हमें एक बात याद रखनी चाहिए कि इस समय प्रान्तीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार से भी आर्थिक सहायता प्राप्त होती रही, इसलिए प्रान्तों की आय पर उसका भी कुछ प्रभाव पड़ा। जहाँ तक करों की आय का सम्बन्ध है हम देखते हैं कि प्रान्तों में आय के मुख्य साधनों में विशेष वृद्धि नहीं हुई। १९३८-३९ ई० से लेकर १९४८-४९ के इन दस वर्षों में मालगुजारी में केवल १० लाख रुपए की वृद्धि हुई। युद्ध के समय में स्टाम्प, जंगल तथा आबकारी आदि से कुछ अच्छी आय हुई किन्तु युद्ध के बाद उसमें ह्रास हो गया। गत दशाब्द में प्रान्तीय सरकारों ने जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कुछ नवीन कर लगाकर आय में वृद्धि करने का प्रयत्न किया। उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, मदरास, उड़ीसा, आसाम आदि की सरकारों ने कृषि आय-कर लगाया है। ऊपर हम मनोरंजन, पेशों आदि पर लगने वाले करों के सम्बन्ध में कह ही चुके हैं। यदि हम जनता की आर्थिक स्थिति को देखें तो हम कह सकते हैं कि ये कर एक सीमा पर पहुँच चुके हैं और इससे अधिक बढ़ाना अच्छा नहीं हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रान्तों को युद्ध के समय में आबकारी, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन आदि से होने वाली आय में काफी वृद्धि हुई, इन स्रोतों से थोड़ी बहुत आय अब भी हो रही है किन्तु ज्यों-ज्यों मद्य निषेध का प्रचार होता जायगा, ग्राम पञ्चायतों की स्थापना से मुकद्दमेबाजी में कमी होती जायगी, त्यों-त्यों इन करों से होने वाली आय में भी ह्रास होता जायगा। उधर दूसरी ओर मँहगाई के भत्ते आदि के कारण व्यय में भी कोई कमी नहीं की जा सकेगी। इधर सरकार की अनेक योजनाओं के कारण प्रांतों का व्यय और बढ़ा हुआ है। इन सब कारणों से प्रांतों की आर्थिक स्थिति गड़बड़ हो गई है। वे केन्द्र से आर्थिक सहायता की माँग कर रहे हैं, केन्द्रीय सरकार से प्रांतों की आय-कर आदि की माँग बढ़ती जा रही है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति पर प्रांतीय सरकारों ने बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करना शुरू कर दिया, प्रारम्भिक शिक्षा, जमींदारी का अन्त तथा मद्यनिषेध आदि की योजनाओं को कार्यान्वित करने में काफी रकम लगा दी। इस कारण से उनकी आर्थिक कठिनाई और भी बढ़ गई है। किन्तु इस सम्बंध में प्रान्तों या राज्य को बहुत सोच-समझकर कार्य करना चाहिए। जितने भी सुधार कार्य या योजनाएँ हैं उनके पूरा करने में बहुत जल्दी नहीं करनी चाहिए। उदाहरण के लिए मद्यनिषेध को ही ले लीजिये इसके लिये सरकार काफी प्रयत्नशील है, इसको बन्द कर नवीन कर लगाना अच्छा समझ रही है किन्तु ऐसा करना बहुत अच्छा नहीं है। इसी प्रकार शिक्षा प्रचार के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। केन्द्रीय सरकार भी चाहती थी कि प्रांतीय सरकारें इस प्रकार सुधार-कार्य करने में जल्दी न करें। उसके ऐसा करने का उद्देश्य मुद्रा-स्फीति रोकना भी था। इसके लिए केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तों के अर्थ मंत्रियों का एक सम्मेलन भी बुलाया था किन्तु इसका कोई असर नहीं हुआ। यद्यपि प्रान्तों ने बजट के घाटे को दूर करने का प्रयत्न करना शुरू कर दिया है किन्तु अब भी वे नवीन करों के लगाने तथा नए नए विशाल खर्चों के कम करने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं।

प्रायः सभी प्रान्त मद्यनिषेध के पीछे पड़ गए हैं। आय के साधनों का उन्होंने अनुचित उपयोग करना शुरू कर दिया है। वे इस बात की चिन्ता नहीं करते कि वे जो कर लगा रहे हैं उसका जनता पर, उसकी आर्थिक स्थिति पर, व्यवसाय पर, उद्योग पर क्या प्रभाव पड़ेगा। उदाहरण के लिए बम्बई को ही ले लीजिये वह प्रान्तों से होने वाले सभी निर्यात पर कर लगाने का विचार कर रहा है, यह अन्तर्प्रान्तीय व्यापार तथा राष्ट्रीय हित से कितना बुरा है, यह सभी जानते हैं। बम्बई ने पहले से ही कपड़े पर बिक्री कर लगा रखा है, इस बिक्री-कर तथा केन्द्रीय उत्पत्ति कर से कपड़े के व्यापार को बड़ा धक्का पहुँचा है। बिहार सरकार की भी खाद्यान्नों पर बिक्री कर लगाने की बात को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। मद्रास सरकार ने मूँगफली की खरीद के कर में ५०% वृद्धि कर दी है, उसने 'कहवा-ग्रहों' आदि पर भी कर लगा रखा है। १९४९-५० में उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा मद्रास की सरकारों ने लगभग ४ करोड़ रुपया सालाना की आय के लिए नवीन करों को लगाया। १९४६-४७ ई० में प्रान्तों की कुल आय २४६·०७ करोड़ रुपया हुई। १९४९-५० में भारतीय संघ के राज्यों की कुल आय २७५.३३ करोड़ रुपया थी। १९४५-४६ में उत्पत्ति कर से सब करों से अधिक आय हुई थी, करों से होने वाली आय में कुल ३०·८% इस स्रोत से हुई थी परन्तु सरकार की मद्य निषेध योजना से इसमें ह्रास हुआ। इस समय इसका भाग केवल १०% ही रहा। इस कमी की पूर्ति बिक्री कर द्वारा हुई है; १९४९-५० ई० में इस मद से ३८.३० करोड़ रुपए की आय हुई। प्रत्येक प्रान्त में बिक्री करों की व्यवस्था में कुछ न कुछ अन्तर है, मद्रास में इस कर की दर एक पैसा प्रति रुपया है। उत्तर प्रदेश में भी यही दर है, बंगाल तथा पंजाब में कुछ चीजों को बिक्री कर से मुक्त रखा गया है। बिहार का बिक्री-कर सबसे बुरे बिक्री करों में से माना जा सकता है, इसमें खाद्यान्नों पर भी बिक्री कर लगाने का प्रस्ताव किया गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सबसे महत्वपूर्ण कर मालगुजारी था, इसके बाद आबकारी तथा स्टाम्प का नम्बर आता था। १९३८-३९ ई० में कुल आय के ये कर क्रमशः ४२·८४%, २२.३५% तथा १६.२३% थे। अब मालगुजारी में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है, हाँ १९४९-५० में स्टाम्प से होने वाली आय १५.८४ करोड़ रुपया थी। आबकारी कर की आय के विषय में हम कह ही चुके हैं। हाँ, अब प्रान्तों को केन्द्र द्वारा आय कर के हिस्से के रूप में अच्छी आय प्राप्त हो रही है।

इस प्रकार देखने से पता चलता है कि युद्ध के बाद तथा देशों के स्वतन्त्र होने पर प्रान्तीय राजस्व व्यवस्था में काफी परिवर्तन हुआ है। परन्तु अभी इन राज्यों की राजस्व-व्यवस्था को अच्छा नहीं कहा जा सकता, जब तक कि इस दिशा में किसी अच्छी पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता तब तक राज्यों की राजस्व व्यवस्था के वर्तमान दोष दूर नहीं हो सकते।

प्रान्तीय राजस्व तथा द्वितीय विश्व युद्ध—युद्ध का जितना प्रभाव केन्द्रीय राजस्व पर पड़ता है उतना प्रान्तीय राजस्व पर नहीं पड़ता। युद्ध के समय में केन्द्रीय सरकार के आय के मुख्य स्रोत—आयात निर्यात कर, रेलों से होने वाली आय, आयकर आदि—बड़ी बुरी तरह प्रभावित होते हैं। केन्द्रीय सरकार को ही युद्ध का संचालन आदि करना पड़ता है। परन्तु प्रान्तीय राजस्व पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार भारत में द्वितीय विश्व युद्ध से प्रान्तीय राजस्व व्यवस्था पर विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि युद्ध का लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ा है, या प्रान्तों की सारी आर्थिक स्थिति अछूती ही रही है, ऐसा नहीं था। प्रान्तों में खाद्यान्न की कमी हुई, आवश्यक वस्तुओं का मिलना मुश्किल हो गया, वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हो गई, यातायात के साधनों की कमी हो गई। प्रान्तों की कर व्यवस्था में भी परिवर्तन किए गये, प्रान्तों को देश में शान्ति और सुरक्षा के लिये भी काफी खर्च करना पड़ा। युद्ध के समय में प्रायः सभी प्रान्तों की आय में वृद्धि हो गई। १९३८-३९ में प्रान्तों की कुल आय केवल ८५ करोड़

रुपये थीं, १९४५-४६ में १६० करोड़ रुपये हो गई। उत्तर प्रदेश, बंगाल, बम्बई, मदरास प्रान्तों में तो इस आय में २००% की वृद्धि हुई। आय में इस वृद्धि के होने का मुख्य कारण प्रान्तों के आयकर के हिस्सों का बढ़ जाना था। इस समय खेती वाली वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हो जाने से मालगुजारी से भी अच्छी आय हुई। इसी प्रकार अन्य साधनों से भी अच्छी आय हुई। इस समय प्रान्तों ने अत्यधिक लाभ तथा न्यूनतम व्यय की नीति अपनाई।

१९५०-५१ का बजट राज्यों का—केन्द्रीय सरकार ने राज्यों को यह आदेश दिया था कि राज्य अपने-अपने बजट को सन्तुलित करने का प्रयत्न करें। केन्द्र द्वारा दी जाने वाली सहायता में भी कमी कर दी गई। अतएव राज्यों को स्वयं अपने साधनों पर निर्भर रहना पड़ा। राज्यों ने अपने व्यय में कमी करने का प्रयत्न किया। विकास की योजनाओं में लगने वाले खर्च को बन्द कर दिया, मद्य-निषेध के प्रचार को भी कम कर दिया। इस प्रकार राज्यों ने अपने-अपने व्यय में कमी करके तथा कुछ नए कर लगाकर आय बढ़ाने का प्रयत्न किया। १९५०-५१ का राज्य बजट इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। हम यहाँ पर विभिन्न राज्यों के बजट पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

उत्तर प्रदेश—१९५०-५१ के बजट में सरकारी आय का अनुमान ५२,२६,०६,७०० रुपया तथा व्यय का अनुमान ५२,२१,११,७०० रुपया किया गया था। राज्य के अर्थ मंत्री का विचार है कि राज्य की आर्थिक स्थिति काफी अच्छी है। बिना किसी मद में विशेष कटौती किए ही इस राज्य के बजट को सन्तुलित करने में सहायता मिली है। उत्तर प्रदेश ने सार्वजनिक कल्याण के कार्यों में भी अच्छी प्रगति की है। १९३७ में राष्ट्र निर्माणकारी विभागों में इस राज्य में केवल ३ करोड़ रुपया खर्च हुआ था किन्तु इस वर्ष १६·९८ करोड़ रुपया व्यय किया गया। इस वर्ष के बजट में पुलिस में होने वाले व्यय में कमी की गई तथा किसी नए कर को नहीं लगाया गया।

बम्बई—बम्बई राज्य की कुल आय का अनुमान ६१,३९,०६,००० रु० किया गया है, कुल व्यय ६१,३७,०८,००० रु० है, इस प्रकार १,९८,००० रुपए की बचत की आशा है। इस बचत को लाने के लिये सरकार ने अपना व्यय कम करने का विचार किया है। कोई नवीन कर नहीं लगाये गये हैं।

मध्य प्रदेश—यह उन राज्यों में से है जिसकी आर्थिक स्थिति दृढ़ मानी गई है। इस राज्य की अनुमानित आय १७·५७ लाख तथा अनुमानित व्यय १६·१६ लाख रुपये है, इस प्रकार लगभग १·४ करोड़ रुपये की बचत होने की आशा है। इससे पता चलता है कि राज्य ने व्यय करने में काफी किफायतशारी की है। अच्छा है यदि राज्य सार्वजनिक कल्याण के कार्यों की ओर कुछ विशेष ध्यान दे तथा जनता पर से कर भार को कम करने का प्रयत्न करे।

पूर्व पञ्जाब—इस राज्य की कुल अनुमानित आय १६·१८ करोड़ तथा व्यय १६·१४ करोड़ रुपया लगाया गया है, जिसमें कुल ४ लाख रुपये के बचने की आशा है। राज्य की सरकार ने बजट को सन्तुलित करने के लिये कोई नवीन कर नहीं लगाये केवल बिक्री कर की दर में वृद्धि की। सहकारी तथा पशु चिकित्सा विभाग को दी जाने वाली रकम में कमी की गई। आबपाशी की दर में ५०% की वृद्धि की जाने का विचार किया जा रहा है।

पश्चिमी बंगाल—आर्थिक दृष्टि से पश्चिमी बंगाल की दशा सबसे खराब है। बंगाल पर युद्ध, दुर्भिक्ष, देश के विभाजन, से साम्प्रदायिक दङ्गों आदि का गहरा प्रभाव पड़ा है। पंजाब की भांति पश्चिमी बंगाल को भी शरणार्थियों की पुनर्स्थापना आदि में काफी व्यय करना पड़ा है। करों में काफी वृद्धि की जा चुकी है और आगे वृद्धि करने की सम्भावना नहीं है। आय के खाते में ३३,[illegible],[illegible],००० रुपया तथा व्यय में ३५,२२,८७,००० रुपया आंका गया है, बजट में १·३३

करोड़ का घाटा है, बजट में कुल ५·६० करोड़ का घाटा है। पश्चिमी बंगाल अपनी विकास सम्बन्धी योजनाओं को अच्छी तरह कार्यान्वित कर रहा है। १९५०-५१ के बजट में १४.६१ करोड़ रुपया विकास सम्बन्धी योजनाओं के लिये निकाल दिया गया है, जिसमें से तीन करोड़ रुपया सड़कों के विकास के लिये, ४·६१ करोड़ दामादर घाटी योजना के लिये, २ करोड़ मयूराक्षी योजना के लिये निश्चित किया गया है।

आसाम—बंगाल की भांति आसाम की भी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, वह अपने बजट को सन्तुलित करने में सफल नहीं हुआ है। इस राज्य की अनुमानित आय ९·०१ करोड़ तथा खर्च ९·८८ करोड़ रुपया आंका गया है, बजट में ८७ लाख का घाटा है। इस घाटे को पूरा करने के लिये किसी नवीन कर को न लगाकर लगे हुए करों की दर में ही वृद्धि करने का विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त राज्य ने व्यय में भी कमी करने का विचार किया है।

मद्रास—मद्रास की अनुमानित आय ५५.५७ करोड़ तथा व्यय ५५.२१ करोड़ रुपया है, ३६ लाख की बचत की आशा है। निकटवर्ती राज्यों के मिल जाने से बचत में कमी हो गई है। इस वर्ष राज्य ने पूर्ण रूप से मद्य निषेध का विचार किया है, परन्तु किसी नवीन कर के लगाने का विचार नहीं किया गया है।

बिहार—बिहार तो वैसे ही आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ प्रदेश है, इसे अपने बजट को सन्तुलित करने का कार्य काफी कठिन है। इस राज्य की १९५०-५१ की अनुमानित आय २५,९० लाख तथा व्यय २६,२७ लाख रुपया है, ३७ लाख रुपए का घाटा है। स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने के लिये राज्य की सरकार ने सार्वजनिक बसों, टैक्सी आदि पर दो आना प्रति रुपया के हिसाब से कर कर लगा दिया है, इससे ८० लाख रुपया की आय होने की आशा है।

उड़ीसा—आर्थिक दृष्टि से उड़ीसा सबसे पिछड़ा हुआ प्रदेश है, निकटवर्ती रियासतों के मिल जाने से स्थिति और भी खराब हो गई है। अपने आर्थिक विकास आदि के लिये उड़ीसा सरकार ने केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता की प्रार्थना की थी किन्तु उसे कुछ सहायता न मिली। ऐसी स्थिति में उड़ीसा सरकार को और भी आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस राज्य की १९५०-५१ की अनुमानित आय १०,६५,८१ हजार रुपया तथा व्यय ११,४१,७६ हजार रुपया है। आय में ७५.६५ लाख का घाटा है। घाटे की पूर्ति के लिये राज्य ने युद्ध के बाद के विकास योजनाओं के खर्च में कमी कर दी है।

उपरोक्त राज्यों के अतिरिक्त नीचे हम उन राज्यों या राज्य संघों के बजट में आँकड़े दे रहे हैं जो भारतीय संघ में मिल गये हैं, इसमें जम्मू तथा काश्मीर शामिल नहीं है :—

राज्य	आय	व्यय	बचत+ घाटा—
	(हजार रुपयों में)	(हजार रुपयों में)	(हजार रुपयों में)
ट्रावनकोर—कोचीन	१४,००,१६	१४,३६,२०	—३६०४
मध्य भारत	१०,३०,७८	१०,८७,६८	—५६९०
राजस्थान	१६,०९,००	१६,०९,००	......
सौराष्ट्र	७,५९,०५	७,५६,१६	+२,८९
पेप्सू	४,५६,६२	४,५४,५२	+२,५०
मैसूर	११,६९,८८	११,६६,८२	+३,०६
हैदराबाद	२९,८९,०३	३०,०१,४४	—१२४१

इस प्रकार कुल मिलाकर ६६,६० लाख रुपयों का घाटा है। इन राज्यों की आय का लगभग पाँचवाँ हिस्सा आबकारी से आता है। बिक्री कर से होनेवाली आय कुल आय का केवल आठवाँ हिस्सा है जिससे पता चलता है कि ये राज्य व्यापारिक दृष्टि से कितने अधिक पिछड़े हुए हैं। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, इन राज्यों को चाहिए कि अन्य प्रान्तों की भाँति साधारण व्यय को ये कम करें।

विशेष वक्तव्य—राज्यों के क्रोड़ पत्रों को देखने से यह पता चलता है कि प्राय: सभी राज्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, वे आय के साधनों का जितना अधिक से अधिक उपयोग कर सकते हैं कर चुके हैं और अब इन स्रोतों से उन्हें विशेष आय होने की सम्भावना नहीं, उन्हें अपनी विकास सम्बन्धी योजनाओं के अर्थ-प्रबन्धन के लिए काफी पूँजी की आवश्यकता है, जब विकास सम्बन्धी योजनाएँ पूरी हो जायँगी तभी उनकी आय में अच्छी वृद्धि हो सकेगी। अन्य राष्ट्र निर्माणकारी कार्यों के लिए भी पूँजी की आवश्यकता है। राज्यों ने बिक्री-कर लगाकर अपनी आय बढ़ाने का विचार किया था किन्तु उससे कोई विशेष लाभ नहीं मिला है।

स्थानीय राजस्व

प्राक्कथन—हमने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजस्व पर विचार किया अब हम यहाँ स्थानीय राजस्व पर प्रकाश डालेंगे। स्थानीय राजस्व का तात्पर्य नगरपालिकाओं (म्युनिसपेलटियों), जिला-बोर्डों, और पंचायतों आदि स्थानीय संस्थाओं के आय-व्यय से है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजस्व की भाँति स्थानीय राजस्व से भी आशा की जाती है कि वह कर के समानता, लोचकता, उत्पादकता आदि सिद्धान्तों का पालन करेगा, परन्तु इसमें और अन्य राजस्वों में थोड़ा सा अन्तर है। स्थानीय राजस्व का मुख्य आधार अचल सम्पत्ति होता है, केन्द्रीय राजस्व के विपरीत स्थानीय राजस्व में कई प्रकार के कर होते हैं जो कि यहाँ की स्थानीय आवश्यकताओं और स्थितियों को ध्यान में रखते हुए लगाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय करों की आय अनिश्चित होती है, वह जनता की सुख समृद्धि पर निर्भर रहती है। केन्द्रीय कर प्राय: देश भर में एक से होते हैं, वे प्राय: एक ही दर से वसूल किए जाते हैं। इसके विपरीत स्थानीय करों में तथा उनकी दर में स्थानीय भेद से भिन्नता होती है। स्थानीय संस्थाएँ अपने करों से प्राप्त आय को रोशनी, सड़कों की मरम्मत, शिक्षा, सफ़ाई पानी के नलों आदि के ऐसे कार्यों में खर्च करती हैं, जिनसे कर दाताओं को प्रत्यक्ष लाभ हो जब कि केन्द्रीय करों से होने वाला लाभ इतना प्रत्यक्ष नहीं मालूम पड़ता।

हम यहाँ पर यह विचार करेंगे कि हमारा स्थानीय राजस्व आवश्यकताओं के अनुरूप है अथवा नहीं। स्थानीय सरकार के मुख्य अङ्ग नगरपालिकाएँ तथा जिला-बोर्ड हैं। आइये पहले नगरपालिकाओं पर ही विचार करें।

नगरपालिकाओं का राजस्व—ये नगरों या कस्बों में काम करती हैं। नगरपालिकाओं के मुख्य कार्य सर्वसाधारण की सुविधा के लिए सड़कें बनवाना, उनकी मरम्मत करना, अस्पताल या औषधालय खोलना, पीने और नहाने आदि के लिए पानी की व्यवस्था करना, प्रारम्भिक शिक्षा के लिए और हो सके तो माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिए संस्थाओं की व्यवस्था करना, वाचनालय और पुस्तकालयों आदि की स्थापना या सहायता करना, मेले और नुमायशें करना, बिजली की रोशनी तथा ट्राम चलाने आदि की व्यवस्था करना इत्यादि। इन सब कार्यों के करने के लिए रुपए की आवश्यकता होती है।

नगरपालिकाओं के आय की मदों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) व्यापार-कर, जैसे चुङ्गी आदि।

(२) सम्पत्ति-कर जैसे मकानों, इमारतों आदि पर कर।

(३) व्यक्तियों पर कर—इसमें तीर्थ यात्रियों, घरेलू नौकरों, कुत्तों तथा अन्य पशुओं पर लिया जाने वाला कर सम्मिलित है।

(४) फीस व लायसेन्स आदि, जैसे पानी, रोशनी का शुल्क, स्कूल की फीस, बाजार तथा बूचड़खानों के लिए लिया जाने वाला शुल्क। इसके अतिरिक्त इक्का, तांगा, सायकिल, मोटर, गाड़ियों आदि के लायसेन्स के लिए भी शुल्क लिया जाता है।

कार्पोरेशन तथा अन्य बड़ी-बड़ी नगर पालिकाएँ सार्वजनिक कल्याण से कार्यों के अच्छी आय करती हैं। १६३६-४० ई० में ७५६ नगरपालिकाएँ थीं, उनकी कुल आय ४४,३१,४२,१६८ थी। नगरपालिकाओं द्वारा ली जाने वाली चुंगी आदि व्यापारिक करों के विरुद्ध लोगों का कहना है कि इस कर को हटा दिया जाना चाहिए। इस कर से होने वाली आय बड़ी अनिश्चित रहती है, करदाता को बड़ी असुविधा रहती है। यह कर जब जीवन रक्षक पदार्थों पर लगता है तो इसका भार निर्धन व्यक्तियों पर बहुत पड़ता है। इस कर के कारण आदमियों तथा गाड़ियों के आवागमन में बाधा उपस्थित होती है। इसलिए इसके हटाए जाने के विरुद्ध काफी जनमत है। अन्य देशों में इस कर को स्थानीय राजस्व से हटा दिया गया है।

जिला-बोर्ड आदि (District Boards)—भारतवर्ष गाँवों का देश है, जिला-बोर्डों का उद्देश्य गाँवों में शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का प्रबन्ध करना है। ये जिला बोर्ड ऐसी सड़कें बनवाते हैं जो दो या अधिक गाँवों के बीच हों, सड़कों पर पेड़ लगवाते तथा उनकी रक्षा करते, देहातों में प्रारम्भिक या माध्यमिक विद्यालय खोलकर शिक्षा का प्रचार करते, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध करते, पशुओं के इलाज के लिए पशु-चिकित्सालय खोलते, बाजार, मेला, नुमाइश या कृषि प्रदर्शनी आदि का प्रबन्ध करते, पीने के पानी के लिए तालाब या कुएँ खुदवाते तथा उनकी मरम्मत करते हैं।

इन बोर्डों की आय की मदें इस प्रकार होती हैं :—

१—**सरकारी अनुदान**—[शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सड़कें, अन्य विषय (स्थायी मंहगाई सरकार से तथा अस्थायी निर्वाचन आय) मजिस्ट्रेट द्वारा किए जाने वाले दंड से आय, घाट की आय]

२—**भूमिकर**—[भूमि पर एक रेज कर सड़क कर]

३—**स्थिति व सम्पत्ति कर।**

४—**पशु बाड़ा।**

५—**घाट**—[प्रान्तीय तथा अन्य घाटों की आय]

६—**शिक्षा**—[मिडिल स्कूल, प्राइमरी स्कूल की फीस, बोर्डिंग हाउस की आय, सूद के अतिरिक्त वक्फ से आय, जमानत पर सूद, अन्य स्थानीय संस्थाओं से सहायता]

७—**औद्योगिक शिक्षा**—[फीस तथा बनी हुई वस्तुओं की बिक्री से आय]

८—**चिकित्सा**—[रोगियों, दवा की बिक्री, स्थानीय संस्थाओं से चन्दा आदि से]

६—**सार्वजनिक स्वास्थ्य**—[फीस व दंड, व्यक्तियों से सहायता, स्थानीय संस्थाओं से सहायता आदि]

१०—**पशु-चिकित्सा**—[दवा की बिक्री आदि से]

११—**हाट की दूकानों**—[लायसेन्स फीस, सवारियों और जानवरों पर महसूल, हाट-कर, आदि से]

१२—**मेला तथा नुमायश**

१३—**सम्पत्ति से**—[मकान व भूमि का किराया, अचल सम्पत्ति की खरीद, आदि से]

१४—**खेती और बाग**—[बीज, औजार, पेड़ों की क्रय, बाग आदि से आय]

१५—**सूद**—[शिक्षा और चिकित्सा सेक्यूरटियों के अतिरिक्त]

१६—**विविध**—[पुराने सामान की बिक्री, पशु बाड़ा व सफाई के जुर्माना, स्थानीय संस्थाओं से सहायता, अन्य व्यक्तियों से सहायता आदि]

१७—**असाधारण या कर्ज से आय**

उपरोक्त मदों से ही जिला-बोर्डों की आय होती है किन्तु जिला बोर्डों के पास रुपए का काफी अभाव रहता है और उनसे काफी कार्य की जाने की आशा की जाती है। इसलिए आवश्यकता है कि प्रान्तीय सरकारें जिला-बोर्डों को अच्छी आर्थिक सहायता प्रदान करें।

स्थानीय संस्थाओं के आय के क्षीण साधन—वर्त्तमान वैधानिक विकास के कारण स्थानीय संस्थाओं के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों में वृद्धि हो गई है। अब जिन कार्यों के उनसे किए जाने की आशा की जाती है वे काफी विशाल हैं। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, यातायात आदि के साधनों का विकास जैसे कार्यों का उत्तर दायित्व इन संस्थाओं पर है। इन सब बातों तथा जनसंख्या या उनके कार्य-क्षेत्र को देखते हुए कहा जा सकता है कि उनके आय के साधन बड़े अल्प व क्षीण हैं। १९२७-२८ में ब्रिटिश भारत में समस्त ग्रामीण बोर्डों की आय ४० लाख पौण्ड से कम थी परन्तु इंगलैण्ड तथा वेल्स में जिसकी कि जनसंख्या भारत की जनसंख्या के तेरहवाँ भाग से अधिक नहीं थी, उसकी ग्रामीण संस्थाओं को करों आदि से २७० लाख पौण्ड की आय हुई थी।

१९३१-३२ ई० में स्थानीय संस्थाओं का कुल खर्च कुल केन्द्रीय प्रान्तीय तथा स्थानीय व्यय का केवल १२%था। इस प्रकार प्रति व्यक्ति १-) ही व्यय पड़ा। इतने अल्प व्यय से हम अधिक कार्यों के किए जाने की क्या आशा कर सकते हैं। यदि हम इङ्गलैण्ड और वेल्स से इसकी तुलना करें तो हमें ज्ञात होगा कि वहाँ प्रति व्यक्ति १० पौण्ड १७ शि० व्यय किया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका में स्थानीय व्यय कुल व्यय का ५५ प्रतिशत, जापान में ५० प्रतिशत व्यय किया जाता है। इन देशों में स्थानीय संस्था द्वारा किए जाने वाले व्यय को देखकर हम कह सकते हैं कि हमारे देश में इतनी संस्थाएँ कितना कम व्यय करती हैं। यही कारण है कि देश में शिक्षा आदि का अच्छा प्रचार नहीं हो पाता, चिकित्सा सम्बन्धी अच्छी सुविधा न मिलने से प्रति वर्ष हैजा, महामारी, चेचक आदि छूत की भयानक बीमारियों से हजारों और लाखों आदमी मर जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे स्थानीय राजस्व की स्थिति अच्छी नहीं है, स्थानीय राजस्व की दशा अच्छी न होने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) निर्धन जनता की कर देने की क्षीण क्षमता;

(२) जो लोग धनी हैं उनकी कर न देने या कर देने से बचने की प्रवृत्ति;

(३) नागरिक संस्थाओं का अकुशल शासन प्रबन्ध;

(४) केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय संस्थाओं में आय के साधनों का अनुपयुक्त वितरण;

(५) स्थानीय संस्थाओं का शिक्षा प्रचार तथा चिकित्सा आदि के लिए अदूरदर्शिता पूर्ण योजनाओं का बनाया जाना; नागरिक संस्थाएँ जो योजनाएँ बनाती हैं वे बहुत विचारपूर्वक नहीं बनाई जातीं, इसका परिणाम यह निकलता है कि उन्हें इन योजनाओं में बहुत कम सफलता मिलती है और उन्हें आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है।

(६) नगरपालिकाओं के हिसाब आदि पर बहुत अच्छा नियंत्रण नहीं होता इसका प्रभाव यह होता है कि इन संस्थाओं में गबन इत्यादि भी खूब होता है।

(७) नागरिक संस्थाओं में कार्य करने वाले व्यक्ति भी अपने उत्तरदायित्व का ठीक से अनुभव नहीं करते इसका भी प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता।

(८) अब इधर थोड़े दिनों से कुछ राज्यों में पंचायतों के स्थापित हो जाने से जिला-बोर्डों के हाथ से आय का साधन निकल गया है, उधर दूसरी ओर उनके उत्तरदायित्व भी बढ़ गये हैं।

(९) थोड़े दिनों से प्रान्तीय सरकारों ने बिक्री-कर, अचल सम्पत्ति पर कर, मनोरंजन कर आदि लगाकर के स्थानीय राजस्व के साधनों पर आघात पहुँचाया है।

हमारे स्थानीय राजस्व के उपयुक्त न होने के मुख्य कारणों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, इन दोषों को दूर किए बिना प्रान्तीय राजस्व की स्थिति को सुधारना असम्भव है।

ये दोष दूर कैसे हों ?—कहना न होगा कि भारतीयों की निर्धनता के कारण, राजस्व के लिए नवीन स्रोतों को खोज निकालना, दूसरे शब्दों में नवीन करों का लगाना उपयुक्त नहीं है। अतएव इसके लिए हमें अन्य बातों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि हम इन नागरिक संस्थाओं की प्रशासन सम्बन्धी स्थिति को ठीक करें, इन संस्थाओं के अधिकारियों एवं कर्मचारियों में उत्तरदायित्व के भावों का जागरण करें, प्रान्तीय सरकारें इन संस्थाओं के कार्यों पर अच्छी निगरानी रखें तो इस दिशा में अच्छा सुधार हो सकता है। अधिकारियों को चाहिए कि इन संस्थाओं के लिए वसूल किए जाने वाले करों को अच्छी तरह वसूल करने का प्रबन्ध करें, करों आदि के वसूल करने में जो धाँधली तथा बेईमानी आदि होती है, उसे दूर करें।

कर निर्धारण जाँच समिति (Taxation Enquiry Committee) स्थानीय राजस्व के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए थे :—

(१) मालगुजारी की दर में थोड़ी कमी की जाय जिससे कि स्थानीय संस्थाओं के लिए भी कर वसूल करने को थोड़ी गुञ्जाइश रहे।

(२) प्रान्तीय सरकारों को चाहिए वे भूमि से होने वाली वसूली में से कुछ अंश नागरिक संस्थाओं को भी दें।

(३) नगरपालिकाओं द्वारा विज्ञापनों पर कर लगाया जाय।

(४) प्रान्तीय सरकारें स्थानीय संस्थाओं को मनोरंजन कर आदि में से भी कुछ अंश दें।

(५) नागरिक संस्थाओं को चाहिए कि वे सम्पत्ति तथा व्यवसाय आदि पर लगाने वाले करों में वृद्धि करें।

(६) केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह मोटर गाड़ियों पर से आयात कर को हटा दें और प्रान्तीय सरकारों को उस पर अतिरिक्त कर लगाने दें जिससे कि स्थानीय संस्थाओं को लाभ मिल सके।

(७) विवाहों की रजिस्ट्री के लिए भी स्थानीय संस्थाओं को शुल्क लगाना चाहिए।

(८) प्रान्तीय सरकारों को चाहिए कि राष्ट्रीय महत्व के वे कुछ कार्य जो कि अभी स्थानीय संस्थाओं द्वारा किए जाते हैं, उन्हें अपने हाथ में ले और स्थानीय संस्थाओं को ऐसे कार्यों से मुक्त करें।

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त निम्नलिखित उपायों से भी स्थिति को सुधारा जा सकता है:—

(९) स्थानीय संस्थाओं विशेषकर नगरपालिकाओं को चाहिए कि कुछ व्यावसायिक कार्यों को अपने हाथ में लें जिससे कि अच्छा लाभ मिल सके। इन कार्यों में तम्बाकू व पेट्रोल की बिक्री

का एकाधिपत्य, सिनेमा, सार्वजनिक सुविधा के अन्य कार्य जैसे विद्युत, स्थानीय यातायात आदि। अन्य समृद्ध देशों की नगरपालिकाओं ने इन कार्यों को हाथ में लेकर अपनी आय में अच्छी वृद्धि की है।

(१०) संयुक्त राज्य अमरीका इत्यादि देशों में स्थानीय संस्थाएँ जब सार्वजनिक कल्याण के कार्य करती हैं और उससे जनता को काफी लाभ मिलता है तो विशेष करों को लगाकर ये संस्थाएँ अच्छा लाभ कमाती हैं, भारत में भी इस प्रकार का प्रयत्न किया जा सकता है।

(११) प्रान्तीय सरकारों को चाहिए कि वे स्थानीय संस्थाओं को मोटर लारियों से मिलने वाले कर, बिक्री-कर तथा मनोरंजन कर में से स्थानीय संस्थाओं को कुछ भाग दें।

(१२) अभी तक स्थानीय संस्थाएँ शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, सड़कों आदि के निर्माण में अच्छी रकम खर्च कर देती हैं परन्तु अब इनमें से अधिकांश व्यय प्रान्तीय कोष से दिया जाना चाहिए, क्योंकि इन कार्यों का महत्व केवल स्थानीय दृष्टि से ही नहीं है।

(१३) इन सब बातों के हो जाने पर भी प्रान्तीय सरकारों को चाहिए कि वे नागरिक संस्थाओं को कुछ और आर्थिक सहायता प्रदान करें।

(१४) स्थानीय संस्थाओं के विकास के लिए, उनके व्यापारिक कार्यों की पूर्त्ति के लिए ऋण मिलने की सुविधा होनी चाहिए।

कहना न होगा कि हमारी स्थानीय संस्थाएँ ईमानदारी से कार्य नहीं कर रही हैं, जो लोग इन संस्थाओं में जाते हैं वे अपने उत्तरदायित्व का पूरी तरह अनुभव नहीं करते, यदि वे अच्छी तरह से कार्य करने लगें तो स्थानीय संस्थाओं की बहुत कुछ आर्थिक स्थिति ठीक हो जाय।

भारतीय राजस्व व्यवस्था पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—संसार में कोई भी ऐसी राजस्व व्यवस्था नहीं है जो सर्वथा दोष मुक्त हो, जो पूर्ण हो, जिसमें किसी प्रकार का दोष न हो। परन्तु भारतीय राजस्व पद्धति में अन्य देशों की अपेक्षा कुछ अधिक बुराइयां हैं। हम यहाँ पर इन दोषों को दो दृष्टियों से अध्ययन करेंगे एक तो कर-पद्धति की दृष्टि से, दूसरे सार्वजनिक व्यय की दृष्टि से।

आइये पहले कर पद्धति की दृष्टि से विचार करें। भारतीय कर-व्यवस्था बड़ी ढीली-ढाली व अव्यवस्थित है। इसका विकास किसी निश्चित वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार नहीं किया गया है, इसका निर्माण या विकास समय-समय पर उठने वाली आवश्यकताओं तथा बजट को सन्तुलित करने के लिए हुआ है। कर का भार क्या होगा, उसका देश के उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा, कर वितरण समान है या असमान इस बात पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय बजट हमेशा से ही अनिश्चित रहते आए हैं। देश का मुख्य उद्योग कृषि है, कृषि पर जल वृष्टि का गहरा प्रभाव पड़ता है अतएव मानसून की इस अनिश्चितता ने भी भारतीय बजट को प्रभावित किया जिसके कर व्यवस्था में काफी परिवर्त्तन-परिवर्द्धन होता रहा है। हमारी कर-व्यवस्था की एक विशेषता यह भी रही है कि वह एक ही लकीर की फकीर बनी रही है। मालगुजारी तथा उत्पत्ति-कर आदि का जनता द्वारा प्रबल विरोध होने पर भी उसे हटाने का प्रयत्न नहीं किया गया। हमारी कर व्यवस्था का एक दोष प्रत्यक्ष करों की अविकसित स्थिति रही है। इसके अतिरिक्त करों की प्रतिगामी प्रवृत्ति भी हमारी कर पद्धति का सबसे बड़ा दोष रहा है। इसमें कर के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त समानता और समता का विचार नहीं रखा गया है। मालगुजारी, आयात-निर्यात, उत्पत्ति-कर, रेलवे के भाड़े आदि ऐसी मदें हैं जिनमें अधिकतया निर्धनों की जेब से ही पैसा जाता है। धनिकों से लिया जाने वाला मुख्य कर, आय-कर है। इस प्रकार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर करों का भार अधिक पड़ा है। एक तरफ एक निर्धन कृषक ने मालगुजारी देने के साथ ही जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं—चीनी, मिट्टी का तेल, नमक

तथा सामान्य उपभोग की अन्य वस्तुओं पर लगने वाले शुल्क आदि को भी दिया किन्तु जमींदार जो कि कृषकों का खूब शोषण करते, कृषि से खूब लाभ कमाते रहे, कृषि आय-कर जैसे करों को देने से मुक्त रहे। सरकार के संरक्षण करों का भी प्रभाव सर्वसाधारण पर ही पड़ा न कि धनिकों पर। कर-भार जितना निर्धन व्यक्तियों पर पड़ा उतना धनिकों पर नहीं। इस प्रकार हमारी सम्पूर्ण कर व्यवस्था कई दोषों से युक्त रही, उसमें कर के समानता, समता, निश्चितता जैसे महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की बिल्कुल ही उपेक्षा की गई।

ऊपर हमने कर-व्यवस्था की दृष्टि से भारीय राजस्व-व्यवस्था पर विचार किया। अब हम यहाँ देखेंगे कि सार्वजनिक व्यय की दृष्टि से हमारी राजस्व व्यवस्था कहाँ तक सफल हुई। भारत में धीरे-धीरे सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती जा रही है परन्तु यदि व्यय अच्छे ढङ्ग से और विचारपूर्वक किया जाता है तो इस सम्बन्ध में डरने की कोई बात नहीं।

यदि हम भारतीय बजट की व्यय की मदों पर एक दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि देश में सबसे अधिक व्यय सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों में किया जाता रहा है। एक समय था जब कि भारत में जितना व्यय सेना पर किया जाता था, उतना संसार के किसी भी देश में इस मद में व्यय नहीं होता था। १९३५-३६ में भारत में कुल आय का २४% सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओं पर किया गया, जब कि उसी समय इंगलैण्ड में इस मद में केवल १५% व्यय किया जाता था। फ्रान्स में इस मद में कुल आय का १६%, जर्मनी में १७ प्रतिशत तथा इटली में २१ प्रतिशत व्यय होता था। सन् १९४१-४२ में सुरक्षा व्यय १०२ करोड़ रु० हुआ। ज्यों-ज्यों युद्ध बढ़ता गया इस मद में होने वाला खर्च भी बढ़ता गया। १९४२-४३ में इस मद में १३३ करोड़, १९४३-४४ में १९० करोड़ और १९४४-४५ में यह ३३८ करोड़ रुपया हो गया। इस प्रकार सुरक्षा, व्यय कुल व्यय का ६६ प्रतिशत तथा कुल आय का ९४ प्रतिशत तक पहुँच गया। सेना की मद में इतना अधिक व्यय किए जाने का जनता ने काफी विरोध किया। भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी कुछ विशेष कारणों से हमारा सैनिक या सुरक्षा-व्यय काफी हो रहा है। आशा है कि थोड़े समय बाद देश में इस मद में होनेवाली रकम में कमी होगी। यदि भारत को अपने आर्थिक विकास के लिए और कार्यों को करना है तो सुरक्षा-व्यय में कमी करके हम काफी बचत कर सकते हैं। अब स्वतन्त्र भारत में जो सेना रह गई उसमें विदेशी तत्व नहीं है, समस्त सेना भारतीय है। ऐसे समय में आवश्यकता इस बात की है कि सैनिक नागरिक हित के कार्यों में सहायक हों। जो सैनिक देश के मुल्की (असैनिक) कार्य करने योग्य हों, उनसे अवकाश के समय दूसरे उपयोगी कार्य लिए जाँय। इससे जनता को सैनिक व्यय का यथेष्ट लाभ मिल सकेगा और देश का व्यय-भार बढ़े बिना ही बहुत सा लोकोपयोगी कार्य होता रहेगा।

हमारे व्यय का एक दूसरा बड़ा दोष यह है कि हमारे यहाँ नागरिक प्रकाशन में भी काफी व्यय किया जाता रहा है। यहाँ से सरकारी अधिकारियों पर होने वाला व्यय अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक रहा है। सरकारी अधिकारियों को ऊँचे-ऊँचे वेतन तथा भत्ता आदि दिये जाते हैं। जब यहाँ अँगरेज थे तब तो इस मद में होनेवाला व्यय और भी अधिक था, स्वतंत्र भारत ने इस दिशा में सुधार किया है किन्तु भारत जैसे निर्धन देश के लिए इतनी बड़ी रकम देना कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। प्रो० के० टी० शाह के अनुसार यहाँ पर सरकारी उच्च पदाधिकारियों को औसतन तीन हजार रुपया प्रति माह मिलता है जब कि यू० के० में केवल एक हजार प्रति माह। इन ऊँचे-ऊँचे वेतनों में अवश्य कमी की जानी चाहिए। यहाँ पर अधिक से अधिक एक हजार रुपया प्रति माह प्रति व्यक्ति होना चाहिए। हाँ इसके साथ ही न्यूनतम तथा अधिकतम वेतन के अन्तर को भी ठीक ढंग से निश्चित किया जाना चाहिए। सामान्यतः यहाँ ५० रु० प्रति व्यक्ति प्रति

माह न्यूनतम वेतन की दर होनी चाहिए। इस प्रकार भारत में आय का अधिकांश सुरक्षा या सेना तथा अन्य प्रशासन सम्बन्धी कार्यों को संचालित करने में व्यय हो जाता है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यहाँ पर ८८% व्यय तो इन कार्यों में होता है १२% राष्ट्र निर्माण के कार्यों में किया जाता है। सर वाल्टर लेटन का कहना था कि भारत सुरक्षा, तथा शान्ति एवं सुव्यवस्था में अन्य पाश्चात्य देशों की भाँति व्यय कर रहा है परन्तु शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता आदि से वह इन देशों की तुलना में नहीं के बराबर रकम खर्च कर रहा है। सन् १९३४ ई० में हमारी आय का ३४% भाग शान्ति और सुरक्षा आदि की स्थापना में खर्च हो गया था। जब हमारी आय का इतना बड़ा भाग राज्य प्रशासन आदि के कार्यों में कितनी खर्च हो जात है फिर सामाजिक कल्याण के कार्यों में कितनी रकम उठाती होगी। सन् १९३४-३५ में शिक्षा (केन्द्रीय, प्रान्तीय व स्थानीय) पर कुल ९ आना प्रति व्यक्ति के हिसाब के खर्च हुआ जब कि संयुक्त राज्य अमरीका में शिक्षा पर ५५ रु० तथा ग्रेट ब्रिटेन में १९ रु० खर्च किया गया। इसी तरह चिकित्सा, कृषि तथा उद्योग आदि में भी बहुत कम रकम खर्च की गई। सार्वजनिक कल्याण के अन्य कार्य जैसे निर्धनों की सहायता, सामाजिक बीमा, स्वास्थ्य बेकारी आदि की ओर खर्च करने का तो ध्यान ही नहीं दिया गया।

नीचे दिए हुए आँकड़ों से १९४५-४६ में प्रति व्यक्ति किस मद में कितनी रकम खर्च की गई, इसका पता लग जायगा :—

		रु०	आ०	पा०
सैनिक सेवाओं में	—	०	१३	७
पोलिस, न्याय जेल, आदि	—	०	७	११
शिक्षा	—	०	७	२
चिकित्सा	—	०	०	३
सार्वजनिक स्वास्थ्य	—	०	२	३
कृषि	—	०	१	७
उद्योग	—	०	०	६
वैज्ञानिक विभाग	—	०	०	५

उपरोक्त आँकड़ों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा राज्य बिलकुल पुलिस राज्य ही बना हुआ है, सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में कुछ भी कार्य नहीं किया गया है। जितना भी हमारी सरकार व्यय करती है उसका अधिकांश ऐसे कार्यों में खर्च होता है जिससे कि लोगों के आर्थिक विकास में कोई सहायता नहीं मिलती। हमारे सार्वजनिक व्यय का एक और दोष है वह यह कि भिन्न-भिन्न प्रान्त जिस स्तर की सेवाएँ प्रस्तुत करते हैं उनमें आपस में बड़ा अन्तर है। वे निर्धन प्रान्त या राज्य जिनको कि सामाजिक विकास के क्षेत्र में काफी कार्य करने की आवश्यकता है, वे धन की कमी के कारण कुछ भी नहीं कर पाते। ऐसी व्यवस्था से देश का विकास कभी भी नहीं हो सकता। राज्य का कार्य केवल कर वसूल कर शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करना ही नहीं है, उसका कार्य अपने राज्य के निवासियों को नैतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास भी करना है। अतएव सार्वजनिक राजस्व की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए जिससे कि देश का सामाजिक और आर्थिक निर्माण हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें अपनी कर व्यवस्था में आमूल पतिवर्तन करने होंगे। मालगुजारी, आबकारी, की दरों में कमी करना, जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं को कर से मुक्त करना, विलासिता की वस्तुओं पर लगने वाले कर में वृद्धि कर देना आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनसे हमें इस दिशा में सहायता मिल सकती है। परन्तु यदि अभी ऐसा करना सम्भव नहीं है, और हमारी कर पद्धति भी प्रतिगामी ही बनी रहती है तो हम अपने व्यय को व्यवस्थित कर इस दिशा में सुधार कर सकते हैं। वर्तमान समय में हमें सार्वजनिक व्यय की व्यवस्था को ही सुधार कर आगे कदम रखना चाहिए। सार्वजनिक व्यय ऐसा हो जिससे कि कृषकों का, कारखानों में काम करने वाले मजदूरों तथा अन्य निर्धन व्यक्तियों को यथेष्ट लाभ हो इसी में देश और समाज का कल्याण निहित है। आशा है कि स्वतंत्र भारत की सरकार इस दिशा में क्रियात्मक कदम उठाकर देश को समृद्धि के पथ पर अग्रसित करेगी।

तेंतीसवाँ परिच्छेद

भारत में वस्तुओं का मूल्य तथा मूल्य-नियंत्रण

प्राक्कथन—किसी देश की वस्तुओं का मूल्य उस देश की आर्थिक स्थिति का द्योतक होता है। किसी देश की वस्तुओं का मूल्य उस देश की आर्थिक उन्नति या अवनति का मापदण्ड होता है, उससे हमें पता चल जाता है कि उस देश के निवासी किस स्थिति में हैं, उनकी आर्थिक स्थिति क्या है? इसके अतिरिक्त वस्तुओं के मूल्य के अनुसार ही सरकार भी मालगुजारी निश्चित एवं निर्धारित करती है। वस्तुओं के मूल्यों के अनुसार ही सरकार अपनी करेंसी का संकुचन एवं विस्तरण करती तथा अपनी नियंत्रण नीति का निर्धारण करती है। इस प्रकार देखने से हम कह सकते हैं कि किसी देश की वस्तुओं के मूल्यों का आर्थिक तथा राजनैतिक दोनों ही दृष्टियों से बड़ा महत्त्व होता है। इस परिच्छेद में हम भारत में वस्तुओं के मूल्यों तथा तद्जनित समस्याओं पर विचार करेंगे।

भारत में वस्तुओं के मूल्यों पर एक विहंगम दृष्टि डालने से हमें पता चलता है कि सन १८५७ के महान् विप्लव के पूर्व जब कि भारत में न तो अच्छी तरह सड़कों का निर्माण हुआ थ और न रेलें ही बनी थीं, उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान की वस्तुओं का लाना ले जाना सुगम नहीं था, उस समय वस्तुओं का मूल्य विभिन्न प्रदेश या स्थान की स्थितियों पर निर्भर रहता था। उस समय किसी स्थान में एक वस्तु पर्याप्त मात्रा में होती और उस वस्तु का मूल्य कम रहता था जब कि उसी वस्तु का दूसरे स्थान में बड़ा अभाव या अकाल सा ही रहता था और ऐसे स्थान में उसकी कीमत काफी बढ़ी हुई होती थी। धीरे-धीरे जब यातायात के साधनों का विकास होने लगा, रेलें और सड़कें एक नगर को दूसरे नगर से, एक गांव को दूसरे गांव से, एक स्थान को दूसरे स्थान से मिलाने लगीं तब वस्तुओं के मूल्य में एक नवीन पृष्ठ खुला। बड़े-बड़े नगरों में वस्तुओं के मूल्यों में प्रतियोगिता चलने लगी, भारत संसार के सम्पर्क में आया और उसकी वस्तुओं के मूल्य का निर्देशन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा नियंत्रित होने लगा, उनमें शनैः-शनैः वृद्धि होने लगी और उसकी मूल्य सूची अथवा देशनांक जो कि १८७३ में केवल १०० था १८६३ में १०५ हो गया। इसके बाद वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि का क्रम जारी ही रहा। पहले अकाल के वर्षों में खाद्यान्नों के मूल्य में वृद्धि हुई, फिर जब फसल अच्छी हुई तो उनमें पुनः गिराव हो गया। इसके बाद इन्हीं वस्तुओं के मूल्य फिर बढ़ने लगे और अब बिना अकाल के ही अकाल का मूल्य होने लगा। गोखले महोदय ने देश में वस्तुओं के इस बढ़ते हुये मूल्य की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया। सरकार ने वस्तुओं के इस बढ़े हुये मूल्यका अध्ययन करने के हेतु १६१० में दत्त समिति नियुक्त की।

दत्त मूल्य-जाँच समिति—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि सन् १६१० में भारत सरकार ने वस्तुओं के मूल्य की वृद्धि की जाँच करने के लिये श्री के० एल० दत्त की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। दत्त महोदय ने भारत में वस्तुओं के मूल्य की कुछ अन्य देशों के मूल्यों से तुलना की थी। दत्त महोदय के अनुसार भारत में मूल्य वृद्धि के निम्नलिखित कारण थे :—

(१) खाद्यान्न के उत्पादन में ह्रास, इस ह्रास का मुख्य कारण कुसमय वृष्टि, खाद्यान्न के स्थान पर अखाद्य फसलों का बोया जाना तथा अनुर्वरा भूमि पर खेती करना;

(२) यातायात के साधनों का विकास तथा साथ ही इनके महसूल या भाड़े में कमी;

(३) साख तथा बैङ्किंग के साधनों का विकास।

यह तो रही भारत की बात, उस समय संसार में वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हो गई थी। विश्व-व्यापी मूल्य वृद्धि का मुख्य कारण बोर तथा रूस व जर्मन के युद्ध का होना, स्वर्ण तथा करेंसी की अधिक पूर्ति होना, कृषि उत्पादन की कमी होना तथा साथ ही उनकी मांग का बढ़ना, बैङ्किंग तथा साख सम्बन्धी सुविधाओं के विकास से मुद्रा के प्रचलन में वृद्धि होना।

भारत में इस मूल्य वृद्धि के होने का मुख्य कारण यह था कि १८९३ में रुपया एक सांकेतिक मुद्रा हो गया। इसके अतिरिक्त साथ ही सरकार भी स्वच्छन्दतापूर्वक रुपये को गढ़ती चली गई। १९०० से लेकर १९०८ तक में कुल सौ करोड़ रुपये के सिक्के और अधिक निर्मित हो गये थे और यही इसका मुख्य कारण था।

प्रथम विश्वयुद्ध तथा उसके बाद—जब प्रथम विश्वयुद्ध का प्रारम्भ हुआ तो वस्तुओं के मूल्य में और वृद्धि होने लगी। युद्ध के समय में वस्तुओं के मूल्य वृद्धि के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) तैयार माल के आयात में कमी हो गई, जो व्यक्ति अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुये थे वे अब सैनिक आवश्यकता के लिये अस्त्र-शस्त्रों का उत्पादन करने लगे;

(२) बीमा तथा समुद्री यातायात के महसूल में वृद्धि हो जाने से यह कठिनाई और बढ़ गई;

(३) सरकार भी आयात और निर्यात पर जो नियंत्रण लगाये थी उसका भी बुरा असर पड़ा;

(४) इधर देश में नोटों का चलन बहुत था। १९१४ में देश में २३७ करोड़ रुपये के नोट चालू थे, १९१६ में यह संख्या २६५ करोड़ तथा १९१९ में ३६२ करोड़ हो गई। करेंसी के अतिरिक्त साख में भी वृद्धि हुई। इसका भी प्रभाव बड़ा बुरा पड़ा। सन् १९१८-१९१९ तथा १९१९-१९२० में वर्षा के न होने के कारण वस्तुओं के मूल्य में और वृद्धि हो गई।

इसके बाद सन् १९२० से लेकर १९२९ तक वस्तुओं के मूल्य की गति विपरीत दिशा को रही, धीरे-धीरे वस्तुओं के मूल्य में कमी होने लगी। इस से संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट-ब्रिटेन तथा भारत आदि देशों ने 'अपस्फीति' की नीति अपना कर उसमें और हाथ बटाया। फिर तो १९२९ से लेकर १९३९ तक भीषण मन्दी बनी रही। सन् १९२९ की न्यूयार्क की वाल स्ट्रीट वाली घटना का समस्त विश्व में प्रभाव पड़ा। इस मन्दी के सम्बन्ध में हम विशेष प्रकाश 'भारत का व्यापार' शीर्षक परिच्छेद में डाल चुके हैं। यू० के० के साथ सम्बन्ध होने के कारण भारत अपने रुपये का अनुपात १ शि० ६ पे० रखे हुये थे, यदि वह इस अनुपात में कुछ कमी करता तो सम्भवतः उसे कुछ सुविधा प्राप्त हो जाती। दूसरे उस समय देश की राजनैतिक स्थिति ऐसी थी जिससे स्थिरता की आशा नहीं की जा सकती थी। भारत एक कृषि प्रधान देश था इस कारण उसे और भी हानि उठानी पड़ी इसका मुख्य कारण यह था कि जितना ह्रास इस समय खेती की पैदावार वाली वस्तुओं में हुआ था उतना अन्य वस्तुओं में नहीं। सन् १९३४ में तो वस्तुओं के मूल्य का यह गिराव और भी नीचे पहुँच गया। अन्य वस्तुओं के उत्पादन करने वाले देशों के मूल्य में इतना ह्रास नहीं हुआ था जितना कि भारत के।

इस मूल्य-ह्रास का प्रभाव—वस्तुओं के मूल्य में इस प्रकार के परिवर्तन होने का प्रभाव बड़ा बुरा पड़ता है। इसके कारण समाज में अशान्ति, बेगारी, तथा अन्य कई दोष आ जाते हैं। वस्तुओं के मूल्य में इस प्रकार के ह्रास होने के कारण भारतीय कृषक की दशा और भी खराब हो गई। मन्दी के समय में उसकी आय तो कम हो गई किन्तु उसके द्वारा दिये जाने वाले सिंचाई के करों तथा लगान आदि में कोई कमी नहीं हुई। कठिनाई के कारण जो कुछ ऋण उसने पहले लिया था वह भी कम नहीं हुआ। इन सब कारणों से उसकी स्थिति और भी खराब रही, यही हाल

जमींदार का भी रहा। व्यापारी भी अपने माल को अच्छे लाभ पर नहीं बेंच सका, माल के खरीदने वालों की संख्या कम रही। इसका प्रभाव उत्पादक पर पड़ा जिसका माल माल-गोदाम में जमा पड़ा रहा। हाँ इस समय वे ही लोग मौज में रहे जिन्हें कुछ निश्चित वेतन मिलता था किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी।

जहाँ तक सरकार का सम्बन्ध था उसे भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, आयात-निर्यात कर, आयकर, रेलवे की आय आदि इन सभी बातों में बड़ी कमी हुई। सब तरफ करों में वृद्धि की गई, सरकारी कर्मचारियों के वेतन में कटौती की गई। निर्यात कम हो गया और सरकार को आवश्यक व्यय सम्भालना कठिन हो गया किन्तु ऐसी स्थिति में भारत से सोने का खूब निर्यात किया गया, इस निर्यात के कारण ही विदेशी विनिमय के भार को सम्भाला गया और विदेशों में भारत सरकार की साख की रक्षा की गई। सन् १९३४ के पश्चात् से वस्तुओं के मूल्य में धीरे-धीरे वृद्धि होने लगी, १९३३ से तो वे उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर ही बढ़ती गईं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में (१९३९–४५)—जब सन् १९३९ में युद्ध घोषित हो गया तो सभी प्रकार की वस्तुओं में एकदम से वृद्धि होने लगी किन्तु सट्टेबाजी आदि के कारण युद्ध प्रारम्भ होने के पन्द्रह महीने पश्चात् स्थिति फिर गिर गई। १९४१ में ग्रेटब्रिटेन ने अपनी आवश्यकता के लिये भारत से काफी माल खरीदा। उसकी इस खरीद का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो देश में माल की कुछ कमी हुई दूसरी ओर करेंसी की वृद्धि। स्वभावतः देश में वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होना अवश्यंभावी था। सन् १९४१ के दिसम्बर में जापान भी युद्ध में सम्मिलित हुआ, युद्ध की अग्नि भारत के निकट तक आ गई। इसके परिणाम स्वरूप १९४२ में सभी प्रकार की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो गई। १९४२ के मध्य में मूल्यों में और भी वृद्धि हो गई। १९४३ में यह स्थिति और भी गम्भीर हो गई। युद्ध क्षेत्र के निकट होने के कारण कलकत्ते को सबसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा, बम्बई की भी दशा करीब यही थी किन्तु वहाँ पर मूल्य में इतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी कि कलकत्ते में। इस सम्बन्ध में एक बात और स्मरण रखने की है वह यह कि प्रथम विश्वयुद्ध में जिस प्रकार तैयार माल के मूल्य में अधिक वृद्धि हुई थी उसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध में जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थों जैसे खाद्यान्न आदि की।

पहले सरकार ने यह सोचकर कि उत्पादकों तथा किसानों दोनों ने ही पहले जो हानि उठाई है, उसकी पूर्ति कर लें, वस्तुओं के इस मूल्य-वृद्धि को रोकना ठीक नहीं समझा। बाद में जब १९४३ में वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि रही और देश में मुद्रास्फीत की परिस्थितियाँ अपना पूरा प्रभाव दिखाने लगीं तो सरकार ने मूल्यों के नियन्त्रण की ओर कदम बढ़ाया।

इस समय देश की खाद्यान्न सम्बन्धी स्थिति बड़ी गम्भीर हो गई थी, बर्मा के भारतवर्ष से अलग हो जाने के कारण चावल की काफी कमी हो गई। उधर देश में खेती की पैदावार भी अच्छी नहीं रही। इन्हीं सब कारणों से इसी समय बंगाल में भीषण अकाल पड़ा, जिसमें लाखों आदमी खाने की कमी के कारण काल के ग्रास बने। इसी समय इसी बंगाल में हजारों आदमी मलेरिया, चेचक, हैजा आदि के कारण मौत के शिकार बने। वास्तव में इस समय सबसे अधिक कठिनाई निर्धन व्यक्तियों को उठानी पड़ी जिनके पास मंहगे अन्न के खरीदने के लिये पैसे ही नहीं थे।

अतएव सरकार ने धीरे-धीरे इस प्रकार के दोषों को दूर करने के लिये प्रयत्न करना शुरू किया। उसने मूल्य-वृद्धि को रोकने, वितरण को नियन्त्रित करने तथा लोगों की क्रय-शक्ति को कम करने के लिए प्रयत्न किए।

बड़े-बड़े नगरों में खाद्यान्न, कपड़े, चीनी तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की राशनिंग कर दी। सरकार ने सूती कपड़े तथा सूत के मूल्य नियन्त्रण के लिये, चोरबाजारी तथा मुनाफाखोरी को रोकने

के लिये कानूनों का निर्माण किया। उसने अतिरिक्त लाभकर तथा अन्य करों की वसूली भी बड़े जोरों से शुरू कर दी। अब यह अतिरिक्त लाभकर बजाय साल भर के तीन ही महीने में लिया जाने लगा। नागरिकों के उपभोग के लिये और अधिक माल दिया जाने लगा, स्थानीय उत्पादकों को अपने उत्पादन में वृद्धि करने के लिये प्रोत्साहित किया गया। बंगाल में आस्ट्रेलिया तथा पंजाब जैसे स्थानों से खाद्यान्न भेजा गया। संक्षेप में जो कुछ भी कार्य सुगमता से मूल्यों के नियन्त्रण के लिये किया जा सकता था, उसे किया गया। अन्त में इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप मूल्य-वृद्धि में कुछ रुकावट हुई।

सन् १६४५ की अगस्त में युद्ध का अन्त हुआ परन्तु युद्ध के अन्त से स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। देश में खाद्यान्न, कपड़ा तथा अन्य उपभोग की वस्तुओं की भीषण कमी बनी रही। इस समय देश में बड़ी-बड़ी मशीनों की जिनसे कि युद्ध के समय बड़ा काम लिया गया था, हालत खराब हो गई थी और अब उनके स्थान पर नवीन मशीनों या यंत्रों की आवश्यकता थी किन्तु विदेशों से इनका प्राप्त होना सम्भव नहीं था। देश में श्रमिकों की मजदूरी अब भी बढ़ती जा रही थी। अतएव वस्तुओं के थोक मूल्य में भी कोई कमी नहीं हुई उल्टी उसमें वृद्धि ही होती रही। नीचे दी हुई तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जायगी :—

थोक मूल्यों का देशनांक

(आधार—१६ अगस्त १६३६ = १००)

वर्ष	कच्चे पदार्थ	कृषि पदार्थ	जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थ	बना माल	सामन्य देशनांक
१६३६-४०	११८.८	१२७.५	१२४.२	१३१.५	१२५.६
१६४०-४१	१२०.५	१०८.६	११३.४	११६.८	११४.८
१६४१-४२	१४६.६	१२४.२	१३२.५	१५४.५	१३७.०
१६४२-४३	१६५.६	१६६.२	१६६.०	१६०.४	१७१.०
१६४३-४४	१८५.०	२६८.४	२३२.५	२५१.७	२३६.५
१६४४-४५	२०६.०	२६५.४	२४०.५	२५८.३	२४४.२
१६४५-४६	२१०.१	२७२.८	२४६.४	२४०.०	२४५.०
१६४६-४७	२३५.०	३१४.०	२८०.०	२५६.०	२६५.०
१६४७-४८	२५४.०	३५७.०	३१३.०	२८८.०	३०७.०

जब हम भारत में वस्तुओं के मूल्य की तुलना, ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा जैसे देशों से करते हैं तो हमें यह पता चल जाता है कि जितनी मूल्य वृद्धि भारत में हुई उतनी अन्य देशों में नहीं। भारत को इस दिशा में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि वस्तुओं का मूल्य इस बात पर निर्भर रहता है कि कितनी प्रकार की वस्तुएँ बिकने वाली हैं और कितने परिमाण में द्रव्य उपलब्ध है। भारत में उस समय युद्ध के लिए मित्र-राष्ट्रों द्वारा विशाल परिमाण में वस्तुओं की खरीद की गई, १६४३ में यह खरीद और बढ़ गई, इस वृद्धि का परिणाम निकला मुद्रा-स्फीति। युद्ध की मांग की पूर्ति के लिये लाखों भारतवासी अन्न-वस्त्र की भयानक कमी सहते रहे, इसके बदले में उन्हें और कुछ नहीं मिला, हाँ मिली केवल भविष्य में अदा की जाने वाली स्टर्लिङ्ग की प्रतिभूतियाँ। अन्य देशों में भी पत्र-मुद्रा के प्रचलन तथा मांगवाली अमानतों में वृद्धि हुई किन्तु राशनिंग तथा अन्य नियन्त्रणों से वहाँ मूल्य में इतनी वृद्धि नहीं हुई। भारत में भी नियंत्रण लगाए गए किन्तु ये नियन्त्रण इतने पूर्ण नहीं थे जितने कि अन्य देशों में, इसलिये यहाँ मूल्य में वृद्धि भी अधिक रही। युद्ध के समाप्त होने पर यह आशा की गई थी कि इस

दिशा में स्वतः सुधार हो जायगा किन्तु यह कुछ भी नहीं हुआ। अनेक सम्मेलन हुए किन्तु इन सम्मेलनों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। यू० के० से विशाल मात्रा में वस्तुओं का आयात होने लगा, सेना की भी अब इतनी खपत नहीं रही। विदेशों से कुछ कच्चा माल, मशीनों आदि के आयात से मूल्यों में कुछ गिराव होना चाहिये था परन्तु यह सब कुछ भी न हुआ।

सन् १९४६-४७ में मूल्यों के सामान्य स्तर में वृद्धि होती हुई दिखलाई पड़ी, १९४८ में यह वृद्धि और भी तीव्रगति से बढ़ने लगी। इस प्रकार की वृद्धि के मुख्यतया निम्नलिखित कारण थे :—

(१) इस वृद्धि का सबसे प्रधान कारण यह था कि इस समय औद्योगिक तथा कृषि दोनों ही उत्पादन में बड़ा ह्रास हुआ। सन् १९४७-४८ में पिछले वर्ष की तुलना में जूट, कपास, सीमेंट, कागज, दियसलाई तथा रासायनिक पदार्थों के उत्पादन में कमी रही। इस उत्पादन में इस ह्रास का एक कारण यह था कि इस समय देश में औद्योगिक अशान्ति फैली हुई थी, औद्योगिक झगड़े बढ़ रहे थे, इन झगड़ों के कारण १९४७ में कुछ नहीं तो १६ ६ लाख श्रमिक दिवसों (Man days) की हानि हुई थी, १९४८ में इस प्रकार ८० लाख दिन बेकार गए थे। जहाँ तक खाद्यान्न के उत्पादन का प्रश्न है उसमें भी हानि ही हुई सन् १९४७ में भारतीय संघ (जिसमें हैदराबाद भी शामिल था) में कृषि-उत्पादन ४०० लाख टन था, जब कि १९४२ से लेकर १९४६ तक इसका औसत उत्पादन ४३० लाख टन रहता था। उधर कृषि के उत्पादन में तो दिनोंदिन ह्रास हो रहा था दूसरी ओर जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी।

(२) उत्पादन में ह्रास के साथ उधर मुद्रा-स्फीति की स्थितियाँ बढ़ रही थीं। इसका मुख्य कारण नोटों का अधिक चलन था। सन् १९४६ के अन्त में ११,६३ करोड़ के नोट चालू थे १९४८ के अन्त में १२,८३ करोड़ रुपए के नोट चालू थे, इस वृद्धि के परिणाम स्वरूप प्रामाणिक बैङ्कों द्वारा दिए गए अग्रिम में भी काफी वृद्धि हुई, जो कि इसी काल में २८५ करोड़ से अब ४२७ करोड़ रुपये हो गई थी। मुद्रा और साख की इस वृद्धि से अपस्फीत हुई और अपस्फीत से मूल्य-वृद्धि।

(३) वैसे तो १९४५ के अगस्त में युद्ध समाप्त हो गया था किन्तु सरकार की आय में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, सरकारी बजट में घाटा रहा, इससे मूल्य-वृद्धि को और बढ़ावा हुआ।

(४) १९४८ में भारत का व्यापारिक सन्तुलन भी उसके पक्ष में नहीं रहा, विदेशों और विशेषकर धात्विक मुद्रावाले देशों से खाद्यान्न के मंगाये जाने के कारण यह सन्तुलन और भी बिगड़ा। भारत के इस व्यापारिक सन्तुलन को ठीक करने के लिए सरकार ने आयात पर नियन्त्रण लगा दिया। उधर लोगों के वेतन में भी कुछ वृद्धि हुई महगाई के भत्ते के मिलने के कारण लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ी जिसका भी अच्छा असर नहीं पड़ा, मुद्रा-स्फीत में और भी वृद्धि हुई।

(५) सन् १९४७ के अन्त में सरकार ने बहुत सी वस्तुएँ जैसे खाद्यान्न, शकर, कपड़ा, सूत, कपास आदि से नियन्त्रण हटा दिया। सरकार ने यह सोचा था कि ऐसा करने से जिन लोगों ने इन वस्तुओं को छिपाकर संचित कर रखा है, वे बेचने के लिए बाहर निकाल लेंगे परन्तु इसका भी प्रभाव बुरा पड़ा। बाद में सरकार ने सोचा कि ऐसा करके उसने बड़ी गलती की है। अतएव उसने फिर से नियन्त्रण लगाने की ओर कदम बढ़ाया, इस कारण धीरे-धीरे मूल्यों में फिर गिराव होता गया। १९४९ के मार्च में मूल्यों के थोक भाव का देशनांक ३७० पहुँच गया, जो कि १९४८ की जौलाई में ३९० था।

मूल्यों में इस असाधारण वृद्धि का कारण—मूल्यों में इस प्रकार का चढ़ाव-उतार साधारणतया किसी एक कारण से नहीं होता बल्कि कई कारणों से मिलकर मूल्यों में इस प्रकार का परिवर्तन होता है। हम यहाँ पर इन्हीं कारणों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

मुद्रा-स्फीति (Inflation) मुद्रा-स्फीति में करेंसी या पत्र-मुद्रा के प्रचलन में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है, इसके लिए मुख्यकर सरकार उत्तरदायी होती है और वह इसे विशेषकर अपने चालू बजट के घाटे की पूर्ति के लिये करती है। बिना किसी व्यापार या वाणिज्य सम्बन्धी आवश्यकता के ही, नए नोट निकाल दिये जाते हैं। भारत में युद्ध के समय में जो मुद्रा-स्फीति हुई और नोटों का जो प्रचलन हुआ उसका मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार ने अपने लिए या अपने मित्र-राष्ट्रों की सेना सम्बंधी आवश्यकता के लिए युद्ध-सामग्री खरीदी। अँग्रेज लोग युद्ध की आवश्यकता की पूर्त्ति में इस प्रकार लगे हुए थे वे भारत को वस्तुओं के रूप में उस रकम का भुगतान करने में असमर्थ थे, अतएव लन्दन में भारत के स्टर्लिङ्ग आदेय एकत्रित होते गये। अँगरेजों को इस आदेय से काफी लाभ हुआ, उनके बजट में जो घाटा हुआ उसकी वे पूर्त्ति करते रहे और उनके देश की वस्तुओं के मूल्य में अधिक वृद्धि न हो सकी। युद्ध के समाप्त होने पर भी पर्याप्त मात्रा में स्टर्लिङ्ग न प्राप्त हो सका। यदि वह पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता तो भारत अच्छी तरह मशीनें और प्लांट इत्यादि खरीद लेता। इसी समय युद्ध के बाद, भारत के स्वतन्त्र होने पर काश्मीर तथा हैदराबाद में उपद्रव मचने के कारण सरकार को और भी कठिनाई का सामना करना पड़ा। सरकार ने ऐसी आर्थिक स्थिति को देखकर अनेक व्यक्तियों से सलाह ली, अनेक वर्गों के लोगों से इस विषय में परामर्श किया। इन लोगों ने देश में फैली हुई इस मुद्रा-स्फीति के निम्नलिखित कारण निकाले :—

(१) करेंसी में बराबर वृद्धि हो जाने के कारण यह स्थिति और गम्भीर होती गई। सन् १६३६ में केवल १७६ करोड़ रुपये के नोट चालू थे जबकि १६४६ में इनकी संख्या ११,६१ करोड़ रुपये हो गई। सन् १६३६ में १२६ करोड़ रुपये के अग्रिमों तथा बिलों का बट्टा किया गया था जब कि १६४६ में यह रकम ४४४ करोड़ रुपये हो गई। १६३६ अगस्त में सामान्य मूल्य देशनांक केवल १०० था जबकि १६४६ की मार्च में यह ३७० हो गया।

(२) युद्ध के समय तथा युद्ध के बाद के वर्षों में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बजट में बराबर घाटा बना रहा।

(३) सरकार के कुछ वस्तुओं से नियन्त्रण हटा देने का भी बुरा प्रभाव पड़ा।

(४) नौकरी वाले लोगों के वेतन में वृद्धि तथा उनको भत्ता आदि प्रदान करना।

(५) पाकिस्तान से भारत में शरणार्थियों के आने के कारण पूँजी नकदी में परिवर्तित हो गई, इससे चालू द्रव्य में और वृद्धि हुई।

(६) रिजर्व बैङ्क के सरकारी प्रतिभूतियों को सहायता दी जाने के कारण द्रव्य की पूर्त्ति में वृद्धि हुई।

(७) चोरबाजारी तथा अन्य प्रकार की छिपी हुई आय के द्रव्य का दबाव होना।

(८) सरकार के ऋण लेने तथा सेविंग आदि के आन्दोलनों का असफल होना।

(६) देश में खाद्यान्न तथा अन्य सभी प्रकार की उपभोग की वस्तुओं का कम होना। इधर कुछ वर्षों से खाद्यान्न में भारत की आत्मनिर्भरता का अन्त हो गया था। वह करीब २०-२५ लाख टन चावल बर्मा, मलाया तथा थेलैण्ड से मँगा रहा था, परन्तु बाद में जापान ने इन देशों पर अपना अधिकार जमा लिया जिससे खाद्यान्न की पूर्ति में और कमी हो गई। इधर यह कमी तो रही है साथ ही उसे इराक, बहरीन, लंका, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों को भी खाद्यान्न भेजना पड़ा। इससे देश में खाद्यान्न का और भी अभाव हुआ। इसके बाद देश का विभाजन हुआ जिसके परिणामस्वरूप गेहूँ वाला प्रदेश पञ्जाब और सिन्ध भी उसके हाथ से निकल गया, यह कमी और भी बढ़ी।

इसके अतिरिक्त विदेशों से आने वाली अन्य वस्तुओं के आयात में भी कमी रही, युद्ध के समय में भारत के समुद्री व्यापार का परिमाण बहुत कम रहा। नीचे दी हुई तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जायगी। ये आंकड़े १९४० से लेकर १९४३ तक के हैं।

आयात का परिमाण

(आधार १९३८-३९ = १००)

	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३
आयात का परिमाण	८१.३	७४.२	३७.६
प्रतिशत ह्रास	२०.३	८३	४९.३
मूल्य स्तर	१२६.७	१५३.४	१९२.९

इन आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि आधार वर्ष (१९३८-३९) की तुलना विदेशों से आनेवाली वस्तुओं के आयात में ३७.६ प्रतिशत का ह्रास हुआ।

विदेशों से आनेवाले माल में तो कमी हुई ही साथ ही भारत में उपभोग के पदार्थों में भी बड़ा ह्रास हुआ। यहाँ भी युद्ध की माँग की पूर्त्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्माण होने लगा। कागज, फौलाद, सूती कपड़े, चमड़े का सामान, चाय, रबड़ सभी यू० के० तथा अन्य मित्रराष्ट्रों द्वारा खरीदे जाने लगे और नागरिकों के उपभोग के लिए ये वस्तुएँ नहीं के बराबर रह गईं। विदेशों द्वारा यह माल कितने परिमाण में खरीदा गया, इस बात का पता उन स्टर्लिङ्ग आदेयों से मिल जायगा जो कि भारत को विदेशों से मिलने वाले थे। ये आदेय निम्नलिखित हैं :—

	करोड़ रुपये में
(१) स्टर्लिङ्ग आदेय रिजर्व बैङ्क के अवधरण में अगस्त १९३९	६४
(२) वे स्टर्लिङ्ग जो रिजर्व बैङ्क ने खरीदे १९४५ के मार्च के अन्त तक	६४४
(३) शाही सरकार ने जो स्टर्लिङ्ग चुकाये	१,२९२
योग	२,०००

यातायात की कठिनाइयाँ तथा वस्तुओं का अनुपयुक्त वितरण—यातायात के देश में जितने उपलब्ध साधन थे वे सैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति में लग गए। पहले अधिकतया कोयले का आयात समुद्री मार्ग द्वारा होता था किन्तु अब रेलों पर इसका भार आ पड़ा। इसके अतिरिक्त पेट्रोल, रबड़, टायरों तथा मोटर लारियों की कमी के कारण सड़कों के यातायात में भी कठिनाई हुई। इसलिए उन स्थानों से जहाँ पर किसी वस्तु की बचत होती या वह वस्तु उस स्थान में अधिक उत्पादित होती वहाँ से उसका ऐसे स्थान में जहाँ कि उसकी कमी थी, भेजना सुगम नहीं था। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रांतों द्वारा केन्द्रीय सरकार को विशेष सहयोग भी नहीं प्राप्त हुआ। अतएव केन्द्रीय सरकार इस समस्या को हल भी नहीं कर सकी, और कुछ लोग सट्टेबाजी, मुनाफेखोरी आदि से मनमाना लाभ उठाते रहे।

सट्टेबाजी तथा मुनाफेखोरी आदि—सामान्य स्थितियों में भी वस्तुओं के मूल्य की घटा-बढ़ी में सट्टेबाजी का बड़ा हाथ रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि सट्टेबाजी से साधारणतया मूल्यों के व्यवस्थित होने में सहारा मिलता है परन्तु युद्ध के समय स्थिति दूसरी ही हो जाती है। मूल्य वृद्धि की आशा से जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थों को लोग संचित किये बैठे रहते हैं और उपभोक्ताओं को उन वस्तुओं की कमी खटकती रहती है। ऐसे लोग समाज के कल्याण का जरा भी ध्यान नहीं देते, अपने रुपये बनाने के चक्कर में गरीबों का खून चूसने के लिये समाज का अहित करने के लिए उतारू रहते हैं। एक सज्जन का कहना है कि सट्टेबाज पक्का मुनाफेखोर और जुआड़ी होता है। वह जनता का कट्टर शत्रु होता है। चाहे वह बनिया हो, या बैंकें, या जमींदार अथवा राज्य;

यदि वे ऐसा करके जनता की, आवश्यकता की उपेक्षा करते हुए उपभोग की वस्तुओं का संचयन करते हैं तो वे समाज के पक्के शत्रु हैं। भारत में युद्ध के समय में कितने ही व्यक्तियों ने इस प्रकार के सञ्चयन तथा सट्टेबाजी से खूब लाभ कमाया, ये लोग भी देश में होने वाली मंहगी के लिये बड़े जिम्मेदार थे। युद्ध के समय में वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति घबड़ा जाता है। सट्टेबाज ही नहीं, उन वस्तुओं का उत्पादन करने वाला व्यक्ति भी मूल्य में वृद्धि चाहता है। साधारण उपभोक्ता भी युद्ध की सनसनी के कारण और भविष्य में वस्तुओं के सुगमता से न प्राप्त होने के कारण अपने पास अपने उपभोग की वस्तुओं को जमा कर लेता है और इस प्रकार अनजाने ही वह मूल्य वृद्धि में हाथ बँटाता है।

सरकार के नियन्त्रणों का असफल होना—युद्ध में संलग्न जितने भी राष्ट्र थे उन सबने अपने-अपने देशों में वस्तुओं पर नियंत्रण लगाया। ऐसा करने का उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि युद्ध-जन्य आवश्यकताओं के लिए उन्हें अच्छी कीमतों पर आवश्यक सामग्री प्राप्त हो जाय। भारत ने भी अपने यहाँ वस्तुओं के मूल्य को नियंत्रित किया परन्तु वह यहाँ विशेष सफलता न प्राप्त कर सकी। इसका मुख्य कारण यह था कि उसके नियंत्रण लगाने की पद्धति तथा नियंत्रण नीति व्यवस्थित और संगठित नहीं थी। सरकार ने वस्तुओं का मूल्य तो निर्धारित कर दिया किन्तु उसने न तो आवश्यक वस्तुओं की पूर्त्ति और न उनके राशनिंग का ही प्रयत्न किया।

सरकार ने युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में ही कृषि उत्पादन की वस्तुओं के मूल्य को नियंत्रित कर दिया परन्तु ऐसा करना उपयुक्त नहीं था क्योंकि युद्ध के थोड़े ही वर्षों पूर्व की भीषण मन्दी से भारतीय किसान तबाह हो गया था। उसे इस मूल्य-वृद्धि से अपनी स्थिति सुधारने का अवसर मिला था। सूत तथा कपड़े के मूल्य में भी काफी वृद्धि हुई। सन् १९४२ में मूल्य नियंत्रण के लिए तीन सम्मेलन हुए। परन्तु इनमें यह निश्चय किया गया कि सभी वस्तुओं पर नियंत्रण लगाना उचित नहीं। इस प्रकार कुछ वस्तुओं पर सरकार ने नियन्त्रण लगाया किन्तु इस नियंत्रण-नीति को कार्य रूप में अच्छी तरह परिणत नहीं किया गया। नियन्त्रण के इस ढीलेपन का परिणाम यह निकला काला बाजार, चोर-बाजार और मुनाफे खोरी। बाजार से आवश्यक वस्तुएँ गायब ही हो गईं। बाजार में न गल्ला मिल पाता था और न कपड़ा। यही नहीं मिट्टी का तेल, पेट्रोल, चीनी आदि का मिलना दुर्लभ हो गया, ये वस्तुएँ काले बाजार में नियन्त्रित मूल्य से दुगने तिगुने दामों पर बिकती थीं। इस बाजार से आवश्यक वस्तुओं को नदारद देखकर सरकार ने कुछ वस्तुओं से नियन्त्रण हटाना प्रारम्भ किया। १९४२ में गेहूँ पर से नियन्त्रण हटा दिया गया। कपड़ा न मिलने के कारण सरकार ने १९४३ में गरीबों के लिए 'स्टैन्डर्ड क्लाथ' बेचना शुरू कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार नियन्त्रण-नीति योजना को कार्यान्वित करने में सफल न हुई। यदि सरकारी कर्मचारी ईमानदारी, कड़ाई तथा परिश्रम से कार्य करते तो सम्भवतः पहले ही सरकार इसमें सफलता प्राप्त कर लेती और वस्तुओं के मूल्य में इतनी वृद्धि न होती जितनी कि हुई, जनता को आवश्यक वस्तुएँ यथेष्ठ मात्रा में और नियंत्रित मूल्य पर बाजार में उपलब्ध हो जातीं।

मूल्य-वृद्धि का प्रभाव—मूल्य वृद्धि का प्रभाव छोटे-बड़े, धनी-निर्धन सभी पर एक-सा नहीं पड़ता। जो व्यक्ति पैसे वाले होते हैं, उन्हें विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता। वे अपने आराम की थोड़ी वस्तुओं को छोड़कर आसानी से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं किन्तु निर्धन मनुष्य तो अपने नित्य की उपभोग वस्तुओं को भी नहीं प्राप्त कर पाता। जितनी ही कम उसका उसकी आय हुई और जितना ही बड़ा परिवार हुआ उसे उतनी ही अधिक मुसीबत उठानी पड़ती है। भारत जैसे देश में जहाँ की अधिकांश जनता निर्धन थी महंगी से उसे काफी कष्ट उठाना पड़ा। उसके रहन-सहन का व्यय बढ़ गया किन्तु आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। उनको अपना जीवन-निर्वाह करना भी मुश्किल हो

गया। यहाँ पर हम भारत के कुछ प्रमुख नगरों के श्रमिकों के रहन-सहन के व्यय की एक तालिका (Cost of Living Indexes) दे रहें हैं। इससे स्थिति का कुछ और परिचय प्राप्त हो जायगा।

श्रमजीवियों के रहन सहन का व्यय

वर्ष	नागपुर		हापुड़		कलकत्ता		बम्बई	
	(अगस्त १६३६=१००)		(अगस्त १६३६=१००)		(अगस्त १६३६=१००)		(१६३४=१००)	
	खाद्यान्न	अन्य वस्तुएँ	खाद्यान्न	अन्य वस्तुएँ	खाद्यान्न	अन्य वस्तुएँ	खाद्यान्न	अन्य वस्तुएँ
१६४६	२८२	२८५	३६४	३२८	३६०	२७५	३१७	२५६
१६४७	३२०	३२०	४२४	३७८	४२८	३०६	३४४	२०६
१६४८	३७६	३७२	५१४	४७१	४५१	३३६	३४८	३०३
१६४६	३८४	३७७	५३८	४७८	४७४	३४७	३६६	३०७

हम यहाँ पर मूल्य-वृद्धि का विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ा इस पर कुछ विस्तार पूर्वक विचार करेंगे। इस पर विचार करने के पूर्व हम यह देख लें कि मूल्य वृद्धि का उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है। जब मूल्य कम होता है और उसमें थोड़ी सी वृद्धि होती है तो इससे उत्पादन में भी वृद्धि होती है परन्तु जब वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती ही चली जाती है तो उसका प्रभाव उत्पादन की लागत पर होता है जिसके परिणामस्वरूप मांग और उत्पादन में दोनों में ह्रास होने लगता है। जब उत्पादन कम होता है और करेंसी का प्रचलन अधिक तो मुद्रा-स्फीति की परिस्थितियों का उदय होता है। मुद्रा स्फीति से लोगों को अपनी सम्पन्नता के विषय में एक गलत धारणा हो जाती है। प्रत्येक मुद्रा जो कि किसी व्यवसायी को प्राप्त होती है उसकी कीमत माल से कहीं कम होती है। करों में वृद्धि हो जाती है। सम्पत्ति तथा निर्धनता में काफी अन्तर हो जाता है, थोड़े ही व्यक्ति सम्पन्न दिखलाई पड़ते हैं शेष को सदैव अर्थाभाव बना रहता है।

काला बाजार—जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि मूल्य-वृद्धि से लोगों में सदैव वस्तुओं के संचयन की भावना में वृद्धि होती है। चाहे वह उत्पादक हो या व्यापारी अथवा उपभोक्ता;सब के सब संचयन की ओर, वस्तुओं को छिपाकर एकत्रित रखने की ओर प्रवृत्त होते हैं। कुछ अधिक मूल्य प्राप्त करने की भावना से ऐसा करते हैं और इकट्ठा किए हुए माल को चोर बाजार या काले बाजार में बेंचते, कुछ अधिक मूल्य-वृद्धि होने के डर से पहले ही खरीद कर रख लेते हैं, सरकार इन कार्यों को रोकने का प्रयत्न भी करती किन्तु जब तक मुद्रा-स्फीति रहती है तब तक सरकार के ऐसे प्रयत्न सफल नहीं होते। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि मूल्य-वृद्धि या महंगी से उत्पादकों, उद्योगपतियों, व्यापारियों, जमींदारों सभी को अच्छा लाभ होता है। उन्हें तभी कुछ कष्ट उठाना पड़ता है जब कि सरकार उन पर कड़ा नियंत्रण लगाती और उस नियंत्रण में वह सफल हो जाती है, परन्तु मूल्य वृद्धि का उपभोक्ता पर पड़ा बुरा असर पड़ता है इनमें भी निश्चित वेतन पाने वाले लोग अधिक कष्ट उठाते हैं। यहाँ हम इसी पर विचार करेंगे।

मध्यम वर्ग के लोगों पर—मध्यम वर्ग के लोग एक प्रकार से समाज की रीढ़ होते हैं। ये लोग साधारणतया सुशिक्षित होते हैं और सरकारी या अन्य दफ्तरों में नौकरी करते होते हैं। मूल्य-वृद्धि का इन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है, उन्हें एक निश्चित वेतन मिलता जिसमें से अधिक बचत की सम्भावना नहीं रहती। अतएव वाध्य होकर उन्हें अपने रहन-सहन के स्तर में कमी करनी पड़ती है। उनकी आय का एक बड़ा भाग अपने कुटुम्ब के कपड़े-लत्तों में ही खर्च कर देना होता है, वे अपने भोजन में कमी कर देते हैं और येन-केन प्रकारेण अपना जीवन निर्वाह करते हैं। ऐसे लोगों की

और सरकार को अवश्य ध्यान देना चाहिए क्योंकि समाज का यही ऐसा वर्ग होता है जो सरकार की स्थिरता को कभी भी बड़ा धक्का पहुँचा सकता है।

श्रमिकों पर—मूल्य वृद्धि और उसके साथ ही रहन सहन के स्तर में वृद्धि होने के कारण श्रमिक वर्ग भी बड़ा अप्रसन्न सा रहता है। मंहगी के कारण उनमें अशान्ति फैल जाती है, यद्यपि उन्हें मंहगाई का भत्ता इत्यादि दिया जाता है किन्तु वस्तुएँ इतनी मंहगी होती हैं कि इस भत्ते से कुछ भी नहीं होता। कृषि श्रमजीवियों की स्थिति यदि उन्हें उनका पारिश्रमिक रकम में न मिलकर किस्म में मिलता है तो उनकी दशा और भी खराब हो जाती है। भारत में मंहगी के समय अनेक औद्योगिक झगड़े श्रमिकों में फैले हुए असन्तोष के कारण ही उत्पन्न हुए।

इन दोषों को दूर करने के उपाय—

युद्ध के समय में—जब सरकार ने इस प्रकार बढ़ती हुई मँहगी देखी तो उसने इसको रोकने के लिए कई उपाय निकाले। हम इन पर यह संक्षेप में विचार करेंगे।

(१) मूल्य-वृद्धि को रोकने का सबसे अच्छा उपाय करेंसी के विस्तार को रोकना है। जितना ही मुद्रा का फैलाव होगा और अच्छे नियंत्रण की व्यवस्था नहीं की जायगी तो मूल्य में वृद्धि होती ही जायगी। १६४३ में भारत में अंगरेजों की खरीद काफी रही अतएव पत्र-मुद्रा का प्रचलन भी काफी रहा। इसके बाद इसमें कुछ कमी की गई।

(२) इस मूल्य-वृद्धि को रोकने का दूसरा उपाय अपस्फीति है। वैसे तो यह बड़ा दुस्तर कार्य है किन्तु इसे कर वृद्धि इत्यादि के द्वारा रोका जा सकता है। सरकार ने इस नीति को भी अपनाया और १६४३ की मई में एक अध्यादेश पास किया जिसके अनुसार अतिरिक्त लाभ की वसूली की उचित व्यवस्था की गई। आय-कर पत्रों (Income Tax Certificates) की बिक्री से भी इस दिशा में सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया।

(३) सरकार ने इस मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए तथा मुद्रा को एकत्रित करने के लिए आवश्यक बचत योजनाएँ भी कार्यान्वित कीं। वास्तव में यदि ग्रामों में इन योजनाओं के प्रचार का उचित प्रयोग किया जाता तो अच्छी सफलता प्राप्त होती। कुछ प्रान्तीय सरकारों ने प्रत्येक जिलों में सेविंग के प्रचार के लिए विशेष कर्मचारियों को नियुक्त किया जिससे कि वह करोड़ों रुपयों को एकत्रित कर मुद्रा-प्रसरण को कम करने में सफल हों।

(४) सरकार ने भारत में ऋण प्राप्त करने की युद्ध के समय जो योजना चलाई वह विशेष सफल न हो सकी इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय की सरकार में जनता का विश्वास नहीं था दूसरे युद्ध के समय पूँजी विनियोग के लिए अन्य कितने ही साधन थे जिनके द्वारा अच्छी आय की जा सकती थी। इसलिए जनता सरकार को ऋण देने में अपना विशेष लाभ नहीं समझती थी।

(५) सरकार ने मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए सरकारी कर्मचारियों के भत्ते आदि में कुछ वृद्धि की किन्तु इससे मुद्रा स्फीति में वृद्धि होने के अतिरिक्त और कोई विशेष लाभ न हुआ। अच्छा यह होता कि सरकार बजाय मंहगाई के भत्ता देने के सरकारी कर्मचारियों के लिए उचित और नियंत्रित मूल्य पर सामान देने के वास्ते दूकानें खोलती, उनके लिए अच्छे राशन की व्यवस्था करती।

(६) सरकार ने सट्टेबाजी को भी रोक कर मूल्य-वृद्धि को रोकने का प्रयत्न किया। सोने, चाँदी, गल्ला आदि के सट्टे को काफी नियंत्रित किया गया। व्यापार को नकदी के आधार पर चलने के लिए सरकार ने वे सभी प्रयत्न किए जो कि किए जा सकते थे।

(७) मूल्य वृद्धि को रोकने का एक उपाय यह भी होता है कि उत्पादन में वृद्धि की जाय। उस समय कितने ही लोगों का यह कहना था कि यदि सभी वस्तुओं के उत्पादन में काफी वृद्धि की

जाय तो मूल्य-वृद्धि को रोका जा सकता है। सरकार ने इस ओर भी कुछ ध्यान दिया 'अधिक अन्न उपजाओ', 'कम कपड़े पहनो' आदि के आन्दोलन किए गए किन्तु इस समय इन सबके करने से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। एक तो देश में कृषि की पैदावार वैसे ही कम थी, अन्य वस्तुएँ भी अधिक उत्पादित नहीं की जा सकती थीं, उनका उत्पादन सीमित था। इसलिए कुल मिलाकर हमारे देश में उत्पादन की काफी कमी थी। आवश्यकता इस बात की थी कि सरकार अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन का नारा बुलन्द करवाने की अपेक्षा उत्पादन के वृद्धि की अच्छी योजनाएँ बनाती और उन्हें भलीभाँति कार्यान्वित करती। खाद्य तथा अखाद्य फसलों के क्षेत्र को निश्चित कर, उसे नियंत्रित करती।

(८) उस समय देश में खाद्यान्न का अभाव तो था ही, साथ ही एक बहुत बड़ी कमी थी उसके उचित वितरण के लिए यातायात के आवश्यक साधनों की। सरकार ने इस आवश्यकता को अच्छी तरह समझा और खाद्यान्न के यातायात के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ और प्राथमिकता प्रदान की गई। परन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद भी रेलें उतना सहयोग न प्रदान कर सकीं जितनी की आवश्यकता थी।

(९) इनके अतिरिक्त सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से मूल्य को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया। उसने गेहूँ, चावल, चना, जैसे खाद्यान्नों के मूल्य को निश्चित किया, किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि किसी सरकार के मूल्य नियंत्रण की योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसके लिए कोई सक्रिय और पूर्ण प्रयत्न न किया जाय। जब तक इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की जाती तब तक काला बाजार और चोर बाजार के अतिरिक्त कुछ भी लाभ नहीं मिलता। भारत में भी नियंत्रणों के ढीले होने से कोई विशेष लाभ नहीं उठाया जा सका।

युद्ध के बाद के वर्षों में—युद्ध समाप्त होने के बाद भी वस्तुओं का मूल्य बढ़ता ही गया। इधर भारत के राजनैतिक जीवन में भी काफी परिवर्तन हो गया था, देश भारत और पाकिस्तान इन दो टुकड़ों में विभाजित हो गया। भारत में शरणार्थियों के आवागमन से तथा पंजाब और सिंध जैसे गेहूँ वाले प्रदेशों के हाथ से निकल जाने से स्थिति और भी गम्भीर हो गई, मूल्य-वृद्धि में भी कुछ रुकावट नहीं हुई। अतएव ऐसी स्थिति में सरकार ने देश के कितने ही लोगों से इस विषय में परामर्श किया। इन लोगों ने निम्नलिखित सुझाव पेश किए :—

(१) इन लोगों ने कहा कि सरकार को चाहिए कि वह अपने व्यय को कम करे। राज्यों तथा केन्द्र में जो अनावश्यक अधिकारी हैं उन्हें हटाकर अपने खर्च को कम करे। यही नहीं, इन लोगों ने सरकार के सामाजिक, शैक्षणिक आदि कार्यों में होने वाले व्यय को कम करने का सुझाव दिया। इन लोगों का कथन था कि सरकार को एक पाई भी बेकार नहीं खर्च करनी चाहिए। उसे भविष्य में अपने बजट को बनाने तथा उसके स्वीकृत करने में भी बड़ी सावधानी बर्त्तनी चाहिये।

(२) इन लोगों ने आयकर को कड़ाई से वसूल करने का सुझाव दिया। इनका सुझाव था कि व्यापार से होने वाले लाभ पर २५ प्रतिशत के हिसाब से वृद्धि की जाय, छिपे हुए आयकर को वसूला जाय तथा कृषि आदि पर नए कर लगाए जायँ।

(३) इन्होंने कहा कि सरकार जनता से ऋण प्राप्त करने का उचित प्रयत्न करे। छोटी-छोटी सेविंग, बांड आदि को अच्छे सूद की दर पर आकर्षित करने का प्रयत्न किया जाय। कुछ अधिक सूद की दर पर छमाही तथा वार्षिक ट्रेजरी बिलों से भी लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(४) रिजर्व बैङ्क द्वारा चालू किए गए कुल पत्र-मुद्राओं को भी सीमित किया जाय। सभी बैङ्कों से अपने मांग वाले दायित्वों में २५ प्रतिशत सरकारी प्रतिभूतियों के रखने को कहा जाय।

(५) उपभोग वाली आवश्यक वस्तुओं के आयात को तो प्रोत्साहन प्रदान किया जाय परन्तु अनावश्यक वस्तुओं के आयात को बन्द कर दिया जाय। आवश्यक वस्तुओं के आयात तथा द्विपक्षीय व्यापारिक सम्बन्धों को ठीक रखने के लिए निर्यात को भी नियंत्रित किया जाय।

(६) इन लोगों ने सरकार को सलाह दी कि छोटे-तथा कुटीर उद्योगों के विकास के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाय। प्रत्येक बड़े उद्योग के उत्पादन वृद्धि की निश्चित योजनाएँ बनाई जायँ।

(७) सरकार को चाहिए कि वह खाद्यान्नों के बढ़ते हुए मूल्य को रोकने का उत्तरदायित्व स्वयं अपने ऊपर ले। नगरों तथा औद्योगिक क्षेत्रों में राशन द्वारा अन्न के वितरण की व्यवस्था जारी रखी जाय।

इनमें से कुछ सुझावों पर सरकार ने कार्य करना शुरू कर दिया है।

'राशनिंग' (Rationing)—जब मांग के अनुसार पूर्ति नहीं होती, यह पूर्ति अनिश्चित तथा अपर्याप्त रहती है तो राशनिंग की आवश्यकता होती है। युद्ध के समय में जब जापान ने बर्मा पर अधिकार कर लिया और वहाँ से चावल का आना असम्भव हो गया तो सरकार ने देश में राशनिंग व्यवस्था जारी करने का प्रयत्न किया। उस समय देश भर का शासन केन्द्र द्वारा होता था। इस प्रकार प्रत्येक प्रान्त से आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो जातीं और देश की मांग की आवश्यक पूर्ति की जाती। यदि उत्तर प्रदेश अपनी शकर न देता, बंगाल अपनी जूट, पंजाब अपना गेहूँ, बम्बई अपना सूती माल को देने से इन्कार कर देता तो देश में बड़ी अशान्ति फैल जाती, परन्तु इन सबके सहयोग से देश में पूर्ति सम्बन्धी कोई विशेष बाधा न खड़ी हुई।

राशनिंग की सबसे सुन्दर व्यवस्था वह है जिसमें किसी प्रकार का भेद-भाव न बर्ता जाय। धनी-निर्धन, छोटे-बड़े सभी को अपनी आवश्यकता के लिए समान रूप से वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ। यदि इसमें किसी प्रकार का पक्षपात या भेदभाव किया जाता है तो उसका प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। राशनिंग की दूसरी विशेषता यह होती है वह यह कि यदि किसी एक वस्तु की राशनिंग की जाती है तो दूसरी वस्तु की राशनिंग करना अनिवार्य हो जाता है, यदि ऐसा नहीं किया जाता तो राशनिंग का उचित उपयोग नहीं हो पायेगा, मूल्य वृद्धि को भी सहारा मिलेगा। इसके अतिरिक्त राशनिंग के कारण सरकार के वस्तुओं की समस्त पूर्ति पर नियंत्रण रखना आवश्यक हो जाता है। राशनिंग द्वारा जनता को कई लाभ होते हैं, काला बाजार का अन्त होता है, जनता को सरलता से ये वस्तुएँ प्राप्त हो जातीं हैं, लोगों को बचत करने के लिए वाध्य होना पड़ता है और इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के भी दूर होने में सहायता प्राप्त होती है। पाश्चात्य देशों में राशनिंग के द्वारा मूल्यों की वृद्धि को रोकने में काफी प्रयत्न किया गया था।

इन लाभों को देखकर भारत में भी राशनिंग की व्यवस्था की गई किन्तु प्रारम्भ में भारत सरकार की अज्ञानता और लापरवाही के कारण राशनिंग की ठीक व्यवस्था न हो सकी। यहाँ पर इसके लिए अनुभवी तथा शिक्षित कर्मचारियों का अभाव था। अतएव यहाँ राशनिंग की इस अव्यवस्था के कारण भ्रष्टाचार, बेईमानी रिश्वतखोरी आदि अनेक बुराइयाँ आ घुसीं। व्यापारियों, सरकारी कर्मचारियों ने राशनिंग से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न किया। जनता ने भी अपने कर्त्तव्यों को ठीक से नहीं समझा, शादी-विवाह तथा अन्य सामाजिक उत्सवों में खाद्यान्न के उपभोग करने में कोई कमी नहीं हुई।

इन सब दोषों के होते हुए भी देश में राशनिंग व्यवस्था से जनता की परेशानी काफी दूर हुई। १९४७ में इस आशा से कि छिपा हुआ माल बाजार में बिकने लगेगा और लोगों की कठिनाई दूर हो जायगी सरकार ने अनियंत्रण की नीति अपनाई और दिसंबर में बहुत सी वस्तुओं से नियंत्रण हटा लिया। सरकार ने देश के व्यापारियों से प्रार्थना की कि वे इस समय अपनी देश भक्ति का परिचय

देते हुए मूल्य-वृद्धि को रोकने का प्रयत्न करें। किन्तु सरकार की यह आशा पूरी न हुई वस्तुओं के मूल्य में दिनोंदिन वृद्धि होती ही गई। इस बात का पता हमें उस समय के मूल्यों को देखने से लग जायगा। १६४८ की जुलाई में सामान्य मूल्य देशनांक ३६० हो गया। १६४७ की जुलाई में यह २६२ तथा नवम्बर में ३०२ था।

यह देखकर सरकार ने अपनी नीति में फिर परिवर्त्तन किया और खाद्यान्न तथा कपड़े पर पुनः नियत्रण लगा दिया। १६४६ के सितम्बर में शकर की भी राशनिंग शुरू कर दी गई। इसके अतिरिक्त मिट्टी के तेल, लोहा, फौलाद तथा सीमेन्ट आदि के भी उचित वितरण का प्रयत्न किया गया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप धीरे-धीरे मूल्यों में ह्रास होने लगा और १६४६ के मार्च में सामान्य मूल्य देशनांक ३०७ हो गया।

मूल्य नियन्त्रण (Price Controls)—पहले लोग यह आशा करते थे कि जब युद्ध का अन्त हो जायगा, विश्व में शान्ति स्थापित हो जायगी तो मूल्यों का नियंत्रण तथा राशनिंग अपने आप ही समाप्त हो जायगी परन्तु यह आशा आशा ही रही न राशनिंग का अन्त हुआ, न मूल्य नियंत्रण का और न वस्तुओं के मूल्य ही कम हुए। इसका मुख्य कारण यह था कि जिन बातों पर ये सब वस्तुएँ आधारित थीं उनकी ही उचित व्यवस्था नहीं हो सकी। दूसरे शब्दों में उत्पादन की वृद्धि की सबसे बड़ी आवश्यकता थी और यह पूरी न हो सकी। इसका मुख्य कारण यह था कि युद्ध के समय में देश के कारखानों में खूब काम हुआ, दो-दो पालियों तक मशीनों पर काम होता था और मशीनों की दशा काफी खराब हो गई थी, इन पुरानी मशीनों के स्थान पर आवश्यकता थी नई मशीनों की, किन्तु मशीनें विदेशों से अच्छी तरह प्राप्त न हो सकीं, न तो अमरीका से और न इंगलैण्ड से ही भारत को नई मशीनें मिलीं। दूसरे यहाँ पर भारत में युद्ध के समय की कुछ लोगों के पास अच्छी कमाई थी और उस कमाई को ठीक रूप में विनियोजित करना चाहते थे, और इसके लिये वे उस माल को खरीदने में लगे हुए थे जिसे वे युद्ध के समय नहीं खरीद सके, तीसरे कुछ ऐसे लोग थे जो अपने पास रखे हुए माल को स्वार्थवश बेंचना नहीं चाहते थे। ऐसी स्थिति में मूल्य-नियंत्रण का हटाना उचित नहीं था। फिर हम लोगों में कुछ ऐसी भावना घर किए हुए है जिसके अनुसार हम यह सोचते हैं कि ज्यों ही किसी वस्तु से नियंत्रण हटा कि उसका खुले बाजार में मिलना दुर्लभ हो जायगा वह वस्तु काले बाजार में बिकेगी और उसका मूल्य भी अधिक रहेगा।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त भारत सरकार को मूल्य नियंत्रण के सम्बन्ध में कोई अनुभव नहीं था, इस सम्बन्ध के जो अधिकारी थे वे भी अकुशल और अनुभवहीन थे। इसके अलावा इन सरकारी कर्मचारियों में ईमानदारी का भी बड़ा अभाव था वे अपने कर्त्तव्य की पूर्ति ठीक ढंग से नहीं करते थे। वे चोरबाजारी, आदि के बहुत कम मामले पकड़ सके। दूसरे यादि कोई अपराध पकड़ा भी जाता तो अपराधी को छोटा-मोटा दंड देकर ही मुक्त कर दिया जाता। ये लोग यह भूल गये कि चोरबाजारी करने वाला व्यक्ति जनताका, समाज का शत्रु है और इसे जितना भी दंड दिया जाय उतना कम है। सरकारी कर्मचारियों की तो बात ही क्या जनता ने भी सरकार को उचित सहयोग नहीं दिया। उपभोक्ता लोग माल संचित करते गये और सौदागर कृत्रिम अभाव उत्पन्न करता गया। जिले के वे अधिकारी जिन पर यह कार्य-भार सौंपा गया था वे बिल्कुल ही अयोग्य और अनुभवहीन थे। सरकार का सबसे बड़ा दोष यह भी था कि उसने वस्तुओं के मूल्य का तो नियंत्रण किया किन्तु उनकी पूर्त्ति का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। जब बाद में केन्द्रीय सरकार ने पूर्ति को भी नियंत्रित करने का प्रयत्न करना शुरू किया तो प्रान्तों ने उसे सहयोग न दिया। इस प्रकार के अधूरे उपायों द्वारा काला बाजार जोर पकड़ता गया। उत्पादन में भी कोई वृद्धि नहीं हो सकी, युद्ध के समय में देश के कारखाने सरकार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पादन करते रहे। धनियों ने और धन पैदा किया और अधिक लाभ कमाने के

लिये वे समाज के हित-अहित का जरा भी ध्यान नहीं रखते थे। इस प्रकार सरकार मूल्य नियंत्रण में भी कुछ सफलता न प्राप्त कर सकी।

मूल्य तथा मूल्य नियंत्रण १९४९-५० में— हमने पीछे देखा कि मार्च १९४९ तक सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप मूल्यों में कुछ ह्रास हुआ था किन्तु इसी महीने (मार्च १९४९ से) वस्तुओं के मूल्य में फिर वृद्धि होना शुरू हुई। अन्त में अगस्त १९५० में सामान्य मूल्य देशनांक ४१० हो गया। इस वृद्धि के कई कारण थे, इनमें से कुछ का उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं।

(१) **मुद्रा का अवमूल्यन**—१९४९ के सितम्बर में रुपए का अवमूल्यन हुआ। इस समय ३·३ रुपया के स्थान पर डालर का मूल्य ४·८ रुपया प्रति डालर हो गया। इसके कारण अमरीका तथा अन्य डालर वाले क्षेत्रों से आने वाली वस्तुएँ मंहगी हो गईं। सरकार ने विदेशों से आनेवाली वस्तुओं के आयात पर नियंत्रण लगा दिया। इस प्रकार की वस्तुओं के लाने के लिए लायसेन्स प्राप्त करना आवश्यक कर दिया गया।

(२) वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने का दूसरा कारण कोरिया-युद्ध था, जिसको सुनकर व्यवसायियों ने माल को पुनः एकत्रित और संचित करना शुरू कर दिया। युद्ध के कारण विभिन्न राज्यों ने भी आवश्यक कच्चे माल को एकत्रित करना शुरू कर दिया।

(३) वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने का एक कारण पाकिस्तान तथा भारत के साथ होनेवाले आर्थिक और राजनैतिक झगड़े थे। काश्मीर की समस्या मुख्य थी, वही सारे झगड़े की जड़ थी और अब भी है। पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन भी नहीं किया इससे दोनों देशों में होने वाला व्यापार एकदम स्थगित सा हो गया। देश में जूट, कपास जैसे कच्चे माल की कमी हो गई, इससे अन्य वस्तुएँ भी मँहगी हो गईं। बाद में नेहरू-लियाकत समझौते से कुछ स्थिति सुधरी किन्तु इससे भी विशेष लाभ नहीं हुआ। वस्तुओं की इस मंहगी को देखकर सरकार को फिर परेशानी मालूम पड़ी, उसने व्यापारियों से फिर प्रार्थना की कि वे मूल्य-वृद्धि को रोकने में सहयोग दें जिससे बेचारे उपभोक्ताओं को कठिनाई न उठानी पड़े, किन्तु व्यापारियों पर इसका कुछ भी असर न पड़ा। अन्त में बाध्य होकर सरकार को मूल्य व पूर्ति के नियंत्रण के लिए कानून बनाना पड़ा। उसने साइकिलों व साइकिलों के अन्य सामान ब्लेड, बच्चों के लिए खाने के सामान आदि के मूल्यों को निश्चित कर दिया। सरकार ने सूत तथा सूती कपड़े, शकर व खाद्यान्नों पर अपनी नियंत्रण नीति को जारी रखने की घोषणा की। इसके साथ ही साथ उसने खाद्यान्न के उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए भी प्रयत्न करना शुरू किया।

ऊपर हमने देश में राशनिंग तथा मूल्यों के नियंत्रण पर प्रकाश डाला। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध के समय और शान्ति के समय में भी जब आवश्यक वस्तुओं का उपलब्ध होना दुर्लभ होता है तो इनका लगाना आवश्यक हो जाता है, और इनसे बहुत कुछ लाभ भी प्राप्त होता है किन्तु यदि जनता सरकार को सहयोग नहीं देती तो इन नियंत्रणों का सफल होना सम्भव नहीं होता इसलिए इन नियंत्रणों के सफल होने के लिए सब से बड़ी आवश्यकता है जनता का सहयोग तथा इन कार्यों को कार्यान्वित करने के लिए ईमानदार और कर्तव्य परायण अधिकारियों की। इसमें कोई संदेह नहीं कि कन्ट्रोल या नियंत्रण जनता को पसन्द भी नहीं होते, इससे उसे काफी परेशानी उठानी पड़ती और यदि ये ठीक प्रकार से संचालित नहीं होते, इनमें किसी तरह की बेईमानी वगैरा होती है तो जनता को और भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। परन्तु इन आधारों पर कन्ट्रोल या नियंत्रणों को लगाने का तर्क नहीं उपस्थित कर सकते। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि जब तक सरकारी अधिकारी अपने कर्तव्य का पूरा ध्यान रखते हैं, जब तक उपभोक्ता लोग चोरबाजारी से वस्तु के खरीदने को अधर्म का कार्य नहीं समझते, जब तक जनता में पूर्ण रूप से नागरिक भावना जाग्रत नहीं होती तब

तक नियंत्रणों में ये दोष बने ही रहेंगे। जब ये दोष दूर हो जायेंगे तो राशनिङ्ग तथा कन्ट्रोल के सफल होने में कोई सन्देह नहीं रह जायगा।

मूल्य नीति (Price Policy)— इसके पूर्व कि हम भारत द्वारा अपनाई जाने वाली किसी निश्चित मूल्य-नीति पर प्रकाश डालें, अभी पिछले थोड़े वर्षों में मूल्य के नियंत्रण सम्बन्धी जो कार्य हुए हैं उन पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूल्य वृद्धि का मुख्य कारण युद्ध तथा युद्ध के बाद के वर्षों में चालू किये गये नोटों का प्रसरण है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति ही इस मँहगाई का मुख्य कारण है। अतएव हम यहां मुद्रा-स्फीति पर ही प्रकाश डालेगें। मुद्रा-स्फीति कई प्रकार की होती है। मुद्रा-स्फीति के प्रारम्भिक काल में जब कि धीरे-धीरे मूल्य में वृद्धि होना शुरू होती है तो उसे लाभकारी मुद्रास्फीति (profit inflation) कहते हैं। इसके अनुसार वस्तु के मूल्य में तो वृद्धि होती है किन्तु उसी हिसाब से लागत में वृद्धि नहीं होती इस प्रकार उत्पादक को अच्छा लाभ प्राप्त हो जाता है। इस मुद्रास्फीति के कारण सबसे अधिक हानि और कष्ट मध्यमवर्ग के व्यक्तियों को उठाना पड़ता है। यदि इसी समय आवश्यक साधन उपलब्ध हो जाँय और उत्पादन में काफी वृद्धि हो जाय तो स्थिति सामान्य स्तर पर आ जायगी और यदि किसी कारण से ऐसा सम्भव न हुआ तो स्थिति हाथ से निकल जाती है और उस समय तीव्रगामी मुद्रास्फीति (Galloping Inflation) का रूप धारण कर लेती है और देश की मौद्रिक व्यवस्था अन्ततः विश्रृंखलित हो उठती है। आर्थिक प्रणाली का सामूहिक अधः पतन जाता है। ऐसी ही स्थिति प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में पैदा हुई थी और अभी थोड़े दिनों पूर्व चीन की भी ऐसी दशा थी। ऐसी स्थिति में यदि सरकार मूल्यों में और अधिक वृद्धि नहीं होने देती, उसके रोकने के लिए अच्छे प्रयत्न करती, कुछ अधिक मूल्य स्तर पर सरकार मूल्य को स्थिर कर देती है तो उसी बढ़े हुए मूल्य के अनुसार लागत भी व्यवस्थित हो जाती है, इसे हम लागत वाली मुद्रास्फीति (Cost Inflation) कहते हैं। इस प्रकार की मुद्रास्फीति में हमारी आन्तरिक तथा वाह्य आर्थिक व्यवस्था असन्तुलित हो जाती है। निर्यात में कमी हो जाती है और आयात या तो बढ़ जाता है या स्थिर हो जाता है, देयताएँ अथवा भुगतान (Payments) असन्तुलित हो जाता है।

आन्तरिक सन्तुलन इस प्रकार बिगड़ता है कि जैसे लागत में वृद्धि होती है, माल की बिक्री बन्द हो जाती है, लाभ में गिराव हो जाता है, बेकारी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि मध्यम वर्ग को अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है और यदि वे अपने को न सहन कर सके तो उनकी क्रोधाग्नि क्रान्ति या विद्रोह में प्रगट हो जाती है। इस रोग से छुटकारा पाने का उपाय सरल नहीं है। अश्वारोही मुद्रास्फीति किसी भी देश की आर्थिक व्यवस्था को बिल्कुल ही निश्रृंखलित कर देता है। इसको रोकने के लिए यदि एकदम से मूल्यों में गिराव कर दिया जाता है तो वस्तुओं का उत्पादन करने वाले कारखाने और मिलें बन्द हो सकती हैं जिससे कि देश में बेकारी का वातावरण छा सकता है और भयानक मन्दी से लोग अनेक कष्ट उठा सकते हैं। जब युद्ध लगातार काफी दिनों तक चलता रहता है तो सभी देशों में उसके परिणामस्वरूप पहले लाभकारी मुद्रा-स्फीति का जन्म होगा, फिर लागतवाली मुद्रा-स्फीति के। नीचे हम युद्ध तथा युद्ध के बाद के कुछ वर्षों के थोक मूल्यों का देशनांक दे रहे हैं, इससे इस बात का कुछ परिचय प्राप्त हो जायगा।

आधार १९३७ = १००

देश	जीवन परिव्यय			थोक मूल्य		
	१९३९	१९४५	१९४६	१९३९	१९४५	१९४६
इटली	१००	२,८२३	४,९९०	११२	२,१०३	५,५८०

संयुक्त राज्य अमरीका	९७	१२५	१६५	८६	१२३	१७६
ग्रेट ब्रिटेन	१०३	१३२	१४५	६५	१५५	२१३
फ्रांस	१२५	४३६	१,६८५	१०५	३७५	१,८१२
भारत	१००	२२२	२८३	६५	२३१	३७८

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राज्य अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन की तुलना में भारत की स्थिति बड़ी खराब है। हाँ जहाँ तक इटली और फ्रान्स का सम्बन्ध है, इनकी तुलना में भारत की स्थिति विशेष बुरी नहीं रही। संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी आर्थिक स्थिति काफी दृढ़ रखी, मूल्यों की वृद्धि को काफी सम्भाला। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने यहाँ मुद्रा-स्फीति का प्रसरण बिल्कुल ही नहीं होने दिया। परन्तु चाहे कोई भी देश हो वह अपने उस मूल्य-स्तर को लाने में समर्थ नहीं हुआ है जो कि युद्ध के पहले थी। हाँ केवल उन देशों ने जिन्होंने कि अपनी पहले वाली मौद्रिक पद्धति (Monetary System) में आमूल परिवर्तन कर दिया है, या अपनी प्राचीन मुद्रा की अपस्फीति कर दी है, उनकी स्थिति अवश्य कुछ ठीक रही।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस पद्धति से मुद्रा स्फीति के दूर होने में सहायता प्राप्त होती है परन्तु इससे जनता की कठिनाई और भी बढ़ जाती है। अतएव जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है हम इस उपाय का अनुसरण नहीं कर सकते। भारत के लिए इस दोष से मुक्त होने का सबसे अच्छा उपाय उत्पादन की वृद्धि करना है, इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि इस उत्पादन में लागत भी कुछ कम लगनी चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने निम्नलिखित कार्यों के करने का विचार किया है :—

(१) केन्द्रीय तथा राज्यों के बजट के घाटे को कम करना, जहाँ तक सम्भव हो सके सरकारी खर्च को कम करना। इस सम्बन्ध में यह कह देना अनुचित न होगा कि भारत में मुद्रा-स्फीति का एक मुख्य कारण भारतीय बजट का घाटे पर चलना भी था। युद्ध के बाद के पाँच वर्षों में कुछ नहीं तो ५०७ करोड़ रुपये का बजटों में घाटा रहा। यदि यह रकम बचती तो इसका अन्य किसी योजना की पूर्ति आदि में उपयोग हो जाता। अब सरकार ने अपनी इस कमी को अच्छी तरह समझ लिया है और उसे दूर करने की ओर पूर्ण रूप से प्रयत्नशील है।

(२) प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करों के द्वारा जहाँ तक हो सके सरकारी आय में वृद्धि करना। परन्तु अब जब कि करों आदि की संख्या बहुत बढ़ गई है इसलिये भविष्य में कर लगाते समय उसपर अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये।

(३) सट्टेबाजी आदि को रोकने के लिये बैङ्क की साख को नियंत्रित करना।

(४) औद्योगिक विकास आदि योजनाओं के लिये सार्वजनिक ऋण प्राप्त करना।

(५) मूल्य वृद्धि को रोकने के हेतु राशनिंग तथा अन्य कठोर नियंत्रणों को लगाना।

(६) खाद्यान्न, कच्चा माल तथा अन्य उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना।

इनमें से कुछ उपायों को सरकार ने कार्य रूप में परिणित किया है किन्तु इससे कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं हुआ, मूल्य-वृद्धि में कोई रुकावट नहीं हुई। लागत वाली मुद्रा स्फीति का प्रसरण बना रहा और हमारे निर्माण में ह्रास होता रहा। इससे हमारे व्यापार में बड़ा घाटा हुआ, बाद में रुपये के अवमूल्यन से हमारा व्यापारिक सन्तुलन कुछ ठीक हुआ। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी नीति में कुछ परिवर्तन करें थोड़े समय के लिये हम इस वर्तमान मूल्य स्तर को ही स्थायी बनाने का प्रयास करें, फिर धीरे-धीरे उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ मूल्यों को कम करने का प्रयत्न करें परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हम मूल्यों के उसी स्तर को स्थिर बनाने का प्रयत्न करना चाहिये जिसके द्वारा उत्पादक, श्रमिक तथा उपभोक्ता सभी को उचित लाभ प्राप्त हो। मध्यम श्रेणी के लोगों के कष्टों को दूर करने के लिये हम एक सुन्दर आर्थिक योजना को सुयोजित कर देश का आर्थिक पुनर्निर्माण करने में कोई कोर-कसर न रख छोड़ें।

चौंतीसवाँ परिच्छेद

भारत में आर्थिक नियोजन

(Economic Planuing in India)

प्राक्कथन—जब हम अपनी अतुल प्राकृतिक सम्पत्ति पर दृष्टि डालते हैं तो हमें पता चल जाता है कि यदि इन साधनों का, इस प्राकृतिक सम्पत्ति का उचित उपयोग किया जाय तो कोई कारण नहीं कि भारत अन्य देशों से पिछड़ा रह जाय। भारत में श्रम का अभाव नहीं, यहाँ की जनसंख्या विशाल है, उसके पास पर्याप्त मात्रा में भूमि भी है, संक्षेप में किसी भी देश के कृषि एवं औद्योगिक विकास के लिए जो बातें होनी चाहिए, उनमें से अधिकांश हमें अपने देश में ही उपलब्ध हैं। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि जब भारत में प्राकृतिक साधन इस प्रचुर मात्रा में हैं, तो आज वह ऐसी स्थिति में क्यों है जब कि उसे अपनी छोटी-छोटी आवश्यकताओं के लिए भी विदेशों का मुँह ताकना पड़ता है, वह अपने पेट भर खाने और पहनने भर को पर्याप्त खाद्यान्न तथा वस्त्र भी उत्पादित नहीं कर पाता। जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक वस्तुओं का भी अभाव बना ही रहता है। इन सब अभावों के कारण भारतीय जन-समाज अपना सम्यक विकास नहीं कर पाता। भारतवासियों के रहन-सहन का स्तर बिल्कुल निम्न है और उनमें से अधिकांश को भयानक निर्धनता का सामना करना पड़ता है। इधर इन जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं का तो अभाव बना ही हुआ है, उधर दूसरी ओर हमारी जनसंख्या में अनवरत वृद्धि होती जा रही है। अपने साधनों के पर्याप्त रूप से विकसित न होने के कारण, हमारी आर्थिक दशा और भी खराब होती जा रही है। अन्य देशों की तुलना में आर्थिक दृष्टि से हम कितने पिछड़े हुये हैं इस बात का पता हमें नीचे दिये हुये आंकड़ों से लग जायगा। ये आंकड़े अन्य देशों की तुलना में भारतीय निर्धनता के देशनांक हैं:—

प्रति व्यक्ति वार्षिक आय

संयुक्त राज्य अमरीका	१६३१	८६	पौंड
ग्रेट ब्रिटेन	१६३१	७६	”
सोवियत रूस	१६२५	१०	”
जर्मनी	१६२५	३६	”
जापाम	१६२५	१४	”
मिश्र	१६३८	२१	”
भारत	१६३१	५	”

उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट हो गया कि अन्य देशों की तुलना में भारत कितना पिछड़ा हुआ है। हम कितने निर्धन हैं इस बात का पता हमें कुछ अन्य तथ्यों से भी लग जायगा। १६३६ ई० में सर जान मीगो ने अपने प्रतिवेदन में लिखा था कि यहाँ केवल ३६% लोग ऐसे हैं जिनको कि पूर्णरूप से भोजन मिलता है, ४१% ऐसे हैं जो किसी प्रकार अपना पेट भरते हैं, २०% को तो अपना पेट भरना भी मुश्किल है। थोड़े दिनों पूर्व डा० आकरायड ने भी कहा था कि भारत की अधिकांश जनता को ठीक से भोजन नहीं प्राप्त होता। कहना न होगा कि जिस देश के निवासियों को पेट भर भोजन भी नहीं प्राप्त होता, उनसे उनके अन्य प्रकार के विकास की आशा ही क्या की जा सकती है? भारतवासियों को एक तो पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलता दूसरे जो भोजन मिलता भी है उसमें जीवन रक्षक आवश्यक पदार्थों का बड़ा अभाव रहता है। भोजन में इन

पदार्थों के अभाव के कारण ही भारतीयों का स्वास्थ्य गिरता जा रहा है, उनकी आयु कम होती जा रही है।

इस प्रकार कुल मिलाकर आज हमारी आर्थिक व्यवस्था बिल्कुल अस्त-व्यस्त हो गई है। हमारे इस आर्थिक अधःपतन का, इस निर्धनता का, राष्ट्रीय आय के कम होने का मुख्य कारण देश की आर्थिक प्रगति का सम्यक व समुचित रूप से विकसित न होना है। पराधीनता काल में अंगरेजों ने जो नीति अपनाई वह हमारे देश के सम्यक आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त न थी। दासत्व-काल में भारत को अंगरेजों के ही इशारों पर चलना पड़ा, पराधीन रहने के कारण वह अपनी कोई स्वतन्त्र नीति न अपना सका जिसके आधार पर देश का यथेष्ट आर्थिक विकास हो पाता। भारत की आर्थिक स्थिति पर विश्व की राजनीतिक परिस्थितियों ने भी गहरा प्रभाव डाला, वर्तमान शताब्दी में होने वाले दो विश्वयुद्ध इस बात के प्रमाण हैं। भारत ने राजनैतिक पराधीनता से मुक्ति प्राप्त कर इन बाधाओं को अपने पथ से हटा दिया है और देश के आर्थिक विकास के लिए वह पूर्ण रूप से प्रयत्नशील है।

वतमान आर्थिक पद्धति पर दृष्टि डालने से हमें पता चलेगा कि इस समय इस दिशा में मुख्य रूप से निम्नलिखित दोष हैं:—

(१) उत्पादन में कमी,
(२) आर्थिक जीवन की अस्थिरता, तथा।
(३) वितरण की असमानता।

हम पिछले परिच्छेदों में कह चुके हैं कि देश में प्राकृतिक साधनों का अभाव नहीं है, हमारी प्राकृतिक सम्पत्ति अतुल है किन्तु सबसे बड़ा अभाव तो इन साधनों का समुचित उपयोग न करने का है। देश में न तो अच्छी मात्रा में मशीनें हैं और न हैं कुशल श्रमिक जो कि इन पर काम करें, यही नहीं पूँजी का भी काफी अभाव है। ऐसी स्थिति में उत्पादन में वृद्धि की आशा ही क्या की जा सकती है। अब लीजिये आर्थिक जीवन की अस्थिरता की बात। भारत की अधिकांश जनता का मुख्य उद्यम कृषि है, कृषि वर्षा पर स्थिर रहती है, इसलिये आर्थिक जीवन का भी स्थिर रहना सम्भव नहीं। रही वितरण की असमानता इस सम्बन्ध में १६२४ ई० में प्रो० के० टी० शाह तथा खम्बत्त महोदय ने छान-बीन की थी। उन्होंने पता लगाया कि यहाँ यदि सौ रुपयों का सौ व्यक्तियों में वितरण किया जाय तो मोटे तौर से ३३ रुपए धनिक वर्ग के एक सदस्य को, ३३ रुपए मध्यम वर्ग के ३३ व्यक्तियों को तथा शेष रुपए अन्य वर्गों के ६६ व्यक्तियों के हाथ में जायँगे। १६३१-३२ ई० में डा० वी० के० आर० वी० राव ने जाँच की थी और यह निष्कर्ष निकाला था कि ग्रामीण क्षेत्रों औसत आय ५१) प्रति व्यक्ति है तो नगरों में १६६) है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस समय यह जाँच की गई थी उस समय नगरों में रहने वाली जनसंख्या कुल जनसंख्या की केवल १२% थी। इसके अतिरिक्त जो अन्य जाँचें की गई हैं उनसे भी हमें पता चल जाता है कि भारत में लोगों की आय अन्य देशों की तुलना में नहीं के बराबर है। यहाँ जो आय होती भी है, उसका वितरण भी अच्छा नहीं है। ऐसी स्थिति में वर्त्तमान आर्थिक विकास के लिए एक निश्चित नियोजन (Planning) का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है।

नियोजन का उद्देश्य क्या हो?—हमारे नियोजन का मुख्य उद्देश्य या ध्येय अन्य समृद्ध राष्ट्रों से प्रतियोगिता में न पड़ अपने ही राष्ट्रवासियों के लिए पेट भर अन्न तथा वस्त्र की व्यवस्था करना होना चाहिए। इन नियोजनों का निर्माण इस उद्देश्य से किया जाना चाहिए जिससे कि प्रत्येक भारतवासी को पर्याप्त मात्रा में भोजन मिल सके जिससे कि वह अपना स्वास्थ्य अच्छा रख सके, उसको अपनी आवश्यकता भर के लिये पूरे वस्त्र भी प्राप्त हो सकें। कहने का तात्पर्य यह है कि

उसको वे सब सुविधाएँ मिल जानी चाहिएँ जिससे कि उसके रहन सहन का स्तर अच्छा हो जाय। उसको रहने के लिए निवास-स्थान खाने, के लिए पर्याप्त भोजन, पहनने के लिए यथेष्ट वस्त्रों के अतिरिक्त मनोरंजन की अन्य सुविधाएँ भी प्राप्त हो सकें। उसकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो जावे तथा बेकारी व वृद्धावस्था के लिये उसे अच्छा सहारा प्राप्त हो सके। नियोजन का उद्देश्य इन्हीं बातों की पूर्ति करना होना चाहिये। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी योजना जनता के सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त एक बात और है, वह यह कि कोई भी योजना किसी एक ही व्यक्ति विशेष को सारी की सारी सुविधाएँ नहीं प्रदान कर सकती, कल्याण के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुछ हितों का बलिदान करना होगा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भारत के प्राय: सभी विचारकों, एवं सुधारकों का ध्यान भारतीयों की निर्धनता को दूर करने की ओर आकर्षित हुआ। युद्ध के बाद के वर्षों में प्लान या नियोजनो की बाढ़ सी आ गई। गान्धी योजना, बिड़ला योजना, बम्बई योजना, भारतीय सरकार की योजना, राष्ट्रीय प्लानिंग कमेटी योजना आदि इन्हीं योजनाओं में से हैं। इनमें से सभी योजनाओं या नियोजनों का उद्देश्य भारत की आर्थिक उन्नति करना है। इनमें से एक भी योजना को कार्यान्वित कर पूरा किए जाने के लिए करोड़ों रुपए की आवश्यकता है। जहाँ तक किसी भी नियोजन के निर्माण का प्रश्न है वह उतना कठिन कार्य नहीं है जितना कि उसका कार्यान्वित किया जाना और उसको सफल करना है। अतएव प्रत्येक नियोजन को कार्यान्वित करने के पूर्व हमें यह देख लेना चाहिए कि इसकी सफलता कहाँ तक सम्भव है। इसके अतिरिक्त उस नियोजन (प्लान) में हमें निम्नलिखित बातों के भी देखने का प्रयत्न करना चाहिए :—

(१) क्या इस योजना से लोगों में सहकारिता का विकास होगा; (२) क्या इस योजना में अर्थ प्रबन्धन की पद्धति उचित है; (३) क्या इस योजना द्वारा पर्याप्त प्रमाण में उत्पादन होगा; (४) क्या इस योजना द्वारा देश में सम्पत्ति का उचित वितरण होगा। यदि किसी नियोजन में इन सभी बातों का ध्यान रखा जाय तो इससे उसकी सफलता में बहुत-कुछ सहायता मिल जायगी।

ऊपर हमने योजनाओं की पृष्ठभूमि पर कुछ प्रकाश डाला, यहाँ पर हम कुछ योजनाओं पर अलग-अलग विचार करेंगे।

बम्बई-योजना (The Bombay Plan)—बम्बई-योजना वर्त्तमान भारत की मुख्य योजनाओं में से है। इस योजना के निर्माताओं का कथन है कि इस योजना में भारतीयों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने की ओर ध्यान दिया गया है। जीवन-यापन के लिये जो न्यूनतम आवश्यकताएँ होनी चाहिए उन सब की पूर्ति का ध्यान रखा गया है। नागरिकों के लिए सन्तुलित भोजन, रहने के लिये निवास-स्थान, पहनने के लिये उचित कपड़े नागरिकों के स्वास्थ्य आदि की ओर काफी ध्यान दिया गया है। निर्माताओं के कथन के अनुसार यह योजना १५ वर्ष में पूरी हो जायगी। उद्योग योजना में कृषि, यातायात, सामाजिक सुविधाएँ आदि सभी क्षेत्रों में यथेष्ट उन्नति करने की योजना उपस्थित की गई है। हम यहाँ पर इन पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे।

कृषि—इस योजना के अनुसार कृषि के उत्पादन को दुगना किया जायगा। यह कहा गया है कि जब तक भूमि के विलीनीकरण की, ग्रामीण ऋण की तथा गाँवों में अनार्थिक जोतों की समस्या को हल नहीं किया जायगा तब तक कृषि में यथेष्ट विकास नहीं हो सकेगा। अनार्थिक जोतों को दूर करने के लिए सहकारिता के आधार पर सामूहिक खेती का सुझाव रखा गया है, वृक्षारोपण से भूमि के विलीनीकरण की समस्या को हल करने का सुझाव दिया गया है। खेती की जानेवाली भूमि के क्षेत्रफल में भी वृद्धि करने का सुझाव दिया गया है। प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि करने

के लिए सिंचाई की अच्छी सुविधाओं की व्यवस्था करने का विचार किया गया है। फसलों के हेर-फेर की वैज्ञानिक पद्धति, अच्छी खाद, अच्छे बीज व औजारों के उपयोग का विचार किया गया है।

उद्योग—जहाँ तक उद्योगों का सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में विद्युत, खान, इंजीनियरिंग, रासायनिक पदार्थ यातायात के साधनों आदि के मूल उद्योगों को प्रधान रूप से विकसित करने का बिचार किया है। इन उद्योगों को प्राथमिकता प्रदान की गई है। अन्य उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन के लिए भी उद्योगों के विकास का प्रयत्न किया जायगा। इन उद्योगों में सूती, ऊनी व रेशमी कपड़े का उद्योग, चमड़े के सामान का उद्योग, कागज, तम्बाकू व तेल आदि के उद्योग सम्मिलित हैं। देश में श्रम की अधिकता होने के कारण कुटीर उद्योगों के विकास का विशेष प्रयत्न किया जायगा।

यातायात—उद्योग तथा कृषि के विकास के परिणामस्वरूप दोनों प्रकार के उत्पादन में काफी वृद्धि होगी जिससे वस्तुओं के यातायात में भी काफी वृद्धि होगी। इस बढ़े हुए यातायात के लिये आवागमन के साधनों के विकास की भी योजना बनाई गई है। २१,००० मील और लम्बी रेलवे लाइनें बिछाने का तथा स्थल मार्ग को दुगना करने का विचार किया गया है।

सामाजिक सुविधायें— षि तथा औद्योगिक विकास के साथ ही साथ नागरिकों को शिक्षा, चिकित्सा, निवास आदि की भी और अच्छी सुविधाएँ प्रदान करने का विचार किया गया है। लोगों के लिये सन्तुलित भोजन की व्यवस्था करने का विचार किया गया है। योजना के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को पहनने के लिए वर्ष में कम से कम ३० गज कपड़ा तथा रहने के लिए उचित निवास-स्थान की व्यवस्था की जायगी। ऐसी आशा की जाती है प्रत्येक गांव में अपना एक अस्पताल होगा तथा प्रत्येक नगर में तपेदिक, कैंसर जैसे भयानक रोगों के लिए विशेष प्रकार के चिकित्सालय रहेंगे। प्रत्येक गाँव में एक प्रारम्भिक विद्यालय होगा तथा निकटवर्ती नगरों में माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के लिए भी विद्यालय रहेंगे।

इस योजना में कुल १०,००० करोड़ रुपया लगने का अनुमान किया जा रहा है। इस रकम को विभिन्न स्रोतों से प्राप्त करने का विचार किया गया है। दूसरे शब्दों में. ८०० करोड़ रुपया संचित द्रव्य से, १,००० स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों से, ७०० करोड़ रुपया विदेशी ऋण से, ४००० करोड़ रुपया लोगों की बचत से तथा ३,४०० करोड़ रुपया रिजर्व बैङ्क से ऋण के रूप में लिया जायगा। यह योजना तीन श्रेणियों में विभक्त की गई है, प्रत्येक श्रेणी के पूरे होने में पांच वर्ष लगेंगे।

योजना पर आलोचनात्मक दृष्टि—इस योजना की अर्थशास्त्रियों तथा कुछ अन्य बिद्वानों द्वारा काफी आलोचना भी की गई है। इसके विपक्ष में मुख्य रूप से ये बातें कहीं जाती हैं :—

(१) लोगों का कहना है कि यह एक बड़ी व्यापारिक योजना है और इससे कुछ थोड़े से व्यापारी ही देश के प्राकृतिक साधनों तथा उत्पादन के नियंत्रक बन जायँगे। पूँजीपतियों का बोलबाला हो जायगा परन्तु इस प्रकार की आशंका करने की कोई आवश्यकता नहीं, राज्य का योजना में काफी हाथ रहेगा और अन्य तत्व अनुचित लाभ नहीं उठा सकेंगे।

(२) कुछ लोगों का विचार है कि इस योजना से एक प्रकार की आर्थिक तानाशाही का उदय होगा, परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है, नियोजकों की इच्छा उपभोक्ताओं या उत्पादकों की स्वतंत्रता का अपहरण करना नहीं है।

(३) कुछ लोगों का ऐसा कथन है कि इस योजना में किस प्रकार का कृषि संगठन होगा इस बात पर पूर्णरूप से प्रकाश नहीं डाला गया है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इस नियोजन के निर्माताओं का उद्देश्य भूमिधरों को बिना उनके अधिकारों से वंचित किए हुए ही

सहकारिता के आधार पर खेती करने का है। आयोजकों के सन्मुख सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि किसी प्रकार अनार्थिक जोतों को कम कर कृषि का विकास किया जाय।

(४) इस नियोजन के विषय में एक यह बात भी कही जाती है कि इसमें गान्धी जी के आदर्शवाद की उपेक्षा की गई है और इससे जनता भौतिकवाद की ओर अग्रसित होगी। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बिना भौतिक उन्नति के कोरे आध्यात्मिक आदर्शवाद से काम नहीं चल सकता।

(५) कुछ विचारकों की ऐसी धारणा है कि संग्रहीत द्रव्य (Created money) से इस प्रकार की योजनाओं का अर्थ-प्रबन्ध करना अच्छा नहीं। इससे मुद्रा स्फीति की वृद्धि को बढ़ावा मिलेगा परन्तु ऐसी धारण गलत है, यदि संग्रहीत (Created) द्रव्य से उत्पादन में वृद्धि होगी तो मुद्रा-स्फीति से उठनेवाले दोष भी समाप्त हो जायँगे।

(६) योजना के विपक्ष में एक यह भी छोटी सी बात कही जाती है कि इस योजना की लागत का अनुमान युद्ध-पूर्व के मूल्यों के अनुसार किया गया है परन्तु यह भी कोई बड़ी बात नहीं, इसको युद्ध के बाद के मूल्यों के अनुरूप ही व्यवस्थित किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस योजना के विपक्ष में उठने वाली कोई भी बातें ऐसी नहीं हैं जिससे कि योजना बड़ी दोषपूर्ण मालूम पड़े। आयोजकों ने काफी अच्छी योजना प्रस्तुत की है जो कि विशाल होते हुये भी व्यवहारिक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस योजना में कुछ अभाव और त्रुटियाँ हैं परन्तु योजना के निर्माता इन त्रुटियों से पूरी तरह परिचित हैं और उन्हें दूर करने के लिये प्रयत्नशील हैं। योजना के सफल होने या कार्यान्वित किये जाने में सबसे अधिक रोड़ा अटकाने वाली थी हमारी परतंत्रता, अब वह दूर हो गई है और स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सरकार देश के सम्यक आर्थिक विकास के लिये प्रयत्नशील है अतएव सरकार तथा जनता के पारस्परिक सहयोग से इस प्रकार की योजनाओं के सफल न होने का कोई कारण नहीं।

नियोजन के दूसरे भाग में वितरण की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इससे पता चलता है कि योजना के पूर्ण हो जाने पर इससे मिलने वाले लाभ का अधिकांश राज्य के हाथ में जायगा। राज्य इस रकम से सामाजिक कल्याण के अन्य कार्य जैसे शिक्षा, चिकित्सा आदि कार्यों को करेगी। जितने भी उद्योग स्थापित किये जायेंगे उनका उद्देश्य अधिक लाभ कमाना न होकर राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना होगा। इस सम्बन्ध में लोगों में मतभेद हो सकता है किन्तु वर्त्तमान आवश्यकताओं को देखते हुये ऐसा कोई भी कार्य जिससे उत्पादन में वृद्धि हो बुरा नहीं कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह भी कह देना अनुचित न होगा कि यह योजना भारत से अंग्रेजों के निकलने के पूर्व ही तैयार हो गई थी। अतएव ब्रिटिश समाचार-पत्रों ने इस योजना को दोषपूर्ण ठहराने का काफी प्रयत्न किया, था इसकी कटु आलोचना की थी। उनकी इस आलोचना का उद्देश्य और कुछ न होकर केवल यही था कि इस प्रकार की योजना सफल न हो क्योंकि यदि ऐसा हो गया तो ब्रिटेन के हाथ से भारतीय बाजार निकल जायगा। वैसे तो अंग्रेज पदाधिकारी बराबर यह कहते जा रहे थे कि ब्रिटेन भारत की पूर्ण औद्योगिक उन्नति देखना चाहता है परन्तु वास्तव में ऐसी बात न थी। यदि अंग्रेज शासक यह चाहते कि भारत का औद्योगिक उत्थान हो तो आज भारत की यह स्थिति न होती।

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि यह योजना राज्य के आर्थिक विकास की दृष्टि से काफी पूर्ण है। इस योजना के पूरी हो जाने पर देश की जनसंख्या के एक बड़े भाग को काम मिल जायगा, बेकारी के दूर होने में सहायता मिलेगी। वास्तव में रहन-सहन के न्यूनतम स्तर की प्राप्ति के लिये बेकारी को दूर करने का पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिये। औद्योगिक विकास से इस

दिशा में अच्छी सहायता मिलेगी। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग व्यापार तथा अन्य नौकरियों में लग जायगा। इस योजना के अनुसार ऐसा अनुमान किया जाता है कि १९६२ में जब कि योजना पूर्ण हो जायगी उस समय जनसंख्या का वितरण इस प्रकार होगा :—

	१९३१		१९६१	
	(दस लाख में)	प्रतिशत	(दस लाख में)	प्रतिशत
कृषि	१०६·३	७२%	१२९·७	५८%
उद्योग	२२·१	१५%	५७·६	२६%
नौकरियाँ	१९·२	१३%	३४·७	१६%
कुल कार्यशील जनता	१४७·६	१००%	२२२·३	१००%
कुल जनता	३३८·१		४६४·०	

सामाजिक व्यवस्था में कुछ दोष अपूर्णताएँ होने के कारण जनसंख्या का एक अल्पांश अवश्य बिना लाभ का रहेगा। उत्पादन की मांग तथा पूर्ति के अनुसार कभी-कभी कुछ बेकारी आदि भी फैलेगी। योजना का उद्देश्य यह है कि वह जनता को अधिक से अधिक सुविधा पहुँचाये। जनता को शिक्षा, चिकित्सा यातायात आदि की निःशुल्क सुविधाएँ प्राप्त हो जाने के कारण उसके रहन-सहन की लागत में कम व्यय हो जायगा। योजना के अनुसार ऐसा विचार किया जाता है कि योजना के पूर्ण होने पर प्रतिव्यक्ति आय में इस प्रकार वृद्धि होगी :—

प्रति उद्योगी व्यक्ति की औसत आय

	१९३१	१९६१	वृद्धि
कृषि	११४	२००	८३%
उद्योग	१६१	३६८	१२९%
नौकरियाँ	२६४	३९७	५०%

आवश्यकता इस बात की है कि योजना जनता की मनोवृत्ति आदि का ध्यान रखते हुये कार्यान्वित की जाय। सम्पत्ति के असमान वितरण को दूर करने, बेकारी हटाने, नागरिकों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने, देशवासियों के अन्न-वस्त्र तथा निवास की उचित व्यवस्था करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये।

जन-योजना—(पीपुल्स प्लान)—कोई भी योजना का ही यह तात्पर्य नहीं हो जाता कि उससे आर्थिक विकास पूर्ण रूप से हो ही जायगा, इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी बातें होती हैं जिन पर जनता का आर्थिक उत्थान एवं पतन निर्भर रहता है। पीपुल्स प्लान जिसे राय-योजना (Royist Plan) भी कहते हैं, भारतीय श्रम-सङ्घ के विचारों की समर्थक है। बम्बई योजना की अपेक्षा यह योजना अधिक सुव्यवस्थित है। इसमें उत्पादन तथा उसके वितरण आदि के नियंत्रण की पूरी व्यवस्था की गई है, संक्षेप में इस योजना में उन सभी बातों का समावेश कर दिया गया है जिनका होना किसी योजना में आवश्यक है। इस योजना के पूरे होने में दस वर्ष लगेंगे और इसके पूरे होने में कुल १५,००० करोड़ रुपये के व्यय होने का अनुमान किया जाता है। इस रकम का नीचे दिये हुये हिसाब से व्यय किया जायगा :—

	करोड़ रुपयों में
कृषि	२,९५०
उद्योग	५,६००
यातायात	१,५००

स्वास्थ्य	७६०
शिक्षा	१,०४०
निवास	३,१५०
योग	१५,०००

योजना के कार्यान्वित किये जाने पर प्रथम तीन वर्षों में १६,०० करोड़ रुपए के व्यय किए जाने का अनुमान है । ऐसा विचार किया जाता है कि इस प्रारम्भिक विनियोग से योजना का अर्थ-प्रबन्धन स्वयमेव हो जायगा राज्य ऐसे मदों में व्यय करेगा जिससे कि उसे तुरन्त लाभ मिले । इस प्रकार प्रथम पाँच वर्षों में कृषि में ६६% व्यय किया जयगा । जब कि उद्योग में केवल २०% ही व्यय होगा, यातायात के साधनों आदि के विकास के लिए प्रथम तीन वर्षों में कोई व्यय नहीं किया जायगा । प्रथम पाँच वर्ष मुख्यरूप से कृषि के विकास के लिये ही निश्चित किये गये हैं, दूसरे पाँच वर्षों में औद्योगिक विकास की ओर मुख्य रूप से ध्यान दिया जायगा । कृषि से होने वाली आय की बचत का व्यय उद्योगों तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, निवास जैसे सार्वजनिक कल्याण के कार्यों में किया जायगा । इससे यह स्पष्ट है कि योजना का मुख्य अंग कृषि का विकास करना है । कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिये भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा । भूमि के उपादेयकरण तथा सिंचाई के साधनों के सम्यक विकास से कृषि वाली भूमि में ५०% का वृद्धि का विचार किया जाता है । उत्पादन की पद्धति का यंत्रीकरण होगा तथा राज्य की ओर से २५,००० फार्म तथा कृषि अनुसन्धान संस्थाएँ स्थापित की जायँगी । इससे लोगों को खाने भर को पर्याप्त मात्रा में अन्न तो प्राप्त ही हो जायगा, उद्योग-धन्धों के लिए भी कच्चा माल मिल जायगा साथ ही विदेशों के निर्यात के लिए भी कुछ माल बच जायगा ।

योजना पर आलोचनात्मक दृष्टि—लोगों का कहना है कि कृषि उत्पादन में इस तरह की पंचगुनी वृद्धि किए जाने से देश में इतना अधिक अन्न पैदा होजायगा जिसकी आसानी से देश में खपत नहीं हो सकेगी, विदेशों में भी उसकी उचित राशि में ठीक मूल्य पर बिक्री नहीं हो सकेगी क्योंकि भारत ही कृषिवाला एक अकेला देश नहीं रहेगा, सयुक्तराज्य अमरीका, रूस आदि देश भी इस समय में चुप नहीं बैठे रहेंगे । इसका परिणाम यह होगा कि इस अति-उत्पादन से दूसरी भीषण मन्दी का उदय हो जाय और समस्त विश्व एक बार फिर आर्थिक संकट में पड़ जायगा । वास्तव में योजना का उद्देश्य रूस की भाँति भारत में भी भूमि का सामाजीकरण करना है । परन्तु भारत जैसे देश में इस प्रकार का आसानी से क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । प्रोफेसर बृजनारायण ने अपनी 'पोस्ट वार प्लानिंग, में इस योजना की खूब आलोचना की है ।

योजना में कृषि तथा उद्योग के विकास पर तो विचार किया ही गया है साथ ही वितरण की पद्धति पर भी पूर्ण रूप से नियंत्रण लगाने की व्यवस्था की गई है । उपभोग की सभी वस्तुओं का मूल्य निश्चित कर दिया जायगा और सहकारी समितियों द्वारा वितरण की व्यवस्था की जायगी । उपभोक्ता भण्डारों आदि पर राज्य का पूरा नियंत्रण रहेगा । योजना में यातायात के साधनों के पूर्ण विकास के लिये अच्छी व्यवस्था की गई है । स्थल मार्ग में १५०% की तथा रेल मार्ग में ५०% की वृद्धि करने का सुझाव दिया गया है । जलयान आदि के विकास के लिये भी सुझाव दिया गया है । इसके अतिरिक्त राज्य सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, निवास आदि के अर्थ-प्रबन्धन में पूरा सहयोग देगी ।

इस 'पीपुल्स प्लान' में उपभोग की वस्तुओं वाले उद्योंगों पर काफी जोर दिया गया है । ऐसे उद्योंगों पर ३,००० करोड़ रुपए का व्यय किया जायगा । योजना में कुटीर उद्योंगों की उपेक्षा की गई है, और मूल उद्योगों के महत्व को भी पूर्णरूप से नहीं आंका गया है ।

योजना में यह भी कहा गया कि युद्ध के बाद विश्व में युद्ध की समस्या कोई विशेष महत्वपूर्ण नहीं रहेगी, इसलिये सुरक्षा के लिए प्राकृतिक साधनों का उपयोग करना व्यर्थ होगा, परन्तु उसकी यह बात सत्य नहीं सिद्ध हुई। 'पीपुल्स योजना' के आदर्श का प्रतीक रूस भी आज इस को न स्वीकार कर तृतीय विश्वयुद्ध की तैयारी में लगा हुआ है। फिर योजना में एक बात यह भी कही गई है कि दस वर्षों बाद कृषि के उत्पादन में चौगुनी, या इस से अधिक, औद्योगिक उत्पादन में छै गुनी वृद्धि हो जयगी। जनता के रहन-सहन के स्तर तिगुना हो जायगा, इसके अतिरिक्त सार्वजनिक स्वास्थ्य चिकित्सा, शिक्षा, निवास आदि की सुविधाएँ भी जनता को पर्याप्त रूप में प्राप्त हो जायँगी। किन्तु देश की स्थिति को देखते हुए इतने समय में इस प्रकार की विलक्षण उन्नति होने की आशा नहीं की जा सकती। अतएव योजना का इस रूप में भविष्यवाणी करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। 'पीपुल्स योजना' में कृषि व औद्योगिक उत्पादन में तो विलक्षण वृद्धि करने का उपाय बतला दिया गया है किन्तु बेकारी तथा सामाजिक सुरक्षा आदि के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है।

इस प्रकार देखने से हमें पता चलता है कि 'पीपुल्स योजना' में भी कुछ ऐसी अपूर्णताएँ या त्रुटियाँ हैं जिनकी ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक था।

गान्धी योजना (The Gandhian Plan)— अन्य योजनाओं की तरह गान्धी योजना में लम्बे-चौड़े खर्चे की बात नहीं कही गई है। इसमें यह स्पष्ट कह दिया गया है कि भारत एक निर्धन देश है और इसे बहुत धीरे-धीरे सोच-समझ कर कदम उठाना चाहिये। यह योजना भी दस वर्षों में पूरी होगी तथा इसके पूरा होने में अनुमानतः कुल ३,५०० करोड़ रुपया व्यय होगा जिसमें से ११७५ करोड़ रुपया कृषि में, ३५० करोड़ ग्रामोद्योगों में, ४०० करोड़ यातायात में तथा शेष ५७५ करोड़ सामाजिक सेवाओं में व्यय किया जायगा।

गान्धी-योजना एक आदर्शवादी योजना है और इसमें कोरे आर्थिक विचारों को स्थान नहीं दिया गया है इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि हमारा नियोजन भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर आधारित होना चाहिये। उसका उद्देश्य जनतांत्रिक ही होना चाहिये। योजना में ग्रामों के सर्वांगीण विकास पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला गया है। यदि हम अन्य देशों की योजना की तुलना करें तो हमें पता चल जायगा कि इस योजना के उद्देश्य और कार्य-पद्धति में काफी अन्तर है। रूस और ग्रेट ब्रिटेन की योजनाओं को इतना अच्छा नहीं कहा जा सकता। गान्धी जी विशाल पैमाने के उद्योगों में विश्वास नहीं करते थे, उनका कहना था कि विशाल पैमाने के उद्योग में सब कार्य मशीनों पर ही आधारित रहते है, मशीनों से मानवीय श्रम का पूरा उपयोग नहीं हो पाता और कुछ थोड़े से ही हाथों में सम्पत्ति रहती है।

गान्धी-योजना के अनुसार प्रत्येक ग्राम या ग्राम-समूह इस प्रकार का उत्पादन करेगा जिससे कि वह अपनी आवश्यकताओं के लिए पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर हो जायगा। योजना में कुटीर उद्योगों को विशेष महत्व दिया गया है, यंत्रों के बल पर विशाल पैमाने के उद्योगों को बड़ा दोषी ठहराया गया है। गान्धी योजना का उद्देश्य समाज का सर्वांगीण विकास करना है प्रत्येक व्यक्ति को रहने के लिये उचित स्थान, खाने के लिए सन्तुलित भोजन, पहनने के लिये प्रति-वर्ष कम से कम बीस गज़ कपड़ा, बालक तथा बालिकाओं के लिए निःशुल्क शिक्षा, सार्वजनिक चिकित्सा तथा मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने की उचित व्यवस्था करना ही इस योजना का उद्देश्य है। यही नहीं गान्धी-योजना का विचार है कि वर्त्तमान कर-व्यवस्था में उचित सुधार करके निर्धन जनता पर से कर का भार हल्का किया जाय, कृषि से होनेवाली ऊँची आय पर कृषि-आयकर लगा दिया जाय तथा

निम्नतर आय वाले लोगों को इससे मुक्त किया जाय। सैनिक व्यय में कमी की जाय तथा किसी भी सरकारी अधिकारी को पाँच सौ रुपए मासिक से अधिक वेतन न दिया जाय।

इस प्रकार गान्धी योजना मानव-शक्ति का पूर्ण उपयोग करना चाहती है। इसका उद्देश्य लोगों में नागरिक भावना जाग्रत करना तथा ईमानदारी से अपनी रोजी कमाने के लिए सहायता देना है, लोगों को रहन-सहन के निम्न-स्तर से ही संतोष रखना होगा क्योंकि रहन-सहन के स्तर में विशेष वृद्धि करने के लिए भारी यंत्रजालों और विशेष पूँजी की आवश्यकता होगी। डा० जानमथाई के शब्दों में 'गान्धी योजना उद्योगपतियों की योजना (Industrialists Plan) से बिल्कुल विपरीत है। गान्धी-योजना देश का आर्थिक पुनर्निर्माण का आधार कृषि को बनाती है जबकि बम्बई योजना के नियोजकों का विचार है कि देश के आर्थिक पुनर्निमाण की आधार-भित्ति उद्योग होने चाहिए।'

गान्धी-योजना सन्तति निग्रह आदि के आधुनिक कृत्रिम उपायों को ठीक नहीं समझती, उसका विचार है कि इसके लिए सबसे अच्छा उपाय संयम का अनुसरण करना है। गांधी योजना के अनुसार प्रत्येक ग्राम या ग्राम-समूह अपनी आवश्यकताओं के लिए आत्म-निर्भर हो जायगा। अभी तक इन ग्रामों की उपेक्षा ही की गई है। योजना में उनके महत्व का पूरा ध्यान रखा गया है। इस दृष्टि से देखने से गान्धी योजना एक आदर्श योजना मालूम पड़ती है। यह योजना अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण तथा राज्य द्वारा-न्यूनतम नियंत्रण पर जोर देती है परन्तु लोगों का विचार है कि इस प्रकार की व्यवस्था अच्छी नहीं होगी। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इस योजना द्वारा भारत अन्य समृद्ध देशों के समान उन्नति नहीं कर सकेगा, चर्खा आदि के सहारे विशेष उन्नति नहीं की जा सकती।

इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए निम्नलिखित स्रोतों से पूँजी प्राप्त करने का विचार किया गया है :—

आन्तरिक ऋण से	—	२,००० करोड़ रुपए
उत्पादित द्रव्य से	—	१,००० करोड़ रुपए
करों से	—	५०० करोड़ रुपए

राष्ट्रीय नियोजन समिति के प्रस्ताव—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने १६३८ ई० में राष्ट्रीय नियोजन समिति की नियुक्ति की थी। इसका उद्देश्य ऐसी योजनाएँ निर्मित करना था जिससे कि जनता के रहन-सहन का स्तर उच्च हो तथा उनकी निर्धनता दूर हो। संक्षेप में इसका उद्देश्य उत्पादक तथा उपभोक्ता, व्यक्ति तथा समूह के हितों का उचित ध्यान रखते हुए राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा समाज में सम्पत्ति का उचित वितरण करना था।

नियोजकों ने योजना का निर्माण करते समय विभिन्न दृष्टिकोणों को समझकर अपने विचार निश्चित किए, और एक योजना तैयार की जो कि स्वतन्त्र भारत के लिए काफी उपादेय समझी जाती है। योजना में उद्योग-धन्धों के प्रति जो नीति निश्चित की गई उसके अनुसार सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों को राज्य के हाथ में छोड़ देने तथा अन्य मूल-उद्योगों के भी धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण करने की ओर जोर दिया गया। नदियाँ, जंगल, खानें आदि पर सामूहिक रूप से जनता का अधिकार निश्चित किया गया। भूमि सम्बन्धी नीति भी निश्चित कर दी गई। जमींदारी का अन्त कर सहकारिता के आधार पर खेती करके अनार्थिक जोतों को समाप्त करने पर जोर दिया गया। रिज़र्व बैङ्क का राष्ट्रीयकरण कर अन्य प्रामाणिक बैङ्कों को उसके नियंत्रण में रखने का सुझाव दिया गया। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से भारत के विदेशी व्यापार को विकसित करने के उपाय निश्चित किए गए।

इस राष्ट्रीय नियोजन समिति ने विभिन्न समस्याओं का भलीभाँति अध्ययन कर अपने विचार निश्चित करने के लिए २६ उपसमितियाँ नियुक्त कीं। भारत सरकार द्वारा प्रान्तीय सरकारों तथा देशी रियासतों से सहकारिता की मांग की गई। देश के आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू का भलीभाँति अध्ययन किया गया। परन्तु प्रान्तीय सरकारों तथा अन्य संस्थाओं से पूर्ण सहयोग न प्राप्त हुआ और प्रत्येक उपसमिति को आंकड़ों सम्बन्धी अभाव खटकता ही रहा। परन्तु यह सब होते हुए भी उपसमितियों ने अपने प्रतिवेदन प्रकाशित कर दिए। राष्ट्रीय नियोजन समिति ने जो योजना प्रस्तुत की है, उसके अनुसार सम्पत्ति के उचित वितरण में अच्छी सहायता मिलेगी। प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधाएँ प्रदान की जायँगी तथा जो व्यक्ति या व्यक्तिसमूह पिछड़े हुए हैं उन्हें विशेष सुविधाएँ दी जायँगी। इसके अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त नहीं किया जायगा किन्तु मूल उद्योगों पर सार्वजनिक अधिकार होगा, सहकारिता के आधार पर खेती की जायगी, ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित किया जायगा। इस प्रकार ग्रामीण तथा नगरों की जनता का उचित आर्थिक विकास सम्भव हो सकेगा।

भारत सरकार की योजनाएँ—भारत सरकार ने भी समय-समय पर देश के आर्थिक विकास के लिए योजनाएँ निर्मित कीं। १९४४ की अगस्त में जब 'प्लानिंग तथा डेवलपमेन्ट' विभाग सर दलाल के हाथ में आगया तो इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए गए। १९४४ के नवम्बर में 'येलो बुक' के नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की गई, बाद में योजना का विस्तृत रूप प्रकाशित किया गया। योजना को दो भागों में विभाजित किया गया एक दीर्घकालीन योजना तथा दूसरी अल्पकालीन योजना।

अल्पकालीन योजना जो कि १९४७-४८ से प्रारम्भ होकर पाँच वर्ष में होगी उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) युद्ध सम्बन्धी उद्योग से छूटे हुए व्यक्तियों आदि को काम देना तथा सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओं का पुर्नसंस्थापन;

(२) अतिरिक्त फौजी सामग्री, इमारतें आदि की निकासी;

(३) उद्योग को युद्ध से हटाकर शान्ति की ओर मोड़ना;

(४) शान्ति सम्बन्धी स्थिति के अनुसार नियंत्रणों को व्यवस्थित करना।

दीर्घकालीन योजनाओं में से कुछ ऐसी योजनाएँ थीं जिनमें विशाल पैमाने पर पूँजी लगने की आवश्यकता थी, इनमें से मुख्य ये हैं :—

(१) देश के कृषि व औद्योगिक विकास में सहायता पहुँचाने के लिए जल-विद्युत योजनाएँ;

(२) कुछ प्रमुख विशाल तथा कुटीर उद्योगों का विकास करना;

(३) यातायात व आवागमन के साधनों का उचित विकास करना;

(४) भूमि के उपादेयकरण, सिंचाई आदि के द्वारा कृषि की उन्नति करना।

कृषि तथा उद्योग के उचित विकास के लिए सार्वजनिक निवास, स्वास्थ्य तथा शिक्षा आदि की भी योजनाओं को कार्यान्वित करने का विचार किया गया। सरकार ने शिल्प-शिक्षण की ओर विशेष ध्यान दिया, औद्योगिक विद्यालयों की स्थापना करने के अतिरिक्त उसने अनुसन्धानशालाएँ भी स्थापित कीं। केन्द्रीय सरकार ने अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का तो निश्चय किया ही, साथ ही राज्य की सरकारों को भी आवश्यक सलाह व अन्य सहायता देने का विचार किया। वैसे तो यह नियोजन समस्त भारत के लिए निर्मित हुआ था किन्तु इसमें राज्यों को अपनी-अपनी योजनाओं के कार्यान्वित करने में कोई बाधा नहीं खड़ी की गई। जहाँ तक वितरण का प्रश्न था, इस सम्बन्ध

में यह निश्चय कर दिया गया कि उत्पादित सम्पत्ति के समान वितरण के लिए पूर्ण प्रयत्न किए जायँगे। नियोजन के प्रतिवेदन में यह स्पष्ट कर दिया गया कि श्रमिकों के हित का उचित ध्यान रखा जायगा, उनके स्वास्थ्य मनोरंजन व आराम का पूरा ध्यान रखा जायगा। निर्धनों के लिए भी शिक्षा, चिकित्सा आदि की अच्छी सुविधाएँ मुफ्त प्रदान की जायँगी।

दलित या पिछड़ी हुई जातियों के भी विकास का पूर्ण प्रयत्न किया जायगा। दुर्भाग्यवश देश के विभाजन हो जाने तथा अन्य कारणों से कई नई कठिनाइयाँ खड़ी हो गईं जिससे इस योजना को पूरी तरह से कार्यान्वित करना सम्भव न हो सका। ऐसी स्थिति में देश की इन परिस्थितियों के अनुसार एक नवीन योजना निर्माण करना आवश्यक हो गया, अतएव देश के उचित आर्थिक विकास के लिए पंडित जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में 'प्लानिंग कमीशन' की नियुक्ति की गई।

प्लानिंग कमीशन—हम पीछे कह चुके हैं कि महात्मा गांधी प्रत्येक ग्राम या यूँ कह कह लीजिये कि प्रत्येक घर को अपनी आवश्यकताओं के लिए आत्म-निर्भर बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति में सेवा की भावना जाग्रत हो और कोई एक दूसरे का शोषण न करे। यदि लोगों में ऐसी भावनाओं का उदय हो जाय तो कन्ट्रोल की कोई आवश्यकता न रहेगी और न अन्य किसी प्रकार के नियंत्रण की, कन्ट्रोल के हटा देने से वस्तुओं का पर्याप्त मात्रा में मिलना सुगम हो जायगा, कन्ट्रोल के हटाने के बाद भी यदि वस्तुओं की कमी होती है तो इसके लिए जनता जिम्मेदार होगी। यदि जनता चाहती है कि वस्तुओं के उचित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में मिलने के लिए सरकार अपनी सहायता दे तो इस कार्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्य किए जाने चाहिए :—

(१) उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक साधनों का उचित वितरण किया जाय, (२) खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त की जाय, (३) उद्योग के लिए आवश्यक नवीन सामग्री प्राप्त की जाय, (४) सामान्य मूल्य स्तर में धीरे-धीरे कमी की जाय, (५) उत्पादन की लागत में कमी की जाय, (६) बेकारी को दूर कर लाभदायक कार्यों में जनता को लगाया जाय।

द्वितीय विश्व युद्ध तथा उसके बाद आने वाले देश के विभाजन का भारत की आर्थिक स्थिति पर गहरा असर पड़ा। देश की आर्थिक व्यवस्था का ढांचा बिल्कुल अस्त-व्यस्त हो गया। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट हो गया कि किसी ऐसी-वैसी योजना से कोई काम नहीं चलेगा, अतएव १९४९ की दिसम्बर में पंडित नेहरू की अध्यक्षता में 'प्लानिंग कमीशन' की नियुक्ति की गई।

कमीशन को मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों पर विचार करना था :—

(१) देश के आर्थिक साधनों का पता लगाना तथा राष्ट्र की आवश्यकता के लिये जिन वस्तुओं का अभाव हो उनकी पूर्ति के लिये प्रकाश डालना;

(२) देश के साधनों के उचित व सन्तुलित उपयोग के लिये योजना बनाना;

(३) योजना को कार्यान्वित करने के लिये उचित व्यवस्था करना ;

(४) जो चीजें आर्थिक विकास में रोड़ा अटकाती हैं उन्हें दूर करने तथा आर्थिक विकास में सहायता पहुँचाने वाली वस्तुओं के प्रयोग का सुझाव दें;

(५) योजना के प्रत्येक भाग में लगने वाले यंत्रों का निश्चय करना;

(६) योजना के कार्यान्वित किये जाने में कितनी सफलता प्राप्त हुई है, इस सम्बन्ध में समय-समय पर अपने विचार उपस्थित करना;

(७) अपने कार्यों को सुविधापूर्वक सञ्चालित करने के लिये अथवा देश में फैली हुई आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार नीति निर्धारित करने के लिये, तथा कुछ अन्य मुख्य समस्याओं पर केन्द्रीय व राज्य की सरकारों को अपने सुझाव देना।

कमीशन की सबसे पहली बैठक २८ मार्च १६५० को हुई। इसने अपने कार्य को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया :—

(१) आर्थिक साधन
(२) अर्थ
(३) खाद्यान्न तथा कृषि
(४) उद्योग, व्यवसाय तथा यातायात
(५) प्राकृतिक साधनों का विकास
(६) रोजगार तथा अन्य सामाजिक सेवाओं को करना

कमीशन बड़ी सावधानी और लगन से कार्य कर रहा है, उसने प्रान्तीय तथा केन्द्रीय विकास योजनाओं का खूब अच्छी तरह निरीक्षण किया है परन्तु कुछ प्रतिबन्धनों के होने के कारण वह जितना करना चाहती है उतना नहीं कर पा रही है। ये प्रतिबन्धन या परिसीमन मुख्य ये हैं :—(१) सीमित पूँजी, (२) कपास तथा जूट जैसे कच्चे माल का अभाव, (३) यन्त्रजात तथा अन्य कल पुर्जों की कमी, (४) कुशल कर्मचारियों का अभाव, (५) खाद्यान्न का अभाव तथा उसकी पूर्त्ति के लिये विदेशों पर निर्भर रहना, (६) यातायात के अपूर्ण साधन। केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों को यह निर्देश दे दिया है कि अपनी पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण करते समय इन अभावों का पूरा ध्यान रखें। इसके अतिरिक्त कमीशन ने निम्नलिखित निर्देश और जारी किये हैं:—

(१) वर्तमान मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी स्थितियों को रोकने के लिये बजट को सन्तुलित करे;

(२) जो योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं उन्हीं के लिये प्राकृतिक साधनों का उपयोग किया जाय;

(३) केवल ऐसी ही योजनाओं को हाथ में लिया जाय जो कि ठीक समय में पूरी की जा सकें,

(४) जिन योजनाओं को कार्यान्वित किये जाने के लिये चुना जाय ऐसी होनी चाहिये जिनसे होनेवाला लाभ उनमें लगनेवाली पूँजी के हिसाब से काफी हो।

भारत में सबसे पहले इस प्रकार की योजना का निर्माण कर देश के आर्थिक विकास के लिये प्रयत्न किया जा रहा है। कमीशन ने अपनी योजना में कृषि तथा कुटीर उद्योगों के विकास की ओर काफी ध्यान दिया है। सिंचाई तथा शक्ति के साधनों के विकास के लिये दीर्घकालीन योजनाएँ भी निर्मित की गई हैं। इन सब कार्यों का सारा दारोमदार प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों पर ही नहीं है वरन् स्थानीय संस्थाओं तथा जनता को भी अपना पूरा सहयोग प्रदान करना चाहिये।

हम पीछे कह चुके हैं कि किसी भी योजना को सफलता पूर्वक कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त राशि में पूँजी की आवश्यकता होती है, बिना पर्याप्त पूँजी के उनका सफल होना सुगम नहीं होता। देश में कार्यान्वित की जाने वाली इन नवीन योजनाओं के लिए पूँजी किन-किन स्रोतों से प्राप्त की जाय, इस सम्बन्ध में कई विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रगट किए हैं।

प्रो० अदारकर के अनुसार निम्नलिखित स्रोतों से इस पूंजी को प्राप्त करना चाहिए :—

(१) राज्यों में जमींदारी के उन्मूलन से जो रकम प्राप्त हो उससे एक 'राष्ट्रीय नियोजन निधि' (National Planing Fund) की स्थापना की जाय, जमींदारों को ३½% के हिसाब से दीर्घकालीन बान्ड दे दिए जांय। अदारकर के अनुसार इस प्रकार की व्यवस्था से ग्रामीण क्षेत्रों में बचत भी होगी तथा भविष्य में मुद्रा-स्फीति को रोकने में सहायता मिलेगी,

(२) सार्टीफिकेट देकर लोगों से स्वर्ण प्राप्त किया जाय,

(३) यू० के० से पौण्ड-पावने के सम्बन्ध में नया समझौता किया जाय तथा विकास-योजनाओं के लिए ५००० लाख पौण्ड प्राप्त किये जांय,

(४) कुछ अधिक सूद की दर देकर आन्तरिक ऋण भी प्राप्त किया जाय;

(५) डा० पनन्दिकर का कथन है कि देश में इन योजनाओं के लिए उचित परिमाण में पूँजी न प्राप्त होने पर अच्छा यह है कि विदेशी पूँजी को प्रोत्साहित किया जाय। उनका कथन है कि इस बात की ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता नहीं कि वह विदेशी पूंजी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से मिल रही है या किसी अन्य संस्था से अथवा किसी व्यक्ति विशेष से। चाहे कहीं से भी हो विशाल राशि में पूंजी प्राप्त की जाय। भारत के स्वतन्त्र हो जाने से अब इस बात का विशेष भय नहीं रह गया है कि विदेशों से ऋण ले लेने के कारण भारत को किसी प्रकार की राजनैतिक दासता का सामना करना पड़ा है। पञ्चवर्षीय योजनाओं को अच्छी कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार काफी पूंजी का प्रबन्ध कर रही है। अभी थोड़े दिनों पूर्व उसने संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार से काफी परिमाण में डालर-ऋण लिया है।

प्लानिंग कमीशन का कार्य—हम यहाँ प्लानिंग कमीशन ने जो कार्य किया है उस पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

कृषि कार्य—प्राकृतिक संकटों के उपस्थित हो जाने के बावजूद भी खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए १९५२ की मार्च को लक्ष्य (टार्जट) निश्चित किया गया है। तब तक खाद्यान्न के उत्पादन में ४४ लाख टन की वृद्धि होने की आशा है जिसमें से ३६ लाख टन तो गहरी जोत से, ३ लाख भूमि के उपादेयकरण से, २.६ लाख टन सिंचाई से तथा २.३ लाख टन गन्ने वाली भूमि को खाद्योत्पादन वाली भूमि में परिवर्तित कर देने से, प्राप्त किया जायगा। भूमि के उपादेयकरण तथा अन्य कार्यों के लिए ट्रैक्टर आदि खरीदने के वास्ते भारत सरकार ने १०० लाख डालर का ऋण लिया है। इन कार्यों से कुछ लाभ पहुँचा है इससे १९५० में यह आशा की गई थी कि खाद्यान्न के आयात में १५ लाख टन की कमी की जायगी किन्तु बाढ़ इत्यादि के आ जाने और फसलों के नष्ट हो जाने के कारण ऐसा नहीं किया जा सका। इधर बिहार तथा मदरास में भी फसलों के नष्ट हो जाने के कारण खाद्यान्न की कमी और बढ़ गई फिर भी आत्म-निर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त किए जाने का प्रयत्न किया जा रहा है। खाद्यान्न ही नहीं १९५२ की मार्च से अन्त तक कपास की ४० लाख तथा ६२ लाख गाँठें उत्पन्न किए जाने का प्रयत्न किया जा रहा है किन्तु इसकी पूरी होने की आशा कम है। इस अतिरिक्त उत्पादन से भारत का कुछ रुपया विदेश को जाने से बच जायगा।

सिंचाई आदि— प्लानिंग कमीशन ने सिंचाई के केन्द्रीय बोर्ड के सन्मुख भारत में सिंचाई तथा विद्युत के विकास की एक १५ वर्षीय योजना उपस्थित की है। इस योजना में १९०० करोड़ रुपया लगने का अनुमान किया जाता है। इस योजना तथा कुछ अन्य योजनाएँ जो कि कार्यान्वित की जा रही हैं उनके पूरी हो जाने पर ४२० लाख एकड़ भूमि सिंचाई के लिए पानी मिल सकेगा इससे १४० लाख टन और अधिक खाद्यान्न उत्पन्न हो सकेगा। उन योजनाओं को प्राथमिकता प्रदान की जायगी जिनसे कि शीघ्र ही लाभ मिल सकेगा। ऐसी योजनाओं के लिए १०० करोड़ रुपया से भी अधिक रुपया अलग रख दिया जायगा। वर्त्तमान समय में १३५ योजनाएँ हैं जिन सबमें ५६० करोड़ रुपया लगेगा। इन योजनाओं में से १२ बड़ी योजनाएँ हैं, भाकरा, हीरा कुन्ड, तथा दामोदर घाटी योजना सबसे बड़ी योजनाओं में से हैं इसके अतिरिक्त २४ मध्यम श्रेणी की तथा ९९ छोटी श्रेणी की योजनाएँ हैं। इन सब योजनाओं से १२९ लाख एकड़ नई भूमि में सिंचाई हो सकेगी। प्लानिंग कमीशन ने ऐसा सुझाव दिया है कि प्रत्येक राज्य में एक सिचाई विकास समिति (Irrigation Development ways and Means Board) स्थापित की जाय।

कमीशन का ऐसा विचार है कि आबपाशी की दर में कुछ और वृद्धि करके, अधिक परिमाण में मिलने वाले पानी के कारण होने वाले खेती के लाभ के आधार पर मालगुजारी की दर में वृद्धि करके, राज्य की सरकारें अपनी-अपनी आय में वृद्धि कर सकती हैं। कमीशन का विचार है कि प्रत्येक राज्य की सरकार को एक पन्द्रहवर्षीय योजना तैयार करना चाहिए।

उद्योग—कमीशन ने कुटीर उद्योगों के विकास की ओर अच्छा ध्यान दिया है। सूती कपड़े, चमड़े, तेल पेरना, अच्छी किस्म का कागज बनाना, चावल कूटना, साबुन आदि का निर्माण करना, तथा बर्त्तन बनाना आदि कुटीर उद्योगों की ओर कमीशन ने विशेष रूप से ध्यान दिया है। इन कुटीर उद्योगों के विकास के लिए सभी प्रकार की आवश्यक सहायता देने का विचार किया है और इस दिशा में कुछ कार्य भी किया जा चुका है। कमीशन ने इन उद्योगों को देश-विदेश के उद्योगों की प्रतियोगिता से बचने के लिए संरक्षण प्रदान करने का सुझाव दिया है। कमीशन का कथन है कि कुटीर तथा विशाल पैमाने के उद्योगों के क्षेत्र को निश्चित करके इस दिशा में अच्छी सहायता प्राप्त की जा सकती है। उदाहरण के लिए तेल को ही ले लीजिए, कमीशन का सुझाव है कि खाने योग्य तेल का उत्पादन कुटीर उद्योग के अन्तर्गत आए तथा न खाने वाला विशाल उद्योगों के अन्तर्गत।

हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत सरकार खाद्यान्न, कपास तथा जूट में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना चाहती है, देश के औद्योगिक उत्पादन में भी वृद्धि करने के लिए वह पूर्ण रूप से प्रयत्नशील है। इन कार्यों की पूर्ति के लिए उसने मंत्रिमंडल में एक अलग विभाग ही खोल दिया है। देश के प्राकृतिक साधनों के उचित उपयोग की ओर यह अच्छा कदम उठाया गया है। यदि देश के पूँजीपति अपने दृष्टिकोण में परिवर्त्तन करते हैं, इस मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था की बदली हुई परिस्थिति में अपने को व्यवस्थित कर लेते हैं, ट्रूमैन की चार सूत्री तथा कोलम्बो योजना के अनुसार विदेशों से कुशल शिल्पियों की सहायता मिल जाती है, यदि भारत सरकार योग्यतापूर्वक अपने कार्यों को करती है तथा श्रम व पूँजी में परस्पर में अच्छा सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो जाती है तो कोई ऐसी बात नहीं जिससे कि वह अपने आर्थिक विकास में असफल रहे। भारत सरकार की १९४९ की औद्योगिक नीति के विषय में तो हम पहले विचार कर ही चुके हैं। हम कह चुके हैं कि अस्त्र-शस्त्र, अणुशक्ति के उत्पादन, रेलवे यतायात आदि कुछ उद्योगों पर सरकार ने अपना एकाधिकार घोषित कर दिया है, कुछ अन्य उद्योगों के विषय में उसने कह दिया है कि सरकार इन उद्योगों पर भी उचित नियंत्रण और नियमन रखेगी ऐसे उद्योगों में वायुयान तथा जलयानों का निर्माण, कोयला तथा खानों से निकलने वाले तेल के उद्योग आदि हैं। अन्य उद्योग व्यक्तिगत साहस के लिए छोड़ दिए जायँगे किन्तु यदि सरकार देखती है कि कोई उद्योग ऐसी स्थिति में उचित विकास नहीं कर रहा है, उसका कार्य असन्तोषपूर्ण है तो सरकार उसमें भी हस्तक्षेप कर सकेगी। सरकार इस औद्योगिक नीति से उद्योग एवं पूँजीपति ने पूँजी के विनियोग से हिचकिचाने लगे। इस बात को दूर करने के लिए मंत्रियों तथा अन्य सरकारी अधिकारियों ने सार्वजनिक भाषण आदि देकर जनता को विश्वास दिलाने की कोशिश की है। जिससे कि उद्योग में पूँजी का विनियोग हो सके। सरकार ने इसी समय विदेशी पूँजी को भी प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। सरकार ने आय-कर तथा सुपर टैक्स की दरों में कमी कर तथा कुछ अन्य सुविधाएँ प्रदान कर देश के उद्योग तथा व्यवसाय को प्रोत्साहन प्रदान करने की कोशिश की। सरकार ने जलयान, वायुयान के निर्माण, रासायनिक पदार्थों के उत्पादन, इस्पात के अच्छे उत्पादन आदि की दिशा में काफी अच्छी सफलता प्राप्त कर ली है, श्रम तथा पूँजी में भी अच्छा सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता मिल गई है।

कोलम्बो-योजना—दक्षिण-पूर्वी एशिया के सामूहिक आर्थिक विकास के लिए एक और योजना का निर्माण किया गया है, इस योजना को कोलम्बो योजना कहते हैं। यह योजना बम्बई

योजना से भी कुछ आगे बढ़ी हुई है। इसके पूरा होने में छः वर्ष लगेंगे तथा इसमें केवल १८४० करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। इसमें कृषि तथा यातायात के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। यह केवल एक ही देश नहीं वरन् कई देशों की सहकारिता के आधार पर आधारित किया गया है। इस प्रकार इससे भारत को कुशल शिल्पियों, यन्त्रजातों, कच्चा माल खाद्यान्न व अन्य उपभोग की वस्तुओं के आयात में सहायता मिलेगी। इन आयातों से देश में फैली हुई मुद्रा-स्फीति में ह्रास होगा, तथा देश के आर्थिक विकास में वृद्धि होगी। इस योजना का मुख्य उद्देश्य है कि प्रति व्यक्ति कम से कम १५ गज कपड़ा तथा १६ औंस खाद्यान्न का उपभोग हो सके।

भारत के विकास कार्यक्रम में नदियों की घाटी की योजनाएँ जैसे दामोदर (५० करोड़ रु०), हीराकुण्ड (३० करोड़), भाकरा (७६ करोड़), तथा रेलें, सड़कें, बन्दरगाह (७०२ करोड़ रुपये) उद्योग तथा खनिज सम्पत्ति का विकास (१८० करोड़ रुपया), शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सामाजिक कार्यों के विकास में २६१ करोड़ रुपया खर्च किया जाने का विचार किया गया है। इन कार्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित स्रोतों से पूँजी प्राप्त की जायगी :—

(१ , आन्तरिक स्रोत जैसे कर, सरकारी व्यय, बचत आदि से १००० करोड़ रुपया (छः वर्ष में) प्राप्त किया जायगा।

(२) पौंड पावनों से २१०० लाख पौंड या २७० करोड़ रुपया छः वर्षों में,

(३) अमरीका की आयात-निर्यात बैङ्क तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैङ्क से ऋण,

(४) लन्दन तथा अन्य देशों के द्रव्य बाजारों से निजी ऋण;

(५) अन्य देशों विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार से सरकारी आधार पर ऋण;

इस प्रकार देखने से पता चलता है कि कोलम्बो योजना अन्य योजनाओं से काफी अच्छी है। यह इस बात की भी द्योतक है कि भारत के विकास के लिए अन्य देशों से किस रूप में सहायता प्राप्त हो रही है और भविष्य में किस रूप में प्राप्त होगी।

विशेष वक्तव्य—स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व यह कहा जाता था कि ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष के आर्थिक विकास के लिए कोई ठोस कार्य नहीं करती, वह बहुत सा समय व्यर्थ के कार्यों में नष्ट कर देती वह जो कुछ कार्य, करती भी है, उसमें विदेशी हितों का विशेष ध्यान रखती है। परन्तु अब आज हमने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है हमारे रास्ते से हमारे आर्थिक विकास में आने वाला रोड़ा हट गया है, और हम अब अपने देश का आर्थिक विकास सुगमता से कर सकते हैं। देश के आर्थिक पुनर्निमाण के लिए भारत की राष्ट्रीय सरकार ने अनेक योजनाओं का निर्माण किया, जिन पर कि हम अभी विचार कर ही चुके हैं। इन योजनाओं से सरकार की आर्थिक नीति का पता चल जाता है। भारत को आज अपनी आवश्यकताओं के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है, अतएव उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न है कि वह अपनी आवश्यकता के लिए आत्म-निर्भर बने। भारतवासियों का रहन-सहन का स्तर भी बड़ा निम्न है, अतएव उसके सामने एक बड़ा प्रश्न है कि वह इस स्तर को कैसे ऊंचा उठाए। भारत सरकार इन सब कार्यों की पूर्त्ति के लिए प्रयत्नशील है। हमारे सामने सोवियत रूस का भी उदाहरण है, उसने भी अपनी अशिक्षित जनता को लेकर अपने राष्ट्र की अभूतपूर्व आर्थिक उन्नति की है, हम भी अपने देश की आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर उसको समृद्ध के पथ पर अग्रसित कर सकते हैं।

देश में वर्त्तमान समय में मुख्य रूप से निम्नलिखित आवश्यकताएँ या अनिवार्यताएँ हैं, इनको दूर करना ही हमारा प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिए।

(१) खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता की आवश्यकता—आज भारत में उसकी खाद्यान्न की आवश्यकता में कुछ नहीं तो १०%की कमी रहती है। इस कमी को पूरा करने के लिए

संसार के अन्य देशों से वह बराबर खाद्यान्न का आयात कर रहा है। १९४८-४९ में उसने ३० लाख टन खाद्यान्न का विदेशों से आयात किया, १९४९-५० में इससे भी अधिक परिमाण से खाद्यान्न विदेशों से आया, अब भी विदेशों से खाद्यान्न आता ही जा रहा है। और इस वर्ष भी लगभग ५० लाख टन अन्न विदेशों से आना है। भारत सरकार विदेशों से ट्रैक्टर आदि मंगा कर भूमि के उपादेयकरण का प्रयत्न कर रही है, यदि यही क्रम जारी रहा तो आशा है कि निकट-भविष्य में हम इस दिशा में अच्छी सफलता प्राप्त कर लेगें। इसके साथ ही आवश्यकता इस बात की है कि हम केला, शकरकन्द, मछली आदि सहायक खाद्य-पदार्थों के भी उत्पादन में विशेष ध्यान दें।

(२) देश के औद्योगिक संगठन की आवश्यकता—इसके अनुसार हमें देश में कई नवीन उद्योगों की स्थापना करना, मूल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना तथा बेकारी को दूर करना और एक अच्छे औद्योगिक संगठन का उदय करना है।

(३) निर्यात तथा आयात को सन्तुलित करना—हम देख रहे हैं कि युद्ध के बाद से हमारे आयात-निर्यात का सन्तुलन बिगड़ गया है। आवश्यकता है कि हम विदेशों से आने वाली विलासिता की वस्तुओं का उपयोग कम करें, इसके अतिरिक्त अपने देश में उत्पादन में वृद्धि कर आयात की राशि को कम करना है, इसके साथ ही अपने देश से भेजी जानेवाली वस्तुओं की किस्म को अच्छा कर, उसमें अन्य सुधार कर निर्यात की राशि में वृद्धि करना चाहिए। संक्षेप में आयात-निर्यात के संतुलन के लिए हमें उन सभी बातों के पूरा करने की ओर ध्यान देना चाहिए जिनसे कि इस दिशा में लाभ प्राप्त हो सके।

(४) देश में उत्पादित माल की लागत को कम करना—उपभोग की सामग्रियों के अतिरिक्त भारत में निर्मित की जानेवाली वस्तुओं की लागत अन्य देशों की तुलना में अधिक होती है। शकर, सीमेन्ट, सथा सूती कपड़ा ऐसी ही वस्तुओं में से हैं। विभाजन के कारण कपास तथा जूट के क्षेत्र के पाकिस्तान के हाथ में चले जाने से हमारी कुछ वस्तुओं के निर्माण में लगाने वाली लागत में और भी वृद्धि हो गई है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस लागत में कमी करने का प्रयत्न करें। ऐसी वस्तुएँ जिनका हम विदेशों को निर्यात करते हैं उनकी लागत में तो और भी कमी करने की आवश्यकता है।

(५) यातायात के साधनों का विकास—भारत की जनसंख्या में काफी वृद्धि हो गई है, वह अब भी बढ़ती ही जा रही है, उसके साथ ही व्यापार में भी वृद्धि हो रही है इसके परिणाम-स्वरूप मुसाफिरों तथा माल के यातायात में और भी वृद्धि हो गई है, वर्त्तमान यातायात के साधन इतने पर्याप्त नहीं हैं जिससे कि इस भार को वे अच्छी तरह वहन कर सकें। इसलिए आवश्यकता है कि समस्त देश के यातायात के साधनों का उचित विकास किया जाय।

(६) राष्ट्रीय आय का समान वितरण—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या भारतीयों के रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करने की है। अभी हमें अपनी अनेक कठिनाइयों को दूर कर इस उद्देश्य की पूर्त्ति करना है। वर्त्तमान समय में भारत अनेक आर्थिक कठिनाइयों के बीच में फंसा हुआ है, कृषि प्रधान देश होते हुए भी कृषि में पिछड़ा हुआ है। वर्त्तमान औद्योगिक प्रगति को देखते हुए अन्य देशों की तुलना में वह कहीं अधिक पीछे है। अतः देश के सन्मुख सबसे बड़ी समस्या इन दोषों को दूर कर एक अच्छे आर्थिक संगठन का उदय करना है। प्रत्येक व्यक्ति को पेट भरने के लिए अन्न, पहनने के लिए वस्त्र, रहने के लिए निवास स्थान की व्यवस्था करना है। उनके रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाना है। इन सब बातों के अतिरिक्त देश में सम्पत्ति के असमान वितरण को भी दूर करना है। संक्षेप में हमें अपने सारे के सारे आर्थिक ढांचे में आमूल परिवर्त्तन करना है। अतएव हमारे किसी भी नियोजन या आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य ऐसी व्यवस्था का विकास करना होना चाहिए। इन सब कार्यों की पूर्त्ति एक जनतंत्रात्मक सरकार ही कर सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता भी सरकार को अपना पूरा सहयोग प्रदान करें और इस प्रकार अपने-अपने समाज के अपने राष्ट्र के नैतिक, शारीरिक आर्थिक एवं सामूहिक विकास में हाथ बटावे।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

राष्ट्रीय आय

प्राक्कथन—सारे आर्थिक क्रिया-कलापों का उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना होता है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए कार्य करता है, जो कार्य वह करत है उसके बदले में उसे कुछ मिलता है उसी के द्वारा उसके आर्थिक हितों की पूर्त्ति होती है। अतः किसी भी व्यक्ति का आर्थिक हित इस बात पर निर्भर करता है कि कौन-कौन सी सेवाएँ तथा सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय सम्पत्ति किसी भी देश के देशवासियों की वह सम्पत्ति है जिसका उपयोग विनिमय तथा आदान-प्रदान में किया जा सके। राष्ट्रीय सम्पत्ति के अन्तर्गत किसी भी देश के केवल प्राकृतिक साधन ही नहीं आते हैं वरन् उसमें उस देश का नैसर्गिक सौन्दर्य, उसकी भौगोलिक स्थिति, नदियाँ, बन्दरगाह आदि भी आ जाते हैं। दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय सम्पत्ति ऐसी निधि या पूँजी है जिसकी कि एक दृष्टि से माप की जा सकती है और नहीं भी की जा सकती। इस राष्ट्रीय सम्पत्ति या निधि से जो आय होती है उसे राष्ट्रीय आय (National Income) अथवा राष्ट्रीय लाभांश (National dividend) कहा जाता है।

इस राष्ट्रीय आय में किन-किन बातों को लिया जाना चाहिए इस संबन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। उदाहरण के लिये माता या पत्नी की ही सेवाओं को ले लीजिये, घर में इन महिलाओं द्वारा जो लाभ होता है, वह अमूल्य है परन्तु इसे राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत नहीं लिया जाता, इसके विपरीत इन्हीं कार्यों को यदि कोई दासी या नौकरानी करती है तो उसे आय के रूप में माना जाता है। इसी प्रकार जैसा कि प्रो० पीगू का कथन है कि यदि मकान और फर्नीचर को किराये पर उठा दिया जाता है तो वे राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत आ जाती हैं किन्तु जब इन्हें भेंट स्वरूप दे दिया जाता है तो ऐसा नहीं होता, यद्यपि इनसे मिलनेवाला लाभ दोनों दशाओं में बराबर रहता है। कुछ अर्थ-शास्त्रियों का विचार है कि सार्वजनिक सेवकों की सेवाओं को कुल राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत नहीं माना जाना चाहिये। इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्रियों का ऐसा कथन है कि बिना किसी सेवा के बदले में भी मिलने वाली आय जैसे वृद्धावस्था की वृत्तियाँ (पेन्शन), दान आदि में दी जाने वाली रकम को भी राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत नहीं रखा जाना चाहिये इस तथ्य का समर्थन कुछ भारतीय अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त हंगरी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फेलनर तथा वार्गा ने की है। परन्तु अभी थोड़े दिनों पूर्व से यह दृष्टिकोण मान्य नहीं समझा जाने लगा है। थोड़े दिनों से कतिपय देशों में जिनमें हंगरी भी सम्मिलित है इस प्रकार की कुछ सेवाओं को राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत लिया जाने लगा है। इस संबन्ध में हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि भारत जैसे देश में जहाँ कि प्रशासन कार्यों में काफी व्यय किया जाता है, राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत सार्वजनिक सेवाओं के सम्मिलित किए जाने से राष्ट्रीय आय की रकम काफी बढ़ी हुई मालूम पड़ेगी। सोवियत रूस में इस प्रकार की सभी सेवाओं को राष्ट्रीय आय में नहीं आंका जाता।

श्री कोलिन क्लार्क महोदय ने अपनी पुस्तक 'नेशनल इनकम' में राष्ट्रीय आय की परिभाषा करते हुए कहा है कि किसी भी काल की राष्ट्रीय आय में उस काल में उपभोग की गई सामग्री तथा प्राप्त सेवाओं का द्रव्य-मूल्य (Money Value) सम्मिलित रहता है। राष्ट्रीय आय संबन्धी विषय के भारतीय विद्वान डाक्टर वी० के० आर० वी० राव ने राष्ट्रीय आय के संबन्ध में कहा है कि किसी काल के अन्दर आने वाली सेवाएँ तथा सामग्रियाँ (इसमें आयात नहीं सम्मिलित है) जो कि उस

काल में बिक्री के लिये उपलब्ध हों या विक्रय-योग्य हों उनका द्रव्य-मूल्य (Money Value) राष्ट्रीय आय कहलाता है। यह मूल्यांकन चालू मूल्यों के अनुसार आंका जाता है।

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों की उपयोगिता—किसी भी देश के आर्थिक उत्थान एवं पतन का परिचय हमें उस देश की आय से लग सकता है। वैसे तो इस पद्धति को पूर्ण नहीं माना जा सकता, इसमें भी कुछ अभाव है किन्तु फिर भी इस दिशा में इससे अच्छी सहायता मिलती है। यदि किसी देश की जनता का स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो उस देश का काफी धन डाक्टरों, वैद्यों में खर्च हो जाता है। इसी तरह यदि किसी देश में चोर-डाकुओं आदि का आतंक रहता है, साम्प्रदायिक दंगे होते हैं तो उस देश की काफी रकम शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में हीं व्यय हो जायगी। ऐसे देश की आय से उस देश का विशेष आर्थिक-हित या कल्याण नहीं हो सकेगा। परन्तु इन सब अभावों के होते हुये भी यदि हम हाबटलर महोदय के ये शब्द कि यदि राष्ट्रीय आय अधिक है तो अन्य सब चीजों के बराबर रहते हुये भी आर्थिक-हित अधिक होगा, मान लें तो कोई अनुचित न होगा। इस प्रकार आर्थिक-हित या कल्याण (Economic Welfare) कई वस्तुओं द्वारा प्रभावित होता है।

जब हम राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें पता चल जाता है कि इन आँकड़ों का महत्व काफी है। सबसे पहले तो इन आंकड़ों से हमें रहन-सहन के स्तर का पता चलता है। वैसे तो ये आंकड़े औसत आंकड़े ही होते हैं और देश में आय के वितरण पर अच्छा प्रकाश नहीं डालते, किन्तु फिर भी देश की आर्थिक स्थिति का थोड़ा आभास इससे अवश्य प्राप्त हो जाता है। जब हम किसी देश के आर्थिक उत्थान या पतन का पता लगाना चाहते हैं, यह जानना चाहते हैं कि वह देश आर्थिक विकास की किस सीमा तक पहुँचा है तो हमें राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों से बहुत सहायता मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन आँकड़ों से हमें आर्थिक विकास का पूरा-पूरा और बिलकुल सही पता नहीं चलता किन्तु उससे हमें आर्थिक विकास की प्रवृत्तियों का आभास अवश्य मिल जाता है। आज विश्व में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों का महत्व केवल शैक्षणिक दृष्टि से ही नहीं है, व्यापारिक दृष्टि से भी इन आंकड़ों का महत्व काफी है। ऐसे आंकड़ों से किसी देश के आर्थिक पतन के कारणों तथा उससे होने वाले दोषों के दूर करने में भी सहायता मिलती है। इन आंकड़ों से हमें ज्ञात हो जाता है कि आय के वितरण की क्या प्रवृत्ति है? किसी भी देश के कृषि या औद्योगिक किसान के लिए बनाई गई कोई भी योजना सम्भव नहीं हो सकती जब तक कि हमें यह पता न चल जाय कि समाज का कौन सा अंग ऐसा है जो बचत कर सकता है और जो बचत वह कर सकता है वह कितनी हो सकती है? इस बात का पता लगाकर ही हम समाज के विभिन्न वर्गों पर कर लगा सकते हैं और उससे अपनी योजनाओं के लिए पूँजी प्राप्त कर सकते हैं। जब हमें यह पता चल जाय कि देश के साधन इतने पर्याप्त नहीं हैं कि उनसे इन कार्यों के लिये पर्याप्त पूँजी प्राप्त हो जाय तो हम विदेशों से पूँजी आमंत्रित कर सकते हैं। इसके द्वारा उत्पत्ति तथा उपभोग की भी गतिविधि को निश्चित कर सकते हैं।

भारत जैसे निर्धन देश के लिए जिसके निवासियों के रहन-सहन का स्तर बड़ा निम्न है, जिसके निवासियों का स्वास्थ्य बिलकुल गिरा हुआ है। जहाँ की जनता की मृत्यु-संख्या इतनी अधिक है, उसके लिये इन आंकड़ों का महत्व और भी अधिक है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों का जो महत्व है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार राष्ट्रीय आय सम्बन्धी सही आँकड़ों की सहायता से जो देश में फैले हुए सम्पत्ति के असमान वितरण के दूर करने में, लोगों की कर देने की क्षमता का पता लगा कर, कर व्यवस्था को व्यवस्थित करने में अच्छी

सफलता प्राप्त कर सकती है। यही नहीं देश की वर्त्तमान अर्थ-व्यवस्था के अन्य दोषों के दूर करने में भी इससे सहायता मिल सकती है।

राष्ट्रीय आय के आंकने की पद्धतियाँ—राष्ट्रीय आय के आंकने की मुख्यतया तीन प्रणालियाँ हैं :—(१) इष्टगत पद्धति (Subjective method), (२) व्यावहारिक पद्धति (Objectiue method), (३) मिश्रित पद्धति (Mixed method)। सर जोशिया स्टैम्प ने प्रथम पद्धति को आय-कर (Income) पद्धति तथा द्वितीय पद्धति को 'इनवेन्टरी पद्धति' कहा है।

इष्टगत कर आय-पद्धति आये-कर के आंकड़ों पर निर्भर रहती है, इसके अतिरिक्त इसमें श्रमिकों तथा अन्य पेशेवाले व्यक्तियों की आय, जो कि आय-कर के आंकड़ों की सीमा से कम होती है के औसत को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। यह पद्धति उस देश के लिए अधिक उपयुक्त होती है जहाँ कि आयकर देनेवालों की संख्या अधिक है भारत में भी यदि अन्य कर्मचारियों या व्यवसायियों की जिनको आय-कर नहीं देना पड़ता औसत आय के सही आंकड़े प्राप्त कर लिए जायँ तो इस पद्धति से लाभ उठाया जा सकता है।

द्वितीय पद्धति जिसे अँगरेजी में इन्वेंटरी या सेन्सस पद्धति भी कहते हैं उसमें उत्पादन तथा पारिश्रमिक अथवा मजदूरी की गणना की जाती है। इसमें वर्ष में कुल सामग्री तथा सेवाएँ जिनका कि उपभोग किया गया है, उन्हें बाजार मूल्य के अनुसार आंका जाता है। इस पद्धति में उत्पादन का सही-सही मूल्यांकन होना आवश्यक रहता है। भारत में उत्पादन की सही-सही गणना अभी तक नहीं की गई है। वैसे तो सरकार खेती की पैदावार की कुछ मुख्य वस्तुओं के उत्पादन के अनुमान प्रकाशित करती है। जंगल तथा खनिज सम्बन्धी आंकड़े भी प्रकाशित किए जाते हैं परन्तु अभी तक इस दिशा में पूर्ण आंकड़े नहीं प्राप्त हैं।

तीसरी पद्धति इन दोनों पद्धतियों के मिश्रण से बनी है। भारत में डा० राव ने उपरोक्त दोनों पद्धतियों को मिलाकर इस पद्धति को जन्म दिया है। उन्होंने सरकार द्वारा प्रकाशित खेती की पैदावार, खनिज तथा औद्योगिक उत्पादन दूध व दूध से बनने वाली अन्य चीजों के आंकड़े, बम्बई के औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरी तथा छोटे-छोटे सरकारी कर्मचारियों के वेतन के आंकड़ों का उपयोग किया है। अन्य क्षेत्रों में भी उन्होंने जाँच करके इस दिशा में सहायता प्राप्त की है।

भारत में प्रति व्यक्ति आय—भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान समय-समय पर लगाया गया है। इस दिशा में सबसे पहला उल्लेखनीय प्रयत्न श्री दादाभाई नौरोजी ने किया था। आपने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'पावर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन 'इंडिया' में बताया कि सरकारी आकड़ों के आधार पर सन् १८६८ में भारत की अनुमानित राष्ट्रीय आय प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति २० रु० थी। उस समय सरकारी आंकड़े यथेष्ठ रूप में उपलब्ध नहीं थे, और राष्ट्रीय आय के हिसाब लगाने की पद्धति भी विकसित नहीं हुई थी, इससे श्री नौरोजी के अनुमान में त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है परन्तु इसके बहुत बढ़ने की गुंजाइश भी नहीं थी।

विभाजन के पूर्व ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आय का जो अनुमान लगाया गया उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

हिसाब लगाने वाला	हिसाब का समय सन्	प्रति व्यक्ति आय रु०	आ०	पा०
दादा भाई नौरोजी	१८६७-७०	२०	०	०
लार्ड क्रोमर तथा बार्बर	१८८२	२७	०	०
विलियम डिग्बी	१८६६	१७	८	५

लार्ड कर्जन	१९००	३०	०	०
विलियम डिग्बी	१९०१	१८	८	११
एटकिन्सन	१८७५	३०	८	०
"	१८९५	३९	८	०
वाडिया और जोशी	१९१३-१४	४४	५	६
शाह और खम्बत	१९००-१९१४ (युद्ध-पूर्व)	३६	०	०
" "	(युद्ध तथा युद्ध के बाद)	३८	०	०
फिन्डले शिराज	१९२१	१०७	०	०
"	१९२२	११६	०	०
साइमन कमीशन रिपोर्ट	१९२९	११६	०	०
डा० राव	१९२५-२९	७६	०	०
"	१९३१-३२ (ग्रामीण)	५१	०	०
	(शहरों का)	१६६	०	०
	(शहरों का भारत में)	६५	०	०
सर जेम्स ग्रिग	१९३७-३८	५६	०	०
'स्टूडेन्ट' कामर्स में	१९३८-३९	३६	०	०
" "	१९४२-४३	१४२	०	०

उपरोक्त विवरण के देखने से यह पता चल जाता है कि विभिन्न विद्वानों के अनुमानों में काफी अन्तर है। इस अन्तर का सबसे प्रधान कारण तो यही है कि विभिन्न अनुमानों का क्षेत्र विभिन्न रहा है, कुछ अनुमानों में तो समस्त ब्रिटिश भारत रहा है और कुछ में देशी रियासतों को शामिल किया गया है। फिर विभिन्न समयों में मूल्यों में भी काफी अन्तर हो गया है। उदाहरण के लिये १९१३-१४ में जिस वस्तु का मूल्य ४५) था १९२१-२२ में उसी का ८०) हो गया। इसके अतिरिक्त विभिन्न हिसाब लगाने वालों का दृष्टिकोण भी कुछ भिन्न सा रहा है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले लोगों का अनुमान सरकारी लोगों के अनुमान से सदैव कम रहा है। कहना न होगा कि उपरोक्त खोजों के पीछे राजनैतिक, भावना थी इसलिये जो अनुमान निकाले गए वे पूर्णरूप से ठीक नहीं माने जा सकते। इसके अतिरिक्त विभिन्न अनुमानों में जिन वस्तुओं का समावेश किया गया वे एक सी नहीं थीं। अनुमानांकन का आधार भी एक सा नहीं था। सरकारी अधिकारियों द्वारा आंके गए आंकड़े भी पूर्णतया सही नहीं थे। देश में आंकड़ों सम्बन्धी विभिन्नता कैसी रही है और अभी कैसी है, इस विषय पर तो हम पहले ही विचार कर चुके हैं। प्रोफेसर बाडले तथा डी० एच० राबर्टसन महोदय जो आंकड़ों के एकत्रित करने के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए भारत में निमन्त्रित किए गए थे, उन्होंने इस दिशा में प्रकाश डालते हुए कहा कि इस क्षेत्र में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। अभी हमें जो आँकड़े उपलब्ध हैं, वे अपर्याप्त और अपूर्ण हैं। कृषि उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों सम्बन्धी आंकड़े तो विश्वसनीय मालूम नहीं पड़ते, मृत्यु तथा जनसंख्या की संख्याएँ अपूर्ण हैं, तथा मजदूरों की मजदूरी के विषय में कोई सामान्य जानकारी ही नहीं है। उपरोक्त अनुमानों में डा० राव के अनुमान अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय आय के आँकने सम्बन्धी दोनों पद्धतियों को मिलाकर अपनी नवीन पद्धति निकाल ली है। डा० राव की इस कार्य-पद्धति के विषय में विशेष जानकारी रखना अत्यन्त आवश्यक है। नीचे दिये हुए विवरण से इस पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा।

ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय का ब्योरा
(१६३१-३२)

(अ) इन्वेन्टरी अनुमान	दस लाख रुपयों में		वास्तविक भूल की छूट
(१) कृषि उत्पादन	६,०८६.२		
फल तथा दालें आदि	१७४६.६		
	७,८३६.१		
बाकी सामान की बरबादी, बीज, सूद तथा पशुओं आदि का मूल्य ह्रास १,६०६		५६२७	
(२) पशु (दूध, गोश्त, चमड़ा, हड्डी आदि भी)		२६८३	+१०%
मछली व शिकार आदि	१२०		+२० "
खनिज पदार्थ	१८०		×
जंगल की पैदावार	६२		×
(ब) आय से अनुमान :—			
(१) आय कर के हिसाब से आय		२१६१	×
(२) वह आय जो आय-कर में नहीं आती—			
(i) उद्योग के कर्मचारियों की	२,१००		
(ii) सरकारी नौकरों की—रेलवे डाक व तार आदि	५६०		
(iii) अन्य यातायात के कर्मचारी	२८३		
(iv) व्यापार के कर्मचारी	१,२३३		
(v) अन्य पेशों के	४१६		
(vi) घरेलू नौकर	३२५	४६४७	±१६
(स) अन्य			
जायदाद (घर आदि)	७७४		
रेशम	१२		
मिट्टी के बर्तन आदि	६०		
शहद	१०		
पेंशन	७६		
सरकार के व्यावसायिक कार्य	८६		
कृषि ऋण पर सूद	१७०		
अप्रत्यक्ष कर	८३६		
बाकी	१८५५		
अप्रत्यक्ष करों से आय	+८३६		
आन्तरिक सार्वजनिक ऋण पर	− १६०		
आयात से निर्यात की अधिकता आदि	३६६		
	१०७५	७८०	±
	१६,८६०	दस लाख रुपये	±६

उपरोक्त आँकड़ों पर विचार करने के पश्चात् डा० राव ने यह निष्कर्ष निकाला कि कृषि उत्पादन का १०% अधिक आँका गया, इसी प्रकार आय कर में भी लगभग ५% की भूल या छूट

हो सकती है। इस प्रकार राव महोदय के अनुसार भारत की वास्तविक राष्ट्रीय आय १६,६५१० लाख तथा १८,६७७० लाख रुपये के बीच में थी, इस हिसाब से राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति ६५ रु० हुई, जिसमें ६% (घटती या बढ़ती) का अन्तर पड़ सकता है। इसके बाद ग्रामीण जनता की राष्ट्रीय आय का पता लगाने के बाद राव महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला की ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ५१ रुपया है।

अभी थोड़े दिनों पूर्व (१९४८ में) भारतीय संघ की राष्ट्रीय आय के विषय में और छान-बीन की गई थी; और कुछ अनुमान निकाले गये थे, और 'ईस्टर्न एकनामिस्ट' में प्रकाशित किये गये थे। ये अनुमान राव महोदय के १९३१-३२ के अनुमानों के आधार पर निकाले गये थे। भारतीय संघ की प्रति व्यक्ति आय २१३ रुपया तथा पाकिस्तान की २२४ रुपया निश्चित की गई थी। भारत में इस राष्ट्रीय आय के कुछ कम होने का एक कारण यह था कि पाकिस्तान की कृषि-सम्पत्ति भारत से अधिक थी।

पाकिस्तान में गेहूँ, कपास तथा जूट उत्पन्न करने वाला अधिकांश क्षेत्र चला गया। परन्तु इन अनुमानों को पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता। अब भारत सरकार राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों की उपयोगिता की ओर पूर्णरूप से सतर्क है। राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करने, इस सम्बन्ध में खोज-बीन करने के लिये उसने एक 'विशेषज्ञ-समिति' की नियुक्ति की है। अभी इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई है परन्तु भारत सरकार के वाणिज्य-विभाग ने विभाजन के बाद (१९४५-४६ व १९४६-४७) के भारतीय संघ के आँकड़ों को प्रकाशित किया है। ये अनुमान निम्नलिखित हैं :—

	करोड़ रुपयों में	
	१९४५-४६	१९४६-४७
(१) कृषि का कुल उत्पादन—	२२,४०	२५,४५
पशुओं से	४६८	५२१
कुल	२,७०८	३,०६६
बीज, पशुओं व औजारों आदि के रखने में, बाकी	७४५	७७५
कृषि का वास्तविक उत्पादन	१,९६३	२,२९१
जंगल (,, ,,)	९	४६
खान (,, ,,)	३७	६१
कुल वास्तविक उत्पादन	२,००९	२,३९८
(२) आय कर वाली आय	५४३	५८२
वह आय जो आय-कर में शामिल नहीं है	१,२९३	२,५३३
बाकी—खनिज कम्पनियों का लाभ तथा उसमें लगे हुये व्यक्तियों की आय	८	१६
बढ़ती—सरकारी कार्यों में वास्तविक लाभ तथा सैनिकों को किस्म में भुगतान	९४	८३
कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय	४,९३१	५,५८०
प्रकि व्यक्ति आय	२०४	२२८

उपरोक्त आंकड़ों को देखने से पता चल जाता है कि १९४६-४७ में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय २२८ रुपया थी जब कि १९४५-४६ में केवल २०४ रुपया थी। इससे यह मालूम पड़ता है कि इस समय राष्ट्रीय आय में कुछ वृद्धि हो गई है, किन्तु यह वृद्धि वास्तविक नहीं है क्योंकि इस समय

में वस्तुओं के मूल्य-स्तर में १२.५% की वृद्धि हुई है। १६४६-४७ के ये आंकड़े केवल भारतीय संघ के राज्यों के हैं, इसमें वे देशी राज्य सम्मिलित नहीं हैं, जो बाद में भारतीय संघ में शामिल हुये। १६४८-४६ के प्रान्तीय अनुमानों से यह पता चलता है कि राष्टीय आय ६.६८६ करोड तथा प्रति व्यक्ति आय २७२ करोड़ रुपया थी।

कुछ लोगों ने इन आंकड़ों की काफी आलोचना की है। उदाहरण के लिए आर्थिक विषय के प्रमुख पत्र 'ईस्टर्न एकनामिस्ट' को ले लीजिये। इसका विचार है इन आंकड़ों से पता चलता है कि १६३१ की तुलना में इनमें ७०% की वृद्धि हुई है किन्तु यह वृद्धि स्वाभाविक नहीं। परन्तु यह तर्क न्याय संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि अन्य लोगों ने भी जो अनुमान लगाये हैं, वे भी इस वृद्धि के द्योतक हैं। आय में वृद्धि होने के अतिरिक्त हाल में की गई खोजों से यह पता है चलता कि वितरण की दिशा में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। लोगों का ऐसा कहना है कि उधर आय का अधिकांश ऐसे हाथों में जाने लगा है जिनमें बचत की भावना नहीं के बराबर है। १६५० के अर्थ-आयोग ने भी इस ओर ध्यान आकर्षित किया है।

देश के विभिन्न भागों में स्थित चैम्बर्स आफ कामर्स ने तथा भारत के अर्थ-मन्त्री ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। इन लोगों का ऐसा विश्वास है कि देश के औद्योगिक विनियोग में कमी होने का मुख्य कारण यही है। बम्बई तथा कुछ अन्य राज्यों में की गई जाचों से भी इस बात का पता चलता है। इनसे हमें पता चलता है कि आज १६५१ में ग्रामीण जनता की आर्थिक स्थिति जितनी अच्छी है उतनी १६३६ में नहीं थी। मदरास राज्य में डा० नरायन स्वामी नायडू द्वारा की गई जाँच से हमें कुछ दूसरी ही बातों का पता चलता है। इसलिए ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी क्षेत्र में आवश्यक कार्य करने की नितान्त आवश्यकता है।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवरण से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत में आंकड़ों सम्बन्धी स्थिति बड़ी असन्तोषजनक है। कुछ विषयों के तो आँकड़े अभी तक प्राप्त ही नहीं हुए हैं और न इस दिशा में विशेष प्रयत्न ही किया गया है। १६३४ ई० में प्रकाशित बाउले- रबर्टसन प्रतिवेदन में आंकड़ों के एकत्रीकरण के सम्बन्ध में कुछ अच्छा सुझाव दिया गया था, उन्होंने इसके लिए एक अलग विभाग स्थापित करने का सुझाव दिया था। उनका कथन था कि गवर्नर-जनरल की कौंसिल में चार और सदस्य होने चाहिये, इनमें से दो सदस्य तो शिक्षित अर्थशास्त्री हों तथा एक आकड़ों का निर्देशक हो। उत्पादन की प्रति पाँचवें वर्ष गणना की जानी चाहिए साथ ही प्रति दशवें वर्ष जनगणना होती रहनी चाहिए। प्रत्येक बड़े प्रान्त में आंकड़ों सम्बन्धी एक अधिकारी नियुक्त होना चाहिए, और उसे इस प्रकार से आंकड़ों के केन्द्रीय डायरेक्टर को सहयोग देते लेते रहना चाहिए। इन लोगों ने राष्ट्रीय आय के आँकने की प्रायः उसी पद्धति का सुझाव दिया था जिसका डा० राव ने अनुकरण किया।

अभी तक राष्ट्रीय आय के जो भी अनुमान निकाले गये हैं चाहे वे सरकारी हों अथवा गैर सरकारी सभी इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय जनता बड़ी निर्धन है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की दृष्टि से तो वे निर्धन हैं ही साथ ही वे जितनी सामग्री का उपभोग करते हैं, उस दृष्टि से भी बड़े निर्धन हैं। कृषि-प्रधान देश होते हुये भी वह अपनी आवश्यकता भर को अन्न नहीं पैदा कर पाता। डा० राधाकमल मुखर्जी के अनुसार भारत में ६३० लाख आदमियों के लिये खाद्यान्न का अभाव बना हुआ है। डा० आकरायड के अनुसार भारतीय जो भोजन करते हैं उसमें विटामिन का अभाव काफी रहता है। दूसरे शब्दों में भारतीय जनता का सारे का सारा रहन-सहन का स्तर बिल्कुल गिरा हुआ है। बड़े-बड़े नगरों में निवास की कठिनाई रहती है, गाँवों में जहाँ निवास की सुविधा है, वहाँ अस्वच्छता काफी रहती है। वहाँ मृत्यु संख्या अधिक है। शिशुओं तथा माताओं की भी मृत्यु संख्या में

अधिकता रहती है। उनकी इस सब स्थिति का मुख्य कारण देश के कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में कमी होना है। जब हम भारत की इस स्थिति की तुलना अन्य देशों से करते हैं तो हमें यह बात और खटकती है। श्री कोलिन क्लार्क महोदय ने विभिन्न देशों के आर्थिक कल्याण (Economic Welfare) की तुलना के लिये एक सिद्धांत निकाला है। उन्होंने कुछ देशों की राष्ट्रीय आय को एक ही मूल्य-स्तर पर ला दिया है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय इकाई (International Unit) के रूप में उपस्थित किया था। इस अन्तर्राष्ट्रीय इकाई (I. U.) की परिभाषा बतलाते हुये उन्होंने कहा है कि यह सेवाओं तथा सामग्रियों का वह परिमाण है जो कि १६२५-३४ के औसत काल में, संयुक्त राज्य अमरीका में एक डालर में क्रय किया जा सके।

देश	अन्तर्राष्ट्रीय इकाई (I. U. S,)
आस्ट्रेलिया	६८०
मिश्र	३००—३५०
ग्रेट ब्रिटेन	१०६६
संयुक्त राज्य अमरीका	१३८१
फ्रान्स	६८४
सोवियत रूस	३२०
दक्षिण अफ्रीका	२७६
चीन	१००—१२०
जापान	३५३
ब्रिटिश भारत	२००

यह हो सकता है कि कोलिन महोदय के अनुमान दोषपूर्ण हों परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रिटिश भारत तथा चीन की स्थिति सबसे गई-गुजरी थी। आवश्यकता इस बात की है कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों के प्राप्त करने में कोई कोर-कसर न रख छोड़े, हर्ष की बात है कि हमारी सरकार इस विषय के महत्व को अच्छी तरह समझ रही है और इस कार्य की पूर्त्ति के लिये क्रियात्मक कदम उठा रही है।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

देश के विभाजन का आर्थिक प्रभाव

वर्तमान काल में राजनीति और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ हो गया है कि राजनैतिक घटनाएँ केवल राजनैतिक क्षेत्र तक ही प्रभाव नहीं डालतीं वरन् वे आर्थिक क्षेत्रों को भी गहराई तक प्रभावित करती हैं। भारतवर्ष का विभाजन भी साधारण दृष्टि से एक राजनैतिक घटना ही है किन्तु इसका प्रभाव आर्थिक क्षेत्र में भी कम नहीं हुआ है। सन् १९४७ की १५ अगस्त को वास्तविक रूप में देश का विभाजन भारत और पाकिस्तान नामक दो राज्यों में हो गया। तब से अब तक लगभग ५ वर्ष का समय बीत गया है और विभाजन के आर्थिक परिणाम एवं प्रभाव बहुत कुछ स्पष्ट हो चले हैं। इस परिच्छेद में हम उन्हीं का विचार करेंगे।

विभाजन के आर्थिक प्रभाव और परिणामों के सही-सही निरूपण में कई प्रारम्भिक कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण उनका ठीक से अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रथम कठिनाई तो सही आँकड़ों सम्बन्धी है जिसका हम प्रथम परिच्छेद में जिक्र कर चुके हैं। संयुक्त भारत में अधिकांश आंकड़े दोषपूर्ण एवं गलत थे और बहुत से आंकड़ों का तो अभाव ही था। विभाजन के पश्चात् भी इस स्थिति में विशेष सुधार नहीं हो पाया है, यद्यपि भारत सरकार इस दिशा में काफी प्रयत्नशील है। इसके अतिरिक्त विभाजन को अभी ५ वर्ष ही हुए हैं। इतने छोटे समय में सभी परिणामों एवं प्रभावों को जानना सम्भव नहीं है। बहुत से प्रभावों को तो समयानुसार ही जाना जा सकेगा। उपरोक्त दो कठिनाइयों के अतिरिक्त एक तीसरी कठिनाई और भी है। काश्मीर के मामले को लेकर तथा कुछ अन्य कारणों से भारत और पाकिस्तान के मौजूदा स्थिति में अच्छे सम्बन्ध नहीं हैं। दोनों देशों में अच्छे सम्बन्ध न होने के कारण कुछ अस्वाभाविक सी स्थिति पैदा हो गई है, जिसके फलस्वरूप भारत और पाकिस्तान के मध्य व्यापार आदि स्वाभाविक रूप में नहीं चल रहा है। इसी भाँति जब सितम्बर १९४९ में राष्ट्रमंडल के समस्त सदस्यों ने (पाकिस्तान को छोड़कर) जिनमें भारत भी सम्मिलित है, अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने का निश्चय किया तो पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया। पाकिस्तान की इस नीति से काफी लम्बे अरसे तक भारत और पाकिस्तान का व्यापार एक प्रकार से बन्द ही हो गया था और अब भी वह स्वाभाविक रूप में नहीं चल रहा है। उपरोक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे अदृश्य तथ्य हैं जिनके कारण विभाजन के समस्त परिणामों और प्रभावों को आज नहीं जाना जा सकता। फिर भी हम इस परिच्छेद में उन सभी प्रभावों एवं आर्थिक समस्याओं का विचार करेंगे जो विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में विभाजन के फलस्वरूप पैदा हो गई हैं।

यह स्पष्ट ही है कि विभाजन भारत के लिये आर्थिक दृष्टि से हितकर सिद्ध नहीं हुआ है। विभाजन के फलस्वरूप भारत खाद्यान्नों की दृष्टि से अब एक अभावग्रस्त क्षेत्र हो गया है। सन् १९४७-४८ में भारत को अपनी खाद्यानों की कमी की पूर्ति के लिये चौबीस लाख अस्सी हजार टन, १९४८-४९ में सत्ताइस लाख सत्तर हजार टन और १९४९-५० में अट्ठाइस लाख चालीस हजार टन अन्न बाहर से मँगाना पड़ा और इस वर्ष लगभग पचास लाख टन अन्न बाहर से मँगाने वाला है। जिसके लिये क्रमशः भारत को एक अरब दो करोड़, एक अरब बीस करोड़ और एक अरब सात करोड़ रुपया विदेशों को देना पड़ा और इस वर्ष लगभग २०० करोड़ रुपया विदेशों को देना पड़ेगा। भविष्य में भी यह रकम तब तक विदेशों को हमें देनी पड़ेगी जब तक हम अपना अन्नोत्पादन उस सीमा तक नहीं बढ़ा लेते कि हमें बाहर से अन्न मँगाने की आवश्यकता न रह जावे। भारत सरकार का अनुमान था कि सन् १९५२ तक उसकी सिंचाई सम्बन्धी सभी योजनायें पूरी हो जावेंगी और

तभी भारत अन्नोत्पादन की दृष्टि से स्वावलम्बी हो जायगा। किन्तु आर्थिक संकट के कारण बहुत सी योजनाएँ स्थगित कर देनी पड़ी हैं, और फलस्वरूप सन् ५२ तक भारत अन्नोत्पादन की दृष्टि से स्वावलम्बी हो जायगा इसमें सन्देह ही प्रतीत होता है। खाद्यान्न की कमी के अतिरिक्त विभाजन का प्रभाव भारत के व्यापार पर भी पड़ा है। जूट और रुई दो ऐसी भारतीय पैदावार थीं जिनके निर्यात से भारत को भारी लाभ था, किंतु देश के विभाजन से पश्चिमी पंजाब, सिंध और पूर्वी बंगाल सरीखे उपजाऊ क्षेत्र भारत के हाथ से निकल गए जिनमें रुई और जूट की पैदावार होती थी। अब इन पदार्थों के निर्यात का प्रश्न तो दूर की बात है, भारत को अपनी जूट और रुई की मिलें चलाने के लिये पाकिस्तान से ही इन पदार्थों का आयात करना पड़ रहा है। इस भाँति विभाजन से भारतीय व्यापार को दोहरा नुकसान हुआ है। एक ओर उसका निर्यात घट गया है और दूसरी ओर उसे अपने उद्योग-धन्धों को चालू रखने के लिये आयात बढ़ाना पड़ा है। इसी के फलस्वरूप भारत को निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करना पड़ रहा है। सन् १९४८ में आयात की रकम निर्यात से एक अरब रुपये अधिक थी और १९४९ में यह एक अरब उनसठ करोड़ थी।

भारत की वित्त-व्यवस्था पर भी विभाजन का प्रभाव पड़ा है। पाकिस्तान और भारत को आपसी तनातनी के फलस्वरूप दोनों ही देशों को अपने रक्षा विभाग तथा सेना पर अपेक्षाकृत अधिक खर्च करना पड़ रहा है। इस अधिक खर्चे की पूर्ति सरकार को करों में वृद्धि करके और अपनी आर्थिक उन्नति की योजनाओं में कटौती करके करना पड़ रहा है। फलस्वरूप भारत सरकार न तो करों में कमी कर सकती है और न अपनी आर्थिक योजनाओं को ही पूर्ण कर पाती है। इस भाँति विभाजन का प्रभाव भारत की आर्थिक स्थिति पर बहुत व्यापक रूप में हुआ है। अब हम भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभाजन का जो प्रभाव हुआ है, उसका पृथक्-पृथक् रूप से विचार करते हैं।

जनसंख्या—भारत की जनसंख्या सन् १९५१ ई० की जनगणना के आधार पर ३६ करोड़ १८ लाख के लगभग है। किन्तु इधर पाकिस्तान की जनगणना सम्बन्धी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, अतः हम सन् १९४९ के अनुमानित आँकड़ों के आधार पर ही दोनों देशों की जनसंख्या के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

जनसंख्या और क्षेत्र फल

(सन् १९४९ ई० के अनुमानित आँकड़ों के आधार पर)

देश	जनसंख्या	प्रतिशत	क्षेत्रफल वर्ग मीलों में	प्रतिशत	जनसंख्या का प्रति वर्ग मील घनत्व
संयुक्त भारत	४१७० लाख	१००%	१५८१०००	१००%	२६४
भारतीय संघ	३३७० लाख	८१%	१२२१०००	७७%	२७६
पाकिस्तान	८०० लाख	१९.२%	३६१०००	२३%	२२२

उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि विभाजन के फलस्वरूप भारतीय संघ को अविभाजित भारत की ८१% जनसंख्या और ७७% भूमि मिली है। पाकिस्तान को इसके विपरीत १९.२% जनसंख्या और २३% भूमि मिली है। विभाजन से पूर्व भारत में प्रति वर्गमील २६४ मनुष्य रहते थे। विभाजन के फलस्वरूप भारत में यह संख्या २७६ हो गयी है और पाकिस्तान में यह घट कर २२२ ही रह गई है। पाकिस्तान के पश्चिमी भाग में और पूर्वी भाग में जनसंख्या के घनत्व में भारी अंतर है क्योंकि पाकिस्तान की ६० प्रतिशत जनसंख्या का निवास पूर्वी पाकिस्तान में है। पश्चिमी पाकिस्तान में जनसंख्या का घनत्व १९५ मनुष्य प्रति वर्गमील है, जब कि पूर्वी पाकिस्तान में यह ७७४ मनुष्य प्रति वर्गमील है।

उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभाजन से भारत की जनसंख्या के घनत्व में

वृद्धि हुई है और पाकिस्तान की जनसंख्या के घनत्व में कमी। इस भाँति विभाजन के फल स्वरूप भारतीय संघ में भूमि पर भार बढ़ा है जब कि पाकिस्तान में यह कम हुआ है।

नगर और ग्रामों की जनसख्या—सन् १९५१ की जनगणना के पूरे आँकड़े उपलब्ध नहीं है अतः सन् १९४१ की जनगणना के आँकड़ों के आधार पर ही हम इस सम्बन्ध में विचार करेंगे। सन १९५१ की जनगणना के अनुसार अविभाजित भारत की जनसंख्या ३८ करोड़ ९० लाख के लगभग थी। जिसमें से कुल जनसख्या का ८७.२% अर्थात् ३३ करोड़ ९२ लाख व्यक्ति गाँवों में निवास करते थे शेष शहरों में। विभाजन के फल स्वरूप जो परिवर्तन हुआ है, वह निम्न लिखित आँकड़ों से स्पष्ट हो जावेगा :—

नगरों और ग्रामों की जनसंख्या

	कुल जनसंख्या	नगरों की जनसंख्या	प्रतिशत	ग्रामों की जनसंख्या	प्रतिशत
अविभाजित भारत	३८९० लाख	४९८ लाख	१२.८%	३३९२ लाख	८७.२%
भारतीय संघ	३१८९ लाख	४४१ लाख	१३.८%	२७४८ लाख	८६.२%
पाकिस्तान	७०१ लाख	५७ लाख	८.६%	६४४ लाख	९१.४%

इस भाँति यह स्पष्ट है कि भारत में पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक व्यक्ति शहर में निवास करते हैं। पाकिस्तान में ९१% व्यक्ति ग्रामों में निवास करते हैं जब कि भारत में ८६% व्यक्ति ही ग्रामों में निवास करते हैं।

सांप्रदायिक आधार पर जनसंख्या का वितरण—भारतीय संविधान द्वारा भारत को लौकिक राज्य घोषित किये जाने के फलस्वरूप जनसंख्या के उपरोक्त आधार पर वितरण किये जाने का कोई महत्व नहीं रह गया है, किन्तु विभाजन का प्रत्यक्ष रूप से सबसे अधिक प्रभाव इसी क्षेत्र में पड़ा है। विभाजन के फलस्वरूप लगभग एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों को देश परिवर्तन करना पड़ा है। ६० लाख से अधिक हिन्दू भारत आये हैं और लगभग ५० लाख मुसलमान भारत से पाकिस्तान गये हैं। अब भी स्थान परिवर्तन जारी है। इस रद्दोबदल के बावजूद भी लगभग डेढ़ करोड़ हिन्दू पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान) में हैं और लगभग ३ करोड़ से अधिक मुसलमान भारत में। नीचे इस सम्बन्ध में अनुमानित आँकड़े दिये जा रहे हैं जिससे वस्तुतः स्थिति का दिग्दर्शन हो सकेगा।

सांप्रदायिक आधार पर जनसंख्या का वितरण

(लाखों में)

	१९४१ में				१९४८ में			
	भारत	प्रतिशत	पाकिस्तान	प्रतिशत	भारत	प्रतिशत	पाकिस्तान	प्रतिशत
हिन्दू	२७६०	८६·५ प्र०	१९०	२७ प्र०	२९२०	८७ प्र०	२१०	२७ प्र०
मुसलमान	४३०	१३·५ "	५१०	७३ "	४५०	१३ "	५७०	७३ "
योग	३१९०	१०० "	७००	१०० "	३३७०	१०० "	७८०	१०० "

कृषि पर विभाजन का प्रभाव—कृषि की दृष्टि से भारत की भूमि पर विभाजन का जो प्रभाव पड़ा है वह भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। दोनों ही देशों में लगभग कुल भूमि के आधे भाग पर ही खेती की जाती है। सन् १९४५-४६ के अनुमानित आँकड़ों के आधार पर अविभाजित भारत में कुल भूमि ६६७० लाख एकड़ थी जिसमें से केवल ३५०० लाख एकड़ पर ही खेती की जाती थी। विभाजन के फलस्वरूप भारत के हिस्से में ५५८० लाख एकड़ भूमि आई जिसमें से २९५० लाख एकड़ ही बोई जाती थी। पाकिस्तान के हिस्से में कुल १०९० लाख एकड़ भूमि आई जिसमें से केवल ५५० लाख एकड़ पर ही खेती की जाती थी। भारत में प्रति व्यक्ति पीछे पाकिस्तान की अपेक्षा कुछ अधिक भूमि पर खेती की जाती है। भारत में प्रति व्यक्ति पीछे ·७५

एकड़ पर खेती की जाती है जब कि पाकिस्तान में प्रति व्यक्ति पीछे '६४ एकड़ पर ही खेती होती है। पश्चिमी पाकिस्तान की स्थिति इस दृष्टि से पूर्वी पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक अच्छी है। पश्चिमी पाकिस्तान में प्रति व्यक्ति पीछे '८५ एकड़ भूमि पर खेती होती है जब कि पूर्वी पाकिस्तान में प्रति व्यक्ति पीछे केवल '४२ एकड़ पर ही खेती होती है। भारत की १५ प्रतिशत भूमि पर जङ्गल है जब कि पाकिस्तान की केवल ५ प्रतिशत भूमि ही जङ्गलों के अन्तर्गत आती है। पश्चिमी पाकिस्तान में ऐसी भूमि पर्याप्त मात्रा में है, जिस पर सिंचाई की सुविधा होने पर खेती की जा सकती है। सिंचाई के साधनों की दृष्टि से पाकिस्तान की स्थिति भारत की अपेक्षा कहीं अच्छी है। अविभाजित भारत के सिंचाई के बड़े-बड़े साधन अर्थात् नहरें और बाँध जो पश्चिमी पंजाब और सिन्ध में स्थित थे पाकिस्तान के हाथ में चले गये। फलस्वरूप इस समय यह स्थिति है कि भारत में कुल खेती की जाने वाली भूमि की १६ प्रतिशत ही सिंचाई के साधनों से पूर्ण है और पाकिस्तान में खेती की जाने वाली भूमि का ४३ प्रतिशत सिंचाई के क्षेत्र में आता है। उपरोक्त समस्त तथ्यों का वास्तविक दिग्दर्शन निम्नलिखित आंकड़ों से हो जाता है :—

खेती की जाने वाली भूमि तथा सिंचाई का प्रदेश (१९४५-४६)

(लाख एकड़ों में)

	कुल भूमि	खेती की भूमि	वास्तव में जोती जाने वाली भूमि	परती भूमि	एक बार से अधिक जोती गई भूमि	सिंचाई वाली भूमि	प्रतिशत	जंगल
अविभाजित भारत	६६७०	३५००	२८७०	६३०	४४०	६७०	१९"	८७०
भारत	५५८०	२९५०	२४१०	५४०	३४०	४७०	१६"	८२०
पाकिस्तान	१०९०	५५०	४६०	९०	१००	२००	३६"	५०

खाद्य और अखाद्य फसलें—विभाजन के पूर्व अविभाजित भारत में २१९० लाख एकड़ भूमि में खाद्य फसलें बोई जाती थीं और ४८० लाख एकड़ में अखाद्य फसलें अर्थात् तेलहन आदि। इस भाँति उस समय में कुल बोई जाने वाली भूमि में से ८२ प्रतिशत भूमि खाद्य फसलें उत्पन्न करने में लगी हुई थी और १८ प्रतिशत अखाद्य फसलों के उत्पादन में। विभाजन के पश्चात् इस क्षेत्र में जो परिवर्तन हुये हैं उनका पता नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

खाद्य और अखाद्य फसलों के अन्तर्गत क्षेत्र

(लाख एकड़ों में)

	१९४६		१९४७		१९५०	
	खाद्य	अखाद्य	खाद्य	अखाद्य	खाद्य	अखाद्य
अविभाजित भारत	२१९०	४८०	—	—	—	—
भारतीय संघ	—	—	१८२०	४०५	१९६०	४२०
पाकिस्तान	—	—	३८०	८०	प्राप्य नहीं	प्राप्य नहीं

खाद्य फसलें—यद्यपि भारत में प्रति व्यक्ति पीछे '६१ एकड़ भूमि पर खाद्य फसलों का उत्पादन किया जाता है और पाकिस्तान में प्रति व्यक्ति पीछे '५४ एकड़ भूमि ही खाद्य फसलें उत्पन्न करने के काम में लाई जाती है, फिर भी पाकिस्तान में सिंचाई आदि की सुविधा होने के फलस्वरूप वे अपनी आवश्यकता से लगभग ६'२५ लाख टन गेहूँ अधिक उत्पन्न करते हैं जब कि भारत में लगभग ३० लाख से ५० लाख टन अन्न की प्रति वर्ष कमी पड़ रही है। पाकिस्तान में भी पश्चिमी पाकिस्तान ही खाद्यान्नों की दृष्टि से स्वावलम्बी है, पूर्वी पाकिस्तान में तो चावल अपर्याप्त मात्रा में ही उत्पन्न होता है। सन् १९४४-४५ में ही ७६५००० टन चावल की कमी

पड़ी थी। इस कमी की पूर्ति पश्चिमी पाकिस्तान अपने यहाँ के चावल से नहीं कर सकता। अतएव पूर्वी बंगाल के लिये चावल या तो बाहर से पाकिस्तान को मंगाना पड़ेगा या बङ्गालियों को गेहूँ खाने का अभ्यास डालना होगा जिसे वे सिन्ध और पंजाब से आसानी से प्राप्त कर सकेंगे। पाकिस्तान में कुल २५००० टन शकर उत्पन्न होती है जो उनके लिये बहुत ही अपर्याप्त है।

जैसा कि अभी हमने बताया कि भारत खाद्यान्नों के विषय में कमी वाला क्षेत्र है। यहाँ प्रति वर्ष ३० से ५० लाख टन तक खाद्यान्नों की कमी पड़ रही है। इस कमी की पूर्ति अभी विदेशों से अन्न मंगाकर की जा रही है किन्तु यह स्थिति बहुत समय तक नहीं चल सकती। भारत सरकार की योजना सन् १९५२ तक खाद्यान्नों के मामले में अपने को आत्मनिर्भर कर लेने की है, किन्तु मौजूदा स्थिति को देख कर यह संभव प्रतीत नहीं होता। खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने में सबसे बड़ी बाधा सिंचाई की कमी है जिसके लिये भारत सरकार प्रयत्नशील है। शकर के मामले में भारत को स्वावलम्बी कहा जा सकता है। यहाँ प्रतिवर्ष १२ लाख टन शकर का उत्पादन होता है।

अखाद्य फसलें—जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अखाद्य फसलों के अन्तर्गत हमारे यहां रुई, जूट और तेलहन मुख्यतः आते हैं। इस स्थल पर हम विचार करेंगे कि विभाजन का इन पर क्या प्रभाव पड़ा है।

जूट—विभाजन का प्रभाव जूट के उत्पादन और तत्सम्बन्धी उद्योग पर बहुत ही गहरा पड़ा है। विभाजन से पूर्व अविभाजित भारत में लगभग ८० लाख गांठ जूट उत्पन्न होता था जिसमें से ८५ प्रतिशत केवल अविभाजित बङ्गाल में उत्पन्न किया जाता था। विभाजन के पश्चात् स्थिति यह है कि ७३ प्रतिशत जूट उत्पादन करने वाला क्षेत्र पूर्वी बङ्गाल अर्थात् पाकिस्तान के हाथ में चला गया है। जूट की समस्त मिलें भारत के क्षेत्र में आई हैं अतएव उन्हें चलाने के लिये बंगाल का जूट आना आवश्यक है। अनुमानतः भारतीय जूट की मिलें ६० लाख गाँठ जूट प्रतिवर्ष अपने उपयोग में लाती हैं। लगभग ९ लाख गांठ जूट निर्यात किया जाता है और एक लाख पचास हजार गांठ जूट अन्य कार्यों में खर्च किया जाता है। इस भांति भारत में प्रति वर्ष लगभग ७० लाख गांठ जूट की आवश्यकता होती है। इसमें से वह पाकिस्तान से केवल ४५ से ५० लाख गाँठ जूट लेता है और भविष्य में इतना भी नहीं लेना चाहता। ऐसी योजना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे कि भारत स्वयं जूट का उत्पादन अपने क्षेत्र में करके स्वालम्बी हो सके। पाकिस्तान से जूट लेने में भारत को दो मुख्य कठिनाइयाँ हैं :—

१—पाकिस्तान राजनैतिक विरोध और कटुता के कारण भारत को जूट और रुई देने का इच्छुक नहीं है। वह अन्य नये बाजार बनाने में प्रयत्नशील है।

२—पाकिस्तान द्वारा अपने रुपये का अवमूल्यन न करने के फलस्वरूप पाकिस्तानी जूट भारत को बड़ा मंहगा पड़ता है क्योंकि भारत के १४० रु० पाकिस्तान के १०० रु० के बराबर ही ठहरते हैं। अतः भारत स्वयं अपने यहाँ जूट उत्पन्न करने के लिये प्रयत्नशील है। इस दिशा में कुछ काय भी हुआ है। सन् १९४७ में भारत में केवल १७ लाख गांठ जूट उत्पन्न हुआ था और १९४९ में यह ३१ लाख गाँठ पहुँच गया। सन् १९५० में यह और भी अधिक बढ़ा और लगभग ५० लाख गाँठ तक पहुँच गया है। निम्नलिखित आंकड़े इस तथ्य को भलीभांति प्रगट करते हैं—

जूट का उत्पादन

	लाख एकड़ों में				लाख गांठों में			
	१९४७	१९४८	१९४९	१९५०	१९४७	१९४८	१९४९	१९५०
भारत	७	८·३	१२	—	१७	२१	३१	—
पाकिस्तान	२१	१९	१६	१२·५	९८	५५	३३	४३·६

रुई --जूट की भाँति ही रुई भी भारत के उद्योगों के चलाने के लिये एक महत्वपूर्ण पदार्थ है। विभाजन का प्रभाव इस पर भी व्यापक रूप से पड़ा है। विभाजन के पूर्व १९४६-४७ में संयुक्त भारत में १४७ लाख एकड़ भूमि में रुई बोई गई थी जिससे लगभग ३५ लाख गाँठ का उत्पादन हुआ था। विभाजन के फलस्वरूप जो नवीन स्थिति उत्पन्न हुई है उसका चित्रण निम्न-लिखित आँकड़ों से भलीभाँति हो जाता है :—

रुई का उत्पादन

	लाख एकड़ों में				लाख गाँठों में			
	१९४७	१९४८	१९४९	१९५०	१९४७	१९४८	१९४९	१९५०
भारत	११७	१०७	११३	११८	२२	२२	१७·७	२१·७
पाकिस्तान	३०	२८	२८	—	११	१०	१२	—

उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट ही हो जाता है कि पाकिस्तान में प्रति एकड़ रुई की पैदावार भारत से अधिक है। ऐसा होने का प्रमुख कारण यह है कि पाकिस्तान में रुई पैदा करने वाला क्षेत्र पंजाब और सिन्ध में है जहाँ कि नहर की सिंचाई की पूर्ण व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पाकिस्तानी क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली रुई लम्बे रेशे वाली होती है जिसकी कि भारतीय मिलों को आवश्यकता रहती है। पाकिस्तान में लम्बे रेशे वाली रुई का उत्पादन लगभग १० लाख गाँठ प्रति वर्ष का होता है जिसमें से ८ लाख गाँठ के लगभग तो भारत ही खपा सकता है, किन्तु जूट की ही भांति भारत को पाकिस्तान से रुई मिलने में भी वही कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और पिछले वर्षों में भारत को पर्याप्त मात्रा में पाकिस्तान से रुई प्राप्त नहीं हो सकी है। पाकिस्तान की रुई के स्थान पर मिश्र या अमरीका की लम्बे रेशे वाली रुई प्रयोग में लाई जा सकती है किन्तु भारत प्रत्येक वस्तु के लिए विदेशों पर निर्भर नहीं रह सकता अतः वह रुई का उत्पादन बढ़ाने में भी जूट की ही भांति प्रयत्नशील है।

तेलहन —तेलहन के मामले में भारत पाकिस्तान के मुकाबले में कहीं अधिक संपन्न देश है। अविभाजित भारत में जितने क्षेत्र में तेलहन उत्पन्न किया जाता था उसका ८२% क्षेत्र भारत के हिस्से में आया है और केवल ८% पाकिस्तान के हिस्से में। भारत और पाकिस्तान की तेलहन सम्बन्धी स्थिति निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट हो जाती है :—

तेलहन का उत्पादन

	दस लाख एकड़ों में				दस लाख टनों में			
	१९४७	१९०८	१९४९	१९५०	१९४७	१९४८	१९४९	१९५०
भारत	२३	२४	२४	२४	५·२	५·१	४·५	५·१
पाकिस्तान	१·५	१·६	१·६	१·५	·४	·४	·४	·४

भारत में लगभग सभी प्रकार के तेलहन उत्पन्न होते हैं जैसे मूँगफली, दुआँ, सरसों, अलसी, महुआ, रेड़ी आदि, किन्तु पाकिस्तान में मूंगफली तो कतई नहीं होती। भारत में प्रतिवर्ष लगभग ३० लाख टन मूंगफली होती है जबकि पाकिस्तान में नहीं के बराबर होती है।

अन्य पदार्थ—उपरोक्त पदार्थों के अतिरिक्त भारत और पाकिस्तान में कुछ अन्य वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार है।

भारत में पाकिस्तान की अपेक्षा लगभग दुगनी तम्बाकू उत्पन्न होती है। पाकिस्तान में डेढ़ लाख टन तम्बाकू उत्पन्न होती है जब कि भारत में लगभग तीन लाख टन। काफी का उत्पादन भारतीय क्षेत्र में १६००० टन के लगभग है जब कि पाकिस्तान में यह नहीं के बराबर होती है।

भारत में ४०५० लाख पौन्ड के लगभग चाय उत्पन्न होती है जब कि पाकिस्तान में केवल ६०० लाख पौन्ड के ही लगभग। भारत की ७५ प्रतिशत चाय निर्यात कर दी जाती है।

पशुओं और दूध के मामले में भारत की अपेक्षा पाकिस्तान अधिक संपन्न है। उनके यहाँ की गाय और भैंस भारतीय गाय और भैंस की अपेक्षा अधिक दूध देती हैं। फलस्वरूप प्रति व्यक्ति दूध का औसत पाकिस्तान में भारत से अधिक पड़ता है।

खनिज पदार्थ—खनिज पदार्थों की उपलब्धि और उत्पादन की दृष्टि से भारत पाकिस्तान की अपेक्षा कहीं अधिक संपन्न है। भारत के पास लगभग सभी प्रकार के खनिज पदार्थ हैं जब कि पाकिस्तान के पास केवल थोड़ा सा पेट्रोल और बहुत कम मात्रा में कोयला है। कोयला जो आधुनिक समय में उद्योग-धन्धों का प्राण है, उसकी स्थिति वर्तमान समय में यह है कि भारत के पास इस समय लगभग ६००००० लाख टन कोयला खानों में है जिसमें से १६४७६० लाख टन निकलने लायक है, इसके विपरीत पाकिस्तान के पास कुल ३००० लाख टन ही कोयले का भंडार है और उसमें से १६६० लाख टन निकलने लायक है। इसी भांति बाक्साइट का भी संपूर्ण भंडार भारत का २५०० लाख टन का है और उसमें से उच्च श्रेणी के बाक्साइट का भंडार भी ३५० लाख टन है। इसके विपरीत पाकिस्तान में बाक्साइट कतई नहीं है। बाक्साइट का महत्व भी आधुनिक युग में लोहे से कम नहीं है क्योंकि हल्की धातुओं, एलमुनियम के उत्पादन तथा हवाई जहाज आदि के निर्माण में इसका प्रयोग आवश्यक होता है।

थोड़े से पेट्रोल और कोयले के अतिरिक्त पाकिस्तान के पास जिप्सियम और क्रोमाइट पर्याप्त मात्रा में है और पहाड़ी नमक पर एक प्रकार से उसका पूर्णाधिकार है। भारत के पास लोहा, कोयला, ताँबा, मैंगनीज, बाक्साइट, पेट्रोल, माइका, क्रोमाइट, जिप्सियम आदि सभी प्रकार के खनिज पदार्थ हैं। दोनों की खनिज सम्पत्ति की तुलनात्मक अध्ययन के लिये निम्नलिखित आँकड़े दिए जाते हैं जो सन् १९४४ के उत्पादन को आधार मानकर लिए गए हैं :—

खनिज पदार्थ	भारत	पाकिस्तान
कोयला	२४८ लाख टन	३ लाख टन
लोहा	२३ लाख टन	—
ताँबा	३·३ लाख टन	—
मैंगनीज	३·७ लाख टन	—
बाक्साइट	१२१३५ टन	—
पेट्रोल	६६० लाख टन	११ लाख टन
माइका	१३६००० हन्डरवेट	—
क्रोमाइट	२१ हजार टन	१६ हजार टन
जिप्सियम	२६ हजार टन	५८ हजार टन

भारत भी खनिज पदार्थों की दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं कहा जा सकता है। उदाहरणतः पेट्रोल का उत्पादन भारत में बहुत ही अपर्याप्त मात्रा में होता है। उसे इसके लिये विदेशों पर निर्भर रहना होता है। इसी भाँति कुछ अन्य आवश्यक पदार्थ भी हैं।

विद्युत शक्ति के साधनों की दृष्टि से दोनों ही देश सम्पन्न हैं किन्तु वर्तमान समय में अधिकांश विद्युत शक्ति के उत्पादन के केन्द्र भारतीय सङ्घ के क्षेत्र में ही आए हैं। भविष्य की योजनाओं में भी भारत ही अधिक शक्ति पैदा करेगा यह स्पष्ट ही है।

उपरोक्त विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि भारत खनिज पदार्थों की दृष्टि से पाकिस्तान की अपेक्षा कहीं अधिक संपन्न देश है। सम्भव है भविष्य में अनुसन्धानों और

शोधों द्वारा दोनों ही देशों में कुछ खनिज पदार्थ और उपलब्ध हो सकें। किन्तु पाकिस्तान में इसकी निकट भविष्य में कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती। अतः भविष्य में काफी लम्बे समय तक पाकिस्तान को कुछ महत्वपूर्ण खनिज पदार्थों का जैसे लोहा, मैंगनीज, ताँबा, अभ्रक आदि का भारत अथवा अन्य देशों से आयात करना पड़ेगा।

उद्योग धन्धे—देश के विभाजन का सबसे अधिक घातक और व्यापक प्रभाव औद्योगिक क्षेत्र में हुआ है। विभाजन के फलस्वरूप आबादी की जो भयंकर अदला बदली हुई है उसका परिणाम यह हुआ कि लाखों हिन्दुओं को पाकिस्तानी क्षेत्र छोड़कर भारत आना पड़ा और लाखों मुसलमानों को भारत छोड़कर पाकिस्तान। पाकिस्तान के अधिकांश उद्योग-धन्धों और अधिकांश व्यापार के मालिक और संचालक हिन्दू ही थे। उनके चले आने से पाकिस्तान में उद्योग-धन्धों को चलाने के लिये पूँजी और योग्य संचालकों एवं व्यवस्थापकों का सर्वथा अभाव हो गया है। वैसे तो संपूर्ण भारत में ही किन्तु विशेष रूप से पूर्वी पंजाब में जो भारतीय क्षेत्र में आया है, अधिकांश रूप से कारीगर और श्रमिक मुसलमान ही थे। पाकिस्तान बन जाने से वे भारत छोड़कर चले गये और भारतीय उद्योग-धन्धों में कुशल कारीगरों की एक बड़ी संख्या का अभाव हो गया जिसका प्रभाव उत्पादन पर भी भंयकर रूप से पड़ा। इस भाँति दोनों ही देशों को विभाजन से हानि हुई।

इसके अतिरिक्त विभाजन के फलस्वरूप जो दूसरी समस्या दोनों देशों के सामने आई वह कच्चे माल की है। भारत का औद्योगिक विकास संयुक्त भारत की ही दृष्टि से हुआ था। उद्योग-धन्धों के संस्थापकों ने कभी यह कल्पना भी न की थी कि कभी देश का इस भाँति विभाजन हो जावेगा। आकस्मिक रूप से इस घटना के घट जाने से कच्चे माल के सम्बन्ध में स्थिति यह हो गई है कि जूट और रुई का अधिकांश उत्पादन तो पाकिस्तान में होता है और कपड़े तथा जूट की अधिकांश मिलें भारतीय क्षेत्र में आई हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि कपड़े और जूट की भारतीय मिलों को चलाने के लिये कच्चे माल का अभाव हो गया है और उधर पाकिस्तान को उपरोक्त दोनों पदार्थ बेचने की समस्या। यदि दोनों देश समझौते और सद्भावना से काम लें तो इस समस्या का आसानी से निराकरण हो सकता है, किन्तु पाकिस्तान के मौजूदा रुख से इसकी संभावना कम ही प्रतीत होती है।

विभिन्न उद्योग धन्धों की पाकिस्तान और भारत की स्थिति इस भाँति है—

उद्योग धन्धे	मिलों की संख्या भारत	पाकिस्तान
कपड़े की मिलें	३८०	१४
जूट की मिलें	१११	—
ऊन की मिलें	१७	—
रेशमी कपड़े की मिलें	२७४	६
चीनी की मिलें	१६५	६
लोहे के कारखाने	३६	—
कागज की मिलें	१६	—
दियासलाई के कारखाने	३६	८
काँच के कारखाने	१४०	३
सीमेन्ट के कारखाने	१६	५
रासायनिक कारखाने	७५	३

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की अपेक्षा पाकिस्तान औद्योगिक क्षेत्र में बहुत पिछड़ा हुआ है। संयुक्त भारत की केवल ३·५% प्रतिशत कपड़े की मिलें, ८% चीनी की मिलें, १२% सीमेन्ट के कारखाने और लगभग ५ प्रतिशत कांच के कारखाने पाकिस्तानी क्षेत्र में गये हैं। इस स्थल पर हमें यह न भूलना चाहिये कि भारत पाकिस्तान की अपेक्षा औद्योगिक क्षेत्र में अवश्य समृद्ध है किन्तु वैसे राष्ट्र की औद्योगिक आवश्यकताओं को सम्पूर्ण रूप से पूर्ण करने में असमर्थ है। भारत में भी अभी औद्योगीकरण की बहुत आवश्यकता है। यदि हम दोनों देशों की औद्योगीकरण की दृष्टि से तुलना करें तो निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचेगें।

१—विभाजन के फलस्वरूप उद्योगों की दृष्टि से भारत पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति में रहा है। संयुक्त भारत की ८१% जन संख्या भारतीय सङ्घ के भाग में आई है जब कि संयुक्त भारत के समस्त उद्योगों का ८६% भाग भारतीय सङ्घ में आ गया है और साथ ही साथ संयुक्त भारत में लगे हुये श्रमिकों का ६०% भाग भी भारतीय सङ्घ के भाग में आया है जो इन उद्योगों का संचालन कर रहा है।

२—संयुक्त भारत के प्रमुख-प्रमुख उद्योग धन्धों सम्बन्धी कारखाने भारत के भाग में आये।

३—पाकिस्तान के पास जो भी उद्योग धन्धे हैं, वे भारत के उद्योगों की अपेक्षा कहीं अधिक छोटे पैमाने पर हैं।

४—भारतीय सङ्घ में विभिन्न प्रकार के उद्योग हैं जो देश की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं किन्तु पाकिस्तान में ऐसा नहीं है।

इस स्थल पर हम कुछ बड़े बड़े उद्योगों का विचार करते हैं। जूट उद्योग दोनों देशों के लिये एक बड़ा उद्योग है। इस उद्योग के सम्बन्ध में स्थिति यह है कि संयुक्त भारत के जूट के कुल उत्पादन का लगभग तीन चौथाई जूट पूर्वी बङ्गाल में उत्पन्न होता है जो पाकिस्तान के क्षेत्र में चला गया है। इसके साथ ही साथ पूर्वी बङ्गाल में जो जूट उत्पन्न होता है वह भारत में उत्पन्न होने वाले जूट की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठतर होता है। साथ ही साथ जूट की समस्त मिलें भारतीय क्षेत्र में आ गई हैं और उन्हें अपनी आवश्यकता के ७०% भाग के लिये पाकिस्तानी जूट पर निर्भर रहना होता है। इस भाँति भारत पाकिस्तान के कच्चे जूट के लिये सबसे उपयुक्त बाजार है। उपरोक्त कमी को दूर करने के लिये भारतीय क्षेत्र में भी अधिक जूट उत्पन्न किया जा रहा है और आशा है भविष्य में भारत कच्चे जूट की कमी को बहुत बड़े अंश तक पूरा कर लेगा।

दूसरा बड़ा उद्योग सूत और कपड़े का है। विभाजन के फलस्वरूप संयुक्त भारत की कुल मिलों का ५% से कम ही भाग पाकिस्तान के हिस्से में आया है और ६५ प्रतिशत मिलें भारतीय सङ्घ के हिस्से में आई हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत अपनी आवश्यकता से कुछ अधिक ही कपड़ा बना लेता है जब कि पाकिस्तान को काफी कपड़ा बाहर से आयात करना होता है। सन् १६४८-४६ में भारत ने ३४ करोड़ १० लाख गज कपड़े का निर्यात किया था। इसके विपरीत पाकिस्तान को लगभग प्रतिवर्ष ५ अरब गज कपड़ा बाहर से आयात करना होगा। रुई के सम्बन्ध में पाकिस्तान की स्थिति काफी दृढ़ है। संयुक्त भारत की कुल रुई की पैदावार का ४०% भाग पाकिस्तान उत्पन्न करता है। साथ ही साथ लम्बे रेशे वाली सारी रुई का उत्पादन पाकिस्तान के क्षेत्र में होता है जिसकी भारतीय मिलों को बहुत आवश्यकता है। इस भाँति लम्बे रेशे वाली रुई के लिये भारत को पाकिस्तान का या अन्य देशों का आश्रित रहना ही होगा। मौजूदा स्थिति यह है कि भारत को अपनी मिलों को ठीक से चलाने के लिये १० लाख गांठ रुई अन्य देशों से आयात करनी होगी।

सीमेन्ट के उद्योग के सम्बन्ध में स्थिति यह है कि भारतीय सङ्घ में सीमेन्ट के १६ कारखाने हैं जब कि पाकिस्तान में केवल पाँच। सन् १६४८ में भारतीय सङ्घ में पन्द्रह लाख पचास हजार टन सीमेन्ट का उत्पादन हुआ था और पाकिस्तान में केवल तीन लाख तीस हजार टन का। साथ ही साथ पाकिस्तान का सीमेन्ट उद्योग आंशिक रूप से भारत के ही ऊपर निर्भर है क्योंकि कोयला और जूट के बोरे इस उद्योग की जान हैं, जो भारत से ही पाकिस्तान को उपलब्ध होते हैं। अतः भारत की सहायता के अभाव में पाकिस्तान के सीमेन्ट के कारखाने अपना उत्पादन ठीक से नहीं कर सकते।

लोहे और इस्पात बनाने वाला कोई भी कारखाना पाकिस्तान में नहीं है, अतः लोहे और इस्पात सम्बन्धी अन्य उद्योग भी वहाँ पनप नहीं सकते।

यद्यपि पाकिस्तान में गन्ना काफी होता है, किन्तु वहाँ शकर बनाने के कारखाने बहुत कम हैं। अतः शकर के लिये भी पाकिस्तान अन्य देशों का मोहताज बना रहेगा।

कागज, ऊनी कपड़े तथा अन्य छोटे-छोटे उद्योग धन्धों की दृष्टि से भी पाकिस्तान क दूसरे देशों के आश्रित रहना पड़ता है।

पंजाब और बंगाल के उद्योग धन्धों पर विभाजन का प्रभाव—विभाजन का सबसे अधिक प्रभाव बङ्गाल और पंजाब पर पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप अन्य समस्त प्रान्त तो समूचे के समूचे या तो भारत में रहे अथवा पाकिस्तान में, किन्तु इन दोनों प्रान्तों को भी विभाजित होना पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप इन दोनों प्रान्तों के दोनों भागों में भयंकर रूप से आबादी की रद्दोबदल हुई। लाखों हिन्दुओं को पूर्वी बंगाल और पश्चिमी पंजाब छोड़कर भारत आना पड़ा और लाखों मुसलमान स्वयं ही स्वेच्छा से भारतीय सङ्घ छोड़कर पाकिस्तान चले गये। भयानक राजनैतिक अशान्ति और रक्षा के अभाव में लगभग एक वर्ष तक पंजाब, सिन्ध, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त के समस्त कारखाने बन्द रहे और कुछ नष्ट भी कर दिये गये।

इस स्थल पर हम बारी-बारी से दोनों प्रान्तों के उद्योग धन्धों पर विभाजन का जो प्रभाव पड़ा उस पर विचार करेंगे। पहले हम बङ्गाल को लेते हैं। उद्योग धन्धों के सम्बन्ध में पूर्वी बङ्गाल की स्थिति पश्चिमी बङ्गाल के मुकाबले में बहुत ही निम्नतर है। जूट, इंजिनियरिंग, आर्डिनेंस, तेल तथा धान आदि के अधिकांश कारखाने पश्चिमी बङ्गाल में स्थित हैं। इसके साथ ही साथ भारत का सबसे बड़ा औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्र कलकत्ता नगर भी पश्चिमी बङ्गाल के हिस्से में आया है। विभाजन के बाद दोनों बङ्गाल में विभिन्न उद्योग धन्धे जिस प्रकार स्थित थे, वे निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाते हैं—

उद्योग धन्धे	पश्चिमी बङ्गाल	पूर्वी बङ्गाल
जूट की मिलें	६६	—
कपड़े और सूत की मिलें	३१	८
ऊन की मिल	१	—
शक्कर की मिलें	१	१२
रासायनिक कारखाने	२५	—
तेल की मिलें	२८	३
आर्डिनेंस फैक्टरी	३	—
इंजिनियरिंग के कारखाने	२०३	२३

ईंट और रायल के कारखाने	१	—
जहाज बनाने के कारखाने और डाकयार्ड	३	१
चमड़े के कारखाने	६	—

पंजाब पर भी विभाजन का कम प्रभाव नहीं पड़ा है। विभाजन के पूर्व भी पञ्जाब औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ ही प्रान्त था। विभाजन के फलस्वरूप पश्चिमी पाकिस्तान लाभ में रहा। उसे प्रथम तो लाहौर सरीखा औद्योगिक एवं व्यापारिक नगर मिल गया इसके अतिरिक्त पश्चिमी पाकिस्तान में पंजाब के अधिकांश उद्योग धन्धे स्थित हैं। दोनों हिस्सों की स्थिति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

उद्योग धन्धे	पश्चिमी पंजाब	पूर्वी पंजाब
कपड़े और सूत की मिलें	६	१०
रासायनिक कारखाने	६	३
इंजिनियरिंग के कारखाने	२५	१४
आर्डिनेंस फैक्टरियाँ	६	१
दियासलाई बनाने के कारखाने	३	—
शक्कर के कारखाने	२	३
तेल की बड़ी मिलें	६	२
ऊन की मिलें	१	६
आटे की मिलें	१२	८
चमड़े के कारखाने	२	१
कागज की मिल	—	१

व्यापार—विभाजन का भारत के व्यापार के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा है, इसे जानने से पूर्व हम विभाजन से कुछ समय पूर्व की स्थिति पर दृष्टिपात करेंगे। जैसा कि हम पूर्व परिच्छेदों में बता चुके हैं कि द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत के व्यापार का संतुलन अक्सर उसके विपक्ष में रहा करता था और भारत एक ऋणी देश था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के समय से भारतीय व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में रहने लगा अर्थात् भारत आयात से अधिक मूल्य की वस्तु निर्यात करने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भारत एक कर्जदार देश न रहकर कर्ज देने वाला देश बन गया। किन्तु यह स्थिति बहुत समय तक कुछ नई समस्यायों के कारण चलने से असमर्थ रही। लड़ाई के पश्चात् भारत को अन्न संकट, तैयार माल की भारी आवश्यकता, तथा अन्य कुछ आवश्यकताओं वश विदेशों से भारी आयात करना पड़ा। इसी बीच सन् १९४७ में पाकिस्तान का निर्माण हुआ जिसके फल स्वरूप नवीन आर्थिक समस्यायों का जन्म हो गया। व्यापार पर इसका बहुत व्यापक और प्रभावशाली प्रभाव हुआ। कल तक जो भारत के लिए आन्तरिक व्यापार था वह पाकिस्तान के निर्माण से विदेशी व्यापार हो गया। विभाजन के पूर्व भारत और पाकिस्तान की आर्थिक समस्यायें एक थीं और देश के एक भाग की आवश्यकताएँ दूसरे भाग द्वारा पूरी होती थीं। आज भी विभाजन के पश्चात् दोनों देश बहुत कुछ अंश तक एक दूसरे पर निर्भर हैं। राजनैतिक कारणों से वे भले ही आत्मनिर्भर होने का प्रयत्न करते रहें या अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति राजनैतिक झगड़ों के कारण एक दूसरे से न करके अन्य देशों से करें, यह एक दूसरा प्रश्न है। विभाजन के पूर्व भारत का आन्तरिक व्यापार विदेशी व्यापार से अनुमानतः पन्द्रह गुना था। यह भी केवल

अनुमान मात्र ही है, संभव है इससे भी अधिक रहा हो। विभाजन के परिणाम स्वरूप इस आंतरिक व्यापार का एक बड़ा अंश विदेशी व्यापार हो गया है। आज की स्थिति में हम यह सही-सही तो मालूम नहीं कर सकते कि भारत और पाकिस्तान की वर्तमान व्यापार संबन्धी स्थिति क्या है, क्योंकि प्रथम तो हमारे यहाँ सही आँकड़े एकत्रित करने के पूर्ण साधन नहीं हैं और दूसरे पाकिस्तान और भारत के राजनैतिक झगड़े अभी तक सुलझे नहीं हैं और निकट भविष्य में उनके सुलझने की कोई संभावना भी प्रतीत नहीं होती। राजनैतिक मनमुटाव के फलस्वरूप व्यापार अभी तक अपनी स्वाभाविक स्थिति में नहीं आया है और कब तक आ पायेगा, यह भी सही-सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

अब तक के अध्ययन से यह स्पष्ट ही है कि भारत को पाकिस्तान से कच्चा जूट, लम्बे रेशे की रुई और खाद्यानों को आयात करने की आवश्यकता है। इसके विपरीत पाकिस्तान को भारत से कोयला, काँच का सामान, अभ्रक, धातुएँ, कपड़ा, शक्कर, कमाया हुआ चमड़ा, इस्पात और लोहा जूट का बना हुआ सामान आदि आयात करने की आवश्यकता है। भविष्य में भारत और पाकिस्तान के मध्य जो व्यापार होगा उसकी स्थिति क्या रहेगी इस विषय में भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों के भिन्न-भिन्न अनुमान हैं, किन्तु इस विषय पर सबका मत एक ही है कि व्यापार का संतुलन भारत के विपक्ष में रहेगा और पाकिस्तान के पक्ष में। आंकड़ों के विषय में कुछ मतभेद अवश्य है। सन् १९४६-४७ के आंकड़ों के आधार पर प्रोफेसर सी० एन० वकील का अनुमान है कि भारत पाकिस्तान से प्रतिवर्ष चालीस लाख गाँठ जूट, पांच लाख टन खाद्यान्न तथा पाँच लाख गांठ के लगभग लम्बे रेशे की रुई आयात करेगा और इसके विपरीत पाकिस्तान भारत से लगभग तीस लाख टन कोयला, पचास करोड़ गज कपड़ा, पचास लाख मन चीनी तथा कुछ अन्य पदार्थ आयात करेगा। उपरोक्त आंकड़ों को यदि आधार मान लिया जाय तो भारत का आयात निर्यात से ४७ करोड़ रुपया अधिक होगा और यह भारतीय व्यापार के संतुलन के विपक्ष में पड़ेगा और पाकिस्तानी व्यापार के पक्ष में। इस स्थल पर एक अन्य अर्थशास्त्री डा० डी० के० मलहोत्रा का भी अनुमान व्यक्त करना अनुचित न होगा। डा० मलहोत्रा का अनुमान था कि भारत और पाकिस्तान के व्यापार की स्थिति इस प्रकार होगी—

१—भारत पाकिस्तान को कोयले, लोहे, कपड़े, शक्कर, जूट के सामान आदि के रूप में ९० करोड़ रुपये का सामान देगा।

२—पाकिस्तान भारत को जूट, खाद्यान्नों तथा रुई के रूप में ९५ करोड़ रुपये का सामान देगा।

इस भाँति भारत को पाकिस्तान से लगभग पाँच करोड़ रुपये अधिक का सामान लेना होगा और व्यापार का संतुलन भारत के विपक्ष में रहेगा।

प्रो० सी० एन० वकील और डा० मलहोत्रा के उपरोक्त अनुमान सामान्य परिस्थितियों के आधार पर हैं, जबकि आयात और निर्यात निर्बाध रूप से दोनों देशों के मध्य हो सकता हो और उस पर आयात-निर्यात कर द्वारा कोई बाधा न खड़ी की गई हो। किन्तु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है पाकिस्तान अपनी आर्थिक नीति का निरूपण इस भाँति कर रहा है जिससे कि वह भविष्य में आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया आत्मनिर्भर बन जाय। इसके साथ ही साथ पाकिस्तान की नीति यह भी रही है कि वह भारत को अपना कच्चा माल देने की अपेक्षा अन्य देशों में अपना कच्चा माल बेचना चाहता है और बना हुआ माल भारत की अपेक्षा अन्य देशों से लेना उचित समझता

है। अपनी इस नीति को सफल बनाने के हेतु उसने भारत को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर कड़ी चुङ्गी लगा दी। भारत को भी अपनी आत्मरक्षा हेतु वही नीति बरतनी पड़ी। पाकिस्तान द्वारा किसी भाँति ऊँची चुङ्गी की दरें निर्यात पर स्थिर की गईं, उसका अनुमान निम्नलिखित चुङ्गी की दरों से हो जायगा जो उसने फरवरी १९४८ में स्थिर की थी—

पाकिस्तान द्वारा निर्धारित निर्यात कर कुछ वस्तुओं पर

(१) रुई	६० रुपया प्रति गाँठ (४०० पौन्ड)
(२) जूट	६० रुपया प्रति गाँठ
(३) चमड़ा और खाल	मूल्य पर १०%
(४) बिनोला	मूल्य पर १०%

भारत द्वारा निर्धारित निर्यात कर कुछ वस्तुओं पर

(१) कपड़ों और सूत	मूल्य पर २५%
(२) तेलहन	८० रुपया प्रति टन
(३) बनस्पति पर	२०० रुपया प्रति टन
(४) मेंगनीज	१० रुपया प्रति टन

उपरोक्त प्रकार की नीति का असर यह हुआ कि व्यापार की गति में बाधा तो खड़ी हुई ही, साथ ही साथ भविष्य के लिए शत्रुता का वातावरण भी उत्पन्न हो गया जो दोनों ही देशों के लिये अहितकर है।

उपरोक्त बाधाओं एवं जटिल परिस्थितियों के बावजूद भी भारत और पाकिस्तान के व्यापार के विषय में हम १९४८-४९ के आँकड़ों से कुछ अनुमान कर सकते हैं। हम इस स्थल पर १९४८-४९ के वर्ष को आधार इस कारण मान रहे हैं, क्योंकि १९४७-४८ का वर्ष विभाजन के घातक प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ था और १९४९-५० के वर्ष में अवमूल्यन के प्रभाव स्वरूप दोनों देशों का परस्पर व्यापार एक प्रकार से ठप्प ही हो गया था। अतः १९४८-४९ के आँकड़ों को ही हम अपने अध्ययन के लिये उपयुक्त समझते हैं—

भारत का पाकिस्तान से व्यापार

(१९४८—१९४९)

लाख रुपयों में

	निर्यात	आयात
स्थल द्वारा	३०३६	४८६६
जल द्वारा	४४२६	२२२३
योग	७४६२	१०७२९
व्यापार का संतुलन—		—३२६७ लाख रुपया

वस्तुओं की दृष्टि से उपरोक्त व्यापार की स्थिति इस भाँति थी—

भारत और पाकिस्तान का व्यापार, वस्तुओं की दृष्टि से
(१६४८-४६)
करोड़ रुपयों में

भारत से निर्यात	मूल्य	भारत में आयात	मूल्य
१—कपड़ा और सूत	२१	१—कच्चा जूट	७१
२—जूट का बना सामान	६	२—रुई	१७
३—कोयला	२	३—अन्य पदार्थ	१६
४—सरसों का तेल	५	(चमड़ा, खाद्यान्न	
५—तम्बाकू	५	फल, बीज आदि)	
६—नकली रेशम का सामान	५		
७—अन्य पदार्थ	२८		

पाकिस्तान की वर्तमान गति विधि से यह स्पष्ट है कि वह अपना कच्चा माल भारत के हाथ न बेचकर अन्य देशों को बेचने के लिए उत्सुक है। इसके साथ ही साथ वह अपने यहाँ के जूट और रुई का उपयोग करने के लिए अमरीका आदि देशों से मशीन आदि खरीदने की भी चेष्टा कर रहा है जिससे कि वह अपने कच्चे माल का उपयोग पाकिस्तान में ही कर सके। जूट और रुई कि मिलों की मशीने खरीदने के लिए पाकिस्तान अमेरिका, जापान, आस्ट्रेलिया और अर्जेन्टाइना आदि देशों से बात कर रहा है। ऐसी स्थिति में भारत के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण मार्ग यही होगा कि वह अपनी जूट और कपड़े की मिलों को चलाने के लिए भारत में ही जूट और रुई की पैदावार आत्मनिर्भर होने योग्य बढ़ा ले। इस दिशा में भारत प्रयत्नशील भी है और आशा है कि शीघ्र ही निकट भविष्य में वह उपरोक्त दों वस्तुओं के लिए आत्मनिर्भर हो भी जायगा।

इस स्थल पर यह स्पष्ट कर देना असंगतपूर्ण न होगा कि भारत और पाकिस्तान के व्यापार के सभी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। व्यापार संबंधी आँकड़ों में जो व्यापार दोनों देशों के अन्तर्गत समुद्र द्वारा होता है, वह तो सम्मिलित कर लिया जाता है, किन्तु बहुत सा व्यापार जो जमीन के रास्ते होता है उसके आँकड़े ठीक से और सही सही ज्ञात नहीं हो पाते। ऐसी स्थिति में व्यापार की वास्तविक स्थिति का सही सही अनुमान होना सम्भव नहीं है। एक बात स्पष्ट है कि दोनों देशों के व्यापार में व्यापार का संतुलन अभी पाकिस्तान के पक्ष में ही है।

यातायात—इस स्थल पर हम विचार करेंगे कि विभाजन का देश के यातायात के साधनों पर क्या प्रभाव पड़ा है। यातायात के भारतवर्ष में प्रमुख रूप से चार साधन थे—

१—रेलें
२—सड़कें
३—समुद्री यातायात
४—वायु मार्ग

इन सबमें सबसे महत्वपूर्ण साधन रेलें ही है अतएव सर्वप्रथम हम उसी को लेते हैं—

रेलें—विभाजन से पूर्व संयुक्त भारत में नौ रेलवे लाइनें थीं। विभाजन होने पर इनमें से सात लाइने थीं। विभाजन होने पर इनमें से सात लाइनें तो पूरी की पूरी भारतीय क्षेत्र में आई और शेष दो लाइनों में से कुछ भाग पाकिस्तान को मिला और कुछ भारत को। ये दो लाइनें क्रमशः नार्थ वेस्टर्न रेलवे और आसाम बंगाल रेलवे थीं। देश का विभाजन होने पर रेलवे लाइनों की स्थिति इस प्रकार हो गई—

भारत और पाकिस्तान में रेलवे लाइनों का विभाजन

(सन् १९४७)

रेलवे लाइनों के नाम	भारत			पाकिस्तान		
	लम्बाई (मीलों में)	जन संख्या	क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)	लम्बाई (मीलों में)	जनसंख्या	क्षेत्रफल (वर्गमीलोंमें)
(१) बी० बी० एन्ड० सी० आई० आर०; ई० आई० आर०; बी० एन० आर०; जी० आई० पी०; एम० एस० एम०; ओ० टी० आर०; एस० आई० आर०; आदि अन्य देशी रियासतों की रेलवे लाइनें।	२९५३२					
(२) एन० डब्लू० रेलवे	१८७७			५०२६		
(३) बंगाल आसाम रेलवे	१९४२			१६१३		
(४) जोधपुर रेलवे	८०७			३१९		
योग	३४१५८	३३७२११०००	१२२१०००	६९५८	७७००००००	३६१०००
प्रतिशत	८३%	८१%	७७%	१७%	१९%	२३%

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभाजन के फलस्वरूप रेलवे लाइनों के विभाजन में पाकिस्तान घाटे में ही रहा क्योंकि उसे अपनी जनसंख्या और क्षेत्रफल के अनुपात में कम रेलवे लाइन मिली है। विभाजन के फलस्वरूप जहाँ उसे अविभाजित भारत की १६% जन संख्या २३% भूमि मिली, वहाँ रेलवे लाइन संपूर्ण रेलवे लाइन की लम्बाई की १७% अर्थात् ६६५८ मील ही मिली। इस ६६५८ मील में से भी १८१७ मील लम्बी लाइन उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त में ऐसी है जो केवल सैनिक उद्देश्य के लिए ही निर्मित की गई थी उसका कोई अन्य उपयोग नहीं है। विभाजन से पूर्व संपूर्ण रेलवे लाइनों में ८०३ करोड़ रुपया लगा हुआ था। जो भाग पाकिस्तान को मिला है वह लगभग १३६ करोड़ रुपये का है। इसके साथ ही साथ विभाजन से पूर्व भारत को उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त की रेलों पर व्यर्थ में रुपया खर्च करना पड़ता था जो अब बच गया। वे रेलवे लाइन एक प्रकार से भार स्वरूप थीं, क्योंकि १६२४-२५ से १६४५-४६ तक के २१ वर्ष की अवधि में उसे हिस्से के कारण रेलवे को ४२ करोड़ का नुकसान हुआ जो अब पूर्णरूपेण बच गया है। इस भाँति विभाजन से भारतीय रेलों को दो करोड़ प्रति वर्ष की बचत हुई है।

इस स्थल पर हमें यह न भूलना चाहिए कि विभाजन के परिणाम-स्वरूप आबादी की जो भारी रद्दोबदल दोनों देशों के मध्य हुई उसका अधिकांश भार रेलों को ही सहन करना पड़ा था। विभाजन होने के बाद के २३ माह में भारतीय संघ की रेलों ने लगभग ३० लाख से ऊपर शरणार्थियों को इधर से उधर पहुँचाया। इस सबसे रेलवे को भारी आर्थिक क्षति तो हुई ही, साथ ही साथ रेलवे की व्यवस्था में भी अनुशासन का अभाव हो गया। अधिकांश शरणार्थियों को रेलवे ने बिना टिकट ही पहुँचाया था और भारत में आने के पश्चात् भी महीनों तक भारत में शरणार्थी बगैर टिकट यात्रा करते रहे।

उपरोक्त कठिनाई के अतिरिक्त विभाजन के परिणाम स्वरूप रेलों को एक और कठिनाई का सामना करना पड़ा। विभाजन के परिणाम स्वरूप जैसे अन्य सरकारी महकमों के कर्मचारियों की पाकिस्तान और भारत के मध्य रद्दोबदल हुई, उसी भाँति रेलवे में भी हुआ। हजारों कर्मचारी भारत से पाकिस्तान गये और पाकिस्तान से भारत आये। इससे कुछ विभागों में कर्मचारियों का सर्वथा अभाव हो गया। रेलवे में ड्राइवरों तथा कारीगरों की एक बड़ी संख्या मुसलमानों की थी और उनमें से अधिकांश के पाकिस्तान चले जाने से इस प्रकार के कर्मचारियों का बड़ा अभाव हो गया। पाकिस्तान से जो कर्मचारी भारत आये उनमें से अधिकांश क्लर्क आदि थे। ऐसी स्थिति में कुछ समय तक तो रेलों को भलीभाँति चलाना एक समस्या ही हो गयी। इससे कोयले का एक भाग से दूसरे भाग में पहुँचना अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ और जिसका प्रभाव देश के उद्योगों पर पड़ा। धीरे धीरे किसी प्रकार दो वर्ष में स्थिति पूर्ववत् हो गयी।

आसाम बंगाल रेलवे का विभाजन हो जाने से आसाम और पश्चिमी बंगाल के मध्य रेलवे का सम्बन्ध कट गया। आसाम में उत्पन्न होने वाले पदार्थ विशेष कर जूट और चाय को पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान) से होकर भेजने का प्रयास किया गया। किन्तु पाकिस्तान सरकार ने इस प्रकार के यातायात में अड़चनें उपस्थित कीं। ऐसी स्थिति में सरकार को स्थायी व्यवस्था स्थापित करने के लिए पश्चिमी बंगाल और आसाम के मध्य एक नयी रेलवे लाइन बनवानी पड़ी जिसमें लगभग ८ करोड़ ६० लाख रुपये व्यय हुए।

विभाजन का रेलवे राजस्व पर प्रभाव—दोनों ही देशों की रेलों के राजस्व पर विभाजन का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। विभाजन वाले वर्ष में दोनों देशों की रेलों को घाटा सहना पड़ा। भारतीय रेलों ने परिस्थिति पर बहुत शीघ्र ही काबू पा लिया और उसका सन् १६४८-४६ का बजट घाटे का न होकर मुनाफे का रहा। सन् १६५१ तक स्थिति में और भी सुधार हो गया और इस समय तक

घिसाई, राजस्व रिजर्व तथा पुनर्निर्माण की मदों में रेलवे के पास १२४ करोड़ रुपये का रिजर्व हो गया था। अब तो इस स्थिति में और भी सुधार हो गया है। सन् १९५२-५३ के आर्थिक वर्ष में रेलवे को २५ करोड़ रुपये बचत होने का सरकारी अनुमान है। पाकिस्तान अपनी रेलवे सम्बन्धी स्थिति को सुधारने में भारत की भाँति सफलता प्राप्त नहीं कर पाया है। उसके कारण निम्नलिखित हैं—

१—बंगाल आसाम रेलवे का कुछ भाग और एन०, डब्लू० रेलवे का अधिकांश भाग सैनिक महत्व का है जो रेलवे को प्रतिवर्ष घाटा ही देता है।

२—पाकिस्तान में कोयला नहीं होता अतः उसे अपनी रेलों को चलाने के लिए बाहर से कोयला आयात करना होता है। यह कोयला काफी ऊँचे दामों में पड़ता है और स्वभावतः रेलों को चलाने का खर्चा अपेक्षाकृत अधिक बैठता है।

पाकिस्तान के सन्मुख यह एक गंभीर प्रश्न था कि रेलवे के मद में होने वाले इस निरन्तर घाटे की समस्या का सामना किस प्रकार किया जावे। इस समस्या को स्थाई रूप से हल करने के हेतु पाकिस्तान सरकार ने रेलवे बजट को केन्द्रीय बजट में ही मिला दिया है। अब रेलवे के मद में पृथक रूप से घाटे का प्रश्न ही नहीं उठता।

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि भारत अपने यहाँ की रेलों को आर्थिक दृष्टि से सफल रूप से चलाने में समर्थ रहा है और वह केन्द्रीय वित्त व्यवस्था पर भार न होकर सहायक ही हो रहा है। इसके साथ ही साथ विभाजन के पश्चात् भारत अपने क्षेत्र की समस्त रेलों का राष्ट्रीयकरण करने में भी सफल रहा है। देशी राज्यों तथा अन्य समस्त कम्पनियों की रेलों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और अब भारत की समस्त रेलों को छः जोनों में बाँटने की योजना को कार्यान्वित किया जाने वाला है। साधारण दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि भारतीय रेलों का संक्रमण काल निकल चुका है और उसके स्वर्ण युग का उदय हो रहा है। विभाजन के परिणाम स्वरूप जो हानि हुई थी और जो कठिनाइयाँ सामने आई थीं उनका एक प्रकार से निराकरण किया जा चुका है। वगैर टिकट यात्रा में काफी कमी हो गई है। कानपुर, आसनसोल, हावड़ा आदि स्थानों पर यार्ड में वैगन तथा इंजनों को रुकने की औसत अवधि कम हो गई है। रेलवे के कारखानों में प्रति व्यक्ति उत्पादन कुछ बढ़ ही गया है। युद्ध के दौरान में रेलों पर अत्यन्त भार पड़ा था। रेलवे लाइनें, वैगन तथा इंजन बुरी तरह क्षति ग्रस्त हो चुके थे। उनमें धीरे-धीरे सुधार किया जा रहा है। काफी तादाद में विदेशों से इंजन मंगाये जा चुके हैं और मंगाये जा रहे हैं। भारत में भी चितरंजन कारखाने में इञ्जन बनना प्रारम्भ हो गया है।

भारत और पाकिस्तान की रेलों की स्थिति के तुलनात्मक अध्ययन के लिए हम दोनों देशों के विभाजन के बाद के बजटों को प्रस्तुत करते हैं। इससे भी स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो जावेगी।

विभाजन के पश्चात् भारत और पाकिस्तान की रेलों की वित्तीय स्थिति

(लाख रुपयों में)

	भारत			पाकिस्तान		
	१९४८-४९ वास्तविक	१९४९-५० संशोधित	१९५०-५१ बजट	१९४८-४९ वास्तविक	१९४९-५० संशोधित	१९५०-५१ बजट
१—सपूर्ण मदों से प्राप्त आय	२१३,१०	२२५,१०	२३२,५०	३३,३८	३६,३६	३७,३८
२—विभिन्न मदों से प्राप्त आय	२५६	३८०	४७२	—	—	—
३—संपूर्ण व्यय	१७३,३२	१८६,६०	१८१,९२	२८,७५	२९,४६	२९,२८
४—वास्तविक आय	४२,३४	३४,७०	४५,८६	४५३	६९०	, ८०५
५—सूद	२२,३६	२३,१५	३८,५१	३८३	३९०	४०५
६—बचत (धन अथवा ऋण में)	+१९९८	+१११२	—७९५	+३००	+३००	+४००

सड़कें—विभाजन के पूर्व अविभाजित भारत में लगभग तीन लाख मील लम्बी सड़कें थीं। विभाजन के पश्चात् भारत में लगभग २४०००० मील लम्बी सड़कें रह गईं और पाकिस्तान में ५६००० मील लम्बी। भारत और पाकिस्तान के क्षेत्रफल एवं जनसंख्या को देखते हुए इतनी सड़कें बहुत ही अपर्याप्त हैं। पश्चिमी देशों की तुलना में यह लम्बाई बहुत ही कम है। इंगलैंड में प्रति वर्गमील लगभग दो मील लम्बी सड़कें हैं, संयुक्त राज्य अमरीका में लगभग प्रति वर्गमील एक मील जबकि भारत में प्रति वर्गमील केवल ·२० मील और पाकिस्तान में इससे भी कम लगभग ·१५ मील ही है। भारत में सड़कों को बढ़ाने तथा कच्ची सड़कों को पक्का बनवाने की बहुत ही व्यापक योजना तैयार हो रही है। इसके साथ ही साथ मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण करने को भी गंभीरता से सोचा जा रहा है। कुछ प्रान्तीय सरकारों ने इस दिशा में क्रियात्मक कदम भी उठाया है। बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा मैसूर में आंशिक रूप से मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण हो भी गया है। पंजाब में भी इस दिशा में क्रियात्मक कार्य करने का विचार किया जा रहा है। पाकिस्तान सरकार भी धीरे-धीरे सड़कों का सुधार करने तथा मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण करने का प्रयत्न कर रही है।

जहाजरानी; समुद्री यातायात—सामुद्रिक यातायात एवं जहाजी शक्ति की दृष्टि से भारत विभाजन के पूर्व भी एक पिछड़ा हुआ राष्ट्र था। विभाजन से पूर्व भारत के पास कुल मिलाकर ३६०००० टन के जहाज थे। विभाजन के पश्चात् भारत के पास ३२७००० टन के जहाज रह गए हैं और पाकिस्तान के पास ३३००० टन के। इस दृष्टि से भारत के पास समस्त संसार के जहाजी बेड़े का केवल २५०० वाँ भाग है और पाकिस्तान के पास २५००० वाँ। भारत को विभाजन के फलस्वरूप कराँची सरीखे प्राकृतिक बन्दरगाह से हाथ धोना पड़ा है। उस कमी की पूर्ति के लिए भारत ने कन्डला, मालार और मंगलोर आदि के बन्दरगाह बनवाए हैं। उसके साथ-साथ भारत सरकार मद्रास, कलकत्ता, बम्बई और विजगापट्टम के बन्दरगाहों का विस्तार एवं सुधार कर रही है। पाकिस्तान के पास पश्चिम में कराँची का यद्यपि एक सुन्दर और साधन संपन्न बन्दरगाह है। किन्तु पूर्व में केवल चटगाँव का बन्दरगाह है। चटगाँव का बन्दरगाह पूर्वी पाकिस्तान की निर्यात सम्बन्धी व्यवस्था को पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ है। अतः पाकिस्तान इस बन्दरगाह का सुधार एवं विस्तार कर रहा है। पश्चिमी पाकिस्तान में भी कराँची बन्दरगाह पर भार कम करने के हेतु पाकिस्तान पासनी बन्दरगाह का निर्माण कर रहा है जो फारस की खाड़ी में स्थित है।

भारत में विजगापट्टम में जहाज बनाने का काफी अच्छा यार्ड है जहाँ १०००० टन तक के जहाज बन सकते हैं। भारत में जहाज बनाने का खर्च ब्रिटेन की अपेक्षा बहुत अधिक है। भारत सरकार इस यार्ड को अपने हाथ में लेकर सुचारू और सुव्यवस्थित रूप के कार्य करने का विचार कर रही है।

हवाई यातायात—हवाई शक्ति और साधन के सम्बन्ध में भारत पाकिस्तान की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी स्थिति में है। विभाजन के समय भारत में दस हवाई जहाज की कम्पनियाँ थीं, जिसमें भारत के हिस्से में दसों आईं और पाकिस्तान में एक भी नहीं रही। हवाई कम्पनियों ने शरणार्थियों को पाकिस्तान से लाने में तथा काश्मीर को फौजें पहुँचाने में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया। भारत सरकार की सहायता के कारण भारतीय हवाई जहाज की कम्पनियों की स्थिति बहुत सुधर गई है और सुधरती जा रही है। अब तो भारत में हवाई जहाजों का निर्माण भी होने लगा है। इधर पाकिस्तान ने भी दो हवाई जहाज की कम्पनियाँ स्थापित कर ली हैं। भारत की भाँति औद्योगिक साधनों के अभाव में हवाई जहाज निर्माण करने की दिशा में पाकिस्तान विशेष कुछ नहीं कर पाया है। दोनों ही देशों में हवाई यातायात को उन्नत करने का बहुत ही व्यापक एवं विस्तृत क्षेत्र पड़ा हुआ है।

मुद्रा और विनिमय—सन् १६४७ में भारत का विभाजन स्वीकार किए जाने के पश्चात्, भूमि, सम्पत्ति आदि का बटवारा तो तत्काल कुछ माह के अन्दर ही हो गया किन्तु मुद्रा और विनिमय के साधनों का बटवारा तत्काल न किया जा सका। ऐसा करना व्यवहारिक भी नहीं था, क्योंकि मुद्रा प्रणाली एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रचलन करना और मान्यता दिलवाना एक दिन का कार्य नहीं है। अतः सुविधा और व्यवहारिकता को दृष्टि में रखते हुए यह निश्चय किया गया कि कुछ समय तक, जब तक पाकिस्तान अपनी स्वतंत्र मुद्रा का निर्माण न कर ले, भारतीत मुद्रा से ही काम चलावे। उपरोक्त प्रयोजन को सिद्ध करने के हेतु रिजर्व बैंक आर्डर १६४७ पास किया गया। इसके अंतर्गत निम्नलिखित मुख्य मुख्य धाराएँ थीं—

१—भारतीय नोट ३० सितम्बर १६४८ तक पाकिस्तान में कानून ग्राह्य मुद्रा के रूप में प्रचलित रहेंगे।

२—३० सितम्बर १६४८ के बाद से भारत पाकिस्तान के लिए नोटों का निर्माण नहीं करेगा और पाकिस्तान इस तिथि के पश्चात् अपनी स्वतन्त्र मुद्रा-प्रणाली की व्यवस्था करेगा।

३—पहली अप्रेल १६४८ के बाद से रिजर्व बैंक पाकिस्तान के लिए पाकिस्तानी नोटों का निर्माण कर सकेगा।

४—३० सितम्बर १६४८ के पश्चात् रिजर्व बैंक का इशू विभाग (Issue Department) पाकिस्तान सरकार को पाकिस्तानी नोटों की कीमत के बराबर के आदेय प्रदान करेगा।

५ - विशेष परिस्थितियों में पाकिस्तान सरकार को भारतीय नोटों को पहली अक्टूबर १६४६ तक स्वीकार करना पड़ेगा, किन्तु वे पाकिस्तानी नोटों द्वारा जब चाहें तब परिवर्तित किये जा सकेंगे।

६—पाकिस्तान द्वारा अपने सिक्कों का निर्माण कर लेने के एक वर्ष बाद तक भारतीय सिक्के पाकिस्तान में कानून ग्राह्य मुद्रा के रूप में प्रचलित रहेंगे।

उपरोक्त उपबन्धों के आधार पर पहली अक्टूबर १६४८ से पाकिस्तान द्वारा अपनी स्वतन्त्र मुद्रा का प्रयोग किया जाने लगा।

उपरोक्त बातों के साथ यह भी निश्चय किया गया कि पहली अक्टूबर १६४८ के बाद से पाकिस्तान को स्वतन्त्र रूप से अपने रुपये का विनिमय मूल्य स्थिर करने का अधिकार होगा। सितम्बर १६४६ तक दोनों के रुपये का मूल्य बराबर था किन्तु जब सितम्बर १६४६ में भारत ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया तो पाकिस्तान ने ऐसा करना उचित न समझा और अपने रुपये का मूल्य ज्यों का त्यों बनाए रखा। फलस्वरूप पाकिस्तानी १०० रुपया १४४ भारतीय रुपयों के बराबर हो गया। ऐसा करने में पाकिस्तान निम्नलिखित कारणों से सफल हुआ—

१— १२ सितम्बर १६४७ को भारत और पाकिस्तान के मध्य जो आर्थिक समझौता हुआ था उसने पाकिस्तान को आर्थिक दृष्टि से काफी सुदृढ़ कर दिया और साथ ही साथ अपने रुपये का विनिमय मूल्य स्थिर करने के लिये पर्याप्त विचार करने का भी अवसर प्रदान किया।

२—विभाजन के बाद पाकिस्तान को पर्याप्त मात्रा में नकद और प्रतिभूतियाँ (Securities) प्राप्त हुईं।

३—गेहूँ, जूट, रुई तथा कुछ अन्य कच्चे पदार्थों का भारी मात्रा में निर्यात कर सकने में समर्थ होने के कारण पाकिस्तान का व्यापार का संतुलन उसके पक्ष में रहा जिससे उसकी आर्थिक स्थिति और भी सुदृढ़ हो गई।

बैंकिंग—विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान तत्काल ही न तो अपनी मुद्रा-प्रणाली का ही निर्माण कर सका और न एक केन्द्रीय बैङ्क की स्थापना। ऐसी स्थिति में उसने अपने केन्द्रीय बैङ्क

को स्थापित होने तक के लिये रिजर्व बैङ्क से ही अपना काम चलाना श्रेयकर समझा। ३० सितम्बर १९४८ तक रिजर्व बैङ्क ही पाकिस्तान के लिये भी कार्य करता रहा। ३० सितम्बर १९४८ के पश्चात् पाकिस्तान ने अपने लिये स्टेट बैंक आफ पाकिस्तान की स्थापना कर ली, जिसका संगठन रिजर्व बैङ्क की ही भांति है। बैङ्क आफ पाकिस्तान की स्थापना होने पर रिजर्व बैङ्क ने उसे चलाने के लिये बड़ी अच्छी मात्रा में नोट, रुपये और प्रतिभूतियां (Securities) प्रदान की, जिसके विषय में पिछले परिच्छेदों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

दोनों देशों की बैकिंग सम्बन्धी स्थिति का अनुमान दोनों देशों में प्रमाणिक और अप्रमाणिक बैङ्कों के आफिसों की संख्या से लग जायगा। वह इस प्रकार थी—

	विभाजन से पूर्व (३१ मार्च १९४७ को)			१५ अगस्त १९४७ को			विभाजन के पश्चात् ३० जून १९४८ को		
	भारत	पाकिस्तान	योग	भारत	पाकिस्तान	योग	भारत	पाकिस्तान	योग
प्रमाणिक बैङ्क	२८३०	६३३	३४६६	२८८४	५७६	३४६०	२९६१	४७७	३४०८
अप्रमाणिक बैङ्क	२७९४	७०४	३४९८	२८१२	६३४	३४४६	२५९९	४७५	३०७४

विभाजन के बाद स्थिति यह थी कि पाकिस्तान को लगभग २० प्रतिशत जनसंख्या मिली थी और उसी के अनुपात में उसके पास बैङ्कों के आफिस भी थे। किन्तु पाकिस्तान में अशान्ति रहने और सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध न होने के कारण बहुत से बैङ्कों के आफिस या तो टूट गये या भारत में प्रधान कार्यालय के आ जाने के कारण बन्द कर देने पड़े। बैङ्कों के आफिस तो टूटे ही साथ ही साथ पकिस्तान से अधिकांश हिन्दू चले आए। उन्होंने अपना रुपया वहाँ के बैङ्कों से निकाल लिया। साथ ही साथ बहुत से ऐसे लोग जो कि देशी ढङ्ग पर लेन-देन का कार्य करते थे और स्थानीय व्यापार को सहायता प्रदान करते थे, वे भी वहाँ से अपना रुपया लेकर चले आए। कुछ महत्वपूर्ण बैङ्क जैसे पंजाब नेशनल बैङ्क आदि ने लाहौर से अपना प्रधान कार्यालय ही हटा लिया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान की बैङ्किंग व्यवस्था को भारी आघात पहुँचा। पाकिस्तान के अन्तर्देशीय व्यापार को चलाना एक समस्या हो गई। इस समस्या के निराकरण के लिए पश्चिमी पाकिस्तान ने एक करोड़ लगाकर एक फाइनेंस कारपोरेशन की स्थापना की जिसका कार्य रुई और गेहूँ के व्यापार को सहायता करना है।

राजस्व व्यवस्था—प्रोफेसर सी० एन० वकील ने १९४४-४५ के वित्तीय वर्ष को आधार लेकर दोनों देशों की विभिन्न मदों से होने वाले आय सम्बन्धी आँकड़े दिए हैं जिनसे दोनों देशों की राजस्व व्यवस्था का काफी ज्ञान हो जाता है। आँकड़े निम्नलिखित तालिका में दिए गए हैं—

(दोनों देशों की आय की मदें १९४४-४५)

आय की मदें	भारत का हिस्सा (लाख रुपयों में)	पाकिस्तान का हिस्सा (लाख रुपयों में)	योग (लाख रुपयों में)
आयात-निर्यात कर	२९३२	८९७	३८२९
संघीय आबकारी और उत्पत्ति कर	३२८७	५२७	३८१४
कारपोरेशन् कर			
साधारण	५२९५	४४३	५७३८
अतिरिक्त	३२७३	२८४	३५५७
व्यापार लाभ कर	११००	१००	१२००
प्रशासन	१९१	५७	२४८

करेंसी और टकसाल	६६०	२८६	१२४६
सिविल कार्य	५९	१८	७७
ब्याज	१३७	४१	१७८
अफीम	१०४	—	१०४
राज्यों से आय	४६	१४	६०
लड़ाई से आय	१४३२	४२८	१८६०
पोस्ट और टेलीग्राफ की वास्तविक आय	७८९	२३६	१०२५
रेलवे की वास्तविक आय	२४६४	७३६	३२००
आय कर का वह भाग जो प्रान्तों को दिया गया	—२१२५	—५३१	—२६५६
योग	२००४४	३५२६	२३५६३

प्रोफेसर सी० एन० वकील का अनुमान बहुत कुछ सही था, यह १९४८-४९ के बजट आने पर सिद्ध हो गया। प्रान्तों के आय विषयक अनुमान भी १९४४-४५ के आंकड़ों के आधार पर निम्नलिखित थे—

भारतीय संघ के राज्य	आय लाख रुपयों में
पूर्वी पंजाब	८०६
उत्तर प्रदेश	२७४७
बिहार	१२७५
उड़ीसा	३१८
आसाम	४९२
मध्य प्रदेश	९६२
बम्बई	३३६७
मद्रास	४१२४
पश्चिमी बंगाल	१४७८
पाकिस्तान के प्रान्त	
पश्चिमी पंजाब	१४९५
सिन्ध	८८०
उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त	१८४
पूर्वी बंगाल	१८८४
सिलहट	१००
बलूचिस्तान	२०

विभाजन के फलस्वरूप दोनों ही देशों का व्यय काफी बढ़ गया है क्योंकि साम्प्रदायिक झगड़ों एवं काश्मीर के प्रश्न को लेकर दोनों ही देशों में काफी मनोमालिन्य हो गया है अतएव दोनों ही देशों को आन्तरिक शान्ति के लिये पुलिस एवं वाह्य सुरक्षा के लिये काफी मात्रा में फौज रखनी पड़ रही हैं।

इसके साथ ही साथ दोनों देशों के मध्य जो जनसंख्या का भारी परिवर्तन हुआ है उससे शरणार्थियों के बसाने की समस्या को भी हल करने में दोनों ही देशों का करोड़ों रुपया खर्च हो रहा

है। विभाजन वाले वर्ष में खेती की फसलों एवं व्यापार को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी, जिसका प्रभाव जनता एवं सरकार दोनों पर ही पड़ा।

विभाजन हो जाने के कारण भारत को अन्न की भारी कमी हो गई है क्योंकि सिन्ध, पंजाब जो भारत के अन्य कमी वालों प्रान्तों को अन्न भेजा करता था, अब नहीं भेज सकते। इधर स्थिति और भी बिगड़ गई है, लगभग इसी वर्ष ५० लाख टन अन्न बाहरी देशों से आयात होने जा रहा है। अन्न के आयात के बदले में भारत को करोड़ों रुपया विदेश भेजना पड़ रहा है, जिसके फल-स्वरूप देश की कई योजनाएँ स्थगित करनी पड़ी हैं। इन योजनाओं के स्थगित होने में राष्ट्रोन्नति में भारी व्याघात हुआ है। इन योजनाओं को पूरा करने के लिये अधिक कर लगाकर भी रुपया इकट्ठा करना न्याय सङ्गत एवं सम्भव नहीं है क्योंकि जनता की वर्तमान आर्थिक स्थिति अधिक कर भार सहन करने के योग्य नहीं है। ऐसी स्थिति में इन नवीन योजनाओं को पूर्ण करने का एक मात्र मार्ग ऋण रह जाता है। वह या तो जनता से लिया जा सकता है या अन्य देशों से अथवा थोड़ा-थोड़ा दोनों से ही।

अपने अपने देश में पेन्शन देने का भार तो दोनों ही देशों को स्वीकार करना पड़ा है किन्तु विदेश स्थित लोगों की पेन्शन तथा विभाजन के पूर्व के कर्जे का ब्याज भारत को ही एक मात्र रूप से देना है। भविष्य में कुछ वर्षों तक भारत को उपरोक्त मद में ६५.५ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष देना होगा।

लेनी देनी—१२ दिसम्बर १९४७ को भारत और पाकिस्तान के मध्य एक समझौता हुआ जिसके द्वारा लेनी देनी (Assets and Liabilities) के विभाजन के आधार भूत सिद्धांत तय कर लिये गये थे।

लेनी देनी के विषय में अविभाजित भारत की स्थिति पहली मार्च १९४७ को इस भाँति थी। भारत के पास १००० करोड़ रुपये की ब्याज देनी वाली लेनी थी, इसके अतिरिक्त ८६७ करोड़ रुपये का ऐसा ऋण था जो वसूल नहीं किया गया था, तथा ५१४ करोड़ रुपया नकदी और प्रतिभूतियों के रूप में खजाने खाते था। इस सब का विभाजन समझौते के अनुसार इस भाँति हुआ—

	भारत	पाकिस्तान
ब्याज देने वाली लेनी	८३५ करोड़ रुपया	१६५ करोड़ रुपया
नकद	३२५ करोड़ रुपया	७५ करोड़ रुपया

८६७ करोड़ रुपये के वसूल न किये गए ऋण में से लगभग १७½% पाकिस्तान को दिया गया। फौजी स्टोर के सामान में से लगभग एक तिहाई पकिस्तान को दिया गया। आर्डिनेंस फैक्टरी का निर्माण करने के लिए पाकिस्तान को छः करोड़ अलग से दिया गया।

भारत सरकार ने समस्त प्रतिभूतियों पर ब्याज देनी की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली यद्यपि इन प्रतिभूतियों में से कुछ पाकिस्तान के नागरिकों की हैं। भारत का पकिस्तान पर जो ऋण है उसे पाकिस्तान विभाजन के पाँच वर्ष बीत जाने पर छठे वर्ष से देना प्रारंभ करेगा। वह कुल ऋण की अदायगी पचास वर्ष में करेगा। इस रूप में पाकिस्तान भारत को १५ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष छठें वर्ष से देना आरंभ करेगा। पकिस्तान के निवासियों की प्रतिभूतियों के ब्याज के रूप में भारत को सात करोड़ रुपया प्रति वर्ष देना होगा। इस भाँति विभाजन के छठें वर्ष से भारत को पकिस्तान से आठ करोड़ रुपया ही प्रतिवर्ष मिलेगा।

भारत सरकार ने सेना की सहायता से गाड़ियाँ और लारियाँ भर-भर कर शरणार्थियों को भारतीय संघ में पहुँचा दिया, गाड़ी ही नहीं लाखों की संख्या में पैदल भी इन शरणार्थियों को भारत पहुँचाया गया। नंगे और भूखे ये शरणार्थी जब भारतीय संघ में पहुँचे तो इनके भोजन, वस्त्र और निवास की व्यवस्था करना सरकार का पहला कर्तव्य था। प्रायः प्रत्येक प्रान्त में सुव्यवस्थित शरणार्थी-शिविर खोले गए। सरकार ने इन शरणार्थियों के लिए जो कुछ किया वह काफी सराहनीय था। इनमें से कुछ शिविर तो एक प्रकार से स्वच्छता के आदर्श थे। खुले मैदानों में इन शिविरों को स्थापित किया गया था। शरणार्थियों को आटा, दाल, घी, नमक, तरकारी, मसाले, तेल, साबुन तथा बीमारों व बच्चों के लिए फल आदि की व्यवस्था की गई। पहनने के लिए कमीज, पैजामे, बंडियाँ, जर्सी, कोट तथा ओढ़ने के लिए कम्बल व रजाइयाँ आदि दी गई। पहले तो इन वस्तुओं की पूर्ति ठीक नहीं हुई, किन्तु बाद में यह सन्तोषप्रद हो गई। इसके अतिरिक्त सरकार ने शरणार्थियों को शिक्षा चिकित्सा तथा मनोरंजन आदि की भी सुविधाएँ प्रदान की। इन सब बातों के होते हुए भी इन शिविरों में कुछ भ्रष्टाचरण भी फैला किन्तु सरकार ने उसको रोकने का प्रयत्न किया। १९४९ की अप्रैल तक भारत सरकार ने शरणार्थियों पर २९ करोड़ रुपया खर्च किया। १९४९-५० के बजट में शरणार्थियों के पुनर्संस्थापन आदि के लिए ३८ करोड़ २५ लाख रुपया स्वीकृत किया गया था। प्रान्तीय सरकारों ने भी इस दिशा में करोड़ों रुपए खर्च किए।

पुनर्संस्थापन की समस्या—शरणार्थियों के लिए भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था करने के अतिरिक्त सबसे बड़ी समस्या उन्हें पुनर्संस्थापित करने की है। यदि इनकी स्थिति को सुधारने के लिए, इनको पुनर्संस्थापित करने के लिए कोई अच्छा प्रयत्न नहीं किया जाता तो इसका प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर बड़ा बुरा पड़ेगा। यदि इस ओर उचित ध्यान न दिया गया तो हमारा राष्ट्र इन कुशल, स्वस्थ व्यक्तियों के लाभ से वंचित रह जायगा। वास्तव में यह हमारे लिए बड़े दुःख की बात है कि हमारा देश आर्थिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ है कि इस विशाल मानवीय शक्ति का उचित उपयोग नहीं कर सकता। हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम इन विस्थापितों के पुनर्संस्थापन के लिए उचित व्यवस्था करें। डा० एल० सी० जैन महोदय ने, जो कि भारत सरकार के पुनर्संस्थापन विभाग के आर्थिक सलाहकार थे, शरणार्थियों के बसाने, पुनर्संस्थापित करने के लिए एक अच्छी योजना बनाई थी। यदि इस योजना का ईमानदारी से पालन किया जाय तो इस दिशा में अच्छी सफलता मिल सकती है।

यदि पुनर्संस्थापन की योजना को वैज्ञानिक ढंग से कार्यान्वित करना है तो हमें सबसे पहले इस बात का पता लगाना होगा कि कितने ऐसे विस्थापित हैं जिन्हें पुनर्संस्थापन की आवश्यकता है। पुनर्संस्थापन की गणना के अनुसार १९५० की दिसम्बर तक पश्चिमी पाकिस्तान से आनेवाले शरणार्थियों की संख्या ५० लाख तथा पूर्वीय पाकिस्तान से आनेवालों की संख्या ३० लाख थी। साधारणतया भारत से पाकिस्तान के लिए मुसलमान भी इसी संख्या में गए हैं। परन्तु यहाँ पर एक बात कह देना अनुचित न होगा वह यह कि यहाँ से जो मुसलमान पाकिस्तान गए उनमें से अधिकांश मजदूर, कारीगर, शिल्पी वगैरा थे किन्तु जो गैर मुसलमान शरणार्थी पाकिस्तान से भारत में आए वे मुख्य रूप से उद्योग-धन्धों में लगे रहने वाले, व्यावसायिक तथा अन्य पेशेवाले लोग थे जिनका कि रहन-सहन का स्तर काफी ऊँचा था। इस प्रकार हमारी शरणार्थियों की यह समस्या और भी कठिन हो गई है। अतः पुनर्संस्थापन की इस समस्या को हमें बड़ी सावधानी से हल करना होगा। इसे एक अखिल भारतीय समस्या के आधार पर हल करने में काफी सुविधा मिलेगी। शरणार्थी प्रायः भारत के सभी राज्यों में फैल गए हैं और सभी राज्यों को अपने-अपने क्षेत्र के शरणार्थियों की व्यवस्था करना ही श्रेयस्कर है।

पुनर्संस्थापन की दृष्टि से शरणार्थियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक नगरों में रहने वाले शरणार्थी तथा दूसरे ग्रामीण शरणार्थी। पश्चिमी पाकिस्तान से भारत में आने वाले शहरी शरणार्थियों की संख्या अनुमानतः २० लाख तथा ग्रामीण शरणार्थियों की संख्या अनुमानतः ३० लाख थी। हमें इन दोनों क्षेत्रों के रहने वालों की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए कार्य करना होगा।

पुनर्संस्थापन के लिए उपलब्ध साधन—शरणार्थियों के पुनर्संस्थापन के लिए सबसे पहली आवश्यकता उनके रहने के लिए निवासस्थान तथा जीविकोपार्जन के लिए रोजगार की है। यदि हम भारत से जानेवाले मुसलमानों तथा पाकिस्तान से भारत में आनेवाले हिन्दुओं की छोड़ी हुई सम्पत्ति की ओर दृष्टि डालें तो हमें पता चल जायगा कि दोनों की छोड़ी हुई सम्पत्ति में बड़ा अन्तर है। पश्चिमी पंजाब में हिन्दुओं तथा सिक्खों की छूटी हुई भूमि ६७ लाख एकड़ थी जब कि पूर्वी पंजाब में मुसलमानों द्वारा छोड़ी गई भूमि केवल ४५ लाख एकड़ थी जिसमें से ११·५ लाख एकड़ हिसार तथा गुड़गाँव जिले में जहाँ की फसलों की सुरक्षा की आशा नहीं जा सकती। यही हाल निवास-स्थान या घरों का भी है, हिन्दुओं तथा सिक्खों ने पाकिस्तान में जो मकान छोड़े हैं उनकी संख्या तथा कीमत दोनों में भारत में मुसलमानों द्वारा छोड़े गए मकानों से कहीं अधिक है। अब रही रोजगार की बात, इस सम्बन्ध में भी विशेष आशा नहीं की जा सकती क्योंकि वहाँ से आने वाली जनसंख्या का अधिकांश उद्योग, व्यवसाय तथा नौकरियों में लगा रहने वाला समुदाय है, इन क्षेत्रों में भारत में पहले से ही हिन्दुओं और सिक्खों का अधिकार है, जो यहाँ से मुसलमान पाकिस्तान गए हैं वे मुख्यकर कारीगर, मजदूर आदि थे।

ग्रामीण पुनर्संस्थापन (Rural Rehabilitation) ग्रामीण शरणार्थियों जिनमें विशेषकर किसान, छोटे-छोटे दुकानदार, महाजन, कारीगर आदि हैं आवश्यक है कि सबसे पहले विस्थापित कृषकों को पुनर्संस्थापित किया जाय। पूर्वी पंजाब की सरकार ने भूमि-वितरण के लिए एक सुन्दर योजना कार्यान्वित की थी जिसके अनुसार प्रत्येक विस्थापित कृषक को भूमि वितरित की गई थी। प्रत्येक कुटुम्ब को ८ से लेकर १५ एकड़ तक भूमि दी गई थी। अच्छी खेती के लिए सामूहिक पद्धति का अनुसरण किया गया था किन्तु यह योजना अच्छी तरह सफल नहीं हुई। इससे बहुत से लोगों ने अनुचित लाभ उठाने की कोशिश की। कुछ लोगों ने अलग-अलग स्थानों में विभिन्न नामों से भूमि अपने अधिकार में करा ली, उस पर मिलने वाले तकावी आदि से लाभ उठाया और भूमि के जोतने या उस पर खेती करने का प्रयत्न नहीं किया।

भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में पश्चिमी पाकिस्तान से आनेवाले लगभग ६,२४,००० ग्रामीण कुटुम्बों को खेती के लिए भूमि वितरित कर दी गई है। इन लोगों को खेती करने के लिए बैल तथा औजार आदि खरीदने के वास्ते, मकानों की मरम्मत करवाने या बनवाने तथा कुएँ आदि खुदवाने के लिये आर्थिक सहायता भी दे दी गई है। १९५० की सितम्बर तक इस मद में भारत सरकार का कुल ५,००,००० रुपया खर्च हुआ। अब भी १५,००० परिवारों के लिए भूमि की व्यवस्था करनी है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे भू-स्वामी जो खेती नहीं करते उन्हें खेती के लिये भूमि न देकर अन्य धन्धों में लगाने का प्रयत्न किया जाय तथा हर्जाने के रूप में उन्हें कुछ रकम दे दी जाय। ऐसे लोगों को निकालकर भारत सरकार को केवल बीस लाख आदमियों (४ लाख परिवारों) को भूमि की व्यवस्था करनी होगी। यह तो हम पहले कह ही चुके हैं कि अभी देश में अच्छी भूमि की कमी है। इसलिये हमें सिंचाई तथा भूमि के उपादेयकरण की योजनाओं से इस दिशा में सुधार करना होगा। भारत की ८३५ लाख एकड़ भूमि ऐसी है जो बेकार है और जिसका उपादेयकरण करना आवश्यक है। इसके उपादेयकरण से खेती के लिए हमें काफी भूमि मिल जायगी। इसके अतिरिक्त तालाबों व ट्यूब वेलों के खुदवाने, भाकरा बाँध, नानगल व दामोदर घाटी जैसी योजनाओं के पूरे होने

पर भी हमें इस दिशा में काफी लाभ पहुँचेगा। आवश्यकता इस बात की है कि कृषि के आधुनिक पद्धति के अनुसार विकास करने के लिए सभी प्रयत्न किये जाँय जिससे कि अधिक से अधिक उत्पादन हो सके।

शहरी पुनर्संस्थापन-(Urban Rehabili tation) भारत में पाकिस्तान से आने वाले शहरी ११ लाख हिन्दुओं और सिक्खों में अनुमानतः एक लाख लोग ऐसे हैं जो बड़े पैमाने पर किये जाने वाले उद्योग तथा दस लाख छोटे पैमाने पर किए जाने वाले उद्योग-धन्धों, व्यापार तथा नौकरियों आदि में लगे थे। इन लोगों के लिये इन्हीं उद्योग-धन्धों में लगना अच्छा होगा। अतएव छोटे तथा बड़े पैमाने पर किए जाने वाले उद्योगों का विकास करने के लिए सभी प्रयत्न किये जाने चाहिए, तथा इन्हीं उद्योगों में इन विस्थापितों को पुनर्संस्थापित करने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसे उद्योग-धन्धे जिनका विकास किया जाना अत्यन्त आवश्यक है उनमें सूत कातना व बुनना, मोजे व बनियाइन का काम, रंगाई व छपाई, गलीचे बनाना, फलों के बगीचे, दुग्धशाला, मुर्गी तथा शहद की मक्खियों को पालना, तेल, साबुन, खेल के सामान, खिलौने, लकड़ी के फर्नीचर, चमड़ा, कागज, साईकिल आदि के उद्योग प्रमुख हैं। जब इनका अच्छी तरह विकास किया जाता है तो इनमें कम से कम तीन लाख आदमियों को धन्धा मिल जायगा। इन उद्योगों में सफलतापूर्वक कार्य करने के लिये शरणार्थियों को उचित शिक्षा भी दी जानी चाहिये, इसके लिये शिक्षण-शिविर खोल दिए गए हैं।

कुटीर उद्योगों या छोटे पैमाने वाले उद्योगों के अतिरिक्त विशाल पैमाने के उद्योगों को भी विकसित करना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के विशाल उद्योगों की सफलता सरकार की सक्रिय सहायता पर ही निर्भर है। इसके लिए यदि एक औद्योगिक विकास समिति (Industrial Development Board) तथा ऋण आदि देने के लिये एक राष्ट्रीय पुनर्संस्थापन अर्थ-प्रबन्धन संस्था (National Rehabilitation Finance Corporation) की स्थापना से अच्छी सहायता मिल सकती है। इस दिशा में भारत सरकार ने अच्छा प्रयत्न किया है, उद्योगपतियों को ऋण प्रदान किया गया है। इन विशाल पैमाने के उद्योगों में जो कि शरणार्थियों के लिए उपयोगी होंगे मुख्य उद्योग दो-तीन सूती व ऊनी कपड़ों की मिलें, सरकारी कार्यों के लिये सिले हुए कपड़ों का कारखाना, मोटरों की मरम्मत व तारपीन के तेल के कारखाने, मुद्रणालय, दियासलाई, चीड़ की लकड़ी, लकड़ी काटने आदि के उद्योग मुख्य हैं।

छोटे तथा बड़े पैमाने पर किये जाने वाले उद्योगों के अतिरिक्त विस्थापित व्यापारियों के पुनर्संस्थापन का प्रश्न आता है, यह समस्या कुछ कठिन है। व्यापारियों के लिये मुख्य रूप से दो चीजों की आवश्यकता होती है एक तो नगर में रहने के लिए स्थान तथा व्यापार के लिए पूरी सुविधा। ये दोनों बातें ही कठिन हैं। इसके साथ ही उन्हें ऋण की भी आवश्यकता होती है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी हमारी केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारें इस ओर प्रयत्नशील हैं। शरणार्थियों के रहने के लिए दिल्ली, उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों, बिहार, पश्चिमी बंगाल आदि में बस्तियाँ बनाई गई हैं। इन प्रदेशों में विस्थापितों के लिये स्टाल या छोटी-छोटी दुकानें भी दी गई हैं। पूर्वी पंजाब की सरकार ने इस दिशा में बड़ा सराहनीय कार्य किया है। इन विस्थापितों के शिक्षा आदि की भी काफी अच्छी व्यवस्था की गई है। कुछ स्त्रियों, बच्चों तथा वृद्धों को राज्य की ओर से पालित-पोषित किया जा रहा है।

उपरोक्त बातों को देखने से पता चलता है कि हमारी केन्द्रीय तथा राज्य की सरकारें शरणार्थी समस्या को हल करने में काफी सफल हुई हैं। आशा है निकट भविष्य में ये विस्थापित अपनी पूर्व-समृद्धि को प्राप्त कर आनन्द और सन्तोष के साथ अपना जीवन यापन कर सकेंगे।

परिशिष्ठ—१

खनिज पदार्थों का उत्पादन

	सोना आऊंसों में	कच्चा लोहा ००० टनों मे	मैंगनींज ००० टनों में	अभ्रक हंडरवेटों में	ताँबा (कच्चा) (टनों में)	इल्मनाइट (टनों में)	इमारती सामान ००० रुपयों में मूल्य
१९३८	२२१,१३८	२७४४	९६=	१२३,१६६	२८८,१२७	२५२,२२०	११२,६५
१९३९	३१४,५१५	३१६६	८४४	१३६,७५८	३६०,६२४	२३७,८३५	१०४,५७
१९४०	३८९,३२४	३१०४	८६९	१५०,३४९	४०१,२९३	२६३,१५२	९६,१३
१९४७	१७१,७०४	२४९८	४५१	१३६,३०८	३२३,०३५	२६०,९५५	३५८,१४
१९४८	१८०,४३०	२२८५	५२६	१५१,२७३	३२२,२८२	२२९,४१६	३१६,२८
१९४९	१६३,८७१	२८०९	६४६	१५१,७०९	३२९,३०४	२५०,०२३	३००,३१
१९५०	१६६,८४८	२९५७	९०२	——	३६०,३०८	२१२,६६३	——

नोट—उपरोक्त आँकड़े द्वितीय परिच्छेद (पृष्ठ संख्या ९ से २८ तक) के साथ पढ़ें।

परिशिष्ठ—२

वस्तुओं के मूल्य का देशनांक

(आधार अगस्त १९३९ = १००)

		खाने पीने के सामान	औद्योगिक कच्चा माल	अर्ध निर्मित वस्तुएँ	सम्पूर्ण निर्मित वस्तुएँ	अन्य फुटकर वस्तुएँ	साधारण देशनांक
१९५०	जनवरी	३७९.१	४८६.२	३३५.५	३४४.६	६१४.९	३८४.७
	फरवरी	३९५.३	४९३.३	३३८.१	३४६.५	६३२.३	३९२.३
	मार्च	३९६.२	४९०.१	३३८.२	३४७.४	६३०.६	३९२.४
	अप्रेल	३९९.३	४८३.९	३३२.७	३४७.८	६२०.०	३९१.२
	मई	४०१.२	४८५.९	३३५.०	३४८.३	६४२.४	३९३.३
	जून	४०२.८	४९०.७	३३५.५	३४७.६	६९२.०	३९५.६
	जुलाई	४२२.८	५०५.९	३३९.६	३४८.२	७०८.९	४०३.२
	अगस्त	४२६.५	५१३.१	३४३.८	३४९.९	७२७.३	४०६.२
	सितम्बर	४३०.४	५१७.०	३४६.९	३५०.४	७६०.८	४१२.५
	अक्टूबर	४२७.३	५२०.१	३४६.९	३५०.४	७२८.६	४११.२
	नवम्बर	४२४.३	५२२.०	३४७.९	३४९.५	७४४.७	४१०.९
	दिसम्बर	४२३.९	५३३.८	३५१.०	३५०.०	७१८.०	४१२.६
१९५१	जनवरी	४१३.५	५५२.०	३५८.८	३५३.५	७०१.१	४१४.३
	फरवरी	४१४.०	५५६.५	३७१.६	३६९.७	७०६.३	४२३.४
	मार्च	४१२.०	६०८.९	३८१.४	३८७.२	७५३.४	४३८.६
	अप्रेल	४१२.५	६८३.१	३८७.८	४११.७	७५१.५	४५७.५
	मई	४१२.३	६८६.१	३८७.९	४१०.२	७२३.३	४५६.८
	जून	४१२.८	६८८.७	३८६.०	४०९.४	७२४.४	४५६.५
	जुलाई	४०८.२	६४४.०	३७९.६	४०५.६	७२४.६	४४७.०
	अगस्त	४०८.८	५९०.६	३७६.१	३९९.१	७२९.७	४३७.६
	सितम्बर	४१२.२	५६७.४	३७४.३	३९९.५	७२१.१	४३५.१
	अक्टूबर	४०९.५	५८८.०	३७५.८	४०१.९	७२०.९	४३८.०
	नवम्बर	४०१.९	५८३.८	३७७.९	४००.२	७५०.९	४३५.६
	दिसम्बर	३९९.१	५७४.१	३७२.६	४०२.१	७५२.१	४३३.१

नोट—उपरोक्त आँकड़े तैंतीसवें परिच्छेद (पृष्ठ संख्या ५६१ से ५७६ तक) के साथ देखें।

परिशिष्ठ—३

भारतीय संघ का क्षेत्रफल और जनसंख्या

(सन् १९५१ की जनगणना के प्रारम्भिक आँकड़े)

राज्य	क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)	जनसंख्या		
		१९५१	१९४१	प्रतिशत बढ़त (+) या घटत (−)
आसाम	८५,००७ (अ)	९,१२९,४४२	७,५९३,०३७	+२०.२
बिहार	७६,३३०	४०,२१८,९१६	३६,५४५,५७५	+१०.१
बम्बई	१११,४३४	३५,९४३,५५९	२९,५०६,९६८	+२१.८
मध्यप्रदेश	१३०,२७२	२१,३२७,८९८	१९,६३१,६१५	+८.६
मद्रास	१२७,७९०	५६,९५२,३३२	४९,८४७,५०८	+१४.३
उड़ीसा	६०,१३६	१४,६४४,२९३	१३,७६७,९८८	+६.४
पंजाब	३७,३७८	१२,६३८,६११	१२,५९३,६२८	+०.४
उत्तर प्रदेश	११३,४०९	६३,२१४,११८	५६,५१६,६२२	+११.९
पश्चिमी बंगाल	३०,७७९	२४,७८६,६८३	२१,८३७,२९५	+१३.५
हैदराबाद	८२,१६८	१८,६५२,९६४	१६,३३८,५३४	+१४.२
मध्यभारत	४६,४७८	७,९४१,६४२	७,१५१,५०२	+११.१
मैसूर	२९,४८९	९,०७१,६७८	७,३२९,१४०	+२३.८
पेप्सू	१०,०७८	३,४६८,६३१	३,४२४,०६०	+१.३
राजस्थान	१३०,२०७	१५,२९७,९७९	१३,२८२,१०५	+१५.२
सौराष्ट्र	२१,४५१	४,१३६,००५	३,४३०,८९२	+२०.५
ट्रॉवनकोर कोचीन	९,१४४	९,२६५,१५७	७,४९२,८९३	+२३.६
अजमेर	२,४१७	६९२,५०६	५८८,९६०	+१७.५
भोपाल	६,८७९	८३८,१०७	७८५,३२२	+६.८
बिलासपुर	४५३	१२७,५६६	११०,३३६	+१६.४
कुग	१,५८६	२२९,२५५	१६८,७२६	+३५.५
देहली	५७८	१,७४३,९९२	९१७,९३९	+९०.०
हिमांचल प्रदेश	१०,४५१	९८९,४३७	९३५,३५९	+५.८
कच्छ	१६,७२४	५६७,८२५	५००,८००	+१३.४
मनीपुर	८,६२८	५७९,०५८	५१२,०६९	+१३.१
त्रिपुरा	४,०३२	६४९,९३०	५१३,०१०	+२६.६
विंध्यप्रदेश	२३,६०३	३,५७७,४३१	३,३५३,०१९	+६.७
अन्डमान और निकोबार	३,२१५	३०,९६३	३३,७६८	−८.३
सिक्कम	२,७४५	१३५,६४६	१२१,५२०	+११.५
योग	१,१७६,८६१	३५६,८९१,६२४	३१४,८३०,१९०	+१३.४

(अ) अपूर्ण

नोट १—जम्मू तथा काश्मीर—विशेष परिस्थितियों के कारण १९५१ की जनगणना यहां नहीं हुई। राज्य का क्षेत्रफल ८२,२५८ वर्गमील है। १९४१ की जन गणना के अनुसार वहाँ की जन संख्या ४०,२००० थी। १९५० की विधान (जनसंख्या अनुमान) आज्ञानुसार १-३-५० को वहाँ की जनसंख्या का अनुमान ४३,७०००० लगाया गया।

आसाम के भाग 'ब' के कबायली क्षेत्र—आज तक यहाँ कभी जनगणना हुई ही नहीं। एक स्थानीय अनुमान के अनुसार वहाँ की आबादी ५,६०,६११ आँकी गई है।

नोट २—उपरोक्त आँकड़े तृतीय परिच्छेद (पृष्ठ संख्या २९ से ५५ तक) के साथ पढ़ें।

परिशिष्ट—४

फसलों का उत्पादन

खाद्य फसलों का उत्पादन

	चावल		गेहूँ		अन्य अनाज		चना	
	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज ००० टनों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज ००० टनों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज ००० टनों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज ००० टनों में
१६३६	७३३६८	२३६६६	३५४४१	६६६३	६८६०४	१४२४५	१३७२७	३००२
१६४७	६०६८७	१६८५६	२४३४८	४७४४	७६४३०	१३८६६	१६६७१	३५६६
१६४८	६०८१८	१६५८४	२०३५३	५३८६	७७३६६	१४६१७	१६३३६	४५०३
१६४६	७०३४७	२१७४८	२१८५४	५४७१	७७०२६	१२५०६	२०४६७	४५३५
१६५०	७१६६०	२१६१३	२३६२७	६११०	७६७६३	१३६०६	२०३८७	३६४१
१६५१	७३५४३	१६७२४	२३७६२	६५२२	८०४८२	१२७५२	१६३७५	३७६४

	मूंगफली		गन्ना		चाय		काफी	
	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज ००० टनों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	शक्कर व गुण ००० टनों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज लाख पौंडों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज लाख पौंडों में
१६३६	८५०६	३२१९	३१३०	३३८७	८३२	४५३०	१८१	४००
१६४७	१०२६७	३५८८	३५२८	४६१३	७६५	५६२०	२०२	३६०
१६४८	१००७६	३४११	४०४७	५८०३	७६८	५७२०	२१५	३५०
१६४६	६१६५	२६०१	३७५२	४८६६	—	—	२१८	३६०
१६५०	६८३२	३३७६	३६२४	४६३८	—	—	—	—
१६५१	१०४७२	३३३१	४१३८	५४६२	—	—	—	—

अखाद्य फसलों का उत्पादन

	रुई		जूट		तेलहन		तम्बाकू		रबड	
	क्षेत्र फल ००० एकड़ों में	उपज ००० गांठों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज ००० गांठों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज ००० टनों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज ००० टनों में	क्षेत्रफल ००० एकड़ों में	उपज लाख पौंडों में
१६३६	२३४६०	४०५१	३१६१	६७३८	१४६३३	१८७२	१२६०	४६१	१३३	३२०
१६४७	११६७१	२१६८	६५२	१६५८	१२६५२	१५६०	८४५	२७०	१५६	अपूर्ण
१६४८	१०६५५५	२१८८	८३४	२०५५	१३६८६	१७०६	७८४	२४२	१६२	३५
१६४६	११२६३	१७६७	११६३	३०८६	१४५२५	१६२०	८०३	२५५	१६७	३५
१६५०	१२१७३	२६२८	१४५४	३३०१	१५०५३	१७६३	८३७	२५३	१७०	३५
१६५१	१३८५६	२६२६	१६५१	४६७८	१५५०८	१७३८	८३६	२४६	—	—

नोट—उपरोक्त आँकड़े पाँचवे परिच्छेद (पृष्ट संख्या ६४ से ८३ तक) के साथ पढ़ें।

परिशिष्ट—५

भारतीय संघ का १९५० और १९५१ का औद्योगिक उत्पादन

		लोहा	इस्पात	सूत	कपड़ा	जूट	कागज	रङ्ग	दियासलाई	शक्कर	सीमेन्ट
		००० टनों में	००० टनों में	लाख पौंडों में	लाख गजों में	००० टनों में	०००हंडरवेटमें	०००हंडरवेटोंमें	लाख ग्रास में	००० टनों में	००० टनों में
१९५०	जनवरी	१३२.५	७९.६	११०३	३२०३	७१.१	१६५.६	५०.१	२१	२७३.२	२२५.६
	फरवरी	१२०.२	७८.०	९८३	२७९३	७२.४	१६६.०	४६.४	२२	२६१.७	२०१.४
	मार्च	१४०.७	८३.२	१०१६	३२५३	७१.३	१८२.२	३६.२	२२	१८३.२	२२४.१
	अप्रेल	१२८.६	७६.२	१०१७	३३६२	३९.७	१७४.८	४७.८	१९	५१.८	२१०.०
	मई	१२२.८	७९.७	९८०	३०७०	७२.२	१९०.५	४१.०	२२	७.६	१९१.७
	जून	१०७.८	८०.१	१०१२	३३८६	६६.५	१७४.७	५६.८	२३	०.६	२०९.४
	जुलाई	१२७.१	८२.६	१०३६	३२६२	७०.१	१८५.४	५३.२	२२	०.१	२१०.७
	अगस्त	१२६.०	८६.५	८८९	२६२७	६६.८	१८७.५	४१.७	२३	०.१	२१९.२
	सितम्बर	१३२.३	८३.३	७२७	२३४५	६२.८	१८८.३	४२.२	२२	१.४	२२२.५
	अक्टूबर	१३८.३	८६.८	८२७	२७१६	६२.२	१७९.८	४५.६	२०	२.४	२१४.०
	नवम्बर	१४१.०	८६.५	९७९	३०१२	६६.७	१८६.३	४९.२	२३	४३.७	२३६.९
	दिसम्बर	१४६.७	८६.३	१००५	३१०३	७८.२	१९३.६	४८.९	२३	२१०.०	२४९.१
१९५१	जनवरी	१३९.८	८६.४	१०५२	३०९०	७८.४	२००.२	५८.५	२५	२७८.७	२४४.३
	फरवरी	११६.०	८४.६	९६०	३०९४	७१.४	१९९.५	५४.०	२४	२५९.७	२२६.७
	मार्च	१४७.४	८६.५	१०३९	३३५४	५२.०	२२०.१	५६.०	२५	१८६.५	२५९.०
	अप्रेल	१३४.३	८३.०	१०४१	३४६१	७२.४	२०९.७	५८.९	२५	६०.८	२५०.०
	मई	१५४.६	८८.६	१०७५	३९२५	८०.०	२२४.०	५६.७	२६	१३.८	२६८.७
	जून	१३८.७	८३.१	१०७८	४०५९	७१.५	२२०.७	५९.६	२४	३.८	२६९.३
	जुलाई	१४५.४	८६.९	११९०	३५१०	७१.६	२१७.६	५५.६	२५	०.५	२६१.९
	अगस्त	१५२.७	९२.१	११२०	३६००	७५.७	२२२.४	६०.०	२५	३.९	२६५.४
	सितम्बर	१३६.७	८४.६	१०९०	३४२०	६६.३	२२६.४	५६.०	२२	४.४	२६६.४
	अक्टूबर	१४७.४	८०.७	१०९०	३३७०	६६.२	२२८.२	५४.०	२१	८.६	२८०.०
	नवम्बर	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य	८०.२	२२७.३	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य	अप्राप्य

नोट—उपरोक्त आँकड़ों को अठारहवें और उन्नीसवें परिच्छेद (पृष्ठ संख्या २३७ से २६७ तक) के साथ देखें ।

परिशिष्ठ—६

रेलवे वजट

(करोड़ रुपयों में)

	वास्तविक १६५०-५१	वजट १६५१-५२	संशोधित तखमीना १६५१-५२	वजट १६५२-५३
कुल आय—	२६३	२७६	२८८	२६६
प्रबन्ध में कुल व्यय	१८०	१८७	१६६	२०३
विविध व्यय	५	७	७	७
घिसाई संरक्षित कोष में दिया गया	३०	३०	३०	३०
कुल राज स्वागत व्यय	२१५	२२४	२३३	२४०
रेलवे राजस्व से आय	३८	५५	५५	५६
मुनाफे के रूप में मुख्य सरकारी आय	३३	३३	३३	३४
बचत	१५	२२	२२	२५

नोट—उपरोक्त आँकड़े बाइसवें परिच्छेद में पृष्ठ संख्या ३३२ पर रेलवे वजट के साथ देखें।

परिशिष्ठ—७

भारत का आयात निर्यात

आयात

(हजार रुपयों में)

	खाने का सामान शराब तथा तम्बाकू (फल, अनाज, दाल शराब आदि)	कच्चे पदार्थ और और बना सामान (कोयले के अति रिक्त अन्य खनिज पदार्थ गोंद, तेल, रुई, ऊन लकड़ी आदि)	बना हुआ सामान पक्का माल (हथियार, रासायनिक, द्रव्य और औषधि रंग, बिजली का सामान मशीनें कागज आदि)	जीवित प्राणी (जानवर आदि)	पोस्टल सामान आदि	योग
१६५० जनवरी	१४७०,५५	६४१६०	१३६०३८	८३	३५१७	३८३८८३
फरवरी	४०२,२३	८८७३८	१५३२०८	१७	३१६६	२८५३५२
मार्च	५६६,५३	१०१६५५	१७६३७८	८१	२५१८	३३७२८१
अप्रैल	३०६,३६	१८१७०५	१७०१०७	६१	१६१५	३८४४२४
मई	५०४,७८	२३८०८६	२०११४६	१	१८७५	४६१५८६
जून	६४५,००	२०७०५५	२०१७८१	५	१८७०	४७५२११
जुलाई	६०५,४७	१६५६८६	१६०२६३	३२	१६००	४१८१३१
अगस्त	६१६,०४	२५६२३८	२१६३२७	६२	१६४२	५४१८७४
सितम्बर	६८६,०१	१४४८७६	२१६७३८	१	१२६६	४६४५१८
अक्टूबर	६०६,८२	८३८७४	१८७३७२	१३६	१४६६	३६३५६३
नवंबर	८८६,०१	१०४५१६	२३०३२६	६५	१४०३	४२४६४४
दिसंबर	१३०२६५	११३४२६	२१०३३०	३१०	१८६७	४५६२०१
१६५१ जनवरी	११६३२८	१५१२६७	२६०६७०	१८	१६४४	५३,०५,२१
फरवरी	६१७४४	१५४१११	२६५०७३	३५	१४८५	५१२४४८
मार्च	१५७६३४	१७६४१५	२२६०३६	८८	२७१२	५६,६१८८
अप्रैल	१०८४४६	१८०६६६	२७६६६८	१८२	२६०५	५६,६१,७१
मई	१८७६८०	२००३८८	३०६५१३	१४८	३२२७	७०,०६४६
जून	१६८११०	२६६२८६	२५५०८८	३	३१४४	६६,५६,३४
जुलाई	२०१८४६	२०१६६३	२६२७६१	५३	३०६३	६७,१६,४४
अगस्त	१६,३७,०४	१६५२००	३०२३६५	६०	२७६१	६६,४१,२०
सितम्बर	२३,३०,१६	१५१७५४	२७६१८४	२६४	३००४	६६,७२,२२
अक्टूबर	२५,०५७६	११८०८६	२७७०२१	४१	२७६३	६४,८६,६७

निर्यात

(हजार रुपयों में)

	खाने का सामान शराब, तम्बाकू (फल, अनाज, दाल शराब आदि)	कच्चे पदार्थ और वगैर बना सामान (कोयल के अतिरिक्त अन्य खनिज पदार्थ गोंद, तेल रुई ऊन लकड़ी आदि)	पका माल अर्थात् बना हुआ सामान (हथियार, रासायनिक द्रव्य और औषधि रंग बिजली का सामान मशीनें कागज आदि)	जीवित प्राणी (जानवर आदि)	पोस्टल सामान आदि	योग
१९५० जनवरी	१०४९८२	११०९३८	२५०४७७	३२७	१३४१	४६८०६५
फरवरी	८८३२६	११३०९५	२३६८५५	२५०	१२९०	४३९८१६
मार्च	१०१२९९	११३२३१	३४७९५९	६३५	२८३२	५६५९५६
अप्रैल	५९८५६	५५२३९	१९६५६८	१८२	९७२	३१२८१८
मई	६५३४८	८०९२८	१८२११०	२६८	१८४०	३३०४९५
जून	६७४५९	५९१०५	१९२३८९	२३८	१८६९	३२१०६१
जुलाई	७६१४६	६३१७५	२१८०६५	२८७	१६३८	३५९३०९
अगस्त	१०६२९९	७०६२०	२३२५०७	१५९	१७८०	४११३६६
सितंबर	१४०३६४	७७२४३	२३२०१२	२४१	१५१७	४५१३७७
अक्टूबर	१७४३३७	१०१७५७	२७०९४१	२७०	१६३९	५४८९४५
नवम्बर	११०००४	११०५०३	३०१०८३	२३७	२१२५	५२३९५२
दिसंबर	१२३२८५	१००३१४	२७०६२७	४९४	२३३७	४९७०५५
१९५१ जनवरी	१३२१०७	१२२११८	३०३५२३	३२४	२७२२	६७०८९३
फरवरी	१४६२४९	१३२४७६	३२४२२०	३३७	११८४	६०५२६६
मार्च	१२३१९०	१९५५२८	३४७८३५	३७४	२३३५	६६९२६२
अप्रैल	९७६००	१२८३१६	२६०५०८	१९४	१७३९	४८८३५८
मई	१०५९१९	२२,८७३८	४८८५२६	४४९	२३९०	८२६०२२
जून	६७३१८	१४,१७८५	४०१६९०	४९४	२७६१	६१४०४९
जुलाई	१२३१३६	१००३५०	३५१८५८	४४२	२००७	५७७७९३
अगस्त	१५५८९३	९७६६३	३५३२३७	४५०	१८०३	६०९०४६
सितंबर	१७६४६५	७२०१८	३४४२३५	४५०	२७९०	५९५९५८
अक्टूबर	१३,३८,५५	६८५५०	२५४२४६	३८६	२००१	४५९०३७

नोट—उपरोक्त आँकड़े पच्चीसवें परिच्छेद (पृष्ठ संख्या ३५९ से ४०५ तक) के साथ देखें।

परिशिष्ट—८

भारतीय संघ का बजट

आय

(लाख रुपयों में)

	आयव्ययक १९५१-५२ के अनुमान	संशोधित १९५१-५२	आयव्ययक १९५२-५३ के अनुमान
१—सीमाशुल्क	१,५६,०४	२,३२,००	१,६०,००
२—केन्द्रीय आबकारी कर	७६,६२	८४,३०	८६,००
३—निगम कर	३२,७३	३७,५५	३०,१३
४—आय कर	८४,६६	८४,७५	६८,६३
५—अफीम	२,३५	२,७५	२,२०
६—सूद	१,६७	२,०१	२,३३
७—प्रशासन	८,४२	१०,४५	८,६०
८—मुद्रा और टकसाल	१२,३२	११,३१	१०,३६
९—नागरिक निर्माण	१,५२	१,४१	१,५१
१०—आय के अन्य श्रोत	१२,६४	१९६०	६,३५
११—डाक तार	२,३३	३,८७	१,१६
१२—रेलवे	७,२६	७,३४	७,६५
१३—असाधारण श्रोतों से		३३	६,३३
कुल आय	४,०१,८६	४,६७,६७	४,२४,६८

व्यय

१—राजस्व पर व्यय	१४,३५	१६,६५	१५,७६
२—सिंचाई	२६	२६	१८
३—ऋणकार्यों में	३७,३३	३७,३०	३६,१६
४—नागरिक प्रशासन	५४,२६	५६,६६	५५,६८
५—मुद्रा और टकसाल	२,६१	२,८१	३,२०
६—सार्वजनिक निर्माण	१३,११	१३,२५	१४,६६
७—पेन्शन	७,३५	८,४६	७,६५
८—विविध (अ) शरणार्थी सहायता	६,८३	१३,८३	१०,०६
(आ) खाद्य सहायता	२५,३१	३८,६६	२५,००
(इ) अन्य सहायताएं	२,१०	५,४६	७,८८
९—राज्यों को सहायता	१५,४३	१८,०८	२०,२८
१०—असाधारण व्यय	१३,५६	१२,०७	१०,८६
११—सुरक्षा व्यय	१,८०,०२	१,८१,२४	१,९७,६५
कुल व्यय	३७५,७६	४०५०६	४०६२५
बचत		१८ करोड़ ७३ लाख	

नोट—उपरोक्त आँकड़े इकतीसवें परिच्छेद के पृष्ठ संख्या ५३७ और ५३८ पर दिये गए १९५०-५१ का बजट के स्थान पर पढ़ें।

परिशिष्ठ—९

उत्तर प्रदेश का बजट

(हजार रुपयों में)

विवरण पत्र—१९५२-५३ के बजट तखमीनों का सारांश इस प्रकार है :—

	मूल बजट	दोहराया	बजट
	१९५१—५२	१९५१—५२	१९५२—५३
	रु०	रु०	रु०
प्रारम्भिक शेष ...	९०,६२,	७,१४,११,	१,८६,४४,
१—संचित निधि—			
(क) राजस्व शीर्षक—			
(१) प्राप्तियाँ ..	६१,२५,६६,	५७,०५,९७,	६२,५४,९०,
(२) व्यय ...	६१,५०,५९,	५७,०५,९७,	६३,०१,७३,
शेष ...	—२४,९३,	..	—४६,८३,
(ख) पूँजी व्यय ...	१६,७९,०४,	१५,३८,७२,	१७,०५,८२,
(ग) सरकारी ऋणोंसे शुद्धप्राप्तियाँ	+४,००,००,	६,१८,३३,	२,२५,००,
(घ) दूसरे ऋण और जमा शीर्षक—			
(१) प्राप्तियाँ ...	१७,५८,१९,	१४,८२,२२,	९,६१,५६,
(२) भुगतावे ...	६,१८,९१,	४,२५,२९,	५,१६,८०,
	+११,३९,२८,	+१०,५६,९३,	४,४४,७६,
२—प्रासंगिक व्यय निधि ...	...	...	...
३—सरकारी लेखा ..			
(१) प्राप्तियाँ ...	१,८४,४९,६६,	१,६५,२५,६२,	१,४८,५०,६८,
(२) भुगतावे ...	१,८२,८८,६५,	१,७१,८९,८३,	१,३८,३१,०४,
	+१,६१,०४,	—६,६४,२१,	१०,१९,६४,
समस्त लेन-देनों का शुद्ध परिणाम ..	—३,६५,	—५,२७,६७,	—६३,२५,
अंतिम शेष ...	८६,९७,	१,८६,४४,	१,२३,१९,

नोट—उपरोक्त **आँकड़े** बत्तीसवें परिच्छेद के पृष्ठ संख्या ५५२ में उत्तर प्रदेश के बजट के साथ पढ़े।

परिशिष्ठ—६

उत्तर प्रदेश का बजट

(हजार रुपयों में)

विवरण पत्र—१९५२-५३ के बजट तखमीनों का सारांश इस प्रकार है :—

	मूल बजट १९५१—५२ रु०	दोहराया १९५१—५२ रु०	बजट १९५२—५३ रु०
प्रारम्भिक शेष ...	९०,६२,	७,१४,११,	१,८६,४४,
१—संचित निधि—			
(क) राजस्व शीर्षक—			
(१) प्राप्तियाँ ..	६१,२५,६६,	५७,०५,९७,	६२,५४,९०,
(२) व्यय ...	६१,५०,५९,	५७,०५,९७,	६३,०१,७३,
शेष ...	—२४,९३,	..	—४६,८३,
(ख) पूँजी व्यय ...	१६,७९,०४,	१५,३८,७२,	१७,०५,८२.
(ग) सरकारी ऋणोंसे शुद्धप्राप्तियाँ	+४,००,००,	६,१८,३३,	२,२५,००,
(घ) दूसरे ऋण और जमा शीर्षक—			
(१) प्राप्तियाँ ...	१७,५८,१९,	१४,८२,२२,	९,६१,५६,
(२) भुगताने ...	६,१८,९१,	४,२५,२९,	५,१६,८०,
	+११,३९,२८,	+१०,५६,९३,	४,४४,७६,
२—प्रासंगिक व्यय निधि ...	...	...	...
३—सरकारी लेखा ..			
(१) प्राप्तियाँ ...	१,८४,४९,६६,	१,६५,२५,६२,	१,४८,५०,६८,
(२) भुगताने ...	१,८२,८८,६५,	१,७१,८९,८३,	१,३८,३१,०४,
	+१,६१,०४,	—६,६४,२१,	१०,१९,६४.
समस्त लेन-देनों का शुद्ध परिणाम ..	—३,६५,	—५,२७,६७,	—६३,२५,
अंतिम शेष ...	८६,९७,	१,८६,४४,	१,२३,१९,

नोट—उपरोक्त आँकड़े बत्तीसवें परिच्छेद के पृष्ठ संख्या ५५२ में उत्तर प्रदेश के बजट के साथ पढ़े ।